

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६९



चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावलिः

(म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदविरचितसंस्कृतग्रन्थसंग्रहः

[प्रथमो भागः]

सम्पादकः

ग्रन्थकर्तुः कनिष्ठान्मजः

श्रीशिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः, एम० ए०

न्याकरण-साहित्याचार्य.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थ-संस्कृतमहाविद्यालये

साहित्यप्राध्यापकः

प्रकाशकः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१६६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३

मूल्य - २०००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi. (India)

1966

Phone : 3145

THE
KASHI SANSKRIT SERIES

169

CHATURVEDI SANSKRIT RACHANĀVALĪ

(A Collection of M M Śri Giridhara Śarma
Chaturvedi's Sanskrit Works)

PART I

Edited By

Sri Shivadutta Sharma Chaturvedi

M A , Vyākaraṇa-Sāhityāchārya,
Lecturer Sanskrit Mahāvidyālaya,
Banaras Hindu University, Varanasi

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Post Box 8

Varanasi-1 (India)

Phone 3145.

1966

प्राक्कथनम्

अथाधुना पृथ्यपादाना पितृचरणाना म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदाना
संस्कृततरचनासंग्रहरूपायाश्चतुर्वेदिसंस्कृततरचनावत्या सण्डचतुष्टयात्मकं
प्रथम भागं विद्वद्वरेण्याना करकमलेषूपायनीकृत्य वयं किमप्यनिर्वचनीय-
मानन्दातिरेकमनुभवामः । ग्रन्थपरिचयप्रसङ्गे सर्वजनोपयोगिदृशाऽस्माभिः
राष्ट्रभाषायां भूमिकात्रैव प्रस्तुता । संस्कृतविद्वांसस्तु ग्रन्थविलोकनेन
ग्रन्थगौरवं ज्ञास्यन्त्येव ।

आशासे विद्वांसः प्रयासस्यास्य समुचितं सम्मानं विधायास्मान्नेऽप्येवं
विधप्रयत्ने समुत्साहं प्रदास्यन्तीति ।

विनयाव्रत-

* शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः

भूमिका

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय पितृचरण महामहोपाध्याय पंडितश्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी की सस्कृत-रचनाओं के सकलन के, जिन 'चतुर्वेदिसस्कृत-रचना-बली' यह नाम दिया गया है, प्रथम भाग को सस्कृतसाहित्य जगत् को समर्पित करते हुए मुझे जिस हर्ष का अनुभव हो रहा है वह मेरे लिए वर्णनातीत है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे कुछ पूज्यविद्वानों तथा आदरणीय मित्रों ने इस कार्य की ओर मेरा कर्तव्य सुनाया कि पूज्य पिता जी की समस्त रचनाएँ जो सस्कृत और हिन्दी में हो उनका भकलन कर उन्हें प्रकाशित कराने का प्रयत्न होना चाहिए। इस कार्य की प्रेरणा देने वालों में श्रद्धेय म० म० प० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री डा० हजारप्रसाद जी त्रिवेदी, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, श्री दीनानाथ शास्त्री सारस्वत, स्व० श्री नरहरिविष्णु गाडगिल, स्व० श्री केदारनाथ जी मारस्वत, वैद्यवर्य श्रीरामनारायण जी जोशी, के नाम मुझे स्मरण हैं। इनमें वैद्यराज श्री रामनारायण जी ने तो सामग्री सकलन के लिए वर्षों तक आर्थिक सहयोग दिया। मुझे सामग्री सकलन के लिए अनेक बार जयपुर, देहली, आदि जाना पडा, वहाँ से सहस्रो पृष्ठों की जो पिता जी की रचनाएँ मिली, उनकी प्रतिलिपि करके उन्हें टाइप कराने आदि के भारी व्यय में हमें श्री रामनारायण जी वैद्य महोदय ने अवलम्ब दिया। उन्होंने वर्षों तक पिता जी की सेवा और सुविधा के लिए भी अर्थ दिया, जब-जब जो विशेष माग परिस्थिति वगैरे उनके सामने पिता जी के सम्बन्ध में की गई, उसे पूर्ण उदारता और अत्यन्त विनीत भाव से उन्होंने पूर्ण किया। आपकी पुष्कल आर्थिक सहायता मिलने पर इस दिशा में हमारा उत्साह भी बढ़ता गया और एक वैतनिक सहयोगी और एक टाइपिस्ट के साथ मैं प्रेस कापी प्रस्तुत करने में तल्लीन हो गया। विश्वविख्यात दानवीर श्रीमान् माननीय जुगलकिशोर जी विडला महोदय भी एक लम्बे समय से पिता जी की आर्थिक अर्चना कर रहे हैं। उक्त महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। अत्यन्त उदात्तता में स्थित होने पर भी पूज्य पिता जी ने इस सामग्री को मासने लाने के परिश्रम में हम को पीछे छोड़ दिया यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। उन्होंने पूरे-पूरे लेखों को अक्षर-अक्षर सुनकर सभी लेखों में भारी परिवर्तन परिवर्धनादि काराकर ही उनके प्रकाशन की अनुमति दी। उक्त प्रयासों के फल स्वरूप हम अब तक—

१ वैदिक विज्ञान और भारतीय सस्कृति,

२ गीता व्याख्यान माला के ३ भाग,

३ साहित्यिक निबन्ध,

४ दर्शन अनुचिन्तन,

इन पुस्तकों को प्रकाशित कराने में सफल हुए हैं। इनमें से प्रारम्भिक चार पुस्तकें स्वतन्त्र ग्रन्थ के ही रूप में यद्यपि लिखी गई तथापि उनमें भी प्राचीन सामग्री जो कि हम प्राप्त होती रही थी उसका स्थान-स्थान पर समावेश हुआ। साहित्यिक निबंध और 'दशम अनुचितन' तो स्पष्ट रूप में प्राचीन लघु के ही संकलन हैं। हिन्दी में अभी उनका पचास साहित्य प्रकाशन के लिये रखा है जिसे सुविधानुसार प्रकाश में लाते रहने का हमारा संकल्प है।

मैं जब गीता व्याख्यानमाला के तृतीय भाग का सम्पादन कर रहा था उन दिनों एक बार पिताजी ने मुझ से कहा कि तुम हमारा हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करने में हाथ लगा, हमारी संस्कृत रचनाओं का भी तो संकलन प्रकाशित कराओ। तब तक मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन पर ध्यान नहीं दिया था और मेरा ऐसा विचार था कि संस्कृत में पिताजी की अधिक रचनाएँ नहीं हैं। यही बात उस समय मैंने कही। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि संस्कृत में हमारे लेख हिन्दी से भी अधिक हैं। उसी दिन से मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन का संकल्प किया और गीता व्याख्यानमाला के सम्पादन में निवृत्त होकर जब मैंने संस्कृत रचनाओं का संग्रह प्रारम्भ किया तो धीरे धीरे इनकी सामग्री सामने आई कि उस प्रकाशित कराने के लिए एक जिल्द पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई। पिताजी ने प्रायः १५ वर्ष तक जयपुर से निकलने वाले 'संस्कृत रत्नाकर' नामक मासिक पत्र का संपादन किया और आगे भी बहुत समय तक उसके प्रकाशक रहे। सौभाग्य से पचास वर्ष पुराने संस्कृत रत्नाकर के वे अंक, जो पिताजी के संपादकत्व में निकल चुके, हमारे यहाँ सुरक्षित मिल गए और उनके सभी अंकों में पिताजी के बड़े बड़े लेख जो पारावाहिक रूप से अनेक अंकों में छप चुके, हमारे सामने आए। यह 'संस्कृत रत्नाकर' पत्रका अखिर भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की मुक्त पत्रिका आगे चल कर बना दी गई। आज भी यह सम्मेलन के देहली स्थित कार्यालय में प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका का संक्षिप्त इतिहास 'चतुर्वेदि-संस्कृत रचनाकली' के द्वितीय भाग में संश्लिष्ट संस्कृत रत्नाकरस्यारम्भना शीर्षक लेख में पढ़ने को मिलेगा। 'संस्कृत रत्नाकर' के प्राचीन अंकों में जो पारावाहिक मुद्रित लेख उपलब्ध हुए उनमें में एक तो पुष्पक रूप से लिखा गया लेख था, वह दामनिष्ठ लेख माला 'प्रमेयपारिजात' शीर्षक में प्रकाशित हुई थी। संस्कृत लेख सामग्री एकत्रित होने पर 'प्रमेय पारिजात' और 'पुराणपरिचय' का 'विद्यारूढ' भारत सरकार के अनुदान से संस्कृत विद्यापीठ, देहली द्वारा प्रकाशित किये गये। प्रकाशन के उपरान्त ये दोनों पुस्तकें भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री महामन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी की

समर्पित की गई। अवशिष्ट संहृत लेख 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' के दो भागों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन लेखों में बहुनों को ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। विषय के क्रम में इनका विभाजन कर प्रस्तुत भाग में पाँच खण्ड आए हैं, ये क्रमशः हैं—

१. वेद खण्ड
२. पुराण खण्ड
३. शब्द शास्त्र खण्ड
४. धर्मशास्त्र खण्ड
५. काव्य साहित्य खण्ड

प्रथम वेद खण्ड में तीन लेख हैं—“ऋत च सत्य च”

“वेदेपुविज्ञानं तस्य क्रमिको ह्यासथ ”

“वेदेपु पितरः”

प्रथम लेख “ऋत च सत्य च” में वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त “ऋत” और “सत्य” इन शब्दों का भाष्यकारों ने क्या आशय प्रकट किया है, यह मन्त्रों के उद्धरण पूर्वक बतलाते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से इन शब्दों का क्या तात्पर्य है, यह प्रकाशित किया गया है। इस वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। एक वे जो अपना केन्द्र बना कर स्थित हैं तथा दूसरे वे जो बिना केन्द्र बनाए विकीर्ण भाव से सस्मियन रहते हैं। प्रथम कोटि में केन्द्र बनाकर रहने वाले पदार्थों में पृथ्वी आदि पदार्थों की गणना होती है, उन्हें ही ‘सत्यम्’ शब्द में कहा गया है, दूसरे जो बिना केन्द्र के विकीर्ण भावापन्न होकर सस्मियन रहते हैं, उनमें वायु आदि की गणना है, उन्हें ही वैदिक परिभाषा में ‘ऋतम्’ कहा गया है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि को वैदिक उदाहरणों के द्वारा परिपुष्ट कर इस लेख में उपस्थित किया गया है। यह लेख कई वर्ष पूर्व सरस्वती भवन, वाराणसी से निकलने वाली ‘सारस्वती सुधमा’ त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के दूसरे लेख—

“वेदेपु विज्ञानम् तस्य क्रमिको ह्यासथ” में विज्ञान के अर्थ में सम्बन्धित विप्रतिपत्तियाँ दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान शब्द का तात्पर्य वही है जो वर्तमान में ‘साइन्स’ शब्द में समझा जाता है। यह विज्ञान या साइन्स वैदिक साहित्य में परिपूर्ण मात्रा में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उल्लिखित हुआ है, अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके उनमें विज्ञान या साइन्स के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्तमान साइन्स के लिए अभी जो बहुत दूर की स्थिति है वह भी वैदिक साहित्य में बहुत स्पष्टता

से समुपलब्ध है। अतः म इस महान् विज्ञान का हास किस प्रकार होना चला गया यह दिखाने हुए यह आगा व्यक्त की गई है कि पुन वैदिक विज्ञान का अन्वयण होगा और उससे उस महान् विज्ञान का प्रकाश पुन ससार को आलोकित करेगा। यह लेख ससृजन रत्नाकर के वेत्ताङ्क नामक विद्यवाङ्क म मुद्रित ही चुका है।

इस खण्ड का तीसरा लेख वःपु पितर ह। वैदिक विज्ञान म वतमान साइम की तरह जो मूल-तत्त्व सृष्टि के उत्पादक के रूप म पहिचान गए हैं उनम देवता ऋषि और पितृ तत्त्व मुख्य है। इनम से पितृ तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत लेख म हुआ है। यह लेख भी सारत्वंता सुपमा म प्रकाशित हो चुका है। दिवता और ऋषि तत्त्व पर भी दो विस्तृत लेख पित्ता जो ने त्रिम थे। वाराणसेयससृजनविश्वविशालय की स्थापना के अनंतर प्रथम उपकुलपति श्रीमान् माननीय आन्वित्यनाथ झा महोदय ने एक विनिष्ट व्याख्यान पद्धति का वहा आयोजन किया जिसका कि नाम म म थो गगानाथ वा व्याख्यान माला रक्त्वा गया उस व्याख्यान मात्र का प्रारंभ पित्ताजी क ही वेदविज्ञान मन्द्राली तीन व्याख्यानो से हुआ। ये तीन व्याख्यान वेदविज्ञानविदु नाम से वहाँ से प्रकाशित भी हुए। हमने इन तीनों व्याख्यानो को प्रस्तुत रचनावली में सकलित करने की अनुमति के लिए सम्बद्ध अधिकारियो को लिखा। परन्तु कुछ वैधानिक आपत्तियो के कारण वहा से अभी उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। यदि आगे कुछ समय म वहा से अनुमति प्राप्त हो गई तो चतुर्वेदिससृजन-रचनावली के दूसरे भाग म हम उसे प्रकाशित करेंगे।

दूसरे पुराणखण्ड म पाच लेख क्रमग इस प्रकार हैं—

- १ पुराणेषु विकासवात्
- २ दूर्मपुराणविषयालोचनम्
- ३ मुद्रलपुराणविषयालोचनम्
- ४ वेत्पुपुराणमहत्त्वम्
- ५ पुराणरक्षणानि

पुराणेषु विकासवात् " लेख म पाश्चात्य विद्वानो के विकासवात् सिद्धान्त (Theory of Evolution) के सकेत पुराणा म लिखाए गए हैं। एक अय हिनी लेख म लेखक ने यह प्रतिपादन किया है कि भारतीय प्राचीन दृष्टि विकासवादी रही है और आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि विकासवादी है। यदि तत्त्वविवेचन या परिणाम की मयापत्ता को ध्यान में रक्कर इन दोनों सिद्धान्तो का विरलेपण किया जाय तो परिणाम म दोनों बातें एक ही सिद्ध होती हैं।

केवल बाह्यरूप में भेद दृष्टिगोचर होता है। पुराण साहित्य महान् है। नवीन कहे जाने वाले ये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पुराण में अनिर्दिष्ट नहीं रह सकते अथिन्व विकासवाद जैसे नवीन कहे जाने वाले सिद्धान्तों का कैसा स्पष्ट और स्वच्छ निरूपण पुराणों में मिलता है, यह इस लेख को पढ़ने से समझ में आ जायगा। यह लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में मुद्रित हुआ था, वही से संकलित हुआ है। इसके आगे के पुराण सम्बन्धी चारों लेख 'सर्वे भारतीय-काशिराजन्यास' में प्रकाशित 'पुराणम्' नामक अन्वेषण-पत्रिका में यथा समय प्रकाशित हुए थे। वही से हमने इनका संकलन किया। पुराणों पर पिताजी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पुराण पारिजात' सर्वे भारतीय काशिराजन्यास' के द्वारा प्रकाशित किया जाना है। उसका उत्तर भाग केन्द्रीय-संस्कृत समिति की आर्थिक सहायता में संस्कृत विश्वविद्यालय दिल्ली के द्वारा हाल ही में प्रकाशित किया गया है, यह सूचना हम ऊपर दे चुके हैं। उसके पूर्व का भाग अनेक वर्ष पूर्व ही उक्त संस्था को प्रकाशनार्थ सौंप दिया गया था। परन्तु कुछ अडचनों के कारण वह अभी प्रकाश में नहीं आसका है। भगवान् से प्रार्थना है कि उस ग्रन्थ को भी शीघ्र ही प्रकाश में लाने के लिए उसके दुरदृष्ट को मिटाये। श्रद्धेय काशीनरेश महाराजबहादुर श्रीविभूतिनारायण सिंह देव जी ने पिताजी को पुराण साहित्य पर एक ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया और पुष्कल अर्थ साहाय्य प्रदान किया। पिताजी ने प्रायः ६ वर्षों तक परिश्रम करके 'पुराण पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्रद्धेय काशी नरेश अनेक वर्षों तक प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरों पर विभिन्न पुराणों के प्रवचन श्री रामनगर के देवस्थानों में कराया करते थे। तत्पुराणों के प्रवचनों के सार भी उन्होंने लिखवाए। अनेक पुराणों के सार तो हिन्दी में लिखे गए, परन्तु दो पुराणों वामन पुराण और मुद्गाल पुराण के सार संस्कृत में लिखे गये और 'पुराणम्' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए। उन्हें हमने 'रचनावली' के प्रस्तुत भाग में पुराण खण्ड में सम्मिलित किया है। पूज्य पिताजी पर श्रद्धेय श्री काशिराज का जो अनुग्रह रहा है उसका विस्तृत विवरण हम 'रचनावली' के द्वितीय भाग की भूमिका में विस्तार से देंगे, जहाँ पिताजी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी विवरण होगा। यहाँ हम इन लेखों को 'रचनावली' में सम्मिलित करने के लिए महाराजाविराज श्री काशीनरेश के प्रति अपनी हादिक विनम्रता पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसी खण्ड के आगे के दो लेख "वेदेषु पुराणमहत्त्वम्" तथा 'पुराणलक्षणानि' 'पुराण पारिजात' के प्रथम भाग के अंश हैं, जो कि 'पुराणम्' पत्रिका में भी मुद्रित हुए हैं। इन दोनों लेखों को

१. विशेष जिज्ञासा के लिए दृष्टव्य 'विकास और ज्ञान'—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'।

पठकर पाठका जो यह आभास हो जायगा कि पुराणपरिभाषा ग्रन्थ में कितन महत्त्वपूर्ण विषयों का सारसंग्रहित और सरल शैली में प्रतिपादन हुआ है। इसी कारण हम यह भी एक हृद्यजनक सूचना देनी है कि पुराणा पर पुराण परिभाषा नाम का एक हिन्दी ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूढग्रन्थ सेवी संस्थान बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से बहुत गीत्र प्रकाशित हो रहा है। इन विचारों का भी मूल काय चला है। तीसरे गणनाखण्ड में एक वक्ता निवेदन है जिसका प्रकाशन महाभाष्य की भूमिका के रूप में 'पाणिनिपरिचय' शीर्षक में हो चुका है। यह एक स्वतंत्र ऐतिहासिक समालोचना युक्त पुस्तक कहो जा सकती है। इसके लिखन में प्रायः २ वर्ष का समय लगा था। इस निबंध में सृष्टि व्याकरण शास्त्र के निर्माता प्राचीन आचार्यों और उनकी रचनाओं का ऐतिहासिक विवेचना बड़ी धारीवी से की गई है। इस निबंध के एक दो महत्त्वपूर्ण विषयों का संकेत यहाँ हम इसतिय कर रहे हैं जिससे हिन्दी के पाठका को भी इस निबंध की गम्भीरता का बोध हो जावे।

पाणिनि ने पहिले भी सृष्टि के लौकिक और वैदिक दोनों भगों पर व्याकरण बने। यद्यपि आज पाणिनि से पूर्ववर्ती को सुसम्बद्ध व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है परन्तु पाणिनि व्याकरण के साधन अनुगीलन में ही यह पता चलता है कि पाणिनि से पहिले भी व्याकरण की सत्ता थी। कुछ उदाहरणों में उक्त तथ्य की जाँच कर लेना यहाँ उपयुक्त होगा। पाणिनि सूत्र है आच्छिप । इस सूत्र में तृतीया विभक्ति के एक वचन को पाणिनि न आच्छिप कहा है। परन्तु तृतीया विभक्ति के एक वचन में पाणिनि ने 'आच्छिप' नहान अपितु टा प्रत्यय का विधान किया है। आच्छिप सूत्र की व्याख्या करने हुए घ्याख्याकारों का कथन है आच्छिप टा मत्ता। अर्थात् तृतीया के एक वचन में जिस आच्छिप का उक्त सूत्र में निर्देश है वह टा प्रत्यय का ही पुत्रा नाम है। उसी को पाणिनि ने टा कर लिया। आच्छिप प्रत्यय करने पर टा का लोप करना होता और टाकार के हसङ्गक हो जाने के कारण चिन्दाकारों की प्राप्ति तृतीया के एक वचन में हो जाती जो कि अपनी परिभाषाओं के अनुसार पाणिनि को अभीष्ट नहीं थी। इसीलिए उन्होंने उभे आच्छिप न कहकर टा कह दिया। परन्तु वहीं-वहीं प्राचीन व्याकरणों का संस्कार रह जाने के कारण सूत्रों में टा विभक्ति के स्थान पर आच्छिप भी उनके मुख में निकल गया। इसी प्रकार का एक सूत्र है आच्छिप आप यहाँ भी पाणिनि ने प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन के प्रत्यय को आच्छिप कहा है परन्तु उनकी विभक्तियों में प्रथमा तथा द्वितीया का द्विवचन औ

तथा 'औट्' है न कि 'ओट्' । इसका भी यही समाधान व्याख्यातों में मिलता है कि प्राचीन व्याकरणों में प्रथम तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में 'औट्' प्रथम का विधान था । द्वित् कार्य का परिहार करने के उद्देश्य से पाणिनि ने उन्हें उक्त रूप से परिवर्तित कर अपने व्याकरण में ले लिया, परन्तु सन्कारवश अथवा प्राचीन संज्ञाओं की रक्षा के लिए वही वही उन नामों में भी उन विभक्तियों का स्मरण उन्होंने कर लिया है । आगे विभक्तियों का अर्थ बतलाने हुए 'कर्मणि द्वितीया', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया', कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों में किस अर्थ में कौन विभक्ति होती है यह तो बतलाया, परन्तु प्रथमा, द्वितीया, आदि कहने किसे हैं, यह नहीं बतलाया है । सु, औ, जस् आदि तीन-तीन के प्रथम से प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का स्वरूप सिद्ध है अतः उन्होंने इनके स्वरूप को बतलाने का व्यर्थ प्रयास करना उचित नहीं समझा यह समाधान करना भी अशक्य है, क्योंकि यही समाधान धातुओं से होने वाले प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुंस्यो के विषय में भी किया जा सकता था । परन्तु वहाँ तित् तस् त्ति को प्रथम पुंस्य कहते हैं इत्यादि रूप से पाणिनि ने पृथक् सूत्र बना कर निर्देश किया है । इसमें भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथमा, द्वितीया आदि सनाएँ प्राचीन व्याकरणों में सुप्रसिद्ध थीं अतः उनका उसी रूप में पाणिनि ने ग्रहण कर लिया उनके लिए पृथक् सूत्र बनाना उचित नहीं समझा । कृदन्त प्रत्ययों के प्रकरण में एक सूत्र है—'त्वित्रयसितुसरकनेषु च' इन दस प्रत्ययों में 'इट्' के आगम का निषेध इस सूत्र के द्वारा किया गया है, परन्तु इस सूत्र में पठित अनेक प्रत्यय पाणिनि के द्वारा विहित नहीं हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे किसी व्याकरण में इन प्रत्ययों का विधान देखकर उनमें इट् का निषेध पाणिनि ने कर दिया । यदि यह कहा जाय कि ये प्रथम उणादि में पड़े हुए हैं, तो उणादि प्रत्यय भी पाणिनि विहित नहीं हैं, वह भी पाणिनि से भिन्न व्याकरण है । इसी प्रकार धातु पाठ में कृत्, स्तम्भु स्तुम्भु आदि अनेक धातु नहीं पड़े गए हैं परन्तु सूत्रों में उनका ग्रहण हुआ है । इन धातुओं की व्याख्याकारों ने 'सौत्र धातु' यह सज्ञा दी है, जिसका आशय है कि पाणिनि के धातु पाठ में उनका उल्लेख नहीं केवल सूत्रों में ही इनका ग्रहण हुआ है । पूर्व व्याकरण में इन धातुओं का उल्लेख रहा होगा, सन्कारवश उनका सूत्रों में ग्रहण पाणिनि ने कर लिया, अपने धातु पाठ में उन्हें नहीं पढ़ा यही यहाँ निष्कर्ष कथन करना होगा । अदादिगण में पाणिनि ने 'चर्करीत च' यह सूत्र बनाकर 'यङ्लुगन्त' प्रकरण का चर्करीत शब्द से स्मरण किया है, परन्तु कहीं यङ्लुगन्त की चर्करीत तह सज्ञा उन्होंने नहीं की । प्राचीन व्याकरणों में

णिञन्त प्रकरण की 'कारित', सञ्जन्त प्रकरण को 'विकीर्णित', यञन्त को 'चित्रीन' और यङुगन्त प्रकरण को 'चर्करीत' कहा गया था। निरुक्त में भी इन प्रकरणों का व्यवहार इन्हीं नामों में प्राप्त होता है। इन प्राचीन व्याकरणों के संस्कार में ही पाणिनि ने बिना सज्ञा विधान विषये ही चर्करीत आदि प्राचीन व्याकरणों में प्रसिद्ध सज्ञाओं का उपयोग कर लिया।

पाणिनि सूत्रों में पूर्व मतों का खण्डन भी देखा जाता है—

"प्रधानप्रत्यार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्"

"कालोपसर्जने च तुल्यम्"

यहाँ पूर्व सूत्र में तो प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की प्रमानता के लिए पृथक् वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्ययार्थ की प्रधानता स्वतः सिद्ध है यह बात बतलाई गई है, दूसरे सूत्र के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अनद्यतन आदि काल का विवरण करने के लिए भी स्वतन्त्र वचन विन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि जिन वचनों की आवश्यकता का खण्डन उपर्युक्त पाणिनि सूत्रों में प्राप्त होता है उन वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन भी तो कहीं होना चाहिये, तभी तो उनका खण्डन उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन प्राचीन व्याकरणों में पाणिनि ने अवश्य देखा होगा, तभी उसका खण्डन करने के लिए उन्हें सूत्र बनाने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार पाणिनि ने 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इस सूत्र से लिये वचन का विधान किया है परन्तु आगे चलकर—'सदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात्' इस सूत्र से उस बात का स्वयं खण्डन भी कर दिया। पहिले स्वयं ही उस बात को कहना और आगे स्वयं उसका खण्डन कर देना इस बात का ही साक्षी है कि पूर्व व्याकरणों के संस्कार में पहिले उन्होंने सूत्र की आवश्यकता का अनुभव करते हुए सूत्र बना दिया, परन्तु आगे चलकर उन्हें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अतः उसका स्वयं खण्डन भी कर दिया।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व भी व्याकरण की सत्ता थी इस बात की साक्षी भावान् पाणिनि ही देने हैं।

भाष्यकार का साक्ष्य

इनके उपरान्त भाष्यकार ने भी अनेक स्थलों पर ऐंभ संकेत किये हैं जिनसे पाणिनि से पूर्व व्याकरण की सत्ता थी यह स्वीकार करने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। भाष्यकार ने 'देभ्यु' 'सस्वने' आदि ऐसे अनेक उदा-

हरण दिये हैं, जो पाणिनि सूत्रों के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते। मूल धातु 'दम्भ' और 'स्वज' है। यहाँ मकार और यकार का लोप किये बिना 'दमनु' और 'सम्बजे' ये प्रयोग लिट् लकार में सिद्ध नहीं किये जा सकते। यहाँ भाष्यकार ने इन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए अन्य व्याकरण के नियम का ही आश्रय लिया है, यही समाधान भट्टोजिदीक्षित ने भी किया है। एक सूत्र के भाष्य में 'उन सूत्र को भारद्वाज के अनुयायी दूसरे प्रकार में पढ़ते हैं' ऐसा कह कर भाष्यकार ने स्पष्ट ही भारद्वाजीय व्याकरण की सत्ता स्वीकार की है। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

नाम च धातुजमाह निघन्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्

यहाँ 'शकट तोक' अर्थात् शाकटायन व्याकरण की सत्ता को स्पष्ट ही भाष्यकार ने पाणिनि के पूर्व माना है। वर्तमान में शाकटायन व्याकरण के नाम में जो व्याकरण ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध होता है, वह शाकटायन व्याकरण पाणिनि से पूर्व का नहीं है। शाकटायन स्फोटायन आदि अनेक आचार्यों के नाम पाणिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। अतः शाकटायन व्याकरण पाणिनि के पहिले विद्यमान था इममें तो कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के अक्षरों से बहुत सी परिभाषाएँ निकाली हैं जिनकी सहायता के बिना पाणिनि सूत्रों से शब्द सिद्धि का पूर्ण निर्वाह नहीं होता। उन परिभाषाओं को महामाष्य से संगृहीत कर के नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये परिभाषाएँ पाणिनि से पूर्व ही वाचनिक रूप में प्रचलित थीं और प्राचीन व्याकरणों ने शब्द सिद्धि में इनका आश्रय किया था।

यहाँ नरु पाणिनि व्याकरण के आधार पर दिखाया गया कि पाणिनि के पूर्व भी शब्दों को सिद्ध करने के लिए व्याकरण का प्रणयन अवश्य हुआ था। अब आगे अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि के पूर्व व्याकरण की सत्ता थी इसके संकेत प्राप्त होने हैं उनका भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। पाणिनि का एक सूत्र है—

'पाराशर्यशिल्पालिभ्या भिद्युनटसूत्रयो.'

इस सूत्र के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाराशर के बनाए हुए भिद्यु सूत्रों को पाणिनि ने देखा था। भिद्यु सूत्र वेदव्यास के बनाए हुए वेदान्त सूत्र ही हैं, भिद्यु से निर्वाह करने वाले सन्यासियों में अधिक प्रसिद्धि

होने के कारण उनका नाम भिद्यु सूत्र ही प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था। ये भिद्यु सूत्र या वेदान्त सूत्र समस्त दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों में कालक्रम में अन्तिम हैं, अन्य दर्शन सूत्रों का प्रणयन बाल इनके पूर्व का है क्योंकि इन भिद्यु सूत्रों में अन्य दार्शनिक सूत्र ग्रन्थों में आये हुए मता का खण्डन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनों के सभी सूत्र प्रथम पाणिनि से प्राचीन हैं। उनमें न्याय सूत्रों में व्याकरण सम्बन्धी विचार देखने को मिलना है। एक न्याय सूत्र है—

‘विकारादेशोपदेशात् सप्तये’ । (अ० २ पा० २ ।)

इस सूत्र में शब्द नित्य है या अनित्य इस विषय पर न्याय सूत्रकार भगवान् गौतम ने विचार किया है। इस सूत्र के द्वारा उन्होंने यह आशय अभिव्यक्त किया है कि कुछ वैयाकरण शब्दों में विकार मानते हैं अर्थात् एक वर्ण विकृत होकर अन्य वर्ण का रूप ले लेता है। अन्य वैयाकरण ऐसा नहीं मानते वे कहते हैं कि वर्ण विकृत नहीं होने अर्थात् एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आदेश हो जाता है। इन दोनों मतों में से कौन सा मत वास्तविक है यह विचार न्याय सूत्रों में किया गया है। गौतम ने दोनों मतों में विचार करते हुए यही अपना सिद्धान्त स्थिर किया है कि एक वर्ण को दूसरा वर्ण आदिष्ट हो जाता है। वर्णों में विकार या आदेश होकर अन्य वर्ण बन जाना यह दर्शन का नहीं अपितु व्याकरण का ही विषय है। अतः न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम व्याकरण के मतों से परिचित थे जो कि उनके पूर्व व्याकरण की सत्ता होने का प्रमाण है। जो व्याकरण गौतम के पूर्व या उनके समय में रहे होंगे उनका पाणिनि से पूर्व होना तो स्वयं सिद्ध ही है। एक बात और है कि न्याय सूत्रों में आदेशवाद और विकारवाद का उपक्षेप किया गया है। उनमें से पाणिनि उपदेशवादी हैं अर्थात् पाणिनि के मत में एक वर्ण को दूसरे वर्ण का आदेश किया जाता है। अन विकारवाद पाणिनि से भिन्न है जिसके अनुसार भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण उस समय हुआ था यह न्याय सूत्रों की साक्षि न सिद्ध हो जाता है।

वाल्मीकिरामायण में हनुमान् जी से जब रामचन्द्र भगवान् का प्रथम साक्षात्कार और धार्तालाप हुआ उस समय रामचन्द्र ने लक्ष्मण से हनुमान् की भाषा का प्रशंसा करते हुए कहा कि—

“नूनं व्याकरणं वृत्तमनेन बहुधा श्रुतम् ।

बहु व्याहरताग्नेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥”

अर्थात् निश्चय ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण अनेक बार सुना है क्योंकि बहुत

बोलने पर भी इसने एक भी असुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं किया। वाल्मीकि-रामायण में व्याकरण के नाम ग्रहण में व्याकरण शास्त्र के पाणिनि से प्राचीन होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि वाल्मीकिरामायण पाणिनि से पहिले का है इसमें किसी इतिहासज्ञ विद्वान को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातों से पाणिनि के पहिले भी संस्कृत भाषा के व्याकरण बने थे यह तो सिद्ध है, परन्तु उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि से पूर्व का कोई भी नहीं है। पाणिनि ने पूर्ववर्ती व्याकरणों का सार संग्रह करके वैज्ञानिक पद्धति में व्याकरण शास्त्र का सम्पूर्ण गठन कर दिया तो अन्य अपूर्ण व्याकरण ग्रन्थों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के कारण उनका व्यवहार नहीं रहा, फलतः आज वे व्याकरण ग्रन्थ हमें देखने को उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि व्याकरण ही सम्पूर्ण शाब्दिक साधुत्व को जानने का आज मुख्य साधन हमारे पास है जो कि अद्यतन है। इसी की कृपा से आज भी संस्कृत भाषा सम्यक् योग्य भाषा बनी हुई है यह कहने में किसी को कुछ भी संकोच नहीं हो सकता।

व्याकरण निर्माताओं के लिए शिष्ट लोगों में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

“इन्द्रश्चन्द्र वासुकृत्स्नापिशली शाकटायन ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिका ॥”

इसमें १ इन्द्र २ चन्द्र ३ वासुकृत्स्न ४ आपिशली ५ शाकटायन ६ पाणिनि ७ अमर और ८ जैनेन्द्र इन आठ शाब्दिकों की चर्चा की गई है।

श्री सत्यव्रत सामर्थमी ने अपने निरुक्तालोचन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाणिनि से पहिले किसी व्याकरण की रचना नहीं हुई थी। उपर्युक्त श्लोक में जो नाम पाणिनि के पहिले आए हैं उनके व्याकरण कर्तृत्व को हटाने के लिए यह युक्ति दी गई है कि उक्त पद्य में निर्दिष्ट आठ व्यक्ति शाब्दिक हैं, न कि व्याकरण निर्माता या वैयाकरण। शाब्दिकत्व तो शब्दशास्त्र में प्रौढ़ होने पर, शब्दशास्त्र में पारंगत होने पर, तथा शब्दशास्त्र का प्रचारक होने पर तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रकारों से सिद्ध हो सकता है। शब्दशास्त्र पद से केवल व्याकरण का ही नहीं अपितु कोश, शीमासा आदि का भी ग्रहण होता है। व्याकरण के समान ही कोशों में भी शब्द विदग्धिणी शीमासा होती है एकाक्षर शब्दों का संकलन होना है, इसी प्रकार शीमासा शास्त्र में वैदिक शब्दों की व्याख्या की जाती है। संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों की एक पुरातन उपाधि है—‘पद वाक्य प्रमाण-पारावारीण’। इसमें ‘पद’ से व्याकरण लिया जाता है, इसमें ‘पारावारीण’ अर्थात् पूर्ण प्रवीण होना उन विद्वानों

की विशेषता होती थी। शब्द शास्त्र में 'पद' और वाक्य दोनोंका समावेश हो जाता है अतः शब्द शास्त्र से मीमांसा का भी ग्रहण परम्परा सिद्ध है। अतः आठ शाब्दिकों में केवल व्याकरण निर्माता ही सब नहीं हैं अपितु कुछ कोश निर्माता भी हैं तथा कुछ मीमांसा मनीषि भी हैं।

उपर्युक्त पद्य में व्याकरण निर्माताओं की सूची में सबसे पहिले इन्द्र का नाम आता है। आठ शाब्दिकों में आदि में पठित नामों वाले आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। परन्तु अनेक ग्रंथों में उनके उल्लेख से यह प्रकट होता है कि उन्होंने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की थी जो आगे चलकर विलुप्त हो गये। 'चन्द्र' के विषय में राजतरंगिणी में लिखा है कि—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धादेश तस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तितं महाभाष्यं स्व च व्याकरणं कृतम् ।

वैयाकरणों में चान्द्रदौर्गादि नामों से प्राचीन महावैयाकरण विद्वान् प्रसिद्ध थे उन चन्द्राचार्य को दक्षिण के किसी स्थान पर महाभाष्य की कोई जोड़ पुस्तक उपलब्ध हुई जिसे वे अभिमन्यु के राज्यकाल में काश्मीर ले गए और उन्होंने उसके आधार पर अपना व्याकरण भी बनाया। परन्तु इसी प्रकार की साक्ष्यों से चन्द्र के व्याकरण का अनुमान होता है। कोई ग्रन्थ उनका उपलब्ध नहीं। काशचूरस्य तो मीमांसक थे, अतः उनकी बनाई हुई मीमांसा का नाम 'काशवृत्की' हुआ। 'आपिस्ताल' का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने 'वामुष्यापिशले' (६।१।९२) सूत्र में किया है, अतः स्पष्ट है कि प्राचीन वैयाकरणों में उनके मत का आदर था। परन्तु 'इन्द्र' नामक किसी विद्वान् ने कोई व्याकरण बनाया, यह बात तो प्रमाणों के अभाव में सन्देह शोलाधिकृत ही है।

श्री सामभ्रमी जी ने निरुक्तालोचन में यह विचार प्रकट किया है कि इन्द्र के विषय में महाभाष्य के पशुशाब्दिक में एक आख्यायिका आयी है—

एव हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय

दिव्य वर्षसहस्रं प्रतिपदान्कानां शम्भानां

शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च

प्रवत्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्य वर्षसहस्रमध्ययनकाल,

तथापि नान्तं जगाम । किं पुनरुत्तरे य सर्वेषां चिर

जीवति स वर्षशतं जीवति-इत्यादि

(पशुशाब्दिक)

अर्थात् शब्दशास्त्र का अध्ययन करने के लिए सारे शब्दों का प्रतिशब्द पारायण करना तो असम्भव है। यह सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रत्येक शब्द का पारायण कर अध्यापन कराया, परन्तु वे शब्दों का अन्त न पासके। बृहस्पति जैसे प्रवक्ता तथा इन्द्र जैसा अध्यापक भी जब दिव्य सहस्र वर्षों तक अध्ययन करके शब्दों का अन्त न पा सका तो आज अधिक-से-अधिक सी वर्षों तक जीवित रहने वाले लोगों में कोई शब्दों का अन्त पालेगा इसकी आशा तो सर्वथा दुराशा मात्र है। महाभाष्य में समुद्रमंथन इम आख्यायिका से श्री सामभ्रमी जी ने यह तात्पर्य निकाला है कि इन्द्र ने बृहस्पति से शब्दों का पारायणरूप अध्ययन किया था। तथा जिस प्रकार का अध्ययन किया था उसी प्रकार की ग्रन्थ रचना भी की होगी। इससे यही सिद्ध होना है कि इन्द्र ने किसी विद्वान् शब्द कोश की रचना की थी।

वास्तव में वेदों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट होती है कि यह इन्द्र अनेक प्रकार का है। वेदों में देव भी अनेक प्रकार के बतलाए गए हैं, तथा देव विशेष इन्द्र आदि भी अनेक प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। एक प्रकार के इन्द्रादि देवता वे हैं जिनके शरीर आदि नहीं होते, जो सारे जगत् के निर्माता हैं तथा जो प्राण विशेष रूप हैं। तारामण्डल में भी इन्द्रादि नामों वाले विशेष नक्षत्र हैं, उदाहरणार्थ चित्रा नक्षत्र का अधिपति इन्द्र है, रेवती नक्षत्र का अधिपति पूषा है पुष्य का अधिपति बृहस्पति है। द्युलोक में रहने वाले शरीरधारी भी देवता हैं जो कि—

'अष्टदिकल्पो दैवस्तैर्यंघोनश्च पञ्चधाभवति मानुष्यश्चैकविधः' इत्यादि साध्यदर्शन की कारिका में सत्त्व बहुल सगं के रूप में व्याख्यात हुए हैं। हमारी भूमि पर भी देवलोक की कल्पना की गई थी जो हिमालय के उत्तरी भाग में था। उसमें भी इन्द्रादि सभी देवताओं की प्रतिष्ठा थी तथा उन्हीं के पास जाकर अर्जुन का विद्याग्रहण तथा दशरथ दुष्यन्त आदि का युद्ध में सहायता करने जाना आदि इमी लोक की बातें हैं। महाभाष्य में इन्द्र और बृहस्पति विषयक जिस आख्यायिका का उल्लेख हुआ है वह घटना भूखण्डवासी इन्द्र के विषय में समझी जा सकती है, वह इन्द्र जो प्राण विशेष रूप है वह भी व्याकरणकर्ता है यह बात श्रुति से स्पष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि—

'वाग्वै पराच्यव्याकृता अबदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमा नो वाच व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत्—वर वृषे, महा चैवैव वायव च सह गृह्याताविति। तस्मादैन्द्र वायव सह गृह्येते। तामिन्द्रो मध्यत अब्रूम्य व्याकरोत्। तस्मादिय व्याकृता वागुच्यते।' (इति तैत्तिरीय पृष्ठाकाण्ड)

इसका तात्पर्य यह है कि वाणी के विषय में जो व्यङ्ग्य अर्थात् व्याकरण व्याकरण अर्थात्करण मस्कन असस्कन, विभक्त अविभक्त आदि शब्द आते हैं उनसे एक प्राकृतिक घटना का संकेत मिलता है और उस घटना को समय बिना उपयुक्त धृति के द्वारा बनलाया हुआ इन्द्र का व्याकरण समझ में ठीक में नहीं आता। ससार में हम देखते हैं कि मनुष्य आदि को छोड़कर पशु पक्षि आदि की बोली में उनके उच्चारण में किसी प्रकार का पञ्च वाक्यादि विभाग नहीं होता। हम इस बात का अनुभव नहीं कर सकते कि घण्टे चिह्नान वाले कुत्ते की आवाज़ में किसी प्रकार के शब्दों का क्लृप्ति या इसी प्रकार का कोई विभाग है। वह एक निश्चित स्वर से बालता है कभी-कभी अपनी शक्ति से उस स्वर को ऊँचा नीचा मात्र करता है।

कोयल आदि पक्षियों की बोली में भी एक निश्चित स्वर सन्निवृत्त होता है जो सुनने में बड़ा मीठा होता है। परन्तु वहाँ भी उनकी बोली में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाग है यह अनुभव में नहीं आता। कुछ पशु पक्षियों को गिना देकर मनुष्य के समान बोलने की जो शक्ति प्राप्त हो जाती है उसके कारण का संकेत अभी हम इन्द्र की विवचना में करेंगे। परन्तु साधारणतः यह निर्विवाद है कि पशु पक्षियों की वाणी में पञ्च वाक्यादि का विभाग नहीं होता। यही बात वास्तविकता में मानव के साथ भी है क्योंकि उत्पन्न होने के प्रायः १ १॥ वर्ष बाद ही बालक कुछ विभक्त उच्चारण कर पाता है। प्रारम्भ में उसकी वाणी अविभक्त या अव्यङ्ग्य ही रहती है। कानानुसार ज्ञान का अधिष्ठान प्राण विषय रूप इन्द्र शरीर में अल्प या अव्यङ्ग्य रूप से संवरण करने वाली वाणी के माध्यम में प्रवेश करके उसको व्यङ्ग्य कर देता है अर्थात् मानव वाणी में पञ्च वाक्यादि विभक्त उच्चारण की क्षमता प्रदान करता है। मानव शरीर के सपठन में इन्द्र प्राण पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है अतः सभी मानवों की वाणी में पञ्च वाक्यादि के विभक्त उच्चारण की क्षमता होती है। यह इन्द्र प्राण ज्ञान रूप है, अतः यह भी समझना आवश्यक होगा कि वाणी का वह विभाग बुद्धि पूर्वक किया हुआ है। पञ्चवाक्यी वाणी में बुद्धि की न्यूनता होने के कारण ही इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता, प्रयत्न पूर्वक शिक्षा आदि के द्वारा जब पशु-पक्षियों में भी किसी-किसी में इन्द्र प्राण का विकास होता है तब वही मानव के सदृश वाणी बोलने लगता है। इसके विपरीत विकास के अट्टरूप परिस्थिति के अभाव में जब मानवीय इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता तब वह भी गुगा ही रह जाता है विभक्त उच्चारण नहीं कर पाता। यही इन्द्र के द्वारा किया गया वाणी का व्याकरण या विभाग

है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम के वाणी के चार भेदा का निरूपण होता है। इनमें परा वाक् तो परम शक्ति स्वरूपा है, उसका स्वरूप न मन में आ सकता है और न ही वाणी का विषय बन सकता है वह तो योगियों के द्वारा निर्विकल्पक समाधि में ही गृहीत हो सकती है, इसमें उपलब्ध होने वाली पश्यन्ती में भी शब्द और अर्थ का विभाजन होने में वह सम्मुखज्ञानरूपिणी मानी गई है क्योंकि मनुष्यों को उसका स्पष्टतया प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। मध्यमा वाणी में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है, परन्तु मध्यमा वाणी में होने वाला विभाग केवल मन के ही द्वारा गृहीत हो सकता है। वह किसी दूसरे पुरुष पर प्रकट नहीं किया जा सकता। चौथी वाणी जो कण्ठ तात्वाद्यभिधात से उत्पन्न है वह वैखरी कहलाती है तथा उसे सभी समझ सकते हैं। इसी बात की श्रुति ने इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्रह्मणा मे
मनीषिणा गुहा त्रीणि निहितानेगयन्ति तुरीम वाचो
मनुष्या वदन्ति

यह मात्र निगमरूप है, अर्थात् इस मन्त्र की विविध व्याख्याएँ समुपलब्ध होती हैं। महाभाष्य में नाम आख्यात उपसर्ग निषान इन चार शब्द भेदा पर इसे घटाया गया है। कहीं पर इसकी यह भी व्याख्या मिलती है, कि वाणी के एक एक भाग पशु पक्षी और सरीसृपों में है तथा चौथा भाग मनुष्यों में है। परन्तु इस मन्त्र को परा पश्यन्ती आदि पर लगाने से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है, क्योंकि 'तुरीम वाचो मनुष्या वदन्ति' अर्थात् चौथी वैखरी वाणी मनुष्यों के व्यवहार में आती है। इसमें यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती और मध्यमा से वह वैखरी वाणी अधिक स्पष्ट अर्थबोध की क्षमता रखती है। वाणी का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है तथा ज्ञान का मूल इन्द्र प्राण है, अतएव इस वैज्ञानिक रहस्य का अनुसंधान करने पर इन्द्र के द्वारा वाणी का व्याकरण करना और उसकी व्याकरण निर्माताओं में प्रथम गणना युक्ति युक्त है।

य कुछ निदर्शन इस निबन्ध प्रथम के हैं। ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विषय इसमें आए हैं, जो पाठकों की उत्कण्ठा संस्कृत के प्रति उत्पन्न करेंगे। इस प्रबंध की सर्वोपरि विशेषता यह समझने में है कि आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों की सारगर्भित स्थापनाओं को भी किस प्रकार निस्सार ठहराया जा सकता है, यदि उनकी उत्किया में प्रमाणा का अभाव हो। वह भी एक विशुद्ध संस्कृत

विद्वान् के द्वारा, उस पर भी सस्कृत भाषा में। सस्कृत में ऐतिहासिक गवेषणा के इस प्रकार के दो सफल प्रयास पहिले भी हा चुके हैं जिन के विषयो का कुछ दिवरण पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध में भी प्राप्त होगा। व कृतियों हैं. मत्स्यव्रतसामयमी जी के ऐतरेयालोचन तथा निरुक्तालोचन और म० म० प० गिवदत्ताश्री दाधिमथ महोदयका 'त्रिमुनि कल्प तरु'। इन दोनों ही पुस्तकों के सम्बद्ध विषयो की आलोचना इस निबन्ध में है। सस्कृत में लिखी गई ऐतिहासिक आलोचनाओं में पुरातनानि व्याकरणानि व्याकरणशिव प्रबन्ध का स्थान निर्धारित करना सम्मान्य विद्वानों का काय है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस प्रबन्ध को पूरा करने में पिताजी को प्राय दो वर्ष लग गए थे और इन्हीं विलम्ब के कारण महाभाष्य नवद्विक का प्रकाशन रूका रहा। प्रकाशक महाशय का भी धैर्य जब जवाब देने उगा तो पिताजी ने उनमें कहा कि यदि आपको छापने की शीघ्रता हो तो मैं इसे सामान्य विषयो से ही पूरा कर दूँ। परन्तु यदि आप मुझसे कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु लिखाना चाहें तब तो आप को कुछ प्रीन्या करनी ही होगी। पिताजी उन दिनों बहुत कार्य व्यस्त रहा करते थे।

प्राय शान्ति तथा बाहर की समाजा में समा समीक्षक गण इनके व्याख्यानो के लिए आकृष्ट रहते थे और आपको उनकी अभिलाषा पूर्ति के लिए समाजों में भी बराबर जाना होता था। मुझ सख्या तो स्मरण नहीं परन्तु सहस्र नहा तो अनेक शत समाजों में मैं भी पिताजी के साथ रहा। इस व्यस्तता के साथ किसी प्रौढ रचना का भार वहन करने में विलम्ब तो अनिवार्य ही हो जाता है।

मैं उन दिनों देखा करता था कि निरुक्तालोचन, भाष्य, प्रातिशाख्य आदि अनेक पुस्तकें सगर में भी उनके साथ ही रखी जाती थीं अवसर मिलते ही उन काय को व थोड़ा बहाना आगे बढ़ा ही देते थे। ऐसा भी मैंने देखा कि कई-कई महीने आप कुछ भी नहीं लिखवाते व परन्तु पुस्तकों का अवलोकन और उनके नोट्स उन का कार्य व्रतादि के शिनों के अतिरिक्त गायद ही वभी रूका हो। प्रकाशक महोदयन भी इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यही नहा कि वस्तु रोज रोज नहा बना करती। जो कुछ शान इसमें लिख देना चाहते हैं वह अवश्य लिख दें, हम उसके लिए दस वर्ष भी प्रतीक्षा करने को प्रस्तुत हैं। अस्तु

इसके आगे के घणशास्त्र खण्ड में चार लघु पुस्तकें मबलित हैं। पिताजी का इनके लिखन के समय इनको पूरी पुस्तक के रूप में ही प्रस्तुत करने का

विचार था जैसा कि इन विषयों पर उनके द्वारा संकलित नोट्स से पता चलता है और जैसा कि उन्होंने कई बार कहा है। ये सभी लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में क्रमशः मुद्रित हुए हैं। केवल 'स्पर्शादी शास्त्रीय व्यवस्था' शीर्षक लेख हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुआ है। वह हमें कहीं मुद्रित रूप में प्राप्त नहीं हुआ।

जहाँ तक इन लेखों की विषय-वस्तु का प्रश्न है उसके विषय में लेखक के विचार सर्वविदित हैं। इस विषय में वर्तमान समाज सुधारक विचारों से उनका किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं। उनका अपना दैनिक क्रिया-कलाप इन्हीं प्राचीन शास्त्रीय आदर्शों पर आधारित है। रचनावली के द्वितीय भाग की भूमिका में जीवन यात्रा के विवरण में हम ऐसी कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे जब कि अपनी सुदृढ आदर्शप्रियता के कारण उन्हें विपत्तियों का मुकाबला करना पड़ा और मुसीबतें झेलनी पड़ी। इसी सुदृढ आदर्शप्रियता और तदनुकूल दृढ आचरण के कारण धार्मिक जगत उन्हें 'ऋषि' के रूप में पहचानता है।

प्रस्तुत निबन्धों की विषय-वस्तु में सम्बद्ध एक बड़ी विशेषता यह है कि इन निबन्धों में वेदों और स्मृतिवचनों के तात्पर्याओं पर जो अनेक विभिन्नताएँ आपाततः प्रतीत होती हैं और जिनके आधार पर सुधारवादी दृष्टिकोण भी उन्हें अपने पक्ष में सुसंगत दिखाने की चेष्टा करता है, ऐसे अनेक स्थानों का पूर्ण ऊहापोह के साथ इन निबन्धों में विश्लेषण पढ़ने को मिलता है। 'बाद-बादे जायते तत्-बोध' इस उक्ति के अनुसार श्रुति-स्मृति वचनों के अभिप्राय तक पहुँचने की परिपाटी का अवबोध इन निबन्धों से भली भाँति होना है। हिन्दी में भी इस विषय से सम्बद्ध अनेक पिनाजी के लेख हमारे पास संग्रहीत हैं, वे भी मघाशीत्र पुस्तक के रूप में पाठकों को समर्पित किये जायेंगे।

इस खण्ड का अन्तिम लेख 'पितृविवेक' अपूर्ण है। वैसे अपूर्ण तो अन्य लेख भी हैं, परन्तु इस लेख में केवल पूर्वपक्षों का ही संकलन हुआ है, जिससे पाठकों को कुछ भ्रम हो जाना की आशंका बनी रहने का संदेह होता है। पिनाजी ने पहिले तो इसको संकलित करने का निषेध कर दिया था, परन्तु भाषा-लाक्षणिक और युक्तियाँ की प्रबलता को देखते हुए इसको संकलित करने के जोश का संवरण न हो सका और एक सूचनात्मक टिप्पणी के साथ इस लेख के संकलन की हमने स्वीकृति प्राप्त कर ली। 'वनुर्यं काव्यसाहित्यखण्ड' में क्रमशः 'रघुवश महाकाव्य' के द्वितीय और त्रयोदश, कुमारसम्भव महाकाव्य के प्रथम और

पंचम, किराताजुंजीय' महाकाव्य के द्वितीय और एकादश तथा 'शिशुपालवध' महाकाव्य के प्रथम और द्वितीय सर्गों का भार स्वतंत्र सरल संस्कृत में दिया गया है। यह भाग पिताजी के द्वारा व्याख्यात और सम्पादित 'महाकाव्यसंग्रह' नामक पुस्तक का अंश है। इस अंश की रोचकता का अनुभव पाठको को इनके पढ़ने पर स्वतः होगा। पुस्तक के मुद्रण काल में सम्मान्य प० श्री मधुसूदन जी शास्त्री (अध्यक्ष साहित्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा सम्मान्य प० श्री रामकुवेर जी मालवीय (अध्यक्ष, साहित्य विभाग, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय) ने इस अंश को पुस्तक में संकल्पित करने का परामर्श दिया। उक्त परामर्श के लिए हम दोनों विद्वानों को आभारी हैं।

अन्तिम निबन्ध कवि और काव्य शब्दों के अर्थान्वेषणपूर्वक संस्कृत काव्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त है। यह निबन्ध पूज्य स्वर्गीय कविशिरोमणि भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री जी के द्वारा लिखित काव्य ग्रन्थ 'जयपुरवैभवम्' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है। स्वर्गीय भट्टजी पिताजी के सहाय्याधी और सहयोगी थे। उनके कुछ अन्य ग्रन्थों पर भी पिताजी ने भूमिकाएँ लिखी थीं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह सविस्त विवरण पाठको की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।

इस कार्य में हम जिन विद्वानों ने सतपरामर्श देकर अनुगृहीत किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस सदर्भ में कुछ और भी स्मरणीय महानुभाव हैं जिनकी धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। वे हैं—स्व० प० श्री रघुराज जी शर्करावर्ती, श्री प० रामाधीन जी चक्रवर्ती, डा० श्री गजानन शास्त्री मुसुनगाँवकर, श्री प० गोपालचन्द्र जी मिश्र, श्री प० रतिनाथ जी शा, श्रीयुन जनादंगस्वरूप जी अग्रवाल, श्री प० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, श्री प० दुर्गादत्त जी मैथिल, श्री प० भवदत्त जी मैथिल, श्री युन डा० मदन मिश्र जी, स्वामी श्री कानव पुरी तथा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री दवीदत्त जी चतुर्वेदी। उक्त महानुभावों में मैंने समय समय पर परामर्श लिया और अपने उपयुक्त विचारों से उन्होंने हमें अनुगृहीत किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में पूज्य पिता जी के द्वारा किये गए परिश्रम का विषय में कुछ भी लिखना हमारे सामर्थ्य से बाहर है, वे हमारी विनोत वन्दनाओं को निरन्तर ग्रहण करते रहे यही हमारी भगवान् विश्वनाथ के चरणों में भाव भरी प्रार्थना है। मेरे छात्र श्री रामप्रसाद त्रिपाठी,

श्री गोदराजुराम तथा श्री जयशंकर बाजपेयी ने प्रेस कापी बनाने में सहयोग दिया तदर्थ मैं उन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित कराने, सामग्री सकलन करने, तथा संपादन कार्य में भी मेरी ही तरह मेरे भ्रातृज आयुमान् श्री ईश्वरप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी एम० ए० ने रुचिपूर्वक परिश्रम किया है उन्हें मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के उदीयमान मंचालक श्री मोहनदास जो गुप्त तथा उनके सम्पादक मडल के सदस्य विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में पूर्ण तल्लीनता दिखाई और साहित्य जगत् को एक सुन्दर कृति भेंट करने के लिये हमें सुखवसर दिया।

बारा है पिना जी की अन्य कृतियों की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ का भी समुचित समादर होगा।

धर्मसंघ, नवाब गज
वाराणसी
२७-४-६३

विनीत—
शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

पृष्ठ

वेदखण्डः

१ ऋत च सय च	१
२ वेदेषु विज्ञानम्, तस्य क्रमिको ह्यासश्च	९
३ वेदेषु पितर	३५

पुराणखण्डः

४ पुराणेषु विकासवाद	४३
५ क्रमपुराणविषयाणा समालोचनम्	५०
६ मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्	६२
७ वेदेषु पुराणमहत्त्वम्	७२
८ पुराणलक्षणानि	

शब्दशास्त्रखण्डः

९ पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च	९५
(क) प्रचलितशाकटायन व्याकरणविचार	१०१
(ख) पाणिने पूर्वमपि व्याकरणसत्तासाधनम्	१०६
(ग) प्रातिशाख्याना पाणिनेश्च पौर्वापर्यविचार	१११
(घ) निरुक्तकृत पौर्वापर्यम्	१३४
(ङ) पाणिनि-देशकालौ	१४५
(च) कात्यायन-देशकालौ	१५४
(छ) पतञ्जलदेशकालौ	१५५

धर्मशास्त्रखण्डः

१० चातुर्वर्ण्यम्	१७१
११ प्रमीतपतिकाधर्मालोचनम्	२११
१२ स्पर्शादीं शास्त्रीया व्यवस्था	२६६
१३ पितृविवेक	२७९

काव्यसाहित्यग्रन्थः

१४	रघुवगे द्वितीय सर्ग	२९५
१५	रघुवगे त्रयोदश सर्ग	३१३
१६	कुमारसम्भवे प्रथम सर्ग	३३१
१७	कुमारसम्भवे पञ्चम सर्ग	३४७
१८	किरानार्जुनीयस्य द्वितीय सर्ग	३७१
१९	किरानार्जुनीयस्य तृतीय सर्ग	३९५
२०	किरानार्जुनीयस्य एकादश सर्ग	४१७
२१	शिगुपालवधमहाकाव्ये प्रथम सर्ग	४३९
२२	शिगुपालवधमहाकाव्ये द्वितीय सर्ग	४६५
२३	कविकाव्यशब्दी	४९५



चतुर्वेदि-संस्कृतरचनावलिः

वेदखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

- १ ऋत च सत्यं च
 - २ वेदेषु विज्ञान तस्य क्रमिको हासथ
 - ३ वेदेषु पितर
- एते वेदविज्ञानविषयकाख्यो लेखा सगृहीता

—संपादक)

श्रुतं च सत्यं च

श्रुतम्, सत्यम्—इति शब्दाविमौ पर्यायत्वेनामरसिंहादिभिः कोषकृद्भिः स्पष्टीतौ, प्रसिद्धौ च व्यवहारेऽपि तथैव । सत्यार्थे श्रुतशब्दस्य तद्विपरीतार्थे चानृतशब्दस्य बहुलमुपलम्भात् । वैदिकनिघण्टुष्वपि सत्यनामसु श्रुतशब्द आम्नातः, प्रयोगश्चापि सत्यसमानार्थतया मन्त्रब्राह्मणयोर्बहुलमस्य शब्दस्योपलब्धः । मन्त्रस्य श्रुतशब्दः सत्यपरतया शतपथादिषु बहुत्र व्याख्यातोऽपि । यद्यप्यर्थान्तरमपि च्छन्दसि श्रुतशब्दस्य दृष्टम्, तथापि तत्रापि प्रायेण सत्यसमानार्थत्वं न व्यभिचरति । तथा हि—जलनामसु श्रुतमिति निघण्टुषु पठ्यते, सत्यमित्यपि तत्र पठ्यते । यद्यर्थतया श्रुतशब्दो बहुत्र मन्त्रादिषु श्रीसायणान्तर्याम्याख्यातः तथैव सत्यशब्दोऽपि । 'ब्रह्म वा श्रुतम्' इति शतरथादिषु श्रुतम्, तत्रापि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यपि न विस्मरणाहम् । 'श्रुतं पितृन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादौ श्रुतं कर्मफलमिति भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्, तस्यापि सत्यसमानार्थतैव विचारणमपि मधिरोहति । किं विस्तरेण, बाहुल्येन शब्दयोरनयो पर्यायतैव बुद्धानुपारोहति ।

अथ क्वचित्तु द्वयोरनयो सहप्रयोगमुपलभ्य पर्यायता नास्तीत्यप्युच्यते । तथा हि—अथमर्थणसूक्ते सुप्रसिद्धे 'श्रुतं च सत्यं चाभीक्षात्तपसोऽध्यजायत' इति सहप्रयोगः पश्यामः, नात्र पर्यायतया द्वयं व्याख्यातुं शक्यम्, पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । अत्र भाष्यकृत श्रीसायणाचार्या 'श्रुतं मानसं यथायं सकल्पनम् सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम्' इति किञ्चिद्विशेषं परिकल्प्य व्याचक्षुः । किमेवविधमेदपरिकल्पने वीजमिति न तत्र तैः स्पष्टीकृतम् । किञ्च—सर्वलोकादिसृष्टिप्रतिपादकेऽस्मिन् मन्त्र उक्तरूपयोः श्रुतसत्ययोः प्रथममुत्पत्तिप्रदर्शनं न विचारसहम्, पृथिव्यादिलोकसृष्टेः प्राक् मनुष्यादीनां स्थित्यसमवायः, तानन्तरेण च मानसवाचिकयोः श्रुतसत्ययोः निर्वाधारायाः सृष्टेरसामञ्जस्यात् । याऽपि श्रुतसत्ये सकल्परूपलक्षणे, धर्माणां च प्रथमं सृष्टिरित्युपपत्तिराचार्यैः प्रदर्शिता, सापि धर्मिणमन्तरेण धर्माणां निराधारात्ताप्रसङ्गात् व्यवतिष्ठते । बृहदारण्यके च 'सर्वसृष्टेरनन्तरं धर्मसृष्टिकथनात्' इति ततो विद्वद्भाषिणोः प्रतीयते । तस्मादर्थान्तरमत्रानयोः शब्दयोर्मृग्यं स्यात् । सूर्याचन्द्रमोभ्यां पूर्वमहोरात्रसृष्टिः, पृथिव्याः प्रागर्गवस्य सृष्टिरित्याद्यपि तत्र सूक्ते विचार्यमेव । अथ 'सत्यं तत्र सत्यं परं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वा शरणं प्रपन्ना ॥'

(श्रीभागवत १० स्क० पू०)

इति भागवतीयपद्ये श्रीधरस्वामिनस्तु 'श्रुत च सृजता वाणी सत्यं च सम दर्शनम्' इति सायणाचार्यविपरीतमिव व्याचख्यु । श्रीवङ्गभाचार्योश्च सुत्रोपिन्याम् 'श्रुतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति' विप्लवन्त 'श्रुत सृजता वागी, वेद सत्यप्रतिपादक, प्रमाण वेद, प्रमेय भगवद्धर्मा (आद्य सत्यम्, परसृजतम्)' इत्यादि व्याचख्यु । इहापि तु 'सत्यव्रतम्' इत्यनेनैवोक्तस्यार्थस्य पुनरुक्तेरसामञ्जसात्पदार्थान्तरमेव श्रुतसत्यशब्दाम्यामभिहितमिति प्रतिभाति । एवमन्यत्रापि—

व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्रां श्रुतचिद्धि सत्य ।

(ऋ० १।१४।५)

इत्यादिषु मन्त्रेषु,

'श्रुतमेव पूर्वं आधार सत्यमुत्तरोऽत्र ह वा श्रुतसत्ये कन्धेऽथो यत्किंचित्त-
सत्याम्या ज्यम्, सर्वं हैव तज्जयति' (शतपथ ब्रा० ११।१।७।९)

इत्यादिषु ब्राह्मणेषु,

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन ।

स हि सत्यमृत चैव पवित्र पुण्यमेव च ॥

(महाभारते आदि प० १।२८२ २८३)

इत्यादिषु पुराणेषु च न शब्दादिमौ पर्यायत्वेन 'जाख्यातुं शक्यौ, भेदेन व्यपदेशात् । न चापि केवलं मानसवाचिकधर्मपरतां सामञ्जस्यमावहतीति सुसूक्ष्म मालोच्यता सुधीभिरास्थायान्दषणप्रदणताम् ।

तत्रारम्भदुसुप्रवर्षदविज्ञानसमीक्षाचक्रवर्ति— विद्यावाचस्पति— श्रीमधुसूदन शर्मन्वरणैरिद् तस्य स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम्, यद् द्विविधा भवन्ति वैज्ञानिक प्रक्रियाया पदार्था—हृदयरहिता, सहृदयाश्चेति । आङ्गल्भाषाया 'सेन्टर' (centre) शब्देन यद् व्यवहियने लौकिके सस्कृते च 'कन्द्र'शब्देन यदुच्यते, तदेव यदे हृदयशब्देन, नाभिश्च देन च व्यपदिष्ट द्रष्टव्यम् । गच्छन्ति केचन पदार्था ये केन्द्रमाभिलष्यैव तिष्ठन्ति, यथा प्रस्तराद्या, एते सहृदया सत्यशब्देन व्यवहियन्ते । हृदयाधारेणैवैरामवस्थिति, हृदय एतौपा विधारणशक्ति । अङ्गुल्यापि धृते कन्द्रे महामहान्तोऽपि प्रस्तराद्या विधृतास्तिष्ठन्ति, न विचलन्ति, तेन परिचितवेन्द्र स्तल्पबलोऽपि मनुजो गुरुतम भारमुद्रोडुमीशीतति वैज्ञानिका प्रतिपादयन्ति । 'शरीर हृदये (धितम्)' (तै० ब्रा० ३।१०।८।७) इत्याद्या श्रुतिरपि चैतमेवार्थमाह ।

तथा—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तराजयमानो बहुधा विजायते ।

तस्य शोनि परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्युर्भुवनाति विधा ॥

इति मन्त्रे प्रनापतिवदेनापीव केन्द्रशक्तिं प्रतिपादितेष्वस्तामिदमप्रवृत्तम् । अथापरे पदार्था विशाकृष्टिा एव तिष्ठन्ति, न केन्द्र प्रकल्पयन्ति, यथा जगत्या, ते हृदयरहिता श्रुतशब्देन व्यपदिश्यन्ते । अत एव श्रुतशब्दव्याख्यायां निरुक्त-
कृद्यास्त्वं आह 'श्रुतमित्युदधनाम, प्रत्युद् मनति' (अ० २ खण्ड २५) इति । प्रत्युद्म इतस्ततो विकीर्णम् । अकेन्द्रकमित्यर्थः ।

अग्नीषोमात्मकं जगत्—इति हि वैदिक दर्शनम् । तत्र सोम श्रुतम्, अहृदयत्वान्, अग्निस्तु सत्यम्, केन्द्र प्रकल्प्य तदाधारैणैवावस्थानात् । सृष्टे रारम्भे सर्वमृतं मनति, सर्गाद्यैश्च केन्द्रनिबन्धनासम्भवात् । अत एव 'ब्रह्म वा श्रुतम् ब्रह्मो हृतम्' (शत० ब्रा० ४।१।४।१०) इत्यादिषु सर्वप्रथमस्य ब्रह्म श्रुतत्वमास्मात् । प्रवृत्ते तु सर्वे केन्द्रशक्तिस्तत्र तत्र प्रतिनियता भवतीति सत्त्वान्युपयन्ति । अथाप सोमजातीया सोमप्रधाना पदार्था स्वभावेन हृदय-
रहिता एव तिष्ठन्ति, ते श्रुतान्देवोच्यन्ते ।

पञ्चसु महामूर्तेषु प्रथममाकाशोत्पत्तिं श्रूयते । तच्चाकाश शब्दनात्मकम् । शब्दश्च केन्द्र परिग्रहोवावतिष्ठत इति आकाश 'सत्यम्' । तदनन्तरो वायुस्तु 'श्रुतम्', नहि वायु कापि केन्द्र प्रकल्प्य तिष्ठति, इतस्ततो विकीर्णं एव तु भवति । तदनु तेज 'सत्यम्', तत आप 'श्रुतम्', तदनु पृथिवी च सत्यमिति क्रम उपलभ्यते । तथैव उत्तन्याहृतिप्रतिपाद्येषु सप्तसु लोकेषु भूमि 'सत्यम्', भुव इत्यन्तरिक्षं च 'श्रुतम्' शून्येऽन्तरिक्षे हृदयासम्भवात् । 'अन्तरिक्षं वा श्रुतस्य विमूना' (तैत्ति० ३।१।५।४), 'श्रुतमसि श्रुतसदनमसि' (तैत्ति० स० १।१।९।३) इत्याद्यासु श्रुतिषु चान्तरिक्षभूतमेव श्रूयते । तत पर स्वरिति सूर्यमण्डल 'सत्यम्', मह इति सूर्यात्परतोऽन्तरिक्षं च 'श्रुतम्' । ततो जन इति परमेष्ठिमण्डल 'सत्यम्' त्व इति तत परमन्तरिक्षम् 'श्रुतम्' । अथ सत्यमिति स्वप्नमण्डल 'सत्यम्' एवेति तथापि क्रमः । एषु हि सप्तसु लोकेषु चत्वारि मण्डलानि, त्रीणि तु मध्य गान्यन्तरिक्षाणीति मण्डलानि सत्यपदेन, अन्तरिक्षाणि तु श्रुतपदेन व्यवहियन्ते । परमस्मान् परितो वर्तमाने चावापृथिव्योरस्तिअन्तरिक्षे परिभ्रमता चन्द्रमण्डलेन सार्धं घनिष्ठोऽस्नार्कं पृथिव्या स्वन्ध इति सोऽपि मण्डलेषु परिगणितः । तेन मण्डलत्रयस्य च 'पञ्चपुण्डरीरेषु दग्धा (द्यात्वा)' भूतौ व्यवहृता । तान्येतानि मण्डलानि अन्तरिक्षापेक्षया सर्वाभ्यदि सत्त्वानि । परं परस्पर तारतम्यपर्यालोचने (केन्द्रबन्धदाढ्यसौथिच्यत्रिवेक) इहापि क्रम आस्नात —स्वप्नमण्डल सत्यम्, परमेष्ठिमण्डल त्वप्राधान्यादृतम्, तदनु सूर्य सत्यम्, चन्द्रमास्तु पूर्वोक्तन्यायेनैव श्रुतम्, अथ पृथिवीयमग्निप्रधाना सत्यमिति त्रीणि सत्त्वानि, द्वे च श्रुते इहापि द्रष्टव्ये । एतदभिप्रायेणैव—

श्रुतमेव परमेष्ठि श्रुत नास्येति किञ्चन ।

श्रुते समुद्र आहित श्रुते भूमिरियं धिता ॥

(तैत्ति० ब्रा० १।५।५।१)

इति अप्रप्रधानस्य परमेष्ठिन श्रुतत्वमेवोक्तम् । श्रुतस्य च व्यापकत्वमत्र प्रदर्शितम्, तन्मध्ये एव भूम्यादीनामवस्थानवर्णनात् । तदिदं युक्तमेव, नहि केन्द्रनिबद्धा पदाथा विभवो भवितुमर्हन्ति, अपरिच्छिन्नस्य केन्द्रकल्पनासम्भवात् । श्रुतं तु प्रसरणशीलं सर्वमभिव्याप्यारि शक्नोति स्यात्तुम् । अन्यत्रापि च—

‘श्रुतमर्षन्ति किञ्चन सत्य तातान सूर्यो’ (श्रु० स० १।१०५।१२)

इत्यादिषु मन्त्रेषु किञ्चिन्नामृतदाहिता सूर्यस्य च सत्यविस्तारणं स्फुटमुक्तम् । तेन जलस्य श्रुतत्वम्, सूर्याकरणानां च सत्यस्य स्थिरीभवति । सूर्याकरणानां केन्द्र निबद्धत्वाज्जलस्य च तथात्वाभावात् ।

तथैव—‘अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः’ (श्रु० स० १।१।५)

‘वैश्वानरं तव तत्सत्यमस्वस्वमान् रायो मधवान् सचन्ताम्’

(श्रु० स० १।९८।३)

‘एव देहि सद्दक्षिणं रयिं नोऽद्राधेगं वचसा सत्यमग्ने’

(श्रु० स० १।१४।६)

‘तद्यत्सत्यम्, असौ स आदित्यः’ (शत० ब्रा० ६।७।१।२) ।

‘अथास्यां हिरण्यं वक्षीते । द्वयं वा इदं न सृतीयमस्ति सत्यं चैवावृतं च, सत्यमेव देवा अहृतं मनुष्याः । अग्निरेतस वै हिरण्यम् । सत्येनाशुनुपसृष्टानि, सत्येन सोमं पराहणानीति’ (शत० ब्रा० १।३।२।२)

‘सत्यं हैतद् यदुक्तम्’ (शत० ब्रा० ६।७।५।१)

इत्यादिषु मन्त्रब्राह्मणेषु सहृदयानामन्त्रादिनादीनां तत्त्वबोधनां हिरण्यं दीनां च सत्यस्य नाम्नायते । हृदयं हि सत्यां चतूनां ‘प्रतिष्ठा’ भवतीत्यबोचाम, तदाधारेणैव सत्यां पदार्थानामवस्थानात् । प्रतष्ठायाश्च सत्यस्य तत्र तत्र ब्राह्मण वाक्येषु भ्रूयते । तेन हृदयसत्ययोरैक्यमत्र प्रसिद्धयति । शतपथस्य चतुर्दशो काण्डः च (८ अ० ४६ ब्राह्मणेषु) ‘एष प्रजापतिर्वद् हृदयम् तदेतत् पञ्च हृदयमिति’, ‘तद्वै तदेतदेव तदास । सत्यमेव स’, ‘तदेतत् पञ्चरम् सति यमिति’ इत्यादीनां प्रपञ्चेन हृदय-सत्यस्यारकत्वमत्र ब्रवीद्विद्वत् । प्रजापतेश्च केन्द्र शक्तिरूपस्य पूर्वोक्तस्य हृदयवस्तुत्वमिति सहृदयस्य पदार्थस्य सत्यस्य स्फुटमुक्तं भवति । ‘कश्चिन्नु सत्यं प्रतिष्ठति तमिति हृदये इति होवाच’ । (बृह० उप० ३।१।२३) इति शाकल्य-यादव-कथं समाप्तं इति न्यायमर्थं स्फुटो भवति । यद्यपि वचनरूपं सत्यमत्र व्याख्यायते, अथापि बहुभिप्रायस्य भ्रूयते भवतीति पदार्थगतं सत्यत्वमपि शक्यमनुवधातुम् ।

अथ—'वरुणस्य श्रुतसदनमासीद' (यजु स० ४।३६)

'प्रसीमादित्यो असृजद्विधर्ता श्रुत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति'

(श्रु० स० २।२८।४)

'यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् घामन्वृतस्य

मूर्धा नाभा सोम वेन आमूषन्ती सोम वेद ।' (श्रु० स० १।४३।९)

'तन्म श्रुत पातु शतशारदाय' (श्रु० स० ७।१०।१६)

'चावर्श्रुताय पीतये' (श्रु० स० १।१३७।२)

'वायुरसि प्राणो नाम " श्रुतमसि सत्य नाम" " " "

'श्रुतस्य त्वा व्योमने, श्रुतस्य त्वा विधर्मणे' (तै० स० ३।३।५)

'श्रुतस्य त्वा देवहवि पाशेन प्रतिमुञ्चामीति, वरुण्या वा एषा यद्रज्जु' (शत० ब्रा० ३।७।४।१) इत्यादिषु च वरुण वायु सोम जलप्रभृतीनामहृदयानामृतत्वमाख्यायते ।

'श्रुतस्य गर्भं प्रथमा ध्यूषुष्यपामका महिमान विभर्ति' (तैत्ति० स० ४।३।१।१।५) इति मन्त्रे च उथा 'श्रुतस्य गर्भं' इति स्तूयते उपसि प्रत्युताना प्रकाशावस्थायादीनामकन्द्रत्वात्, ऽपसो जनकाना वा प्रवृक्ताना प्रकाशानामृतत्वात् । तथैव—

"कृष्ण नियान हरय सुपगो अपो वगाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् धृतेन पृथिवी व्युच्यते ॥"

(श्रु० स० १।१६४।४७)

इति मन्त्रे उत्तरस्था दिशः श्रुतसदनत्वमाख्यायते, उत्तरा हि दिक् सोमस्थाया च सदन भवति, ततश्च अहृदयानामपि सोमस्य च श्रुतत्वमत्र स्फुटमाख्यातमिति । 'प्रत्युत भवतीति' निरुक्त्याख्यया च सोऽयमर्थो द्रष्टीभवति ।

सर्वमपि सत्यमृतगर्भं भवति, पिण्डस्य कन्द्रबद्धस्यावयवावयवधारया विभ्रान्तावन्तत सर्वत्र श्रुतस्यैवोपलम्भात् । श्रुतान्येव हि कन्द्रबद्धानि सन्ति सत्यत्वमाप्नुवन्ति । अत एव शतपथब्राह्मणे (१।१।६।१) "आपो ह वा इदमग्रे सत्त्वित्मेवास ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति । ता अभ्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त, तामु तपस्तप्यमानामु हिरण्यमाण्डं सवमूव" "तत सवत्सरे पुरुष समभवत्, स प्रजायति" इत्यादिना प्रपञ्चेन श्रुतास्तपु एव सत्यस्य सवत्सराग्ने प्रजापतेरुत्तरभिदिता ।

'श्रुतचिद्धि सत्य' (श्रु० स० १।१४।५।५) इति मन्त्रेऽपि च सत्योऽग्नि-श्रुतचयनविशिष्टोऽभिहित । 'श्रुतापाङ् श्रुतघामाग्नि' इति मन्त्रेऽपि चाग्नेऽश्रुतगर्भत्वाभिप्रायकमृतघामत्व श्रूयते । तथैवान्यविमृतस्य श्रुतस्याचयन सत्या भवन्तीत्यपि दृश्यते, यथा जलावयवमूता निन्दक कन्द्रबद्धा सत्या भवन्त । एतदभिप्रायणैव भूतिराह 'श्रुत सत्येऽधायि, सत्यमृतेऽधायि, श्रुत च मे सत्य

चामूताम्” इति (तै० ब्रा० ३।७।७।४) । श्रुत स्वरूपेण परिणमद्विस्रष्टमव-
लोक्यते, यथा जड हिमता गत सत्यभावमापद्यते । वायुर्वा व्यजनादिपरिचाक्षित-
केन्द्रनिबद्ध सत्यो भवति, सोमोऽपि चाम्नी हूयमानोऽग्निरूपता गच्छन् सत्य एव
सपद्यते । तथैव सत्यमप्यृतता गच्छति । तथा ह्यग्निर्वा सूर्यतेजो वा वाद्वकेन्द्र
सन्द्ध भवति, भवति तावत् सत्यम् । यदा तु पदार्थान्तरमनुभविराति, तदा
केन्द्राद्भवच्छ्रुतं भवति । यथा ग्रीष्मेऽस्तमितेऽप्यादित्ये बहुकालपर्यन्त प्रस्तरादि
पूष्पा प्रतीयते । अग्नी मृत् चान्नाद्यग्ने पृथक् कृतमपि चिरमुष्ण तिष्ठति । तत्रेद
तेज केन्द्रादपवृच्छ पदार्थान्तराङ्गता गतमिति स्पष्टमव । इदमेव ‘प्रक्षर्य’ इति
‘उच्छिष्टमिति’ च श्रुतिष्वाख्यायते । तदित्यमृतसत्ययो परस्परान्गता परस्पर रूप
परिणति चामिल्लक्ष्यैकत्वमेवानयो पश्यन्ती श्रुति शब्दाविमो पर्यायेणैव बहुष
प्रयुङ्क्ते । एतदभिप्रायेणैव चान्नेरादित्यस्य च क्वचिरसत्यत्व क्वचिद्वत्त्वं चान्नायते
“श्रुत स्वा सत्येन परिषिद्धामीति साय परिषिद्धति, सत्य त्वेन परिषिद्धामीति
मात । अग्निर्वा श्रुतम्, असावादित्य सत्यम्” (तैत्ति० ब्रा० २।१।१।१) ।
“अथ वा अग्निश्रुतम्, असावादित्य सत्यम् । यदि वाऽसावृतमित्य सत्यम् ।
उमयन्नेतदयमग्नि ” (द्यत० प० ११।२।७।९) इत्याद्यासु श्रुतिषु । तदिद
मूलतस्वस्यैश्रवाभिप्रायक द्रष्टव्यम् ।

सूर्यमण्डलादपवृच्छ पार्थिवपदार्थाङ्गता भ्रूरात् तेजो यदाख्यातम्, तदेव
‘श्रुताग्नि’ इति ‘सत्तराग्नि’ इति च श्रुतिषु व्यबह्रियते । एतत्तारतम्यादेव
पृथिव्या समय (मौसम)-परिवर्तन भवतीति ते समय श्रुतसवन्धादेव ‘श्रुतव’
इत्याख्यायन्ते । पृथिव्या चित पृथिवीकेन्द्रनिबद्धथ पार्थिवोऽग्नि ‘सत्य’ इति
साधितमेव । सोऽयमपि वस्तुतः सूर्यादेवोत्पन्न । पृथिवीपिण्डस्य सूर्यापिण्डादेवो
त्पत्ते श्रुतिसम्पत्त्वात्, तदग्नेरपि तत् एवोत्पन्नत्वात् । इदं तु स्मर्तव्यम्—श्रुतिषु
नायमग्निशब्द उष्णस्पर्शवद् द्रव्यस्यैवाभिधायक, अपि तु स-पदार्थमूलभूतमन्नद
प्राणमयमाह । उष्णताप्यस्यैवावस्थाविशेष इत्यन्यदतत् । ततश्च सौरा प्राणा,
पार्थिवा प्राणाश्च श्रुतसत्यनदाग्यामभिधीयन्ते ।

तदिदं द्वयमेव ‘श्रुत च सत्य चामीक्षात्तपसोऽध्यजायत’—इत्यधमर्षणसूक्ते
प्रशान्तम् । अनयोरेव काग्निमाजस्रत्वम्, लोकनिर्मातृत्व चेति तत्रापदिष्टम् ।
एतद्विषेणु शब्देभ्यव वैदिकब्रह्मज्ञानकोश मुनिहितो वर्तते । यदि विद्वांसो ऋष
हारिकमुपवेदार्थनिदर्शनप्रधानेषु कोपेभ्यव केवलमनात्मन्य शब्दार्थान्वेषण
प्रतियामुररीकुर्यु, तर्हि निगूढस्य वैदिकस्य विज्ञानस्य मूयोऽपि प्रकारेण दिश
उ-सिता स्यु ।

वेदेषु विज्ञानम् , तस्य क्रमिको हासश्च

तिन्दूरपुराणिताखिलाङ्गो यज्ञोपवीतीकृतनागराज ।
 उदामनिघ्नौषधिघातदक्ष पायादफ्यादनिश्च गणेश ॥

किमिदं विज्ञानम्

इह ह्यु निगूढ अगच्छत्वा कारुण्येनोपदिशता महामहिममाना तत्र भर्ता
 मगता इषा निरूपणप्रक्रिया मियते । तथा च द्वयमिदं प्राप्यते—ज्ञानं च विज्ञानं
 चेति । विभिन्न वस्तुजातमक्षिप्त्वीकृत्य मूलान्वेषणक्रमणैकतत्पर्यन्तं *गतेर्ज्ञानम् ।
 'एक एव निरूढ मत्वा क्रमम तस्यानंतरात्पत्तिर्विज्ञानम् । विशिष्य ज्ञानं हि
 विज्ञानम् , विविध ज्ञानम् , विभेदेन ज्ञानं वा विज्ञानमिति । तत्रैव मूलान्वेषण
 क्रमणैकतत्पर्याति सूक्ष्मेषु तत्त्वेषु न प्रायेण प्रत्यक्षसाध्या, अनुमानं वा शब्द
 वाक्यमर्थ विचारैरेवैव प्रादुर्भवति । बुद्धिमत्सुत्य च निष्पाद्यमाने निर्णये प्रक्रिया
 भेदा मतभेदाश्च भूया विवृम्भन्त एव, बुद्धीनामैकरूप्याभावनं मतैकस्य तत्र
 दुर्गमत्वात् । प्रक्रियाया ऐक्यं तु समावयितुमप्यशक्यम् । अर्थैकस्यानेकरूपताया
 तु सुस्पष्टं प्रत्यक्षं प्रभवत्यवेति परोक्षरूपं प्रतिभासं ज्ञानशब्दं प्रत्यक्षे प्रत्यक्षायिते वा
 स्पष्टे प्रतिभासे तु विज्ञानशब्दं स्थाने प्रवृत्तं । अत एव—

“ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।” (म गी ७।२)

“ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्जात्वा मोक्षपसेऽनुभात् ।” (म गी. ८।१)

इत्यदिषु “विज्ञानसहितं—अनुभवसयुक्तम्” इति श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्भा
 ष्यङ्गद्विव्याख्यातम् । एकमूलान्वेषणं केवलं मोक्षोपयोगि । एकस्यानेकरूपता
 विचारस्तु व्यहारापयोगितामभ्यावहतीति क्रमणं व्यहारापयोगिनि ज्ञाने विज्ञान
 शब्दं , मोक्षोपयोगिनि ज्ञाने तु ज्ञानशब्दो निरूढि गतः । तदभिप्रायेणैव—

“मोक्षे धीज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।”

इति तत्र भवानमरसिंहो वभाषे । अनेनैव च पथेऽद्यत्वे वस्तुतन्त्रान्वेषणपर
 'सादृश' इति नाम्ना प्रसिद्धं शास्त्रं विज्ञानशब्देनैव सङ्ख्यतविद्वांसः परिचिन्वन्ति ।
 वस्तुतस्तु मोक्षोपयोगि तत्त्वमपि यदा न केवलं परोक्षविधया, अपि तु अनुभवपर्यं
 साधितया प्रतिपद्यते, तदा तदपि विज्ञानपदव्यपदेशयतामवाक्याहृतं । तत एव तु
 भगद्गीतासु “ज्ञानं विज्ञानसहितम्” इत्याद्यादिष्टम् । न हि शिल्पशास्त्रास्तत्र

* 'संभूतेषु येनैकं मासमाययमीशते । अविमक्तं विमक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि
 सात्त्विकम् । (म गी १८।३)

कापि कथा । अनुभववाचसानमेव च तत्त्वज्ञानमविद्यानिर्दत्तकमाचक्षत आचार्या इति विज्ञानमेव मोक्षोपधिकमपि । किञ्च परोक्षप्रतिभासरूपे ज्ञाने ये मतभेदा प्रक्रियामेदा वा विभिन्नदृशा विजृम्भन्ते, ते तत्र दर्शनसमाख्या लभन्ते । तेषु दर्शनेषु दृष्टिभेदप्रधानेषु पारस्परिकाना वाक्यलहानामपि भवति समावना । विज्ञाने स्वनुभववाचसाने प्रत्यक्षापिते प्रतिभासे न कापि विचारभेदस्यापि समावना, दूरे तु विचारभेदमूलका कल्हा इत्यहो विज्ञानस्य महिमेत्यास्तामप्रकृतविस्तर ।

वेदे का प्रक्रिया !

इदं तु वक्तव्यम् । वेदेष्विमा विज्ञानसारामेव शैली प्राधान्येनोपलभामहे । एकरमादेव मूलत्वरस्वरारत्यन्तविलक्षणपरार्थप्रतिपत्तिस्य जगत उत्पत्तिवेदेषु । बहुधा प्रपञ्चिता, तत्तद्द्वस्तुधर्माश्च करतलामलकवद् विस्पर्धं ग्राहिता । किमन्यत्-नर धर्मतत्त्व मोक्षतत्त्व च यत् प्राधान्येनोपदिष्टम्, तदपि वस्तुतत्त्वविवेचनप्रधाना-मनुभनपर्यवसायिनी च विज्ञानशैलीमेव समालम्ब्य समुपदिष्टम्, न तु परोक्षमिव क्वल अद्वाप्रधाना शैलीमभिलक्ष्येति विवेचनपरा विद्वांस सम्यग्बगच्छेयुः । तस्माद् वैदिक सर्वमपि ज्ञानम्-आत्मविज्ञानम्, ब्रह्मविज्ञानम्, धर्मविज्ञानमिति विज्ञानशब्देनैवोपदेष्टुमर्हम् । अत एव कर्मविधिपरेषु ब्राह्मणेषु प्रतिविधि + 'किमर्थमवमेतत् करोति' इति जिज्ञासामुत्थाप्य वस्तुतत्त्वावलम्बेन तत्समाधानं तत्र तत्र पश्याम । तेन च वस्तुशक्तिमवलम्ब्यैव वस्तुविज्ञानाधारोऽस्माक धर्मोऽपीति सुस्पष्टं भवति ।

उपनिषत्सु च दृश्यवस्तुतत्त्वावलम्बिनीं निरूपणप्रक्रियाम्, बहुमिथ चैतै-हृष्टान्तैसात्मनिष्ठाया अप्यनुभववाचसानताप्रापणप्रयत्नमालोचयाम । आन्दोग्योप-नियमु षष्ठ प्रपाठक, इहदारण्यकोपनिषत्सु चतुर्थप्रपाठ्यायौ चात्र विशेषेण निदर्शनाहर्हा । धर्मब्रह्माङ्गभावनैव च सर्वं वस्तुतत्त्व कात्स्न्येन वेदेष्वालोचित प्रतिचानाम । अथमेव सर्वाविशयो प्रतिपादनप्रकार सर्वविद्यादिभूताना वदाना किमपि गौरवमुद्रासयति । तत्र एव च वैदिकशरणानामार्याणां शिरोऽस्यापि अग्रतुभ्रनम् ।

तदिदं सर्वमपि विज्ञान मन्त्रेषु सुस्पष्टतर सूत्ररूपेण सकेतविषया समुपदिष्टम् । ब्राह्मणादिषु च यथोपयोग किञ्चिद् विवृतम् । यदा खलु जागृति स्म वैदिक विज्ञान मारते, तदा सक्तमात्रैव त तन्मर्थं प्रतिपत्तव्यं प्रपद्यन्ते स्म । न बहु व्यख्यानमपेक्षितमभूत् । विशवाऽत इरण सहकार्यमिति चासीत् तत्रभवता मार्याणां शैली । पुस्तकपरम्परातामपि न ते विप्रेहेरे । अत एव—

† 'वचदप उपस्थाति अमेधो वै पुश्य' (१।१।१) इत्यादि शतरथब्राह्मण द्रष्टव्यम् ।

पुस्तकस्या च या निद्या पश्यते च यद् धनम् ।

न्यायज्ञाने तु सम्प्राप्ते न सा निद्या न तद् धनम् ।

इत्याद्यप्यस्मिन् नैतिज्ञोऽप्यते । ततश्च अन्यगौरव तदात्वे नेष्टमर्हन् ।
सूत्ररूपेण प्रतिपादनयोगी प्रवर्तते स्म । अतएव वदेषु तादृशी निष्ठा शैली
पश्यामी यद् देवतास्तुतिपरेष्वेव मन्त्रेषु क्वचिद् विशेषेण उत्पद्यते स्मी
विद्वान् विद्योत्पत्ते । खुनद्धिरव चैतिहासिक विवरणान् तथैव बर्हिष्यते । अत्र
कानिचिदुदाहरणानि सूत्रेण दर्शयन्ते—

‘अग्निनीळे पुरोहित यदस्य देवतृतेजसम् ।

होतारः सतघातमन् ।’ (श्रु० १।१।१) ।

इति दृष्टव्या आदम एव मन्त्र—

‘पुरोहितम्’ ‘पश्यत देवम्’ ‘श्रुत्वन्म्’ ‘होतारम्’ ‘सतघातमन्’ इति
पञ्च विशेषान्यत्र ध्रुवन्त । एत्र ‘पुरोहितम्’ इति अस्माकं पुर मिथ्य एववाग्नि-
प्रस्तुतो न वैयुष्टैरावन्ताश्च देव्यादग्नी इति सा अत्र व्यवृत्ति प्रदर्श-
पुरो हस्तमानेषु चेष्वपि वर शु अन्तर्गतमनाह । ‘यद् विद्विद् दार्ष्टि-
यम्, अग्निर्मेव तद्’ इति जगन्मते मन्त्रान् यात् (निष्कृत ७ अध्याये) ।
मौलिकस्य दत्तस्य, अनेरेव चयनेन (लक्ष्योपानयन, लिप्युपानयन वाचस्पतेन)
सर्व पदार्था निष्पद्यन्ते स एव चित्तोऽग्निः । सर्वत्र पुन प्राग्भूतानुभवे-
चित्तेन घेन—इति वैदिक दर्शनम् । यच्च वैदानिका आधुनिका अन्तर्गत-
साधयन्तो मौलिकता वारन्ति, तेषां स्थूलानुभवान् दृष्टव्यान् । तददाह
बनक एव पदार्थसैरस्यत्वन स्थूलानुभवप्रसिद्धम् । वैदिकतु निष्कृत प्राग्भूत-
सर्वानुभवतः पदार्थोऽपि विवरणात् । तददाहौ तस्यैव स्थूलानुभवा ।
अन्ययानि मन्त्रेषु सुस्तु अन्तर्गतानि विवृता—

गमो अम्य घषीना गमो वरसनामान् ।

गमो विधत्त मूलस्थान गमो अनादधि ॥

(यजु — १००१७)

गमो यो अना गमो वनना गमश्च स्यात् गमश्च यम् ।

अत्रौ निदग्ना अन्तर्गतं निद्या न विद्ये अन्तु स्वाधी ॥

(श्रु० म० १।३।१०)

इत्यदिना । एव ‘पुरोहितम्’ अग्नि पश्यत मन्त्रानुभवान् पुत्र दत्तनामान्
पापितान् पदार्थान् अस्मिन्मनाह । सर्वानुभव किमानुभव व्यति—इति
द्वितीयेन ‘पश्यत देवम्’ इति विशेषेणोच्यते । सर्वमपि पदार्थान् दत्तमान-
न कदाप्येकमन्त्रं, परित्तमानुभव विद्व सर्वानुभवतः । परित्तमानुभवानि च

नैकान्त सत्ता जहाति । तदिद सर्वं यश्कृतम् । स्वोपाना भावानामन्यत्रा
 र्पणम्, अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रदानप्रक्रिया यद् । यथा
 प्रदीपं प्रकाश सर्वत्रार्पयति तैलव्यवाश्चाजस्रमादधे, वृक्षलता पुष्पफलानि
 ददति, पृथिव्या अपा च रसमजस्रमाददते । प्राणिन आहारमाददते, मल दलं
 च तत्र तत्र प्रयोष्यन्तीति सुस्फुटं सर्वत्रानुभूयेत सूक्ष्मया दद्यात् । सोऽयमादान
 प्रदानापरपर्यायोऽन्नाभादभाव एव प्राकृतो यद् उच्यते, स चायमग्निषाध्य
 इत्यग्निरेव यज्ञस्य देव । अग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञसपादिका । अनेनैव यज्ञेन
 सर्वेषामुत्पत्ति स्थितिश्च । प्राणिनामङ्गपोषो वृक्षादीना पर्णपुष्पादिप्रस-रश्च
 सर्वोऽभ्ययज्ञषाध्य । तदेतद्बुधादिनिषेडन्यत्रापि स्फुगीकृतम्—

प्रमातु प्रतर गुग्गमिच्छन् कुमारो न वीक्ष्य सर्पदुर्वा

सस न पक्कमविदच्छुक्न्त शिरहास रिप उपस्ये अन्त । (श्रृक् १०।७५।३)

एतद् व्याख्यात श्रीमाधवाचार्यै—“अयमग्नि, मातु-पृथिव्या सम्बन्धि
 नी, उर्वा-वह्नी, वीक्ष्य-लता, इच्छन्-कामयमान प्रसर्पन्-प्रसर्पति-
 प्रसरति । किमिव, कुमार इव, स यथा स्तन्य पातु ज्ञानुभ्या सर्पति, तद्वत् ।
 सस न पक्कम्—पक्कमन्नमिव, शुक्लतम् दीप्यमान नीरस वृक्षम्, रिप पृथिव्या
 उपस्ये, अन्त उत्सङ्गे, अन्तरविदत्-विन्दति । पुन क्षीदशम्, शिरिहासम्-
 आकाशम-स्वादयन्तम्, यद्वा मूलैर्मातर पृथिवीं शिरिहासम्” । इति । अप्र
 तृतीयचतुर्थयो पादयोरेकवाक्यतात्वायेण उपादिता । एतदपेक्षया तयो पृथग्
 वाक्यत्वं यदि स्यात्-पक्कमन्नमिव शुक्लतम्-नीरस वृक्षमविदत्, रिप उपस्ये
 अन्त-पृथिव्या उत्सङ्गे, शिरिहासम्-रसमास्वादयत चाविददिति, ततोऽधिक
 स्पष्टता स्यात् । वृक्षान्नादिषु सिद्ध जलमादित्यरसमय ऊर्ध्वमाकर्षयन्ति, तेन
 सहैव तज्जलससक्त पार्थिवोऽग्निरभ्यूर्ध्वमाक्रमते, तदेतदग्नेरसर्पणमृच पूर्वमिन्नस्रं
 स्फुटमुक्तम् । तस्यैतस्य शोषमानस्याग्नेरुपरितने भागे वायुसपकोच्छ्रुक्तामापद्यते-
 अन्तरतु मन्त्रस्यैव रसोऽजस्रम् । जल हि सोमस्य प्राधान्यमति स्फुगीवृत्त भुतौ—

स्वमिमा व्योषधो सोम विश्वात्स्वमपो अजनयस्त्वं गा

८-माततथोर्वन्तरिक्ष १५ ज्योतिषा वि तमो ववथं ।

(श्रृ० अ० १ अ० ६ वर्ग २३)

तन्म पार्थिवेऽग्नौ सोमाहुतिरेव वृक्षाद्युत्पत्तिहेतुरिति यज्ञस्य हेतुता सिद्धा ।
 अनेन यज्ञेनैव वृक्षादीनामूर्ध्वं निर्यङ्क् च क्रमेण विरतार, तिर्यग्रसप्रसार एव
 द्यायापर्णोदिजनक, तस्यैव च रसस्य पर्णपुष्पफलादिरूपग परिणाम । पर कस्य
 वृक्षान्तादे क्रियती प्रसृतिरूर्ध्वं तिर्यग्रति सर्वमिद मूल स्थितस्य प्राणस्यायत्तम् ।
 सय मूलशक्तिरवास्यापृष्य ‘प्रतरम्’ ‘गुग्गम्’ इति सङ्कतिता । प्रतरत पार्थिवस्य
 रसस्य वृष्णान्ततया, आदित्यस्य च ‘निशङ्ग द्रापिं प्रतिमुञ्चते कवि’ (श्रृक् सं०

४।५।३।२) इति पीतवर्णतायाः श्रुतत्वेनोभयो सयोगादरित रूप वृक्षपर्णादि-
पूपल्भ्यते । यदा तु यमेन प्रतिबद्धो रसो नोपसर्पति, तदा केवलस्या
दित्यस्य पीतमेव रूप पर्णेषु प्रतिभासते । तदा मूलात् प्रक्षर्यमातोऽयमग्नि-
पृथगवस्थया पर्णादिषु स्थिरो भवति । एवमेव शुष्केष्वन्नेष्वपि भिन्नयैवादस्य
याग्नेरवस्थितिरिति ते उभे अप्यस्य पृथगृचि प्रतिपादिते । “अग्निर्वै शम्माण्य
न्नादीनि प्रयच्छति” (ऐ वा २।५।९) इत्यादिना ब्राह्मणेषु च विस्पष्टीकृत
विज्ञानमिदमिति कृत निस्तरेण ।

अथ प्रथमायामृचि तृतीय विशेषगमृत्विजमिति । श्रुतुभिर्यजति—सगच्छत इति
वा, श्रुतून् यजति—ददातीति वा तस्याय । प्रथमे विग्रहे श्रुतस्य सौराग्नेरवयवा
एव श्रुतुशब्दार्थः । द्वितीये तु तत्तत्फलपुष्पादिजनवत्त्वन प्रसिद्धं स स काल
एव श्रुतुशब्दार्थः ।

उभयथापि सौराग्निना सङ्गतोऽय पार्थिवोऽग्निस्तत्तदुच्यपदेशप्रयोजक इति
सिद्धयति । सौरस्य सक्त्वरूपतामाप्तस्याग्नेरपेक्षयैव श्रुतूना नामान्यपि क्लृप्तानि ।
अग्नयोऽत्र वसन्त—अमेण सर्वं व्याप्नुवाना सन्ति, स कालो वसन्त इत्या
ख्यायते । यदा तु सर्वानर्थान् गृह्णान—आत्मसात्कुर्वाणोऽस्ति, स कालो प्रोक्ष्म,
प्रश्यातो परोक्षवृत्त्या निष्पन्नत्वादस्य शब्दस्य । यदा तेऽग्नयः प्रवृद्धा भवन्ति
तदा वर्षा, वृक्षाद्युनिष्पन्नोऽय शब्दः । अथ परा वृद्धि प्राप्य यदा क्षय गन्तुमा-
रभन्तेऽग्नयः, तदा (शरन्तोऽग्नयो यत्र) शरत्काल, हीनताया हेमन्त, सर्वथा
निशीर्णेषु चामिषु क्षिप्रि इति ‘जायते, अस्ति, वद्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते,
विनश्यति’ इति यास्कपरिपठिता षड्भावविधारा एव श्रुताग्निसवन्धेनेह श्रुतु
वाचकै शब्दैः प्रदर्शिता । श्रुतवपवभूताना चैत्रादिमासाना वैदिकानि नामा
न्यपि—मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नमा, नमस्य, इष, ऊर्ज, सहा, सहर्यः,
तषा, तपस्य—इत्येतानि तेषु तेषु मासेषु श्रुताग्निसवन्धाद्यद्यत्पृथिव्या पार्थिवेषु
प्राणिषु बोध्यते तन्मूलकान्येव । यदा हि मधु समुत्पद्यते—स मासो मधु ।
मधुप्रकर्षसवन्धी च माधव—इत्यादीत्यहो वैज्ञानिक विज्ञप्तिस्तुरभारत्या १ ।
आस्लामप्रवृत्तम् । श्रुतुविज्ञानमेवेदानीं सक्षेपग वक्तव्यम् । श्रुत सौराग्निरेव
श्रुतूना प्रधान कारणम्, पर नैकदृशं च विभिन्नप्रकाराश्रुतून् जनयितुमल्पमिति

१. यत्र हि अन्यासु वैज्ञानिकतामानिनीषु भाषासु जूनी—नामक पुरुषविशेषो
यत्रोत्पन्न स जून इति, जूनी च यस्मिन् मासे जात स जुगार्द—इति मनुष्य-
सवन्धेन मासनामानि भवन्ति, तत्र सङ्कृतभाषाया मासनामश्रवणादेव तन्माससवन्धि
विज्ञान प्रतीयते इति दृश्यता तुरभारत्या गौरव विस्फार्य चक्षुषी भाषान्तर
पञ्जातिभिः ।

सोमसवन्धस्तत्र-विभिन्नदशासपादनायापेक्षणीय । सोममण्डलं च चन्द्र इति च द्रव्याप्यृतुजनइत्वमाभ्नातम् ।

पूर्वापर चरतो माययैती

शिरू ऋडन्तो परियातो अश्वरम् ।

विश्वान्यन्यो भुवनामिच्छे

श्रुत् रन्यो विदधत्पुन पुन ॥

(ऋक् १०।८५।१०)

सूर्योचन्द्रमसावस्मिन् मन्त्रे प्रस्तुतौ, तावच्च शिरू इति रूपिनौ । तत्रैक सूर्यो भुवनानि प्रकाशयति, अन्यस्तु चन्द्र श्रुतून् विदधत्पुन पुनर्जायते इति चन्द्र स्यापेक्षाकृत प्राधान्यमुक्तम् । तदित्य सूर्योचन्द्रमसावृत्त्यादकौ, किन्तु तत्तदवृत्तु या फल्गुष्वादादि समृद्धिस्तत्र हेतु पार्थिवोऽग्निरेव । न हि पार्थिवाग्निसवन्ध मात्रेण पृथिव्यां किमप्युपयेत नाम । सूर्यचन्द्रयो प्रभाव पार्थिवेऽग्नी, पार्थिवश्चाग्निस्ताम्या सगस्य तत्तदन्नादिजनक इति सर्वमिदम् 'श्रुत्विजम्' इति निभिरक्षरैरुक्तम् ।

'होतारम्' इति चतुर्थे विशेषण ह्येष घातोऽहोतारम् निष्पाद्य ब्राह्मणेषु व्याख्यातम् । तेनाग्निदेवानाह्वयति, अग्निद्वारेवास्माकं सौरमण्डलस्यैदेवै सवन्ध इति गभीर तत्त्व विचायते, यदद्यापि सर्वथा परोक्ष वैज्ञानिकानाम् । अथ पञ्चमम् 'रत्नघातमम्' इति विशेषणम्-अग्निरेव मुक्तामणिप्रभृतीना रत्नानामुत्पादयितेति भूगर्भविज्ञानं स्फुरयति । हिरण्योत्पत्तिविज्ञान ब्राह्मणे स्फुर्मप्युपलभ्यते "आपो वै ववणस्य फल्य आसन्, ता अग्निमम्यष्यायन्त, ता समभवन्, तस्य रेत परापतत्, तद्विण्यममवत्" (तैत्तिरीयब्राह्मणे १।१।६) रसेऽग्निवीर्य सवन्धाद्विरण्योत्पत्तिरित्यत्र स्फुर्म मन्ति । अत एव चाग्निर्हिरण्यरेता इति संस्कृत-भाषायामाख्यायते । तदित्य परिमिताक्षरै पञ्चभिर्विशेषणै कियद्विज्ञान वय शिक्षिता इति विचार्यता मनाइमहामागे ।

तथैव यजु उदिताया आदिमे मन्त्रे—

"इये त्वोर्जे स्वा वायव स्थ देवो व सविता प्रापंयतु, भेष्टतमाय कर्मण आप्यायस्वम्"

हरयादौ-इत्यत्रम्, ऊर्गिति बलम्, तद्वायोरेवाज्ञबलसरादकत्वं वृष्टि द्वारेणेति वायोर्गुणा, वायौ च गति संप्रैरणयेति विज्ञानसिद्धान्तं स्फुर्गीमवति । हे वायव ! सविता देवो व प्रापंयतु-प्रेत्यतु' इति संप्रैरणया वायौ गते सुप्रतिपन्नत्वात् । "सवितुप्रसूत एव पवते" इति घातपथब्राह्मणे तद्व्याख्यानम् । किं च "यशो हि भेष्टतम कर्म" 'तस्मै भेष्टतमाय कर्मणे यूयमाप्यायस्वम्-

परिपुष्टा भवत' इति व्याख्यातपूर्वस्य प्राकृतस्य यज्ञस्य वायुपरिपोषाधीनत्वमप्यत्र सिद्धितम् ।

सूर्यसंबन्धे तु "प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य" "नून जना सूर्येण प्रसूता" इत्यादि बहुतर श्रुतिषु श्रुतम् । अस्मदधिष्ठितस्यास्य ब्रह्माण्डस्य सूर्य एवाधिनायक, स एवोपरिष्ठाद्वर्तमानानामपि मण्डलाना नियन्ता निवेशयिता चेति सर्वातिशायि माहारम्य सूर्यस्य मृणम् ।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च ।

हिरण्ययेन सविता रयेनादेशो याति भुवनानि पश्यन् ॥

(ऋ० १।३५।२)

इति हि सौरं मन्त्रे अमृत-मर्त्यनिवेशकत्वं सूर्यादुपरिष्ठाद्यत्, तदमृतम्, अवाभूत् च मर्त्यमिति ब्राह्मणेषु बहुत्रोपलभ्यमानेय परिभाषा श्रीगुरुचरणाना मन्त्रेष्वसकृद् व्याख्याता । तदुभयनिवशकत्वं मध्यस्थितस्य सूर्यस्यात्र विज्ञातम् । किं च 'कृष्णेन रजसालोकेन, आवर्तमान' इत्युक्त्या प्राणभूतस्य देवस्यादित्यस्य लोकभूतमिद् मण्डलं कृष्णवर्णमित्यस्मान्मन्त्रास्फुगीभवति, यत्रेदानीन्तना अपि वैज्ञानिका हस्तपाद प्रसारयन्ति । ते हि 'सूर्यमण्डले कृष्णवर्णा बहवो भागा (घन्वा) इत्यद्यावधि यत्रैर्विनिश्चिन्वन्ति, श्रुतौ तु सर्वमपि मण्डलं कृष्णवर्णं भ्रूयते, या तु पीतरक्ततास्माभिरनुभूयते, सा रथस्येति 'हिरण्ययेन रयेनायाति' इत्यादिना स्फुगीकृतम् । ससक्तानि स्वमक्तिभूतानि देवान्तराण्येव रथाश्ववाह नादिरूपतया देवाना मन्यन्ते इति ध्याख्यात निरुक्तकृता भगवता यास्केन । तेन ससक्तसविकारिप्राणसबन्धाद्विरण्यवर्णता सूर्यमण्डलस्य प्रतीयत इति भौत सिद्धान्त, सोऽद्यापि दुरवगम एव विफलपन्त्रसहायानामाधुनिकवैज्ञानिकानाम् । यस्त्वयमममामि' सौर प्रकाशोऽनुभूयते, स सौररश्मिसपर्कत्सर्वत्र व्याप्तस्य गोमस्याभिज्वलनाग्निध्वज इति भ्रूयतेऽप्यत्र—

"सोमेनादित्या बलिन" (ऋ० सं० १५।८५।२)

"आदिप्रत्नस्य रेतसो ज्योति पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि" (ऋ० ८।१।३०) इत्यादौ । प्रत्न रेत सोम एव । स एव च दिव—सूर्यमण्डलात्परस्ताद पीध्यते—प्रदीप्यते इति ।

अथापरोऽय सौरो मन्त्र —

उदुत्य जातवेदस देव वहन्ति केतव ।

दरो विश्वाय सूर्यम् । (ऋ० अष्ट० १-४-७)

अत्र केतव किरणा, विश्वस्मै दर्शयितु सूर्यं देवमुद्रहन्ति—ऊर्ध्वं प्रापयन्तीत्यर्थं प्रतीयते, व्याख्यातञ्च तथैव भाष्यकारै । पर विचारदृष्ट्या नेदं सम्यक् प्रतीयते,

ऊर्ध्वस्थितमादित्यमघं स्थितानस्मान् क्रिणा दर्शयन्ति, तेन उग्रवहन्तीति वक्त्वर्थं स्यात्, कुनस्तु उद्ग्रहन्तीति । ऊर्ध्वमनि सूर्यक्रिणा प्रसरन्तीति चेत्, प्रसरन्तु नाम, न तावतास्नाक किमपि सिद्धयति । अस्मभ्य दर्शनंनु अथ प्रसरणादेव भवति । ततश्च विश्वाय दृशे उद्ग्रहन्तीति अनुसपन्नमिव । परमिद तदैवोपपद्यते—यदा वैशानिकानामेव सिद्धान्तोऽधीयते—यद् यावत्सूर्योऽस्मत् क्षितिजादधस्तादेव भवति नेत्रसूत्रसम्बन्ध नैव गच्छति, तावदेव तत्क्रिणा पृथिव्या उपरिष्ठाद्वायुमण्डले पतिता वकीमूयास्मन्नेत्राणि अनुप्रावष्टा स्वसमुत्पन्नास्ये सूर्यं दर्शयन्ति । सूर्यस्य वास्तविकोदयाद् बहुपूर्वमेव सूर्योदयोऽस्माभिरभिमन्यत इति यावत् । क्रिणाणा वकीमावोऽप्य जलादौ स्फुरन्नुमूतचर । यावदिय घटना, तावदेव सूर्यमण्डल रक्तप्रतीयते । ततश्च क्षितिजादध स्थितमेव सूर्यं केनच उद्ग्रहन्ति—निश्च दर्शयन्तीति प्रस्फु जातम् । एव वैशानिकविचारेणैव ये सम्यगुपपद्यन्ते, तादृशा बहव सन्नि मन्त्रा ।

अभिद्रवन्त समनेव योषा । कन्यास्य समयमानारते अग्निम् ।

(ऋ-अ० ३।२।११)

इति मन्त्र देवतकाण्डप्रथमाध्याये षोडशोऽंशस्तत्रभवान् पारस्य —
'अभिन उदकधारामिरान्तरिक्ष्योऽग्निर्दीप्यते'—इतिवदन् वैश्वतं विज्ञान भृत्पु स्फु मभ्युपगच्छति ।

अप्स्वग्नि सधिष्टव सौप्रधीरनुकृष्यते ।

गर्भे सन् जायते पुन । (यजु १२।३६)

यो अनिश्चो दीदयदप्स्वन्तये विप्रास ईळते अप्सरेषु ।

अरा नपागन्धुमतीर्यो दा याभिरिन्द्रो वावृषे दीर्घाय ॥

(ऋ. म १०।३०।४)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वपि स्फुट विद्युद्विज्ञानम् । अपानपादिति हि अन्तरिक्षाग्नि नामसु पट्यते निष्पट्यते, ततश्च—अग्निवन्धन अप्नु अन्तर्गतमान, आन्तरिक्ष्योऽग्नि—इत्यत पर किं विद्युत परिचयदान समवेत् ?

अस्य वामस्य पलितस्य होतु—

स्तस्य भ्राता मध्यमो अस्यरत्न ।

वृतीयो भ्राता षूतपृष्ठो

अस्याश्रापस्य विश्वति सप्तपुत्रम् ।

(ऋ० २।३।१५५)

इति मन्त्रे च वामस्य, पालितस्येति सूर्यमुपक्रम्य मध्यम आन्तरिक्ष्योऽग्निः स्तद्भ्राता—उत्तरणीय उक्तं, तेन विद्युत सूर्यादुत्पन्नतापि स्फुगीहता । किमन्यद् विद्युत्प्रेषावन्वमानमाधुनिक विज्ञान विद्यतस्तत्त्वमद्यापि न बुध्यति—भूतरूपेयम्,

केवलशक्तिरूपा वेदस्यापि विचारयत्येव । श्रुतिस्तु तस्या दन्द्ररूपता सूत्रोद्धारणीयता स्पष्टं शब्दैराद्य इति किमपि माहात्म्य श्रुत्या आविर्भवति ।

असु म सोमो अब्रवीदतविश्वानि भेषना ।

अग्निं च विश्वसामुनम् । (श्रु० १२ । २०)

इति म त्रेण जलेऽन्तरग्निभक्ता ब्रुवाणेन जलस्य यौगिकता स्फुटीकृता, यामद्यत्वा आहम्बरेण साधयन्ति वैज्ञानिका ।

सर्वाणि रूपाणि सूर्यरश्मिभिरिव निर्मायन्ते, शुक्लं कृष्णं चेति द्वे एव रूपे मुख्ये, तत्सन्धिगतं रक्तम्, मिश्रणानि च यानीत्यस्ति रूपविषये वैज्ञानिकानां दर्शनम् । तदपि—

इन्द्रो रूपाणि कनिकररन्तत् [तैत्तिरी स०]

शुक्रं ते अन्यद् यजत ते अन्यद्
विपुरुषे अहनी चौरिवासि ।

विश्वा हि माया अवसि स्वभावो
भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥

(श्रु० ६।५२।१)

इत्यादिषु स्फुटमाग्नातम् । इह शुक्रम्-शुक्लम्, यजत च कृष्णमिति व्याख्यात भाष्यकृता । दिस्तरभ्यात्सर्वेषां मन्त्राणां स्फुटार्था अत्र न निरूपिता, भाष्यादिषु विज्ञानसुभिर्द्रष्टव्या ।

अपि च ऋक्, साम, यजु, छन्द, स्तोम, मनोता, अह, सहस्रम्— इत्याद्या परश्रुता शब्दा वेदेषु भूयो भूय समुपलभ्यन्ते, ये वैज्ञानिकेष्वर्थेषु सकेतिता सन्ति । यथाधुनिकेषु व्याकरणदिशास्त्रेषु परिभाषितशब्दमहिम्नाऽनायासेन भूयानर्थोऽवबुध्यते, तथा वेदेषु सकेतितागमेण शब्दानां यथार्थं सकेत ब्राह्मणादिभिर्ज्ञात्वा सुमहद् विज्ञानमनायासेन स्वल्पैरक्षरैः शक्यमवबोद्धुम् । अत्यल्पमिदं निदर्शितम्, अतिगभीराणि विज्ञानानि स्वल्पाक्षरैः पदैरुपदिष्टानि पदे पदे समुपलभ्यमानानि वेदस्य कमपि गरिमाणं व्यापयन्ति, तानि वेदमहास्यौ, ससाहसं सोऽसाहं च निमज्जद्भिरेव सुलभानि ।

स्फुटानि विज्ञानानि—

कानिचित्तु विज्ञानानि तथा दिस्पष्टमप्याग्नातानि, यथा आपाततोऽपि तदक्लोकनेन वेदेषु विज्ञानमस्ति न वति सशयलोऽपि न प्रभवेत्, परं तान्यपि सूत्ररूपेणैवाग्नातानि पश्याम । अत्रापि निदर्शनद्वयमुपरथाप्यते—

‘अनवण इमे भूमौ इव चासौ च रोदही ।
 किं सिद्धयान्तरामृत येनम विधृते उभे ।
 विष्णुना विधृते भूमौ इति क्लृप्तस्य वेदना ।
 इरान्ती धेतुमती हि भूत स्य सिनी मनुषे ददस्या ।
 ध्यस्तम्नाद् रादही विष्णव त दाधर्यं पृथिवीमभितो मयूखै ॥

(तैत्तिरीयारण्यके १।८।१६)

इह पृथिवीमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कथं समानान्तरं धाग्णमिति प्रश्नमु
 पस्थाप्य विष्णुमूर्त्तिक धारणं स्फुरैरेवाधुरैर्वास्थापितम् । तत्र च ऋक्वह्निता
 पठितो मन्त्र (७।८।३) ‘इरावता’ त्वादि प्रमणत्वेनोपगम्यस्त । विष्णुशब्दोऽ
 यमादित्यनामसु निघण्टुषु पठितः, ब्राह्मणेषु पुराणेष्वपि चादित्यस्य विष्णुश
 ब्दाभिधेयता प्रसक्त्या । तत्र मण्डलद्वयमिदं सूर्यमण्डलान्तर्गतेनादित्यप्राणेन विधृत
 निष्ठतीति सूर्याकर्षणविज्ञानमत्र प्रसक्तं भवति । अयमेवादित्यप्राण इन्द्रशब्देनापि
 श्रुतिष्वाख्यायते “यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा सौरिद्रेण गर्भिणी” इति । इन्द्रस्य
 न केन्द्रं पृथिवीधारकत्वमपि तु तद्वेगेनैव पृथिवी दैनन्दिनगतिरित्यपि श्रुत्यन्तरे
 स्पष्टमुक्तम्—

“यश्च इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
 चक्राण ध्रुवश्च दिवि ॥” (ऋ० स० ६।१।१४)

तथैव “तिस्रो मातृस्त्रीन् मितन् विभ्रदेक
 ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमकालपयन्ति ।”

(ऋ० १।१६।१०)

“तिस्रो भूमिर्धरांश्च व्रीहन् वान् ।”

(ऋ० २।२७।८)

इत्यादिष्वपि बहुषु मन्त्रेषु सूर्यकृत पृथिव्यादिधारणमुपदिशन्तिराकर्षणविज्ञान
 स्फुटीकृतम् । तिस्रो भूम्यस्तयो दिवश्चात्का अग्निव्याहृतिरूपे सक्षेपेण
 व्याख्यायन्ते । तथैव—

“मनो देवा मनुष्याजानन्ताति, मनसा सकल्पयति, तत् प्राणमभि
 पयते, प्राणो वातम्, वातो देनन्व आचष्टे यथा पुरुषस्य मन । तस्मादेतदपि
 णऽप्यनूक्तम्—

‘मनसा सकल्पयति तद् वातमपि गच्छति ।

वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन ।”

(शत० ६।४।५)

इति घटपथब्राह्मणे, तत्र प्रमाणीकृते अथर्वसंहितामन्त्रे (१।२।१।११) च
 विस्फुरैस्सूर्यमनोविज्ञानमाम्नातम्, न तत्र मनागपि व्याख्याया अपेक्ष ।

अल्पमात्र निदर्शितम् । वर्षादिविज्ञान तु मन्त्रेषु निरुक्तादिष्वपि स्फुटं
स्याख्यातमेवेति । अतिगम्भीराणि सर्वाणि विज्ञानानि मन्त्रेषु स्वस्वरक्षरैः संकेति-
तानि, ब्राह्मणे च व्याख्यातानि ।

वदेषु हि परिभ्रम्य न केवलं भौतिकं विज्ञानं प्राप्यत, अपि तु आधिदधिकम्,
आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, अधियज्ञं च विज्ञानमामूत्तच्छुद्धं परिपूर्णतया
तत्रोपगम्यते । यथास्माकमियं पृथ्वी स्वसंबन्धेन चन्द्रमसा सह सूर्येण संबद्धा,
सूर्योत्थरणवशात्, तथैव सूर्योऽपि भगवान् परमेष्ठिमण्डलेन संबद्धः, स च
परमेष्ठी स्वयम्भूमण्डलवशात्—इत्येव चन्द्रः, पृथिवी, सूर्यः, परमेष्ठी, स्वयम्भूरिति
पञ्चमण्डलेयमेका बलशा (शाला) अस्मदधिष्ठिता, सन्त्यन्या अप्येयविधा
अनन्ता शाखा, परं न तद्विज्ञानेनास्माकं किमपि प्रयोजनं सिद्धयतीति
ता उपेक्ष्यन्ते ।

इह सूर्यपृथिव्योरन्तराले यदन्तरिक्षं तत्र प्रधानश्चन्द्रमा मण्डलेषु पृथीतं,
एवमेव तु परमेष्ठिसूर्ययोरन्तराले, स्वयम्भूपरमेष्ठिनोरपि चान्तराले विद्यतेऽन्त-
रिक्षम्, सन्ति च तत्राप्युभयत्र ब्रह्मण-ब्रह्मणस्पतीन्द्रप्रमुखानि मण्डलानि-
इति समूहं सप्त लोका भवन्ति—ये भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः
सप्तमिति वेदेषु पुराणेषु चाख्यायन्ते । अत्रापेक्षाकृता भूम्यन्तरिक्षयुग्मद्वयवहारा
प्रवर्तन्ते, यथास्मदधिष्ठितभूम्यपेक्षया सूर्यमण्डलं द्यौः, मध्ये चान्तरिक्षम् ।
सूर्यमण्डलस्थितानान्द्रं सूर्यं (स्वः) एव भूमिः, जनः द्यौः, महस्त्वन्तरिक्षम्,
तथैवाग्नेरिति द्रष्टव्यम् । समूहं तु भू, भुवः, स्वः इति तिस्रो भूम्यः, स्वः, महः,
जन इति त्रीण्यन्तरिक्षाणि, जनः, तपः, सप्तमिति प्रयो दिवः । द्वयोस्त्वत्रापेक्षाकृत
उभयत्र प्रवेशः । एषु यान्यन्तर्गतानि महान्ति, मण्डलानि, यास्ताराः, ये
तत्तेषां प्राणाः †, ये च तत्र तत्र † देवाद्याः, यद्वैधामस्मासु प्रभावः,
तत् सर्वमप्याधिदैविके विज्ञाने सामान्यायते, एतत् सर्वमुपजीव्य तत्सारभूतं सुद-
ब्रह्माण्डरूपं यदस्मदादिशरीरत्रयं * तदाध्यात्मिके विज्ञाने सम्यक् निरूप्यते ।
यन्वेह पृथिव्या स्वाधरजङ्गमात्मकं कार्यकारणपरम्परापतितं तत् सर्वमाधिभौतिके
विज्ञानेऽन्तः पतति । इहैव मानुषचरितरूपाणामितिहासानामभ्यन्तर्भावः ।

अथैषा सर्वेषामप्यात्माधिभूताधिदैवतया चाख्यातानां यं पारस्परिकं
संबन्धं, येन सर्वमिदं जगच्चक्रं परिचलति ।

यदेवह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । (कठोपनिषत्)

† तेषां सर्वेषां यत् तत्त्वमिदं पृथिव्यामागतं वयमनिद्यमुपजीवामः, तत्तेषां
प्राणरूपतयैवाख्यायते । अत्रार्थे 'मनोता' शब्दद्वयवहारो वेदेषु ।

+ देवाः, पितरः, ऋषयः, गन्धर्वाः, असुरा इति प्राणरूपास्तत्र तत्र ।

७ सूक्तं, सूत्रं, कारणं चेति शरीरत्रयं प्रसिद्धं शास्त्रेषु ।

इत्यादिना भूयो भूय भ्रुतिषु यत् समुद्विष्टम्, यच्च वैदिके विज्ञाने मौलिकमद्भुत रहस्यम्—तदिदमधिपयञ्च नाम विज्ञानम् । एतदेव विज्ञाय सर्वं कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं समर्था अस्माक पूर्वाजा ऋषय आसन् । अस्यैव प्रभाव —

“यस्त्वेव ब्राह्मणो विद्यात्तरस्य देवा आसन् वरो ।” (यजु ३१।२१)
इत्यादिना मगवता वेदपुष्पेण समुपदिष्ट ।

अथैतेषु विज्ञानेषु विज्ञातानां तेषां तेषामर्थानां परस्पर सम्बन्धोऽपि विद्येयः । सन्त्याधिदैवमूषय, पितरो, देवाश्च, सन्ति च ध्यातममधिभूत च ते तत्र तत्र व्याख्याता, तेषां च परस्पर सम्बन्ध इत्यपि निगूढ वेदेषु विद्येयम्—यद्विज्ञान-विधुरा अद्यत्वे वेदार्थे परिभ्राम्याम । एतदनन्तरम्—एतत्सर्वं पदार्थमूलभूत सर्वानुस्यूत—प्रकृति, पुरुष पर ब्रह्मेति च—यत् क्रमेण सत्यमनूतममय लोका-तीर्तं च तत्त्वं परिचीयते तज्ज्ञान नाम । यदपि विज्ञान-विधेयैव भ्रुतिषु परिचास्प्यंत इत्युक्तं प्राक् ।

पाश्चात्त्येषु विज्ञानमध्याहेऽपि केवलमाधिभौतिक विज्ञानमुन्नतिं गतम् । तत्राप्यथावधि बहव विद्वान्ता अस्थिरा एव । भूयो भूय परिवर्तन तेषां भवति । बहुषु च विषयेष्वथावधि सिद्धान्त एव न स्थिरोभूत् । आधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञानं तत्राद्यापि शैशवमेवातिवाहयति । अधियज्ञविज्ञानस्य तु क्यापि तत्र नास्ति, दूरे तु पुरुषविज्ञानादिकया ।

बहुत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु तथाविधविज्ञानानां सूक्तो लभ्यते, देवा एतानोऽप्याधुनि-कैश्च निकैर्न दृश्यते उदाहरणार्थं दृश्यता तावन् उतपये (११ काण्डे ४ अध्याये) स्वैदायनोद्दालकसंवाद —(स्वैदायनस्य प्रश्न)

“स वै गौतमस्य पुत्र । वृतो जन धावयेत्, यस्तु ह्यसंपूर्णमासयोर्विद्याद्-दस्मादिमा प्रजा अदन्तका जायन्ते, यस्मादासा जायन्ते, दस्मादासा प्रभियन्ते, यस्मादासाः कन्तिष्ठन्ते, यस्मादासा पुनरुत्तमे क्यसि सर्वं एव प्रभियन्ते । यस्मादधर एवाग्रे जायन्तेऽधोत्तरे । यस्माद् दणीयास एवाधरे प्रयीयास उत्तरे, यस्माद् दष्ट्रा वर्षीयासो, यस्मात्समा एव जग्म्या ।५।

स वै गौतमस्यपुत्र ! वृतो जन धावयेत्, यस्तु ह्यसंपूर्णमासयोर्विद्याद्-दस्मादिमा प्रजा लोमशा जायन्ते, यस्मादासा पुनरिव इन्द्रभूषवीपदस्याणि दुर्भारिणानि जायन्ते, यस्माच्चोर्षण्येवाग्रे पतितो भवति, अथ पुनरुत्तमे क्यसि सर्वं एव पतितो भवति ।६।” इत्यादि ।

१. एतन्मोत्तर दन्ता उपलभ्यन्त इत्यर्थः । २. पुनरुत्तरयन्ते ।

३. नीचैर्दन्ता लघवो भवन्ति ।

अत्रगर्भे दन्तानामजननस्य, पुनर्जननस्य, तेषा परिमाणादे, केशश्मश्र्वादीना च केवल वैज्ञानिकानि कारणान्येव न विवचितानि, अपि तु तेषा यज्ञसव-घोऽपि चिन्तित । तथैव शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषदि) जनक यज्ञवृत्ते (१४ पा० अ० ४।९।३३) मनुष्यशरीरस्य वृक्षस्य च साम्य प्रदर्शयति भगवतो याज्ञवल्क्यस्य प्रश्न —

यद् वृक्षे वृक्को रोहति मूलान्नवर पुन ।
मर्त्यं स्विन् मृत्युना वृक्कं कस्मान्मूलाप्ररोहति ।
रेतस इति मा वोचत जीवनस्तत्प्रचयते ।
जात एव न जायते कोन्वेन जनयेत्पुन ।
धानारुह उ वै वृक्षोऽन्यत प्रेत्य समव ।
यत्समूलमुद्बृहेयुर्वृक्ष न पुनरामवेत् ।
मर्त्यं सिन् मृत्युना वृक्कं कस्मान्मूलाप्ररोहति ।

अत्र मृतस्य पुनरुद्भवश्चिन्तित ।

उदाहरणमात्रमिदम् बहूनि तथाविधानि विज्ञानानि श्रुतिषु विवेचितानि, येषामद्यत्वं कथापि नास्ति ।

एवमव सन्धैरवाधुरैस्तुत्यादिप्रकरणमध्य एव बहव इतिहासा अपि श्रुतिषु प्रतिपादिता । यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देशस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥

इति सुप्रसिद्धे पुरुषसूक्तमन्त्रे 'पूर्वं साध्या नाम देवा आसन्, तैर्यज्ञप्रणालीय प्रवर्तिता, इत्यादीनिहास सक्रित' । तथैव 'ब्रह्मणा यज्ञब्रह्मविद्या पूर्वमथर्वणे शिक्षिता, अथर्वणा च यज्ञा पूर्वं प्रवर्तिता, इत्यादि संकेतोऽपि तत्र लभ्यते । 'इति वक्षस्य वेदना' इति निर्दिशतपूर्वं अथर्वणविज्ञानमन्त्रे दसोऽस्याविष्कृतेति सूचितम् ।

य वै सूर्यं स्वर्मानुस्तमसा विष्यदासुर ।

अत्रयस्त्रमन्वन्दिन्दन् न ह्यन्य अशक्नुवन् ॥

(ऋ० म० ५।४०।९)

इति मन्त्रे च सूर्यचन्द्रोपरागविज्ञानमन्त्रिवशजै पूर्वं साधितमिति निर्दिष्टम् ।

“यच्चिच्चमरमसुरस्य भक्षणमेक सन्तमह्युना चतुर्वयम्”

(ऋ० म० १।११०।३)

इति ऋभुदेवताके मन्त्रे ऋभूणामेकस्य चमसस्य चतुर्दाकरण वैज्ञानिक स्थित्यमिति वृत्ते निर्दिष्टम् । अस्मिन्नेव सूक्ते—

अथर्वं अग्नौ अग्निरिहत् न ५ तेनायुष्य मतर पुन ।
 मैघन्नात् स्वम्बरा नरा ऽग्नी युवना निराहोत न ॥

अति मन्त्रानि श्रुन्वा वैज्ञानिकानि आरोगि निर्दिशानि ।

तद्य दनैरेत ददन निष्ठम दसा वृषा शचीनि ।
 निशैप्य धारय मशुष्टुनद्वयान चक्रयुतुंयनम् ॥

(ऋ० १।१२।२)

अथादपु मन्त्रु आबनोवृष्टिनि विद्विषाभाशे दर्शितानि, येषु वृष्टिनि
 पुराणेषु विद्वानि तद्य तावन्मन्त्र ।

एवमिन्द्रिहासाऽप तस्य काञ्चन वस्तु प्राप्यत, यत्र प्रक्षारान्तरण प्राप्ते
 सम्भव एव ।

तत्र विचारता महाभाग । यन् मन्त्रिन्मै ह्यन् ५ वेदानोन्तन पाश्चात्
 मौ ऽग्नि मन्त्रान्, तत्र पर वैदि विज्ञानमारम्भते तथैव 'यवेदानी
 यावदुच्य इतिहास मन्त्रान्, तत्र परन्त इतिहासगमो वैदिक' इति,
 तद्वेदसारात् व्याख्याहना नार विरचयता मान् ।

विज्ञानस्य मार्गो हासः

अथ काञ्चनग हृन्मिदानुपयुषि तद्वद्य आयंजनवाया बुद्धिनेमव वेदक
 गनीर तत्र ध्याय्यातु ऽमृता ग्या प्रादुरमन् । तदाह निष्ठे मुनिर्याम् —

“व्याख्यायमानि श्रुयता वसु । त अत्रेव्याऽत्रा ह्यवयवस्य उच्यते
 मन्त्रान् मन्त्रान् । तदेवैव मन्त्रान्ताऽत्र विद्वन्मन्त्राण्येन ग्य समाम्नावितु —
 वद न वदाज्ञान न ।” इति

इम क्रयन् = तद्व्याख्याविषयीभूत निश्रुम् । वद समाम्नावितुरत—
 प्रकीर्णन् मन्त्रान् साहचर्येण मन्त्रादयान्मुषिति, ब्राह्मण प्रकृत्यामासुषित
 वाच्यं । त क्रया वदनात्, विप्रानान्ना, वदाज्ञानान्ना वा यथान्वित प्रस्था
 यत म् । तथा हि गेयत्राह—

“इम सर्वे वदा ऽग्निः १ सप्तः, २ अरुखा, ३ अत्र ह्या, ४ साप
 निपदा, ५ सप्तहासा, ६ सप्तवाख्याना, ७ सुपुगा, ८ सप्तया, ९ सप्तकरा
 १० मन्त्रिष्ठा ११ सातुशावन १२ सातुमन्त्रेणा, १३ सप्तानावना ।

(पूर्व० प्रश्न २ व १०)

इत वदसहचर्यमन्नोदय त्रिया धूनव । ताञ्जनहान्नामन्त्राणा
 न्द्वयानिषद नारद—एनाकुमारवाद् च—

“ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्नाग चतुर्थं (१) मितिहास (२) पुराण (३) पञ्चमं वेदाना वेदं (४) जिन राशि (५) दैवं निधिं (६) वाकोवाक्य (७) मेकायन (८) देवविद्या (९) ब्रह्मविद्या (१०) भूत-विद्या (११) क्षत्रविद्या (१२) नक्षत्रविद्या (१३) सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ।” (छान्दो. प्र ७, स० १)

इह वेदचतुष्टयीतोऽतिरिक्तास्त्रयोदश विद्या आम्नायन्ते । तथैव शतपथ-ब्राह्मणान्तर्गताया बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमंत्रेयीसंवादे—

“एव वा अऽस्य महतो भूतस्य नि श्वसिनमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेद साम-वेदोऽयर्वाङ्गिरस पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनु-याख्यानानि ध्याख्या-नान्यस्यैवैतानि सर्वाणि नि श्वसितानि ।” (बृहदा. अ. ४, ब्रा. ४. ल. १०)

इति बृहृषिधानि विद्याप्रस्थानानि श्रूयन्त । तेष्वेतेषु वेददारीरेषु, वेदाङ्गेषु, विद्यासु च मन्त्रोददिष्टमेव तत्तद् विषयभेदेन प्रद्वरगभेदेन च प्रस्फुटीक्रियते स्म । परमरात्रि प्राक्तनी वैदेकी शैली न परित्यक्ताऽभूत्, सकेतरूपेणैव मन्त्रशैल्यैव च तत्तदर्थप्रतिपादन सर्वत्र प्रस्तुतमभूत् ।

अथ निररीते काले स्वार्थबुद्धौ प्राबल्यमागताधामभिचारादिकर्मसु प्रसारं गतेषु जगद्विद्वद्बुद्ध्या क्रियमाणाना यज्ञाना विरलतामपन्ने प्रचारे वैदिकं विज्ञान-मपि क्रमेण शैथिल्यनमजत् । महाभारतपुद्गानन्तरं तु चित्रपट इव परिवर्तितेस्म । देशविप्लवात् खिन्नेषु लोकेषु का नाम विज्ञानोन्नति कथा ? विरलतामापन्न उच्छिन्न इव वैदिका गुरुसंप्रदाय, विरलतामापन्ना अभवन् विद्या, स्वार्थलिप्सा-न्यमवन् कर्माणि । अस्मिन् व्यतिकरे प्राक्तनास्तत्सामयिका वा वेदाङ्गप्रवक्तृणां दर्शनसूत्रकाराणा चैकदेशमवलम्ब्य लोकदृष्टिमाकृष्ट कृता अपि प्रयत्ना न साफल्यमभजन् । पर्युत अङ्गविस्तारो मन्त्रभेदविस्तारश्च वैदिकविज्ञानतिरोधाना-यैवाऽकल्पन ।

ब्रह्मण्ये क्षान्ते च युगपद् विलयं ब्रजनि तदेव देवाहुपरिधतो बौद्धानां समयः । यस्मिन् काले न केवलं संप्रदाय उच्छिन्न, अपि तु वेदरहस्यावशोषका निदान-रहस्यादिग्रन्था अत्रि प्रलयं गताः । उच्छिन्ना शाखा, व्यलुप्यन्त बहूनि ब्राह्मणानि-नाममात्रायाशिष्यन्त विद्या । ब्रह्मतेज-प्रभावेणैव कालेन समुपशान्तः स ज्ञानवात । तदुत्तरमपि बहूनामाचार्याणा महानुभावाना प्रयत्नेन कर्मकाण्डमुपा-सनाकाण्ड ज्ञानकाण्ड पुनरपि संप्रदायबद्धमभूत्, पर विज्ञानशैली तु विलुप्ता नैव प्रचारमापेरे ।

संप्रदायस्य विच्छिन्नमावत्वाद्, ग्रन्थाना च विलोपाद् विज्ञानकथाभिरपि शून्ये ऐन्द्रजालिक्रमायाप्रधाने तस्मिन् काले अविकारिणा विरहान्न विज्ञानोद्धाराय समय आसादित आचार्यै । आर्ययुगकर्मविधिप्रदायरथा तैः कृता,

कर्मभूमिविज्ञानरक्षा तु न तदात्वे समबद्धोद्योगप्रादीकृते स्म । तत एव मन्त्र-
ब्राह्मणान्वयस्य वेदस्य कर्माद्यवशोधकं साप्रद्विद्वोऽर्थं सुरज्ञिनोऽमून् । उपरादकं
विज्ञानन्वर्थं राददाब्दवाच्यनामापद्य परित्यक्तममूजोवै । विज्ञानविरहान्धेधनार्थ-
निद्या तत प्रभृत्तव कवल इत्यप्रधानता गता । तर्क्याकरणसाहित्यादप्य शब्दा-
दम्बरमात्रसारा लोकेभ्योऽरोचन्त । महास्तत्र तत्र ग्रन्थविस्तर प्रावर्धत ।
जल्पप्रक्रिया कवित्वप्राप्त्या च दिनोदायात्ममून् । क्रमण वैदिका उपरुहसन्ते
स्म, यथा निन्द्यन्ते स्म । किमधिकेन जल्पनेन, यत् लक्षणात्ममून् ज्ञात जायते
च, तत् सर्वं प्रत्यक्षमेव ।

इदं तु सत्यम्—यत् सत्यविद्याया विद्यन ईश्वरपञ्चगतं । तत एव लेशतोऽ-
प्यार्थविद्याया आभासमात्रमनुपाप्यपि वैदिकिका यवनमन्त्रेणाद्या अपि शिरसास्था
गौरव वहन्ति स्म, तत एनेयमद्यावधि रक्षिता । तादृशत्वाद्दृष्टमानसा एव
तस्मिन्नपि धोरे काले बहव आचार्या निद्रासश्च वैदिकेषु विषयेषु लेखनीमचालयन् ।
वेदाना माध्याण्यपि परच्यन्त । पर कर्मोपयोगी सप्रदायप्राप्तोऽर्थस्तत्र विवृत,
वैज्ञानिकानान्तु वैदिकाना सरुताना तस्या वैज्ञानिकपद्धत्याश्च सप्रदायोन्मुदाद्
विलाप इवामून् । तत एवावर्त्तनेषु भाष्येषु न वैज्ञानिकी पद्धतिमुत्लभामहे ।
मानुषयज्ञोपयुक्ततया ग्रन्था व्याख्यात भाष्यकृद्भि, विज्ञानतोयानुमूता प्रकृत
पक्षपरता तु समुपस्तित । किञ्चाध्यात्ममधिभूतमधिदैवत च ये दर्शयिष्याद्या, तेषा
निष्कोऽपि भाष्येषु नोदम्ब्यते । तत एवैकस्य धर्मो अपसम्बन्धत्वेन प्रसिद्धीय
माना बुद्धिं विप्लवयन्तीर । तस्मिन् काले तस्या विद्याया सर्वथाऽभाव
एनात्रापराध्याति, न तु तत्र भाष्यकृता कोऽपि दोष । ग्रन्थकर्तृभि किञ्च लोक
कचिरप्यवश्यमनुसरणीया भवति, ग्रन्थप्रचार एवान्यथा न सरद्यतेति । कर्ममात्रे
बद्धभद्रास्तदा लोका इति कर्मोपयुक्त एवार्थं प्राधान्येन भाष्येषु प्रतिपादितोऽ-
मून् । उपरत्तिनिष्पणन्तु निस्तरानामभवत । तदुक्त भाष्यकृता धीधारणमाधवा-
चायेण श्रुक संहिताया प्रथमे मन्त्र नैऋत्तादिप्रक्रियां प्रदर्श्य—

वदाऽवतार आद्याया ऋवोऽर्थश्च प्रपञ्चित ।

विज्ञात वदन्गम्भीर्यं सत्प्रादधुनोऽवते ॥ इति ।

वदार्थस्तु दूर आस्तान्, वैदिकी शैलीमनुष्य स्मृतिषु सूत्रेषु पुराणेतिहासे
अपि च यदुपदिष्टम्, तस्यापि मर्मज्ञान नाभवदव विदुषामर्त्तनीनानाम् । ते
शब्दमात्रेणैव परितुष्यन्तो नानुभवपर्यिकता त त्मर्यं नेटमुमुका वभूत् ।

किञ्चिद्विद्वानमत्र समुपस्थाप्यते चेन्मध्ये नाऽनुचितं स्यात् । इदं तु स्मर्त्तं

* राजमापनिभैर्दन्ते कटिदिन्द्यस्तपाणय । द्वारि तिष्ठन्ते राजेन्द्र चान्दसा
श्लोकप्रव ! (मौञ्जप्रबन्धे) इत्यादि बहुतरम् ।

व्यम्—यत् परममान्येषु गुरुतमेषु महानुभावेषु आचार्येषु अन्येभ्यस्तु च मनागपि ऋत्विज्यैः नान्येषां नामान् पङ्के पातयितुं शक्यतेऽप्यभिकाङ्क्षे, केवलं विज्ञानदुरस्था-
मेव बोधयितुमेतानि निदर्शनानि ।

विज्ञानस्य भारते दुग्धस्था

अथेयन्तरिक्षं द्यौरिति क्रमणं व्यपदिष्टेषु त्रिषु लोकेषु अग्निर्वायुरादित्य इति
रुन्ति त्रयो देवा प्रधानभूता इति स्पष्टं निरुक्तविदानम् । तेष्वेकं प्रधानीकृत्य
देवान्तरं च तदङ्गभाष्यमानीय वदनयी क्रमणं प्रवृत्तते । ऋग्वेदे अग्ने, यजुर्वेदे
वायो, सामवेदे आदित्यस्य चास्ति प्राधान्येन विज्ञानम्, तदङ्गतया चान्येषाम् ।
अत एव 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इति पुरं स्यादिति मन्त्रमेवाग्निं प्रस्तुतीं ऋक्संहिता
प्रवृत्तते 'इषे त्रोज्जेना वायु' इति, देवो व सविता प्रार्थयतु" इति वायु
यजुः संहितोपक्रम एव क्लीप्तयति "अग्ने आयाहि वीतये" इति आगन्तुकमग्नि-
मादित्यं सामवेदसंहिता प्रारम्भ एव प्रतीति । इदमवाभिप्रेत्य "ऋग्वेद एवाग्ने-
रभाष्यत्, यजुर्वेदो वायो सामवेद आदित्यात्" इति ब्राह्मणव्रतान्यादिभ्यः ऋ-
ग्वेदादीनामुत्पत्तिराम्नाता विषयस्य ज्ञानकारणतायां निरुद्धत्वात् । यद्यस्य अग्निः,
तत एव ऋग्वेदो जायते, न भवेच्चैत्, कर्णयितुमृग्वेदं प्रवृत्ततेतत् तस्य कारण-
वमुपपादयन्ति । अयमवाभिप्रायो—

अग्निर्वायुरभ्यस्तु नय ब्रह्म सनातनम् ।

तुदोहं यद्विद्वद्यर्थमृग्यनु सामलक्ष्णम् ॥

(मनु- अ० १ श्लो० ३२)

इति मन्त्रात् मनुनाऽपि शब्दान्तरैरुपदिष्टं । परं प्रतिद्वैतरेषोऽनुधीकृत्यैरिति
विद्वद्वैरै रचितास्तु सतम्बशानु वा मनुस्तुनेष्टीकानु नैऋत्यापि स्पष्टीकरणमस्यार्थं
स्वोपलब्धनामह । पूर्वोक्ता श्रुतिः प्रायेण सर्वैरेव अनुदृष्टता, अस्यादिभ्यश्च कथं
वदानामुत्पत्तिं सम्भवीत्याशङ्कितमपि, परम् 'आगमिकत्वाच्च नातिशङ्क्यमेतत्'
(गोविन्दराज) इत्याद्येन समाहितम् ।

'सारासारञ्च प्रवृद्धनविधौ मघातिथेः प्रादुरी' इति बहुधा स्तुतेन सर्वमान्येन
मघातिथिना बहु खञ्जं विवेचितम् । परं "किं नोपपद्यते, कं शक्तेरदृष्टा असती
रुन्नुर्हति । नारायणतोऽर्थो विकल्पयितुं युक्तः । अस्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो
निरतिशयशाक्तश्च प्रजापतिस्तत्र ह्य नामानुपपत्तिः" "अर्थज्ञादाश्चैते" इत्यादिभिः
रुन्नुर्हति शङ्कमनानां मुख्यमुद्रणं कृतम् । अग्रे महामतस्तस्य दृष्टिर्मनायुक्तेऽर्थे
प्रसृता, परमृग्वेद आग्नेयसूक्तानामारम्भे दर्शनमव ऋग्वेदस्याग्निजन्यत्वं तेन
हेतुकृतम् । न तु तत्राग्निविज्ञानं प्राधान्येनास्तीति स्पष्टीकर्तुं तस्याप वाक्यं
प्राप्तम् । अग्रे यददये त्वेवविधोऽपि सम्भवो न प्रदर्शित एवेति । भाष्यकृतो

न श्रीमाधवाचार्येण “अग्न्यादिह्यन्वत्य वेदाना पौरुषेषत्व प्रकृतम्” इति उपोद्घाते पूर्वपक्षीहृत्य चरपक्षं न किमपि समाहितम् । वैशानिष्ठादतो तस्मिन् कान्धे ह्येति च एव नामूदित्येवस्य सर्वस्य निदानम् ।

एव चतुर्वर्गान्तिन्तामणे आदृष्टशब्द पृथगतकेन पितृत्वत्त्वं विवचयन्नपि तत्र मवान् निवन्धकत्वा मूर्धन्यो हेमाद्रि शुनिष्ठु रश्ममि-यञ्जितम् ‘आग्नेया प्राणा देवा, नैम्या प्राणा पत्न्य’ इति देवानां पितृणां च वैश्वानर्य न लेखतोऽपि व्याख्याति । मन्त्रस्मृती—

‘श्रुभिर्म्य पितरो ज्ञानं पितृभ्यो देवज्ञानवा ।

दन्मयश्च ज्ञात्सर्वं चर स्थान्नुपूर्वश (अ १)

अथादिना मन्त्रीकृतमपि देवपितृविज्ञानं चतुरो मेषानिधिरयंज्ञादत्वेनैव दूरे िपति, न तु समुन्नित व्याचष्टे । तस्मिन् काले वैशानिष्ठताया विरहो वैदिकवैशानिकार्थ-सप्रदायवच्छेद एव चात्र निदानम् ।

द्विविधा पदार्था वैदिक विज्ञानं व्यरगयन्ते—‘अस्यन्वत, अनस्थाश्च’ । तेषामस्त वास्तव्या, ते अस्यन्वत, यं तु कदा प्रतीयन्त एव, न तु पृथग् बहिरुपगम्यन्त त अनस्था इत्युच्यन्त । इदमेव भेदद्वयम्—‘अस्ति सिद्धम् भाति सिद्धम्’ चेति अस्मिन् लौकिक्या माषायाम् । एतदभिप्रायणैव पदार्थधर्मविवेचका मवान् कदादो मुनिरप द्वेषा पदार्थान् व्यम-त्—सदित्याख्यातान् सत्तामिद्वान् द्रव्यगुणधर्मोत्तरान् प्रथमं न्यस्यदत्, “सामान्य विशेष इति दुद्भवयन्” इति म्यमन्त्राश्च सामान्यादीन् भाति सिद्धान्तं सन्यवेगयत् । पर तदनुपाधिषु इध्यादिवदेव च ते पार्थक्यसाधनररपु दर्शनान्त्वे सह मदान् कर्होऽस्मिन् विषये प्रवचत—

“न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चात् चारयन् ।

वशात् पूं नाधारमहो व्यसनसन्तति ।”

इत्याद्या बौद्धानानाद्येनाश्च प्रत्येकं अथवादिज्ञातेर्विमुक्तमज्ञीहृत्य सनासीयन्त इति कुत्र कोरे विज्ञानं वराकं निर्लीय विष्टु ।

संहृतमपायानचेनन-रोषका सत्त्वावृणदिशान्दा अवि तत्तद्भिद्भमागोभ्यु-पगयत् । अथ वैशानिक ह्यसुरदर्शयन् महाभाष्यकारो मगवान् पत्रञ्जलि —

“एतानप्रसन्नौ सिद्धमरयधौ स-हृत्तान्तत ।”

“एतान सनायतन्ट् क्ता ह्ये सपुं प्रसव पुमान्”

इति वार्तिक व्याचष्टाथ. ‘अधिकरणत घना लोक स्त्री, स्यपत्वस्यां स्त्री इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् एते पुमानिति । इह पुनरुभय भावगघनम् एतान स्त्री, प्रवृत्तिश्च पुमान्, कर्म पुन सत्त्वान स्त्री, प्रवृत्तर्वा पुमान् । गुणानाम् ।

वेषाम् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् । सर्वोश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिका रसस्थान प्रसवगुणा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धद्वयः । यत्राल्पीयासी गुणास्तत्रावर्तस्य शब्द-
स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र । प्रवृत्ति खल्वपि नित्या, नहीद च्छ्रिदपि
स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वदते वा यावदनेन वदितव्यम्, अपार्थेन
वा युज्यते, तच्चोभय सर्वत्र, यद्युपय सर्वत्र कुतो व्यवस्था, निष्ठात, । सस्थान-
विवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षाया पुमान्, उभयविवक्षाया नपुंसकम्” इति ।
अस्याभिप्राय प्रस्फुट एव, यत् सर्वत्र पूर्वप्रदर्शितयज्ञप्रक्रियाविषया आदानप्रदाने
प्रवर्तते, तत्रादानविवक्षाया स्त्रीलिङ्ग शब्दस्तत्र प्रवर्तते प्रदाननिष्कया पुंलिङ्ग
शब्द, तावत्प्रविवक्षाया तु नपुंसकलिङ्ग शब्द इति, पर कैयन्महाभागो यज्ञ
प्रक्रियामिमामनमित्यस्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्मृतमपि भाष्यकृतो विवरण गौण
मत्वा गुणशब्दस्य साख्यप्रसिद्ध सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य यद्युपचयापचयौ च काल्पनिकौ
मत्वा सर्वा वैज्ञानिकप्रक्रिया तिरोदधात, नागसभृटाद्याश्च तदेवानुसरन्ति विज्ञान
प्रक्रियादेशे विलोप एवात्रापराध्यतीति न विस्मर्तव्यम् ।

एवमेव पौराणिक भुवनकोशमितिहास वाऽऽन्वय पाश्चात्या इदानीं सुरहु
साधयन्ति । मुमहत् तेरा तत्र तत्र भासते । परमस्माकं पुराणटीकाजन पुराण-
पाठकाश्च लेखनीं वार्च वा विभ्रमयितुं तानि प्रकरणा-युपयुक्तानि मन्वने । आधु-
निकानि विकासवादादीनि विज्ञानानि मूर्तरविद्याप्रभृतयश्च ररष्ट पुराणेषु निरु-
पितानि, पर व्याख्याद्वयप्रस्तप मौनमेव रोचते । वैज्ञानिकसंप्रदायविरुद्धे एव
सर्वत्र हेतुरिति स्फुटमव विदुषाम् । इय तावद् विज्ञानस्य पुरवस्थाऽभूत् ।

इतिहासविषये तु इतोऽप्यधिको विस्तार प्रावर्तत । वेदानामधोऽप्येता
समर्थयमानेन भगवता जैमिनिना “अनित्यदर्शनाच्च” इति पौष्येयतापूर्ववत्
मुद्राव्य “पर तु श्रुतिष्ठाम-यमात्रम्” इति समाधीयते । जैमिनेर्मगवत् क
आशय इति तु वृत्ति सर्वान्तर्यामी भगवान्, अनेकधा स द्विरीतु शक्यते विव्रियते
च बहुभि । पर भीशवरस्वामिप्रभृतयो मीमांसका इत्य वदयन्ति य-मानुष
चरित यदि वदेषु वर्ण्यते तर्हि वेदास्तन्मनुष्यादुत्तर प्रादुर्भूता इति अनादित्वमपौ
रुपेयत्व च वेदाना भव्येतेति शङ्का । न सन्देव वेदेषु मानुषाणि चरितानि,
नामसादृश्यमूल्या तु भ्रान्त्या नित्यपदार्थसम्बन्धिवर्णन मानुषमित्ययिमन्यते
कैश्चित् । यथा “बवर प्राजाह्निरकामयत” इत्यादिषु ‘ब-व’ इति शब्दानु-
वृत्त्या ‘बवर’ इति वायुरभिधीयते । स च प्रवहणशील इति प्राजाह्निरुक्त ।
अत्र प्रवहणपुत्रो बवरनामा कश्चिन्ननुष्योऽपि भवेत्, तदितिहासभ्रान्तिर्लोकाना
जायते । वस्तुतस्तु वाग्नादेर्निरपस्यैवेद वर्णनमिहा तत्तमाधान चेत् । एतेन
साधितम्—यन्मनुष्येतिहासो वेदेषु नास्त्येवेति । इद मत बहुभिरेवेदानी-वनैरा
द्वतमनूदित च ।

इदं तु स्वर्गं यम् । इमा पद्मतिमवच्छन्ना मीमांसकाभिप्रतस्य मन्त्रब्राह्मणा
स्मृतस्य कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाणिकी व्याख्या न केनाप्यथावपि विचिता, दुःशक्य
च कार्यमिदमिति बहो विद्वांस स्फुटमभिमन्यन्ते । सर्ववेदव्याख्यातासु तत्र
भवन्तौ सायणमाधवाचार्यौ सादरमुपोद्घाते मीमांसकमतमिदमन्वयदताम्, पर
व्याख्याकारो त्विदं सर्वं व्यस्मरतामिव । यतो हि बहो मन्वा, बहूनि च
ब्राह्मणप्रकरणानि मानुषेतिवृत्तावलम्बनेनैव तत्रप्रवक्ष्या व्याख्याताभिः । यथा—

आमो गव प्र यद्विच्छन्त एतनापाका

प्राञ्चो मम क विदापय ।

शौघन्वनासश्चरेतस्य मूना

गच्छत सन्निवृत्तौ शुभो गृहम् ॥

(श्रु० सं० म० १।११०।२)

इति मन्त्र व्याचक्षाणो माधवाचार्य आह—“शुभो हि शुभन्वन व्याज्जि
रस्य पुना । कुत्तोऽप्याङ्गस, अतस्तेन मदीया ज्ञातय इत्युक्तम् । हे
शौघन्वनास । शुभन्वन पुना । इत्यादि । तथैव—

प्राता रत्न प्रातरित्वा दधाति

त चिद्विद्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते ।

(श्रु. म. १।१२५ ।)

इति मन्त्र व्याचक्षाणो माधवाचार्या दीर्घतम=कक्षीकतो सर्वमितिहासम्,
भाष्यव्यपुत्रेण स्तनयेन तस्मै वचद्वृत्तम्—तस्य विवरण च सर्वमुपनिबध्नाति,
तदेव च वृत्तमवलम्ब्य सूक्तमिदं व्याचष्टे । तथैव “पुत्र कश्चान् चक्रपुत्रज्ञानम्”
इति प्रदर्शितपूर्वे मन्त्रे—प ऋवन्स्य पुराणप्रसिद्धमुपाख्यानम् । एवमव ज्ञातश्च
इतिहासा सायणमाधवीये भाष्ये मन्त्रार्थरूपेण व्याख्याता उपलभ्यन्ते । ब्राह्मणे
श्वपि ऐतरेयादिषु वा इतरश्चन्द्रनहुषादिकथा, ता सर्वा अपि मन्त्रोपाकारत
द्रूपणैव माधवाचार्येण व्याख्याता ।

एवमुक्त्वमहीधरादिभिर्गपि इतिहास पर व्याख्यानमेकाहृत तत्र तत्र ।
मीमांसका मन्त्राणामिव ब्राह्मणाना तदेकदेशमूतानामारभ्यकोपनिषदादीनामपि
च बद्धवमद सिद्धान्तयन्ति—“मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्” “शेये ब्राह्मण
शब्द” इत्यादि । तथैव च सर्वे प्रामाणिक्या आस्तिका मन्त्रते । उपनिषत्सुलभ्य-
मानाश्चार्यायिका मनुष्यपरतथैव श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतेभि सर्वैरपि भाष्यै
द्विस्तत्र तत्र व्याख्याता । “शुभस्य तदनादरभक्षणत्, तदाद्राण्यत्, सूच्यते
हि” “क्षत्रियस्य तद्वेत्तत्तत्र चैतरेण विज्ञात्” (ब्रह्मसूत्र १ अ० ३ पा० ३४ ३५)
इत्यशुद्राधिकरणे च सूत्रकृता भगवता व्यासनेनोपनिषत्सु मनुष्याख्यानमभिमतम्,
तदाधारणैव चाधिकरणमिदं प्रवृत्तमिति न तिरोहित सूत्रपरिशोधिनाम् ।

मनुष्यचरित वेदेषु व्याचक्षाणा अपि च मान्दमहानुभावाः —

“भूत भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिष्यति ।”

इति सिद्धान्तमवलम्ब्यापौरुषेयतामनादिता च वदस्य रक्षन्त्येव ।

अपि च “न कदाचिदनीदृश ऋद्” इत्यभिमत्यमानानां मीमांसकानामनया युक्त्वा अपौरुषेयस्वरक्षण सम्यग्दरि । अन्वेषा तु सर्वाप्रत्ययप्रनाहमुररीकुर्वतां दार्शनिकानां पौराणिकानां चैते वर्तमानकल्पसंश्लेषेण पृथिव्यादिपदार्था अप्यादिमन्त इति तद्वर्णनेऽपि वदानामनादित्वमज्ञशङ्कात्कौ दुस्तर एव । प्रवाहरूपेण नित्यतां तु पृथिव्यादीनामिव देवर्षिपितृराक्षिप्रभृतीनामपि पौराणिका अभ्युपरच्छन्त्येवेति परद्वयसाम्ये नेतिहासविलोपस्य प्रयोजन क्रिमपि पर्याप्त । तत्क्ष—

सर्वेषां तु स नामानि क्रमाणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादी पृथक् स्थस्य क्ष निमित्ते ॥

(मनुस्मृ० १ अ०, २१ श्लो०)

इति भगवन्मनुकृदिशा ‘स भूरिति व्याहस्त, भुवमसुद्धत’ इति भुत्य-
नुगतया यथोत्तरस्यमानानामपि स्थावरजङ्गमादीनां सामान्येन गुणधर्मादिक
पूर्वपूर्वकल्पानुसारि प्रथमत एव भुतिनिबद्धमभूत्, तथैवोत्तरस्यमानानामप्युषोणां
राक्षसाणां च चरित नरिष्यद्दृष्ट्या, पूर्वकल्पानुसारि वा भूत भुतिभित्ति
काशानुपपत्ति ! किमिवापौरुषेयेषु वेदेषु न चान्यते, यदा खतु भगवतो
बलनीकेरपि मदिष्यद्रामचरितोपनिर्गृत्व भ्रष्टतेऽद्याप्यायो । ये खतु वेदानाम-
लौकिकत्व भ्रष्टते, ते मदिष्यदर्थस्य पूर्वमेव तत्र वर्तनमपि विश्वस्युरेव,
इतरथा तु कयाऽपि युक्त्वा तेषामपौरुषेयत्वविश्वासोऽपि दुःसाध इति मन्दप्रयोजन-
एवापमितिहासनिर्गोपनप्रयासो दृश्यते । “परं तु भुति सामान्यमात्रम्” इति
जैमिनीयं सूत्रमपि ‘पूर्वकल्पोत्पन्नानामिदानीन्तनानां च भुतसामान्यम् नाम
कादृश्यम्, तेन पूर्वकल्पसंबन्धीनि तानि वृत्तानि वदेयुस्तानि । ईश्वरज्ञाननिष्ठाना
वा पदार्थाननुभवंमानै पदार्थं सह भुतिसामान्यम्—नामवाहृश्यम् इत्यर्थपर-
तया व्याख्यातुं शक्य एव । दृश्यते चायमपि मान्दानामार्थागामेव बहूना पक्षो
यच्छानरूपेण नित्या यदा, शब्दरूपेण तु काले काले तत्तदधिनिरेव दृष्टाविर्भाव
नीता इति । यदाह व्याकरणमहामाध्यकारो भगवान् पल्लुलिमुनि—

“ननु चोक्तम्, न हि चण्डालि क्रियन्ते, नित्यानि चण्डालीति ।
यद्यप्यर्थो नित्य, या स्वसौ वर्गानुपूर्वा सा अनित्या, तद्भेदान्चैतद् भवति—
काठकम्, कालापकम्, मोदकम्, पैपलादिकमिति ।”

(महामाध्यै अ० ४।३।१०१ ‘तेन प्रोक्तमिति खे)

न्यायभाष्यकारस्तत्र भवान् वास्त्यायनश्च—

‘मन्वन्तरयुगात्तरपु चातीतानागतपु संप्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेद इति वदन्ना नन्वस्वम् । आसप्रामाभ्याश्च प्रामाण्यम् । लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति ।’

(वास्त्यायन भाष्ये, २।१।६८ ‘मन्त्रासुर्वेदेवञ्च तत्प्रामाण्यम्—इति सूत्र)

निरुक्तइत् तत्र भवान् वास्त्यायनश्च—

‘अत्र कृषेऽवदितमत्र सूक्त प्रविशन्मौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृत्मिश्र गाथामिश्र च मननि ।’ (निरुक्ते निगमकाण्डे अ ४)

‘अमुतोऽमुष्य रम्प्य प्रादुर्भवन्ति, इतोऽस्यार्चिष, तयोर्मातो ससर्गं दृष्ट्वैवमन्थयत् ।’ (निरुक्ते देवतकाण्डे अ० १)

इत्यादि तत्र तत्र मन्त्राणामृषिप्रोक्तत्वं स्पष्टं ।

‘आदिष्टेणो हानमृषिर्निषीदन् देवापिदेवमुमति चिञ्चिवान् ।’ इत्यादिमन्त्र व्याख्याया च (निरुक्ते नैगमका प्र २) देवापि शान्तनुप्रभृतीनां चरितं तत्तन्निदानं न प्रसीति । बृहदेवतावृत्तौनकोऽरि बृहनामृषीणां चरितानि मन्त्रनिदानत्वेन बृहदेवतायां स्पष्टं व्याचष्टे ।

आस्तामव चिरन्तनं मतद्वेषम् । येऽपि तु वेदरवापौरुषेयत्वपक्षपातिनो न मनष्यवृत्तिश्च मनागपि वक्ष्ये सन्ते, तेऽपीतिहासं वेदेषुञ्जीकुर्वन्तीति भगवत्प्रादुर्भावोद्घातान्वाच्यंश्रीसायणमाधवाचार्यादिनिदशनेन साधितपूर्वम् । प्रदर्शितश्च दिङ्मात्रेण पुरुषस्य चक्षुष्वाया समाधाने तेषां पन्था ।

वक्ष्ये चर्षतिहासनभ्युपगमे महान् विच्छेदं प्रसज्यते । सन्न किं मन्त्रं मन्त्राणामृषेष्ु वक्ष्येऽश्रीपुरुषप्रभृतीनां राजर्षिहरिश्चन्द्रमभृतीनां च बृहव एवतिहासा, त एव चोपलभ्यन्ते पुराणेष्वप्युपबृंहिताः । ततश्च वेदेषु यदि सऽर्थं परपरामर्शं तथैव सभाव्यं त इति तदुपलक्षितपौराणिकसर्वराजवशाथ्येतिहासिकं तथ्य दूरमुत्सर्गितं स्यात् । ततश्च ‘नास्त्येव भारतीयानां कोऽपीतिहासः’ ‘कल्पनामात्रसारा’ पौराणिका इतिहासा’ ‘नासीत् कोऽपि रामो वा युधिष्ठिरो वा’ ‘नैतिहासिकं पुरुषो भगवान् कृष्णोऽपि’ इत्याद्यां केपाचित् पाश्चात्यविदुषा तदनुयायिना भारतीयानां चानर्गला जल्पना एव विजयेन्, शुद्धाया दृढदत्तागलं च भारतीयसम्प्रदायास्तत्र स्यादिति किमित परमं न्यायिकं नान् ! ननु च श्रीधरत्वरामिनोरेषु हेतु मन्त्रेण मन्त्राणामृषिभिरिति, न तु शौनक—वास्व—शङ्कर—माधवादिभिः स्वीकृतं वेदेषु स्फुटं भासमानं स्वारसिकं सिद्धान्तम् ।

किञ्च “यत् परः शब्दः स शब्दाय.” इति हि मीमासाभिमतमेव न्याय-
मवश्यम् घर्म एव मीमासाया दृढ प्रामाण्य शब्दशरतीकचुम्, इति-
हासादिष्वप्ये तु पुराणमहानारादीनामेव मुरयं प्रामाण्यम् । घर्मविचारे
इतिहासादीनामर्थवादान्तर्भूताना प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनाङ्गतयैव सप्रयोजनमिति
जैमिनिमिद्वान्त चिरसाऽऽद्रियामहे, पर कल्पनाप्रस्ता मिथ्याभूता एव त इतिहासा
इति न शक्यममुपगन्तुम् । वेदप्रामाण्यसाधनबद्धपरिकरा महतो वेदभागस्यैव
मिथ्याप्रतिपादकत्वमगमप्रामाण्य शब्दान्तरेण प्रसज्येपुरिणि मरुदिदनुपशाखा
स्वदम् । अत्र च—

‘विरोधे गुणवाद. स्वादनुवादोऽवधारिते ।

मूलार्थवादस्तद्धानादर्थवादन्निधा मतः ॥”

इति मीमासामभियुक्तोक्त्यनुसारं प्रमाणान्तररिद्धाना गुणवादत्वं भवतु
नाम, अनुवादमूलार्थवादयोस्तैतिहासिकं तत्त्वं कथमपश्येत ? न ब्रूमो वय
वेदेषु पुराणेषु वा न सन्ति कल्पना इति, को हि नाम रुचेता.—

“रिषत्स्य समवदन्त आरतीर्णवनानधि ।

य क्षीवमदनवामहै न स रिषन्ति पूरुष. ॥

ओषधय समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारथामसि ॥”

इत्यादीना सर्वादत्वेन मासमानानामपि बचोमङ्गला तत्तदीयवादिशुभानि-
व्यङ्गकं नानुमन्येत, को वा वेदेषु इनावगाहोऽगत्स्वमत्संबादादिषु क्वचिदा-
धिदैविकम्, क्वचिदाध्यात्मिकं तत्त्वमेवोपबृंहितमितिहासशैत्येति न दृढ विधत्स्यात् ?
पुराणेष्वपि पुरञ्जनोपाख्यानप्रभृतीनि स्वयमेवाध्यात्मिकार्थपरतया ध्यायतातानि ।
परं नैत्रावता सर्वाण्येवाख्यातानानि तथाभूतानीति भ्रमितन्यम् । न हि ‘गङ्गाया
धोपः’ इत्यादौ भवति लक्षणोपि ‘गङ्गाया प्रमोदते’ इत्यादावपि सा नियमेन
सुखा स्यात् ।

तेन वेदेषु पुराणेषु वा यान्याध्यात्मिकाधिदैविकाद्यर्थपरतया ध्यायतातानि,
तानि भवन्तु तथैव । यानि तु नार्थान्तरमत्तया क्वचिदप्युच्यन्ति, तेषु गुणवादत्वं
कल्पना सर्वधानार्थवैवति सुदृढं भावयन्तु सुधियः । सन्ति च कानिचिदाख्यातानि
द्विपराणि, कानिचिच्च त्रिपराणि । अधिपञ्चम्, आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं
चापि तत्र तैर्बोध्यते, ऐतिहासिकं तत्रमपि चाविष्कियते । इहानि स्ववैतिहासि-
कानि तस्यानि वेदपुराणाद्येकवाक्यतयाविनैरन्ति, यानि वर्तमानैतिहासिक-
पद्धत्यानि परीक्ष्यमाणानि दार्ढ्यमेवोपयन्तीति ।

तदित्य वैदिकानि विद्वान्गोतिहासाश्च चिररानात्र विच्छिन्नसम्प्रदायानि न प्रतिपादन्ति इति सङ्क्षेपेण प्रत्यक्षीयदम् । विद्युतविज्ञानानां च वदाना क्वचि कर्म-
काण्डार्थमाध्यात्मिकतत्त्वाज्ञोद्यार्थं च महत्त्वं पर्यशिष्यत । पर मूलभूताद् विज्ञानाद्
विशोक्ति-स्य कर्मकाण्डस्य कियन्त काल स्थिति समयेत् । क्रमेण ततोऽप्यार्यजाते
श्रद्धा पृथग् मन्वितु प्रवृत्ता । आध्यात्मिकानि तत्त्वान्यपि च मननार्थं प्रवृत्तेर्दर्शनै-
र्मननीपनागि-त्त्वप्रयोग महाद्रियमाणैर्वेदपथत् सुदूरेण नीतानि, विप्रतिपत्तेन च
ख्यापितानीति तदर्थमपि वेदपरालोचन शिथिलीभूतमिव । एतच्च—

योऽनर्थात् द्विवो वेदमन्त्र कुर्वन् श्रमम् ।

सनीकन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति छान्दस्य ॥

इति मन्वतो मनारादेशमन्वेत्य, वेदानेकान्तत उवेत्य, वेदाङ्गानाङ्गदेश
मूला व्याकरण-न्वाय-साहित्य ज्यौतिषाद्या एव विद्यास्येन भारते व्यवहृता ।
वैदिकपौराणिकाद्यास्तु शिथिलत्वेनापि न परिगण्यन्ते । केवमममानमपि सौद्रव्यदि
केभिर्ब्राह्मणैर्वेदसंहितानां कथा चिन्मूलमात्रक्षा कृतेत्येव हर्षस्पदकभूत् ।

अथ वेदाद् विज्ञानप्रियाया आह्वयत्वात्तेरागमने, तथा संहार्यजात सन्धे
च भारते विद्युता विज्ञानवर्चा पुनरपि प्रादुर्भूत । आर्यजाते पुरातनस्य बह
मस्य क्रमेण परिचय प्राप्य बहो यूरोपीया विद्वांसोऽपि तत्त्वान्वेषणे सुबहु
परिश्रम्यन्, तेषु निबद्धश्रद्धाश्च तन्मूलात् प्रसक्तामाकर्ष्य भारतीया अपि बहो
निद्वासी वेदान्वेषणे प्रवृत्ता । परमतिपुरातनेऽपि काले समुन्नत विज्ञानमा
र्गादिति निरसत्वादनित्याया यूरोपीयजातेर्निरुगर्देव विपरीतम् । इदानीमुत्तम्य
मानाश्च पुराणाद्या अत्यन्तमर्वाचीना इति सिद्धान्तित्वता च तेषां वेदपुराणा
द्येकवाक्यतायामपि सर्वथैव न जायते दृष्टिपात । तद्वद्विद्वान्नेव स्वबुद्धि सचार
यन्तो भारतीया अन्वेषका केचन पुराणश्रद्धाप्रतिष्ठाया, केचिद् ब्राह्मणानपि
विच्छिद्य पृथक् कृतवतः, कचन वेदेषु केचन सामाजिकसम्प्रदादर्शनार्थेनो
त्कृष्टिता, कचन सम्बतारम्भसामयिकानेव वेदान् मन्वते—इति विभिन्नदशामेषां
प्रयत्नेन वैदिकविज्ञानमन्दिरागला पुनरपि चिरमनुद्धारितैव स्थिता । योऽपि
कैश्चित्महानुभावै सुबहु परिश्रम्य कथञ्चिद् विज्ञानोन्मेष इतिहासेनैषो वा कृत,
सोऽपि काचित् कल्पनामानविश्रान्त इति न प्रतिष्ठापयानपि समसदन् ।
यावच्चि आमूलचूड परालोच्यैकापक्रमेण परिभाषानिरूपणपूर्वकं काचिद् वैदिन
विज्ञानपद्धति इतिहासपद्धतिर्वा नानिश्चिद्येत, तावन्न वैदिष्म-गर्गलाद्वाद्यन्
समाभ्यते । न तु तावान् केनापि भ्रम कृत, नापि तादृशी सामग्री सनिहिता ।
ये वेदान्वेषकास्ते दार्शनिकपरिभाषानभिज्ञा अभून्, ये च प्राचीनशैली
परिष्ठास्येनापि प्रवृत्तिरेव नामूदिषि नैव तादृश सुसमगो दुर्देवस्तेन भारतन
समसादितः ।

यद्यपि विज्ञानेतिहासयोर्मध्याह्नकाल इदानीं जगति गण्यते, प्रत्यहं नवनवा
 आन्विकाराः पार्श्वात्सेषु भवन्ति, येऽथैकेन जगच्चिरपटः परिगच्छते । ईदृशेऽ
 वसरे वाक्प्रपञ्चमात्रकाराणां प्राक्तनानामेषां विज्ञानानामितिहासानां वा किंवदन्ती-
 प्रायाणा प्रकाशनेन को लाभः समाव्यते-इति मन्वेद् बहुना मनसि वितर्कः, परं
 विज्ञानप्रणयिनो ये भवन्ति याथाव्येन, न ते कदाचिदप्यल्लुब्धुद्विमुपासते । यतः
 कुतोऽप्यभिनवं किमपि शिक्षणीयमित्येवाज्जन्म तेषां प्रवृत्तिर्भवति । किञ्च विनैवा-
 न्देषां 'वेदकाले विज्ञानबाल्यकारः' इति ये स्वमनीषासंतोषायामिमन्वते,
 तेषामुदेतु प्राक्तनो न्तर्कः, ये तु भारतीयानामृषीणां सर्वज्ञताया विश्वसन्ति,
 सर्वविधविज्ञानपारंगमिता च तेषां अदृश्यते, ये वा तदस्थारस्तारतम्यपरीक्षण-
 समुत्तुकाः, तेषां तु प्राक्तनविज्ञानममोद्घाटनं न कदाचिदप्यरुचिकरं समाव्यते ।
 सोत्कण्ठं ते प्राक्तनविज्ञानप्रकाशाप स्पृहयन्ति ।

अथेदमप्यालोच्यता मनाम्, यद् बहुशः समुन्नतमपि पार्श्वात्स्यं विज्ञानं
 नाद्यापि निश्चा गतम् । अद्यापि नवनवाः सिद्धान्ता आविर्भवन्ति, प्राक्तनाश्च
 बहवस्तिरङ्क्रियन्ते, अद्यापि च बहवो व्यापारा अज्ञाततत्त्वाः स्थिताः, अद्यापि
 च बहुत्र विराजते मतभेदो वैज्ञानिकानाम् । किमन्वत्, या विद्युत् सर्वस्याधुनिकस्य
 विज्ञानस्य मूलस्तम्भायिता, तस्याः किं तत्त्वमिति प्रधानेपि त्रिययेऽद्यापि विवदन्ते
 वैज्ञानिकाः ।

एवंविधे च व्यतिकरे भारतीयानां प्राक्तनविज्ञानसाहाय्येन केषु चिदशेषेषु
 विज्ञानमाधुनिकमुत्कृतं स्यादिति सम्भावना केन हेतुनोपहास्यता नीयते भवद्भिः ?
 दृष्टं चाद्यावधि यद्भु विषयेषु यद् भारतीयैः प्राक्तनैः सिद्धान्तैर्यत्र नवीनेन
 विज्ञानेन विरोध उद्भासितः, तत्र कालक्रमेण भारतीयानामेव सिद्धान्तानां विज्ञानो
 भवतीति । यथा वृक्षादिषु चैतन्म्यं भारतीयेषु ग्रन्थेषु विस्मयमुद्गुप्तम् । नवीनस्य
 विज्ञानस्यासीत् तत्र विरोधः, परं भारतजनन्या एव सुपुत्रेण श्रीभगदीशचन्द्रबसु-
 महाभागेन भारतीयानां सिद्धान्तोऽद्य जगति सर्वमान्यता प्रापित एवेति न
 परोक्षं विदुषाम् । तस्यैव रसावनक्रियया ताम्राद्या अपि घातवः सुवर्गता नेतुं
 शक्यन्त इति भारतीयेषु चिरन्तनं प्रवादः । नवीनं विज्ञानमद्यावधि गुरुतरं
 तत्त्वान्तरमभिमन्यमानं तत्र विप्रतिपन्नं तमुपदृशति स्म । इदानीं तु वैज्ञानिका
 गुरुत्वस्याप्युत्पाद्यताम्, ताम्रादीनां च सुवर्णमावापत्तिं मन्तुं प्रवृत्ताः ।
 एवमेकमूलमिदं सर्वजगदिष्वद्वैतवादो भारतीयानां सर्वत्र प्रचलः । आधुनिके
 विज्ञानं तु त्रिप्रथिमधीति दिनवर्ति शताधिकानि वा तत्त्वानि मूलादेव भिन्नानि
 यमयत् तेषां संख्यावृद्धायेव प्रयतमानमासीत् । परमिदानीं नैतानि मूलतो भिन्नानि
 तत्त्वानि, परमार्थत एवमेव तत्त्वमिति प्रवृत्ता बहूना वैज्ञानिकानां दृष्टिः । आरम्भ-
 वादापरपर्ययः परमासुवादाः प्रथमः, तदनु परिणामवादात्मकः प्रकृतिवादः, अन्ते

वैदिकत्वनिष्ठोऽहं एतन्वो विद्वान्दो नेत्यनेक इत्येना ह्युक्तं: क्व पाषाण्ये विद्यानेने प्रमादवर्णनान् नान्यत् सर्वैकवद्वुनेदपति । तत्राप्यादौ परमद्युवाद एव (एतन्नू यित्तरी) वैदिकैरुत्तरेऽनुत्, इदानीं तु (एवो- स्तूयान यित्तरी) नाम्ना एतन्नाद एव तत्र विद्यन्ते । यथा च वैदा निदानां ऋषिर्वा प्रवृत्तस्तद्विद्यानेऽन्वाराद्युने प्रवृत्तेषु कथयन्त एव ।

द्वारात् परंपारिक वस्तु केन हेतुना तु ह्यवते—एति विद्वेदग्निवाद्यनि मनसोपकरद्वारां वैदिकैकान्तुलेकान् वैस्तु मीनात्म् । वैदिकेन तु विद्यानेन शुकृत्त्वमन्त्रितं तस्मिं शुक्रे विद्वेदग्नाच्चतयेन तदेतद्विद्विणी कृत्तिति । मनसिपदे, एतन्नूयदे वदन् प्रियायै वैदिके विद्याने ह्यवते, तस्यांयमावनने नद्यायि नर्येन विद्वेनेन विद्वद्वु । यानि च तत्रानि वैदिकिा अहुनिका अवेनारने मूलत्त्वानि मन्वन्ते, तनि वैदिके विद्याने अवेनारनेवले इत्युनेानि क्वाख्ययन्ते । यदधुना 'भाषितकन' नाम्ना विदित तत्त्वं, तद्वत्क दद्यदि तामिज्यतन एवमान् तमे ह्यनख्ययन्ते । 'शास्त्रीकन' नाम्ना विदित च तत्र वयमन्त्र इति कथान, 'नाश्ट्रीकन' इति शुक्रेण सुष्ठुत्त्वान 'हृत्वायुन्', 'शार्दन्' इत्युक्त वाङ्मय इति परिचितुन । परमेतानि त्वरणि वारनेऽप्रे मण्डले त्नुयदन्त इति वैदिक विद्यानेचडे । एतन् ह्यनानि इवायमुक्मण्डलेषु तस्थानि । तत्र च सर्वं त्नुत्तुम् इत्यन्, दुक्तेनादन च पञ्चीकृत एतदिषु मङ्गलानिषेण, तन्मूय-मान, यान, वाक्, अनाद, क्वायमि क्वात्वाग मङ्गलुका एतु मङ्गलान् । तत्राप्युत्तुम्नया षोडश- षण्णु, त्वानि दिग्देव-कान्तव-कृत्तुन परान्तत्तव-वारण स्थितिमिति एवायन् कथा अद्यानि विद्युत्तुमशिशुतत अहुननेन विद्यनेन । तद्वि वैदिक विद्याने पूर्वाना मकायमात् इने, तत्रैव यथादेव्याग्गनोऽप्या वैद्यानिकना एताहाभेने दुत्तरं एतन् स्थादे- निष्कलान्ना इयात्तव-तुनाऽ इत्यन् ।

तथैवे वेदाह्वाराने वा तानाऽप्यादे नि-ऽऽनुत्, वा मूर्तयेषु नवनववस्तु- प्राप्या अवर्यमात्रैक-ऽऽदने । मूर्तविद्यानेन च नारण्येषु मूर्तये वगतौ इत्य- षरिगिभिवात्तु- कनेय-तुम-भरिदुत्तकान्तमिद-विदुरात्तन-नेतिहचन्नेष्ट कर वा मीशुत्तवमाइति मने । त वा ऐुरान इतिहादौ वैदिकेनैवान्वेत्तयेन यथा विद्याग्मिभि ताशानि मार्गेषु मकाश थावरक एव ।

तद्विदाभीशुत्तवह-ऽऽदने इत्ये-एतादृशविदुषानेऽह्वानपरिपोले प्रवृत्ति- एवात्तवकाया । एतेनैव हृत्वात्तानान्तिन् काले उपनीता विद्येत् ।

येदे एव विद्यागौनां नि-ऽऽत्तकर पर'

इति भगवद्विद्वानाहुनात्तनेनाभ्युदयनि-ऽऽदत्त-तिक्ष भवेदिति ।

वेदेषु पितरः

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
 वितन्वता यस्य सती स्मृतिं हृदि ।
 स्वल्क्षणा प्रादुरमूत् किलास्यत
 स मे श्रुषीणामृषम प्रसीदतु ॥
 तद्दि यमयय धाम सारस्वतमुपास्महे ।
 यत्प्रसादात् प्रलीयन्ते मोहान्घतमसञ्छया ॥

त्रिविधा हि जगति दृश्यन्ते भावा—ज्ञानम्, क्रिया, अर्थाश्च । एषा त्रयाणामपि मूलानि मन, प्राण, वाक् चेति त्रितयमेव श्रुतिषु समाग्नातम् । शतपथब्राह्मणे हि “सोऽयमारमा मनोमय, प्राणमय, वाङ्मयश्च” इति बहुश एभिरेव पदै प्रकारान्तरेण वा भ्रूयते । यत्र च कस्यचिदभिनवपदार्थस्योत्पत्तिं प्रस्तोतव्या भवति तत्र “स ऐक्षत, स तपोऽतपत्, सोऽभ्रान्यत्” इत्यनेनैव क्रमेण किञ्चिदभिनववर्तनेन वा बहुश भ्रूयते । तत्रेऽग्नौ नाम मनसो धर्म, तपपदबोध्या क्रिया च प्राणधर्म, अन्नश्च सर्वभूतादिभूताया वाचो धर्म इति आत्मभूते त्रयेऽपि क्षोभरूपा स्वस्वव्यापारा प्रतिपाद्यन्ते । आत्मभूतस्य त्रितयस्य क्षोभादेवाभिनवपदार्थोत्पत्तिर्भवतीति । आत्मभूते त्रितये च मनो ज्ञानस्य मूलम्, क्रिया प्राणस्य, वाक् चार्थानां मूलमिति प्रत्येकव्यम् । वाच एव विवर्तभूतानि सर्वाणि भूतानीति “वाचीमा विश्वा भुवनानि तस्यु” इत्यादिशब्दैर्बहुधा भ्रूयते । भवतु नाम, प्राणो गतेर्मूलम्, गतिरेव च जगदुत्पादयतीति प्राणमेव मुख्यतया आधारीकरोति श्रुति । गति क्रिया चेति पर्यायशब्दौ । क्रियाशक्तिरेव च माया बलादिशब्दव्यवहार्या ब्रह्मणि जगत् प्रदर्शयतीति भूते सिद्धान्तः । गतिश्चेय द्विविधा भवति । केन्द्रादारभ्य परिधिपर्यन्तं गतिरिच्छुच्यते । परिधेरारभ्य केन्द्राभिमुखी गतिस्त्वागतिपदेन व्यवहियते । तत्र गतिरग्निपदेनागतिश्च सोमपदेन श्रुतिषु परिभाष्यते । एतावेवाग्नीषोमी जगत् उत्पादकावित्युक्तम्—“अग्नीषो मारमक जगत्” इत्यादि श्रुतिषु । अग्नीषोमनदवाच्ये गत्यागती प्राणजन्ये एवेति निष्कर्षः ।

सोऽय प्राण प्रथमम् श्रुषिरूपेण, तदनु पितरूपेण, अनन्तरञ्च देवासुररूपेण क्रियाचित् प्रक्रियया गन्धर्वरूपेण च श्रुतिषु व्याख्यायते । शतपथब्राह्मणे हि षष्ठे काण्डमारभ्य पूर्वमृषीणा विवरणं दृश्यते । “प्राणा वा श्रुषय” इति च स्पष्टं भ्रूयते । एते एव पञ्चपर्याय पितरः, देवा, असुरा, गन्धर्वाश्चेति मिलित्वा

सूक्ष्म जगदित्याख्यायते । तत्रपितृणामुत्पत्तिर्मंगलता मनुना श्राद्धप्रकरणे पितृनिरूपणावसरे स्वीकृता—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादय भुता ।
तेषामृषीणामाद्याना पुत्रा पितृगणा स्मृता ॥
श्रुयेन्व पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवा ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वश ॥

जाबालोपनिषदि च स्पष्टमग्नीषोमयोरेतन्मूलभूतयोर्गत्यागतिक्रिययोश्च स्फुटं दर्शनमुपलभ्यते—

अग्निराख्यायते रौद्री घोरा या तेजसी तन् ।
शक्ति सोमोऽपृणमयो रसश्चक्रिकरी तन् ॥
अमृत यत्प्रनिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम् ।
स्थूलसूक्ष्मेषु मूतेषु स एव रसत्तेजसी ॥
द्विविधा चेतसी वृत्ति सूर्यात्मा नानाशक्तिका ।
तथैव रक्तशक्तिश्च सोमात्मा च जलादिशिका ॥

अन्यत्र—

ऊर्ध्वशक्तिमय सोम, अधःशक्तिमयोऽनर ।
ताभ्या सम्पुष्टिर्त्समात्तुश्चद्विद्वमिद जगत् ॥ इत्यादि ।

अत्राग्निरधःशक्तिमय उक्त, तस्येद तापर्यं यदग्निर्दक्षिणस्या दिशि उत्तरा दिशि गच्छति । उत्तरा दिगेव जगत ऊर्ध्वभागत्वेनारयायत इति तन्नाम्नैव स्फुगीभवति । अग्निर्दक्षिणस्या दिशि स्थितस्तत ऊर्ध्वमुत्तरा गच्छति । सोमश्चोत्तरस्या स्थितस्ततोऽधो दक्षिणस्यामागच्छति । अत एव सोमस्य स्थूलवस्थारूपा आपोऽपि नदीरूपेणोत्तरस्था एव दिशो दक्षिणस्यामागच्छत्य सर्वैरसमाभिरनु मूयन्ते । उत्तरस्या दिशि ऊर्ध्वगतोऽग्निरेव परिधि प्राप्य सोमरूपेण परिणमति । दक्षिणस्यामागतश्च पुनरग्निर्मुत्तोर्यं गच्छतीत्यन्योन्यपरिवर्तनादेकस्यैव तत्तस्याव स्थापे द्वे अग्नीषोमाविति स्फुटं सिद्धमिति ।

इमा जाबालभ्रुतिमेवात्सव्य शक्यपुषासनाया शक्ति शिरस्य हृदयोपरि स्थिता । तत्र शिवो हृदयदेवाच्योऽग्निरूप तदुपर्यागच्छती सोमधारा तु शक्तिरूपेति । अन्यथापि चैतद्व्याख्यातुं शक्यते । पुरुष एव शिवरूपेण स्थित, स च शक्या विना निर्विच्छेद्य इति शक्यरूपेणैव स्थित । तदुपरि त्रीड्-तीय शक्ति स्थितेति । आस्तामियमप्रकृतइया ।

यो तन्मोषोमो गत्यागतिक्रियारूपो प्राणुक्तो, तत्र विशुद्धाः प्राणा अग्निरूपा एव श्रुतिपदेनाख्यायन्ते । तत्र तु सोमसम्बन्ध जाते सोम्या प्राणा उद्भवन्ति ।

त एव सौम्याः प्रागाः पितर उच्यन्ते । ऋषीणां प्रथमं स्वयम्भूमण्डल एवोद्गमः, तदनु परमेष्ठिमण्डले सौम्ये सोमसम्बन्धात् पितृगामुद्गमः । अथ तृतीये सूर्यमण्डले देवानां प्रादुर्भाव इत्ययमेव क्रमा भवता मनुनाऽभिहितः । इमे चाम्नीधोमपदाभ्यानाख्याते गत्यागती सर्वेष्वपि पदार्थेष्वनवरतं प्रवर्तेते । वेदवाह्या अपि जैनबौद्धाद्यास्तत्रमेतदमुपगच्छन्ति । तथा हि—जैनदर्शने “उत्सादव्ययप्रौढ्ययुक्तं स्त्वं” इति सप्तो लक्षणमुच्यते । सर्वेष्वपि पदार्थेष्वानिरूपेण सोमेन नवनरावयवोत्सादः, गतिरूपेणाम्निना च व्ययः, उत्तोरप्युत्सादव्ययसोस्तदेवेदमिति वस्तुनि या प्रथमिवा तदाश्रय एव प्रौढ्यम् । तानीमानि उत्सादव्ययप्रौढ्याण्येव सत्तानदेनोच्यन्ते, तदाश्रयश्च सर्वे पदार्थाः सन्त इति व्यवहियन्त इति जैनसूत्राशय । बौद्धास्त्वापि अर्थान्निष्कारित्तमेव सर्वमनुपगच्छन्ति । प्रत्येकं हि वस्तु यं कर्मण्यर्थमुत्सादयति वा का वा क्रियामपि कुर्वद् दृश्यते तदेवार्थक्रियाकारित्वं सत्तापदेन व्यवहियते । तादृशवत्तादन्तरश्च पदार्थाः सन्त इत्युच्यन्ते । गत्यागतिरूत्सा क्रिया चेयं प्रनिष्ठां परिवर्तत इति क्षणिकमेव सर्वं जगत् तैमन्न्यते । क्रियैकाद्वयत्वाद्ग्रहादेव ते भ्रमणा इत्युच्यन्ते ।

सोमसद्वत्त्वात् आगतिरेवेयं सदार्थान् पानि नवनवानुत्सादयति चेति निरुपदेनाख्यायते । अत्र एव च पितृपदेन लोके व्यवहियत इति रश्मिरोत्सादनस्य च सम्बन्धात् सौम्यानां प्राणाना पितृत्व स्थान एवोच्यते ।

त इमे पितरत्रिविधाः भूतिषु व्याख्यायन्ते । १—दिव्यपितरः, २—ऋतुपितरः, ३—प्रेतपितरश्चेति । तत्र पूर्वोक्तमनुवचनरीत्या भूमिषु उत्तरा देवानुराणानुत्सादकाश्च प्राग्विशेषा दिव्याः पितरः । त इमे त्रिभूति लोकेषु परिव्याप्य निष्ठन्ति । तदेतद् ऋषेदभूत्या समाप्नातम्—“उदीरतामवर उत्तरास उन्मध्यमाः पितरः सौम्यासः” (ऋ० अष्ट० ७।६।१७) इति । अवरे परे मध्यमाश्चेति त्रिविधाः पितर आप्नाताः । अत्र सोमसम्बन्धात् प्रीण्यन्तरिक्षाण्येव ग्राह्याणीति बहवो विज्ञासो मन्यन्ते । अस्नाकं मूनेः सूर्यमण्डलस्य च मध्ये चन्द्रेणाधिष्ठित प्रथममन्तरिक्षम् । सूर्यमण्डलादुत्तरिष्ठात् परमेष्ठिमण्डलादधस्ताच्च महर्लोक्याख्यं द्वितीयमन्तरिक्षम् । सूर्यमण्डलादुत्पन्नायास्त्रिलोक्याः सूर्येण सह लये तत्रैवर्षयस्तिष्ठन्तीति पुराणेष्वभिहितम् । तेषु ऋषिषु एव सोमसम्बन्धात् पितरो जायन्ते । परमेष्ठिमण्डल उत्तरादध पितरो महर्लोक एव परिपुष्या भवन्ति । अथ परमेष्ठिमण्डलादुत्तरिष्ठात् स्वयम्भूमण्डलादधस्ताच्च तदःपदवाच्यं तृतीयमन्तरिक्षम् । तत्रापि चैषा व्याप्तेः पूर्वोक्तभूत्या शायते । ते परे पितर उच्यन्ते । अयं भूतपितरः—

उदन्वती धौरवना पीलुमतीति मध्यमा ।

तृतीया ह प्रधौरिति यस्या पितर आसते ॥

(अथर्व० का० १८ अ० २ सू० २)

इति त्रीण्यन्तरिक्षाभ्येव ध्रुवदेनोक्तान्यनुसन्धेयानि । एत एव च प्रथो नान्दीमुखा, पार्वणा (अध्रुमुखा), प्रेताश्चोच्यन्ते । नान्दी नाम समृद्धिः । सर्वोपरिष्ठाद् त्रिराजमानास्तृतीयलोकस्था पितर समृद्धिपालिभ्याद् नान्दीमुखा आख्यायन्ते । मध्यमलोकस्थास्तु तदपेश्याऽवरकषाका इत्यध्रुमुखा उच्यन्ते । इत प्रेत्य ये जीवा गच्छन्ति तेऽन्तरिक्षे दिव्यपितृभिः सगता भवन्तीति तत्सादृ-
चर्यादवरान्तरिक्षस्था दिव्यपितरोऽपि प्रेता इत्याख्यायन्ते, यद्वा तृतीयपरिमन्त-
रिक्षे स्थिता पितर ऊर्ध्वमुखा भवन्तीति नान्दीमुखा उच्यन्ते । मध्यमस्थास्तु
जलस्योत्पादनेऽपि कारणीभूता भवन्तीत्यध्रुमुखा उच्यन्ते, अध्रुगा जलरूपत्वात् ।

ते चेमे दिव्या पितर पुन प्रत्येक त्रिविधा — अन्नरूपा, अनादरूपा,
तत्प्रथाश्च । ये स्वयं परेषामन्नरूपा भूत्वा परान् पुष्यन्ति तेऽन्नरूपा आख्यायन्ते ।
ये तु परश्रोपसमान्ता अन्नं भुञ्जते तेऽन्नदरूपा । ये तु नान्नं भुञ्जते न परैर्भुञ्जन्ते
ते एतस्था । तत्रानरूपा अग्निष्वात्ता, बर्हिषद् सोमसदश्चेति त्रिविधा । ये
अग्निर्नैवाद्यन्ते “अग्निरेव यान् दहन् स्वदयति ते अग्निष्वात्ता” । ये च बर्हिषि
कठिनद्रव्येऽन्नरूपे तिष्ठन्ति ते बर्हिषद् । ये च तरले द्रव्ये स्थिता परैरद्यन्ते ते सोम
पा । एवमनादा अपि त्रिविधा — इर्बिर्भुज, आ०पशाः, सोमपाश्चेति । कठिनं
द्रव्यं ये भुञ्जते ते इर्बिर्भुज । तरलं तु द्रव्यं द्विविधं भूतिषु परिभाष्यते । यदाग्नि
सम्बन्धात् प्रज्वलितमग्निरूपतामेव गच्छति तदाज्यमित्युच्यते, यथा दूत तैल
चेत्यादि । यत्तु नाग्निना प्रज्वलति, किन्त्वग्नौ प्रतिहतमग्निं शमयति तत् सोम-
पदेनोच्यते । तत्राद्यं ये भुञ्जते, अर्थादारमसात्कुर्वन्ति त आ०पशा । तत्प्रथास्तु
मुक्ताग्नि उच्यन्ते इति सप्तविधा दिव्याः पितर । पुराणेषु त्वष्ट्री पितर
आख्यायन्ते—

कव्यनालोऽनल सोमो यमश्चैवार्थमा तथा ।

अग्निष्वात्ता बर्हिषद् सोमपा पितृदेवता ॥

तत्र इर्बिर्भुज एव ‘क०पवाट’ पदेन, सोमसदश्च सोमपदेन, बर्हिषद्वाग्नि-
सदश्चरा इति सादृचर्यादग्निनाचकेनानल्पदेनोक्ता । यमश्च पितृसदश्चरत्वेनाग्ने
व्याख्यास्यमानं पितृभ्येव परिगणितं इति प्रक्रियामेदमात्रं द्रष्टव्यम् । त्रिषु लोकेषु
स्थितानां पितृणां सदश्चरान्त्रयो देवा भवन्ति—अग्निर्वायुरादित्यश्चेति । तथाग्निर
द्विविधोऽष्टदशरूपेण व्याख्यायते । वायुश्चैकादशरूपेण । आदित्यो द्वादशरूपेण
च भूतिष्वात्तात् । त इमे पितृसदश्चरा पितृभिरुत्पादिता वा पितृष्वन्वाभक्ता
इति मयक्ता सादृचस्त्वयेन भागवता मनुना च पितृपदेनैवाख्याता —

वसुरुद्रादितिमुता पितर आददेवता ।

मीणयन्ति मनुष्याणां पितृनाभ्येन तर्पिता ॥

इत्यादिना याञ्चवल्क्यस्मृतौ ।

वदन् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राश्चैव पितामहान् ।

प्रपितामहास्तथाऽऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥

अथ पितृसङ्हरा अपि देवात्रिधा भिद्यन्ते—अग्नि सोम, यमश्चेति । अग्नौ या निरन्तर सोमाहुति पतति तस्या विच्छेदको यम आख्यायते । सोमाहुति विच्छेदे तत्तत्पदार्थानां मृतुर्नाम नाशो भवतीति यमो मृत्युरप्याख्यायते । त इमे पितृसङ्हरास्त्रयो देवा आदिकर्मण्यदाही हूपन्ने “अग्नये कयवाहनाय सोमाय पितृन्ने स्वाहा यमायाङ्गिरस्वते स्वाहा” इति । तदनु पितर पूज्यन्ते । विच्छेद कृतान् कश्चिन्नाख्याया यमो न हूयते । इत्थ दिव्यपितर सन्नेपेण व्याख्याता ।

अथ ऋतुपितर आख्यायन्ते । अग्नौ सोमाहुतितारतम्याद् ऋतवो भिद्यन्ते । उत्तरस्या दिश्यागते सूर्ये ऋत नाम सत्त्वराम्नेर्भाग उत्पद्यते । दक्षिणस्या तु सूर्य आगते सोम उत्पद्यते । सोम पिण्डजनकत्वात् सत्त्वरवेनाख्यायते । तदेतत् “ऋत च स यज्ञाभीक्षात् तनसोऽभ्यजायत” इत्ययमर्णमन्त्रे समाप्नातम् । मासपट्कमग्नेर्वृद्धि सोमस्य च हास, तदनन्तर मासपट्क सोमस्य वृद्धि, अग्नेश्च क्रमेण हास । अग्नेस्तारतम्यादेवर्तना नामान्यपि सङ्कृतभाषायामाख्यायन्ते । तथा हि—उत्पन्नमात्रोऽग्निर्नर्नदा तेषु तेषु पदार्थेषु वस्तुमारमते तदा ‘वसत’ इति ऋतुनामोच्यते । “वसन्तोऽनाग्नय” इति ऋतुरपि वसन्त । यदा च वृद्धि गत. स सर्वान् पदार्थान् पृच्छति तदा ग्रीष्म इत्युच्यते, ‘ग्रह’ धातोरेव परोक्षया वृच्या ग्रीष्मशब्दनिष्पत्ते । अनन्तरञ्चाभिवृद्धि गतेऽग्नौ ‘वसा’ इत्यनुनाम, वृद्धिशब्दस्यैव वर्णवर्णान्त्यादौ व्याकरणे वर्णदेशदर्शनाद् । तद्विद पश्नासारतकमृतुप्रयमग्नेर्वृद्धि काल, तदनु सोम उत्पन्ने तत्तारतम्यादग्निर्हंसति । यदा हास आरम्यते तदा शरदित्युच्यते । शीर्गा भवितुमारब्धोऽग्निरिति । यदा च विशेषेण हासस्तदा ‘हेमन्त’ इत्युच्यते । हीनार्थबोधकाद् ‘हि’धातोरेव हेमन्तशब्दनिष्पत्ते । यदा चात्यन्त शीर्षस्तदा यङ्गुण-ताच्छिरसदात् तद्व्यवहार क्रियते ।

न केवलम् ऋतुनाम्, अपि तु मासानामपि नामानि तत्तत्पदार्थोत्तिसम्बन्धे नैव सङ्कृतभाषाया दृश्यन्ते । तथा हि—यस्मिन् मासे पुष्यशुक्लादिषु मधुत्वद्यते स चैवो मधुनाम्नाऽऽख्यायते । यदा च मधोवृद्धि स वैशाखो ‘माधव’ नाम्ना । अग्नेर्वृद्धिदृष्ट्यापा शुक्र इति ज्येष्ठ शुचिरिति चाषाढ । अथ यदा मेघेन प्रावणत्वात् सूर्यनक्षत्रादयो न दृश्यन्ते तौ श्रावणमाद्रवदौ ‘नम’ इति, ‘नमस्य’ इति चाख्यायते । यदा च प्राणिषु ‘अकं’ नामौज प्रादुर्भवति तदाऽऽश्विनकार्तिकी ‘इय’ इति, ‘ऊर्ज’ इति च, यदा च तदेवौजो वररूपेण परिगमति तदा मार्गशीर्ष पौषमासौ ‘सह’ इति, ‘सहस्य’ इति चाख्यायते । अथ यदा पूर्वोक्त ऋतना

माग्निराभिर्भवति तदा माघ फाल्गुनौ 'तप' इति, 'तपस्य' इति च । सस्कृताध्येतारः पश्यन्तु सस्कृतभाषया महात्वं यत् तत्र मासतुंनामश्रवणादेव तन्मासतुंभृतिसु जाताना पदार्थाना परिचयोऽपि जायत इति ।

नामैव ज्ञायन्ते यदेत श्रुतवो न कालमासस्य सजा अथि तु तत्तत्कालप्रा-
दुर्भूतानामग्नीषोमादीनामिति । ते चैते अग्नीषोमाद्या सर्वेषा पदार्थाना जनका
इति पितर उच्यन्ते । तत एव "श्रुतव पितर" इति तत्र तत्र श्रुतिसु समाग्नयते ।
स्मृतिष्वपि च धादप्रकरणे उक्तम्—“पद्भृत्श्च नमस्कुर्वान् पितृनेव च
धर्मविन्” इति । तद्विषय द्वितीयपितृरूपा मृगव सक्षेपेण व्याख्याता ।

अथ तृतीयविधा प्रेता पितर उच्यन्ते । वेदमालोकाङ्गोकांतरं गतास्ते
प्रेता पितर । त एतेऽपि श्रुतेषु बहुधा श्रूयन्ते । तथा दि—मुनूर्पुपुष्यविधे
उच्चारणीय एको मन्त्र —

सगच्छस्व पितृमि सवमेत इत्यापूर्तेन परमे रोमन् ।

द्विंश यावच्च पुनरस्मेदि सगच्छस्व तन्ना सुवर्चा ॥

अथ स्वष्ट मृगस्य दिव्यरिपुमि सगमनमाम्नातम् । यत्तु केचन पुत्रो
जीवन्मेव पितर सम्बोधयतीति मन्त्रमिम व्याचक्षते तदनुचितमेव, अथ द्विंश
इत्युपदेशस्य पुत्रकृतस्य पितर प्रत्यनुचिरत्वात्, अस्तनेहीति कथनस्य नितान्तम
योग्यत्वाच्च । तस्माद् मुनूर्पुसविधे एव प्रार्थनापरत्वेन मन्त्रोऽयं युज्यते ।

पूया चेतस्त्वावयत्तु प्रविद्भान् अनल्पशुभिर्मुवनस्य गोरा ।

स त्वैतेभ्य परेददत् पितृभ्योऽग्निदेवभ्य सुविदतृयेभ्य ॥

अनापि पृथिन्या अधिष्ठाताग्निर्भूतस्य पितृलोकायनाय प्रार्थ्यते ।

यद्दोऽग्निरज्जादेकमङ्ग पितृभ्यो गमयन् जातवेदा ।

तद् एतत्पुनराप्याययामि साङ्गा पितर स्वर्गे मादयध्वम् ॥

अत्राग्निना प्रजापतिरुत्थाङ्गस्य पुनराप्यायनं स्वष्ट भूतम्, यदपुनापि दद्या
हाम्प्रन्तरे गाननिर्मापकपिण्डप्रधानरूपेण सर्वैरनुष्ठीयते । क्रियदुदाहरामि । शतशो
मन्त्रेष्वेव मृताना पितृलोकातिराम्नायते । “ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति
चन्द्रमशमेव ते सर्वे गच्छन्ति” इति कौपीतकिब्राह्मणे मृताना स्वष्ट चन्द्रगोक
गतिराम्नाता । चन्द्रलोक एव च पितृलोकपदेनाख्यायत इति, “त्रिभूर्ध्वभागे
पितरो वसन्ति” इति सिद्धान्तशिरोमण्यादिषु स्पष्टमुक्तम् । छान्दास्योपनिषत्सुपि
च देववानपितृव्यमार्गां स्फुरन्तर पितृलौ । तथापि च द्रव्येऽगति पितृव्यमार्गां
स्पष्ट भूयते । सजातीयाकर्षणसेक्षा-तमनुसृत्य चोपस्थापीद सिद्धयति । सर्वे हि
वस्तु संसृजातीयेन घनेन स्वाभिमुखमाकृष्यत इत्येव सजातीयाकर्षणसिद्धान्त । स

चाऽय महामध्ये "स्यान्तेऽन्तरतम" सूत्रे स्पष्टं विवृतं । यत्तु केचन पादवाच्या विद्वाधो वदन्ति यदाकर्षणविद्वान्तं न क्वेऽपि जानाति स्मेति तत्तेषां देशे न्यूयने नैवाविष्कृतो भवतु नाम । अस्माकं तु भुक्तिषु तदनुगामिषु यात्रेषु च स्फुटमाकर्षणविद्वान्तो विद्वानो दृश्यते । ज्योतिर्विद्वामप्रेतरैः श्रीमास्कराचार्यैश्च सुस्पष्टैस्सैः भून्पामाकर्षणमस्तीति प्रतिपादितम् । बौद्धा हि मन्यन्ते स्म यद् भूमिरेष प्रतिष्ठानतेऽप्योन्नतानि नीचैः पततीति । यथ स्फुटं पश्यामो यदस्मान्निष्ठित्तो नृदिग्द एषोऽस्मान्निर्वाण्णी शक्तिस्तत्र निहिता तस्याऽपगमे नाचैः पततीति तपैवान्नास्वतो पृथिवी कथं निरात्मना तिष्ठेदिति । यत्तु रेपकूर्मवराडादिवान् अवस्यमान् कथयन्ति तत्तु तैर्न मन्यते । अस्माकमपि च पुराणादिषु वैज्ञानिकरीत्याऽभिप्रायान्तरमेव तस्य वर्णितस्य व्याख्यायते । भवतु नामैतस्य बौद्धविद्वान्तस्य खण्डनाय प्रवृत्तं श्रीमास्कराचार्य इदनुक्तवान्—

आकाशमिच्छति च मही तथा यत्
 तस्य गुणस्वामिमुत्र स्वयक्त्या ।
 अकृष्यते तत् पतती च भाति
 सने समन्तात् क्व पतोदिय खे ॥

अस्यायमभिप्रायो यत् पतनं नाम कश्चिदस्तुनो न स्वानाविको घर्षणं, अपि त्वकर्षणमपि उच्यते एव । अस्मानि प्रहितं पृथिव्यादिकं भूमिरेव स्वाभिमुखनाकर्ष्यते, तत्तन्मृतमेव तस्य पतनं दृश्यते । भूमेस्त्वाकर्षकं विद्यति निगडान्तरं नास्ति, अपि तिस्रसंभितसमे आकाशमण्डले स्थिता । आकाशे वाकर्षणशक्तिर्नास्तीति कथं पततु । अत्र स्फुटैस्सैर्भून्पामाकर्षणविद्वान्तो न्यूयन्द् बहुपूर्वमेव मास्कराचार्यो विवृतः । महामाषकृता च सजातीयाकर्षणं तद्वान्तो विवृत इति पूर्वमुक्तमेव ।

वेदेषु विद्वत्

आस्तानेनमप्रकृतकथा । अनेन सजातीयाकर्षणविद्वान्तेनापि इतः प्रस्थितस्य जैतस्य चन्द्रलोकगमनमव विद्वपाति । मृतस्य सप्तमं शरीरं स्थूयशरीरं विहाय निष्कान्यते । तत्र च मन एव प्रधानं भवति, मनस्यैव चन्द्रमण्डलस्यैवायं इति भुक्तिषु पादिषु स्फुटिहृतम् । तदस्य चन्द्रमण्डलायस्य मनसदचन्द्राभिमुखी गतिं स्फुटं प्रतिदृश्यते । यैस्तु तस्यैव सप्तमदिना स्वस्य प्राणशक्तिं प्रवर्द्धिता ते चन्द्रमण्डलं न गच्छन्ति, अपि तु चण्डा प्राणभूतस्य स्पर्शनाकर्षणात् सप्तमण्डलमेव पान्तीत्यपि चन्द्रमण्डलीनिष्ठस्तु स्वधर्मपरातम् । येषाञ्च धनभूषादि वासनावसाहितानां भून्पामेव विरैषो सम्बन्धस्तेऽप्यैव पुनः पुनर्धनान्ते सिपन्ते

चेति “जायस्व द्वियस्व” इत्येतत् तृतीयस्थानमिति छान्दोग्ये समाम्नातम् ।
एषाञ्च त्रिविधानामपि भाद्रेण वृत्तिः स्मृतिषु स्फुटमुक्ता—

देवो यदि पिता जज्ञः शुभकर्मानुयोगतः ।

तस्याक्षममृतं भूवा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इत्यादिना ।

एते च मृता जीवा द्वादशभिर्मौषैश्चन्द्रलोकं प्राप्नुवन्तीति तावत् प्रतिमासं
भाद्रानि क्रियन्ते । दिव्यपितृभिः सङ्गतानां तु वर्षान्ते सपिण्डनं क्रियते । तदनु
प्रत्यग्द भाद्रम् । भाद्रे च या प्रक्रिया सा सर्वाऽपि वैज्ञानिकरीत्या व्याख्यातुं
शक्यते । ये च भेदा नान्दीमुखान्भ्रुमुखादयस्ते मृतपितृणामपि स्मृतिपुराणादिषु
प्रतिपादिताः—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

त्रयोऽप्यभ्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिताः ॥

तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः ।

ते तु नान्दीमुखा नान्दीसमृद्धिरिति कथ्यन्ते ॥ इत्यादिना ।

(ब्रह्मपुराणे)

एवं ये सोमपानं कृतवन्तरते सोमपा इत्याद्यपि च तत्र तत्र विवृतम् ।

पुराणखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१. पुराणेषु विकासवादः
२. धूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्
३. सुदृढपुराणविषयसमालोचनम्
४. वेदेषु पुराणमहत्त्वम्
५. पुराणलक्षणानि

एते पद्यलेखाः संगृहीताः

—संपादकः)

पुराणेषु विकासवादः

विदितमेवैतन्प्रायेण सर्वेषामपि समयविदा विदुषा यथाशक्त्वा निदातो विकासवादमाददते । सर्वेषामपि प्राणिनामप्राणिना वा क्रमेणोत्तिरिति तन्मतम् । तेन खलु वर्षशताभूर्वमासीयादृश जगत्, तदपेक्षयाद्य वर्तते बहुतरमुन्नतम् । अद्य च यादृश तदपेक्षयेद् भाविनि समयान्तरे भविष्यत्युन्नतमेव, सेय क्रमिकोन्नति धारेति जल्पति । वयन्तु (भारतीय) तद्विपरीतवादिन इवेति प्रसिद्धिः । अस्त्यय सस्कार आवालवृद्धमस्मदेशे, यज्जडचेतनोभयात्मकपीद जगत्तथाऽभवद्वर्षशताभूर्वम्, तदपेक्षयाद्यान्नतम् । न वृक्षास्तादृशा, न वा तथा प्रसविनी सत्याना विश्वम्भरा । न वाक्त्रादिष्वेव तादृशी शक्तिः, का तु कथा मनुष्याणाम्, ते खलु नक्तदेव मायुषा वीर्येण धर्मेण बुद्ध्या समृद्ध्या वा ह्यसत्येव । सोऽयमास्माकीनो हासवादः । जल्पपि क्लियनुभूयते स्वस्ववादानुकूलमेव, ते खलु प्रत्यहमुत्तमन्येव, वयन्तु प्रत्यहं वा प्रतिक्षणमवनतिमेवाश्लिष्याम । आस्तामिदम्, कस्त्वस्माकं शास्त्रकाराणामस्मिन् विषयेऽभिप्रायः, को वा वादस्तद्व्यकोटिं स्पृशतीति सत्त्वेप तोऽत्र निदर्शयितुमिच्छाम ।

क्रमिकोन्नतिवादापरमार्थोऽयं विकासवादः प्रागिद्विषये सत्त्वेपत खलु द्वेषा विभक्त्य द्रष्टव्य - जगति प्राणिनामुत्पत्तिविषये च, मनुष्याणां सामाजिकव्यवस्था विषये च । पूर्वत्र तावदेषु विकासवादसिद्धान्तः, न खलु भूम्या परिदृश्यमाना इमे सर्वेऽपि प्राणिनो युगपदेवोदपद्यन्त, अपि तु क्रमेणैवामुत्पत्तिः । सा चाप्युत्तरोत्तरमुन्नतैः, तथा च पूर्वं तिरश्चा तत्रापि प्रथममनेकेन्द्रियाणां ततो द्वीन्द्रियाणां मनन्तर त्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां च तदनु क्रमेण समनस्कानां मनुष्याणां मुत्पत्तिरिति तस्मिन्निदान्तः १ कुरुति । सोऽयं सिद्धान्तः कथञ्चित् पौराणिक सृष्टिक्रम मनुसरतीव । तथा हि—सर्वेष्वपि पुराणेषु नवविधसृष्टिप्रतिपदनावसरे पूर्वं सृष्टाणां तदनु तिरश्चा ततो देवानां मनुष्याणां सृष्टिरभिहिता । यथा विष्णुपुराणे (१ अक्ष ५ अध्याय) ।

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादियु यथा पुरा ।

अबुद्धिपूर्वकं सर्गं प्रादुर्भूतस्तमोमय ॥ ४ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्वसञ्चितः ।

अविद्या पञ्चपर्वणा प्रादुर्भूता महात्मन ॥ ५ ॥

१. वानरा एव पुञ्जवर्षणेन मनुष्यतया परिणता इति ङारिन्मतमप्येतत्सिद्धान्तमनुसृत्यैव प्रवृत्तम् ।

पञ्चधानस्थित सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
 बहिरन्तोऽप्रकाशश्च सञ्चितात्मा रजसात्मकः ॥ ६ ॥
 मुख्यानगा यत प्रोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ।
 त दृष्ट्वाऽसाधकैः सर्गमनन्यदपरं पुनः ॥ ७ ॥
 तस्याभिध्यायत सर्गस्तिर्यक्स्रोतोऽभ्यवर्तत ।
 यस्मात्तिर्यक प्रवृत्ति स तिर्यक्स्रोतास्तत स्मृतः ॥ ८ ॥
 पश्चादयस्ते विख्यातास्मिं प्राया ह्यवेदिनाः ।
 उत्तयमाहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥ ९ ॥
 अहङ्कृता अहमाना अष्टादिशद्वधात्मकाः ।
 अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम् ॥ १० ॥
 तन्मध्यसाधक मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ।
 ऊर्ध्वस्रोतास्सृतीयस्तु चात्त्रिकोर्ध्वमवर्तत ॥ ११ ॥
 ते सुवृत्तीतिबहुला बहिरन्तश्च नावृताः ।
 प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोऽभवा स्मृताः ॥ १२ ॥
 बुधात्मानस्सृतीयस्तु देवस्यस्तु स स्मृतः ।
 तस्मिन् सर्गोऽभवत्प्रीतिनिष्पन्ने ब्रह्मस्वदा ॥ १३ ॥
 ततोऽन्य स तदा दध्मौ साधक सर्गमुत्तमम् ।
 असाधकास्तु तान् शात्वा मुख्यसर्गादिसमवान् ॥ १४ ॥
 तथाभिध्यायतस्तस्य ज्ञानाभिध्यायिनस्ततः ।
 प्रादुर्गभूव चाध्यक्षादवोक्स्रोतास्तु साधकः ॥ १५ ॥
 यस्मादवर्ग्यवर्तन्त ततोऽवोक्स्रोतस्तु ते ।
 ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्विक्ता रजोऽधिका ॥ १६ ॥
 तस्मात्ते दुःखबहुला मूयो भूयश्च कारिणः ।
 प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकास्तु ते ॥ १७ ॥

तदत्र च द्विक्रमे ज्ञेयतो विकारवादसिद्धान्त एव प्रस्थापित इति स्फुग्मेव
 समीक्षादधानान् । इयास्तु विरोध, नास्माकमप्य विकारवादोऽन्येषां (पुरोपी

१ बहिं शब्दादिषु, अन्त सुवृत्तिषु च प्रकृतज्ञानरहित । २. वृत्तम् ।
 ३. सकाराप्रवर्तकम् । ४. ज्ञान-शुद्धि-विरययात्मका एते वया सास्त्रदर्शने
 प्रसिद्धाः । ५. सुबहु-वाचानुभवत । ६. पितृ-पुत्रादिसम्बन्धज्ञानशून्या ।
 ७. केवल भोगप्रसक्ता इति कर्मणामनारम्भेण सकारस्याप्रवर्तका देवा अपि ।
 ८. कर्तृत्वधिकृता सकारप्रवर्तका ।

यादीना) विकासवाद इव निरीक्ष्यवादः, ऋग्वेदे त्रिकाहेऽथत्र एतच्छ्रुत्या-
विनिश्चय कारणात्मिकाः सन्निधानयिता कश्चिदधीरपदान्त्वोऽभ्युपगम्यत एव ।
किं वा सन्निधानयिता, ईश्वर एव एतच्छ्रुत्यावेदेन सिन्धुनिनैः स्वर्गैव-
माहते-इति ।

‘इन्द्रो मायानि पुरुषं ईयते’
‘तमेकं सदिश्रा बहुधा वदन्ति’

इत्यादि पदे पदे अनुसंधेयप्रमाणानां स्तुत्योऽभिमान । तत्र एवम् ईश्वर-
स्यैव ऋणे सर्वविधप्राणिजनकत्वमाख्यातम् । निवृत्तनिवेदुश्चिविद्येष्ट्याना देवाना
सर्गं यदपि त्रिकासवादे मानुषत्वं दन्तरं प्रतिसादयेदुचिदस्त्वयानि कर्मानि
सर्वप्रवर्तकत्वत्र सृष्टिप्रकरणे मुख्य विवक्षितम् । सा च यथादिङ्मनां शक्तिवत्-
रोत्तर संप्रवर्तनशक्तिश्च मानुषेभ्येन मुख्यतया प्रादुर्भावो वि एव सर्वान्तर-
रथात्वा सर्वस्यो मुख्यतया निवेष्टिता इहासनात्वा । कश्चित् जनोऽस्ति नृकृत्वा
देवाना मुख्यतयाख्यायते । सृष्टिनिर्वाहप्रणेतृनीत्यर्थानि । १

एऽयं द्वितीयो त्रिकासवादस्य त्रिद्वान्त-यन् न मनुष्यवादिव्यतिदधानानेव
संशक्तिविदेहा सर्वकारकुशला वाऽभूत् तन्ननाथेनमासीत्पुत्राया । एतत्र
इवदिना मनुष्या अपि वन्तः पशुदिमिराहारं वर्तयन्ति स्म, अस्मिन् वृक्षात्तन्वो
निर्विहादिषु च वदतेनाभ्यन्ति स्म । पूर्वनेनऽनन्त्या, एतच्छ्रुत्वा वृक्ष-
धारका । विद्यायां मन्त्रवाया वा नदीऽपानि । अयं ऋनेनेनन्त्या वादे-
हन्तम् । इतिन्दति, इष्टिमाननादिनिर्वा, वक्रादितिरचन, शक्यादिधारा
च ऋणैव दुद्वौ मनुष्याणामुत्सृजन् । सर्वान्ति विद्या ऋणैव त्रिकासनन्त्या,
सन्ते, एतत्रे च । तेनाथावधि अनादिष्ट्वा अपि बहुधा इना काले प्रादुर्भा-
वेपुरे । अन्तर्गतमनुशोचिता अपि बहुधा शक्य ऋणैः प्रादुर्भा-
अनन्त्यानिवास्तु काश्चन शक्यो विनासनसुताऽन्ति, तेन संभान्ते कस्मिन्दि
निर्वेऽनन्त्यादि । एऽयं त्रिद्वान्त कस्मिन्दिदृष्टे प्रकारमेवेन पुराणेषु

१. कश्चित् मन्त्र-ऋण-पशु-इति-वामन-पशु-सन्-सन्-सु-
कश्चित् देवावधारणेनापि पूर्वं वाच्यं श्रीशं, एते वृक्ष-स्थलीभवनरा,
तोऽनन्तर, एतोऽनन्त्या, एतो एवम् पुरुषा, एतो देव-व्यादिन,
एतत्र राणादिप्रवर्तकत्वात् वन्त्या, एतत्र राणादी इने इते च सर्वे
मानुष्यस्य पूर्वजानुत्वा, एतोऽन्तर विरहा, एतत्र सनावेद्वाराका पुरुषा
एतदन्त इत्येव विकासवाद स्तोपन्ति न तु एतदीव मनोरमन्ति विद्वन्निना
सुपेऽनन्त्यापम् ।

स्फुट निवद्ध । तथा हि—मार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणे (४५-४६ अध्याययो) नव-
विधमूनसर्गादिविवरणानन्तर मानुषसर्गविस्तरे प्रकृते ब्रह्मणो ब्राह्मणादीना बहु
विधाना मनुष्याणामुत्पत्तिमिधाय तदनन्तर स्त्रीष्वार्तवप्रवृत्त्या स्त्रीपुंससयोगादा
सुपोऽन्ते सन्तानप्रवृत्तिरित्युपरगर्ण्य तरिन् काले प्रजाना का स्थितिरित्युपरिबद्धु-
मारब्धम् । (विस्तरप्रिया सर्वांश्च श्लोकाननुरन्यस्य तदाशय एवानूचते ।

वृत्तयुगे तासा प्रजाना ध्यानेनैव शब्दाद्या इन्द्रियविषया उपनमन्ति
एव । ते जना हरिश्चर समुद्रपर्वतानुपमेवन्ते एव, शीतोष्णमयमल्लरममूत् ।
इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, प्रियाप्रियादिद्वन्द्वरहिता अमल्लरास्ते स्वामानिही वृत्तिम
धिच्छन्ति एव । अनिकेता-पृहादिरहिता पर्वतसमुद्रादिषु तत्र तत्र विचेर ।
पिशाचोरगरक्ष-शुपतिस्त्रीसुपनकमत्स्याचालास्कराद्याश्च तेभ्यो भय न प्रायच्छन् ।
श्रुतुञ्ज्यानि मूलफलपुष्पाणि तदा न बभूवु । सर्वदेव नालुणशीत सुख
कालोऽभूत् । कालपरिवर्तेन नित्यवृत्ताना तेषा पूर्वीहे मेषाङ्गे च विवृत्तता आ
विर्भवति एव, परमिच्छामेनानायासेन वृत्तिबद्धम् ।

‘इच्छता च तथायासो मनस समजायत ।

अथा सौक्ष्म्ये ततस्तासा सिद्धिर्नाम्ना रसोऽज्ञसा ॥ २० ॥

‘समजायत चैवान्या सर्वकामप्रदायिनी ।

असक्तार्थे शरीरैश्च प्रजास्ता स्थिरयौवना ॥ २१ ॥

१. ‘वृष्टी रसवती नाम आहार व्याहरन्ति च’

इति तु ब्रह्मण्डपुराणे । (७ अ ४२ श्लो)

‘तुल्यमायु सुख रूपम्’ ‘धर्माधर्मा तदा न स्त’

समूलफलपुष्पाणि वर्णनाय तत्रोपन’

‘उत्तिष्ठन्ति प्रथिव्या वै तेषा ध्याने रसातलात् ।

नल्लक्ष्मिणी तेषा चरारोगप्रणाधिनी’

‘असक्तार्थे शरीरैश्च प्रजास्ता स्थिरयौवना’

इत्याद्यनि तत्र ।

२. ब्रह्मण्डे—‘कल्याणो मानसी ह्येसा सिद्धिर्भवति सा कृते’

‘तस्वा सिद्धी प्रमथायामन्या सिद्धिरजायत ।

अथा सौक्ष्म्ये प्रतिगते तदा मेधात्मना तु वै ।

मेन्म्य स्तनदितुम्य प्रवृत्त वृष्टिर्जनम् ।

सर्वदेव तदा वृष्ट्या सविदे पृथिवीतले ।

प्रजा आसस्ततस्तासां बृजाश्च गृहसहिता’ इत्यादि ।

तासा विना तु सकल्प जायन्ते मिथुना प्रजा ।
 सम जन्म च रूप च प्रियन्ते चैव ता समम् ॥ २२ ॥
 अनिच्छाद्वेषसयुक्ता वर्तन्ते तु परस्परम् ।
 तुल्यरूपायुष सर्वा अधमोत्तमता विना ॥ २३ ॥
 क्वचित्क्वचित्पुन सामूत् क्षितिर्माग्येन सर्वश ।

अथ क्रमेण कालपर्यायात्तासा सिद्धीना नाशे आकाशात्प्रच्युता रसा
 (पयस) कल्पवृक्षा मूत्वा तद्गृहस्थिता अभूवन् । त्रेतायुगमुखे च तेभ्य एव
 वृक्षेभ्यस्तासा प्रजाना सर्वविधा प्रत्युपयोगा (आहार-परिधान-शीतोष्णनिवा
 रणाद्या) समाजायन्त । ते वृक्षा एव तञ्जीवनान्यभूवन् । सर्वेषा साधारण्येन
 भोग्यास्त वृक्षा आसन् । कालपर्ययेण तु तेषा जनाना मनसि राग उद्भवभूव ।
 स्त्रीषु च मासि मास्यात्तैव भूयो भूयश्च गर्भोत्पत्ति प्रवृत्ता, तदैव ते वृक्षा विल्य
 गता ।

अयापरे चतु शाला वृक्षा पृथिया प्रादुरभूवन्—

वन्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ३० ॥
 तेष्वेव जायते तेषा गन्धवर्णरसान्वितम् ।
 अमाक्षिक महावीर्यं पुत्रके पुत्रके मधु ॥ ३१ ॥
 तेन ता वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै ।

एव साधारण्येन वृक्षैर्नर्तयतां तेषा मनसि रागो लोभात्मना परिणत, ततश्च
 ममेद ममेदमिति वृक्षान् परिगृहीतवन्त स्वत्वमभिमन्यन्ते स्म । तेनापचारेण
 तेऽपि वृक्षा ऋष्टप्राया । ततश्च शीतोष्णक्षुत्पिपासादीनि द्वन्द्वानि प्रजा पीड
 यामासु । ततो द्वन्द्वोपयाताय पुराणि तै क्रियन्ते स्म ।

मरुधन्वसु दुर्गेषु पर्वतेषु दरीषु च ।
 सश्रयन्ति च दुर्गाणि चार्धं पार्वतमौदकम् ॥
 वृत्रिम च तथा दुर्गं मिखा मिखात्मनोऽङ्गुलै ।
 मानार्थानि प्रमाणानि तास्तु पूर्वं प्रचक्रिरे ॥ ३६ ॥

अथ वितस्ति-इस्तानीनि भूम्यादिमानानि सर्वाण्याख्यातानि, पुराणा
 च पुर-लेख-द्रोणीमुखशालानगरखर्व-कग्रामघोषादिभेदास्तत्प्रमाणानि लक्षणानि
 च विस्तरेणाभिहितानि । एव ता प्रजा पुरग्रामादि वृत्त्वा अथ शीतोष्णा
 दिशान्तये गृहाणि निर्मसु । पूर्वं हि ता वृक्षाश्रया आसन्, तत्र

वृक्षशाखापर्वतदरीणां यादृशा आकारा हृदयगमा बभूवुस्तसादृश्येनैव एहाणि
विरचयितुमारम्भानि । जायन्ते क्लिष्टाद्यापि बहुत्र वृक्षाणां एहकारा प्राकृता
सनिवशा, पर्वतदरीषु तु स्फुग्मेव भवति बहुत्र प्रासादादिसाम्यम् ।

वृक्षस्यैव गता शालास्तथैव चापरा गता ।
नताश्चैवोन्नताश्चैव तद्वङ्गला प्रचकिरे ॥ ५३ ॥
या शाला कल्पवृक्षाणां पूर्वमासन् द्विजोत्तम ।
ता एव शारदा गेहाना शालात्व तेन तामु तत् ॥ ५४ ॥

(शालासादृश्याद् एहभागो अपि शालेत्याख्याता इति भा०) । एव
द्वन्द्वोष्पात (शीतोष्णादिनिवारण) कृत्वा ततस्ते जना वृक्षमधूना नष्टत्वाद्
वातोपाय (जोरननिर्वाहयन) चितयामासु । तेषु क्षुत्तडाद्यर्दितेषु विषाद
न्याबुलेषु (त्रेतायुगमुखे) वृष्टिरुदभूत् । वृष्टेरुदकानि च यानि निम्नगतानि
तान्यवरोधात् स्रोत क्वातादिरूपाणि परिणतानि, नद्यश्च प्रवृत्ता, ततो भूमेरश
च सयोगादपालकृष्टा ग्राम्यारण्याश्चतुर्दशीषधय प्रादुर्भूता ।

ऋतुपुष्पशब्दैश्चैव वृक्षा गुल्माश्च जशिरे ।
प्रादुर्भावस्तु त्रेतायामाद्योऽयमौषधस्य तु ॥ ६० ॥
तेनौषधेन वर्तते प्रजास्रतायुग मुने ।

अथ राग्लोभामिभूतैर्नैर्नन्दान्नेष्वपर्वतादीनां वृक्षुल्लस्यदीनां च ममस्त्रेन
पारप्रह आरब्ध, तैनापचारेण भूमिस्ता यौषधान्यष्यमसत् । नष्टास्त्रोषधीषु
विभ्रान्ता क्षुधाकुला प्रजा ब्रह्माण शरण प्रापु । स च तासां पीडानिवारणाय
मुनेः सत्स कृत्वा बसुधा दुदोह, तदा सस्या युत्पन्नानि ।

जशिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ता पुन ॥ ६६ ॥
औषध्य पत्रपर्का ता गणा सप्तदश स्मृता ।
मीहयथ यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिला ॥ ६७ ॥
प्रियङ्गव कोविदारो कोरदूया सतीनका ।
माषा मुद्गा मसुराश्च निष्पावा सकुलस्यका ॥ ६८ ॥
आटस्यधणकाश्चैव शणा सप्तदश स्मृता ।

अग्रे आरण्या यज्ञियाश्चौषधस्य आर्याता, यदा ता पुनर्न प्रारोह त
तदा नद्या कर्मजां हस्तशिदिमाविरभावयत् । तत प्रभृति कृतपन्था औषधयो
जशिरे । एव वातांशो सिद्धायां नातुर्वर्ण्यमर्षादा स्यापित्ताऽभूत् । धर्मादुपार्तिनां
सत्तद्वर्णानामाभेदाणां च ऐन्द्रमास्तप्राजापत्यादीनि स्थानानि ब्रह्मण्य नियमितानि ।

स्ततो दण्डनिर्माणं राजप्रजाव्यवस्था च प्रावर्तत । सरीसृपादिभ्यो भयं चापि प्रयासु प्रवृत्तम् । इत्येवमेवा युगाख्यापिका मर्कण्डेयेनाभिहिता । वायुश्लोके ब्रह्माण्डपुराण द्वितीयेऽनुपङ्गपादे सप्तमाध्याये चाप्येतद्व्यायेनैवमेवोक्तम् । वायुपुराणे चादितोऽष्टमऽध्यायं तापमेव सर्वमभिहितम् । अग्रे वायुवीथेऽष्टत्रिंशोऽध्यायेऽपि विस्तरेण युगाख्यानमित्येव प्राप्यते । त्रेतायां षष्ठीविद्यालाम यज्ञादिकर्मप्रवृत्तिश्च बहुधा तत्र तत्राभिहिता । अथस्य विस्तृतमभिप्रायं तत्र स्वाभिप्रायमाधुनिका-द्विकासवादादत्र विशेषं च समयान्तरे पाठ्यम् उरह्मि रेभ्याम् ।



१. वर्गधर्मैश्च बीदन्त्यो व्यदद्ध्यन्त परस्परम् ।

ब्रह्मा हृद्स्वा तु तत्सर्वं याथातथ्येन स प्रभु ।

क्षत्रियाणां बलं दण्डं सुद्धमाजीव्यमादिशत्, इत्यादि ब्रह्माण्डे वाच्यौ च ।

४ च० स०

कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

कूर्मपुराणस्य पूर्वार्धस्वयारम्भे रोमहर्षणसूतस्य नेमिपक्षेत्रे शौनकादीना समीपे गमन, शौनकादीनां च पुराणकथाविषयक प्रश्न, तत सूतस्य कूर्मरूपधर हरिं प्रणम्य अध्यादशानां पुराणानां नामधेयकथनम् । एषु नामसु भागवतानन्तर पूर्वं मविष्यमेवोक्त, तदनन्तर नारदादीना क्रमस्तु सुव्यवस्थित एव, चतुर्थे च स्थाने शैव पुराणमेव गणितमिष्येव विशेष । अत्र च पुराणानामनन्तरम् अध्यादशाना मुरपुराणानामपि नामधेयानि सन्तीति विशेष । तदनु कथाप्रसङ्गारम्भे पूर्वं समुद्र मन्थनप्रसङ्ग, मन्दराख्यस्य पर्वतस्य स्वरीठे धारणार्थं भगवता विष्णुना कूर्मरूप धृत स च सर्वदेवैश्चापिभिश्च स्तुत इति वर्णनम् । ततश्च यदा समुद्राद् भगवती श्रीराविभूता, भगवता विष्णुना च सा सृष्टा, तदा सर्वदेवैश्चापिभिश्च 'भगवन् केय देवी !' इति पृष्ठ कूर्मरूपधरो भगवान् विष्णुरिदमाह—'इय मे परमा शक्तिर्मायाकृमा मद्रूपैव, अनयैव जगद् धार्यते । इयञ्च जगन्मोहयति । अनयैवाह जगत् उत्पत्तिं प्रलय च करोमि । इयञ्च सर्वजगत्सूति त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमत्त प्रागेव सजाता । देववितृमनुष्याद्या एता न विदन्ति' इति ।

अस्वायमवाशय, यद् शक्ति शक्तिमात्र अभिन्नाधेव भवत । यथाऽग्नेर्दीह क्षत्रशक्तिर्नाग्नेर्मित्रा भवति तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम् । वेदान्तिनश्चैतां मायाशक्ति भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्या वदन्ति । अनिर्वाच्येन च पदार्थेन न द्वैत भवति, इत्यद्वैत मव ते मन्यन्ते । अतएव अभिन्नत्वमेवानुसंधाय मत्त पूर्वमित्य जादति भगवतो चम् । शक्तिशक्तिमतो पौर्वापर्य नास्तीत्येवाभाभिप्राय । अथवा भागमशास्त्रे शाक्ता पूर्वं शक्तिमेव वदन्ति । सा शक्तिरेव एनाश्रय स्वकर्त्तार कल्पयति ।

अनन्तरञ्च विस्तर पृष्टेन भगवता कूर्मेण इन्द्रद्युम्नकथा वर्णिता । इन्द्रद्युम्नो हि भगन्तमाराधयाम्बुक्षेत्रे । तस्य सम्मुखे श्री प्रादुर्बभूव तेन पृष्टा च स्वतस्त्व बोधयामास । पुनश्च केनोपायेन भगवान् शातु शक्य इति पृष्टा, भगवन्तमेवा राधयेत्युक्तवती । तेनाराधितश्च भगवानपि दर्शन ददौ, कल्याणोपायान् पृष्टश्च वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण भगवान् नहेश्वर समाराध्य, तेन कल्याण प्राप्यते इराद्युक्तवान् । तथातुर्वक्षेद्रद्युम्न कल्याण प्रात ।

अनन्तर ऋषिदेवादिभि पृष्टेन भगवता कूर्मेण पूर्वमाधमाचारा विवृता । इद्वै च भगवता कूर्मेण सृष्टि विरगता प्रसादाद् ब्रह्मण उत्पत्ति कथिता, ब्रह्मण च भिद्य इद्वा 'अनया जा मोहव' तत एव मया सृष्टि कर्तुं शक्येत इति प्रार्थितो देवी श्रिय जगन्मोहयेति कथयामास । ये तु नारायणस्य महेश्वरस्य च

भक्तिरासाया वर्गाभमाचाररताश्च तावन्नोद्दयेत्याद्यप्युक्तम् । अनन्तरञ्च वर्षधर्मा भगवता कूर्मोऽपदिष्टा । तदनु सृष्टिर्विषय ब्रूहीति पृष्टेन सृष्टिरुक्ता तत्र चतुर्व्यूहो महेश्वरः सर्वनिपन्ना सर्वतोमुखः सनातनोऽस्तेन तद्विरतञ्च त्रिगुणमव्यक्तं सृष्टिं करोतीत्यादिविवरणम् । तत्र च प्रथमं ब्रह्मा समवर्तते तस्य ब्रह्मगो दिनमेव सृष्टिः, रात्रिश्च प्रलयः । अयं नैमित्तिकः प्रलयः ।

अत्रायमाशयः, ये प्राणिनो यावत्सूर्यं पश्यन्ति तावत्तेषां दिनं, यावन्न सूर्यो दैनं दृश्यते तावत्तेषां तेषां रात्रिरिति सम्प्रदायः । अस्मात्तु मनुष्येषु तु सृष्ट्येवैतन्न विवरणोपेक्षम् । पितरश्च विभूषणभागे स्थिताः कृष्णाष्टमीमारभ्य शुक्लाष्टमीपर्यन्तं सूर्यं पश्यन्ति । अमावास्यायां सूर्यश्चन्द्रश्च सहैवोदयमस्तव्यव प्रयात इति चन्द्रस्यापरभागगतानां शिरस्येव सूर्यं इति अमावास्या तेषां मध्याह्न-
कालो भवति । अस्मदभिमुखस्तु चन्द्रभागस्तस्मिन् दिने न प्रकाशते इत्यस्मा-
द्विश्चन्द्रोऽमायां न दृश्यते । मवतु नाम एवं रीत्या पञ्चदशदिनानि पितृणां सूर्यदर्शनं शुक्लाष्टमीमारभ्य कृष्णाष्टमीपर्यन्तान्तु तेषां सूर्यस्यादर्शनमिति रात्रिः । पूर्णिमाया यदास्मदभिमुखो भागश्चन्द्रस्य पूर्णः प्रकाशते तदोष्णभागस्थितानां न प्रकाशलेशसम्बन्ध इति पूर्णिमा तेषां मध्यरात्रकालः । एवं रीत्याऽस्माकं मासेन पितृणामेकमहोरात्रं भवति । अनयैव रीत्या ये देवाः तुनेकवर्तते प्रुष्टस्याधस्ताद्वि-
वर्तन्त तैश्चत्तगोलस्थितः सूर्यो निरीक्ष्यते, दक्षिणगोलस्थितु न निरीक्ष्यते । स्वल्प-
स्वस्तिकःभवत्परापरिमितमेव दृग्मण्डलं सर्वैर्दृश्यते इति प्रुक्ताच्च नवत्पद्या विषुवद्-
वृत्तपर्यन्तमेव पूर्णा मन्तीति । सूर्यो हि भगवान् मातृषट्कं विषुवतो दक्षिणे,
मातृषट्कञ्च विषुवत उत्तरे परिभ्राम्यति । तत्रश्च मातृषट्कपर्यन्तं सूर्यस्यानवर्तं
दर्शनान्मातृषट्कनिन्देवानां दिनम् । मातृषट्कमिता च सूर्यस्यादर्शनाद्वाजि-
रित्यस्माकं संवत्सर एव देवानामहोरात्रम् । अनयैव रीत्या ब्रह्मगा यावत्सूर्यो
दृश्यते तावत्तस्य दिनम्, अदर्शने च रात्रिरिति फलति । ब्रह्मश्च कावस्थितिरिति
विचारे भू, भुवः, स्वः, महः, वनः, तपः, सत्यम् इति प्रसह जप्यमानव्याहृत्यर्थ-
भूताः ये सप्त लोका अधरुष्णभावेन सन्ति सन्निविष्टाः, तेषां सर्वेषामुपरि योऽयं
सत्यलोकः स्वयम्भूत्कारपरपर्यायःभुतः स एव ब्रह्माः स्थानमिति पुराणप्रसिद्धिः ।
स च सर्वेषामुपरि ध्यात इति तच्छुद्धावेव सर्वे लोकाः स्थिताः । तृतीये लोके
स्वस्तिव्याख्ये च स्थितः सूर्यो न कदापि कुत्राप्यवस्थितो ब्रह्मगोऽदृश्यो भवति ।
स सत्तु तदैव ब्रह्मगोऽदृश्यः स्याद्यदा स्वयं विशीर्षो भूत्वा प्रप्य यायात् ।
तदियमेकस्य सूर्यस्य यावदवस्थितिः तावद् ब्रह्मगो दिनम्, यावत्तु ब्रह्मा स्वरिति
अपनः सूर्यो नोत्थायते तावती ब्रह्मगो रात्रिः । इयमेव ब्रह्मगो रात्रिनैमित्तिकप्रलय
इत्युच्यते । अस्मिन् प्रत्ये भू, भुवः, स्वरिति स्थानानां त्रयाणां लोकानां सूर्य-
सम्बद्धानां विनाशो भवति । मइरित्याद्या ऊर्ध्वलोकास्तु तथैवावतिष्ठन्ते । अस्त्येव

ब्रह्मणो दिनस्य कल्पशब्देनाभिधानम्, तत्र चतुर्दशानां मनूनां गणना च पुराणेषु कृता । अस्माकं सहस्रयुगपर्यन्तमतद्दिनम्, तावत्स्यैव च रात्रिरित्यहोरात्राणां गणनया मासवर्षादिक्रमणं यदा शतवर्षात्मकं ब्रह्मणः आयुः पूर्णं भवति तदा एको ब्रह्मापि त्यं यातीति तदाख्ये प्राकृतप्रलय उच्यते । तदा च सर्वे लोकाद्याः प्रकृतौ प्रलीयन्ति । पुनश्च महारात्र्यन्ते तेषां सृष्टिर्जायते इति वौराणिकी परिभाषा । सैवात्र निरुक्ता । प्राकृतप्रल्यान्ते च महेश्वरस्यापि रात्रिरित्युच्यते । यद्यपि सदैवैकरसस्याविकृतस्य महेश्वरस्य न दिनं न वा रात्रिरिति वक्तुं शक्यं तथापि लोकदृष्ट्या तत्राप्येव व्यवहारः क्रियते ।

अथ प्राप्तपरिपाकानां प्राणिकर्मणामुद्बोधवशेन महेश्वरस्य सिद्ध्या ज्ञायते । तदा स भगवान् योगिनं प्रकृतिं पुरुषं च प्रविश्य क्षोभयति । अप्रं च दृष्टान्तोऽस्मिन् पुराणेऽभिहितः —

यथा मदो नरस्त्रीणां यथा वा माधवोऽनिलः ।

अनुप्रविष्टः क्षोभाय तयाऽसौ योगमूर्तिमान् ॥ (१४।१४)

यद्यपि प्रकृतिपुरुषावपि भगवतो न द्विजौ पुराणेषु अद्वैतवाक्यस्यैवाम्बुपगमात्, तथापि “स एव क्षोभको विप्रा क्षोभ्यश्च परमेश्वरः । स सकोचविकासाम्नां प्रधानरूपे व्यवस्थितः ” ॥ ततश्च क्षोभ्यमानात् प्रधानात् प्रधानपुरुषात्मकं महत्प्रादुरभूत् । तदेव चमदुषीचम्, तदेव च महान् आत्मा, मतिः, ब्रह्मा, प्रबुद्धिः, ख्यातिः, ईश्वर इत्यादिभिः शब्दैरुच्यते । तस्माच्च महत् निविधोऽहकारः प्रादुरभूत् । वैकारिकः, तैजसः, भूतादिष्वेति तस्य तिस्रो विधाः । अयञ्चाहकारः अभिमानकर्ता, मन्ता, आत्मा जी-श्वेत्यादि पदैराख्यायते । अथ सर्वप्रधानां द्वैकारिकादहकारात् वैकारिका दश देवा इन्द्रियाधिष्ठातारं मनश्चैकादश प्रादुरभूत्, तैजसान् च इन्द्रियाणि । भूतादेस्त-हकारात् तम प्रधानात् पूर्वं शब्दतन्मात्रं, शब्दतन्मात्रा-चाकाशः, आकाशादिकुर्वाणात् स्पर्शतन्मात्रम् । ततश्च स्पर्शगुणको वायुः, वायो रूपतन्मात्रम् ततस्तद्गुणकं तेजः, तेजसो रसतन्मात्रम् । ततश्च रसाधाराणि अम्भासि, ततः गन्धतन्मात्रं, ततो सघातरूपा गन्धगुणा पृथिवी । अथ पूर्वस्य पूर्वस्य महाभूतस्य उत्तरोत्तरमिन् अनुप्रवशात् आकाश एकगुणः, वायुर्द्विगुणः, तेजस्त्रिगुणम्, अल चतुर्गुणम्, पृथिवी च पञ्चगुणा ज्ञायते । एतानि सर्वाण्यपि भूतानि त्रिगुणात्मकानि परस्परानुप्रवेशात् परस्परधारकाणि च । एतानि च महदादीनि सप्त पृथग्भूतानि यदा किमपि कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा सप्तापि समूय अण्डमुत्पादयन्ति । अण्डमुत्पद्यन्तु तदण्डमुदकेशयमेवा भवत् । अस्मिन् प्रवृत्ते अण्डं क्षेत्रज्ञो नाम हिरण्यगर्भं प्रादुर्भवति । स एव प्रथमस्वामी पुरुषश्चाख्यायते । अयमेव सर्वेषां भूतानामादिकर्ता । य एव प्रधानादपि परं पुंस्य आख्यातं स एव हिरण्यगर्भरूपेण प्रादुर्भवति ।

मेरुहृत्त्वममूत्तस्य जरायुश्चापि पर्वता ।

गर्भोदक समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मन ॥ (१।४।४०)

अस्मिन्नेवाण्डे सूर्यचन्द्रादिकसनक्षत्र सदेवासुरमानुष जगत् स्थितम् । अत्र च पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि दशदशगुणैरुत्तरोत्तरैर्भूतैरावृतानि । सर्वाणि च भूतानि अहकारण तदपि च महता तदपि चाध्यक्तेनावृतानि । अत्र च एत दमिमानिनो योगाः पुरुषास्तिष्ठन्ति । इदं ब्रह्माण्ड प्रजापतेद्वितीया मूर्तिरिति वैदिकी क्षुतिराह हिरण्यगर्भश्च तृतीय भगवद्रूपम् । अथ तस्मादेव हिरण्य गर्भात् चतुर्भुवो ब्रह्मा प्रादुरभूत् । स एव रज आश्रित्य सृजति । सत्त्वमा श्रित्य पालयति, तम आश्रित्य च रुद्रस्वरूपेण सर्पं सहरति । यादृच्छया च नानारूपाणि करोति । एतानि रूपाणि तस्य गुणविशिष्टानि, वस्तुतः स एक एव । अयमेव च नानाकायकरणत् बहुशक्त्याश्च आदिदेव, प्रजापति, महादेव, ब्रह्मा, श्राध, नारायण हरिरित्यादिनामभिरुच्यते । एतावत्पर्यन्तं भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिः ।

इदमनाकृतम्—रसो बन्वञ्चेति सर्वस्यापि जगतो द्वे मूलतत्त्वे । तत्र रसो निर्विकार सदैकरूपो मुख्यो विभुश्च न तद्विनाकृतं किञ्चिदपि स्थानमस्ति । बलत्तु क्षणावस्थायि धूलपाल्पमात्रञ्च परं सख्यया तदनन्तम् । ततः सर्वत्रैव रस तदन्वभिन्व्याप्नोति । तद्धि प्रवाहरूपेण नित्यम्, स्वरूपेण तु क्षणावस्थायि । यथा गङ्गातटे स्थित पुरुष प्रतिक्षणमव जल स्वचक्षुषोऽग्रे पश्यति परं यज्जल पूर्वस्मिन् क्षणे दृष्टं तदुत्तरक्षणे नास्ति । नव नव जल प्रतिक्षणं गच्छत्यागच्छति च । इयमेव प्रमाह्नित्यता उच्यते । तद्वरीत्यैव बलमपि रसाश्रितं बोद्धव्यम् । अस्य च जलस्य न स्वतन्त्रा सत्ता किन्तु रसाश्रितं तत्सत्तयैव सत्तावत्प्रतीयते । इदञ्च रसापेक्षया भिन्नमभिन्नं वति न निर्वक्तुं शक्यते । तस्मादनिर्वचनीयम् । अनिर्वचनीयत्वादेव च न द्वैतं भवति मिलितं तद्द्वयमेकमेवाख्यायते । अतो जगतो मूलमेकमेवोच्यते । इदञ्च बलं यावत्सुप्तं तावद्ब्रह्मादभिन्नरूपमेव, जागारतेन तु तेन अपरिच्छिन्नोऽपि रस इत्यस्य परिच्छिन्नत्वात् परिच्छिन्न इव दर्शयते । यथा हि तरङ्गा समुद्रजल स्वपरिच्छिन्नमव दर्शयति तद्वत् । एव—परिच्छेदेन दर्शयमानो रस पुरुषरूपो भवति । स एव रसप्राधान्ये पुरुष, यत्प्राधान्ये तु प्रकृतिरित्याख्यायते । तत एवात्र प्रकृतिरपि महेश्वरात् भिन्नेत्युक्तम् । अत्र पुरुषरूपत्वे तस्य त्रयो भेदाः क्रमणं प्रादुर्भवन्ति—अव्यय, अक्षर, क्षरश्चेति । यदा बलं सीमानं करोति परं तत्र चित्प्रतिनिर्वा न जायते सोऽव्ययपुरुष इत्युच्यते । यदा तु यथा दृग्निर्माणे इष्टकोपरि क्रमेणान्या इष्टका श्रीयते तथा बलोपरि बलान्तराणि यदा चीयन्ते तदा तथा चित्या अक्षरपुरुष प्रादुर्भवति । यद्यपि बलं क्षणिकमिति चितिस्तत्र न सम्भवति तथापि रसाश्रित

तद्यथाहम्भं भवतीति तरङ्गोत्तरं तरङ्गाणामिदं एव चित्तिस्वभावति । एवं प्रवृत्तया चित्ता यदा बलानां परस्परं मन्थितं भवेत् तदा ध्रुवप्रादुर्भासः । यथा च रश्मिधान्ये अन्धस्य, अक्षुत्, धर इति शब्दो भेदा भवन्ति तथैव व्याख्यान्ये महानहश्चायः तन्नाशाश्चेति भवन्ति भेदाः । एषाञ्च परस्परं मन्थनान् सृष्टीति सर्गः प्रशस्यते । अत्रोक्तस्यात्रयपुरुषस्य परिच्छिन्नत्वात् इति परिच्छेदे कथमप्रादुर्भासः भवन्ति पञ्चकथाः—आनन्द, विद्यान्म, मनः, प्राणः, वायिति । तत्र मनः प्राणो वायिति सृष्टिप्रारम्भः । आनन्दो विज्ञानं मन इति तु सृष्टिवायिः । अत्र प्राणमाधारं हृत्वाधरस्य प्रादुर्भासः कान्माधारीहृत् त्रु हस्त्येति अन्धस्यः सञ्चिन्नागन्धनम् । अत्रपुरुषस्यापि इति पञ्चकथाः—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमश्चेति । प्राणमाधारीहृत्वाधरस्य प्रादुर्भासं हस्त्येति प्राङ् । प्राणे च प्रद्विष्टं स्यात्प्रती प्रसृते । सर्वे हि पदार्थाः प्रद्विष्टं परेभ्यः किञ्चन ददति परेभ्यश्च विश्विदाददते । यथा दीपः स्वप्रकाशं सर्वत्र प्रवेष्टानति तैश्चोभादत्ते तथैव सर्वत्र बोद्धयम् । तत्र यथा शक्या व्याग्न-ज्जापते सा विष्णुर्नित्युच्यते । यथा तु निर्गमनं सा इन्द्र इत्युच्यते । अन्धस्य प्रवर्तमानोऽपि स्यात्प्राणोः तदेवेदं वस्तु इति प्रयत्नित्वापते तदिदं प्रद्विष्टाप्राणरूपेण ब्रह्मणा त्रियते त एते त्रयो ह्याः । अग्नीशीमो तु पृष्ट्याविति ताम्यानिव बगदुत्पद्यते । अथ ध्रुवप्राणानि इति पञ्च कथाः, प्राणः, ध्यानः, वाक्, अन्नादः अन्न-मिति । एतन्नेव रश्मिधानानां महदादीनामपि भेदा वायन्ते इतीयं संज्ञिता वैदिकी सृष्टिप्रक्रिया । तानेवाधारीहृत् पुराणान्यपि प्रवर्तन्ते । अन महेश्वरो य व्याख्यातः स परात्परः पुरुषः । तत्र एव प्रवृत्तिपुरुषप्रादुर्भासं उक्तः । अक्षरपुरुषस्य च भेदाः ब्रह्मा, विष्णुमहेश्वर इत्याद्याः स्थाने स्थाने निम्न्यन्ते तत्तदेव व्याख्यातानम् । अत्र इन्द्रः, अग्निः, सोमः, इति शीनेधीवृत्त पौराणिक-भाषाया महेश्वर इत्युच्यते इति स्मर्यम् । स एव महादेवोऽत्र प्रक्रियाया व्याख्यातः, पुराणानि च सांख्यसनाददा प्रवृत्त्यादिप्रक्रियानेव प्रायोगाधारीहृत्संज्ञीति सैव प्रक्रिया अथोक्ता । केचित् प्रविद-साध्यदर्शनादयमेव भेदा यदत्र प्रवृत्तिस्वातन्त्र्यं न भवति । महेश्वरादेव प्रवृत्ति-रचना तेनैव च ह्योम्यमाणं चरत्सृष्टीति । तिस्रो मूर्त्यश्च भगवतो या व्याख्याताः तत्रायं नावः, यथा तावदमन्त्राण्येव ब्रह्मोभावनं विधीयते विश्वरूपेण, विश्वरूपेण विश्वादीवरूपेण च । ता एव तिस्रो मूर्त्योऽप्याख्याताः । एतद्विषं मन्त्रमेव, विश्वरूपश्च हिरण्यगर्भः, स एव विश्वं ब्रह्मण्य तत्ररेवाय्यति । भगवान् महेश्वरश्च विश्वालोत इति । यथायमर्थं ब्रह्मप्रादुर्भासं उक्तः स ध्रुव पुरुष एव स्यात्तदेवेतन्सृष्टीत्ये व्याख्यातव्यं तदस्यप्रासङ्ग्येणम् ।

अथात्र सृष्ट्यादौ काण्डकथना उक्ता सा पूर्वसंज्ञानानित्याख्याता । तत्र तत्रं लिङ्गः परार्थनिर्दिष्टं सर्वतः परा परमा संस्था संस्कृताभाषाया गायते । परार्थद्वितयश्च

ब्रह्मण आयुर्मवत । अस्मद्वर्षपञ्चया ब्रह्मण आयुषो गणनाया द्विपरार्धपरिमितान्येन दिना-यायान्तीति गगिनःक्रमेणानसंशेषम् । अथान् ऊर्ध्वं महीप्रादुर्भवत् कथमिति वर्णयते । तदेतन् वराहप्रादुर्भानप्रकरणम् । वराहोऽय यशरूपेण वायुरूपेण च तत्र तत्र व्याख्यातम् । यदा हि जले आप, फेनं, मृत्ना, सिकता, शर्करा, अम्बा, अया, दिग्गमिति क्रमणाष्टविधा जायन्ते तदा तासां विधानां सद्यश्च पिण्डीकरणार्थं सर्वतोमुखो ब्रह्मणो पातु प्रचलति । स पयः सर्वानवयवान् सहस्रं पिण्डरूपतां नयति । अयमेव वायुः कृणोति च ऊहोति चेति वराह आख्यायते इत्युक्तं ब्राह्मणेषु ।

अनन्तरं वराहद्वारा पृथिवी स्थितेति व्याख्यायते शास्त्रेषु । तेनैव सर्वतः प्रसूवरेण वायुनाऽद्यापि पृथिवीपिण्डं त्रिपल इति । अयमेव वराहो यशरूपेण भागवतादिषु व्याख्यातः । इह तु ऋषिभिव्यापकरूपेणैव सम्युतः ।

अथ सृष्टिं वितन्वतो भगवतो पूर्वमनुद्भिपूर्वकं सर्गं प्रादुरभूत् । तमो मोहः, महामोहः, तानिह अन्वतानिहस्रन्ति । इमे एव योगदशने अविद्या, आसक्तता, रागः, द्वेषः, अमिनिवश इति पञ्चकनधा आख्यायन्ते । इमानि बुद्धेस्तामसानि रूपाण्येव इति एषो सृष्टौ बुद्धेर्नोपयोग इतीयमनुद्भिपूर्विका सृष्टिकथा । एतौ पञ्चभिः केशैरेव वणिता सर्वेऽपि प्राणिनो जायन्ते, इत्येषा सर्ग आवश्यकः । तदनु चतुर्दशविधं प्राणिनां सर्गं प्रतिपादितम् । पूर्वं नगानां वृक्षलतादीनां सर्गः, मुखे वातरवादिमे मुख्या उच्यन्ते, तदनु तिर्यग् योनीनां चतुर्विधं सर्गः । सरीसृपा, पक्षिणः, मृगाः (आरभ्यका) पशवः (ग्राम्या) चेति । एतः सर्गमसाधकं भूत्वा ऊर्ध्वंक्षोतसां देवानां सात्त्विकं सर्गं प्रवर्तितम् । तेषामष्टविधस्वमयत्राख्यातम् । अनन्तरञ्च अवाक्क्षोता मनुष्यसर्गं प्रादुरभूत् । इमे मनुष्य रजोवद्गुणा प्रायेण दुःखिनो जायन्ते । इत्येव महादाया अग्रे सर्गां कथिता । मनुष्याणामग्रे भूतादीनां सर्गोऽत्र पुराणे विशेषेणोक्तः । स तम प्रधान विद्यावादीनां सर्गो विशेषः ।

अथ मनुष्येषु पूर्वं सनकादीनां कुमाराणां मानससर्गो ब्रह्मणा कृतः । इमे च पञ्चापि योगिनो वैराग्यपरमा सृष्टिं कर्तुं न प्रवृत्ताः । इमाश्च सर्गोऽप्रवृत्तान् विलोक्य ब्रह्मणः दुःखं क्रोधश्च उद्भूतः । क्रोधं निवृत्त्य तस्य ललागत्रील्लोहितो भगवान् महादेवः प्रादुरभूत् । स्वयमेव परमेश्वर इदानीं प्रादुर्भूतः । ब्रह्मा प्रणयं तं प्रजासर्गार्थमाह । तदा भगवान् महादेव आरमसदृशान् रुद्रान् ससर्ज । ये जरामृत्युविवर्जिता सदैकरूपा आसन् । तान्दृष्ट्वा ब्रह्मणा जरामृत्युयुतान् प्राग्निस्त्विति प्रार्थितो भगवन् नाह जरामृत्युयुतान् स्वश्यामीति प्रोवाच । तदा ब्रह्मणः स सर्गाभिरारितः । ततश्च ब्रह्मा स्थानामिमानि कालामिमानि नश्च नदीसमुद्राधिष्ठातॄन् कणाकाष्ठाद्यधिष्ठात्रींश्च पूर्वं ससर्ज, तदनु च स्वशिरोऽवयवेभ्यः सप्तर्षान् ससर्ज । त एते एतस्या सृष्टौ प्रवृत्ता सर्वान् ससृजुः ।

अनन्तरञ्चात्र देवादीनां सर्गं पुनर्विस्तरणोक्तः । पूर्वं अधनादसुरा सृष्टाः । असुरान् सृष्ट्वा च सा तनुस्तेन त्यक्त्वा रात्रिर्भवत् । एव रात्रिस्तमोबहुला अस्याञ्चा

सुराणां प्राधान्यञ्जायते । ततश्च ब्रह्मा सत्त्वबहुला तनुमास्थाय मुच्यते देवान्
सृजन् । दीव्यन् इमे जाता इति देवा उच्यन्ते । तत्र देवान्सृष्ट्वा सानि तनुस्तेन
त्यक्त्वा, दिनं बभूव । तत्सत्त्वबहुलं तस्यैव च देवा प्रभवन्ति । ततश्च पुनः सत्त्व
मात्रात्मिका तनुं पृथीत्वाऽस्मान् विनृक्त्वाऽस्मात् तेन तितरः सृष्टा । सानि च तनुस्तेन
त्यक्त्वा, सन्ध्याऽभवत् । तत एव सन्ध्यापि सत्त्वप्रधाना पितृगाम् च तत्र बल-
धिक्यम् ततश्च रबीमात्रात्मिका तनुं पृथीत्वा मनुष्यास्तंनं सृष्ट्वा सा च तनुस्त्यक्त्वा,
ज्योत्स्ना बभूव । तस्मान्मनुष्या ज्योत्स्नाया हृष्यन्ति । एवमत्र स्वावयवस्य
सर्वे प्राणिनः सृष्टा ।

अनायमाशय — यथारमाभिः पूर्वमुक्तं क्षरं पुण्यं तन्नात्रारूपाम् प्रकृति-
सुखादाय स्वावयवस्य सर्वान्प्राणिनः सृजतीति तथैवान् क्षरं पुण्यो ब्रह्मा तत्तद्
गुणबहुलास्तास्तास्तनून्नादाय देवादीन् सर्वान् प्रकृतिश्च पारवर्तनशाला स्वतः
एव निवर्तते इत्येव तनुपरित्यागस्वाशयः । तेषु तसु कालावयवेषु चापि तमं स्वत्वा
दिप्राधान्यं बोधयितुं तत्तत्तनुरूपत्वं कालावयवानामुक्तम् । मनुना हि भगवता
“श्रापस्य पितरो जाताः ; पितृभ्यो देवदानवा । देवभ्यश्च जगत्सर्वे” इत्या-
द्युक्तम् । ते श्रुतिवितृदेवाः प्रागस्त्या । इमे तत्रोक्ता प्रागिन्पास्तत्तज्जीवनिवासेन
इत्येव विरोधोऽयं समाधेयः ।

अथे श्रुतिप्रश्न समाधानं भगवतो ब्रह्मस्य ब्रह्मणः सत्त्वात् प्रादुर्भावो विस्तरेण
विवृतः । तदमे च सूर्यचन्द्रप्रस्थाना राता चरितेषु चन्द्रवशे भगवते ब्रह्मणस्य
प्रादुर्भावः, तत्रैतं भद्रेश्वरतत्त्वं विवृतम् ।

उत्तरार्धरामे श्रुतिमि परमं ज्ञानं पृथगे रोमहर्षणो यावत् वक्तुमुपक्रमते
तावदेव तत्रैव भगवान् व्यासः समागतः । रोमहर्षणेन दण्डन्तुः प्रणिपत्य मुनीन्
प्रत्युक्तं यदैष साक्षात् भगवान् समानात् इत एव गुणपक्षम् । स्वयञ्च व्यासः
प्रत्युक्तं “एते मुनयः परमं ब्रह्मज्ञानं श्रोतुमिच्छन्ति कृपया भवता बोधयन्ताम् ।”
तदा व्यासेनोक्तं “एकदा सन्त्कुमाराद्या अन्त्येऽग्निं च कृणादकृणियाया बहव
श्रुत्य पूये ददरिकाभमे नागयगामिदमेव ज्ञानं पृथक्ते । एषां सत्त्वादकाले
एतन्न भगवान् शिवः तत्रैवाविभूतः । क्रिञ्च भवन्तो विचारयन्तीनि तान् पृथवान् ।
तत्रैव ते प्राणित स्वयमेव ब्रह्मणश्च सर्वान् बोधयितुं प्रवृत्तः । “दमाधरगीते
तुच्यते । सैव च मया मन्त्रस्यैवाच्यते” इत्युक्त्वा नगान् व्यासः इधरगीता-
थावयामास तत्र हि भगवता यदुपादष्ट तस्यायं सारः — ज्ञानमेव परं सकारं
व्याप्तम् । तच्च विमूढा अर्थरूपा पश्यन्ति योऽस्माच्चरन्तः परोऽग्निं स सर्वान्तर-
साक्षीबिनाशरूपः । स एवान्तर्धामो पुरुषः, प्राणः, महेश्वरः कालः इत्यादि-
शब्दैरुच्यते । स एव च मायया विविधास्तन् करोति । अस्तु स पाणिपादा
दिमिदिन्द्रयैर्विहीनः कर्तृत्वमोक्तृत्वादिधर्मैश्च हीनः । यथा हि प्रकाशतमसो

परस्पर सम्बन्ध सर्वथा असम्भाव्य तथैव तस्य मायया मायिकेन जगता चैक्य सर्वथा असम्भाव्यमेव । यथा च छाया मलिना तथा जीवात्मापि स्वभावतो मलिनो विकारी च । एव मलिनस्य मुक्तिं कदापि न सम्भवति । यदा तु मुनयो विकारहीन निर्द्वन्द्वमान-दरूपमात्मान पश्यन्ति तदा मुक्ता भवन्ति । कर्तृत्वसुख दुःखाद्याभमानोऽहंकार-१०५ । स च जनैरगमन्यारोपित । योगिनस्तु प्रकृते पर शुद्धमात्मान पश्यन्ति । यद्यप्यात्मा स्वयज्योति परमहकारेण सहाविविक्त सदसदात्मक जना पश्यान्त । प्रधान पुरुष च पृथक् पृथक् बुद्ध्वा कूर्स्थ निरञ्जन मात्मानमक्षररूप योगिनः पश्यन्ति । अस्य रागद्वेषादयो दोषाश्च केवल भ्रान्ति निवन्धनाः । इत्याद्यात्नोपदेशोऽथ कृत । अग्रे च भगवद्गीतायामिदं साख्य योगविभागोऽप दाशित । भगवद्गीताया अर्थत कचिच्छब्दतोऽपि च छायाऽत्र लक्ष्यते, यथा—

“यतो गुह्यतम देह सर्वग तत्त्वदर्शिन ।

प्रविष्टा मम सायुज्य लभन्ते योगिनोऽभ्ययम् ॥

ये हि मायामतिक्रान्ता मम या विश्वरूपिणी ।

लभन्ते परम शुद्ध निर्वाण ते मया सह ॥” इत्यादि

(२।२।५३ ५४)

अग्रे च सुष्टि विवृण्वता भगवता अभ्यक्तात् काल, प्रधान, पुरुषश्चामु वक्षति कथितम्, तेभ्यश्च सर्वमिदमुत्पन्न तस्मात् ब्रह्ममयमेव सर्वं जगदिति । प्रकृतेश्च महान् ततश्चाहंकारो जायते । एक एव महानात्मा अहंकार इति, जीव इति, अन्तरात्मनि च कथ्यते । तेनैव सर्वं सुख दुःखञ्च वेद्यते । तस्य विज्ञानात्मकस्य मन उपकारक भवति । मनस एव साचिख्यात् पुरुषस्य ससार । प्रकृत्या दिसगश्च पुरुषस्य कालेन जायते, उक्त हि—

कालं सृजति मृतानि कालं सहरते प्रजा ।

सर्वे कालस्य दशना न कालं कस्यचिद्गुरो ॥

सोऽन्तरा सर्वमेवेद नियञ्छति सनातन । (२।३।१६ १७)

स एव भगवान् नारायण सर्वज्ञ पुरुषोत्तम इत्यादिशब्दैरुच्यते । सोऽहमेव ब्रह्मोऽयम् इति भगवतोपदिष्टम् ।

इत्यादि सर्वमुपदिश्य च भगवान् प्रद्वेषरो स्वमैश्वर भाव दर्शयन् ननर्त । देवां श्रुषयश्च त मह्यदेव विष्णुना सह नृत्यन्त ददशु । क्रमेण च सहस्रबाहु सहस्राक्षरस चन्द्रार्धशेखरम्, जगमण्डित चर्मवसन शूलपाणिन स्वेन तेऽसा सर्वं ब्रह्माण्डमावृत्त स्थित ददशु । दर्शकानाञ्च नामान्यप्यत्रोक्तानि, यथा—

सनत्कुमार सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च ।

रेव्योऽङ्गिरा वामदेवोऽथ शुक्रो महर्षिरत्रि कपिलो मरीचि ॥ (२।५।१८)

यथा—

मोक्षदेवो गिन शान्त तत्त्वज्ञानरत यत ।
 अमाने नैष्ठिक दान्मुपकुर्वीषक तथा ॥
 तदल्पमे एहस्थन्तु मुमुक्षु सङ्गवर्जितम् ।
 सर्वोत्तमे साधक वा एहस्थमपि मोक्षयेत् ॥ (२०१११७-१६)

किञ्च—

अपि विद्याकृतैर्बुद्ध्या हीनवृत्ता नराधमा ।
 यनैते सुञ्चत ह्यथ तद्भवदामुर द्विजा ॥ (२१२१२६)

हरयादिना वृत्तप्रश्लेषापि भूयते । अग्रे च निमग्निमाना ब्राह्मणाना निमन्त्रणस्य
 आदकृत्स्नं च धर्मा विवृता । तत्रैतद्विशेषतो द्रष्टव्यम्—

आमन्त्रितो ब्राह्मणो वै याऽन्यस्मै कुरुते क्षणम् ।
 स याति नरकं घोरं शूकरत्वं प्रयाति च ॥
 आमन्त्रयित्वा यो मोहादन्य चामन्त्रयेद् द्विज ।
 स तस्मादधिकं पापी विष्टाक्रीडोऽमिजायते ॥ (२१२१७-८)

द्वाविंशमध्यायमारभ्य च कल्पोक्तं सर्वोऽपि आद्विधिर्मन्त्रप्रतीकनिर्देशपूर्वकं
 निर्दिष्टं । तत्र चायमारम्भ—

ततो निवृत्ते मध्याह्ने लुप्तरोमन्वाद्द्विजान् ।
 अदगम्य यथामार्गं प्रयच्छेत्तद्भवन्नम् ॥
 तैलमम्यधन स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम् ।
 पानैरौटुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदेवस्य पूर्वकम् ॥ (२१२१२०-२१)

अग्रे च मोक्षणप्रसङ्ग—

मिनुको ब्रह्मचारी वा मोक्षनार्यमुपस्थित ।
 उपनिष्पन्तु व आद्वे काम तमपि मोक्षयेत् ॥
 अतिथिर्यस्य नाश्नानि न तच्छ्राद्धं प्रशंसते ।
 तस्मात्प्रयत्नाच्छ्राद्धेषु पूजा ह्यतिथयो द्विजै ॥ (२१२१३१-३२)

एव सर्वेऽपि विधिरथ विवृत । मोक्षनेषु च मातानामपि संग्रहोऽत्र कृत ।

धर्मो विशेषध्याये च अशौचविवरणम् । तत्र जननाशौचे अय विशेष उक्त—

दद्याद्दं निर्गुणे प्रोक्तमाशौचं वातिनिर्गुणे ।
 एकद्विभिर्गुणैर्युक्तं अतुल्यैकदिने शुचि ॥ (२१२१७)

जननाशौचे सपिण्डाना स्पर्शनिषेधो नास्ति मरणाशौचेऽपि चतुर्थेऽपि स्वर्गं
 शति सद्यमुक्तम् । अग्रेऽपि बालादीनामाशौचे स्मृत्युक्तमाशौचं निर्गुणानामेवेति

मूयो भूय उक्तम् । चैतान उपासनाश्च परद्वारेण पद्मादिभि कारयित्वा इत्यपि स्पष्टमुक्तम् ।

अथ किञ्चित्प्रमादेन म्रियतेऽस्मिन्नादधादिभि ।
तस्माद्यौव निधातव्यं कार्यञ्चैवोदकादिकम् ॥ इति च
(२।२३।६४)

द्विजायनपि विशेष उक्त —

जाते कुमारै तदहं कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यभान्दगोवस्तिलाश्च गुडसर्पिषा ॥
पलानि पुष्पं शाकञ्च लवणं काष्ठमव च ।
तत्र दधि घृतं तैम्भीषधं क्षीरमेव च ॥ (२।२३।६५।६६)
आद्यौचिनो षड्माहं शुष्कान्नञ्चैव नित्यम् ।
आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धन्यस्त्रिभिर्गन्धिभिः ॥ (२।२३।६७)

अग्नेऽपि मृताद्यौचेऽयं विशेष —

निग्धं प्रतिदिनं दद्यात्मानं प्रार्थयथाविधि ।
प्रेताय च षट्द्वारि चतुर्थे भोजयेद्द्विजान् ॥ (२।२३।७०)
पञ्चमे नन्मे चैव तथैवैकादशेऽहनि ।
युग्माश्च भोजयेद्विप्रात्रवप्राडन्तु तद् द्विज ॥ (२।२३।७२)

सर्वोऽपि च प्रेतकल्पोऽव सन्नेपेभ्योक्तः । अग्ने चतुर्विधेऽध्याये श्रौतस्मर्तमि
होत्रविद्भिरम् । अग्ने दानधर्माद्या एहस्यवृत्तय एव विवृणु । सतःश्रेऽध्याये च
वानप्रस्थाश्रमधर्मा । तत्र जानाविधानि तपावि वर्गितानि । अथाष्टाविधे यतिधर्मा,
तत्र सन्यासस्य बहवो भेदा उक्ता, यथा—

ज्ञानसन्त्यासिनं केचिद् वेदसन्त्यासिनं परे ।
कर्मसन्त्यासिनस्तन्मये विविधा परिक्लीर्तिता ॥
य सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसन्त्यासी स्वतन्त्रेण व्यवस्थित ॥
वेदमेवाम्यसेन्नित्यन्निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
प्रोच्यते वेदसन्त्यासी मुमुक्षुर्विभ्रितोऽद्वय ॥
यस्तदग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पणं परे द्विज ।
स ज्ञेयः कर्मसन्त्यासी महायज्ञपरायण ॥ (२।२३।५-८)

सन्यासिनाञ्च धर्मेषु उक्तम् —

नैवेद्यं वर्तयेन्नित्यन्नैकात्रादी मयेत् क्वचित् ॥
यस्तु मोहेन वाऽन्यस्नादेकात्रादी मयेद् यति ।
न तस्य निष्कृतिः काञ्चिद्धर्मशास्त्रेषु कथ्यते ॥ (२।२३।१७।१८)

इदमपि चोक्तम्—

एकवासा द्विवासा वा शिल्पी यज्ञोपवीतवान् ।

कण्ठलुधरो विद्वान् त्रिदण्डी यानि तत्परम् ॥ २।१८।३१)

अत्र च ध्येयमुक्तम्—

महान्तं पुण्यं ब्रह्म ब्रह्मणं सत्यमव्ययम् ।

सितं सितेतराकारं महेशं विश्वरूपिणम् ॥

ओङ्कारेणाय चत्मानं सस्थाप्य परमात्मनि ।

आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमध्यगम् ॥ (२।१९।१४ १५)

अत्रे च धर्मातिक्रमे यतीनां प्रायश्चित्तानुक्तानि । इत पर विश्वमध्याय
मारम्य चतुस्त्रिंशदध्यायान्तं प्रायश्चित्तानां दिवरणम् । तत्रैव च व्यासगीता
समाप्तिः । तत पर ऋषिभिः सूक्तोत्थं किन्तु पृष्टः । स च नानाविधानि
तीर्थान्याह । तत्र शैवतीर्थानामधिक्यम्, नर्मदामाहात्म्यञ्चातिविस्तृतम् । अन्य
समाप्तिपर्यन्तं (चतुश्चत्वारिंशदध्यायपर्यन्तं) तीर्थानामेव वर्णनम् ।

मध्ये च देवदारुवनवृत्तान्तं । तत्र हि भगवान् शङ्कर स्वलीलाप्रतिसुन्दर
रूपं ब्रूवा दिगन्वरं (नमः) श्रुत्वा योगमाधमेषु प्रविष्टः । विष्णुञ्च क्रीरुपधारिणं
सह निनाय । साभि स्त्री बहुसुन्दरी बन्ध्याभरणमूषिता तमनुगच्छति स्म ।
एवमुक्तं शङ्कर इष्ट्या श्रुत्वापत्य पतिव्रता अपि मोहात्तमनुगन्तुं श्रुत्वात्कारं च
विष्णुरुपायां त्रियामासुक्ता नानोपहासान् चक्रुः । तेन च कुपिता श्रुत्वा
प्रायश्चित्तविधौ हितास्त लोष्टलगुडादिप्रहारैस्ताडयामासुः । केवलं वशिष्ठाधमे
पतिव्रताशिरोमणिभूतया अरुन्धत्या स पूजितं चिक्त्सितश्च । पुनश्च श्रुत्वा
संभ्रुया भक्तिस्तदुक्तं स स्वयं लिङ्गं उक्त्वा तत्रैव पातयामास । स्वयञ्च
दिष्णुना सहान्तर्दधे । तदा च देवदारुवने महान्तं उत्पाता प्रादुर्-
भूवन् । तदा अत्रिपत्या अनसूयया “अव देवो महादेव आसीत् भविष्यथा
शानेन तद्विद इति भवता भयमुपस्थितम्” इत्येव श्रुत्वा बोधिता । सर्वे च ते
ब्रह्मणं समीपे गत्वा सर्वं वृत्तमाचरन्तुः । तदा ब्रह्मणापि बहुशुचिर्ब्रूवा तदाशया
तत्रैव देवदारुवनं आगत्य तं लिङ्गं वैदिकेन विधानेन पूजयामासुः । पुनश्च
शङ्करस्य दर्शनमवाप्त्य कृताभी बभूवुरित्यादि । अनन्तरञ्च पञ्चचरारिशोऽध्याये
प्रतिष्ठां निरूप्य अन्यसमाप्तिं कृता । देवदारुवनकथायां स्वेदमेव तात्पर्यम्
यज्ञिणं प्रकृतिः । तामेव प्रकृतिं प्रधानीकृत्य भगवास्तत्र गतः । त्रिगुणा
प्रकृत्या मोहिताश्च श्रुत्वास्तत्र अक्षिरः । यदा तेन प्रकृतिर्विद्युत्वा ब्रह्मणा च
प्रकृतावेव भगवान् पूज्य इत्यादिष्ट तदा तत्पूजनेन पुनः प्रकृतिरहितो भगवास्तैर्दृष्ट
इति । अन्ते च फलभूत्या अन्यसमाप्तिः ।

मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

मुद्गलपुराणमुपपुराणेषु क्वचिद् गणितम् । क्वचित्तु उपपुराणेष्वप्य
चरकक्षाकेनौपपुराणेषु गण्यते । औपपुराणानि चातिपुराण नाम्नापि केन्निदाहु ।
एषा नामानि च बृहद्विवेके स्मर्यन्ते—

आद्य सनत्कुमार च नारदीय बृहच्च यत् ।
धादित्य मानव प्रोक्त नन्दिकेश्वरमेव च ॥
कौर्म भागवत ज्ञेय वाशिष्ठं भागव तथा ।
मुद्गर कल्कि देव्यौ च महाभागवत तथा ॥
बृहद्दर्शनं परानन्दं वडिं पशुपतिं तथा ।
हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥

अत्र पठितानि सनत्कुमारादीनि कानिचिदुपपुराणेष्वपि पठ्यन्ते—

आद्य सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमयापरम् ।
तृतीय स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साधान्द्रीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमादर्यं नारदोक्तमतं परम् ॥
कपित्थं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्मण्यं वाङ्मयं चाप्य कालिकाह्वयमेव च ॥
महेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसचयम् ।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥

एतत्सर्वमालोच्य विद्वद्भिः प्रतीयेत यत् यानि वैदिचदुपपुराणत्वेनोक्तानि
तान्देव विभक्त्यै क्रौञ्चदौपपुराणत्वेन पृथग् गणितानि । वस्तुतः सर्वेषामधामुप
पुराणत्वेन गणनं युक्तं प्रतिभाति ।

उपपुराणेषु प्रायेणैकैका क्वचिद् देवतामुद्दिश्य तन्माहात्म्यमेव विवृतं दृश्यते ।
यद्यपि महापुराणेष्वपीव प्रक्रियोपगम्यते, तत्रापि शैवपुराणेषु भगवत् शिवस्य,
वैष्णवेषु पुराणेषु च भगवतो विष्णोर्माहात्म्यातिशयं रूपापित इति, तथापि
उपपुराणेषु तु प्रक्रियेयमतिशयेन विवृम्भिना क्लिोक्यते । अत्र च परस्परं विरोधो
नाशङ्कनीयः । यतो हि सर्वस्यापि चराचरात्मनस्य मूलमृतमेकं परब्रह्मैव मुख्यत
योपास्य सर्वत्र विवक्षितम् । तच्च न स्वरूपेणोपासितुं शक्यम्—“यतो वाचो
निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” “अविद्यात विज्ञानना विज्ञातमविज्ञानताम्”

“यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मत, तदेव ब्रह्म त्वं विदि नेद यदिदमुपासते” इत्यादिभिः श्रुतिभिः तस्य ब्राह्मणसाक्षिप्रयताया स्पष्टमुद्बुद्धत्वात् । तस्मिन् मनोनिवेशो हि तदुपासनं भवति, यच्च मनोविषयतामेव नादगाहते तत्र मनो निरग्रं कथं कर्तुं शक्यं स्यात् । कथं वा स्तुतिः तस्य सम्भवति, वागतीतत्वात् । तथा च तदुपासना न सम्भवतीति स्वीयनस्यैव निष्फलत्वमापत्तौ, तद्वारणाम् सगुणसाधाररूपाण्याधारीकृत्य तस्मिन्मनो निरग्रमिति श्रुतिस्मृत्यादिषु मार्गं उपदिष्टं । तानि च सगुणसाधाररूपाणि अधिकारिभेदेन पञ्चशास्त्रेषु निर्दिष्टानि यथा विष्णुः, शिवः, शक्तिः गणेशः, सूर्यदेवैति । ते हि देवा स्वस्वाधिकारे नियुक्ता स्वस्वकार्यं निर्वहन्ति । एषु कस्मिंश्चिदेकस्मिन् स्वकचिन्मन्त्रस्य ब्रह्मबुद्धिरुपासकेन कर्तव्या, तद्रूपं तेनोपासकेन परब्रह्मतया भावनीयम्, अन्यानि तु रूपाणि यथायथ स्वस्वाधिकारविशेषान्येव भावनीयानि ।

तद्विषयं येन यद्रूपं परब्रह्मतया भावितं तदेव तद्दृष्टौ सर्वतः प्रधानं स्यात् । अन्यानि तु रूपाणि यथास्थितानि तदनुगामीन्येव स्युः । अनेकेषु रूपेषु परब्रह्मतया भावितेषु तूपासनैव न सिध्येत् । चित्तस्यैकाग्रता हि उपासनायाः फलम्, अनेकेषु ब्रह्मतया भावितेषु तु इतस्ततः प्रचलञ्चितं कथमेकाग्रं भवेत् । तस्माद् ब्रह्मबुद्धिरेकस्मिन्नेव कस्मिंश्चिद्रूपे कर्तव्या । इतरेषु तु न विद्वेषः कार्यः । अगितु यस्मिन् अधिकारे ते स्थिता तादृशाधिकारविशिष्टावमेव तेषां मन्तव्यम् । तथा च परब्रह्मतया भावितस्य रूपस्याङ्गप्रसङ्गान्येन तेऽन्ये देवा भवेयुः । परब्रह्मतया भावितं तु रूपं सर्वतः प्रधानमित्येव पुराणेषूपपुराणेषु च कस्यचिदेकस्य प्रधान्यं तत्र तत्र ख्यापितम् । कचिभेदकृतोऽधिकारभेद एवान् निर्दानम्, न तु परस्परकोऽपि विरोधः ।

तदेतत् पातञ्जले योगसूत्रेऽप्युक्तम् “यथाभिमतध्यानाद्वा” इति । यस्याधिकारिण स्वभावाद् यत्र कचि, तदेव रूपं तेन ध्यातव्यमिति तदर्थं । तदेव रूपं द्वारीकृत्य निर्विकल्पकसमाधिना तस्य ब्रह्मणि प्रवेशः स्यादिति योगसूत्राशयः ।

तद्विषयं विभिन्नतया मनोनिवेशार्थं स्वीकृतेषु रूपेषु भगवान् गणपतिरेवात्र पुराणे परब्रह्मरूपेण ध्यातुमुपादिष्टः । किञ्चिद्रूपं द्वारीकृत्य प्रवेशोऽपि मायाशब्दलिङ्गे ब्रह्मण्येव सम्भवति । निष्कलं तु ब्रह्म केवलमुपलक्षणतया नियेषमुखेनैव ज्ञेयं भवेत् । तदर्थं च निर्विकल्पक एव समाधिप्रयुक्तं स्यादिति न तद् वाचा वर्णयितुं कथमपि शक्यम्, ततश्च मायाशब्दलिङ्गे ब्रह्मैव गणपतिरिति पुराणेऽस्मिन्नुपदिष्टम् ।

माया च तस्य बुद्धिः भिद्विरिति द्विविधा ख्यापिता । तत्र बुद्धिः चित्तशब्देन पर्यायेणाश्रेयः, पञ्चविधा सा चोक्ता । पञ्चविधा च क्षिप्तः, मूढः, विञ्जितः, एकाग्रः, निरुद्धमिति चित्तस्य टीकाङ्गा व्याख्यातम् । जित्तं संसारिणा, मूढः

भ्रान्तानां विभिन्नं मुमुक्षुणा, विशेषेण ब्रह्मणि क्षिप्तमित्यर्थं एकाम् योगे प्रयत-
मानानां, निरुद्धं च योगिनामिति । एते भेदा प्रायेण योगदर्शनादेव गृहीता
स्युः । चित्तपदं चेद् शास्त्रेषु बहुधा व्याख्यायते । साध्यदर्शने मनोबुद्धिरहङ्कार
इति त्रिविधमेवान्तं करणमुक्तम् । योगदर्शने तु चित्तपदमनेवसूत्रेषु व्यवहृतं दृश्यते ।
परं तदन्तं करणपर्याप्तत्वनैवोक्तमिति प्रतीयते । वेदान्तिनश्च मनोबुद्धिरहङ्कारश्चि-
त्तमिति चतुर्धा-न्तं करणं व्याचक्षते । “सकलं, व्यवसायम्, अहमाव स्मृतिश्चेति”
एतादृशी च वृत्ति तेषामभिदर्शति ।

अथागमशास्त्रे तु “चित्तिरेव चेतनपदाद-रूढा चेत्यसकोचिनी चित्तम्”
(प्रत्यभिज्ञाहृदये, सू० ५) इति चित्तं व्याख्यातम् । तथा च चित्तिशब्दे प्रथम
सकोचो बुद्धयपेक्षयापि सन्निरवृष्टानरश्चित्तमिति प्रतीयते । इह तु बुद्धिपर्याप्तत्वेन
चित्तशब्द उभयतः । एभिश्च बुद्धिवृत्तिभेदैश्चित्तपदवाच्यै यद् व्याप्यते तत्सर्वं
विद्विषदेनोच्यते । एता बुद्धिवृत्तयस्त्स्फलानि चेत्युभयमपि सकारेऽन्तर्भूतमिति
मायात्मनेवापि निदिष्टम् । यद्यपि निरुद्धेन चित्तेन प्राप्तव्यो मोक्षो न मायाया
मन्तर्भावितुं युक्तः । तथापि स मोक्षश्चरमसूत्रेण लभ्यः, ततः पूर्वं निरुद्धेनापि
चित्तेन प्राप्या अणिमादिषिद्धयो मायायानवान्तर्भवन्ति । वृत्तयस्तु सर्वा अपि
मायान्तर्भूता सन्त्येवति बुद्धि विद्विरिति भगवतो गणेशस्य द्वे माये अपि
व्याख्याते । गणपतेश्चापि रूपं उगद्विशिष्टब्रह्मण्यैवात्र ख्यापितम् । शिरो
ब्रह्म तदवरमङ्गन्तु जगदित्येकत्रोक्तम् । अपरं च योगरूपेण गणपतश्च इति
कायं सन्निरुद्धकसमाधिरूपेण, शिरश्च निर्विकल्पसमाधिरूपेण निदिष्टं । यदा
गजं घुण्डादण्डं मुखे निवेश्य निमीलितनेत्रो भवति तदा मण्डलाकारं तन्मुखमेक-
रूपमेव प्रतीयते, न च तत्रावयवभेदः प्रतीयते इति निर्विकल्पसमाधय तत्राभि-
सहितम् । कालवेद्यविषयैकाकारैव तत्र वृत्तिर्भवतीत्येकदन्तरूपेण तदेव सूचितम् ।
काये तु विभिन्ना अवयवा प्रतीयन्त एव तस्य सत्तारूपता प्रस्फुटैव । चतुर्भिश्च
भुजैश्चतुर्दिश्याति सूच्यते । करेषु चिह्नानि च चतुर्विधपुरुषार्थसूचकानि । तत्र
पाशोऽर्थरूपं, अर्थरूपेण पाशेनैव जीवानां विशेषतो बन्धनदर्शनात् । मोदकन्तु
कामरूपम् तारकालिकमुलरूपमोदहेतुत्वात् । अबुशश्च घर्मरूपं नियन्तृत्वेन
घर्मस्याहङ्कुशशानात्येनैव प्रवृत्तिदर्शनात् । अथ कमलं जलस्थितमपि जलेन मना
गतिं न लिप्यते इति मोक्षरूपं तद्गगवतो हस्ते स्थितम् । एताश्चतुरोऽपि पुरुषार्थान्
यथाधिकारं सेवमानां भगवान् गणपते सकारिभ्यां ददातीति त एते तद्गुणस्थ-
तया निर्दिश्यन्ते ।

अस्मिन् ग्रन्थे एकैकस्मिन् लण्डे गणपते एकैकन्नामाधिकृत्य तद् व्याख्या
विशेषेण ददिता, यथा प्रथमलण्डे वक्रतुण्डनाम व्याख्या । द्वितीयलण्डे एकदन्त
नामव्याख्या, तृतीये लम्बोदरनाम व्याख्या चतुर्थे गजानननामव्याख्यायादि ।

तत्र तृतीये लम्बोदरपदमित्थ व्याख्यातम्—गणपते काय सकाररूप इत्युक्तं प्राक् । सकारिणाञ्चोदर दुष्पूर भवति । बहुतरभोगेऽपि तत्र शान्तेरदर्शनात् । अतएव गणपते वन्दितस्तुमुदर मूर्तिषु दृश्यते । ब्रह्मरूपश्च गणपति सकारिणामुदर प्रविश्य भुञ्जे ।

अह वैशानरा भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित ।

प्राणापानसमायुक्तं पचाम्यग्निं चतुर्विधम् ॥

इति भगवद्गीतायां गणपत्यभिन्नेन भगवता कृष्णेनाभिधानात् । तस्मात् परेषामुदर प्रविश्य भोगकरणादपि तस्य महद्दुदर रूपाप्यत इति । एवमत्र भगवतो गणेशस्य स्वरूप स्थाने स्थाने निरूपितम् ।

तत्र तत्र कथाभिश्च भगवतो गणेशस्यैव पञ्चसु देवतासु प्राधान्य रूपापितम् । तथा हि सूर्यमण्डलमभितो निदिशि सूर्येण सदैव भ्राम्यन्तो बालकिलया एकदा सूर्यं पृथ्वन्त यत् 'सूर्यं आत्मा जगत्स्तस्युग्रश्च' "नून जना सूर्येण प्रसूता" इत्याद्याभि श्रुतिभिस्त्वमेव सर्वजगत्कारण सर्वस्थात्मा चान्मायसे । भवन्तमपि च प्याननिरत पश्याम । तद्भवान् कमभिष्यायतीति नो मनसि जिज्ञासा समुदेति ता कृपया शमय इति ।

तदा सूर्य "गणपतिरस्माक सर्वेषामधिष्ठाता स एव च पर ब्रह्म, तदाज्ञयैव जय सर्वे तत्सकर्मसु प्रवर्तामहे । तमेवाह सनतमभिधायामि" इति तान् प्रनोधितवान् । निर्दिष्टवाच्य गणपतितत्त्वं प्राशुक्तम् । मूयश्च तन्माहात्म्यं सुस्पष्ट व्याचक्ष्व कृपयेति पृष्टं सन् स्वधारा कथा सधितवान् यत् कश्यपो मनत्रे जपन् मा सुचिरमारोधितवान् । तत्पश्चात् सुप्रसन्नश्चाह यदा वरं प्रदातुं तत्समीपे गत तदा स मा बहुतरं स्तुत्वा "स्वमम मत्पुत्रता याहि" इति वरं प्रार्थितवान् । अहश्च प्रसन्नस्तस्मै तादृशमेव वरं दत्तवान् । एवमदित्यापि यदुत्तरं तपस्यन्त्या स एव वरो मत्सकाशाह्वय । विश्वकर्मा च मत्सानी सजानाम्नी तपसा समाराध्य "स्व मे पुत्री भूया" इति वरं प्रार्थितवान् प्राप्तवाश्च । तथाह कश्यपाददित्यां द्वादशमी रूपैरवतीर्ण । मत्सानी सजा च विश्वकर्माणे पुत्रीत्वमगात् । तथापि विश्वकर्माणे सा मह्यं प्रदत्तेति आवयौ सम्बन्धो जातः । तथा विहरश्चाह श्रुतिवाक्यै स्वमेव सर्वभ्रेष्ठतया भन्वानो गणपतिं व्यसमार्थम् । तदा गणपतिना दिधनः समुत्पादितः । स चेत्यरूपो यन्मात्री मुमाली चेति द्वौ भ्रातरौ दैत्यकुले समुत्पन्नौ । ताभ्यां च तपसा शिवमाराध्य मत्तोऽप्यधिकप्रकाशं विमानमेकं प्राप्तम् । प्रकाशयत्तौ तौ रात्रिमेव व्यलोपयताम् । दिवा मत्प्रकाशं रात्रौ च तदीयविमानप्रकाश इति सर्वैश्चैकविधप्रकाशसद्भावाद् रात्रिं केनापि न प्राशयत ।

तदा च प्रातर्मध्याह्नादिकालस्याप्यशानात्तत्कालविहितानि यथादिकर्मण्यपि विलोपमेव गतानि । अहमेव च यथावृत्तिभिराप्यायितो भवामीति मदाप्यायनमपि

यस्यैवलोपाग्निश्चयम् । एवविधं व्यतिकरमालोक्य मया स्वतेजसा विमानेन
 चैव तौ दैव्यावपि दग्धौ । तदा च स्वमक्तानां दाहास्तुपितेन शिवेन विशुद्धेन
 मदीयं शिरश्छिन्नम् । तदा सर्वैरेव वैदिकानां कर्मणा लोपो जातः । सर्वा
 अपि च प्रजा मत्सम्बद्धा इति तासामपि विनाश आपातितः । तदा च
 सर्वैश्चामिभिः संभूय भगवान् शिखः प्रार्थियो यत् किमिदं भवता कृतम् ।
 सूर्यं विना कथं प्रजाना स्थितिः समवेत् । न चायं प्रलयकाल इत्यकाण्ड
 एव सर्वप्रलयं कथं भवता प्रारब्ध इति । तदा च शिवेन विचार्योक्तम्—
 गान्गतिना समुत्थादितोऽयं दिग्घ्न इति गणननिनेवाराध्याहं सूर्यं क्षीययिष्यामीति ।
 अन्न्तरञ्च भगन्त गणगतिं प्रसाध्य शिवेनोक्तम् यत्सूर्यं जीवन् अन्ययाहमपि
 स्तन्नीयं शिरश्छेत्स्यामीति, इत्य विहापितेन श्रीगणपतिना स्त्रीयं विघ्नमुत्सृज्याहं
 लीन्ति प्राप्तिः मदीयं शिर पुनः कृपेन योजितम् । पूर्वं छिन्न मदीयं शिरश्च
 काश्या लोलाकं निपतितमभूत् । तत्रैव चाहं क्षीयितः । पुनर्भावितेन च मया
 चिन्तितं यत् श्रुतिर्मां सर्वस्यात्माननाह आत्मनश्च कथं मृत्युः समवेत् । तस्मात्ताहं
 सर्वस्यात्मेत्येवानुमीयते । न च मया सर्वे जनाः प्रसृताः । तस्माद् व्यर्थं
 प्रायोऽहमरणमेव गत्वा तदभरिष्यामीति । अरण्यं गन्तुं भवृत्ते च मयि ब्रह्मा
 सनेत्य मा प्रबोधयान्कार—

यच्छ्रुते सत्यमेनाह अवश्यं नवान् सर्वस्य जगतः आत्मा भवति च सर्वा
 अपि प्रजाः पालयन्ते । परं सर्वेऽपि वयं ब्रह्मा शास्त्रे तिष्ठानः । तच्छ्रुत्वा
 च सर्वे वरं तच्छ्रुत्किमन्त । स ब्रह्मरूपो भगवान् गान्गतिः सर्वैरस्नाभिः समुत्थास्यः
 तेवनीयश्च । भवता गान्गतिस्मरणा विस्मृतानिति तत एवायं दिग्घ्नः समुत्तन्नः ।
 इदानीं स्ताधिकार सम्यङ्निर्वाहयता भवता सर्वाधिपतिर्गणपतिः सदा स्मरणीयः
 त्वेवमेति ।

अस्या कृपापानिदं रहस्यं यत् कश्यपो नाम श्रुधिरेकः, श्रुपयश्च मौलिका
 प्राणाः सर्वाधिभूता इति भुक्तिषु ख्याप्यते । तदुक्तं शतमयब्राह्मणे—“अथवा
 इदमम आसीत्, तदाह किं तदवदासीदित्येषो वाव तेऽग्नेऽवदासीत्तदाहः के
 ते श्रुपय इति प्राणा वाव श्रुपय” इति । तेभ्य एव नाम्ने सर्वोत्पत्तिः ।
 सनाम्नाता । भगन्ता मनुना चाप्युक्तम्—

श्रुपिम्यः नितरो ज्ञाताः नितृम्भो देवदानवाः ।
 देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरन् स्यात्तुपूर्वशः ॥ इति ।

तत्र श्रुपिम्य एव नितरो देवश्च जायन्त इति पश्चिम् । तत एव च
 “काश्यपाः सङ्गलाः प्रजाः” इति कश्यपस्य सर्वप्रजानिर्मातृत्वं पुराणादिषु
 ख्याप्यते । कश्यपश्चाय “कश्यपः परमको भवति” इति ब्राह्मणेषु निरुक्तः ।

कूर्मोऽपि च ऽन्तुविशेष कश्यप शब्देनाख्यायते । स च यथाङ्गानि सङ्कोचयति
विकाशयति च, तथैव कश्यपनामा ऋषिरपि स्वाङ्गभूता प्रजा ब्रह्मिणि कारयति,
समये सङ्कोचयति चेति उभयो सादृश्यम् । कूर्मस्य च पृष्ठभाग इष्टदो भवति,
अधोभागश्चातिक्रोमलो भवति । तथैव ब्रह्माण्डस्याप्येको भाग स्यात्तपान्निष्ठुरो
भवति, अपरश्च मृदुरिति ब्रह्माण्डप्रतिवृत्तिरयं कूर्मः ।

तदेतत्सर्वमालोच्यधोमुत्तोऽत एव सर्वमधस्थित पश्यन्नय प्राणविशेष
कश्यप इत्याख्यात । ऊर्ध्वमध इति द्वेषा विभक्तस्याकाशस्योर्ध्वभागोऽदितिर्नाम
अधोभागश्च दितिर्नाम । ते उभे अपि कश्यपस्य पत्न्यौ समाख्याते । तत्र प्रकाश
माने ऊर्ध्वभागे देवा उत्पद्यन्ते । अन्धकारितेऽधोभागे चासुरा । तदित्य सर्वदेव
घनभूतोऽत एव “चित्र देवानामुदगादनीकम्” इति भया देवानामनीकरूप
त्वेनाम्नात् स्योपि कश्यपाददित्या जात इति सङ्गीभवति । स च द्वादशतु
मासेषु पृथग्निधकार्यकरणाद् द्वादशरूप आख्यायते । सूर्यस्योदय एव सर्वेषां
प्राणिना चेषा प्रसन्ते इति चेषापरनाम्नी सञ्जा त्तरस्नीत्वेन पुराणेषूक्ता ।
अथत्र पुराणेषु नुरेणुरित्यपि तस्या नाम ह्यस्यते सूर्यस्योदयकाल गवाशादिपु
रणव इव चलन्त प्रतीयन्ते या ‘जालसूर्यमरीचिश्च त्रसुरजसमृतम्’
इत्यादिसृष्टिषु त्तरसुखत्वनाख्यायन्ते, एतदेवाभिप्रय त्रेजोरपि सूर्यपत्नीत्व
माख्यात द्रष्टव्यम् । तस्या अपक्षरये च छायानाम्नी परारि स्त्री सूर्यपुरा
णेषूक्ता । प्रभाया अपक्षरणे ङाया जायते इति तदभिप्रायोऽपि स्फुटः ।
सा चैव विश्वकर्मण पुत्री इत्याख्याता । अत्र विश्वकर्मणि सर्वकरणशील सर्व
शक्तिमन् पारमेश्वरमवैक रूप द्रष्टव्यम् । तत एव च सर्वेषां प्राणिना चेषा
प्रादुर्भवति । व्यञ्जिभूताना जीवाना चेषाया समष्टिस्परमात्माधीनत्वात् ।
सूर्यशिरश्छेदस्य चायमभिप्रायो यत् प्रत्येकस्मात्पदाथद् ये किरणा बहिर्गच्छन्ति
ते सूनीमुत्वा भवन्ति, ते च मध्ये मध्ये सगत्य पुनस्तिर्यग् गच्छन्ति । तत
एव दूरस्थ वस्तु जनैर्लघु प्रतीयते इति “उन्दोवेदनिष्पणे” शुद्धरै भी
विद्यावाचस्पतिमहोदयै स्पष्ट व्याख्यातम् । इदमेव भ्रुतिषु क्वचिद् गायत्र्या
शिरश्छेदरूपेणाग्नायते । इह तु सूर्यशिरश्छेदरूपेणैवाकम् । किरणानां
परस्पर स्पर्शेण शिरश्छेद एव सूर्यशिरश्छेदत्वेनोक्त, सूर्याकरणानां सूर्याभिन्न
त्वात् । सर्वे चेद रुद्ररूपेण वायुना क्रियते इति रुद्ररूपशिवकृत्स्व शिरश्छे
दस्योक्तम् । एवविधैराम्तै किरणैरेव चन्द्रमणो दीप्ति यित, स च रात्रावपि
प्रकाशते इति रात्रावपि प्रकाश कथयामुक्त । सूर्यस्य चित्तस्यापि च गणपत्या
राधने हेतुस्तु पूर्व विवृत एव गणपत्याराधनैर्मणपतेरेव परब्रह्मत्वेन चित्तस्यादिति
सर्वे यथायथ योज्यम् । काश्या शिर पतनादि तु शोलाकनीर्यमहिमख्यापनार्थमेव
द्रष्टव्यमिति । अग्रे च मोहस्योत्पत्तिवृत्तान्त वानलित्यै पृष्ठ सूर्यस्तान् बोधया

मास—यदेकदा शिवो भगवान् वने एव तपश्चरन्नास्ते स्म । तदैव तारकासुरेण स्वस्वस्थानेभ्य परिभ्रमिता देवा शिवस्य वीर्यात्तुल्यनेन हन्तव्य एव तारकासुर इति विज्ञाय कैलासे पार्वतीसन्निधे गता । सर्वज्ञ वृत्तात् तस्यै न्यवेदयन् । तदा पार्वती भिल्लीरूप विधाय वने शिवसन्निधौ गता । आनसुदरेण च तत्रैव धने पुष्पञ्चयादि कुर्वती विचरति स्म । समधे दुर्स्थानकाले च शिवस्तद्रूप इष्ट्वा मोहितो भूत्वा ता ग्रहीतुमधावत् । सा च ततो दूरीभङ्ग्येन ततस्ततो विचरति स्म, न तद् हस्त्वा भूव । भूनामूयस्तद्रूपहणायास्तुक्त शिवस्तामन्व धावत् । पथमनुधावत् एव शिवस्य वीर्यं चस्कन्द । तदैव च वीर्यं मोहुरूपतामा पन्न । ततश्च परावृत्तन शङ्करेण ध्यान कृत्वा पार्वत्येयमासीदिति प्रत्यभिज्ञातम् । ततश्च स पार्वतीसन्निधे गत्वा देवानां च प्रथमा श्रुत्वा तया सह मन्तुमारभे । मन्त्र एव कामस्याप कथाऽत्र वर्णिता । एव भिन्त्या कामवत्तगेन शङ्करेण क्रोधात्क्रान्तो भस्मीकृत । पश्चाच्च यदा स पार्वतीसमीपमाजगाम, तदा काम सस्मार “मह्यमङ्ग देहि यन्त्या भस्माहृतम्” इति तत्प्राथिनश्च ‘गणपतिमाराधय स एव तुभ्यमङ्ग दास्यति’ इत्युपदिश्य गणपतेरेकाक्षरं मन्त्रं तस्मै ददौ । तेन मन्त्रेण समाराधितश्च भगवान् गणपतिं प्रत्यभीभूय तस्य कानिचित्स्थानानि निदिष्टवान् । एवदिधेषु स्थानेषु एव वस्तुपाशापयाञ्चकार । अङ्ग तु तव विष्णोरव- तारमूतेन वृष्णेन दास्यते । स एव रुक्मिण्या त्वामुत्पादयिष्यति । तत्रापि च तवेव रतिरेव मायां भविष्यतीत्यादि श्मकथा मध्ये एवान् वर्णिता । तदनु कार्तिकेयन-नकथारि प्रक्रान्ता बहुकाल पार्वत्या रममाणोऽपि भगवान् शङ्करो यदा न त्रासमगात् तदा देवैः प्रेरितो वृद्धिर्भुक्तवेपेण रममाणोस्ततो प्रदेश गत्वा दूरस्थित एव भिक्षामयाचत तदा कश्चित् पुरुष आयात इति विश्रय पार्वतीपरमेश्वरावुत्थिता भूताम् । उत्थितमात्रस्य च शम्भो वीर्यं भूमी चस्कन्द ।

तदादाय च पार्वती भिक्षारूपेण भिन्नरूपाय वश्ये प्रददौ । वदित्तदशित्वा दुर्जंस्त्रात् तदसहमानश्च गङ्गा गत्वा तत्रोद्गीर्णं तच्चिक्षेप । तत्र स्नानार्थमागताश्च कृत्तिका क्लेन सह तत्पु । ता अप्यसहमानाश्च शरस्तम्ब तदुद्गीरन्ति स्म । तत्रैव कुमरो जातः । वृत्तकाम्यो जातश्चादय कार्तिकेय उच्यते । शरस्तम्भे च जातत्वात् शरज-मा । त नारदो ददर्श । स च कैलास गत्वा पार्वतीं प्रति कुमारच-मारजातवान् । पार्वती तत्रान्नं त पय पादयामास । कृतसंस्कारश्च स सेना-निर्भूत्वा ददौ सह तारक इन्तु पगाम । बहु दुष्वापि इन्तु न शशाक । तदा कथं इन्तु शकनुयामिति शम्भु पप्रच्छ । शम्भुनोपदिष्टश्च गणपतिमाराधयाञ्चके । ‘आराधितश्च गणपतिं प्रसन्धीवभूव । कार्तिकेयेन सह बहुधा स्तुत । अप्रैव स्तुतौ मूपकनाहनस्यापि रहस्यमुक्तम्—यथा मूपकं पृथिव्या प्र-उत्त एव निवसति, प्र-उत्त एव च दन्धनानि उति, तदा स्मपि सर्वेऽन्तर्निगदो निवसति । अविज्ञात एव

मन्थाना वचनानि 'अग्निस्त्रि' इति मूयक्त्वाहनस्य मुच्यस इत्यादि । गणपतिना
 वचनरश्च स पुनर्देवानां संनापतिर्मुखा युद्धाय याव तारकामुर ज्ञान चेति मध्य
 एव तारकामुरक्या पुराणातरकवादिनी कथिता । क्व गणपतिपदचरण
 मवान विद्येय उक्त । अथाग्रे पुनर्मोहनरितमुपस्थातम्, शिववीर्यादुत्पन्नो माह
 देवगुणं शुक शरण गत । तेनैव तस्य स्वरूपा कृता, यथाशक्तोपदेशान्
 दत्त, तेनाराधितश्च सर्वस्तमी वरान् ददौ, यथाशक्तोपदेशान् स देवानामपि
 पतिर्भूव । प्रमादस्य मुना मदिराश्चोपयम । तस्या तस्य तस्य उग्र क्र
 मधावी शोचनो हरणश्चेति पञ्चमुता उच्यु । विषयावास नगरञ्च स्येणास्मै
 दत्तम् । क्रमशः सर्वेषां देवानामपि मूखा स्वमुतान् तन्तनाधिस्य प्रतिष्ठा
 पयामास । देवश्च देवनिष्ठायेभ्यो विष्णुश्च तन्निष्ठायेभ्यो स्वाधिकारमवाङ्गोत्,
 अथ देवा पराजिता शम्भुसमीप त्रिष्णुसमीप च गता । सर्वे च सम्भूय
 गणपतिमत्र शरण याता । ते प्राथितश्च गणपतिस्त यादुषु चरति । नारदश्च
 पुरैव दौत्येन तत्समीप प्रस्थाननामास । स्वसमीपनात नारदनो स्फकारण ब्रूमाह ।
 "त्वं सर्वत्र विचरति । साक्य वार्ता त्वा", इति तत्र पृष्ठश्च नारद "गणपतिस्तत्र
 योद्धुमभियानि, तत्रैतान् क्रियन्तु अमिस्थित । तत्परतज्ञा गणपतिना सह
 तत्र योधनमनुचितम् । एवं त शरण प्रयाहि" इत्यादि ब्रवी । तेन पृष्ठश्च
 गणपतेर्नहिमान त प्रात शरयातवान् । एव प्रवा चितश्च मोहामुरो गणपति ययो,
 तेनाहनश्च दस्य स्थानानि दत्ता दैत्ये सह पाठ उ विद्य इति मोहकथाश्च ।

अस्यास्या कथाया निगूढाभिप्राय प्रकटीक्रियते । अटलिम्बान रुद्र
 द्वेषा श्रुतो वनात्प्रात 'तस्य द्वे तनू रोरस्या च त्रिवाहना च' तत्र शिव
 तनुर्नगवान् सर्वेषासर्वे घोरतनुस्तु मुषात्त्रोऽपि पर्वतान् पततो गतु तत्र
 तत्र प्राप्यंते । तत्रैव चरत घोरतनोर्नगवा रुद्रस्यैव । अतएव तस्य
 बने चिचरगनवत्र निर्दिष्टम् । अथपु पुराणेष्वपि च ब्रह्मणा यदा क्रुदेन
 रुद्र उदादि, प्रजा सृजति चादिष्ट, यदा तत्र स्वसदृशी मनङ्करी प्रजा सष्टु
 मासगा, तदा ब्रह्मणा स्वसृष्टिकरगात्रिवर्तिन इति तत्र तथारण्यत । ए
 विष्णुस्यैव रुद्रस्य दीपग माहोरसत्तिथ धर्मिता । मोहस्य च प्रसर आमुराध्वव
 सुष्ठिय भानि, इत अशुरान्नायैव समीप तस्य गमनमुपदिष्टम् । तस्य यादय
 परितो वर्तिन तत्र स्वसृष्टुदीनामपि आध्यानिरुस्यैव मोहस्यैव रूपविषया
 कल्पना कृतति स्या मामन । तथाहि प्रयादस्यैव श्वगुर उक्त । तन्कथा च
 मदिरा माहस्य परनीवेनोक्ता । मदिरयव माह प्रकृत । मोहन च
 मदिरापय प्रवृ चरितयोयसाहचयात् परनीरणापान युक्तमव । मुनाश्च तस्य
 ये उक्तास्त त मोहनितान्म्याश्रया एव । उग्रस्य क्रूरश्च माहन मादरगा च
 चायते । 'मिधावी' इति पाठस्तु मोहपुत्रेण भ्रमवन्तिदोऽनुद एव प्रतीयत, यीका

कृता तु नानाविधविषयानामादत्तन्नेवादिच्छेद इति व्याख्यातम् । अन्तर्गते तु "अनेष्याद्यौ" इति मोक्षमुक्तेषु रत्नं तुल्यं प्रतिभाति । मोक्षेनैव अनेष्याद्यने प्रवृत्तदर्शनम् । अन्ते च शोकेनेवोक्तवदति मोक्षं, शोकात्तत्र च तत्परत्वात्-हृत्तन्मं चोपर्युत्सादयतीति अन्ते मोक्षुवाः स्थाने व्याख्याताः ।

तस्य नग्नं च निरमात्रात्तरं परिदिष्टं तदमुच्छित्तैव, मोहाक्रान्तानां नियमेष्वान्निदर्शनान् प्रवृत्तं मोक्षोच्छ्रयमे देववृत्तीर्शनधर्मनरोपकारात् उपादयतीति देवान् रक्षमानात् प्रजापतेर्देवानां तत्र निवेशः सम्भवेत् प्रतिपादितः । कामकौषड्विवादीनां वृत्तीनामेव मोक्षे अनन्तम् । एवविधाना देवीनामनुसूयाश्च वृत्तीनां सर्वेषु एव देवान् रक्षतेन मन्त्रोद्धारानामर्थस्वात् तन्निस्त्राप्त्यै । एवञ्च मोक्षान्ते प्रवृत्ते नत्तं परिपश्यन्तुनस्य देवीनां वृत्तीनां कदाचिदुदयो भवत्येव । देवैः प्रदिष्टं ज्ञानम् गान्धर्षिदा मोक्षकर्मिणो प्रवृत्तः तदा मोक्षः स्वप्नसुप्त जगि मुक्तश्च प्रतिपादितम् । पातालग्रन्थे च महापुराणप्रोक्तम्, तदाविभोतेच्छ्रम, अधिभूत हि देवतां शिरोक्यान्वतः अन्तर्गा च पाताले इत्येव पूर्वं ब्रह्मा वचम्या कृतादीन् । तदेतन्मन्त्रेण-पुराणे स्वर्गात्पातले देवा उक्तम्—

शैलेऽप्यग्निद्रो रमता देवाः सन्तु हविर्भुवः ।
सूरं प्रयात पातालं यत्र वीरिनिच्छय ॥

इति मोक्षकथा आध्यात्मिकं रहस्यम् ।

मध्ये काश्चित्कथनकथा च काश्चित्का तथा अतीर्ष तात्पर्यमन्तम्—
यद्वाही स्वर्गं त्वेनैव तत्र तत्र स्वर्गादे । कृतागुरोता इति स्वर्गान्तु कोपेभ्यो पञ्चते । अन्तरिक्षयो विजितो वासुदेव वसिष्ठोदयते । "अग्नीषोमन्त्रक वयस्विति" अन्तुतेन परिमग्निर्गन्तुप्रोक्तमोक्षे सुप्त-पदाधर्मनन्तिवेन आर्ष्या च मोक्षेन परिमग्नि द्रष्टव्यम् ।

तदेव च वसिष्ठोक्तम् । यद्—आश्विनवनं नाम्ना परिमग्निं पाशानां वैशान्तिना, तस्यै स्वर्गं त्वेन वीना धारयन्त्या क्यपादाख्यातते । अन्ते च तत्तन्मन्त्रादेव द्रष्टव्यमन्तु इति । ज्ञेयते तद्मान्त्रेण प्रदिष्टं भवतीति वसिष्ठा ब्रह्मा तन्मन्त्रनवीनस्यै । तात्तु च कृत्तिकाया, तन्मन्त्रः, अन्तु कश्चिन्ना आग्नेयं मन्त्रं व्याख्यातते ।

अन्ते च स्वर्गं शिखरं चोक्तम् च महापुराणम् उच्यते मोक्षः । तत्र च रान्कथापुत्रे शिखादीनां गान्धुनात्तं तत्र तत्र निर्दिष्टम् ।

व्याख्यान विधाय अष्टमेऽहि इतिहासव्याख्यानम्, नवमेऽहि पुराणाख्यानं च विहितम्, तत्र चेतिहासपुराणविशेषणत्वेन वेदशब्द स्पष्टमुपात्त —

‘अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतारिऽष्टिषु स्थितासु एषैवाऽवृद्ध अर्ध्वर्यविति इ वै, होतरित्यैवाध्वर्युं, मत्स्य सामवेदो राजेत्याह, तस्योदकेचरा विशस्त इह आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चापि ममेता भवन्ति, तानुपदिशति इतिहासो वेद-
सोऽयमिति कश्चिदितिहासमाचक्षीतैरमेवाध्वर्युं सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति ।
(१२ क०) ॥

अथ नवमेऽहन् एवमेवैतारिऽष्टिषु स्थितासु एषैवावृद्ध अर्ध्वर्यविति इ वै होतरित्यैवाध्वर्युं, ताक्षर्यो वै पश्यतो राजेत्याह, तस्य वयासि विशस्तानी मान्यासत इति वयासि च वयोविधिकान्धोपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति पुराणं वेद सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैरमेवाध्वर्युं सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति (१३ क०) ॥

एतदग्रे च साम्ना प्रवचनमुक्तम् । अथमत्र क्रम—पूर्वं सावित्रीरितस इष्टी कृश्या यदाश्वमेधे अश्वो विमुक्त, तदनन्तर यज्ञमण्डपे देवसदनाख्ये यस्मिन्त्य भवति—तत् शतपथे त्रयोदशस्य काण्डस्य चतुर्थाध्याये तृतीये ब्राह्मणे समाप्नातम् । तदुक्तमध्यायारम्भ एव—“प्रमुच्याश्च दक्षिणेन वदि हिरण्य कशिपुपस्तृणाति (कशिपु मृट् आसनम्) तरिमन् होता उपविशति, दक्षिणेन होतार हिरण्ये कूर्चे यजमान, (कूर्चं सपादमासनम् पी-भूतम्) दक्षिणत ब्रह्मा च उद्गाता च । हिरण्यया कशिप्वा पुरस्तात् प्रत्यद् अर्ध्वर्युं—हिरण्ये वा कूर्चे हिरण्ये वा फल्के (पादरहितमासनम् फल्कम्) समुपविष्टेषु अर्ध्वर्युं— सप्रेष्यति (होतार प्रेरयतीत्यर्थ) इत्यादि । एतस्मिन् मगवता कारयायनेनापि विवृत औत्सृष्टेषु (अश्वमघप्रकरणे) दक्षिणतो वेदैर्हिरण्यदेवपुरविशति ॥ १८ ॥ अर्ध्वर्युयजमानो कृचयो ॥ १९ ॥ फल्कयोर्वा ॥ २० ॥ होतृब्राह्मणाद्गतार कशिपुषु ॥ २१ ॥ होतर्भूतान्यान्श्व, भूतेष्विम यजमानमध्युद्देति पारिप्लवं प्रेष्यति ॥ २२ ॥ इ वै होतरिति प्रतिष्ठाति” इत्यादिना । अत्र अर्ध्वर्युणा प्रेषे कृते होता सर्वान् तत्तद्देवादि व्याख्यानं आवयति । इदमेव पारिप्लवाख्यानं मुख्यते । दश दिनानीद व्याख्यानं प्रत्यहं प्रचलति । प्रत्यहं तिष्ठ सावित्र्य इष्टयं क्रियन्ते । तत्र षट्सु दिवसेषु व्याख्यानानन्तरं प्रक्रमशोमोऽपि विधीयते, सतमादिषु चतुर्षु दिनेषु तु प्रक्रमशोमो न क्रियते । एव दशमु दिवसेषु पूर्णेषु पुनरावृत्तः पुनरावृत्त इति स्वस्वरपर्यन्तं षट्त्रिंशदावृत्तयं क्रियन्ते । तदुक्तम्—‘एतदेव समानमाख्यानम् पुन पुन सप्तसरं परिप्लवते । तद्यत् पुन पुन परिप्लवते तस्मान् पारिप्लवन् षट्त्रिंशतम् दशाहानाचष्टे’ इत्यादि (शतपथ० १३ का०, ४ अ०, ३ ब्रा०, १५ क) प्रत्यहं च श्रुतिवग्

यजमानानिरिक्ता विभिन्नाः श्रोतारो यजमण्डप आहूयन्ते । यस्याख्यानस्य यो राजा भ्राम्नातस्त्प्रजाभूताः तदुपयुक्ता एव श्रोतारः तस्मिन् दिने सन्निधाप्यन्ते ॥

तत्र प्रथमे दिने मनुर्वैवस्वतो राजा, तत्प्रजानां मनुष्याणा प्रतिनिधिभूताः अन्नोत्रिया गृहस्थाः श्रोतारः श्रुत्वा व्याख्यानम् । द्वितीये दिने यमो वैवस्वतो राजा तत्प्रजाना पितृणा प्रतिनिधिभूता. स्थविराः (वृद्धाः) श्रोतारः यजुषा व्याख्यानम् । तृतीये दिने वरुण आदित्यो राजा, तत्प्रजाना रन्धर्षणा प्रतिनिधिभूताः शौमना युवानः श्रोतारः अथर्ववेदस्य व्याख्यानम् । पञ्चमे दिन अर्बुदः काद्रवेय. (सर्पः) राजा, तत्प्रजाना सर्षणा प्रतिनिधिभूताः सर्षवेदः (सर्षपालकाः 'सपेरा' इति प्रसिद्धाः) सर्षेः सहिताः श्रोतारः सर्षवियाया व्याख्यानम् । षष्ठे दिने कुबेरो वैश्रवाणो राजा, तत्प्रजाना रक्षर्षा प्रतिनिधिभूताः पापहृन्ः सेलगाः (सेलं गायन्ति ये) श्रोतारः, देवयजनविद्याया व्याख्यानम् । सप्तमे दिने असितो घान्वो राजा, तत्प्रजानाम् अनुराणां प्रतिनिधिभूताः, कुशीदिन. (कुशीदम् - श्रृणुरूपेण दत्तानां रूपकादीना वृद्धि 'व्याज', इति 'सूद' इति च प्रसिद्धये उपनीयन्ति) श्रोतारः भाषाप्रतिपादकस्य वेदस्य व्याख्यानम् । अथाष्टमे दिने मत्स्यः सामदो राजा, तत्प्रजाना-मुदकेचराणा मत्स्याना प्रतिनिधिभूता मत्स्याश्च मत्स्यघातकाश्च श्रोतारः इतिहासस्य व्याख्यानम् । नवमे दिने ताक्ष्यो (गरुडः) वैवश्यतो राजा, तत्प्रजाना पक्षिणां प्रतिनिधिभूताः पक्षिणश्च पक्षिविद्यावेत्तारश्च श्रोतारः पुराणस्य व्याख्यानम् । दशमे तु दिने धर्म इन्द्रो राजा, तत्प्रजानां देवाना प्रतिनिधिभूताः प्रतिग्रह्वर्जिताः श्रोत्रियाः श्रोतारः साम्ना व्याख्यानमिति । एवं वेदमध्ये व्याख्यानविधानात् "वेदः सोऽयम्" इति स्पष्ट श्रवणाच्च वेदत्वमितिहासपुराणयोरत्र स्पष्टमुक्तम् । उभे चेतिहासपुराणे अशिशितप्रायाणांमवरजातीयानामनरकर्मरतानामपि चोद्धारके इत्यपि श्रोत्र-विदग्धेन व्यञ्जितम् । अनेनैव श्रोत्रविवरणेन न प्रसिद्धवेदभागान्तिहास पुराणे-अपि तु ततः पृथगेव वेदपदबोधनीये वेदवदम्यह्णीये चेत्यपि स्फुटं व्यञ्जितम् । तत्र एव वेदानधिष्ठितानामपि श्रोत्रतया दहोपस्थापनम् । वेदज्ञानानृष्टिगद्यजमानादीनामपि च तच्छ्रवणविधानमित्पुमयोपकारकत्वमनयो-रितिहासपुराणयोर्व्याख्यातं भवति ॥

तदित्यं ब्राह्मणेषु बहुत्र पञ्चमवेदत्वमितिहासपुराणयोः स्फुटमाग्नातमिति प्रदर्शितम् । न हि ब्राह्मणानि चतुर्णामेव वेदानामन्तर्भूतानि स्वस्यैव पञ्चमत्समाचक्षीरनिनि ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेतिहासपुराणयोः सत्त्वमेभिः प्रमाणैः साधितं भवति, वेदवदम्यर्हित्वेच्च पुराणेतिहासयोः ॥

मन्त्रे च पुराणेतिहासयोस्मि वदै सहैव परमात्मन उद्भव आम्नायते—

श्रुच आमानि छन्दासि पुराण यजुषा सह ।

उच्छिष्टान्छिरे सर्वे दिवि देवा दिवि भिन्ना ॥ (अथर्वं ११७।२५)

अत्र उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां मूलभूतिज्ञानान्तर्याने, दिग् उन्नतित
परमात्मना, तस्मादुच्छिष्टान् परमात्मनः श्रृगाया सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते—इति
श्रीमाधवाचार्यप्रभृदो व्याजत । वैश्वानि-सा-स्यपशशीया इत्येव वदन्ति—
यादृचिचदारी परमार्थं परमं भुक्तं पराङ्गता गन्-र-मन्नुप्रविष्ट इति यावत्—
एकीयात् घनाद्यदा विच्छिद्यते तदा स 'उच्छिष्ट' इत्युच्यते । यथा ग्रीष्मे सूर्यादप
स्वसवागिषु प्रस्तरादिष्वनुप्राप्तेऽतद्गतस्यै एवै एवनाद्विच्छिन्नस्तस्मिन्
प्रस्तरादाद्येव स्थितो भवति, तत एव अस्तद्गतेऽप्यस्यै तस्मिन् प्रस्तरादा
वृष्णाऽनुभूयते । यदि तु सोऽपमादप्यस्यैन्द्राद्विच्छिन्ना न स्यात् तदा सूर्येण
सहैव उच्छिद्यति कथं प्रस्तरादानुभूयमानुभवसम्भन । सोऽयं भागः श्रृग्यदपरिभाषाया
'प्रस्यं' इत्युच्यते, आथर्वणे च 'उच्छिष्ट' इति परिभाषित । ततश्चेत्यनत्र
सगति—रक्षयलाखने द्वे जगतो मूत्तत्त्वे—प्रह्वनायाऽपरपदाभिषेये । तत्र रक्षो
विमुर्निष्य, ७७ तु परिच्छिन्नमपि विनश्वरमपि च सख्यानन्त्यान् व्यातिमन्
प्रकाशितस्य च, तस्मिन्पादसोऽपि परिच्छिन्न इवामाति । तत एव च
निनिशाघनाद् वड मादेरुच्यते । तस्मिन् परिच्छिन्ने मयाखने महावत्त यावन्
स्मनागोऽनुप्राप्तो भवति—पृथादिष्विवासाशनाग, स पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रस्यं
मूत्तश्च उच्छिष्टश्च परिभाष्यते । स एव च भवति सर्वजगत्पादानम्—इति
तस्मादेव सर्वा सुशिराथर्वणे समान्नाता । अत्र पुरुषसूक्तसर्वदोऽपि—

एतावन्तस्य नहिमातो वार्याश्च पूष्य ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि निषादस्यामृतं दिवि ॥ इति ॥

अननेनाप्रजतविचारण । पुराणानां वदै सह तस्मादेव सर्वेऽगन्तूया
तुच्छिरेति इत्येव मन्त्रे । अत्र च नान्यद्विशेषणत्वेनोक्तं स्वतन्त्रं पुराणशब्द
पुराणित्याया एवाभिधायक इति नात्र स द्वाहात्तर । वृहदारण्यकोपनिषत्सु—

“स यश्चेन्धनाग्नेरस्यादित्वात् पृथग् धूमा विनिश्चरति एव वा अथे
अस्य महतो मूत्स्य मिश्रसिन्धेत्—दृष्टग्दो यजुर्वेद सामवेदाऽवर्षाद्विरस
द्विहासपुराणं नित्या ऊनपद लोका मूसागि अतुःप्राख्यानानि व्याख्यानानि
अप्येवैतानि सर्वाणि निश्चितानि ।” (बृह० २।४।१०) इति महतां मूत्स्य
परमात्मनो निश्च सत्पण्येव वेदा पुराणानि व्याख्यातानि । अयमत्राभिप्राय —
अमन्द दिशरीरे दिविवास्तावक्षिया समुत्पद्यन्ते—

ज्ञानजन्या भवेद्विज्ञा इच्छाजन्या कृतिर्भवत् ।

कृतिजन्य भवेत्कर्म—

इति न्यायशास्त्रोक्तप्रक्रियया जायमाना प्रथमा । पुष्प प्रथममिन्द्रियादिमि
स्वप्रतिकूल दश वा मशक वा पुष्पान्तरमेव वा प्रहरन्त जानाति, ततश्च
निवारयेयमेनमिति वा पलायेयम् इति वा इच्छति, इच्छयाऽऽत्मनि यत्न
प्रादुर्भवति, प्रयत्नवदारम्प्रेरणाच्च हस्ते पादे वा न्रिया भवति, यथा दशादिक
पुष्पान्तर वा निवारयति तत पलायितोऽन्यत्र वा गच्छतीति क्रम सर्वत्रानु
भूयते । अपर स्तु क्रिया अनिच्छाकृता एव भवन्ति—यथा हृत्कर्म, नेत्रनिमी
लनम्, श्वासनिर्गमश्चेत्याद्या । न हि वय स्वेच्छया प्रयत्नमुत्पाद्य श्वास'दिक
प्रेरयाम, अबुद्धिपूर्वकमव तु सतत क्रमेण ता क्रिया स्वभावात् प्रवर्तन्ते ।
तथैव परमात्मनोऽपि स्वभावदेव वेदपुराणादिक प्रादुर्भवति—न तु बुद्धिपूर्वक
तदुत्पाद्यत इति निश्चासतादृश्येन प्रयत्नाजन्यत्वरूपापौरुषेयत्वं च वेदपुराणादी
नामामव्यञ्जितम् । नदीश्वरस्यापि वेदपुराणाद्युत्पादने स्वातन्त्र्यम्, अपि तु
निश्चयेव तानि स्वभान्तस्त्वस्मात्प्रादुर्भवन्ति इति । यथा च निश्चासैरेव
शरीरस्यात्माधिष्ठितत्वपरिचय, सर्वथा निश्चासनिराधे हि मृत इत्येवोच्यतेऽ
खिले, तथैव ब्रह्माण्डस्थेश्वरशरीरभूतस्य वेदपुराणादिभिरेवेश्वराधिष्ठितानिश्चय ।
यदि नामविपर्यन् वेदा पुराणानि वा, न तर्हि कनाल्पेतदधिष्ठाता परमेश्वर
प्रत्यभ्यञ्जास्यत । वेदपुराणादिनिरेवेश्वर प्रत्याथ्यते । तदुक्त भगवता व्यासेन
ब्रह्मसूत्रेषु—‘शास्त्रयोनित्वात्’ । (१।१।३) इति ॥

जगज्जन्मादिकर्तुं ब्रह्मेति शास्त्रेणैव प्रत्याथ्यतेऽयमर्थ ।

यत्तु केचिदाशङ्कन्ति—उपात्तेय श्रुतिर्बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रे
यीसनादे समुल्लभ्यते, तत्र च जीवात्मैवोपक्रान्त ‘न वा अरे पत्यु कामाय
पति प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति’ इत्यादिना ।
ततश्चात्र महतो भूतस्येति प्रक्रान्तो जीवामैव ग्रहीतव्य इति नैनया श्रुत्या
परमात्मन सकाशाद् उत्पत्तिर्वेदपुराणादीनां सिध्यति इति । तदेतद्वाक्यान्वयाधि
करणेन भगवता व्यासैव ब्रह्मसूत्रेषु समाहितम् । जीवात्माभेदेनैवान् परमात्मान
ग्राहयितुं प्रवृत्तो भगवान् याज्ञवल्क्य प्रथम औकर्याय जीवात्मानमेव प्रियतास्य
दखन ग्राहयित्वा तदभिन्नतयैव परमात्मनो दर्शनं विधत्ते । तत एव ‘आत्मा वा
अरे द्रष्टव्य’ इति । ‘आत्मनो वा अरे दर्शनेन अद्वेनेन मत्या निशानेनेद् सर्व
निदितम्’ इत्येकविज्ञानेन सर्वविश्व नप्रतिज्ञामुपनिषत्प्रविद्वामन्ववदत् । तेन च
सर्वजगन्मूलभूतस्य परमात्मन एवात्र ज्ञेयत्वेनोपक्षेप इति स्फुगीभवति ।
मूलभूतस्य विज्ञानेनैव सर्वविज्ञानसम्भवात् । इद सर्वं यदयमात्मा इति च वदन्

सर्वात्मभूत परमात्मैवाश वेदानयोपदिष्ट इति स्फुगीचकार । तदग्रे महद् मूलपदाभ्या तमेव स्मारयित्वा तस्मान् सर्वस्याप्युत्पत्तिमभिदधे—इति सुस्फुगेऽयमर्थः । ये तु जीवात्मन परमात्मना सद्वाद्वैतभाव न सहन्ते, तथा दुरभिलष्येय भुक्तिरि यन्यदेतत् ।

यदपि केचिदाहु —“इतिहास पुराण विद्योपनिषत् इत्येक सूत्रभाषयानादिक सर्वाभिद ब्राह्मणभागस्थान्नगंसमिह ग्राह्यम्, अग्न प्रागवस्थाप्रतिपादक 'त्रैव वा किञ्चिदग्न आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणभाग एव पुराणम् । 'देवामुरा सयत्ता आसन्' इत्यादयश्चेनिहासा ” इत्यादि, तदपीद न विवेकबुद्धिग्राह्यम् । इह हि उपदिष्टाया बृहदारण्यकश्रुतौ 'श्रुच' 'यजूषि' 'सामानि' इति नोपात्तम् आप तु 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद' 'सामवेद' इत्युपात्तम् । 'तेषामृग्यनार्थ-शेन प दन्य-रस्या' (मी० सू० ३ । १ । ३५) इत्यादित्रैमिनित्रचोनुऽस्त्य श्रुक्पदेन पक्षान्येष गृहीतुमुचितानि । सामपदेन गीतय एव, यजुपदेन गद्यान्येव । ऋग्वेदपदेन तु श्रुक्प्रधान सर्वोऽपि सदिताब्राह्मणात्मक ऋग्वेद इति प्रसिद्ध समग्रो ग्राह्य । तथैव च सामवेदयजुर्वेदपदाभ्यामित्यस्ति शिष्टपरम्परागता शब्दार्थ यवस्थिति ॥

तथा च ब्राह्मणानामृग्वेदादिपदेनैव सगृहीतत्वात् पुनरितिहासपुराणग्रहणम पार्थक्यमव । तथैव च उदाहृतपूर्वाया ग्रन्थोद्यक्षुतावपि ऋग्वेदादिपदानि सकीर्णं इतिहासपुराणमित्यस्य विशेषण पञ्चमम् इत्यपि श्रूयते । यदि नाम ब्राह्मणानामव क्तिन्न भागा इतिहासपुराणग्रन्थाम्भा विवक्षिता स्यु, तर्हि पञ्चमपदेन ते भागा क्य सगृह्यन्तु । तत्र हि विद्यागणना वा प्रस्तुता, ग्रन्थगणना वति तावद्विचार्यम् । तनादित एव विद्यागणना चेन्मन्थेन, ऋग्वेदाद्यापादान तर्हि नान्वियात्, न हि ऋग्वेद इति यजुर्वेद इति वा कापि विद्या प्रसिध्यति । बहोना विद्याना तत्र तनान्तर्भावात् । तस्मात् 'पञ्चमम्' इति पर्यन्तम् ग्रन्थगणनैवाभिप्रेतेत्यज्ञानेनाप्यदृष्ट स्वीकर्तुमुचित स्यात् । तत्र एव च अर्थ-वेदस्य चतुर्थत्वेन पृथग्गणनापि युक्तिमती । श्रुच यजूषि इत्यादिरूपेण चेत्यरिगण्यते, न तर्हि आयवर्णं चतुर्थमिति वक्तव्य स्यात् । ऋगादिपदेन तद्भागानामपि सगृहीतत्वात् । अनन्तरन्तु भवतु विद्यागणना न्युपगम, तत्र सहस्रपावाचकपदाश्रवणात्, विद्याशब्दस्य स्रष्ट श्रवणात् । तत्र च ग्रन्थगणनायामितिहासपुराणमिति पुराणविद्याप्रतिपादपादको ग्रन्थ एवोक्त न तु ब्राह्मणेषु तत्र शशोःकल्प्यमानास्ते भागा इत्येव युक्तमनुपगन्तुम्, बृहदा रण्यकश्रुतावपि मुख्यन्यायात्तथैव । यथा चेतिहासपुराणमिति शब्दो विद्यावाचकौ ग्रन्थेऽपि प्रवर्तेते, तथाग्रिमेषु प्रकरणेषु सुस्फुः स्यात् । श्रीशङ्कराचार्यो अपि ब्रह्मसूत्रभाष्यदेवताधिकरणे 'ज्योतिषमावाच्य' इति सूत्रस्य भाष्ये “इतिहास

पुराणमत्रि षोडशेनत्वात् प्रमाणान्तरं मूलमाकाङ्क्षते” इति पूर्वपक्षे इतिहासपुराणयो-
 वेदातिरिक्त्वा स्पष्टमुक्त्वा तस्याभाष्ये च संशय प्रदर्श्य सिद्धान्तपक्षे “मावं तु
 वादरायणेऽस्ति हि” इति सूत्रभाष्ये ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिना सामर्थ्ये
 नारददीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यन् । तस्मात् सन्मूलमितिहासपुराणम्” इत्यु-
 च्यम् । तेनेतिहासपुराणानां वेदातिरिक्त्वेऽपि आपत्तं प्रामाण्यं च स्पष्टमुच्यम् ।
 तदेवमितिहासपुराणानां वेदातिरिक्त्वे सिद्धे तन्मूलमितिहासपुराण वेदेभ्यः
 पृथगेव सिद्ध्यति । किं च ब्राह्मणमाणा एव यदि विश्वकल्प्य तैस्तैः
 पदैः श्रुतिषु विभिन्ननामभिः परिगृहीताः तर्हि, ब्राह्मणानां मुख्यो भागः कर्म
 विधिनाम केन शब्देन गृहीत इति विमृश्य स्यात् । किं सर्वं विद्या अधिगतव
 तापि नारदेन कर्मभागो नाधीतः । बृहदारण्यके वा तस्य परमात्मनः उत्पत्ति-
 र्नाम्नात्ता । अन्ये पुराणायां ब्राह्मणमाणा महतो भूतानिश्चितरूपेणोत्पन्नाः
 मुख्यो ब्राह्मणमाणाः कर्मविधिरूपश्च न महतो भूतादुत्पन्न इति श्रुत्याशयमतुन्मत्त-
 कः श्रद्धात् । विरासूत्रव्याख्यानादिपदैस्तु तदर्थमिति ब्रूयन्ते, ननु विलक्षण्येय
 पदतिर्यग् ब्राह्मणेश्वप्राधान्येन यत्र बुधकिदुपलभ्यमानाः पुराणादिनायाः स्वशब्दै-
 र्बुध्वायन्ते । मुख्यतनो विधिभागस्तु कथञ्चिद्विगुरुपेग केनचिच्छेदेन, एतानान्
 प्रद्वेषस्तन्मत्ता नारदनाशकन्वयादीनाम् यत्ते त शब्द नीचचारयन्ति इति तस्मा-
 द्द्वेदादिपदैरेव मन्त्रब्राह्मणमन्त्रकारते ते वेदा इह गृहीताः । अग्रे चाम्नाता
 इतिहासपुराणायां ब्राह्मणेश्वः पृथगेवेत्यर्थः, स्पष्टतत्र स्वीकार्यः । यत्तु केचन
 वेदमन्त्रनागस्यानादितामुद्घोषयन्तोऽपि ‘पञ्चमन्त्रिनापरो मन्त्रागामर्थः पश्चात्
 प्रवृत्त’ इति साधयितुं सङ्गच्छन्ति तेषां मते—

‘श्रुत्वा त्वः षोडशारते पुपुष्वान्
 गायत्रं त्वो गायति शकरीषु ।
 ब्रह्मा त्वो वदति जातनियाम्
 यज्ञस्य मात्रा विनिमीत उक्त्वा ॥ (श्रु० १०।७।१।११)

इत्यादिना स्पष्टं यत्ते श्रुतिविकृत्यविभागप्रतिपादकाना निदक्ते च तथैव व्याख्या-
 तानां मन्त्राणां कः प्रामाणिकोऽर्थः स्यात् । यत्तुसिद्धितापूर्वविशतिष्ठायाश्च यत्त-
 णिनिषेगक्रमेणैव सङ्गठितायाः का सङ्गतिश्च ? किं च ‘मन्त्रात्मकान् वेदान् समु-
 दिश्य तदर्थग्रहणेऽद्यक्तान् जनान् ईश्वर एव तदर्थं ग्राहयामास, तानि मन्त्र-
 व्याख्यानरूपानि ब्राह्मणानि’ इति स्वनिबन्धे श्रीरुचामिदयानन्देनाप्युच्यम् । ब्राह्मणेषु
 च कर्मबोधनरागदेव व्याख्यानानि मन्त्राणामुपलभ्यन्त इतीश्वरबोधितादप्यर्थान्
 प्राक् का व्याख्या संवेद ? ननु मोः क्लेशाः एताभिः व्याख्यानानि अनु-
 व्याख्यानानि इत्याद्यपि तर्हि परमात्मन आविर्भूतमनादिस्वीकर्तृमापतेदिति ३६

बाढम् । अनदिशङ्कनीया भगवती श्रुतिरिति श्लोकसूत्र-वाख्यानादिकमपि मूलभूत-
मनाद्यभ्युत्थानतद्वदेव । यथा स्वयत्वे पुराणेतिहासा व्यासेन स्वरूपान्तरीकृतस्य
एव अस्मादिदं अभ्यन्ते, तथा श्लोकसूत्रादिकमपि मूलभूतमनादि नोपलभ्यते,
तैस्तैर्मुनिमी रूपान्तरता प्रापितमेव तु लभ्यत इत्येव स्वारसिक सिद्धान्तः स्वीकर-
णीय स्यात्, गत्यन्तरामावात् । अत एव च “ऋमे सर्वे वेदा निर्मिताः सवल्पा,
सरहस्या, सब्राह्मणाः, सोपनिषत्का, सेतिहासाः, सव्याख्याना, सपुराणा,
ससंस्कारा, सनिरुक्ताः, सानुशासना, सानुमार्जनाः, सवाक्यवाक्या”, इति
(गोपय० पूर्वभाग० प्रपा० २१ का० १) इति गोपयभूतिरप्युपपद्यते । इह
हि स्फुटमेव ब्राह्मणेषु पृथक्पृथक् पुराणेतिहासादीनि कल्पाभ्याख्यानादीनि
चोपात्तानि । ब्राह्मणवसिष्ठन्यायाश्रयण स्वरूपगतिरिति । तस्मात् सर्वोपेतानि
वेदवदनादीन्यासन् पूर्वयुगे, इदानीं तु मन्त्रब्राह्मणोपनिषदात्मिका वेदा एव
स्वरूपे सुरक्षिता अश्रयणपरम्परया द्विजैः । अन्यानि तु कालपर्यायेण रूपान्तरता
मेवापद्याद्यत्वे उपलभ्यन्ते, न तु अनादिरूपे इत्येव स्पष्टं फलति—इत्यलं विस्तरेण ।
तदित्यं पुराणाना पञ्चमवेदत्वमीश्वरानि श्रुतिरस्वमनादित्वं च श्रुतिभिरेव प्रतिपाद्यत
इति किमत पर तन्महत्त्वमनुकीर्तनीय स्यात् ॥

पुराण-लक्षणानि

अथ पुराणविद्यायां प्राधान्येन के के विषया अन्तेर्भवन्ति, के वा तत्रा-
प्राधान्येन संश्लक्षन्त इत्यादि पुराणाधारेणैव निरूपणीयम् । तत्र प्रायेण सर्वेषु
पुराणेषु पञ्चलक्षणानि पुराणस्य व्याख्यातानि, पञ्चविधयाः प्राधान्येन पुराण-
विद्यायामन्तर्भवन्तीति तत्तात्पर्यम् । तैरेव विधेयं लक्ष्यते-विज्ञायते इति तानि
लक्षणानि । तानि च विद्यास्वरूपान्तर्गतानीति स्वरूपलक्षणानि बोद्धव्यानि ।

“सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

लक्षणमिदं किञ्चित्साठभेदेन ऐक्यरूप्येण वा विष्णुपुराणे (३ अंशे, ६
अ०, श्लो० २४), मार्कण्डेयपुराणे (अ० १३४ श्लो० १३), अग्निपुराणे
(अ० १, श्लो० १४), मत्स्यपुराणे (अ० २, श्लो० ५), ब्रह्मवैवर्तपुराणे
(अ० १३३, श्लो० ६), बराहपुराणे (अ० २, श्लो० ४), स्कन्दपुराणे
(प्रमासलण्डे अ० २, श्लो० ८४), कूर्मपुराणे (पूर्व०, अ० १, श्लो० १२),
मत्स्यपुराणे (अ० ५३, श्लो० ६४), गरुडपुराणे (आचारकाण्डे अ० २,
श्लो० २८), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभागे अ० १, श्लो० ३८), शिवपुराणे
(वायवीय सं०, अ० १, श्लो० ४१), देवीभागवते तथा अन्यत्रान्यत्रापि
च लभ्यते । सर्गो नाम सृष्टिः, जगत उत्पत्तिः; प्रतिसर्गो नाम हर्यमानस्थास्य
सर्वस्य समये समये प्रलयः; वंशः—उत्पादानमृतानां तत्त्वानाम्, देवादीनाम्,
मनुष्याणां च उत्पत्तिपरम्परा; वंशानुचरितम्—तत्तद्दशमवाना तत्तेषां विषये
यद्विधिष्य वक्तव्यं तद्विवरणम् (अथैव तत्तन्मनुष्यवंशप्रस्तानां महर्षीणां राज्ञां च
चरितान्यपि समाविष्टानि); मन्वन्तरम्—सृष्ट्यादीनां कालव्यवस्थापनम्—
इति सामान्येन शब्दानामेषां विवरणमपि तत्र तत्र प्राप्यते । क्वचित्
प्रतिसर्गपदेन आदिसृष्टेरनन्तरं बायमाना अवान्तरसृष्टिरिति व्याख्यायते, प्रलयस्तु
सृष्टिप्रातिलोभ्येन व्यवस्थापनीय इति तदाशयः । अत्रार्थे प्रतिसर्गपदस्थाने
विसर्गपदं केचिन्नित्शेषयन्ति । वंशानुचरितस्थाने वंशानुचरितमिति बहुत्र पाठः ।
तत्र वंशमवानामनुचरितमिति मध्यममदलोपी समात्त आशयणीयः, वशे मवाना
चरितं वंश एव समारोप्य वा व्याख्येयम् ।

अत्र लक्षणे कुत्र कुत्र कस्य कस्य विषयस्य समावेश इत्यपि तत्र तत्र
निवृत्तम्, यथा विष्णुपुराणे आरम्भ एव प्रश्नमुखेन विवरणम्—

सोऽहमिच्छामि घर्मसं भोतु त्वत्तो यथा जगत् ।
 बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥
 यन्मय च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्छराचरम् ।
 लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥
 यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीना च सम्भवम् ।
 समुद्रपर्वताना च सस्थान च यथा भुव ॥
 सूर्यादीना च सस्थान प्रमाण मुनिसत्तम ।
 देवादीनां तथा वशान्मनून् मन्वन्तराणि च ॥
 कल्पान् कल्पविभागाश्च चातुर्धुगविकल्पितान् ।
 कल्पान्तस्य स्वल्प च युगधर्माश्च वृत्तेश्च ॥
 देवर्षिपार्षिधाना च चरित यन्महाशुने ।
 वेदशाखाप्रणयन यथावद् व्यासकर्तृकम् ॥
 घर्माश्च ब्राह्मणादीनां तथा चाश्वमेधादिनाम् ।
 श्रोतुमिच्छाम्यह सर्वं त्वत्तो वासिष्ठनन्दन ॥

{ विष्णुपुराण १ अ०, १ ब०, ४-१० श्लो० }

अत्र “यत्प्रमाणानि भूतानि, देवादीना सम्भव, समुद्रपर्वताना भुवश्च
 सस्थानम्, सूर्यादीना सस्थानमिति सर्वं सर्गोऽन्तर्भवति । देवादीना वशा, वसो,
 कल्पान्, कल्पविभागानित्यादि सर्वं, युगधर्माश्च मन्वन्तरप्रकरणे, देवर्षिपार्षिधा
 दीना चरित १३यानुचरिते, वेदशाखाविभागकरणाद्यपि च तत्रैवान्तर्भावम् ।
 वायुपुराणे चापि—

पुराणयेदो ह्यखिलस्तस्मिन् सम्यक् प्रतिष्ठित ।

भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी ॥

धर्मार्थकाममोक्षार्था कथा यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।

सृष्टा सुपरिभाषाश्च मूमाक्षोषधयो यथा ॥ (अ० १।१८, १९)

एवमादि विस्ताररूपेणैवोक्तम् । श्रीमद्भागवते ब्रह्मवैवर्ते च पुराणानां
 दशलक्षणानि वक्ष्यन्ते । तत्र श्रीमद्भागवते यथा—

अत्र सर्गो द्विसर्गश्च स्थान पोषणमृतय ।

मन्वन्तरेद्यानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय ॥

दशमस्य विदुद्रथर्थं नवानामिह लक्षणम् ।

१०यति महात्मान भृतेनाथेन चाञ्जला ॥

मूगमाधेन्द्रियधियां ज-म सर्ग उदाहृत ।

ब्रह्मणो गुणवैश्वान्याद्विसर्ग पोष्य स्मृत ॥

(द्वितीयस्कन्धे १० अ०, १-७)

रिथतिर्वैकुण्ठविजयः पोषण तदनुग्रह ।
 मन्वन्तराण सद्धर्मं कृतय कर्मवासना ॥
 अवतारानुचरित हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
 पुसामीशकया प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिता ॥
 निरोधोऽस्यानुशयनमात्मन सह शक्तिभि ।
 मुक्तिर्हितान्यथा रूप स्वरूपेण व्यवस्थिति ॥
 आमासश्च निरोधश्च यतश्चाप्यवसीयते ।
 स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्दते ॥

श्रीमद्भागवत एव द्वादशे स्कन्धे सप्तमेऽध्याये अष्टम श्लोकमारभ्य
 किञ्चिद्भेदेन दशलक्षणानि परिगण्यन्ते—

पुराणलक्षण ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
 मृगुष्व बुद्धमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारत ॥
 सर्गोऽस्याय विसर्गश्च वृत्ती रक्षाऽन्तराणि च ।
 वशो वशानुचरित सत्या हेतुरपाश्रय ॥
 दशभिलक्षणैर्युक्त पुराण तद्विदो विदु ।
 केचिरत्रविष ब्रह्मन् महदलनव्यवस्थया ॥
 अव्याहृतगुणोभान् महत्क्रिबृतोऽहम् ।
 भूतमात्रेन्द्रियार्यानां समव सर्ग उच्यते ॥
 पुरुषानुष्टशैतानामेतेषा वाचनामय ।
 विसर्गोऽय समाहारो बीजाद्वीच चराचरम् ॥
 वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
 कृता स्वन नृगा तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥
 रक्षाऽच्युतावतारहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
 निर्यङ्मर्त्याधिदेवेषु हन्यन्ते यैल्लयीद्विष ॥
 मन्वन्तर मनुदेवा मनुपुत्रा सुरेश्वरा ।
 शृषयोशावताराश्च हरे षड्विधलुच्यते ॥
 राश ब्रह्मप्रस्ताना वंशत्रैकालिकोऽप्यय ।
 वशानुचरित तेषा वृत्त वशधराश्च ये ॥
 नैमित्तिक प्राकृतको नित्य आत्यन्तिकोऽप्यय ।
 सत्येति चविभि प्राक्ता चतुर्धास्य स्वभावत ॥
 हेतुर्भावोऽस्य सर्गद्विरविद्याकर्मकारक ।
 य चानुशयिन प्राहुरव्याहृतनुतापरे ॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
 मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिश्चभाभय ॥
 एवलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविद ।
 मुनयोऽष्टादश प्राहुः सुल्लोकानि महान्ति च ॥

ब्रह्मवैवर्तेऽप्येतानि दशलक्षणानि शब्दान्तरैरुच्यन्ते —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च ।
 वंशानुचरित विप्र पुराण पञ्चलक्षणम् ॥
 एतदुपपुराणाना लक्षणं च निदुर्बुधा ।
 महता च पुराणाना लक्षणं कथयामि ते ॥
 सृष्टिश्चापि निवृष्टिश्च स्थितिस्तेषां च पालनम् ।
 कर्मणां वासना वार्ता मनूना चाक्रमेण च ॥
 वर्णनं प्रल्यानां च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
 तस्मीर्तनं हरेरेव वेदानां च पृथक् पृथक् ॥
 दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम् ।

(कृष्णलक्षणे १२ अ०, ६-११ श्लोक)

तत्रैतस्मिन् विचार्यमाणे त्रिषु स्थानेषु दशानां लक्षणानामुक्तौ शब्दभेद एव,
 नाभिप्रायभेद । श्रीमद्भागवते द्वादशे स्कन्धे, सर्गं १, विसर्गं २, वृत्ति ३,
 रक्षा ४, अन्तराणि ५, वंश ६, वंशानुचरितम् ७, सस्या ८, हेतु ९,
 अपाश्रय १०, इति लक्षणान्युक्तानि । द्वितीये स्कन्धे तु सर्गं, विसर्गं, इति
 द्वौ समानौ शब्दौ, अन्तराणीत्यस्य स्थाने स्पष्टीकृत्य 'मन्वन्तर' इति पदं निवेशितम्,
 अपाश्रयस्थाने च भाश्रय एवोक्तं । हेतु — जीवस्य ससारप्राप्तिहेतुं अविद्याकर्मदिकं
 यत्, यत् स्थाने तत्र कतिपयं निवेशितम्, 'जनय कर्मवासना' इति स्पष्टीकृतमेव ।
 एव पञ्चानां साम्यम् । अनन्तरं वंश वंशानुचरिते ईशानुकथापदेन गृहीते
 'हरे, अस्थानुवर्तिना च कथा—इति श्रुतिराजादिचरितानामपि समग्रस्य
 तत्र स्पष्टमुक्तावात्, वंशमन्तरेण वंशानुचरितकथनस्यासामञ्जस्येन दशस्य वंशानु
 चरित एवान्तर्भावः । सस्यापदेन चतुर्विधं प्रलयो द्वादशे स्कन्धे सृष्टीत्, तत्र
 वैश्वस्य शोषयित्तुमारयन्तिकलयरूपा मुक्तिर्द्वितीये पृथुगुपात्ता, निरोधश्च नैमित्तिक
 क्प्रकृतिकप्रलयरूपं पृथग् बोधितं । द्वादशे रक्षापदेन अवतारकथाबोधकं
 अहं प्रहं रूपं पोषणमपि सृष्टीत्मासीत्, द्वितीये तु ईशानुकथा, पोषणं चेति पृथक्
 कृत्योक्तम् । एव इत्यस्यान्तर्भावः, इत्यस्य पृथक्करणमिति नव लक्षणानि
 सम्पन्नानि । द्वादशे च वृत्तिशब्देन मृतानां परस्परोपमर्देन जीवनरूपा या
 स्थितिरुक्ता, सा द्वितीये स्थानपदेन समुपात्ता । स्थानं स्थिति "वैकुण्ठ
 विन्ध्य" इति यदुक्तम् तस्यायमेकाशयो यत्पालकस्य विष्णोर्वैकुण्ठपदाभिधेयस्यायमेव

विषयः—स्वकार्यसाधकता यद्भूतानि परस्परमन्त्राभादभावेन चीन्तीति । एवं भागवतोक्तानां दशानां लक्षणानां सामञ्जस्यम् । ब्रह्मवैवर्तेऽपि सृष्टिः १, विष्णुष्टिः २, स्थितिः ३, कर्मणा वाचना ४, भूतानां वार्ताः ५, प्रख्याना वार्तनम् ६, मोक्षस्य निरूपणम् ७, इति सप्त लक्षणानि समान्येन । हरेः कीर्तनम्—इति आश्रयः, पोषणं च तत्रैव संप्रदीतम् । वेदानां च पृथक्पृथगिति ईशानुक्त्या बोधिता क्रमेण अक्रमेण वा वार्तेति वंशानुचरितं पृथक्कृत्योक्तमिति शब्दान्तरेण तान्येव दशलक्षणान्युपात्तानि ।

वस्तुतस्तु इमानि दश पञ्चानामेव विस्तारमात्रम् । सर्गः, प्रतिसर्गः (प्रलयः सत्या), वंशः, वंशानुचरितम्, मन्वन्तराणीति पञ्च लक्षणानि भीमद्भागवतस्य द्वादशो स्कन्धे स्वशब्देनैवोपात्तानि । अन्यत्र यथा संप्रहृष्टान्ते तयोक्तान्येव । अवशिष्टेषु पञ्चसु विषयैः सप्तु सर्गस्येवावान्तरो भेदः, आश्रय-शब्देनोपात्त ईश्वरश्च सर्गकर्तृत्वेन, हेतुरित्युत्तिरिति वा समाख्याता कर्म-वाचना च सर्गहेतुत्वेन सर्ग एवान्तर्भावमर्हति । वृत्तिरिति स्थानमिति वामिर्वाहितः परस्परमुपमर्द्योन्नतवर्कभावः वंशानुचरिते स्फुटमन्तर्भावस्येव । ईशानुक्त्या पोषणं च रक्षा वापि वंशानुचरित एवान्तर्भवन्ति, अवताराणां स्वचिद्वश एव प्रादुर्भावात्, वंशानुचरितपदेन अवतारचरितानामपि संप्रहृष्ट-त्वात् । तस्मात् पञ्चानां प्रपञ्च एव दशलक्षणानीति नाम परस्परं कोऽपि विरोधः । केवलनीश्वरसततप्राधान्यबोधनाय पृथक्कृत्य भागवतादौ तानि प्रोक्तानि ।

प्रत्येकं हि शास्त्राणां मुख्यप्रतिपाद्याः प्रातिस्विक्का विषयाः पृथक् पृथक् भवन्ति । बह्वस्तु प्रसङ्गिका अन्यदीया विषया अपि तत्रापतन्ति । यथा धर्मशास्त्रे मनुस्मृत्यादावपि सृष्टिप्रक्रिया, आध्यात्मिका दार्शनिकाश्चापि विषयाः प्रसङ्गेन सन्ति निरूपिताः । दर्शनेष्वपि चास्ति धर्मविषयः प्रासङ्गिकः । तत्तच्छास्त्रेणैव क्रियमाणे तु यस्तस्य प्रातिस्विक्को विषयः स एव लक्षणत्वेन निरूपणीयो भवति । सर्गादयः पञ्चैव च पुराणानां प्रातिस्विक्का विषयाः, एषामन्यत्र स्पष्टमनुबन्धान्, कर्म, वाचना, ईश्वरः इत्याद्यास्तु विषया न पुराणानां प्रातिस्विक्काः, तेषां वेदेषु दर्शनेषु उपासनाप्रस्थेषु धर्मशास्त्रेष्वपि च विस्तरेण प्रतिपादनात् । एतद्बुद्धि नास्ति विद्यासु स कोऽपि विषयः, यः पुराणेषु न संप्रहृष्टो भवेत्, परं सर्वेऽपि ते विषयाः पुराणानां लक्षणानि न भवन्ति । प्रातिस्विक्का एव तु संप्रहृष्टाया विषया लक्षणत्वेन निरूपयितुमुचिता इति त एव सर्वत्र पुराणशास्त्रत्वेन निरूप्यन्ते । भीमद्भागवतस्य तु प्रादुर्भाव एव भागवतान्-धर्मान् ध्याख्यातुमिति तदुपक्रम एव स्पष्टम् । तस्माज्जगदीश्वरो भगवानेव

तत्र मुख्य प्रतिपाद्य, अन्येषां निरूपण तु केवलमोश्वरस्वरूपपरिज्ञानायेति—

‘दशमस्य विशुद्धार्थे नवानामिह लक्षणम्’

इति तत्र स्पष्टमुक्तम् । मुक्तिरेव तत्र मुख्यतया साध्या, सा च जगदीश्वरानुग्रहमन्तरेण नावाप्येति मुक्तियोगणादीनामपि मुख्यतया कथनं तत्र युज्यत एव । न तु सर्वेषु पुराणेष्वेया मुख्यता, तथा सति—

“त्वया भागवता धर्मा प्रायेण न निरूपिता”

इति नारदस्य व्यास प्रति कथनमसमञ्जसं स्यात् । यद्यपि ईश्वरस्य ईश्वरभक्त्यादेश्च निरूपणमन्यत्रापि पुराणेषु सुविशदं प्राप्यत एव, विशिष्टं च महाभारते, तथापि पुराणान्तरेषु मुख्यप्रतिपाद्य सृष्ट्यादिकमेव, महाभारते च भरतवक्ष्यानामितिहास एव मुख्य प्रतिपाद्य इतीश्वरस्य तद्भक्तस्तदमर्णा च निरूपणं तत्र तथा प्राधान्येन, भागवते तु प्राधान्येनेति भागवते स्फुटमभिमन्यते । तत एव तत्रेश्वरप्रधानानां दद्यानां लक्षणानां विवरणं कृतम् ।

दशलक्षणरहस्यम्

तत्रापि दशलक्षणकथने रहस्यमिदं प्रतीयते—

“बन्माद्यस्य यत्”

इत्यादिना जगतो बन्मस्थितिसदृशकर्तृत्वमीश्वरलक्षणमभिहितम्—आम्नात च तदेव श्रुतिषु—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत्र जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यमि-
सविशन्ति’ इति ।

आगमिक प्रत्यभिज्ञादर्शने तु परमशिवपदामित्रैवस्य परमेश्वरस्य पञ्चकृत्यकारि-
त्वं प्रतिपादितम्, तानि च पञ्चकृत्यानि, सृष्टि, स्थिति, संहार, विव्यनम्
(निग्रह), अनुग्रह इति । अत्र त्रीणि कृत्यानि पूर्वोक्तानि भौतान्देव, जीवस्य
बन्धप्रापणम्, अनुग्रहेण मोचनं चेति द्वयमधिकमुक्तम् । तान्येतानि पञ्च भगवत-
कृत्यानि लक्षणरूपेण श्रीमद्भागवते त्रितीये स्कन्धे सर्गं, स्थानम्, निरोध, विशर्गं,
पोषणम्, इति शब्दैरभिहितानि । विशर्गपदेन पौरुषसर्गस्योक्ततया निग्रहेण जीव-
भावप्रापणस्यैवामिहितत्वात् । पोषणपदेनानुग्रहस्तु स्पष्टं तत्रोक्तं एव । अथास्य
पञ्चकृत्यकारिणं परमेश्वरस्य द्वे रूपे—तत्र उपास्यमनुयाहक रूपम् आश्रयपदेन,
जगत्परिचाटकं तु कालरूपम् मन्वन्तस्वदेन स्पष्टीतम् । तदित्यमीश्वरत्वबन्धे सप्त
लक्षणानि व्याख्यातानि । निरुद्धीतस्य जीवभाव गमिरस्य तु सम्बन्धेन संशय-
पातिक्रान्ति (कर्मवासना) विमोचनसाधिका ईशानुक्त्या, पोषणफलभूता
मुक्तिश्चेति त्रीणि लक्षणान्मुक्तानीति दशैतानि जीवेश्वरसम्बन्धेनैव पर्यवस्यन्ति ।

तान्येतानि प्राधान्येन भगवन्तमोश्वरम् तदाराधनाधिकारिणं बीव च प्रकृत्य
तन्निरूपणप्रवृत्तस्य श्रीभागवतस्यैव लक्षणानि भवितुमर्हन्ति, न तु पुराणसामान्य-
लक्षणानि । तत एव भागवत एवैतानि निरूपितानि, न पुराणान्तरेषु । यत्तु द्वादशे
स्कन्धे अष्टादशाना महाता पुराणानामिमानि लक्षणानीत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन कथञ्चित्
सर्वत्रैव तन्निरूपणमभिप्रेत्य, पञ्चानामेव विवृतिरूपाणि दशोत्थमभिप्रेत्य वेति सम्यगव-
धार्यम् । ब्रह्मवैवर्तेऽप्येकत्र पञ्चलक्षणान्युक्त्वा परत्र स्वस्य भागवतानुसारित्वम-
भिव्यङ्क्तुं दशलक्षणान्यपि तदनुसारीगुणपातानि इति कृत विस्तरेण । एवं
देवीभागवतेऽपि पुराणान्तरकत् पुराणानां पञ्चलक्षणान्युक्त्वा सर्गप्रतिसर्गयो-
रिद्विद्वैश्वरूपेण विवरणं कृतम्—

तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ती राज्ञी तामसी तथा ।
महालक्ष्मी सरस्वती महाकालीति ता म्रिय ॥ २० ॥
तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षणम् ।
सुप्पद्यं च समाख्यातं सर्गं शान्तिधारदै ॥ २१ ॥
इन्द्रिद्रिणवद्राणां समुत्पत्तिस्ततः स्मृता ।
पालनोत्पत्तिनाशार्थं प्रतिस्वर्गं स्मृतो हि स ॥ २२ ॥
सोमसुर्वोद्भवानां च राज्ञा वधप्रकीर्तनम् ।
हिरण्यकशिप्वादीनां वशास्ते परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥
स्वायम्भुवमुत्त्वानां च मनूनां परिवर्गनम् ।
कालसंख्या तथा तेषां तत्तन्मन्वन्तराणि च ॥ २४ ॥
तेषां वंशानुक्रमं वंशानुत्तरितं स्मृतम् ।
पञ्चलक्षणानि भवन्ति मुनिसत्तमाः ॥ २५ ॥

(१ स्कन्ध १।१८)

अथ प्रधानरूपा शिवरूपैव या चिच्छक्तिः, तस्याः वंशानां महालक्ष्म्या-
दीनामाविर्भावः सर्गपदेन, ताभिः शक्तिभिः शक्तिमता ब्रह्मविष्णुवद्राणामाविर्भावं
च प्रतिस्वर्गपदेनोक्तम् । तदपि तस्य प्रातिस्विकमेव लक्षणं निदेष्यम् । सर्वेषु
पुराणेषु तस्याः प्रक्रियायाः अनुसन्धानादिति । तथैव—

ब्रह्मविष्णवर्कद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
सहस्रं प्रहस्येन पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

(इति स्कन्दपुराणे प्रभासत्रये २।१४।१५ । मास्ये च ५।३।६४, ६५)
यदन्यथाविवरणं दृश्यते तदप्येकदेशिभूतम् । एषामपि पञ्चानां पूर्वोक्तेषु
पञ्चसु समावेश इति बोधनपरं वा । पूर्वं सर्गोदीनि पञ्चलक्षणान्युक्तवानन्तरमेव
कथनादिति ।

तदित्य पुराणसामान्यलक्षणानि सर्गादीनि पञ्चेति स्पष्टीकृतम् । तत्रापि च सर्ग एव मुख्य , अन्यानि तु तत्स्वरूपप्रतिपादकानि तच्छेषभूतानि मन्तव्यानि । तत एव बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पुराणस्य व्याचक्षणे श्रीशङ्करप्रभावत्वादे 'पुराणमसदा इदमग्र आसीदित्यादि (२ अ०, ४ ब्रा०, १० व०), इति सर्ग एव पुराणानां मुख्य लक्षणमुक्तम्, वदभाष्यकृद्भिः श्रीमाधवाचार्यप्रभृतिभिः श्रोतोदयाते तदेवानुसृतम् ।

पञ्चसु लक्षणेषु प्रत्येक पञ्च विधाः

अथ गुरुप्रवरविद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनज्ञानमहाभागचरणैस्तु पुराणोत्पत्तिप्रसंग नामके निबन्धे पुराणलक्षणेषु पञ्चसु प्रत्येक पञ्चविधत्वमाख्यातम् । तथा हि—

सृष्टिक्रमो भिन्नप्रतान्यवतारोप्यथायति ।

ब्रह्माण्डमिति सृष्ट्यधरो पुराण पञ्चलक्षणम् ।

१-सृष्टिप्रथमा षट्पूर्वा, २-सृष्टिमंथ्यमा चतुर्विधा, ३-सृष्टिस्तरा षड्विधा,
४-सपरायसृष्टि, ५-सृष्टीनामायतनमितिपञ्चविधा सृष्टि ।

शास्त्रावतरण कल्पशुद्धि सृष्ट्युपसृष्टति ।

ज्योतिश्चक्रं भुवः कोशं पञ्चेता प्रतिसृष्टय ॥

अत्र अनुसृष्टिं प्रथम (सृष्ट्युपसृष्टति) इति द्वयमपि प्रतिसृष्टिपदेन एहीतम् । अनुसृष्टेश्चैवित्तरश्चतुर्धा कृत । तत्राख्यानोपाख्यानगाथाकल्पशुद्धिरपि च तस्मिन्नेव लक्षणे स्पष्टीतानि । तन्चेतदग्रे तैरेव विवृतम्—

त्रैलोक्यविश्वविद्या ज्योतिश्चक्रं च भुवनकोशश्च ।

प्रासङ्गिकं च वशावर्ती पुराणं तु पञ्चविधम् ॥

आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च ।

प्रासङ्गिकं चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम् ॥

श्रौतं स्मार्तं सनयश्चाचारो धर्मभेदास्ते ।

नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह ॥

तदेव ज्योतिश्चक्रम्, भुवनकोश, शास्त्रानुस्यूह (शास्त्रभेदविवरणम्), कल्पशुद्धि, सृष्ट्युपसृष्टिरप्येति पञ्चपूर्वा प्रतिसृष्टि, तत्र कल्पशुद्धेर्महान् विस्तारः ।

अथ, वराहशानुचरिते अपि पञ्चविधे उक्ते—

श्रुषिवशं पितृवशं सूर्यचन्द्राग्निवशका ।

इत्थं वराहविभागोऽपि पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

श्रुषीणा देवयोनीनां राजा सूर्यादि-शशिनाम् ।

देवासुराणामन्वेषा चेदानुचरितं स्तुतम् ॥

श्रुतिचरितम्, देवयोनिचरितम्, सूर्यवंशचरितम्, चन्द्रवंशचरितम्, अग्नि-
वंशचरितम्, इति पञ्चधा वंशानुचरितम् । देवचरितम् असुरचरितं च देवयो-
निचरित एव समावेश्यमिति तद्भावः । एवम्—

युग दिव्ययुगं नित्यकल्पः कल्पाश्च सप्त ये ।

त्रिंशत्कल्पाश्च कल्पन्ते मन्वन्तरनिरूपणे ॥

इति पुराणेषु लभ्यमानाः कल्पभेदा मन्वन्तरप्रकरणे संगृहीताः । तदित्थं
पुराणोक्ता विषयाः पञ्चसु लक्षणेष्वेव संगृहीताः, विस्तारश्च पुराणविद्याया इह
प्रदर्शितः ।

पुराणेष्वरिक्ताश्चत्वारो विषयाः

अथ लोकोपयोगितया चत्वारो विषयाः पुराणेषु प्राप्तङ्गितया विशिष्य
संगृहीता इत्यपि पुराणेष्वेव प्रतिपाद्यते—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गायामिः कल्पशुद्धिमिः ।

पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥ इति ॥

(विष्णुपु० ३।६।१५, ब्रह्माण्डपु०, पू० भा० ३।४।२१)

एतच्च विवृतं विष्णुपुराणस्य भीष्मरीयावा टीकायाम्—

स्वयं दृष्टार्थकं प्राहुराख्यानकं बुधाः ।

श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते ॥ इति ॥

वंशानुक्रमेण यानि चरितान्याख्यायन्ते तानि वंशानुचरितामिधे पृथङ्गन्ते, यानि
तु तत्र तत्रोपदेशार्थं वंशक्रममनपेक्ष्यैव दृष्टान्तरूपेण पूर्वचरितानि संगृह्यन्ते तानि
आख्यानोपाख्यानशब्दाभ्यामत्र संगृहीतानि, यथा महाभारते नलोपाख्यानम्,
सावित्र्युपाख्यानम्, मार्कण्डेये मदालसोपाख्यानम्,—इत्यादीनि बहूनि तत्र तत्र
द्रष्टव्यानि । तथापि चक्रा यस्मिन् दृष्टम् तदाख्यानशब्देन, यस्तु परम्परया श्रुतम्
तदुपाख्यानशब्देन ग्राह्यमित्युक्तं श्लोके । केचित्तु वेदोक्तानामाख्यायिकानामनुवाद
रूपाणि आख्यानानि, स्वसकलितानि नलादीनां राशौ चरितानि तु उपाख्यानानि
इत्याहुः । अथापरे एवमाहुः—वंशो वंशानुचरितं चेति द्वयं पुराणलक्षणं सर्ववस्तु-
वृत्तापेक्षया वैज्ञानिकमेव बोद्धव्यम् । मनुष्यविशेषाणां राज्ञां चरितानि तु आख्या-
नान्येव, प्रवृत्तात् संगृहीतानि चोपाख्यानानीति । गायारित्वमा अतिप्राक्तन्यः ।
वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि बहुधा समुपलभ्यन्ते गायः, प्रथमप्रकरणोक्तानु पुराणप्रति-
पादिकासु श्रुतिषु च गायः अपि पृथगुक्ता एव । येन केनचिन्महामहिमभाजा

अद्यसुगन्धातेन युगान्तरजातेन वा स्वानुभवो यादृशो शब्दैरुपनिष्पद्यते, वा एक
भवन्ति गायन् । यथा पारस्करपद्यसूत्रे विशाहप्रकरणे वरो वदति—

उरस्वति प्रदेमव तुभगे वाबिनीति ।
मा र्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्वात् ॥
यस्या भूत समभवत् यस्या विश्वमिदं जगत् ।
तामद्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तम यथा ॥

यथा वा महाभारते पुत्रस्य यौवन एहीत्वाप्यतृप्तेन यथातिना स्वानुभवः
प्रदर्शित —

न चातु कामं जामानानुपमोगेन शाम्यति ।
इदिवान् कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ इति ॥

उपदेशार्थमत्युपयोग्य इमा गायन्—इति पुराणेषु स्थाने स्थाने समह-
स्तासाम् । एतासां च एषां प्रपक्व सकलनम् प्रकाशनं च त्पुपयोगि भवेज्जोक्तानाम् ।

कल्पगुद्धिं कल्पाना परिगणनादीनीति केचित् । वयं तु ब्रूमो यत् सा
कल्पगुद्धिर्मुस्यत्येणे मन्वतर एवान्तर्भूता, इह तु कल्पगुद्धिर्मन्वास्तप्रकरणम्,
तदपि पुराणेषु बहुतर स्पष्टीतम् । तत्र कल्पो नाम वेदाङ्गेषु परिगणित
कर्मकण्डप्रतिपादक भौतपृथ्वीसामयाचारिवत्तु समुच्चय, तदुक्ता अष्टचत्वारिंशत्
संस्काराः, शिष्टपरिष्ठीता सदाचाराश्चात्र कल्पशब्देन एह्यन्ते । तदुक्तं स्मृतिहृता
गौतमेन—गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणं प्राशनं चौणोपनयने
चरत्वारि वदन्नानि स्नानं सङ्घर्मचारिणीसयोगं प्रक्षान्ना यशानामनुष्ठानम्, एतेषां
चाष्टकान्वष्टका पार्षणभास्व भादप्यग्रहामणी चैत्राश्वयुजीति सप्त पाक्यशतस्या,
अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दशपूर्णमासी चातुर्मास्यमाश्रायणं निरुदनगुबन्धं सौत्रामणीति
सप्त हविर्यज्ञसंस्था, अग्निष्टोमाऽऽपग्निष्टोम उक्तय घोष्यौ वाऽपेयोऽतिरात्रोऽसौ
र्याम इति सप्त होमयज्ञसंस्था इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः, अथाष्टावात्सगुणा-
दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिरनवृषा धौचननायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति । एते
भौता स्मृतौ सामान्यधर्मरूपाश्च सर्वे चरन्तारा पुराणेषु प्रसंगेन तत्र तत्र
प्रतिपाद्यन्ते एतदुपयुक्ताश्च शिष्टपरिष्ठीता सदाचाराः ।

संस्कारो नाम त्रिविधः स्मर्यते शास्त्रेषु—दोषमार्जनम् अतिशयाधानम्
हीनाङ्गपूर्तिरुच्यते । त्रिविधा तुल्य इत्येते पदार्थो जगतः—प्राकृता संहृत इव ।
ये प्राकृत्योत्पादितास्तस्मिन्नेव रूपे स्थिता शिल्पोक्तय नदी मदीरुहादयस्ते प्राकृता ।
ये तु मनुष्यैः संहृत्य स्वपरोगाय धृता, त भवन्ति संहृता । प्राकृता
पदार्थो रत्नरूप स्थिता संस्काराननवाप्य प्राप्य मनुष्योच्येति नैव भवन्ति,

अल्पमेव बोपयोगं साधयन्ति । तस्मान्मनुष्यास्तान् संसृज्य स्वयमुपयुञ्जते । यमान्नं दत्त्रं वा यथा प्रकृतिस्मादयति, न तत्तयारमदुपयोगि भवति । प्रकृत्योत्पादिनं शालिगोधूमादिकं स्वोपयोगाय क्वं संस्कुर्महे । तत्र प्रथमं तत्सहचरमस्मदनुपयोगि वृणुधापकरादिकमपनयामः, धूलीदहुले क्षेत्रे समुत्पन्नस्य निवर्गसहचरी धूली च दूरीकुर्मः तदेतदोषमार्जनम् । अथ स्वन्डीकृतं पेषण्या निष्पिष्टं बहिना परिपक्वं कुर्मस्तदेतदतिशयाधानम् । रुच्युरादनाय लवणद्याकादिभिश्च संयोजयामः सेय हीनाङ्गपूर्तिः । तथैव यथाविधं वस्त्रं परिदध्मस्तथा प्रकृत्या नोत्पादितमिति जानन्ति सर्वेऽपि । प्रकृत्या कापोऽपि उत्पादितः दोषमार्जनेन संस्कारेण तदन्त स्थानि बीजानि विशोच्य धूलीकणाश्च दूरीकृत्य अतिशयाधानात्मकेन च संस्कारेण तूलं तन्तुरूपतां वयनेन वसनरूपतां सेवनेन परिधानीयरूपता च प्राप्य हीनाङ्गपूर्तये पिपायकवर्तना (बटन) दिभिः संयोज्य तस्योपयोगो मनुष्यसमाजेन क्रियते । एवमेव लोह-रिक्तल-मुक्तादिषु घातुषु पृथनिर्माणादिष्वपि च संस्कारत्रयमनुसंधेयम् । अद्वयतुषु संस्कारानेतान् सर्वेऽपि मानवाः परिचिन्वन्ति, तत्र कौशल्यमुपदेशयन्तश्च महद्यशो घनराशिं चार्जयन्ति । परं चेतनानां मानवानामप्येते भवन्ति संस्काराः, तेऽपि चैतैः संस्कारैः कमप्युत्कर्षं ऋगदुपयोगितां चावहन्तीति विशिष्य भारतीयैर्महर्षिभिरेव विज्ञातम् । तैरेव महर्षिभिर्मनुष्याणां विविधाः संस्कारा आविष्कृताः । त एवमेऽष्टचत्वारिंशत्संस्कारा धर्मशास्त्रेषु विवृताः पुराणेष्वपि विस्तर एषां बहुतरं प्राप्यते ।

शुद्धिपदेन पृथीतं धर्मशास्त्रस्य द्वितीयं शुद्धिप्रकरणम् । सा च शुद्धिः षोढा व्याख्यायते । मलशुद्धिः, स्पर्शशुद्धिः, अणुशुद्धिः, एनःशुद्धिः, मनःशुद्धिश्चेति । आत्मनः प्रतिकूलं यदागन्तुकमापतति तदोपशब्देन अशुद्धिशब्देन च व्यवहियते । तदपनय एव च दोषमार्जनशब्देन शुद्धिशब्देन व्याख्यायते । तत्र स्वरूपसंस्काराः स्वरूपे संसर्गमाप्नुमुपक्रान्ताः ये दोषाः तेषामपनयो दोषमार्जनसंस्काररूपेण प्राप्याख्यायते । ये तु भाग्यन्तुका दोषाः स्वरूपे अप्रविष्टा अपि संसर्गमात्रेण परम्परया वा स्वरूपं दूषयितुमुपक्रामन्ति, अनपनीतानां कालक्रमेण स्वरूपेऽनुप्रवेशश्च तेषां संभाव्यते तदपनयोऽत्र शुद्धिप्रकरणेऽधिक्रियते । यद्यपि सास्यवेदान्तयोर्षोडशमात्मस्वरूपं विवृतं, तत्र न कापि दोषसंसर्गसंभावना, तथापि व्यावहारिक आत्मा कर्त्ता भोक्ता वाघात्मनदेन विवर्जितो द्रष्टव्यः । सोऽयं व्यावहारिक आत्मा सर्वप्रधान इति सर्वगुणविरोधिस्तत्र उद्वेचयन्तो भावा अशुद्धिपदेन सर्वत्र निर्दिश्यन्ते । ते च येन येन मार्गेणात्मना संव्याप्तानां दूषयेतुं सन्नहन्ति, तेन तेन मार्गेण तेषामपनयः स्मृतिषु व्याख्यातः-पुराणेषु च स्पष्टीतः ।

त एते सर्वेऽपि संस्काराः शुद्धयश्च धर्मशास्त्रविषया अपि पुराणेषु सविस्तरं स्पष्टीताः । अप्रैव शुद्धौ कथंचित्संस्कारेष्वपि वा तीर्थानि व्रतान्यपि चान्तर्भवन्ति,

येषां भ्रुतिस्मृत्यादिषु सङ्क्षेपेण सकेतमात्रं पुराणेषु च तद्विस्तरः । ब्रह्मोपवासादिकं
 मन्तर्मन्त्रशोधकं सस्वविरोधोत्कर्षकं चेति शब्दार्थं संस्कारार्थं चाभ्युपादीयते । एषां
 ब्रह्मोपवासादीनामपि मूलमात्रं भ्रुतिस्मृत्योरित्युपदर्शितं प्राक् । विस्तरस्त्वेषां पुराणेष्वेव
 दृश्यते । एवमुपासनादिष्वपि पुराणेष्वतिविस्तृतं । पूजाविधिप्रकारादिकं तदीयं
 विज्ञानमपि च तत्र तत्र विवृतम् । त इमे विप्रयाः कल्पशुद्धावेवान्तर्माथ्याः ।



शब्दशास्त्र-खण्डः

[मुनित्रयस्यान्येषां च पुरातनानां शब्दशास्त्रनिर्मातृणामैतिहासिकी
समालोचनाऽत्र खण्डे सविस्तरं द्रष्टव्या-संपादकः]

परमिदानीं समुपलभ्यमानेषु व्याकरणेषु पाणिनीयमेव व्याकरण सर्वत प्राचीनमिति बहुभिरभ्युपगतो युक्तिविदोऽर्थः ।

भीषापन्नशामभ्रमिप्रभृतीनां विचारदक्षणा तु मतमिदम्—यथापिनितः प्राचीनमेवैविध सर्वतोमुख व्याकरणं नासीदेवेति । ‘इन्द्रश्चन्द्र’ इत्यादिपद्ये हि अष्टावादिशाब्दिका इत्येवोक्तम्—न त्वेते व्याकरणकर्तार इति । शाब्दिकत्व तु शब्दशास्त्रप्रौढत्वम्, शब्दशास्त्रपारङ्गतत्वम्, शब्दशास्त्रप्रचारकत्वमित्यादिभिरनेके प्रकारे शक्यं एवहर्तुम् । शब्दशास्त्रपदेन च न केवलं व्याकरणमेव, अपि तु कोश-मीमांसादिकमपि शक्यते ग्रहीतुम् । ‘पदवाक्यप्रमाणपारावारोग’ इति महत्सु विराट्युप्यमाने विशेषणे ‘पद’ शब्देन व्याकरणम्, ‘वाक्य’ शब्देन मीमांसा, ‘प्रमाण’ शब्देन च न्याय व्यपदिशन्ति शिष्टाः । शब्दपदेन च पद वाक्य चोभयमपि शक्यते समर्पितुमिति वाक्यार्थनिर्णयिका मीमांसापि शब्द शास्त्रम् । ये चैतेऽष्टौ शाब्दिका परिगणिता, तेषु विभिन्नप्रकारकमेव शाब्दिकत्वं प्रमाणन्तरैः प्रसिद्धयति । तथा हि—इन्द्रोऽत्र प्रथम शाब्दिक पठित, तद्विषये दृश्यते पश्यशाब्दिके महाभाष्य एवैकमाभाणकम्—‘एव हि भ्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षसहस्र प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायण प्रोवाच, नान्त जगाम । किं पुनरद्यत्वे—य सर्वथा चिर जीवति, स वर्षस्यत जीवति’ इत्यादि । तेन इन्द्रस्य बृहस्पतिसंकाशे प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणरूपेणाध्ययन प्रसिद्धयति । यथा चाधीतम्—तथैव तेन व्याकरण निर्मित स्यादिति शब्दकोशरूपव्याकरण निर्मातृत्वमेव तत्र सिद्धयतीति भीषामभ्रमी निबन्धालोचने प्राह ह्यम् । वस्तुतस्तु इन्द्रोऽयमनेकविधः । भूतिषु हि अनेकविधा देवाश्च देवविशेषा इन्द्राद्याश्च भ्रूयन्ते—सन्ति अविप्रहाः प्राणविशेषा जगन्निर्मातारो देवा इन्द्राद्या, सन्ति च तारा मण्डलेऽपि इन्द्रादिपदभाषो नक्षत्रविशेषा देवा, यथा चित्रानक्षत्रस्याधिपतिस्त-चोगतारारूप इन्द्र, रेवतीनक्षत्रस्याधिपति पूषा, पुष्यस्याधिपतिस्त्र्योगतारारूपो बृहस्पतिरिषादि । अयं द्युलोकवासिनः शरीरधारिणोऽपि सन्ति देवा, ये “अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्यथोनश्च पञ्चधा भवति । मानुषश्चैकविधः” इति चतुर्दशविधे सर्वे सास्यकारिकाया सत्त्वबहुलसर्वे परिगणिता—‘ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र’ इत्याद्या । पुनश्च देवलोकतया क्लृप्ते हिमालयादुत्तरप्रदेशे मूभागेऽप्यासन् तद्मूभागाधिष्ठातारो देवा इन्द्राद्या, यत्संकाशं गत्वाऽर्जुनस्य विद्याग्रहण पुराणेषु आख्यायते, दशरथदुष्यन्तादीनां च सुद्रे तस्मादाह्वयार्थं गमनमनुवर्षते । तत्रास्य मनुष्यविधस्य मूलण्डवासिन इन्द्रस्य बृहस्पतिसंकाशेऽध्ययन महाभाष्ये भवेत्ति वदम् । प्राणविधस्यापि तु अशरीरिण इन्द्रस्य व्याकरणकर्तृत्वं भूतिष्वाम्नायते—

‘वाग्वै परान्यव्याहृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमा नो वाचं व्याकुर्वन् इति । सोऽप्रवीद्-वर वृणै, महान् चैवैव वायवे च सह एषाताविति । तद्मादेन्द्र

वाचः सह दृश्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुचते' इति । (तैत्तिरीये पष्ठकाण्डे)

अस्यायमाशयः—यथा पञ्चादीनां वागसंस्कृता अव्याकृता—अविभक्ता भवति, न हि तत्र पदवाक्यादिविभागः ऋधमप्युत्पीयते, तथैव प्रकृत्या मनुष्यागामपि वाक् पदवाक्यादिविभागविरहितैवोत्सद्यते । इन्द्रस्तु ज्ञानस्याधिष्ठाता प्राणरूपो देवः, तो वाचं मध्यत आक्रम्य व्याकरोति—पदवाक्यादिरूपेण प्रविभक्तां करोति । वाचि योऽय पदवाक्यादिप्रविभागः, स खलु ज्ञानकृतः । पञ्चादीनां तादृशज्ञानाभावात् न जायते इति । तेन मनुष्याणां वाक् पञ्चाद्यपेक्षया संस्कृता परिष्कृतेति सुस्पष्टमेव । तत एकोऽं हरिणा—

वायोररूपां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।

कैश्चिदर्शनभेदो हि प्रवादेश्वनवस्थितः ॥

(वाचपदीये ब्रह्मकाण्डे १०८)

इह ज्ञानस्य शब्दरूपेण या परिगतिरुक्ता, सैवेन्द्रकृता वाक्संस्काररूपा विज्ञेया । तत एव च मनुष्याणां वाग्यवहारे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैचरीति भेदचतुष्टयं निरूपयन्ति शास्त्राणि । इह परा वाक् तु परशक्तिरूपा वाङ्मनसातोता केवलं योगिभिर्निर्विकल्पसमाधौ शक्या विज्ञातुम् । तज्जन्त्यायां पश्यन्त्यामपि न शब्दार्थयोः प्रविभाग इति सापि सम्मुखज्ञानरूपा न साक्षात्प्राप्येतस्या भवत्यवगृह्यताम् । तदनु मध्यमायां तु शब्दार्थप्रविभागो भवति, किन्तु केवलं मानसः । सापि परेण पुरुषेण न प्रतिवृत्तु शक्या । चतुर्थी वैचरी तु शब्दरूपतया सर्वविज्ञायते । तदेवोक्तं भूत्या—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गृहा श्रीणि निदिता नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥' इति ।

निगमरूपोऽयं मन्त्रोऽनेकधा मुनिभिराचार्यैश्च व्याख्यायते, नामाख्यातोपसर्गनिपातेति भेदचतुष्टयमुपक्रम्य महाभाष्ये व्याख्यातः, पशुषु वाच एको भागः, पशुषु एकः, सरीसृपेभ्येकः, तुरीयस्तु मनुष्येभ्यश्चपि ऋषिद्वि व्याख्यायते, परं परापश्यन्तीत्यादिभेदचतुष्टयानुवादेन तु समनुगतार्थमिदं सुस्पष्टतया भवति 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति । तथा च सम्मुखज्ञानरूपया पश्यन्त्या, स्फुरज्ञानरूपया च मध्यमया वैचरी वागियमर्थावबोधक्षमा भवतीति न कोऽप्यत्र विवादावसरः । ज्ञानस्य च मूलमिन्द्रप्राण इति एतेनैव वैगानिकेन रहस्येन इन्द्रः प्रथमो व्याकरणकर्तोऽभिधीयते । तदेतदन्त्याहोव व्याकरणकर्तृत्वमिन्द्रस्य सिद्धयति, न तु मन्थनिर्मातृत्वमिति पाणिनेः पूर्वमेवंविधव्याकरणसत्ता न सुस्पष्टं सिद्धयति ।

ग्रन्थरूपमपि व्याकरणं केनचिदिन्द्रनामकेन विदुषा विरचितं भवेदिति सन्देह
दोलाधिरुदमेव ।

चान्द्र तु व्याकरणं किञ्चिदासीदिति स्वीनियत ऐतिहासिके । तदुक्तं राज-
तरङ्गिण्याम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धा देश तस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तितं महाभाष्यं एव च व्याकरणं कृतम् ॥

(राजतरङ्गिणी १-१७२)

चान्द्रदौर्गादिनाम्ना ये ख्याता वैशाकर्येषु प्राक्तना महान्तो विद्वांसः, तैरेव
चन्द्राचार्यपदाभिधेयैर्महाभाष्यस्य लीर्णं पुस्तकं दाक्षिणात्येषु क्वचिदुपलभ्य कार्शमी-
देशे अभिमन्युराप्यकाले नीतम्, तैरेव महाभाष्यस्य विलुप्तप्रायस्य प्रचारं कृतं,
स्वीयं चाभिनव व्याकरणं निरचर्य प्रचारितमिति पद्येनोक्तेन सिद्धयति । तेन
कार्शमीरमण्डले प्रचरितमपि व्याकरणमिदं भगवतः पाणिनेर्वर्द्धनीचोनमिति न कोऽपि
तत्र सशयीत । पाणिनिस्त्वभाष्यकृतं पतञ्जनेरपि बहुतरपरम्परवाच्यम् । ततश्च
चान्द्र व्याकरणं किमपि पाणिनेः पूर्वमपि भवेदिति नात्र प्रमाणं किमपि समुप-
तिष्ठते । एव काशकृत्स्ने काशकृत्स्नस्य वा व्याकरणकर्तृत्वे न किमपि प्रमाणमुप-
लभ्यते, मीनासकत्वं तु तस्य 'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीनासा काशकृत्स्नी'
(४ अ. १ पा १ आ १४ सूत्रे) इति भाष्योदाहरणादेव सुप्रतिपन्नम् ।
मीनासकानामपि शाब्दिकस्य प्रथम एवेत्युक्तं प्राक् । आपिदालेस्तु पाणिनिस्त्रेषु
दृश्यते नामोल्लेखः, 'वा सुप्पापिशले' (६।१।१२) इति, तस्माद्वैशाकर्येषु
तन्मनमादृतनासीदिति शक्यतेऽप्युपगन्तुम्—तत एव अहमु आदिशाब्दिकेषु
तद्गगनापि सुथोजैव, परं व्याकरणं किमपि विशिष्टं तेन निर्मितमिति सन्देहा-
स्पदम्—तथाविधेश्च प्रमाणानुपलब्धे । न हि पाणिनिस्त्रेषु देवा नामोल्लेखः,
ते सर्वेऽपि व्याकरणनिर्मातार इत्यप्युपगमो व्याप्य । 'ते एव एव भाष्यन्त'
'प्रयोगविशेषे तेषामेवविधमिच्छन्ति' इत्येव बोधनेनापि नामोल्लेखस्योपपत्तत्वात् ।
शाकल्य, काश्यप, स्फोटायन, चाक्रवर्मण, गालव, भारद्वाज, गार्ग्य च तेनक-
इत्येव पाणिनिस्त्रेषु बहूनि नामानि स्मरन्ते, सर्वेऽध्येते व्याकरणप्रणेतार
इति न क्वापि ह्य अतः वा । कस्यचिदेकत्र कस्यचिद् द्विवारम्—कस्य-
चिच्च द्विवारमपि नाम स्मृतम्—तेनापि प्रयोगविशेष एव तत्तेषामभिधिनो-
यितेति शक्यमनुमातुम् । व्याकरणं तु तस्मिन्नीतं यदि स्यात्, तर्हि बहुवारं
तस्मत्प्रदर्शनाय नाम स्मर्येत । शाकल्य, गालव, गार्ग्यश्च बहुधा पाणिनिना
स्मृतः —

सम्बुद्धौ शाकल्यस्यैताकनाये (१।१।१६) दकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च
(६।१।१२७) लोपः शाकल्यस्य (८।१।१९) सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१)
इति शाकल्य ।

इको ह्रस्वोऽङ्गो गालवस्य (६।३।६१) तृतीयादिषु भाषितपुंस्क पुंवद्
गालवस्य (७।१।७४) अङ् गार्ग्यगालयोः (७।३।९९) नोदात्तस्वरितोदय-
मगार्गकादयपगालानाम् (८।४।३७) इति गालवः ।

ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) (पूर्वोक्ते) (७।३।९९) (८।४।६७)
इति गार्ग्यः ।

तेषु शाकल्य शृङ्खलित्वायाः पदनाटककृतया प्रसिद्ध इति प्रातिशाख्यमपि
क्वितिने निर्मित मनेत्, तत एव प्रातिशाख्येष्वपि 'शाकल्यः' 'शाकल्यपिता'
इत्यपि च स्मर्यते । तेन प्रातिशाख्यप्रणेतैव स संभाष्यते, सन्धिषिष्ये तस्य
कचित् क्वचिद्विनिता भिचारा एव प्रसिद्धाः स्युः, व्याकरणं न तेन निबद्धं
मनेदित्यपि शक्यते कल्पयितुम् । गार्ग्यस्य निरुक्तकृता मगवता यास्कैनापि
अनेकधा स्मृतः ।

तत्र "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैवक्तुसमयश्च । न सर्वाणीति
गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" [निरुक्तः १ अ.] इत्युक्तिस्वारस्येन तस्य नैवक्तेषु
गणनाऽऽसीत्, न तु वैयाकरणेष्विति प्रतीयते । 'वैयाकरणानां चैके' इत्यतः
पृथग् गार्ग्यनामस्मरणम् । यदि नाम गार्ग्योपि वैयाकरणोऽमविष्यत्,
'वैयाकरणानां चैके' इत्यनेनैव तर्हि तस्यापि गृहीतत्वाद् 'गार्ग्यः' इति पृथङ्
नाम्यथास्यत । यदि अन्यस्यापि कश्चिद् वैयाकरणस्य विधिष्यात्र नामनिर्देशः
स्यात्, तर्हि गार्ग्यस्यापि पृथङ् नामनिर्देशः समञ्जसो भवेत्, 'वैयाकरणानां
चैके' इति सामान्योक्त्या तु ये वैयाकरणा निरुक्तान्यपि नामानि स्वीकुर्वन्ति,
ते सर्वे एवोवात्ता इति गार्ग्यस्य पृथङ् नामग्रहणं न कथमपि सामञ्जस्य-
मावहति—वैयाकरणेषु पृथक् शाकटायनस्यापि नामात्र गृहीतमिति शाकटा-
यनोऽपि न वैयाकरणत्वेन यास्कस्याभिमत इति सत्यतसामर्थमिमहाशया
मन्वते । मन्मते हि तेषां मतं न सम्यक् प्रतिभासते—पश्चान्तरे शाकटायनस्य
नामग्रहणेन तादृशकल्पनानुदयात् । 'सर्वाणि नामानि धातुजानि न सन्ति, कानि-
चिद्रूढान्यपि सन्ति' इति मतं केषांचिद्वैयाकरणानां प्रदर्शितम् 'वैयाकरणानां
चैके' इति । शाकटायनस्य वैयाकरणोऽपि सन् विद्वान्तेऽस्मिन्नन्वेष्यो वैयाकरणेषु
विप्रतिपन्नः, स हि सर्वाणि नामानि धातुजान्यभ्युपगच्छतीति तस्य नामोल्लेखः
पश्चान्तरेष्वोपनायाजयज्ञ एव । प्रस्युत यदि शाकटायनो वैयाकरणो नामविश्वत्,
तर्हि पश्चान्तरे 'वैयाकरणानां चैके' इति नाम्यथास्यत । शाकटायनगतिरिक्तानां
वैयाकरणानां धातुज-परिरिक्तनिरुक्तनामस्वीकारे सहमन्त्यात् । शाकटायन एव तत्र
विमतः, सोऽपि च वैयाकरण इति तत्र एव सर्वेषां वैयाकरणानामैकमत्यं नास्तीति
सूचयितुं 'वैयाकरणानां चैके' इत्युक्तम् । अन्यत्र्योऽपि यदि स्वेन सहमतो भवति,
तस्य तर्हि प्राधान्येन नामोद्धिवन्ति पञ्चाभिनिविष्टा इति सर्वजनीनोऽयं प्रत्ययः ।

पृथग् व्याकरणनिर्मातृत्वं कश्चिद्विचारप्रवीणं परिकल्पयेत् । तदेवनापिशिल्रपि कस्यचित्प्रातिशाख्यस्य प्रवक्ता निर्माता वा सम्भवत्, शब्दप्रयोगविषये परिगणनीयं शिष्टो वा भवत्, व्याकरणनिर्मातृत्वं तु तस्य सशयविषयता नातिक्रामति, हृदतरप्रमाणानुपपत्तेरिति ।

शाङ्गयनो यद्यपि सुप्रसिद्धो वैयाकरण एवेति प्रत्यपीपदाम् पूर्वम्, तथापि तद्वन्ति व्याकरण कीदृशमासीदिति न शक्यते कथमप्यनुमातुम् । प्रमाणानुपपत्तेः । यत्तु इदानीं जैनसमुदाये शाकटायननाम्ना प्रसिद्धमकं व्याकरणं प्रचलति, मुद्रितमपि प्राप्यते, तत्तु न कथमपि पाणिनेः प्राक्तनं मन्दिमहंतीति तद्वचनापरीक्षणैव स्पष्टं सिद्धयति । तादृशं सर्वरूपेण पाणिनीयं व्याकरणमनुकरोति, न केवलं सूत्रकारस्य पाणिनेः, अपि तु वार्तिककारस्य भाष्यकारस्यापि च सिद्धान्ताननुवदन्ति तदीयानि सूत्राणि । एतद्विषये मन्नाग् विवेचयाम् ।

प्रचलितशाकटायनव्याकरणविचारः ।

पाणिनीये व्याकरणे इवाथ शाकटायनव्याकरणेऽपि 'अइउण्' इत्यादिसूत्राणि उपजीव्यरचनाभितानि, तदाधारेण प्रत्याहारप्रक्रिया च सूत्रेषु निबद्धा । केवलं चतुर्दशसूत्राणि त्रयोदशस्य प्रापितानि, भेदं प्रख्यापयितुं किञ्चिद् व्यत्यासश्च कृतः, तत्र कारणननुपदं चिन्तयिष्याम । इमान्यक्षरसमाम्नायरूपाणि चतुर्दश सूत्राणि पाणिनीये महेश्वररोपदिष्टानीति सर्वजनीनां निरन्तनीं प्रसिद्धिः । नन्दि केश्वरकृतकाशिकायां च तथैव विररुष्टं प्रतिपादितम् । भारते प्रसिद्धास्तु अनेक विधास्तु वर्णमातृकास्तु इयमन्यतमा माहेश्वरी वर्णमातृका पृथगेव परिगण्यते । सोऽयं माहेश्वरोपदेशः साक्षाद्वा डमरुनादद्वारेण वा भवतु, 'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कन्ये' इति प्रक्रियया बुद्धौ प्रादुर्भावेनेन वा भवतु, पाणिनेः पूर्वमयमक्षरसमाम्नायक्रमो नासीदिति, तदाधारेण प्रवृत्ता चेय प्रत्याहारप्रक्रिया पाणिन्युपपत्तेवेति च तस्यां प्रसिद्धेर्मन्म्युपरान्तव्यमेव । 'न ह्यमूला वनश्चति', तत्तश्च पाणिनेः पूर्वकालभवेन शाकटायनेन कथमेवविधो वर्णसमाम्नाय उपजीव्यरतेनाभीयताम्, कथं वा प्रत्याहारप्रक्रिया स्वसूत्रेष्वनूयताम् ! अथ यत्परिवर्तनं सूत्रेष्वप्युद्दश्यते— तस्यापि मूलमन्वेष्यताम्— 'श्रुलृक्' इति सूत्रे लृकारग्रहणं वार्तिककारेण प्रत्याख्यातम् (महाभाष्यस्य द्वितीयाधिक विचारोऽयं द्रष्टव्यः) तदत्रापि परित्यक्तम् । तेन सूत्रकारत्वात् पाणिनेः का कथा, वार्तिककाराद् वररुचेरपि परमवतरमस्य शाकटायनस्य स्पष्टं सिद्धयति । तथैव 'अइउण्' 'लृण्' इत्युभयत्र णकारोपादानमपि भाष्यकृता चिन्तितम् 'किं पुनर्वर्णोत्तरत्ताविवाय णकारो द्विरनुबध्यते' इत्यादिना, साधिता च तेन 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नाहि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषा, इह तु सर्वानिमं विवादं परिहर्तुं 'लृण्' सूत्रस्यो णकारं परित्यक्तं, लृकारश्च

पूर्वसूत्र एव 'हयवरलक्ष' इति निवेशित । तथैव 'अनुस्वारविसर्गाद्यशो गवाहानाम्नि
 अकारोपरि शर्षुं च पाठ कर्त्तव्य' इति भाष्यकृता साधितम्, इहापि 'शयसर'
 इति सूत्रे सकारात्परतोऽयोगवाहाना पाठो दृश्यते, तेन महाभाष्यकृत पतञ्जनेरपि
 परमवत्त्वमस्य शाकटायनस्य सिद्धयति । पाणिनिर्हि भगवान् स्वपूर्वस्य शाकटा-
 यनमादौ ग स्वीयेषु सूत्रेषु स्मरति, यदि तेन शाकटायनस्यैदृशानि प्रयाहार
 सूत्राणि दृष्टान्यभविष्यन्, कुतस्तर्हि तत्र सदेहोत्पादकमेव परिवर्तन व्यधास्यत ।
 तस्मादस्य शाकटायनस्य पाणिनिपूर्वभवन न कथमपि कल्पयितुं शक्यम् । तथा
 'शश्चोऽपि' इति पाणिने सूत्रम्, वार्तिककारेण च तत्र 'तच्छ्लोकेन' इत्यादि
 प्रयोगाणा सिद्धये 'अपि' स्थाने 'अमि' इत्युपसत्प्रायातम् । इह तु इदानीं प्रकाशिते
 शाकटायनव्याकरणे 'शश्चोऽमि' इत्येव सूत्रं दृश्यते । यदि हि पाणिने पूर्वमपि
 'तच्छ्लोकेन' इत्याद्या प्रयोगा प्राचलिष्यन्, तदन्वाख्यानपर च 'शश्चोऽमि'
 इति स्पष्ट सूत्र पाणिनिना भद्रदत्त, तर्हि कथं स तान् प्रयोगानुपेक्ष्य 'अपि'
 इति स्वसूत्रे अवक्ष्यत् । तस्मात्प्रथमिदं सिद्धयति, यत्पाणिनिना भद्रतिरिक्ते षो
 परे छकारादेशो न दृश्यः, पूर्वमप्रचलितत्वाद्वा अनवधानाद्देशन्यदेतत्, तत एव
 तेन अपि पर एव छकारादेशो विहित, वार्तिककारेण तु लकारादावपि परे
 छकारादेश पश्यता तन्न्यूनतापूरणं कृतम् । ततोऽपि परमत्वेन शाकटायनेनानेन
 वार्तिकमतमेव प्रमाणीकृत्य 'शश्चोऽमि' (१।१।१४४) इत्येव सूत्रं पठितम् । तदिदं
 मेव 'शश्चोऽमि' इति सूत्रमस्य शाकटायनस्य पाणिने कात्यायनाच्च परमवत्त्वं
 साधयितुं षड्भद्रसंस्कारसन्निभं प्रमाणं न केनाप्यैतिहासिकदृष्टमताऽलपितुं
 शक्यम् । तथैव 'प्रौह, प्रौढ, प्रौष, स्वैर' इत्यादिप्रयोगाणा सिद्धये वृद्धिरिधानं
 पाणिनिस्त्रेषु न दृश्यते, वार्तिककृता 'प्रादूहोढोढयेष्वेभ्यः' 'स्वादीरेदिणो' इत्याद्यु
 पसख्यातम् । इह तु शाकटायनीये तत्साधनार्थं 'भस्वोढोणश्चैषेभ्यः' (१।१।८४)
 'स्वैरस्वैर्यस्यैषिष्याम्' (१।१।८३) इत्यादि सूत्राणि दृश्यन्त । यदि भगवता पाणिनिना
 सूत्राणीमानि दृष्टानि अभविष्यन्, कथं तर्हि स तत्समानार्थकं सूत्रं स्वव्याकरणे
 न प्राणेष्यत । कियदुदाहराम, वार्तिककृता यत्र यत्रोपसृख्यानं कृतम्—तत्सर्वमत्र
 सूत्रेष्वनूदितं दृश्यते, तच्च सर्वं वार्तिककारात् परमवत्त्वमत्र साधयितुं सुपर्याप्तम् ।
 किञ्च 'अचो रहाभ्या द्व' इति पाणिनिना रेफहकाराभ्या परस्य यरो द्वित्व
 विहितम्, एव सति 'मद्रहृद' इत्यादौ हकारोत्तरवृत्तिनो रेफस्यापि द्वित्व
 प्राप्नोतीति तत्र 'नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विवचनस्य' इत्यादि माठरपरिवेशन्यायेन
 स्वीकृत्य भाष्यकृता तत्र द्विरप्रतिषेध साधित । इह तु सूत्र एव स्फुटम् 'अचो
 हो हच' (१।१।११७) इति रेफहकारयोर्द्वित्वप्रतिषेध उपस्यत इति भाष्यकृतोऽपि
 परमवत्त्वमस्य शाकटायनस्य सुस्पष्टम् ।

प्राचीन खड्डु शाकटायनो निरुच्छकृतो यास्कादपि पूर्वभव, यास्केन

तन्मन्त्रस्य तत्र म्नाऽनेकत्रानूदितत्वात् । एतत्सूत्रञ्च शाकटायनस्तु न निरुक्तपूर्वमेव सिद्धयति । निरुक्तकृता हि 'अरण्यानी' इति पदं निर्ब्रुवता 'अरण्यानी— अरण्यस्य पत्नी (निरुक्त १।३८) इत्युक्तम् (१।२९) पत्नी—पालयित्री—देवतेति तद् व्याख्याता दुर्गाचार्य । पाणिनिना भगवता पुषोग एव तत्रानुक्तं ङीप् च विदधता तदेवानुसृतम् । वार्तिककृता तत्र 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इति विशेषं ब्रुवता 'महदरण्यमरण्यानी' इति विप्रश्ने व्यञ्जित । इह च शाकटायन व्याकरणे 'हिमारण्योद्गुरो' (१।३।५७) इति वार्तिकानुसारेण सूत्रं दृश्यते । तेन स्पष्टमिदं सिद्धयति, यत्पूर्वं निरुक्तकाले पाणिनिकान च जडगोरि हिमारण्ययो पत्नीत्वमारोप्य तदधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण वा 'हिमानी' अरण्यानी—प्रयोगी प्राचल्लताम्, परतस्तु महत्त्वार्थस्तत्र प्रसिद्धो ज्ञान इति महत्त्वार्थ एव वार्तिककृता अनेन शाकटायनेन च प्रयोगादिना साधितौ । तदित्यमयं शाकटायनो न पाणिनेर्भाषे वा निरुक्तकारात् प्राञ्जनं कथमपि सिद्धयति । ताम्या पूर्वं आसीत् कश्चन शाकटायन इति सत्यम्, परं तेन किञ्चिद् व्याकरणं निर्मितं न वेति सन्दिग्धमेव । तथैव निरुक्तकृता 'सर्वाणि नामान्याख्यातवन्तीति शाकटायन' इति वा शाकटायनस्य प्रतिष्ठाऽनूदिता, यच्च 'पदेन पदेऽरादीन् सङ्घकारं शाकटायन, एते कारितं च यकारादि च, अस्ते शुद्धं च सकारादि च' इतिना वा 'सन्मर्थं माययतीति सत्यम्' इति सत्यशब्दव्युत्पत्तिं प्रदर्शिता शाकटायनमतेन, न तादृशं किमप्यत्रोपलभ्यते । तस्मादपि निरुक्तजन परिचितो नायं शाकटायन इति स्फुगीभवति । एव शौनकेनापि ऋकप्रतिशाख्ये 'प्रथमं शाकटायन' (५० १ ६० १६) इति सूत्रे शाकटायनोऽवसाने वा प्रथममेव व्यञ्जनं ककारादि मन्थते, गार्ग्यस्तु अवसाने द्वितीयं व्यञ्जनमाहेत्युक्तम् । परमत्र शाकटायन व्याकरणे तु 'चर्चश' (१।१।६४) इति विकल्पेनेनानेन चर्चं ब्रुवता उभयमप्यनुज्ञातम् । तस्मान्जैनपरिचितो नायं शाकटायन इति सिद्धयति । तथैव कात्यायनप्रतिष्ठाख्येऽपि 'परिण इति शाकटायन' (३।८७) इत्यादिना 'सुष्मदादेवस्य न' इति पश्यन् एव यञ्च शाकटायनमतेनोक्तम्, तदपि नेद् प्राप्यते इति कात्यायनस्यपि परिचितोऽयं शाकटायनो न भवति । किमन्यत् प्रतिशाख्ये बहुत्र शाकटायननामं पृथीतमिति वैदिकशब्दसाधनमपि शाकटायनेन पूर्वं कृतमिति स्फुगी भवति । तस्मात् क्वचनैकिकिव्याकरणाप्रोक्ताऽयं शाकटायन न पूर्वमेव । किञ्च छान्दोग्येऽपि स्थाने कसुक्कान्तौ पाणिनिना विहितौ । परतस्तु क्रिष्णिकेऽपि तेषां प्रयोग आरण्य इति इष्ट्वा लौकिकमयं व्याकरणं केवलमुपनिषद्घनता अनेन शाकटायनेनापि कसुक्कान्तौ विहितमिति पाणिन्यपेक्षया बहुवैचीनत्वमस्य सुस्पष्टीभवति ।

निबन्धयैत्यप्यस्य शाकटायनस्यार्वाचीना स्फुट प्रतीयते प्रेक्षानताम् । तथा

हि—‘पञ्चहृत्’ ‘दशहृत्’ इत्यादिप्रयोगान् साधयितुं पाणिनि अस्यावृत्ति गणनायाम् कृद्दसुप्रत्यय विधत्ते । इह तु शाकटायने ‘वारो वृत्तम्’ (३।४।३२) इति समुपलभ्यते । ‘अस्यावृत्तिगणना’ स्थाने ‘वार’ शब्दप्रयोग कियदर्शनीय इति, विवेचका एवत्र प्रमाणम् । तथैव पाणिनिना अभूततद्भावे विग्रहप्रयोगोऽन्वा ख्यात, अनेन शायटायनेन तु तत्र ‘वर्मकृत्वम्या प्रागतत्तवत्वे’ (३।४।१५) इति विधिधान सूचितम् । ‘प्राग् अतस्य तत्त्वम्’ इति अभूततद्भावशब्दापेक्षया शब्दोऽय कियतीं प्राञ्जलतां गाहते, ऋपेर्नुनेर्वा किमीदृशी भाषा भवितुमर्हतीति सुधिय एव विवेचयन्तु । अथ तिङ्-तत्प्रकरणे पाणिनिना ‘युष्मदसुप्रदे समानाधि करणे स्थानिन्यपि मध्यम’ ‘अस्मदसुत्तम’ इति युष्मदस्मत्-उ-इयो कृत्वै कर्मत्वे वा मध्यमोत्तमपुरुषौ विधाय तत् ‘शेष प्रथम’ इति तदतिरिक्ते सामान्येन प्रथमपुरुषो विहित । इह तु ‘लोऽययुष्मदस्मासु तिप् तसक्ति’ (१।४।१) इत्यादिना सूत्रेण युष्मदसुप्रदेव सर्वे प्रथमाद्या पुरुषा विहिता । तत्र युष्मदस्मत्त्वशाखां प्रागु पात्तोऽन्यशब्द कथं तदपेक्षयाऽन्य शब्द बोधयेदिति जानाति सूत्रकृदेव । किञ्च ‘सामानाधिकरण्यबोधनाय न कश्चिच्छब्दोऽप्योपात्त, न वा कुतश्चिदनुवृत्त, ततश्च ‘अन्य-युष्मद्-अस्मद्-शब्देषु सन्निहितेषु प्रथमाद्या पुरुषा स्थुरिति ‘देव दत्त स्वया गच्छतु’ एत्यादौ युष्मत्त्वसाभिधेयाप कुतो न मध्यम इति मध्यमत्र समाधानम् । ‘अन्ययुष्मदस्मदर्थे प्रत्येकमेकद्विबहुषु वर्तमानाद्वातोर्लस्य यथाऽख्य तिप्-उस्-क्ति इत्यादेशा भवन्ति’ इति प्रक्रियासमग्रकृतोक्तोऽर्थस्तु न कथमपि बुद्धाद्वापरोहति, न हि ‘स्व करोषि’ इत्यादौ कृधातुर्युष्मत्त्वशब्दाद्यै वर्तते इति केनापि शेषुषीकृषा शक्यं वक्तुम् । ‘युष्मदाद्यर्थेषु वर्तमाना या क्रिया, तद्वाचका द्वातो’ इत्याद्यर्थकरणेऽपि न निर्वाह, इह हि क्रियाशब्देन व्यापारो वा विवक्ष्येत, फल वा ? आद्ये ‘स्व सत् कियते’ इत्यादौ कथं मध्यम, व्यापारस्य युष्मदर्थेऽभा वात् । अत्ये च ‘त्वा करोरिति’ इत्यादौ कुतो न मध्यम, फलस्य युष्मदर्थं गामित्वात् । तस्मात् ‘सामानाधिकरण्ये’ इत्येव पाणिनेर्भगवत् उक्ति सूत्रादा भवति, न ता परित्यज्य सम्भवेदुपपत्ति । किञ्च ‘स्व च्वाह च ते न गन्तान्’ इत्यादौ कुतो न मध्यमपुरुष प्रथमपुरुषो वा ? युष्मदर्थस्य अन्यायस्य न क्रियाभवत्वात् । पाणिनेस्तु युष्मदस्मत्त्वसामानाधिकरण्ये जाप्रति शेषपदाद्यैस्या सम्भवाच्च तत्र प्रथमपुरुषप्राप्ति, मध्यमपुरुषस्तु परस्वादुत्तमपुरुषो बाधन इति न काप्यनुपपत्ति । एवमव यद्बुधैतानि सूत्राणि न क्षोदस्माणि न तद्ग्रन्थश्री आपांति कृत विस्तरेण ।

यत्तु ‘त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य’ इति पाणिनिस्त्रे यच्छाकटायनमतमुपात्तम्, तदत्र ‘न सवोमे’ (१।१।११९) इति सूत्रे दृश्यते, यच्च ‘योर्लघुप्रत्ययतर शाकटायनस्य’ इत्युक्तम्, तदत्र ‘अच्यस्यभ्रुतिश्च’ ‘वानुजात्’ (१।१।५४, ५५) इति सूत्र-

योर्दृश्यते, तथा 'लृङ् शाकटायनस्यैव' इति यत्पाणिनिना जुषादेश उक्त, सोऽप्यत्र 'आद् द्विषो मेर्जुस वा' (१।४।१०६) इति दृश्यते—तेन अयमेव शाकटायन पाणिने परिचित—इति साधयन्ति, तन्न क्षोदक्षमम् । प्रायेण पाणिने सर्वाण्येव सूत्राण्यत्र शाकटायनेऽनूदितानि शब्दान्तरैर्दृश्यते, तथैवैतान्यपि पाणिनि सूत्राण्यनूदितानीत्यपि शक्यते वक्तुम् । यतो हि शाकटायनो 'द्विष परस्य लङो मेर्जुस मयते' इति पाणिनिनोक्तम् । अर्धादन्ये न मन्यन्त इति सूचनाद्विकल्प सिद्धयति । न तु शाकटायनोऽपि विकल्पन मन्यत इति पाणिनेरुक्तिः । इह तु सूत्रे शाकटायनोक्तेऽपि विकल्प एव विहित इति पाणिनेरनुवाद एवाऽप्य सिद्धयति, पाणिनिना यन्नाम एहीतम्—स तु शाकटायनो भिन्न एवेति दृढामिर्युक्तिभिः प्रत्यपीपयाम । मतमेदोऽपि च दृश्यते, पाणिनिना शाकटायनमनेन लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ दर्शितौ, इह तु अस्पष्टभ्रती तौ विहितौ । यदि पाणिनिना एनत्सूत्र मतमुद्धृतं स्यात् तर्हि 'अस्पष्टभ्रती' इत्येवोक्तं स्यात् । न हि पाणिनि शब्दान्तरैर्गोपायित परमतमनुवदितुमिच्छति, स्पष्ट शाकटायननामग्रहणात् । तस्मादनैव शाकटायनव्याकरणकृता पाणिनिमतमनूदितम्, लघुप्रयत्नतरशब्द स्वीकर्तुं च तत्र 'अस्पष्टभ्रती' इति निवेद्यतम् । सोऽयमस्पष्टभ्रतिशब्दो लघुप्रयत्नतरतां स्पष्टमा वेदयितुं शक्नोति न वेत्यन्यदेतत् । किंच शाकटायनमते लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ भवत । अन्यमते तु न भवत इति पाणिनुक्त्या विकल्प फलति, न तु शाकटायनोऽपि विकल्पमिच्छतीति पाणिनिः सूत्रात् प्रतीयते । इह तु लघुप्रयत्नतरौ स्वयमपि विकल्पेन विहिताविति पाणिनिः सूत्रानुवाद एवात्र फलतीति भाव्य सुधीभिः । अत्रापि विचार्यताम्—नैनमदाभागा उणादिसूत्राण्यपि शाकटायनकृतानि मन्यन्ते, न चोपलभ्यमानानामुणादिसूत्राणामेभिः शाकटायनसूत्रैरेककर्तृत्वं सम्भ वति । अथ हि प्रसिद्धशाकटायनव्याकरणप्रणेता क्वचल लौकिक व्याकरणमन्वाचष्टे, न तु वैदिकशब्दसाधनेऽस्य प्रयत्नो दृश्यते । अत एव वैदिकशब्देषु इणस्वर सिद्धये येऽनुबन्धा पाणिनिना प्रत्ययागमादिष्वसञ्जिता, तेऽनेन परियच्छा । तथाहि—स्वरार्थमेव स्त्रीप्रत्यये ङीपूङ्गीषोर्भेद पाणिनिना कृत, अत्र शाकटायने तु 'ङी' इत्येक एव प्रत्यय उभयो स्थाने दृश्यते, 'दिवादिभ्य इङ्' इति पाणिनि, श्य एव तत्र शाकटायने । 'चिङ्' स्थान (जि) इत्येवात्र शाकटायने दृश्यते । तेन स्वरार्था अनुबन्धा नेह समाहता इति स्फुटमेव । उणादिसूत्रेषु तु स्वरार्थमनन्वयासञ्जन स्फुट दृश्यते—उत्प्रत्ययप्रकरणे हि 'घाम्ये नित्' इति पठित मुगादिषु 'अणु' शब्दसिद्धयर्थम् । तत्र नित्त्वं केवल स्वरार्थमव विहितम्, नान्य किमपि प्रयोजन निरवस्य । तथा चारिमन् शाकटायनीये न स्वरसिद्धयर्थं यत्न, उणादिषु तु स स्फुट इति कथमुभयोरैककर्तृकतास्तु । तथैवात्र शाकटायने गुणवृद्धि-सम्प्रसारणादिसशा न दृश्यते—उणादिषु तु ता एता 'रुहेर्द्विभ' रौहिषो

मृगविरेष, 'श्य-दे सम्प्रसारण घञ्' सिन्धु, इत्यादिसूत्रेषु बहुशो व्यनहता । एव त्रिसन्नापि शाक्ययने न दृश्यते, उगादौ तु 'मृज्जिष्ठोपञ्च मन्त्र', इत्यादौ सापि व्यवहृता । विश्वप्रयुक्तो ङीप्रत्ययोऽग्निन् शाक्ययने न विहितः, उगादिषु तु ङीप्रत्ययार्थे विश्व 'क्व द्वा वृज च्वित्म्य श्वरन्' इत्यादौ दृश्यते, श्वरीत्याद्या प्रयोगाश्च तत एव सिद्धयन्ति । कियदुदाहराम, उगादिसूत्राणामेतस्य शाक्ययनव्याकरणस्य नैककर्तृत्वम् न केनापि सम्भावयितुमपि शक्यम् । तस्मान्नेव शाक्ययन व्याकरण प्राचीनशाक्ययनमुनिवृत्तम्, नापि वा इमानि उगादिसूत्राणि पाणिनिपूर्वमयेन शाक्ययनन रचितानि । उपरम्यमानेषु उगादिसूत्रेषु सर्वाणि प्रक्रिया पाणिन्यनुसारिणी प्रतीयत इति पाणिने 'उगादयो ंहुम्', इति सूत्र दृष्ट्वा परमनेन केनचित् तादृस्तारार्थमिमानि उगादिसूत्राणि रचितानीत्युगादौ पठितौ कश्चिदपि ज्ञानीयात् । भरयु कदाचित् पाणिने पूर्वमपि कानिचिदुगादिवि धाद्यन्नि सूत्राणि, उपरम्यमानानि तु न सम्भवन्ति पाणिने पूर्वमपि । एव च पाणिने पूर्व शाक्ययनव्याकरण न प्रमाणे प्रसिद्धयते । सङ्गताव्याकरणश्लोकेन हाश्लेखकेन श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयनेन तु एतच्छाक्ययनव्याकरणरचयितु-नांदापि पाल्यकीर्ति' इति जैनग्रन्थप्रमाणैरेव साधितम् । समयस्य नवमी दशमी वा विजयशताब्दी निर्दिष्ट इति नावेदानीं निस्तरावश्यकता । आशी-उगायनो व्याकरण, अतिप्राक्तन, तेन व्याकरण रचितमिति तु सिद्ध्यम् ।

अथामरचैनेन्द्रयास्तु पाणिनेपरमन्तर सुप्रसिद्धमव । तथैव पद्यातरे प्रोक्तानां सारस्वतादीनामामुनिकस्वप्ति न कस्यापि विवाद । तदित्येव पाणिने पूर्व कस्यापि व्याकरणस्य सत्तामनुमातुं नास्ति दृढतर प्रमाणमिति श्रीमान् पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणकर्ता स्वीकार्य — इति श्रीमत सत्यजनछान्दममहाशयस्य मते निरुक्ता लोचन विवृत दृश्यते—तदेवानोपबृंहितमस्माभि ।

पाणिनेः पूर्वमपि व्याकरणमत्तासाधनम् ।

अथ एतन्न ब्रूम । इदानीं पाणिने पूर्वमपि किमाप व्याकरण सर्वाङ्गपूर्णं नोपरम्यन् इति सारम्, किन्तु पाणिने पूर्व निमदि व्याकरण नासीदिति न शक्यमप्यु पगतुम् । पूर्वमपि व्याकरणप्रत्त्या बहुभि साक्षिभि साध्यमानत्वात् । तथाहि— पाणिनिरेव भगवान् 'आङि च्वाप' इति तृतीयावभक्तेरेकवचनमाह्वयान्देनाह, न च तृतीयैकवचन तेन 'आह' इति भाटतम् किन्तु 'दा' इति । तत्र 'आङिति टासङ्गं प्राञ्चाम्' इत्येव व्याख्यातारो ब्रवते । तेनेदमेव सिद्धयति—पश्चात्तीनेषु व्याकरणेषु तृतीयैकवचनम् 'आह' इत्येव श्रुतमासीत्, तत्सदशरिभाषायां हिचप्रयुक्तानि क्वायाणि परिहर्तुं पाणिनिना "टा"रूपतां प्रापितम्, पर पूर्वमपि व्याकरणसंस्कारवशात्—तस्यापि सम्यगसंरक्षणार्थं वा सूत्रे 'आह' अपि निर्दिष्ट ।

तथैव 'औड आप' इत्यपि । न हि प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचने 'औड्' प्रत्यय-
पाणिनेना र-व्याकरणे स्वीकृत, अपि तु 'औ' 'औट्' इति । प्राक्तनव्याकरणसंस्कार
वशात् सुत्रे 'औड' इत्यप्युच्चारितम् । किमन्यत्—'कर्माण द्वितीया' 'कर्तृकरण
योऽस्मृतीया' इत्यादिषु द्वितीयावृत्तीयादनाम्ना विभक्तयः पाणिनिना विहितः, न
तु द्वितीयावृत्तीयादिसंज्ञा र-शास्त्रे कृता तत्रापि प्राक्तनव्याकरणदृष्टसंज्ञानिरवश
स्वत्कार इति व्याचक्षते व्याख्यातार । न च 'सु-औ-वत्' इत्यादीनां क्रमेण
गणनयैव प्रथम-द्वितीयत्वादिति द्वेस्वदर्थे संज्ञाप्रयासो न कृत इति शक्य
समाधातुम् । निरुक्तवस्तु प्रथम-मध्यमोक्तमताया अपि सन्वशेनैव सिद्धत्वा
तदर्थं स्वप्रणयनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । प्रसिद्धो ह्यत्यार्यबीधक उत्तमशब्दः संस्कृत
वाङ्मये । तस्मात्प्रसंगप्रसूते सञ्ज्ञं कर्तव्या एवति पाणिने शैली, न च सा
सुप्तु समाहृतति तत्र व्याकरणान्तरसंज्ञासनाश्रयणमेव युक्तमापतति । तथैव
'तितुन्नयसिमुपरकसेषु च' इति दशसु कृत्परयेषु श्णनियेष पाणिनिना पठितः ।
न चैतेषु सङ्घे प्रत्यया पाणिनिशब्दे कृत्परयेषु पठ्यन्ते—तस्माद् व्याकरणा
न्तस्या अप्यज्ञानादिता इत्येव वक्तव्यं स्यात् । उगादिभ्येते पठिता इति चैत्,
तदपि व्याकरणान्तरमेव, न पाणिनीयमित्यनपदमेव साधितमस्माभिः । श्रुत्वात्,
स्त-सु-स्तम्सुप्रभृतयश्च न पाणिनीये घातुघाठे दृश्यते, सूत्रेषु तु पठ्यन्ते । यन्
सौनान् घातूनाहुर्नोखरातार । त एतेऽपि पूर्वव्याकरणसंस्कारैरेव पाणिनिना
स्वसूत्रेषु निबद्धा इत्येव स्वीकर्तुं भावयति । एव 'चर्करीत च' इत्यदादिगणे
पठित पाणिनिनाचार्येण, यद्भ्रुगन्त तेन षष्ठ्यत इति व्याख्यातार आहुः । न च
पाणिनीये व्याकरणे यद्भ्रुगते चर्करीतमित परिभाष्यते, प्राक्तनैव व्याकरणेषु
कारितमिति णिन्तम्, चिञ्चिपितमित्यन्नन्तम्, चैक्रांतमिति यद्भ्रुग, चर्करीत
मित्यद्भ्रुगन्त एव कृतमासीत्, निरुक्तमपि दृश्यते तथा व्याख्यानम् । तस्मा
त्प्राक्तनव्याकरणसंस्कारैरेव पाणिनिना चर्करीत च इत्यदादौ निवेद्यतम् । किञ्च
'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमणत्वात्' । 'कालेपसर्वज्ञे च तुन्नम्' (१।२।५७)
इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्याय अनद्यतनादिकालविवरणाय च वचनं न कर्तव्यं
मिति पाणिनिना तादृशवचनं लक्षितम्, तद्वचनं केषांचिददा भवेत्, तद्वच
नं षडनमुपैयुञ्जेत, निरन्तरस्य लक्षणस्यायुक्तत्वात्, तच्च वचनं पूर्वेषां वैया
करणानामेव मन्वदित्यतीडाप पूर्वव्याकरणसंज्ञा स्फुटं सिद्धयति । किं चात्रैव पूर्व
'सुप्ते सुक्त-द्वयद्विवचन' इति स्वयं लिङ्गवचनं निधाय 'तदाद्यप्य संज्ञाप्रमाणा
त्वात्' (१।२।५३) इति पाणिनिना तदर्थं सूत्रकरणानावश्यकतया प्रकृति,
तत्रानादिमेव शक्यं वक्तुम्—यत्पूर्वव्याकरणान्यनुसृतं पूर्वविधानं कृतम्, तदनु च
स्वमेतेन संलक्ष्यतामिति । तस्माद्भवान् पाणिनिरव स्वपूर्वमेव व्याकरणसंज्ञायां
दृश्यं सार्थं । अथ माध्यस्यापि वक्ष्यं दृश्यताम् । 'अथ एकदलनधे' इत्यादिसूत्रे

‘वेन्दु’ इत्युदाहरति पठञ्चि । ‘अदे परस्य लिटि’ इति सूत्रे च ‘चरन्ते’ इति । तावेतौ प्रयोगो पानिनेसूत्रेण विद्वत्, दम्नधातोश्चामूनस्य मकारस्य, खञ्जधोक्तधामूलस्य ञकारस्य च लिटि लोभार्थं पानिनिना प्रयत्नाकरणात् । चयोरन्तरस्य लिटि पानिनिरेवमेषां चित्वाभावात् । तस्मात् ‘अन्धिप्रन्धिदम्नि-सञ्जीना लिटिः क्त्वि वा’ इति व्याकरणान्तरमनयोद्देशदाहरणोर्भाषकृतानुसृतनिति मत्प्रोदिदोक्ति आह । ‘न द्रुहस्तुनना पञ्चिनी’ इति सूत्रे च भारद्वाजीया पञ्च—‘निधन्धिप्रन्धि’ इत्यादि मशानाभ्यङ्गोक्तम्, त इमे भारद्वाजीया व्याकरणान्तराचार्या एव उक्त्वा उररीकृतम् । ‘औह आन’ इति सूत्रे च द्विवचने द्विवचप्रसुक्तं कार्यं याडादि कृतो नेत्यशङ्क्य ‘अथवा पूर्वस्यनिर्देशोऽप्यम्, पूर्वसूत्रेषु च वेदनुसन्धा न तैरिहेत्सादां न क्रियन्ते’ इति स्पष्ट भाष्यकारः पूर्वस्य उक्तौ स्वीकरोति । वार्तिकनदीह तदर्थप्रतिपादकं पञ्चिनिति वार्तिकमभ्याभ्यामुनाभ्यामपि पानिने पूर्वं व्याकरणान्तराचार्या स्पष्टं उच्यते दत्तम् । इदमेव भाष्य व्याख्यापेन कैयटेनोक्तम् ‘पूर्वाचार्यैर्दे अरि द्विवचने क्वितौ पठिते, न चेह (पानिनीये व्याकरणे) क्वचिदपि औहप्रत्ययोऽस्ति, सामान्यग्रहणार्थं पूर्वसूत्रनिर्देशः’ इति । ‘पृषादरादीनि यथोददिष्टम्’, इति सूत्रे च वार्तिककृता तद्व्याख्यायां भाष्य कृता च ‘नान च धातुवनाह निरुक्ते अकारणे शक्यं च तोक्तम्’ इति सूत्राकारैव शाक्यापनव्याकरणात् स्वीकृता । शक्यस्य लोक्तम्—शाक्यापनो व्याकरणात् नान धातुवनाह—एत्युक्त्या तदीयव्याकरणात्ता स्पष्टं प्रतीयते—न तु तस्य मतमात्रम् । यद्यपि उराम्यमानं शाक्यापनव्याकरणात् न पानिनिता प्राचीनं भवितुमर्हतीति विस्तरेण प्रयत्नोद्देशान्, तथापि आसीत् किमपि शाक्यापनव्याकरणात् पानिनिता पूर्वनित्यत्र तु न उद्यमश्च । पानिनिता तत्रानग्रहणात्—निरुक्तं वार्तिकमभ्यादिषु तद्व्याख्यानान्तरैश्च । ‘शताच्च व्युत्पाद्यते’ (५।१।२१) इति सूत्रमभ्याख्यायामा च स्फुटं कैयट आह ‘आदिशालिकाशकृत्स्नपोस्तु’ ‘अमये’ शान् वचनाद् अन्यत्र प्रतिपेक्षानाक । नियतकालञ्च स्मृतयो एवस्य-हेत्वा इति मुनिवचनेनैवाद्ये वाच्यवाच्यमभिमाण’ इति । अनेन लेखेन स्पष्टं प्रतीयते—यत् कैयटेन स्वयमपि शक्याशकृत्स्नपोर्भाष्यकरणं दृष्टम् । तत एव च अन्ते पानिनिव्याख्यायाम् स्पष्टं निर्दिष्टम् । अस्मिन् युगे च कैयटे पानिनीय व्याकरणात् प्रयत्नेन मन्तव्यनिर्णयं स्वन्तमुपन्यस्तम् । ततः पूर्वं मरुहरिणा च मन्तव्यं त्रिपादीव्याख्यायां ‘तर्हिद्विवादात्स आदिशक्याकारणे क्रमो भिन्न इत्युक्तम्’ तेन च शीघ्रपानिनीव्याकरणं दृष्टवानिति स्फुटं प्रतीयते । अत्रोक्तं च तद्विदितव्यं मुक्तव्यविषयकं निर्देश इति आदिशालिकाशकृत्स्नपो आदिशाल्यात्ताम्पा दृष्टं स्यादित्यपि न अस्तु शक्यम्, प्रादिशाल्ये हि कैयट स्वविषयं सन्धिद्वयमथ भवतीति तद्विदितव्यमादिविचारस्य तत्र न सम्यक् । प्राचीनानि

प्रातिशाख्यानि सुबन्त-तिङन्त-तद्धितादीनिपि व्याख्यान्ति स्मेति चेत्—
 व्याकरणाभ्येव तद्दि तानि, इति नाममात्रेऽयं विवाद पर्यवस्यति । माधवोऽपि
 घातुवृत्तौ 'तनादिगणे 'क्षिणु द्विसायाम्' इति घातु प्रहृष्याह—'अत्र सर्वत्र
 पिद्वचनेषु विकरणापेक्षो गुण 'सज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति न भवतीत्यापे
 यमैत्रेयो । तथा चापिशलि शब्दिकरणेषु घातुगुणमभिधाय करोतेश्च मृदेक्षेत्य-
 सप्तयत् । पुगन्तलघूपधस्य च इत्यत्र रक्षितन चोक्तम् । .. शाकटायनशीर-
 स्वामिभ्यामय घातनं पठ्यते ।' इत्यादि । तेन स्पष्टमिदं सिध्यति—यन्माधवना
 प्याशिशत शाकटायन च व्याकरण दृष्टम्, तयोश्चद्वयं वा आहमन्थे ऋचन
 दृष्टमिति । भट्टारकहरिश्चन्द्रादिभिश्च ऐन्द्रव्याकरणस्यापि सूत्रमुद्धृतमिति तदपि
 बहुकालपर्यन्त प्रचलितमासीदिति प्रसिद्धयति । किं च या एता 'असिद्ध बहिरङ्ग-
 मन्तरङ्गे' इत्याद्या परिभाषा भाष्यकृता पाणिन्यक्षरै साधिता, याभिर्विना
 पाणिनीये व्याकरणे न भवति निर्वाह, ता अपि व्याकरणान्तरेषु वाचनिकय
 इत्येव नागेशाद्या अभिमन्वते । तस्मिन्सर्वेऽपि वैयाकरणा पाणिने पूर्व व्याकर-
 णान्तरसत्तायां दृढ साक्षिणः । अथ शास्त्रान्तराणामपि साक्ष्य एवमस्ति । भगवता
 पाणिनिना 'पाराशर्यशलाहिल्या भिल्लुनरसूत्रयो' इति सूत्रयता पाराशर्यापरर्थाय-
 व्यासविरचितशारीरकसूत्राणा सत्ता स्वस्मात्पूर्वं स्फुटमभिव्यञ्जिता । तदात्वे
 तेषां भिल्लुभिरभ्येत्याद् भिल्लुसूत्राणीति प्रसिद्धिर्भवेन्नूनम् । व्याससूत्राणि चेमानि
 सर्वेभ्यो दर्शनसूत्रेभ्योऽर्वाकृतनानि सर्वेषामत्र समालोचनदर्शनात् । ततश्च
 सर्वाणि दर्शनसूत्राणि पाणिने प्राग्भवाभ्येति उररीकर्तव्यं भवति । तत्र च गौतमीये
 न्यायसूत्रे 'विकारादेशोपदेशात् सशय' इति सूत्र शब्दनिश्चयत्वप्रकरणे द्वितीया
 ध्यायस्य द्वितीये पादे दृश्यते । तस्यापमवाशयो यत् केचन वैयाकरणा शब्देषु
 विकारान् विदधति, केचिच्चादेशान् । विकारो नाम तस्यैव वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिः,
 आदेशस्तु एकस्य वर्णस्य स्थाने वर्णान्तरप्रयोग । तत्रानयो किं सत्यमिति
 विचार्यते । एव प्रतिज्ञाय तेन उभावपि पक्षौ चिन्तितौ, आदेशपक्षश्च सिद्धान्तित ।
 विकारादेशादिघान चेद व्याकरणशास्त्रे एव समवतीति तत पूर्वं व्याकरणाना
 सत्ता सिद्धा भवति । तच्च व्याकरण पाणिने पूर्वमभ्येति तस्यापि साक्ष्य पूर्वं
 भवव्याकरणसत्ता प्रमाणीकरोति । न्यायसूत्रस्य पाणिनिपरम्परवस्वीकारे समान-
 कालिकत्वस्वीकारेऽपि च पाणिनिरादेशवादी, इह चोभयोरुपदेश ख्यापित इति
 विकारवादि व्याकरणमपि किञ्चित्पूर्वमासीदेति सिद्धयति । वाल्मीकीये रायायणे
 च हनुमत् प्रथमदर्शनकाले श्रीरामेण लक्ष्मण प्रस्युक्तम्—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनैः बहुधा भूतम् ।

बहुं भाष्येभ्यः कालेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥

(वा. रा. कि. काण्डे)

तेन तदाख्येऽपि व्याकरणसत्ता प्रतीयते । न च पाणिनीयस्य तदाख्ये संभव इति व्याकरणान्तरमेव प्राग्भव स्वीकार्यं स्यात् । किं बहुना वेदाङ्गेषु मुरयतया सर्वत्र व्याकरण पठ्यते—ब्राह्मणेष्वापि च तत्र तत्र व्याकरणविषया निर्दिश्यन्ते— इति एतद्युगजातपाणिनिर्यन्त मुख्य वेदाङ्ग नैव प्रचलितमिति न कथमपि भद्रात् शक्यम् । चीनदेशाद्भारतभ्रमणार्थमागत श्यूआनचूआहू-नामकं पर्यटकोऽपि पाणिनि षडे बहु लिखन्निदमपि जगात्—यत् पाणिने पूर्वं बहूनि व्याकरणानि परस्पर विप्रतिपन्नानि शिष्टुलानि च प्रचरन्ति स्म । तत्रैतस्य व्याकरणकर्तृतया स्पष्टमतेन नाम गृहीतम् । एतस्य लेखानामितिवृत्तविषये बहुतर प्रामाण्यमभ्युपगम्यत ऐतिहासिकैः । सुकृतर च तत्, देशान्तरादागतेन स्पष्टमक्षिप्तो विलोक्य यल्लिखित तत्राविधासे कारणामावात् । व्याकरणन्तरसत्ता यद्यपि न तेन स्यादृष्टा—अथापि द्वादशशतमितवसरेभ्य पूर्वमपीह जना पाणिने प्राग्भ्या करणसत्तामभ्युपगच्छन्ति स्म, तेभ्य एव तेन श्रुतमिति तु निविवादम् । ततश्च 'नक्षत्रमूला जनश्रुतिः' इति न्यायेन न तत्र संदेशोऽन्तरेत् । बृहत्कथामूलकेषु कथासहितसागर-बृहत्कथामञ्जरीप्रभृतिष्वपि पाणिने पूर्वमैन्द्रव्याकरणस्य सत्ता, पाणिनीयव्याकरणप्रकारोत्तर तद्विलोपश्चेति स्पष्टमुदुष्टयत एव । तस्माद्देवराजैः प्राणरूपेण देवेनाज्ञानाधिष्ठात्री मानुषी वाग व्याकृतेति व्याख्यातपूर्वं श्रुतेस्तात्पर्यं मनभिदाङ्गनीयमाग्ता वैज्ञानिकदृष्ट्या, अथापि मनुष्यदिशेषोऽपि कश्चिदिन्द्रो व्याकरणग्रन्थमपि कञ्चन निर्मितवानेवेति बहुभि साक्षिभि साधितोऽयमर्थो नाप ल्पनीय कथमपि । यद्यपि परस्परादिके महामाभ्ये कथं शब्दानुशासनं कर्तव्यम्— इति प्रश्नन्त्याप्य शब्दाना प्रतिपदपाठं कर्तव्य इति पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्य तस्य शब्दप्रतिपत्ताञ्चमभ्युपायता प्रदर्श्य उद्वर्गापवादरूपेण नियमबोधकसूत्रनिर्माणमेवा श्रोपाय इति सिद्धान्तितम्, तेन पाणिनीयव्याकरणमेव सूत्रनियमपरिष्कारकमिति भिन्नत इवति केचिदाशङ्कन्ति, बृहस्पतीन्द्रनामोल्लेखाद् बृहस्पतिते द्वाय शब्दपारायणमव शिथिलम्—इति स्पष्टोक्त्या च बृहस्पतीन्द्रोऽस्य शब्दपारायणरूपमेव व्याकरणमिन्द्रेण विरचितं स्यादित्यनुमिन्वन्ति, परं महामाभ्यकारेणैव यदा पूर्वं प्रदर्शितरीत्या नियमबद्धव्याकरणसत्ता पूर्वमपि स्वीकृता, तदेमे वैयङ्गनानुमाने न प्रसङ्गे प्रसङ्गत । अपि तु लक्षणरूपस्य व्याकरणस्यावश्यकत्वेमेव तेन व्याकरण प्रयोजननिष्पणावसरे ख्यापितम्, तच्च लक्षणरूपं व्याकरणं प्राक्तन पाणिनीय चरि सामान्येन सर्वं गृहीतमित्येवाभ्युपगन्तव्यं स्यात् । अग्रे च शब्दस्य नित्यत्व-कार्यत्वविचारमुपलक्ष्य 'सुप्रदे परतप्राधान्येन परीक्षितम्' इत्यादिना विस्तरभियाऽत्र त विचारमुपेक्षमाणेन 'उभयथाऽपि लक्षणं प्रकर्तव्यम्' इति वैयाकरणाना नैकज्ञभिर्निश्चय इति प्रदर्शयता 'कथं पुनरिदं भगवत पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्' 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति पाणिनिव्याकरणविचारारम्भ सूचयता

महाभाष्यकारेणैव स्फुटमिदं ध्वनितम्—यत्पूर्वमपि सन्त विविधानामाचार्याणां लक्षणानि, तेषु कानिचिच्छब्दस्य नित्यता कानिचिच्चानित्यता लक्षणीकृत्य प्रनतन्ते— पाणिनिस्तु भगवान् शब्दनित्यतावाद्मेव लक्षणीकृत्य प्रवृत्त इति । 'इदं लक्षणी कथं प्रवृत्तम्' इत्युक्त्या लक्षणान्तराणामपि सत्ता ध्वन्यत एवेति सुधिय एव विवेचयन्तु । इत आरम्भैव पाणिनीयस्य व्याकरणस्य विन्दारात्प्रभ इतीतः प्रागुक्तं प्रयोजनादिकं सर्वमपि सर्वव्याकरणसाधारणमित्यपि स्फुटीभवति, तेन लक्षणरूप विधाकरणं पाणिनीयमेवेति पूर्वोक्ता ध्यङ्गता न पदं लभते । आस्तां विस्तरः । अद्वेषस्यापि सामभूमिमहाभागस्य पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरकत्ता नासीदेवेति निरुक्तालोकनप्रदर्शितं मतं न वयमभ्युपगन्तुं प्रयवामः । इदानीं पाणिनेः पूर्व- भवं विप्रपि व्याकरणं नोपलभ्यत इति तु स्फुटमेव । तेन कानि व्याकरणानि कथयित्वा ऋट्टशानि वा आहन्-इत्यादि विवेक्तुं नास्त्येव किमपि साधनम् । निप्रतिपत्तिस्तेषां ऋचिच्छब्दादीदिति तु पाणिनिमूत्रेषु तत्तन्मतोद्धरणदेव प्रतीयते, चीनपर्यटकस्य लेखेनापि च तस्मिन्निर्दिष्टम् । सत्यामपि तादृश्या विप्रतिपत्तावच्छले पाणिनीय- सिद्धान्त एवास्मान्भिरादत्तव्य इत्यपि च कैयदोक्त्या प्रवर्धितपूर्वम् ।

प्रातिशाख्यानां पाणिनेश्च पौर्वापर्यत्रिचारः ।

अथ यान्येतानि प्रातिशाख्यान्यथैव समुपलभ्यन्ते, तानि पाणिनेः प्राक्तनानि पञ्चाङ्गानि वैश्वत्रापि विप्रतिपत्तिरेव । सत्यत्रयसामभूमिमहाभागः पाणिनेरर्वाङ्ग- नान्येतान्युपगच्छति । युरोपीयास्तदनुयायिनश्च भारतीया गणपका विद्वांसः केचन पाणिनेः प्राक्तनानि प्रातिशाख्यानि मन्यन्ते । केचित्तु पाणिनेरर्वाङ्गानि । केचित्तु शौनकादीनि प्राक्तनानि, कात्यायनादीनि चार्वाङ्गान्यभ्युपगच्छन्ति । आश्चर्यमिदं यत्प्रातिशाख्यान्यपि पञ्चाशतोप्यधिकानां पूर्वाचार्याणां नामानि गृह्णन्ति, परं न क्वापि तेषु पाणिनेर्नामग्रहणम् । पाणिनिनाऽपि भगवता स्मृत्याः केचिदाचार्यां शाकल्य-शाकटायन-गार्ग्य-गालव-काश्यपश्चमृतयः, समुपलभ्यमानप्रातिशाख्य प्रयोक्तृणां शौनक-कात्यायन-शुभादीनां नामानि तु न क्वापि स्मृतानि । ये तु श्रुतन्त्रप्रातिशाख्य शाकटायनकृतमभिमन्यन्ते, तेषामपि नये न श्रुतन्त्र- प्रयोक्ता शाकटायनः पाणिनिना गृहीतनामेति सम्भाव्यते—तादृशानां मतानाम् प्रादर्शनात् । न च श्रुतन्त्रप्रातिशाख्यनिदानीमुपलभ्यमानं पाणिनेः पूर्वभवं सम्भवतीत्यनुपदं दर्शयिष्यामः । यदि क्वापि परस्परं नामोल्लेखोऽनविष्यच्छदि मुल पौर्वापर्यनिश्चयोऽनविष्यत् । ये तु शौनकादिभ्यरुन्दसि (४-३-१०६) इति शौनकनामप्रदर्शनात् शौनक पाणिनेः प्राक्तन सिद्धापरिधान्तं ते गितान्तं आन्ताः । नद्यत्र प्रातिशाख्यप्रवृत्ता शौनकी गृह्यतेति, प्रत्युत शौनकप्रोक्तेरुन्दसि विवक्षित एव त्रिनिप्रत्यय पाणिनिरनुशास्ति—वेदाङ्गे तु वाच्ये शौनकीया शिक्षा-

इत्येव तत्र प्रत्युदाह्रियते । अस्ति च मन्त्रद्रष्टापि शौनक सुप्रसिद्धः । ननु च अङ्गप्रवक्तृव्यावर्तनाय यत्क्षेत्रे छन्दधीत्युपात्तम्, तेन अङ्गप्रवक्तुरपि परिचय-
पाणिने सिद्धयति, अन्यथा कस्य व्यावर्तनाय 'छन्दसि' पद सूत्रोपात्त स्यात्, तेन प्रातिशाख्यप्रणेता शौनकोऽपि पाणिने प्राक्तन सिद्धयतीति चेत्, तदपि भ्रान्तम् । 'शौनकीया सिद्धे'ति प्रत्युदाहरणदर्शनेन शिक्षाप्रवक्तुरेव पाणिने-
प्राक्तनसिद्धे । न हि शिक्षाप्रवक्ता प्रातिशाख्यप्रवक्ता च शौनक एव शक्य आह्वयानुम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये शिक्षाविषयाणां वर्णक्रम-स्थानप्रयत्नादीनामपि दर्शनात् । यदि हि भगवता शौनकेनानेनैव पृथक् शिक्षा निरमास्यत, न तर्हि प्रातिशाख्ये ते विषया समग्रदोष्यन्त, पुनरुक्त्यापत्ते । तस्मान् प्रातिशाख्य-
प्रवक्तुः शौनकस्य पाणिनेपरिचितत्वे न किमपि मानमिति सुरगधम् । यस्तु 'अष्टा वाद्यानवसानेऽप्रष्टहानाचार्या आह्वानुनासिकान् स्वराण्' (शौ० प्रा० प० १ सू० ६३) इत्यत्र आचार्यपदेन पाणिनेरेव शौनकेन स्मृत, तेन पाणिनेपरिवर्त-
शौनकादीनां प्रातिशाख्यकर्तृणां सिद्धयतीति सामभूमिमहाशय आह स्म, तत्र युज्यते । यतो ह्यत्र अष्टानामपि स्वराणां प्रवसानेऽनुनासिकानुक्तम्, स्वराश्च शौनकेन 'अकारावि उ ए ओ ऐ औ' इत्यादावेवोक्ता । तत्र दीर्घाणां परिगणनेऽपि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ, ॠ, इत्यथै भवन्ति । तत्रश्च ऋकारस्याप्यत्रानुनासिकत्व विहितमिति स्पष्टं भवति । पाणिनेना तु 'अणोऽप्रष्टहस्यानुनासिक' इति अणपदेन 'अ, इ, उ' इति त्रयाणामेवानुनासिकत्व विहितमिति न ऋकार-
स्यानुनासिकत्व तन्मते सिद्धयति । अत्राणपूर्वणकारेणैव ग्रहणस्य भाष्यता सिद्धान्तितत्वात् । तत्रश्च सत्येव मतवैषम्ये 'आचार्य आह' इति आचार्यपदेन कथं पाणिनेर्ग्रहणं सिद्धयेत् । न हि पाणिनेरष्टानामानुनासिकत्वमाहेति सूत्रा-
प्रलापः शौनकस्य तथा सति सिद्धयेत् । तस्मादविचारिताभिधानमेवेदं सामभूमि-
महाशय । यदपि च तेनैवोक्तं निरुक्ताल्लोचने 'व्याडिना पाणिनीयानि स्वाग्नि-
संप्रदे व्याख्यातानि, व्याडेश्च नाम शौनकेन बहुधा स्मृतम्—

परिमदे त्वनाद्यन्ता तेन वैकाशरीकृतात् ।

परेषा न्यासमाचार व्याडित्त चेत् स्वरी परो (७ ३१३)

उभे व्याडि समस्वरे (३१८) व्याडे सर्वत्राभिनिधानेऽपि (६४३)

समानाद्य नाम वदन्ति एते तथा णत्व सामवशाश्च सन्धीन् । उपाचार लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्याडिशाकल्पनायां (३१३) व्याडिर्नासिक्यमनुनासिक (३१३७) इत्यादिषु । तच्चेद व्याडेर्नामग्रहणं पाणिनेरेव नामग्रहणं प्रवेतव्यम् । व्याड पाणिनेस्तत्र व्याख्यातृत्वादिति । तदेतदपि न मनोरमम् । कोऽयं व्याडि, कति च व्याडिनामान आचार्या, इति सर्वमेवाद्यावधि अस्फुटमेव । पाणिनेनापि

‘छन्द्यादय शालायाम्’ (६।१।२६) इति सूत्रे छन्द्यादिगणे व्याडिपद सृष्टीतम् । तेन पाणिने प्राक्तनोऽपि कश्चिद्व्याडिरासीदिति निश्चप्रचम् । व्याडिकृता विकृतिवह्नी प्रसिद्धयति, तत्र तेन बहुधा शौनकमत सृष्टोतम् । मङ्गलाचरणे च— ‘नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरु वदमहानिधिम्’ इति गुरुत्वन शौनक स्मृत इति सामभ्रमिणोक्तम् । न हि शौनक स्वाशय्यस्य व्याडेराचार्येषु नाम सृष्टीयात् ‘आचार्या व्याडिशाकल्पगार्भ्या’ इति । तस्मादन्यो विकृतिवह्नीप्रणेता व्याडि, अन्यश्च शौनकेनाचार्येषु परिगणितो व्याडिरित्येव वक्तु युक्तं भवति । शौनकेन च स्वविषय एव प्रायेण व्याडि स्मृत, अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु तस्य नाम दृश्यते, इति प्रातिशाख्यप्रवक्तृवाय सम्भाव्यते । स एव च प्राचीनो व्याडि पाणिनिनाऽपि छन्द्यादिषु पठितो भवेत्, शालासम्बन्धिन हि व्याडि पाणिनि स्मरति, प्रातिशाख्यकृता चासन् परिषद् शालाश्वेति श्रीवासुदेवशरण प्रभृतय प्रमाणै प्रसाधयन्ति इति । पाणिनिस्त्राणि व्याडिना व्याख्यातानीत्यपि किंवदन्तीमात्रम्, न तु प्रमाणसिद्धम् । महाभाष्यकृता हि सग्रहग्रन्थस्य नाम सृष्टीतम्, न तु सग्रहो व्याडिकृत इति, पाणिनिस्त्रय्याख्यामूत इति वा तेन क्वचिदुक्तम् । नागेशादिभि किंवदन्तीमात्रमेवाश्रित्य सग्रहस्य व्याडिकृतत्वादि ख्यापितम् । सग्रह स्वतन्त्र एव ग्रन्थ शब्दविचारपरो भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव । अतिप्राचीनेन हरिणाऽपि तस्य लोप एवोक्त इति तद्विषयक यत्किमप्यनुमान कपोलकल्पनामात्रमेव । कथासरित्सागरादौ पाणिनिसमकालिको व्याडिकल्प्यते, पर सामभ्रमिमहाशय कथासरित्सागरमत्यर्थं निनिन्देति कथं तदाधारेण पाणिनिसम कालिक व्याडिमभ्युपगच्छतु । मान्यानपि पूर्वाचार्यान् नामसादृश्यभ्रान्ताननेकप्रोप हसन् सामभ्रमिमहाशय कथं व्याडिनामविषय एव विभ्रान्त इति न वय विवेक्तु प्रमत्तम् । तस्माद् व्याडिस्मरणेन पाणिनेरर्वाग्भवत्वसाधन प्रातिशाख्याना न दृढमिति पौर्वापर्यं पाणिनीयात् प्रातिशाख्याना सन्दिग्धमेव भवति । तथैव बृहद्देव तस्या शौनकविरचितायामेव ‘भगवानाह शौनक’ इति शौनकस्य ‘भगवान्’ इति विशेषण दृश्यते । तस्मादत्यन्त विभिन्ना कति शौनका इत्यपि न निश्चितं भवति ।

प्रातिशाख्याना पाणिनिपूर्वभवरव ये वदन्ति, तेषामेया युक्ति—यत् प्रति पदमुच्चार्यं षत्वणत्वादिविधाने प्रातिशाख्यकारा किञ्चिद्व्यन्ति, तत् पाणिनेऽन्तर भवाना न सम्भवति । पाणिनिना षत्वणत्वाद्यनुगमस्य कृतत्वात्, तादृशकलेशस्य पश्चादनवसरदु स्यत्वात् । तथा हि शौनकीये ऋग्यदप्रातिशाख्ये—पञ्चमपटल-स्यादित एव अष्टत्रिंशत्सूत्रपर्यन्त षत्वप्रपञ्चो दृश्यते, तत्र च प्रलम्बेषु सूत्रेषु बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्यं षत्व विहितम् । तत ऊनर च तथैव ऊनचत्वारिंश सूत्रमारभ्य सप्तपञ्चाश सूत्रं पटलान्त यावत् षत्वप्रपञ्च कृत, तत्रापि बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्यं षत्वविधिनिषेधो दृश्येते । तथैव कात्यायनीये प्रातिशाख्येऽपि तृतीयस्याच्यायस्य

पञ्चम्याञ्च सूत्रमारम्य चतुरशीतितमस्यपर्यन्तमथाविंशत्या सूत्रे परम्य विधिनिषेध
 प्रपञ्च, आधिक्येन च प्रतिपदपाठ एव तत्र शरणीकृत, तदग्रे च तत्रैव पञ्चा
 शीतितम सूत्रमारम्य प्रायेण नामग्राह्यमैकादशमि प्रथम्ये सूत्रेणैव प्रपञ्च उक्त ।
 अथैष्वरि प्रातिशाख्येषु सेयमेव प्रक्रिया प्रायः दृश्यते । सोऽयं प्रपञ्च स्वस्व
 शाखार्थमेव शयपि न विस्मर्तव्यम् । पाणिनिना तु भगवता लोकात्पु वदस्य सर्वास्तु
 च शाखानु अनुगतीकृत्य लघुमि पञ्चपष्ठ्या सूत्रे (अष्टमध्याये तृतीये पादे
 ५५-११९ सूत्रे) सर्वोपि परविक्षि समापित, जस्य च तदनुगतीकृत्य लोकात्पु
 साधारण्येन लघुमिन्नचत्वारिंशन्ति सूत्रे सर्वमपि बोधितम् (८।४।१-१९) ।
 एव त्रिसर्गनीयस्य कुप्र सकरो भवति, कुप्र वा पकार, क वा रफ, क तु त्रिसर्ग
 एवेत्येतदर्थं प्रतिपदग्रहणान् अनिप्रलम्बानि जनचत्वारिंशत् सूत्राणि शौनकीय
 प्रातिशाख्ये चतुर्थे पत्रे (२५-६१) अक्षोभयन्ते, कात्यायनोऽपि तृतीया
 ध्यायस्य षष्ठसूत्रमारम्य एकचत्वारिंशत्सुपर्यन्तं परत्रिंशता सूत्रे सप्तशतीय
 विसर्गोणासुक्तविधिविकार प्रत्यपदयत् । पाणिनिस्तु ८।४।१४ सूत्रमारम्य ८।४।१४
 पर्यन्तमेकविंशत्या लघुमि स्रैल्लोभदसाधारण्येन विसर्गस्योक्तविधान् आदेशान्
 समग्रहीत् । इतोऽतिरिक्तोऽपि 'अन्तरिच्छन्ति' 'प्रातरग्निम्' 'अविमरुष्ये'
 इत्यादिषु रेफस्योत्पत्त्यावृत्तये 'अन्तादात्तमन्त' 'प्रात' 'अविम' इत्यादिर्महान्
 प्रपञ्च शौनकस्य प्रथमे पाठ उदलभ्यते । पाणिनिना तु रोक्षयम्, कालस्य रफस्य
 नोत्पत्तिमनुगमेन सर्वं साधितम् । तथैव षष्ठ पदान्तादति (६।१।१०९) इति
 पाणिनिना पदकारस्य पूर्वरूपमुक्तम्, तद्युक्तं भवति, कुप्र वा न भवतीत्येतस्य
 शौनकीयद्वितीये पत्रे चतुर्दशसूत्रमारम्य परत्रिंशत् सूत्र यावत्प्रतिपदग्रहणपुर एव
 महान् प्रपञ्चो दृश्यते । एतद्वि प्रातिशाख्येषु अभिनिधानमुच्यते । अत्र प्रातिशाख्ये
 चापि चतुर्थध्यायस्य एकपञ्चितम सूत्रमारम्य पञ्चशीतितमस्यपर्यन्तमस्यैव पूर्वरूपस्य
 महान् प्रपञ्च कृत । पाणिनीये तु केवलं सप्तमिरेव सूत्रेणैव तदनुगतीकृत्य
 दर्शित । कियद्बुदादायम् । अनुगमाभावेन सर्वत्रैव प्रातिशाख्येष्वेवैव स्वरस्वरकार
 विषये विस्तरो दृश्यते । यदि हि पाणिनीय व्याकरणे पूर्वमभविष्यत्, तत्र
 चानुगमा प्रातिशाख्यकृद्भिर्दृश्यन्त, तर्हि नैवमनुगमकृतं क्लेशस्ते सोऽयोऽ
 भविष्यत् । एवमेव वर्णा तदीयस्थानप्रपञ्चादिविवरणे चापि प्रातिशाख्येषु विस्तार
 निर्दिष्टमिति नैव पाणिनीयकृतस्य व्याकरणे स्थिते सम्भवति । पदकप्रदीन् विकृति
 पाठानपि च प्रातिशाख्यानि विदधति, तच्चेद क्रमादिषु स्वर वर्णविपर्ययपरिहारा
 यैवाम्यस्यत इति सुस्पष्टम् । पाणिनीये व्याकरणे तु स्थिते सर्वत्र प्रकृतिप्रत्यया
 दिविभागपुर एव पद एव सुप्र सुस्पष्टमवगते न स्वरवर्णादिविपर्ययशङ्केति
 क्रमादिविधान् व्यर्थमवापतेत् । तस्मत्पाणिने पूर्वमवायेव प्रातिशाख्यानीति
 केचिन्मन्यन्ते ।

परे त्वेव प्रत्यवतिष्ठन्ते—पाणिनिना सुप्तिङ्ङुदादयः सर्वेऽपि व्याकरणभागाः सुस्पष्ट निबन्धा इति तत्रानुगम शक्यते कर्तुम् । प्रातिशाख्यानि तु केवल स्वरं सन्धीश्च विवृण्वत इति ते केन प्रकारेणानुगम कर्तुं शक्नुयुः । प्रतिपदपाठातिरिक्तं किं तेषां शरणम् ? यथा—आदेशप्रत्यययोरिति पाणिनिः ष्वन्नुगमवति, केवलं प्रातिशाख्यमघीयानस्तु आदेश प्रत्यय वा कथं परिचिनोतु ? तत्तदुपसर्गयोगे तत्तद्भातोस्तत्र तत्र ष्वन्मित्येव पाणिनेरनुगमः । यस्तु घातुप्रत्ययादिकं न सम्यक् परिचाययति, स कथं तथाविधमनुगमं प्रदर्शयतु ? तस्मात् पाणिनेरनन्तरभाविभिरपि प्रातिशाख्यैः प्रपञ्चं कर्तव्य एव स्यात् । किञ्च पाणिनिर्विकल्पनिर्देशेन बाहुल्यकेन च बहुत्र सत्त्वेन करोति, सर्वशाखानां सर्वेषां लौकिकानाञ्च प्रयोगाणां निर्वाहकेन कर्तव्यमेवेदं भवेत् । प्रातिशाख्यानि तु स्वस्वशाखाभाजनियतानि न विकल्पेन बाहुल्यकेन वा प्रवर्तितुं प्रभवन्ति । वेदेषु हि विन्दुविस्मर्गादिकमपि किञ्चित् कथमपि न परिचरितं स्यादित्येतदर्थं प्राचानाचार्याणां महान् प्रयत्नो दृश्यते । तस्य प्रयत्नस्य प्रतिनिधिभूतान्तेव प्रातिशाख्यानि । तानि यदि विकल्प बाहुल्य वा निर्दिशेयुः, कुत्र तर्हि ष्टत्वादिकमिदं प्रयोक्तव्यम्, कुत्र वा न प्रयोक्तव्यमिति सन्देहानां एव प्रयोक्तारो भवेयुः । प्रातिशाख्येषु तु तत्रैव विकल्पो व्यवह्रियते यत्र स्वशाखायामपि द्विविधः प्रयोग उपलब्धः स्यात्, तत्रानि च विभागास्तत्र तत्र स्पष्ट तैर्बोधनीयो भवति । तस्मात् स्थितेऽपि पाणिनीये व्याकरणे न नि सन्देह वेदेषूच्चारण सिद्धचेदिति अनन्तरमपि सम्भवेदेव प्रातिशाख्यानामपेक्षा । यथा—पूर्वपदात् (८।१।१०६) इति सूत्रेण पूर्वस्थितात्पदात्तरस्य सकारस्य विकल्पेन पठ्य पाणिनिना विहितम्, तेन 'दिविष्ठ' इत्यत्र पठ्य जायते 'युवं' हिस्य स्वर्पति' इत्यत्र तु न जायते । विकल्पविधानादेव । प्रातिशाख्यकृता तु नैतावता परिभोष, यदि कश्चिद् 'दिविस्थ' इति पत्राऽनावधत्तं प्रयुञ्जीत, 'युवं विष्ठ' इति च पत्रविविष्टम्, तदपि पाणिनिरीत्या शुद्धं स्यात् । तथा च विष्णवे वेदे प्रसज्जेत । तदर्थं शौनकेन 'द्वयक्षरेणैव सत् स्य' (५।५) इति विशिष्य नियमं प्रदर्शितः । 'रुद्, स्थ' इत्यनयोः पदयोर्द्वयक्षरपूर्वपदोरव षत्वं जायते इति तदर्थः । तेनासन्देहो जातः । तथैव 'मुञ्ज' (८।१।१०७) इति निपातस्य स्त्रुः पूर्वपदस्याभिनिष्ठात्तरस्य अनिशेषेण पठ्य पाणिनिना विहितम्, तेन 'ऊयुग' 'अभी पु ण' इत्यादि निदृश्यते । 'मुदीतिमि' 'मुदीदिहि' इत्यादौ तु मुञ्ज षत्वं यत्र दृश्यते तदर्थं न विशिष्य प्रयत्नं कृतं, विकल्पेन बाहुल्यकेन वा तत्समाधानं स्यात् । शौनकेन तु 'स्वबहुक्षरेण' (५।५) इति वचनाद्बहुक्षरात्पदात्तरस्य पठ्य न भवतीति स्पष्ट व्यवस्था कृता । एवमेव 'थे पु नो मवनो मृच्छयन्तु' (ऋ० १।१६।५) इत्यत्र मुञ्ज पठ्य दृश्यते, 'थे मु पुन शन्त' (ऋ० ८।१२।२४) इत्यत्र तु न दृश्यते तदर्थमपि '२कारेणापि स्तिनति न पर चेत्' (५।८) इति शौनककृता

व्यवस्था दृश्यते, पाणिनेस्तु विकल्पेनैव निर्वाहः । विकल्पश्च कुत्र भवति, कुत्र न वा भवतीति व्यवस्थित्यभावेन वक्ष्ये ऽपि वाच्यम् । कात्यायनेन तु स्वशाखायां यावदुपलभ्यन्ते 'ओकारास्तु' 'उच्चापृक्तात्' (अ० ३।६१-६२) इति ओकाराद्दुकाराच्चापृक्तात्परस्वैव मुञ्च घट्वं विहितम्, न ततोऽतिरिक्त्वा घत्वप्रयोगास्तस्या शाखाया लभ्यन्ते इति । एव पाणिनिना 'युष्मत्तत्तद्भुज्जन्तपादम्' (८।३।१०३) इति युष्मत्कृत्वाद्यवे तच्छब्दाद्यवे च तकारे परे सामान्येन घट्वं विहितम्, पर 'तिष्ठिस्तिष्ठे सर्पांगाम्' इत्यादौ यत्तुपि षत्व न दृश्यते इति नामग्राह तन्निषेधः कात्यायनेन कर्तव्योऽस्मत् (३ अ० ८१ सू०) यद्यपि कात्यायनेन तच्छब्दे परे सामान्येन षत्व न विहितम्, तथापि यत्र विहितम्-तद्द्वयावृत्तयेऽपि नामग्राहं निषेधः आवश्यकोऽस्मत् । एव 'सिक्चेव कौश सिक्चिचे निवध्मे' (श्रु० ३।३२।१५) 'बहुष्वाक सिक्चिचुस्त्वमुद्रिणम्' (श्रु० २।२४।४) इत्यादौ 'आदेशप्रत्यययो' इति प्राप्तमपि षत्वमभ्यासार्तरस्य सकारस्य न दृश्यते इति नामग्राहमेव तन्निषेधः शौनकेन (५।२९) कृतः, नान्या गतिः । णत्वेऽपि 'वा मावकरणयो' (८।४।१०) इति भावकरणार्थकप्रत्ययनिष्पन्नपानशब्दनकारस्य णत्व विकल्पेन पाणिनिना विहितम्, किन्तु 'इद त्वत्वात्तन्निष्पानम्' (श्रु० ६।४।१६) इत्यादौ नकार एव पाठ्य 'मुप्रपाण भवत्वध्याम्य' (श्रु० ५।८।३।८) इत्यादौ तु णकार एवेति व्यवस्थार्थं शौनकेन (५।४३) प्रयत्नः करणीय एवाम् । तथा भस्नदादेशस्य 'न' इति पदस्य 'नश्च घातुस्थोरुष्म' (८।४।१७) इत्यनुगतीकृत्य णत्वं पाणिनिना दर्शितम्, परम् 'ईशानासो ये दधते स्म' (श्रु० ७।६०।६) 'अर्थमा णो अदिति' (३।५।१८) इत्यादिषु घातुस्थोरुष्मिन्नेष्वप्युपपद्ये णत्वं दृश्यते 'सोमाभिरक्ष न' (६।११।४।४) इत्यादौ तु घातुस्थोरुष्मकारात्परस्यापि न दृश्यते, तदिदं पाणिनीयैर्बहुलकादेव समाधेयम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये तु तदर्थं विशिष्य प्रयत्नः आदेश्यक एव वेदरक्षार्थम्, (शौ० प्रा० ५।५८), यत्प्रातिशाख्येऽपि 'इन्द्र एणम् प्रथमो अध्यतिष्ठत्' 'समिन्द्रे णो मनसा नेपि गोभि' इत्यादौ प्रतिपदमुच्चार्यैव णत्वं विहितम्, नैतत्पाणिनीयैः सूत्रैः सिद्धयति । तथैवाभिनिधानेऽपि 'अव्यादवद्यादवक्रमुरमयमवत्तस्सुषु च' (६।१।११६) इति पाणिनीय सूत्रं व्याचक्षणेन कौमुदीवृत्तैव रक्षमुक्तम्—'यद्यपि बहुचैस्तेनोऽन्तु रथत्' 'सोऽयमागात्' 'तेऽरुणेभि' इत्यादौ प्रकृतिभावो न श्रियते, तथापि बाहुलकात् समाधेयम् । प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवायमर्थः, इति । उव्वटेनापि शौनकप्रातिशाख्ये व्याचक्षणेनादावेऽऽ प्रयोजनप्रस्ताव उक्तम्—'अथ व्याकरणे यत्त्वमन्येन 'श्रुच्चित्तनुष्मत्तत्तद्भुज्जन्तपादम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति ।

--- तद्व्यवस्थापयितुमिदमारभ्यते—न सर्वोपेतानि प्रोक्तानि पदान्दस्या शाखाया दीर्घाणि भवन्ति, इत्यादि । तैत्तिरीयप्रातिशाख्यवृत्तिरिति च तथैव प्रति

पदितम् । अल्पमुदाहरणमात्रनिर्हासनाभिप्रेतं जन्तुं, सन्ति यत्तयो वैदिकास्तथा-
 तिषाः प्रयोगाः, ये पाणिनीयैः सूत्रैरुन्मिषं न लिङ्गयन्ति, बाहुल्यं वा क्लृप्तो
 वा तत्र शरीकराणो भवति । तत्र सन्देहनिवृत्तये स्याति पाणिनीये व्याकरणे
 प्राटिशाख्यानानावदनकटा वाग्लेषेति नैतावता पाणिनिपूर्वमत्र प्रविद्याख्याना
 दृशक चावपि तुम् । प्रथुत परमन्वमेव प्रकरैरिति लिङ्गयेत्, यदि पाणिनेः
 पूर्वमेव प्राटिष्य स्युद्धरेव पत्रत्वामिनिषानादिविषयेऽनुगमक्रेषाः प्रादुर्भा-
 विष्यन्त, तर्हि तानात्मेच पाणिनिपि स्वीयेषु सूत्रेषु तदन्वयिष्यदेव । परं
 नैतदपि दृढं प्रमाणम् । एव सर्वेषां प्राटिशाख्यानानां प्रादिनदत्तान् यदि पाणिनेः
 सृष्टीयात्, तर्हि तादृशो गुणस्तदुत्पन्नः सत्, यस्य प्रयोगे नैव लोके
 सम्भवेत् । तस्मात्तद्विज्ञानां प्रयोगाशा सर्वाणां च वेदशास्त्रानां तृप्त्यन्तर्गतं
 व्याकरणं निष्पन्नं निष्कल्पबाहुल्यकटाभाषणानेव, नान्या गतिः । तदित्यं
 सन्देहासदन्त्येवैतानि प्रमाणानि ।

पाणिनेरिति स्थिते क्रमादिवेदान् व्ययनेव मनोदिति च पक्षेऽभिदुर्गच्छितम्,
 तदपि न मनोरमम् । नहि व्याकरणशीलैव वेदा अप्येता-इत्येषां पाणिनीयै
 सुगोचरेण प्रचलतीति महानाभ्युदयेऽपि । ये च केचन वेदनेव व्याख्यायते-
 तदधीनैवाभिष्येन वेदरक्ष । तस्मात्तेशां कृते पदवर्गाविन्दुविर्गदन्वयानात्तदुक्ता-
 निवृत्तये अद्यापि पदकनवद्यथा निवृत्तयोऽनेह्यन्त एव । न च पाणिनीयेन
 व्याकरणेन सर्वास्तु शास्त्राणु वर्गस्तद्विन्देहा निवृत्तितुं शक्यन्त इत्यनुदनेव
 प्रवर्तमानम् । तस्मान्मनोऽपि हेतुः पूर्वसंवीभावनायनायात् भवति । द्विज
 पाणिनीयस्य व्याकरास्य महान् व्याकरणता यो व्याडिरमुगम्यते प्रायेण
 सर्वैरेतहाभिकैः, तेन विकृतिरन्त्या क्रम-बन्-शिव-श्लाघनिषा अथौ विकृतयो
 लक्षिता इति पाणिनेरनन्तरं विकृतीनाम्नावस्यकटा कः कथं प्रतिनादयतु ! यदपि
 वानिदं यत्तत्प्रमाणमपलायतु विधानदर्शनेन प्राटिशाख्यानानां पाणिनिपूर्वमत्र लिषाष-
 विष्यन्ते, तदपि नैतन्नकल्पते । पाणिनेर्हि वैयाकराः, पदान्वाख्यानं तस्य व्ययम् ।
 तत्र एव वर्गस्वरूप-स्थानप्रयत्नादिविषयार्थं च शिक्षा पृथक् न्यवधानम् । प्राटिशा-
 ख्यानानि तु शिक्षानि स्वस्वरूपेऽन्तर्भावयन्तीति शिक्षानिषा वानिदं स्थानाच्छ कथं
 तैर्न निवृत्त्येत् । तदुक्तं यौनकीपनाटिशाख्येनाभ्य तन्पतेन प्रयोक्तव्यमनावत्ते-

शिक्षाचन्द्रोव्याकरणैः सामन्तेनेऽतलक्षणम् ।

तदेवनिह शाखायानिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥

अनननिनाप-वैशाङ्क्यतया समागत्यापि पृथक् शास्त्रां प्रातानि शिक्षा,
 छन्द, व्याकरणम्-इति प्रोपि यत् सर्ववेदलोकाधारभ्येन लक्षणं द्रुयन्ति, तस्य
 स्वशाखायां विरुदेभैव वेदव्यनिते निरूपयितुं प्राटिशाख्यानान्पारम्पन्त इति ।
 तथा च सद्यमेव शिक्षानि प्राटिशाख्यैः स्वस्वरूपेऽन्तर्भावयन्त इति ।

विभुनिःशब्दाह—

एतन्मो न देवतु न कर्मणां मानु ।
एतन्मो हि नन्वाग एतन्मनस्तु ।

एतन्मनस्तुं एतन्मनस्तु । एतन्मनस्तुं एतन्मनस्तुं । एतन्मनस्तुं—
एतन्मनस्तुं नाना देव योगधनेव न ।
एतन्मनस्तुं नानेन वेदितव्य पदे पदे । इति ।

एतन्म, वं, आत्मा, मनः, इति एव प्राणियाण्यभिपत्ता वेदितव्या । देवै
योगधर्म निवृत्तितया एतन्मि निरेष्यन् । एतन्म प्राणियाण्यै स्थाननपनदि
स्वतन्मन्ना निरेष्यन्मनि न एतन्म पौर्वर्तभेदे कर्त्तव्य मन्मन् ।

अथेदमनि निवृत्त मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु प्रवृत्तम्,
प्राणियाण्येषु न एतन्मन्मि विविध्य किमपि स्वने मन्मन् एतन्म । इत्यथ मन्मन्
प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु निवृत्तम्,
अथेदमनि एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु इति मन्मन् । एतन्म निवृत्तमन्मन्
प्राणियाण्येषु प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु मन्मन् इति । एतन्म निवृत्तमन्मन्
प्राणियाण्येषु—

नान्येन मन्मि वातुनाइ एतन्मन्मि नान्येन एतन्मन्मि ।
एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु च मन्मन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि ॥ २ ॥

‘अथ मन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु’ इत्यादिना
एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु—

‘वन्मन्मि-प्राणियाण्येषु होम एतन्मन्मि’

इति एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु, वन्मि एतन्म प्राणो मन्मि, वाक् एतन्म प्राणो
रेति, अथ एतन्म प्राणो वा मन्मि एतन्मि-प्राणियाण्येषु वा, प्राणो एतन्म वाक् मन्मि, प्राणो
वाक् रेति (इत्य. आ. ३।१।२) ‘किमपि वन्मन्मि-प्राणियाण्येषु, किमपि वं
मन्मन्मि, वन्मि इति प्राण एतन्म, प्राणो वा वाक्, यो होम मन्मन्, स एतन्मन्मि
(इत्य. आ. ३।१।६) इत्यादि श्रुतौ वाक्प्राणोऽप्येवमन्मि होम एतन्म
निरेष्य, स एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु । अथे च—

एतन्म प्राणो मन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु न ।
एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु वाक्प्राणोऽप्येवमन्मि (इत्य. आ. ३।१।२)

इत्यादिना वन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु । एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु
एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु— ‘नान्येन मन्मि-प्राणियाण्येषु’ (इत्य. आ. ३।१।६,७) इत्यादिना वन्मन्मि-प्राणियाण्येषु
एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु । इति एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु एतन्मन्मि-प्राणियाण्येषु । अथे च—

‘अथ वाचो वृत्तिर्याख्यास्यामः, वायुं प्रवृत्तिमन्वायोः, वायुमूच्छन्
 श्वासीभवति, श्वासी नाद इति शकटावनः । वायुस्त्वन्निर्दिन् कं मूर्च्छन्नि-अरतीत्ये-
 षोऽर्थं -स खलु खलियेष्टं प्रतिपन्नः श्वित्तिर्भूतिः, स श्वित्तिः शिरः प्रति-
 आकाशमद्वारकं नदतिर्मदति’ ।

इत्यादिना विशिष्य वगोत्पत्तिविज्ञानं विवृतम् । एवमन्यत्रापि । तथा च
 प्रातिशाख्यानामेषां पाणिनिपूर्वप्रवृत्तमेवाऽनुमीयत इति । अत्रापि परे विप्रति-
 पन्नन्ते-प्रातिशाख्येषु हि शिक्षादिनिषयोऽपि स्पष्टीत इत्युक्तं प्राक् । वगोत्पत्ति-
 विज्ञानप्रदर्शनं च शिक्षाया एव विषयः । पाणिनिना च शिक्षा पृथगेव रचिता, न
 व्याकरणसूत्रेषु स्पष्टीता, तस्माद्गोत्पत्तिविज्ञानस्य सूत्रेषु प्रसङ्ग एव नास्ति,
 शिक्षायान्तु पाणिनिनाऽपि वगोत्पत्तिविज्ञानं विवृतमेव—

आत्मा बुद्ध्या समतथार्थान् मनो मुञ्चते विव्रया ।

मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेषति भासतम् ॥

माहत्स्वरसि चरन् मन्द्र वनयति हरम् । इत्यादिना ।

प्रत्युत प्रातिशाख्यैः श्वासनादादिवरणेन वैश्यां वाच एवोत्पत्तिरनुकान्ता ।
 प्राणवायुव्यापारादुत्तरमेव ते व्यापार विवृणुते, पाणिनिस्तु प्राणव्यापारादूर्ध्वमपि
 आत्म-बुद्धि-मनो-व्यापार स्पष्टन् मध्यमा पर्यन्तः चाऽपि वाचमभिव्यञ्जयतीति
 तत्रैव विज्ञानाधिक्यं स्पृश्यति । किञ्च ऋकृतन्त्रे प्रथमे प्रपाठके विषयोऽयं विवृतः ।
 स च प्रपाठको न व्यापारात् व्याख्यात इति मूलग्रन्थारम्भभाव एव तस्यानुमीयते,
 शौनकाद्येऽपि प्रथमात्पठ्याध्यागेव विषयस्याऽस्य विवरणमिति प्राक्तनात्करमाच्चिद्
 ग्रन्थादत्र वैश्यानिर्को विषयोऽयं स्पष्टीत इत्येव प्रतीयते । अन्येषु तु प्रातिशाख्येषु
 न तथा प्रतिपाद्यते विज्ञानमिति नायमपि निर्णयहेतुर्हृदः प्रसिद्धयति । सन्देहास्पद-
 मेवाऽत्रापि पौर्वाश्रयम् । किञ्च पाणिनिरादेशवादी, प्रातिशाख्यानि तु विकार-
 वादीनि । एकस्य वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिर्विकार इत्युच्यते, एकस्य वर्णस्य वर्ण-
 समूहरूपस्य प्रातिपदिकस्य घातोः पदस्य वा स्थानेऽन्यभ्योच्चारणान्तु आदेश इति ।
 तत्र दार्शनिकरीत्या विचार्यमाणो वर्णस्यैवादिषु विकारो नैरोपपद्यते । न शब्दनित्य-
 स्ववादे, न वा अक्षरस्यैवादे-उभयत्रापि विकारो न सम्भवति । निरन्तरवादे हि
 कृतस्या अविचालिनो वर्णो इति कथं विकारः सम्भवेत् । अनित्यत्ववादे च
 उच्चरितप्रचरता वर्णो न तावत् स्थितिं लभन्ते-भावत् तानुपनयं वर्णान्तरं
 तत्रागच्छेत् । न च वर्णसमूहरूपं प्रातिपदिकघातुर्वादि दस्तुत. स्वरूप धत्ते-
 वर्णानानुचरितप्रचरतानां समुदायासम्भवात्, तस्माद् बुद्धिपरिकल्पना एव
 घातप्रातिपदिग्रथा इम इति न तत्रापि विकारसम्भवः । सोऽयं विकारासम्भवः

शब्दानामनिश्चयत्वादिना न्यायप्रवृत्ता गौतमेन सूत्रेषु सम्प्रवृत्त इत्यवोनाम । तत एव पाणिनिर्विकारव्यतिरिक्तव्य आदेशव्यतिरिक्तव्य गृहीतवान्—‘पठो स्थानेयोगा’ इति परिभाषमाणः । विवृतञ्च विलारेण तन्महाभाष्ये । ‘प्रातिशाख्यानि तु विकार-पञ्चनेव परिगृहीतवन्ति । पदान्तादिष्वेव विकारस्यात्र पदे दृष्टेषु वचनात् प्रतीयत्’ (पट २ सू० ५) इति शौनकेन उन्वेष्यान्मवृत्तो षष्ट विकारवद् प्रयुक्तम् । ऋक् तन्त्रप्रणेनाऽपि ‘विकारः’ (सू० ११) ‘सस्थानः’ (सू० १२) इति षष्ट विकार पदं प्रयुक्तम् । कात्यायनोऽपि ‘तमिनि विकारः’ (१।१३३) इति विकारनेव स्वोच्चेरेति ‘द्वितीयया विभक्त्या यो निर्दिश्यते स विकारः प्रत्येतद्व्य’ इति तदर्थं, एवमन्वत्रापि । सूत्रशैल्यप्येषा विकार-साधिका, ‘ककारकारयोः सकारम्’ (१।२१) (ककारकारयोः परतोर्विवर्तनीयः सकारमाच्यते—सकारम्पतां गच्छति) इत्यादि कारायनः । रोर्धम्’ (१३) (स्वरो दीर्घनापद्येते) इत्यादि ऋक्तन्त्रकारः, ‘ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्’ (पट० २।२७) ‘ह्रस्वपूर्वस्तु स विवर्तनीयः स्वरोदयो अकारमाच्यते) इत्यादि शौनकः । ‘ओकार आवम्’ (१।१५) (ओकारः यदा स्वरपः, अत्र विकारमाच्यते) इत्यादि तैत्तरीय प्रातिशाख्ये । तस्मादसम्भव द्विकारवादिप्रातिशाखापेक्षया आदेशवादी पाणिनिरेव वैशानिकमूर्धन्य इति स्फुगेभवति । वर्णा अपि स्वराणांश्वोऽनुक्तास्तेषु प्रातिशाख्य कृद्भिः संगृहीता इति तत्संख्ययापि पौर्वापर्यं न निर्णेतुं शक्यते । मवतीर्दं यत्रपि विचार्यम्—शौनकीये प्रातिशाख्ये लृकारः स्वरेषु न परिगण्यते, पाणिनीये ह्रस्व एव लृकारो गृहीतः । दीर्घस्तु नाम्त्येव । कात्यायन-ऋक्तन्त्रयोस्त्रिणोऽपि लृकारः परिगृहीतः । तैत्तरीयप्रातिशाख्ये च पाणिनिक्व क्वञ्च ह्रस्व इति । अत्राऽपि स्वरान्तरवद् ह्रस्वदीर्घं लृकारो वर्णसनाम्नाये गृह्यते । स्वरांतराणा-मित्त्वं तस्यापि मेरोऽस्त्येवेति, तनेन मनभेदमाश्रित्य पूर्वोपरोमावः कथञ्चिदनु-मीयेत् । त्रिधनपि लृकारः पृथन्तोऽर्शनीनाः, अग्लायन्स्तु सर्वतः प्राचीनाः इति सम्मान्यते । परं माध्यमीकादिः सर्वैरेव स्वराणांश्वोऽनुक्ता वर्णा इह सप्यन्ते इत्येतेषु नैतदप्यनुमानं दृढं भवितुमर्हति ।

अथ सूत्रप्रक्रियाया अन्तरङ्गरीति कर्त्तव्या । तत्रोत्था कारायनप्रातिशाख्य-न्तु पाणिनेरर्वाचीनमेवानुनीयते । तस्य हि सूत्रग्रन्थनशैली पाणिनिना बहुतरं भवति । किञ्च ‘तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वम्’ (अ० १।१३५) ‘तस्मादिरनुत्तर-स्यादेः’ (१।१३१) ‘पठो स्थानेयोगा’ (१।१३६) इति सूत्रानि स्वर्ध पाणिनिस्वानुकारीणि दृश्यन्ते । तत्र पाणिनिनेव प्रातिशाख्यादृष्टतानीति नि-परीतमेव किं न स्मादिति चेद्, नैषा परिभाषायैली अन्वेष्य प्रातिशाख्येषु दृश्यते इति पाणिनेरेव शैली कात्यायनेनानुक्तेति मन्तव्यं स्यात् । इदञ्च विशेदेगाद्येषु—

पाणिनिना हि 'आदेः परस्ये'त्येतदपेक्षया 'अनेकाल्शित्सर्पस्य' इत्यस्य परत्वं रक्षितम् 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' इति पृथग्योगौ कृतौ, तेन 'अष्टम्य औशु' इत्यादौ 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति प्रवर्तते, 'आदेः परस्ये'त्येतत्तु 'अनेकाल्शित्सर्पस्ये'रपनेन साधितं न प्रवर्तते, तदेतत्स्यथीकृत सिद्धान्तकौमुद्याम् । प्रातिशाख्ये तु 'अनेकाल्शित्सर्पस्ये'नि परिभाषणाऽभावात् पृथग्योगकरणस्य नास्त्यादश्वक्रवमित्यनुसन्धाय कात्यायनेनात्र 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इत्येक एव योगः कृतः, तदेतत् पाणिनेरनुकरणं स्पष्टं बोधयति । किञ्च 'पञ्ची स्थानेयोगा' इति नास्ति प्रातिशाख्यानां शैली, तेषु स्थानी न प्रायेण षष्ठ्या निर्दिश्यते, अपि तु प्रथमया निर्दिश्यते—'अमुको वर्णः अमुकरूपतामापद्यते' इत्यादि क्रमेण, तदेतन्निर्दिष्टं प्राक् । कात्यायनेनापि प्रायेणैव शैली सूत्रेष्वनुसृता—'विषर्जनीयः' (प्राति० ३।६) 'चःयोः शम्' 'तथयोः सम्' (३।७-८) 'तकारो ल लम्' (४।१३) 'मभ्रातुमानिकम्' (४।१४) 'सर्वो अकार ओकारम्' (४।४३) इत्यादिषु । अन्विदेव तु स्थानषष्ठी निर्दिष्टा—'यकाराकारयोर्नित्ये पदे' (४।४१) 'यश्चो पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः' (४।१२७) इत्यादौ । तथापि 'पञ्ची स्थानेयोगा' इति परिभाषा कृता तेन स्पष्टं प्रतीयते परिभाषेयं पाणिन्यनुकारिणी, सूत्रप्रणयनं तु सजातीयप्रातिशाख्यसंस्कारेणेति ।

'अन्त्याद्वर्णात्पूर्वं उपधा' (१।३५) 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः' (१।४३) 'भ्रुलनालिकाकरणानुनासिकः' (१।७५) 'संख्यातानामनुदेशो यथासंख्यम्' (१।१४३) 'विकारी यथासम्भवम्' (१।१४२) 'विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे' (१।१५९) 'स्वर्श परपञ्चमम्' (४।१२) इत्यादीनि च सुवाणि कात्यायनीये प्रातिशाख्ये 'अलोन्त्यात्पूर्वं उपधा' 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'भ्रुलनालिकावचनोऽनुनासिकः' 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' 'स्थानेऽन्तरतमः' 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' 'अनुस्वारस्य यधि परसवर्णः' इत्यादिभिः पाणिनिसूत्रैः समानार्थानि द्वित्रित्यदिर्निताक्षराणि दृश्यन्ते । किमन्यत्—पाणिनिसूत्रेषु वार्तिककारोऽपि कात्यायनः उच्यते, प्रातिशाख्यकृदपि । तयोर्मतसंबाददर्शनादेकत्वमेवानुमोयते । तथा हि—अत्रैव 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सूत्रे आस्यपदस्य प्रयत्नश्लेषगतामभ्युपगम्य विभिन्नस्थानानामपि सवर्णसंबन्धमाशङ्क्य 'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम्' इति न्यासो वार्तिककृतोऽट्टङ्गिनः, प्रातिशाख्ये च 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः' इति आस्यात् स्थानग्रहणं पृथक् कुर्वता सैव प्रक्रियाऽनुसृता । 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' इति पाणिनीये सूत्रे 'लुग्लोपयणयवायावेकादेशेभ्यः' इति लुक्ः परापेक्षयापि बलवत्त्वं वार्तिक उट्टङ्गितम्, प्रातिशाख्ये तु लुको लोपस्य च पार्थक्याभावेन लोपमात्रे विप्रतिषेधविधिनिर्दिष्टः 'विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे' इति । 'सर्वे शार वा विसर्गलोपो दक्ष्यः' इत्यप्यस्ति पाणिनीये

वार्तिकम् । प्रातिशाख्येऽपि 'ब्रुङ् मुदि जित्परे' (३।१३) इति तदनुवादो
 दृश्यते । 'तद्वृद्धतो करपरयोश्चोत्तरोपथ' इति पाणिनीये
 वार्तिकम्, 'द्वृद्धतो करपरयोश्चोत्तरोपथ' (३।५३) इति प्रातिशाख्ये तदनुवाद ।
 यद्यपि तद्वृद्धतो करपरयोरित्येतद्गणपाठे पारस्करादिगणे क्वचित् पठन्ति, पर
 भाष्यकृता 'वक्तव्य' इत्युपन्यासाद् वार्तिकमेव प्रतीयते । न हि गणसूत्राणि
 भाष्यकृतानुवदन्ति । भवन्तु वा गणसूत्रम्, तथापि पाणिन्यनुष्ठानिस्तु प्रातिशाख्ये
 सिद्धैव । 'दारानाहनोऽणत्स्य च ट सहायाम्' 'चारौ वा' इति दार्वाणाम्-
 चारौघाटादिशब्दसिद्धयर्थे प्रयत्न पाणिनिनार्तिककारेण कृत, प्रातिशाख्येऽपि
 'स आद्यादनाडमरात्' इति तद्विद्वयर्थे प्रयत्नो दृश्यते । प्रक्रियामेदोऽथ यो
 दृश्यते, स तु प्रातिशाख्येष्वणादिप्रत्ययानामविवरणादेव । 'स्याभ्यां नो ण
 समानपदे' (८।४।१) इति पाणिनीये सूत्रे 'श्रृकाराच्चेति षक्तव्यम्' इति
 वार्तिककृतोक्तम् प्रातिशाख्येऽपि 'श्रृपरिफेम्पो नकारो णकार समानपदे' इति
 श्रृकार सयोऽय पाणिनिसूत्रमर्थनोऽनूदितम् । 'अङ्कुपाङ्नुम्यवायेऽपि' इति
 सूत्रेऽपि 'अयंयवाये प्रतिषेध' इति वार्तिककार, प्रातिशाख्येऽपि, 'स्वरयङ्
 कर्षेभ' (३।८५) इति सूत्रेण सम्राह्यव्यवधानमुक्त्वा अन्ते 'शिल्लिभिरगमध्यम
 व्यञ्जितोऽपि (३।९५) इति प्रतिषिद्धव्यवधाने नकारस्य प्रकृतिभावोऽपि
 विहित । भाष्यकृता सूत्रस्य नियमार्थतामाश्रित्य वार्तिक खण्डितान्प्रत्ययदेत् ।
 'पृषोदरादानि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रे 'पप उत्थ दत्तदशधासुत्तरपदादे ष्टुस्य
 च' इति वार्तिकमारब्धम् । प्रातिशाख्येऽपि 'पङ् दशदशयो सख्यावयोर्भयोश्च'
 (३।४७) इति तदेवानुक्तम् । अत्र तु उच्यते 'आह 'पोङ्न्त' इति, एतच्च
 शिष्यबुद्ध्यादनार्थम्, नहि संहितायामुदाहरण लभ्यते, इति टीकान्तरे च
 शास्त्रान्तरस्योदाहरण दक्षितम् । तद्वीर्या तु स्फुटमेवेद भवति, यथापाणिनीये वार्तिके
 यदुक्तम्, तस्यकारेण तदनुवादरूपेणैव दन्तशब्दोऽत्र निवसित इति । एवं
 पाणिनीयवार्तिके 'वर्णाकार' इति पाठतम्, प्रातिशाख्येऽपि 'निर्देश इतिना,
 कारणे च' (१।३७) इति तदनुदितम् । यस्तु प्रातिशाख्ये 'नानुपारयमविसर्ग
 नोप्रजिह्वानूलीयोपष्मानोया' इति अनुस्वारादिशब्देभ्य कारप्रत्ययस्य निषेध
 आत्मात्, स तु पाणिनीये प्रत्याहारसूत्रेष्वेवा वर्णत्वेनाऽनिर्देशात्तत्रोपेक्षत इति
 प्रतीयते । एवमेवान्विषयमात्रे प्रसङ्गे बहुत्र पाणिनीयवार्तिकस्य वाचसनेयप्राति
 शाख्यस्य च मन्त्रैक्यमुद्गम्यते । यानि तु वार्तिकानि न प्रातिशाख्येऽनुष्ठानानि
 लक्ष्याद्या शब्दा अस्या शास्त्राया न सन्तीत्येव प्रायेण सिद्धयेत् । यदि हि वाजत-
 नेयप्रातिशाख्य पाणिने पूर्वममन्त्रेषुत् पाणिनिना विधानानीमानि तत्रावश्यन्त,
 तर्हि, कथं स इमानि विधातानि स्वप्नेषुवेक्षिष्यत । नच शर्परे त्वरि विसर्ग
 लोपस्तेन सन्तानं विहित स्यात् । कथं च पोङ्गादिशब्दसिद्धयर्थे पप उत्थ

न विधीयेत । मनुष्यसुलभमनवधान शब्देषु सम्भवतीति सत्यम्, परमयेषा
विधीन् स्पष्ट दृष्ट्याप कथमनवधानमनल्पमते सम्भवत् । तस्मात् पाणिनेरवा
क्तमवयवतु प्रातिशाख्यमिति सिद्धयति । एव पाणिनीया समासतद्धितादृश्या
अप्यत्रारम्भ एव स्फुटमुक्ता — तिङ्ङित्तद्धितचतुष्टयसमासा शब्दमयम्' (का०
प्रा० १।२९) अत्र हि चतुष्टयेति समासत्रिशेषण स्पष्ट पाणिनीयव्याकरण स्मारयति ।
व्यारणान्तरऽपि ऋत्तद्धितसमासादित्तया स्युरित्त्तमुपगमेऽपि समासस्य भेदचतुष्टय
तत्राप्यासीदिति कल्पनाया मानाभाव । नचैवनिधा शब्दभेदा अन्येषु
प्रातिशाख्येषूपलम्ब्यन्त इति पाणिनीयसंस्कारेणैव कात्यायनेन विभागोऽय प्रदर्शित
इति मस्पष्ट शक्यमनुमातुम् । एव सहाकरणपद्धातरपि यत्र प्रातिशाख्येऽनुसृता
'दत्स्य मूर्धन्यापत्तर्नति १।५२) इत्यादिना । न ह्यन्येषु प्रातिशाख्येषु
बाहुल्येन सहाकरण दृश्यते । एवमेव एङ परस्याकारस्य पूर्वरूपमभिनिधानशब्देन
शौनकादिभिरुच्यते, कात्यायनेन तु 'एरोद्ध्या पूर्वमकार' (४।१२) इति
पूर्वरूपशब्द वदता पाणिनिप्रक्रियैवानुसृता । 'नश्च यप्रधान' इति पाणिनीय
प्रक्रियायां च पर लघवन्नत्र 'चउयो शम्' 'तययो सम्' इति (३।३४-३५)
प्रदर्शितम्—इत्याद्यनुसन्धेयम् । तेन यत्र प्रातिशाख्यस्य पाणिनिपरमज्ञानेवान्त
रङ्गपरीक्षया सिद्धयति । अमुपगम्यते चाप्येतिहासिकैर्वहुभिस्त्रयैव । तैत्तरीय
प्रातिशाख्यमपि अननैव तुल्ययोग्यत्वेनम् । तत्राऽपि हि 'उच्चैरुदात्त' (१।३८)
'नीचैरनुदात्त' (१।३९) 'समाहार स्वरित' (१।४०) इति सूत्राण्यनुदितानि
लम्ब्यन्ते । 'तस्यादित उदात्तमर्धङ्गम्' इति पाणिनीयसूत्र च 'तस्यादिश्चै
स्तरामुदात्तादनन्तरे यावदद्वन्द्वस्य' 'उदात्तसम शेष' (१।४१-४२)
इति सूत्रद्वयेनानुसृते । अत्रापि ह्ये पर स्वार्थप्रच्युतमेव पाणिनीये सूत्र इव
व्याख्याङ्कित्त्वच्यते । 'एकद्वन्द्वं पदमपृक्त' (१।४४) इत्याद्या सहा अपि
पाणिनिनेन प्रसिद्धिता । 'एक पूर्वपरयो' 'अन्तादिवच्च' इति पाणिनीयसूत्रेण
'अथैकमुमे' (१०।१) इत्याद्यधिकारसूत्रम् 'आद्यन्तवच्च' (१।५५) इति परि
भाषापि किञ्चिद्विषयभेदेनाश्रीयते । 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' इत्यस्य स्थाने
'तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्' (५।३) इति विपरीत परिभाष्यते । 'वणात्कारोत्तरो
वर्णात्त्या' (१।१८) 'न विसर्जनीयङिहामूनीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम्'
(१, १६-१८) इत्यादि च कात्यायनेनेव विधीयते । अन्यदपि कात्यायनानु
करणमत्र दृश्यते इति तस्यापि पाणिनिपरमवत् न सन्देह ।

अथ श्रुक्तान्त्रप्रातिशाख्यभेदेनाल्लेख्यते । तत्र हि सुडागमप्रकरणे ऋत्त
सूत्राणां पाणिनिशून्यैस्त्वस्य, किञ्चिद् व्यावासेन, अर्थतो वा पर साम्य प्रतीयते ।
ता युदाहरिष्याम —

ऋग्वेदन्त्रे

- १ स सङ्करोतौ (१८९)
- २ अङ्गव्यवाये नाङ्गवर (१९०)
- ३ कृत्कारमस्वव दृष्टे (१९१)
- ४ पतुपमूनगप्राप्तुनवाक्येषु (१९२)
- ५ अत्र मनादावन्स्क्रयो (१९३)
- ६ पार पन्ते (१९४)
- ७ अत्र रथ (१९५)
- ८ अस्तात्प्यात्नम् (१९६)
- ९ अमती हिंसायाम् (१९७)
- १० वि शङ्कनो (१९८)
- ११ कुम्भुङ्गु वातिः (१९९)
- १२ आम्भदमास्थायाम् (२००)
- १३ अपरस्वरा सातत्ये (२०१)
- १४ अस्क्रव श्रुषि (२०२)
- १५ गोष्पदमुदकमाने (२०३)
- १६ अगोष्पदमनावरिति (२०४)
- १७ आश्वयमनित्ये (२०५)
- १८ आस्था आस्कमो विशुल्लिङ्गा (२०६)
- १९ समाश श्रुतु चन्द्रे (२०७)
- २० कास्तारावस्तुन्दे नगर (२०८)
- २१ नदी रथस्या (२०९)
- २२ अस्क्रव वशु (२१०)
- २३ अस्क्र स्तेन (२११)

पाणिनीये

- १ सम्परिभ्या य्रोतौ मूषणे (६।१।१३७)
समवाय च (६।१।१३८)
- २ मुट् वात्पूर्वं (६।१।१३९)
- ३ " " "
- ४ सम्परिभ्याम्० (पूर्वोक्तम्) उवा
एतियत्नैर्हृतवाक्याध्याहारेषु च
(६।१।१३९)
- ५ वन्स्क्रऽवस्क्र (१।१।१४०)
- ६ पारस्क्रप्रभृतीनि च सहायाम्
- ७ अस्तकरो रथाङ्गम् (६।१।१४१)
- ८ अनाच्छट्प्या-उकुनिष्वालयने
(६।१।१४२)
- ९ अितौ ल्यने (६।१।१४०)
हिंसाया प्रवेश (६।१।१४१)
- १० निष्क्रि शकुनिर्विक्रियो वा
(६।१।१४०)
- ११ कुम्भुङ्गु वाति (६।१।१४३)
- १२ आश्वद प्रतेष्टायाम् (६।१।१४६)
- १३ अपरस्वरा नियामातत्ये (६।१।१४४)
- १४ अस्क्रवइरिष्वन्द्राङ्गो (६।१।१४३)
- १५ गोष्पद तेजितातेजिप्रमाशेषु
(६।१।१४५)
- १६ " " "
- १७ आश्वयमनित्ये (६।१।१४७)
- १८ × × ×
- १९ इस्वाब्न्त्योत्तरपद मन्त्रे (६।१।१५१)
- २० कास्तोरावस्तुन्द, नगर (६।१।१)
- २१ रथस्या नदी (गणपाठे (६।१।१५७)
सुनोपरि)
- २२ अस्क्रमस्क्रिणौ वशुनरिभ्राजकमो
(६।१।१५४)
- २३ अद्वृङ्गो क्वपत्योशोरदेवत्यो मुट्
तलोपध (गणपाठे ६।१।१५७
सुनोपरि)

कश्चिदपि विचारक एतद् ब्रूयादेव, यदीदृश सादृश्य यादृच्छिकं न सम्भवति, अवश्यमेकेन परस्य सूत्रपाठोऽनुकृत एव, तत्र केन वस्य पाठोऽनुकृत इति विचार्यम् । कतिपयेषु सूत्रेषु एकस्यापरण भेदो दृश्यते, तत्र पाणिन्यपेक्षया प्रातिशाख्ये यत्र न्यूनता, तत्र तु शक्यमेव वक्तुम्—यत्सामशाखाया तादृशा प्रयोगा नोपलभ्यन्ते इत्यतः प्रातिशाख्यकृता ते परित्यक्ता । यथा—‘मस्करमस्करिणौ वेणुपरिब्राजकयो’ इति पाणिने पाठ, ‘मस्करो वेणु’ इति लघुश्च प्रातिशाख्यस्य । तत्र परिब्राजकार्थो मस्करिशब्द सामशाखाया नोपलभ्य स्यादित्येव प्रातिशाख्यकृता परित्यक्त इति सम्भाव्यते । तथैव ‘प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी’ इति पाणिनिस्त्रस्य हरिश्चन्द्रपद यत्प्रातिशाख्ये परित्यक्तम् ‘प्रस्कण्व ऋषि’ इति सूत्रे, तथापि ‘समास ऋजुचन्द्रे’ इति सूत्रेणैव हारिश्चन्द्रशब्दसिद्धिरिति हेतु सम्भाव्यते । पाणिनिना तु ‘ह्रस्वाब्जोत्तरपदे मन्त्रे’ इति सूत्रयतापि लौकिक हरिश्चन्द्रपदसाधनार्थं प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रानित्यत्रापि हरिश्चन्द्रपदग्रहणं कृतम् । एवमन्यत्राप्युक्तम् । पर प्रातिशाख्यविधानं यत्र पाणिनिना परित्यक्तम्, तत्र हेतुर्न दृश्यते । यथा ‘अवमर्यादावर्चस्करो’ इति मर्यादाया वर्चस्के च ऋकृत्त्रकार अवस्करपद साधयति, पाणिनिस्तु वर्चस्के एव । तत्र मर्यादायै अवस्करशब्द कथं पाणिनिनोपेक्षितः ? पाणिनिर्हि सर्ववेद-लोकसाधारण व्याकरण निबध्नातीति न सामशाखाप्रयोगस्तस्योपेक्ष्यो भवितुमर्हति । तथैव ‘आस्का आस्कामो विस्फुल्लिङ्ग’ इति कथं पाणिनिनोपेक्षितम् ? सम्भवति मनुष्यसुल्भमनवधानं तेषां श्रुत्यादिदृष्टानां प्रयोगाणामित्यवोचाम, पर यदि पाणिनिना ऋकृत्त्रसूत्राण्यनुकृतानि स्युः, तर्हि मध्ये स्थितमेकं सूत्रं स कथं परित्यजेत् ? प्रत्यक्षं परिदृश्यमाने सूत्रे तु नानवधानमल्पमतेरपि सम्भाव्यते, किं पुनरनल्पमते । तस्मात्पाणिनिना ऋकृत्त्रसूत्राणि नानकृतानि, अपि तु ऋकृत्त्रकृतैव पाणिनिस्त्राण्यनुकृतानि, तत्र स्वशाखाख्यामदृष्टा प्रयोगविशेषा अर्थविशेषाश्चोपेक्षिता, अनवधानेन विस्तरमयेन वा पाणिनिना त्यक्तास्तु स्वशाखायां दृश्यमाना कतिचिदर्या प्रयोगा वा सपृहीता इत्येव सम्भाव्यते । तदित्यमृकृत्त्रस्यापि पाणिनिपरभवत्वमेवात रङ्गपरीक्षया सिद्धयति । यत्तु ‘किस्तादध्यात्मम्’ इत्यस्पष्टं प्रातिशाख्य उक्तम्, पाणिनिना तु ‘चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने’ इति स्पष्टं तद्विखरणं कृतम्, तस्मात् पाणिने परभवत्वमेव केचित्साधयन्ति । तदेतदुक्तस्य प्रमाणस्याग्रे अतीव दुर्बलम्, चतुष्पादरूपं शकुनिरूपं च विशेषमुपेक्ष्य सन्नेपेण अध्यात्ममित्येव प्रातिशाख्यकृता समुद्धृतमित्यत्र तथाविधविशेषामावात् । हर्षजीविकाकुलायकरणाद्या विशेषास्तु वार्तिककृता दर्शिता, न सूत्रकृता पाणिनिनेति ।

स्वान्तरागामपि ऋक्तन्त्रे सादृश्य दृश्यते—

ऋक्तन्त्रे

पाणिनीय

- १ उद रथास्तम्मो (१६७)
 २ पृषोदरादीनाम् (१६६)
 ३ सन्निकर्षं चहिता (६७)
 ४ गो (७९)
 ५ न वा (८०)
 ६ भवद् वा (८१)

- १ उद रथास्तम्मो पूर्वस्य (८१४६१)
 २ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६१३१०९)
 ३ पर सन्निकर्षं चहिता (१४१०९)
 ४ सर्वत्र विभाषा गो (६१११२२)
 ५ " " " "
 ६ भवद् ह्योद्ययनस्य (६१११२३)

दीर्घप्रकरणे तु सकारप्रकरण इव विशेषेण सादृश्यद्वयलभ्यते । यथा—

ऋक्तन्त्रे

पाणिनीये

- २१५ कर्णस्य ऋक्ते (कर्णशृङ्गा) ।
 २१६ श्वस्य कपिनोदनीदर्भलेषु ।
 (वृषामोदनी, वृषाकपि)
 २१७ कर्णे ऽओहाङ्कुशाकुशङ्गेपरिष्ठा
 द्यन्तवाणानाम् ।
 (प्लीहाकर्णो, भङ्कुशाकर्णो,
 लण्डलाकर्णो इत्यादि)
 २१८ विश्वस्य नर सुराटसु । (विश्वा
 तर, विश्वावसु, विश्वाराट्)
 २१९ मित्र ऋषौ ।
 २२० श्ववित्पदवराहकर्णदन्तदष्ट्रेभ्य
 सम्प्रति चैत् । (श्वावित्, श्वा
 पद, श्वावराह इत्यादि)
 २२१ सर्वनाम्नो ह्यसि । (कीदृग्,
 अस्मादृक् इत्यादि)
 २२२ उक्षवेदती । (उक्षावेदती)
 २२३ उन्नधे । (उन्नानश्चो रोग)
 २४ साङ्गेन च समागमे । हस्ताहस्तित,
 मुखामुलि, केशाकेशि, दण्डादण्ड)
 २२५ अष्ट । (अष्टाकपालम्)

- ×
 ×
 कर्णे लक्षणग्याविष्टाष्टनक्षत्रमणिभिन्नच्छिन्न
 चिउद्रसुवस्वस्तिकस्य (६१३११५)
 विश्वस्य नसुराट्ये (६१३११८) नरे
 सशयाम् (६१३१२९)
 मित्रे चर्षी (६१३१३०)
 गुनो दन्तदष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छभेदेषु
 दीर्घो वाच्य (वार्तिकम्)
 इदङ्ङिनोरीदङ्गी (६१३१५०) भा सर्व
 नाम्न (६१३१५१)
 ×
 ×
 अन्वेषामपि दृश्यते (६१३१३७)
 छन्दसि च (६१३१२६) अष्टन कपाले
 हविषि (वार्तिकम्) (गवि च दुक्ते)
 (अष्टागवन्, अष्टाकपालम्)

ऋक्तत्रे	पाणिनीये
२२६ प्राक् शतान् । (अथादद्या, अष्टा दिशति)	द्वयञ्चन सख्यायामवहुव्रीह्यसीत्यो (६। ३।४७) 'प्राक् शतानादिति वक्तव्यम्)
२२७ पद-गोयुक्त-दन्त-शाभीये च तीर्थे । (अथापदम्, अथागोयुक्तम्, इत्यादि)	अप्यन सशायाम् (६।३।१२५)
२२८ नाम्ना षाडि । (तुरापट, यवाषाट)	छन्दसि सह (३।२।६३) (णि-प्रायय उपधावृद्धि)
२२९ वने अक्षरप्रभृतीनां प्राच्यभरत सजा चेत् । (औलूरावनम्, सुन्दरावनम्)	वनगिर्यो सशायाम् कोट्यर्किशुलुवादीनाम् (६।३।११७)
२३० उरसर्गं धातावकाक्षरे नाममूले । (उपानत्, प्रावृट)	नहिवृतिवृषिभ्यधिकचिरहितनिष्ठु कौ (६।३।१३६)
२३१ द्वयसरे गुवादावकाराङ्गे (नीवर्त, परीवर्त, परीवाप)	उरसर्गस्य घञ्जमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२)
२३२ प्रदन्वादी सादसृदसृत्सेनेषु । (प्रास द, प्रासङ्ग, प्रासेन इत्यादि)	" " "
२३३ न सवभावे लुडने चे । प्रासादो गुरुणाम्, प्रसादो मृत्तिकाया)	" " "
२३४ निष्ठायामिच्छादौ (नीत्त, भीत्त, परीत्त)	दस्ति (६।३।१२४)
२३५ उ च काशे दर्शने (चकारादि कारोऽपि एरीत (प्रतीकाशते, अनूकाशते)	इक काशे (६।३।१२३)
२३६ युग्म धु । (एवा क्षति, योजनान्द्र)	द्वयचोऽतस्तिष्ठ (६।३।१२५)
२३७ उचोर्ध्वनि घोषादि (तमू शुचिम्, अरुप्रस्य नू मह)	श्रु चि तुनुधमलुतद्वुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३)
२३८ ह (भुषी हवम्, यदी वहन्ति, शृणुषी गिर)	×
२३९ सोऽरिम दन्त्येऽक्षे (कृषी न, अमीपुत्र, इत्यादि)	×
२४० वण्ड्ये	×

अग्रेऽपि प्रातिशारये दीर्घस्य बहुप्रपञ्च -२५५ सूत्रपर्यन्तम् । नानाग्रह च तत्र दीर्घविधानम् । तत्र प्रायेण 'श्रुतिं तुनुष' इति निदधिते सूत्रेऽन्तर्भवति । अग्रे पाणिनीयेऽपि कतिचन सूत्राणि दृश्यन्ते येषां प्रतिरूपक प्रातिशाख्ये न लभ्यते । यथा—वले (६।३।११८) । मतो वल्लोन्निरादीनाम् (६।३।११९) । शरादौ नाञ्च (१।३।१२०) इको वहेऽरीलो (६।३।१२१) । चित्ते ऋषि (६।३।१२७) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेवस्य मतो (६।३।१३१) ओषधेभ्य विभक्ता प्रथमायाम् । (६।३।१३२) । वा ध्रुवस्य निगमे (६।४।१) (श्रुमुष्माणम् , श्रुमुष्णाम्) इति ।

अथानीद सादृश्य यादृच्छिक न प्रतीयते, अत्रापमेकेन परस्य सम्प्रत्ययं दृष्ट्वाऽनुवादं कृतम् । तत्रापि पूर्वोक्ता युक्तिरनुसंधेया, पाणिनीयसूत्राणां प्रतिरूपक प्रातिशाख्ये यत्र न दृश्यते, तत्र सामवेदे एतादृशा प्रयोगा न लभ्यन्त इति वक्तुं मुशकम् । श्रुक्तन्त्रस्य केवल सामशाखीयत्वात् । सर्वशाखानां लौकिकप्रयोगे सह समुच्चायकेन पाणिनिना तु प्रातिशाख्ये इष्टास्तत्र तत्र विषया कुत उपेक्षिता इत्यत्र न किमपि समाधानं स्यात् । विश्वावसु, विश्वामिष, इत्यादौ प्रातिशारये दृष्टो दीर्घविधिर्यदि पाणिनिनानूदितस्तर्हि 'उपानव' 'उष्णावृत्तो' इत्यादिषु कुत उपेक्षित इति नैतदुत्तरयितुं शक्यते । तादृशप्रयोगाणामनतिप्रसिद्धत्वात्पक्षेऽपि सर्वत्र न वक्तुं शक्यते—'वृषाऽपि' इत्यादि प्रयोगाणां सस्कृतवाङ्मये सुप्रसिद्धत्वात् । किञ्च 'श्वापद' 'श्वारहा' इत्यादौ पाणिनिनोपेक्षितमपि दीर्घं चार्तिककारेणोपसत्त्वात्, तेनापि प्रयोगाणामप्रसिद्धिर्न सम्भक् प्रतीयते । पाणिनिर्हि 'दृष्यन् सरयायाम्' इत्यध्नुशब्दस्य सामान्येन दीर्घं विधत्ते, 'अष्टसहस्रम्' इत्यादौ तु दीर्घं न दृश्यते, तदर्थं पाणिनेर्न कोऽपि यत्नः । प्रातिशारये तु 'प्राक् शतात्', इत्युक्तम्, चार्तिककारेणापि 'प्राक्शतादिति वक्तव्यम्' इत्यनूदितम् । तस्मादनेन प्रकरणेनाऽपि 'श्रुक्तन्त्रप्रातिशाख्यस्य' पाणिनिपरमत्वमेव प्रतीयते । अनवधानेन मनुष्यमुख्येन पाणिन्युपेक्षिता प्रयोगा प्रातिशारये सामसहिताया मन्त्रिभ्य विशेषेण सपृहीता, त एव च चार्तिककृता पश्चादनूदिता इत्येन कल्पना प्यायसी । सूत्राण्येवविधानि समुखे स्थितानि यदि स्युः, तर्हि अनवधानं न सम्भवतीत्यसङ्कदावेदितम् । किञ्च तिङ्कृतादिप्रत्यया प्रातिशारयेषु न क्वानि विद्यन्ते इत्यनेकपैतदुक्तम् । ततश्च इह दीर्घप्रकरणे 'निष्ठायामित्तादौ' इति यदिद 'दत्ति' इति पाणिनिसूत्रस्य प्रतिरूपक दृश्यते—तत्सर्वथास्य पाणिनिपरमत्वं साधयतीति कृतं प्रपञ्चेन ।

इदञ्च वैचित्र्यमालोक्यते, यद्-श्रुक्तन्त्रकार समाप्ते विभक्तिलोपार्थमपि सूत्रं प्रगयति—'विभक्तिलोप (६६) चकारेत्यादावश्रास चानि चकारघाटतमनुविधत्ते 'कृ चकारमवयवदष्टे' (पूर्वोक्ते (१९१) सूत्रे) नहि समस्तपदानां तिङ्कृतादीनां

च साधनप्रक्रियं प्रातिशाख्येषु काऽनुपलभ्यते । समास-धातु-निष्ठा-सर्वनामादि
सजाश्राप्यस्य सूत्रेषु व्यवहृता दृश्यन्ते—या न विषया प्रातिशाख्यानाम् ।
नामैकदेशे नानुप्रदणमिति परिषाद्यपि बहुघालोक्यते । सूत्ररचनाप्रणाली च बहुत्र
पाणिनिमनुसरति बहुत्र चार्त्तान् विद्विष्या । तन्न वैकल्प्य बुद्धिपूर्वक सम्पादित
मनेन प्रतीयते । तस्मात् पाणिनीयस्य करणसंस्कारायातमेवैदिति सम्भवति । इदं
तु इदं प्रमाणमस्ति पाणिनिपरमत्त्व—यद्ये प्रयोगा पाणिनिमूर्तेर्न सिद्धयन्ति,
वार्तिककृता यद्यर्थे प्रयत्न उपसक्त्यात्—तेष्वन साधिता दृश्यन्ते । यथा—
‘स्वैरिणी’ ‘अशौरिणी’ इत्येतदर्थे ‘भाष या णीरयो’ (०६) इत्यौत्सविहितम् ।
सामशाखायाः शाक्यस्य विरचयन्ते मायात्रिप्रिणी नचा कियदुपयुक्त्यपि विना
यम् । अथवा भाषावामिनि ब्राह्मणभाषाभिप्रेता स्यात् । तथैव प्रोह, प्रैष्य,
वस्तवराणम्, दस्तादिराणि-युपेभ्रितप्रयोगसिद्धयर्थमपि ‘उपसर्गाद्भेष्यी प्रेष्यार्थे’
(९८) ‘वस्तवादीनामृणी’ (१०६) इति सूत्रयति, ‘श्रुते च तृतीयासमासे’
इति वार्तिकमनुसरथ ‘माते धृते (१०३) इति सूत्रयति । अत्र समासशब्दार्थे
‘मास’ शब्द एव प्रयुक्त, दार्शनिकार्थे च ‘ध’ शब्द इत्यत्र वैकल्प्यमालोक्यमव ।
‘सुनो दन् दघ्रा’ इत्यादिदीर्घानुवादश्च दीर्घप्रकरणे दर्शित एव । यदि हि सूत्राणी
मानि पाणिनेरुच्यन्ते, तर्हि कथं तदनुसृत्य स्वयमपि ‘स्वैरिणी’ ‘प्रोह’ इत्यादि
सिद्धयर्थे बुद्धि न व्यवहार्यत् । न ह्येवविषयननयान सम्भवतीत्यसदृशोच्यते ।
तस्मात् पाणिनिपरमत्त्वमेव श्रुतकननप्रातिशाख्यस्यैव सिद्धयति । यत्तु
शाक्यायनप्रणीतत्वप्रसिद्ध्या पाणिनिपूर्वमेवमस्य प्रातिशाख्यस्य साधयन्ति, पर
भक्तवसाधकानुक्तमूत्राणि च प्रसिद्धानि पश्चादपि वक्तुमोहन्ते—तदपि न इदम् ।
शाक्यायनप्रणीतस्यैव सिद्धे आरम्भ एवात्र ‘श्र’ षो नाद इति शाक्यायन’
इत्येव नाम्नोल्लिखित शाक्यायनानुवादो दृश्यते, यदि हि शाक्यायन एव श्रुत
तन्त्र प्राणोपेत, कथं स्वमतमत्र स्वयमवबदिष्यत् ? किञ्च अन्तेषु प्रातिशाख्येषु
शाक्यायनमत यत्तुदुधृतम्—न तत्सर्वमिह निमालयते । तथा हि—प्रत्ययसर्वण
मुदि शाक्यायन (का प्रा ३।९) ङिङ्गामूलीनापधानीयौ शाक्यायन (३।१२)
परिण इति शाक्यायन (३।८०) इति कात्यायन आह । शपसेषु परेषु रिषर्ग
शाक्यायनमत शपसंरतामाप्नोति, शाक्यायनतु रिषर्ग एव तिष्ठति । तथा
कयो परयोर्विज्ञास्य ङिङ्गामूलीयोऽन्तर्धानीयौ भवत शाक्यायनमते, शाक्यायनमते
तु न भवत । परि—पसर्गस्य ‘न’ इति पदस्य नस्यो णस्यमापद्यते शाक्यायन
मते इति तदभिप्राय । न तादृश रिषर्ग विधानमप्यु सूत्रेणाश्लोक्यते । ‘प्रथम
शाक्यायन (५ १ सू १६) इत्यादि च शौनकेनोक्तम्, अदसाने प्रथममेव
ध्वज्जन शाक्यायनमतेन तिष्ठति, न तु तृतीय पञ्चनवामासयत इति तदभिप्राय ।
तादृशमपि किञ्चिन्नेहाश्लोक्यते । तस्मान्नेदं सूत्रं शाक्यायनकृतमित्येव प्रतीयते ।

भन्तु वा केनचिच्छाकटायनेन प्रणीतमिदम्, पाणिनिपरिचितस्तु शाकटायनोऽयं नैव सम्भवति 'लृङ् शाकटायनस्यैव' इत्याद्याना तिङन्तविधीनामत्र प्रसङ्गेवाभावात् । माघनीयधातुवृत्तावुक्तपूर्वस्य शिष्टुधातोश्चाप्यत्राप्रसङ्गः । तस्मात् पाणिनिपरिचित शाकटायनो वैयाकरण एव भवितुमर्हति, न प्रातिशाख्यकृत् । यत् पाणिनिपरमत्वसाधकानि सूत्राणि प्रक्षितानि, पञ्चानिवेशितानीत्युच्यते, तदपि प्रमाणाभावेऽनवधेयमेव भवति । भन्तु वा प्रक्षितरहितं किञ्चित्सूत्र पाणिने पुरातनम्, तस्य किं रूपमिति ज्ञातुमद्य तु शक्यमेव । अद्योपस्थमानन्तु पाणिनिपरमत्वमेवेति वयं साधयामः ।

पुष्पसूत्रादीनि तु एतत्तुल्ययोगक्षेमाण्येवनि विस्तरमिषान् न पृथगालोच्यन्ते ।

अथ शौनकीयम् ऋग्वेदप्रातिशाख्यं परं सन्दिह्यते । तस्य पाणिनिपूर्वत्वत्वे परमत्वत्वे चोभयथापि युक्त्यं तुट्टा सम्भवन्ति । पूर्वत्वत्वे तावद्युक्ती प्रदर्शयाम —

१. अस्मिन् प्रातिशाख्ये सूत्रप्रक्रिया सुव्यवस्थिता न दृश्यते । कारिकारूपाणि प्रायेण सूत्राणि, पाणिनिकाले हि सूत्रक्रमस्य सुव्यवस्थितता जाता, तत एव पाणिनिपरमत्वेऽपि प्रातिशाख्येऽपि सन्शैली पाणिनिस्मानेव प्रतीयते । क्वलं शौनकप्रातिशाख्ये एव कारिकादिस्वेषेण विच्छिन्नता दृश्यमाना तस्य पूर्वमत्वं उपापयति ।

२ सूत्रनिबन्धनशैल्यामपि गौरवं दृश्यते । यथा हि पाणिनिना 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यादि परिभाष्य सप्तमीपञ्चम्यादिविभक्तिभिसन्नेपेण स्वामिमतोऽर्थो बोधितः, कार्यायनादिभिः प्रातिशाख्यकृद्भिर्भाष्यसोऽध्वानुसृतः । तथात्र शौनकीये न दृश्यते । तथा हि—'अकं सवर्णे दीर्घं' इति पाणिनिसूत्रसमानार्थकं सूत्रं तत्रालोच्यताम्—'समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकप्रभे स्वरम्' (२५।१५ सू) उभे समानाक्षरे सस्थाने (सवर्णे) षड् दीर्घं स्वरं प्राप्नुत इति तदर्थं । सवर्णसंज्ञाया अकरणत्वाद् 'एकं पूर्वपरयो' इत्यपरिभाषणात् स्वरसन्ध्यादिप्रकरणविभागाभावाच्च कियद्गौरवमत्र कर्तव्यममूदिति पर्यालोच्यम् । तथैव 'आद्गुण' इत्यस्य स्थाने च 'इकारोदय एकारमकार सोदय' (५ २। सू १६) अपत्र 'अमे'—इत्यस्य स्थाने 'उदय' शब्दः प्रयुक्तः । इकार उदयः परो यस्मात्, तादृश अकार सोदयः—अग्रिमवर्णसहित एकारमापद्यते । अप्रारि तथैव गौरवं दृश्यते । 'इको यणचि' इत्यस्य प्रतिरूपाकम् 'समानाक्षरमन्त एवा स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्' (२।२१) इति । एरोदयम्—एरपरम्, समानाक्षरम्—अथी समानाक्षराण्यादितः, इति परिभाषितम् २—उ वर्गादि, अकण्ठ्यम्—अकारमित्यम्, स्वाम्—स्वसदृशीम्—अन्त एवार्णरूपतामापद्यत इति । एत्रापि बाष्पपाथकभावाद्यविचारात् सवर्णदीर्घविषयेऽप्ये तन्निषेधं कृतं 'न समानाक्षरे स्वे स्वे' (२।२२) इति । पाणिनिप्रक्रिया तु यदि शौनकेन दृष्टाऽनविष्यत्, न तर्हि गौरवप्रत्येय परिपाटी तस्य सूत्रेऽदृश्यत । ततः पाणिनिपूर्वत्वमवश्यं प्रतीयते ।

३. संज्ञापरिमाणमत्राप्यल्पम्, यदपि दृश्यते—तद्विलक्षणमेव, तस्मात्पाणिनेः प्रमावोऽत्र न कश्चिदपि दृश्यते ।

४. अट्टगमः प्रायेण न दृश्यते, शब्दस्वरूपमाहमेव तानि तानि कार्याणि विशेषेण विहितानि दृश्यन्ते । यथा—‘आदिर्हविष्योतिरित्युत्तरश्चेत्कारः’ (४।४७) इति त्रिसर्जनीयस्य परं शब्दस्वरूपग्रहणपुरःसरमेव निर्दिष्टम् । पाणिनेस्तु ‘शुद्धपधस्य चाप्रत्ययस्य’ इत्यनुगमो दृश्यते । तथैव पाणिनिः ‘पठ्या. पतिपुन-पृथपारपदपयसोपेषु’ (८।३।५३) इत्यनुगमेन पतिशब्दे पदशब्दे च सर्वत्र विसर्गस्य क्त्वमुक्तवान् । शौनकेस्तु प्रातिशाख्ये—‘अन्त.पाद् त्रिहे दकारपूर्वः पतिशब्दे द्वयसरे पुंश्रवाद्’ (४।४२) इति पतिशब्दे परे क्त्वं विधायापि कास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे (४।४६) इति पुनः पतिशब्द एव पठता एव क्त्वं त्रिदधाति । पदशब्दे च परे पदानि षड्हीत्वी सत्यमनुभिधत्ते (४।५९ सूत्रे) एवं प्रयोग सर्वत्रैव, तस्मात् पाणिनिप्रक्रिया नास्य परिचिता, पूर्वमवत्वादित्येव-मनुमातु शक्यते ।

५. क्वचिच्छौनकेन सामान्येन विहिते पाणिनिवृत्तौ विशेषनिर्देशोऽपि दृश्यते । यथा ‘ओकार आनन्वितञः प्रष्टव्यः’ (१।६८) इति सम्बोधन ओकारस्य प्रष्टव्यत्वं सामान्येन शौनकेनोक्तम्, प्रष्टविनाऽस्तु अग्रे ‘प्रष्टयेतिऋगादौ प्रष्टव्याः’ (२।५१) इति इतिशब्दे पर एवोक्तः । पाणिनिना तु ‘सम्पुद्गो शाकल्पस्येता-वनापे’ इति प्रष्टव्यसञ्च इतिशब्दे पर एव कृता, तत्राप्यवैदिक इतिशब्दे इति सोऽयं विशेषः । तथैव ‘सर्वैः प्रथमैवसोपमानः शकारः शाकल्पपितुः उकारम्’ (५. ४ सू. ४) इति शौनकेन वर्गप्रथमात्सरस्य शकारस्य सर्वत्र उकारो विहितः । पाणिनिना तु ‘शरुओऽटि’ इति श्य. परस्य शस्य अटि पर एव उकारो विहित इति विशेषः । तस्माद्विशेषनिर्देशकः पाणिनिः परमत्र एव सम्भाव्यते इति ।

अथ पाणिने. पूर्वमवत्त्वे शौनकप्रातिशाख्यस्य परमवत्त्वे च युक्तयः प्रदर्श्यन्ते—

१. शौनकीये प्रातिशाख्ये मद्ग शर्थ पथं दृश्यत आदौ । पाणिनिपर्यन्तं स्वेषु मद्ग शचरणपदतिर्न दृष्टा, अथशब्देन आङ्कारेणैव वा सूत्रज्ञो मद्गलपूर्तिः । तस्मात्प्रातिशाख्ये श्रयमाणं मद्गउ स्याणामेषा पाणिनिपरमवत्त्वेव धनयतीति विचार्य विमर्शहृद्भिः ।

२. उपधासनासादिसंज्ञा अरिनन् प्रातिशाख्येऽपि ‘वहता’, ‘ध्ववपूर्णाण्य-समासयोने’ (१।९९) ‘सहोचरो सिन्नि एकवर्णकद्’ (१।६७) इत्यादिषु सूत्रेषु । न तु स्याऽत्र पूर्वं विहितेति पाणिनीयसंज्ञारेणैव तत्तत्संज्ञानवहारोऽनु-मीयत इति परमवत्त्वमप्य सिद्धयति ।

३. ‘उत्तरो च द्वौ स्वरो’ (आकारमापद्यते) अनेन सूत्रेण ‘अन्वेत वा उ’ इत्यत्र प्रथमत्र आकार एव विधोवने, पाणिनीये तु पूर्वमायादेशं कृत्वा ततो

यकारलोप इति प्रातिशाख्ये लाघव इत्यते । यकारवकारलोप पाणिनीये विकल्पित, इह तु यत्र यकारादेर्लोपो न इत्यते, तत्र 'वायवायाहि' इत्यादौ वकारागमो विहित । एयमेव 'विभर्गनीयो अरिपितो दीर्घपूर्व स्तरोदय आकारम्' इत्यादिना 'या ओपघी' इत्यादौ विभर्गस्य स्पष्टमात्वमत्र सत्त्वेण विहितम् । 'ह्रस्वपूर्वस्तु षोऽकारम्' (२।२७) 'ओकार ह्रस्वपूर्व' (४।२१) इत्यादिभिर्विभर्गस्यैवाकाररूपता ओकाररूपता च लाघवेन कृता । पाणिनीये तु विभर्गस्य सत्वम् ऋत्वम्, आ-सुरा वा, तदनु लोप सन्धिर्वेति गौरव इत्यते । लाघव चेद् परवर्तिन एव सम्भवति, न हि पूर्ववर्तिनो लाघव दृष्ट्वा परवर्ती गुरुभूतमुपाय मारचयेदिति प्रकृतिषिद्धम् । तस्मात् परभवमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

४ पाणिनिना 'प्रकृत्यन्त पादम यपरे' (६।१।११५) इति षष्ठान्दसप्रक्रिया सूत्रे पररूपपत्राद् प्रकृतिभाव विद्वत्ता अकारात्कारवकारयो परयो प्रकृतिभाव प्रतिषिद्ध, तत्र पररूप भवत्येति तदाशय इष्ट । परम् 'व्रति लीक्षन्ते भवनम्' मित्रमदौ अवयात्' इत्यादौ वकारपरेष्यकारे परम् न इत्यत । तदिदं पाणिनी यैर्वाङ्मूलादेव समाधेयम् । प्रातिशाख्ये तु यकारवकारयोर्लघुत्वं यत्र, तत्रैव पररूपम् इति विशेष ब्रुक्ता 'लघुयकाराद्यश्च पर चेदिति' (२।३५) सूत्रेण उक्तोदाहरणयोर्वैकारस्य सयुक्तत्वेन अयोगपरत्वन च गुणस्य स्वपरिभाषयाश्रित्य पररूपसमाधानं तत्र सम्यक् कृतम् । यदि पूर्वमेव पाणिनिनेद् इष्ट स्यात्, तर्हि न स 'अव्यपरे' इति सामान्यन ब्रूयात् । प्रत्यक्ष विधानं दृष्ट्वा नानवधानं सम्भवतीति । तस्मात्परभवमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

५. पाणिनिना 'शदञोऽङि' इति द्वय परस्य शकारस्य अङि पर एव छकारो विहित । पर 'वञिन् छनयिहि' इत्यादावपि शकारस्य छत्वमाग्नायते । षोऽय न ह्य पर, न वाट्परक । तदर्थं प्रातिशाख्ये शौनकीये 'छकार तयोःशदय शकार' (४।१२) इति अकारवकारयो परस्य 'शकारस्य परवर्ण नियमननाश्रित्यैव छकारो विहित । यदि हि पाणिनि पूर्वमीदृश विधानमद्रक्ष्यत्, तर्हि अवश्य 'छनयिहि' इत्यादिप्रयोगविद्वत्त्वर्थं स्वयमपि यत्नमकरोष्यत् । तेन परभवमेव प्रातिशाख्यमनुमीयते ।

६. अथेदमेक निर्गस्य सत्यविधादक सूत्र पाणिने शौनकस्य च बहुशो सवद्द् इत्यते—

क करत्करति कृषि कृतेऽनदिते (पा० ८।१।५०)

कट कृत् कृषि करत्करित्यपि परेषु (शौ० प्रा० ४।४३)

अथ पाणिनीये 'करति' इति पदमधिकम्, न त्त्प्रातिशाख्ये इत्यते । प्रातिशाख्ये च 'करम्' इत्यधिकम्, न तन् पाणिनीये सूत्रे इत्यते । अदिते

पर्युदासश्च पाणिनिना प्रोक्त, न तु शौनकेन । तत्रास्माकं पूर्वोक्ता युक्तिरत्राप्या-
लोच्या पाणिनेर्योऽथ प्रातिशाख्ये त्यक्त, स तु ऋक्षशाखायामनुपपन्नादिति
शक्यसमाधि । यस्तु प्रातिशाख्याश्च पाणिनिना त्यक्त, तत्र समाधानं न वक्तुं
शक्यम् । पाणिनीयस्य सर्वशाखासंग्राहकत्वात् । 'सहस्रकरम्' इत्याद्या प्रयोगा-
द्वत् पाणिनिनोपेक्षिता इति नैतद्युज्यते समाधानम् । तस्मात् परमत्वेन शौन-
केनैव पाणिनीयं सूत्रमनूदितम्, तत्र च योऽथ रक्षशाखाया अनुपयुक्तं स
परित्यक्त, यथाश्च रक्षशाखीयोऽपि पाणिनेरनुसंधानं त्यक्तोऽभूत् स सप्रहीतः—
इत्येव कल्पना प्रायसी । ततश्च परमत्वमेव प्रातिशाख्यस्य स्पष्टं सिद्धयति ।

७. अथेदमतिदृढं प्रातिशाख्यस्य परमत्वे प्रमाणम्—दूडाश्च, दूणाश्च,
दूळ्य, इत्यादीनां सिद्धये पाणिनेर्न दृश्यते प्रयत्नः । वार्तिककृता तदर्थम्—
'दुरो दाशनाशदमध्येधुस्वधुस्वरपदादे ध्युः च' इत्युपसृक्यातम् । शौनकीय
प्रातिशाख्ये तु दृश्यते तदर्थं सूत्रम् 'दूळ्यदूणाशदूल्भप्रवादा दुर् दूमूतमधरं
तेषु नन्तु (प. ५।५५) यदि हि सूत्रमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, कथं तर्हि
तेनेमे प्रयोगा उपेक्षिताः स्युः । तस्मादनवधानेनैव विस्मृता इमे प्रयोगा, वार्तिक-
कारेण प्रातिशाख्यकारेण च पश्चात् सप्रहीता इत्येव सम्भवति ।

८ तथैव 'ऊष्मोदय प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्' (प. ६।५४)
इति शौनकीयसूत्रम् । तच्चेद 'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति
वार्तिकस्यैवानुवृत्तिः । न हि पाणिनिसूत्रेष्विदं दृश्यते । यदि हि पूर्वस्थितमिदं
पाणिनिना दृष्टं स्यात्, तर्हि नैरोपेक्षितं स्यात् । तस्मात्परमत्वमेव प्राति-
शाख्यस्य दृढीभवति ।

९. ऋकारात्परस्थापि णत्वविधानम् 'न मध्यमै स्पर्शार्णैर्व्यपेतम्' इति निषिद्ध-
व्यवधानपरिगणनं च कात्यायनीये प्रातिशाख्ये इवात्रापि दृश्यते । ततश्च तत्रोक्त-
युक्त्यैवास्यापि परमत्वमेव सिद्धयति ।

१० । शौनकीये व्याडेनम दृश्यते । व्याडिश्च पाणिनिसूत्राणां व्याख्यातेति
सुप्रसिद्धा किंवदन्ती । ततश्च व्याडेरेवांक्तः शौनकः कथं न भवेत् पाणिनेरर्वाचीनः ।

ता एताः पाणिनिपरमत्वे युक्तयः । अत्र परमत्वे उपात्ता युक्तय एव दृढा
प्रतीयन्ते । पूर्वमत्वयुक्तयस्तु बाहुल्येन प्रातिशाख्यसामान्योपक्रम एव समाहिता
अस्माभिः । कारिकाभिः सूत्राणां प्रगयनं तु पाणिनेरुत्तरकाले एव प्रायेण दृश्यते ।
स्वयं वार्तिककृता कात्यायनेनैव सूत्ररुपात्तकानि वार्तिकानि श्लोकेरेवोक्तानि ।
तेषु कात्यायनस्य शौनकस्य च समाना शैली न पाणिनिपूर्वमत्वस्य साधयितुमीष्टे—
इत्यादि समाधेयम् । माध्यकार उक्तञ्चापि प्रातिशाख्यस्यास्य पाणिनीयशेषत्व-
मेवाह प्रयोजनकथनादसरे—'तथा व्याकरणे यस्सामान्येन, यथा 'ऋचि तुनुष
मनुतस्कुत्रेऽध्यागाम्' (पाणि ६।१।१३३) इत्यादि तद्व्यवस्थापयितुमिद-

मारभ्यते । न स-त्रैतानि पदान्यस्या शाखायां दीर्गाणि भवन्ति, इति ।.. एवं शिक्षाच्छन्दो-व्याकरणैर्यस्य शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते, तदेवास्या शाखा यामनेन 'व्यवस्थाप्यते' इत्यादि । आथ-र्णप्रातिशाख्ये तु स्वयं सूत्रकृतैवाथोऽयं मुपन्यस्त 'एवमिहेति च विभाषाप्राप्त सामान्येन' (अथ ब्रा १।२) इति । सामान्येन लक्षणेन पाणि-यादिविहितेन यद्विकल्पप्राप्तम्, तदेवमस्यां शाखाया व्यवस्थितं भवतीति तदर्थं ।

यदि तु व्याडिस्य पाणिने पूर्वभवोऽभिमन्यते, पाणिनिस्त्र-याख्यातृत्व तस्य नाद्रियते, अन्यो वा व्याडि कश्चन पाणिने पूर्वभव स्वीक्रियते । प्रातिशाख्ये चारिमन् बहुवोऽशा अर्वाकना परंपद्योजिता अनुमीयन्ते, दृष्टा अप्यल्पप्रयोगा-शब्दा पाणिनिना सत्पेपञ्जरातेनोपेक्षिता एवेति च स्वीक्रियते, तर्हि स्वीक्रियता नाम प्रातिशाख्यस्य पूर्वभवत्वमपि । इदानीन्तु यरिमन् रूपे शौनकीय प्रातिशाख्य पश्याम —तदिदं रूप पाणिने परभस्मेवेति निर्णीतमस्मानि । भवेयुर-इय पाणिने पूर्वमपि प्रातिशाख्यानि कानिचित्, न तानीदानीं दृष्टिनिषयता कस्याप्यायान्ति । यानि त्वद्यत् उपलभ्यन्ते व्याकरणानि प्रातिशाख्यानि वा तेषु स-त पूर्वभवो भगवान् पाणिनिरेवत्यस्माकं बुद्धौ निर्विवादम् । अत एव वैदिका अपि ब्रह्मयज्ञे वेदाङ्गेषु 'वृद्धिरादैच्' इति पाणिनेरादिसूत्रमवाधीयते, न तु प्रातिशाखादीनाम् । तस्मात् पाणिनेरभ्यहितत्वं सर्वं स्वीकृतमिति निर्विवादम् । तत्र च प्राचीनत्वमपि मुख्यो हेतुरस्येवेति ।

निरुक्तकृतः पौर्वापर्यम् ।

अथ निरुक्तकृतो भगवतो यास्काचापात् पाणिनिर्भगवान् पूर्वमत्र परभवो वेत्येतदपि कालनिर्णयप्रसङ्गे विचार्यमेव । अत्र विषयेषुभयया प्रतिपत्तिरस्ति, उभयत्र च सम्मान्या युक्तय सन्ति । श्रीरुच्यक्तसामभ्रमिमहाभाग स्वीये निरुक्तालोचने भगवन्त पाणिनि यास्काद् द्वित्रयता-द्वीपूर्वभवमङ्गीकरोति । तस्य चेता युक्तय —

१. पाणिने 'पर सन्निकर्षं संहिता' इति सूत्रं निरुक्ते प्रभवेऽध्याये षष्ठे पादे (१७ क) उद्धृतं दृश्यते इति सर्वत प्रधानतमो हेतुः । अत्र केचन शङ्कन्ते 'पाणिनिनैव निरुक्तादुद्धृतमिति कुतो न मन्यते ! निरुक्तकृता स्वयं तल्लक्षण संहिताया कृतं स्यात्, तच्च सम्यग् यास्का पाणिनिनैवोद्धृतं स्यादित्यपि समा-प्यत इति । परं नेद ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्धयति । निरुक्तकारो हि न तत्र संहिता रक्षयितुं प्रवृत्तः । किन्तु परेषा सम्मतिरेव तेन तत्रोद्धृतानि ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्धयति । निरुक्तशास्त्रस्य प्रयोजनानि तत्र यास्केन दर्शयन्ते, तेष्विदमपि तेनोपात्तम् 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इति । निरुक्तेन तत्तत्पदस्यार्थे

विज्ञाते पदविभागे वेदनन्त्रेषु सम्भवति, अर्थज्ञाने च निरुक्त प्रधान सहापकर्मिते पदविभागेऽपि निरुक्तत्वात् इति तदाशयः । 'अवसाय पद्वते रुद्र मृ' इत्यस्मिन् मात्रे अवसायेति अवसायवदस्य चतुर्थ्ये च वचनम्, तस्मादन पदकारैरवप्रहो न क्रियते । 'अवसाय अध्वान्' इत्यत्र अवोऽस्तु सृजित्स्वन्त इति अवेत्युपसर्गं पदेऽवप्रह क्रियते । विनार्थज्ञान कथमिदं विज्ञेयं—कुत्र ल्यवन्त कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एवमेव एकरूपमेव 'निश्चुत्वा' इति पद 'दूतो निश्चुत्वा इदमाजगाम' इत्यत्र 'निश्चुत्वा' इति षष्ठ्यन्त मन्यते, 'परो निश्चुत्वा आचक्ष' इत्यत्र तु 'निश्चुत्वा' इति चतुर्थ्यन्तं विद्यते । तदिदं विनार्थज्ञानं कथं सम्भवेत्, कुत्र षष्ठ्यन्तं कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एव प्रयोजनमुक्तत्वा अत्रैव 'पर सन्निकर्षं सहिता' इति 'पदप्रकृति सहिता' इति सूत्रद्वयमुद्घृतम् । तत्र प्रथमं पाणिनीये, द्वितीयं च व्यत्ययेन 'सहिता पदप्रकृति' इति श्रुत्प्रतिशाख्ये लभ्यते । अत्रे च निरुक्ते पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' इत्युक्तम् । अत्र भाष्यहृद् दुर्गाचार्यः 'पदविभागप्रसक्तमनुनां चार्ताल्लक्षणमाह' इति सूत्रद्वयमन्वतारयामास । 'पदप्रकृति सहिता' इति चैत्र व्याचष्टे 'अत्र द्वेषा वर्णयति—पदानां या प्रकृतिः सैव पदप्रकृति सहिता, साहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्माद्विकार पदानि । अन्ते पुन पदानि प्रकृतिर्दृष्ट्या सैव पदप्रकृति । पदान्येव हि सतन्वमानानि सहिता भवति । तस्मात्पदान्येव प्रकृति, विकार सहितेति । सर्वेषां चरणानां शाखान्तराणाम्, यानि पार्षदानि—प्रातिशाख्यानि तानि पदप्रकृतीनि, पद तेषु सहिताया प्रकृतित्वेन चिरयते । तेषामपि स एव समय इत्यभिप्रायः' । अत्रे च श्रीदुर्गाचार्येण सहिताया बह्वित्त्वे समयं 'समयमाश्रित्यन्त-स्वशास्त्रनियतमेव' इत्याद्युपसृतम् । एव सहितायाः प्रसक्त प्रसक्तोपसर्गवेति व्याख्याकृतो मन्यन्ते । अप्रसक्तं च निरुक्तं कृत् स्वयं लक्षणं ब्रूयाद्—इत्यपेक्षया परस्य लक्षणानुद्धारित्येव समुचितं प्रतिमाति । पाणिने शौनकेभ्य च सूत्रे निरुक्तकृतोद्घृते इत्येव कल्पना सम्यग् भवति ।

व्यत्ययस्य ब्रूम—न काल प्रसक्तानुप्रसक्तया अप्रकृतकथनमेव यास्कस्य मन्तव्यम्—अत्र तु प्रसक्तेन सुसंगतमेवैवत् । तथा हि—पदविभागे योऽयं निरुक्तस्य प्रयोजनयोपपन्नस्त, तत्रेयं चङ्का स्तुतिष्ठने—यन्नामस्यदविभाग, किं नञ्छ्रमं, सहिताया ये मन्त्रा यथा पठिता, तेषां तथैव पाठेन वच कृतार्था । पठ्यमानाया सहिताया एवाद्योऽसादकत्वादिति । तत्रेयं यास्कस्योत्तरम्—पदानि हि सहिताया प्रकृत्, तान्येव मूलभूतानि । पदान्येव हि सतन्वमानानि संहता भवति । यदि नाम निश्चुत्वा पदानि—कथमिदं सहिता प्रादुर्भवेत् तस्मात् पदानानु क्तं न कर्तुं सुन्दरे इति । अथैव स्तुत्यस्य समयनाय तेन पाणिने शौनकेभ्य च लक्षण उद्घृते । पदानाम्निश्चयितं च प्रधानमेव सति तस्य पार्षदानि मन्यन्ते, शौनकेभ्य च पदानि प्रकृतिर्दृष्ट्या सा सहितेऽप्युक्तम् । सर्वेषां च प्रातिशाख्यानि पदाना

प्रकृतित्वं ब्रुवन् इति । तदित्य अन्यस्य सुसङ्गते । अन्यदीय मूलद्वयेन तयोद्भूत-
मिति चास्मिन् पक्षे तुल्यम् । भाष्यकृद् दुर्गोचार्य पाठनाम्नेगादृष्ट्यलोत्पत्तिवादी
व्याधुनिक इति तेन सहितानां प्रकृतित्वं क्त्वात्त्वं स्यात् समर्थितम् । यास्कस्तु
अर्थरक्षणातीति पदानामव प्रकृतित्वं च ब्रवीति-इति युक्तं प्रतिभाति । ततश्च
पाणिने तस्मादपि परमस्य शौनकप्रातिशाख्यस्य सूत्रस्य चोदरणात् पाणिनिपर-
मत्वं तस्य सुतरां सिद्धम् ।

२. निरुक्ते (अ. ४ ख २५) अस्या इति अस्य इति च पदे प्रोक्तं यास्केन
'अस्या इति वास्येति चोदात्तं प्रथमादश, अनुदात्तमन्वादेशे तीनार्थतरपुदा-
त्तम्, अन्वीयोऽर्थतरमनुदात्तम्' । इदं च 'इदमोऽन्वादेशोऽशनुदात्तस्तृतीयादी'
इति पाणिनिमुत्रसवादि, तदनुकरणमेव सूचयतीति पाणिनिपरमत्वं तस्मात्स्यानुमीयते ।

२ पाणिनिप्रोक्ता कृत्प्रकृतिसमासादिसञ्ज्ञा, उपधादिसञ्ज्ञाश्च निरुक्तकृता
त्वन्हुता पाणिनिपरमत्वं तस्य ख्यापयन्तीति ।

४. 'न सर्वाणीति गाम्वा वैयाकरणानां चैके' (अ. १) इति यथास्केन सर्वाणि
नामान्याख्यातजानि न सन्तीति वैयाकरणमत्सुत्रस्य-नत्पाणिनेरेव सुकुटं
दृश्यते, तेनैव 'अर्थवदधात्प्रत्यय प्राति-दिकम्' 'कृत्प्रकृतिसमासाश्च' इति
सूत्रयथा स्मृतं 'युष्मन्नाऽ' युष्मन्निविधेयप्रातिपदिकसत्ता स्वीकृतेति ।

५. 'आपनीपणदिति पणतेचर्करीतवृत्तम्' (निरु २।७।६) इति यास्कौचित्तरपि
पाणिनिनान्वाख्याता यद्भुङ्गन्तप्रक्रिया स्मारयन्ती परमदत्त्वेनैव ख्यापयति ।

श्रीस्वरयत्रतसामश्रमिमाहाशयस्तु निरुक्ते ददुव दद् व्याकरणपदं वैयाकरणपदं च
व्यवह्रियते, तत्सर्वमेव पाणिनिपरमत्वं ख्यापकं यास्कस्तेति विस्तरेण प्रतिपादित-
वान् । पाणिनिपूर्वमवश्यं कस्यापि व्याकरणस्याभावादिति । तत्रैतदस्मान्निर्दिष्टतया
पाणिने पूर्वं व्याकरणान्तराणां सत्ता समर्थनमानैर्निराकृतमेव विस्तरण । अत्रापि च
प्रथमा युक्तिं विहायान्वा विधिप्रथा एव । अस्या, अस्य, इति पदद्वय वेदेषु
उदात्तमनुदात्तं च दृश्यते । तदेतन्निरुक्तकृता स्वीकृतम्—तदेव च पाणिनिना-
नूदितमित्याप सम्भवति । नह्यत्र निनिगमकं पदशाम—पाणिनिना य एवमतमनूदतं
वा यास्केन पाणिनिमतमनूदिनमिति । उभयथाप्येनत् सम्भवति । प्रत्युत उदात्तानु-
दात्तयोर्लक्षणमिदमर्थप्रधानं यन्निरुक्तकृतोक्तम्—तत्पाणिनीयेन निरुद्धत्वे, तेन
ध्वनिवृत्तयारोहोदात्तानुदात्तत्वयो स्वीकारात् । तथैव कृत्प्रकृतादिसञ्ज्ञा. पूर्वेषु
व्याकरणेषुपि भवेयु । ता एव निरुक्तकृता व्यवहृता स्तुरित्यपि सम्भाव्यत एव ।
पूर्वेषु वैयाकरणैर्नाम द्वैविध्येन न स्वीकृतमिति को नाम वक्तुमीष्टे, तेषां
व्याकरणानां यावत् परेचयो न भवेत् । आपनीपणदिति चर्करीतवृत्तमिति च
प्रत्युत विपरीतम्—चर्करीतमिति नाम प्राचीनेषु व्याकरणेषुच प्रतिज्ञमाधीन्—इति

स्तु पूर्वमवाप्तयामेति । केचन रुहितालङ्कारयोद्धरणमिति युक्तिरेवात्र प्रवला ।
'इष्ट वरमहृत्' इति न्यायश्चात्रस्य श्रीसामभूमिगोऽनुकूल । पाणिनीये ह्युक्तं सर्वं
स्पष्टं दृश्यते—अन्देशु तु ऋक्त्वं सम्भवमात्रमुच्यते इति पाणिनिपरमवत्स्वीकारे
दृष्टमूला फलपना स्यादिति ।

अथ यास्कस्य पूर्वमवत्त्वे युक्त्य आलम्ब्यन्ताम्—

१ महामारते यास्कस्य तदीयनिरुक्तस्य च नाम दृश्यते, पाणिनेस्तु न
दृश्यते । तेन यास्कस्य महाभारतसंहितापञ्चयापि पूर्वमवत्त्वं स्पष्टं सिद्धयति ।

यास्कः नामृत्परव्यभोऽनेक्यशु गीतवान् ।
इष्टपविष्ट इत ह्यस्मद् गुह्यानामधरो ह्यस्म ॥
स्तुत्वा ना शिपविष्टेत यास्कः ऋषिरुदारधी ।
मत्प्रसादादधो नष्ट निरुक्तमभिजग्निवान् ॥

(महा श्वा प ३४२ अ ७०, ७१ इत्ये)

न च तथाविधप्रसङ्गामावात् पाणिनेर्नाम तत्र नायातमिति शक्यं वक्तुम् ।
यथा यास्कन 'शिपिविष्ट' नामनिर्वाचनं कृतम्, तथा पाणिनिनापि 'वासुदेवार्तु
नाम्यां पुनः' 'श्रुभ्यश्चकृवृष्णिङ्कुरम्यश्च' इत्याद्यनेकधोक्तमेव । तत्र अर्तुनेन सद्य
मा प्रकीर्य पाणिनिरेव विद्वि लब्धवानित्यादिस्तद्ध प्रसङ्गोऽस्त्येव । अत्र
शङ्करस्य बहुधा माहारम्यवर्णनं महामारते, तत्रैव 'पाणिनेयेऽग्निव व्याकरणा
दनम्' इत्यादि—कोर्तनस्यापि प्रसङ्गोऽस्त्येव, तथापि न पाणिनेर्नाम तत्र स्मर्यते ।
प्रस्तुतं 'महात्रीह्यराहृष्टृष्वासवावाल्मारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु' (पा ६।२।
३८) इति सूत्रे पाणिनिनैव महाभारतशब्दे मद्रच्छन्दस्य प्रकृतिरौ विहित ।
तत्रैव महाभारतस्य परिचयोऽस्त्येव पाणिनेरति स्पष्टं सिद्धयति । अहो ! या
महामारतसंहिता पञ्जलिनाऽप्यर्वाचीना निषाधयिपति सामभूमिमहाशयः, सा
पाणिनोऽपि प्राक्तनी सिद्धयति । महाभारतसिद्धानि युधिष्ठिरादिनामानि कुरु
वृष्णिप्रभृतीनां ऋषीणां चोक्तास्त्येव पाणिनिना स्वीयेषु सूत्रेषु । तेनानि
महाभारतस्यैव पाणिनेः प्रतिदृश्यन्ते । अन्वा काचिदादीन् वा महाभारत
संहितेति तु तुल्यमात्रम् । 'इष्ट वरमहृत्' इति स्वयमवाप्तेऽहिताऽनेकधा न्याय
इष्ट निर्दिष्टं इति त्रिमन्त्रप्रहातिरिक्तं शक्यं वक्तुं कारणम् । आस्तां नामा
प्रकृतम् । पाणिनेर्वाक्कादवाचीनता त्वेन सुरस्य सिद्धयतीत्येव नो वक्तव्यम् ।

२ मन्त्रागम्यश्रुतिपादकृतमस्ति, पाठमात्रेण ह्यस्यादकृतं वेत्स्यति निरुक्ते
मीमांसादर्शने च विचारः । तयोत्तर्ये साम्यं दृश्यते । तथाहि—

निरुक्तस्य प्रथमेऽध्याये पञ्चमे पादे
(१५ खण्डे) मन्त्राणामर्थोभाष
साधकपूर्वपञ्चवाक्यानि—

(१) नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्वो
भवन्ति ।

(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपस्यैव
विधीयन्ते उरुप्रथस्येति प्रथयति,
प्रोहागीति प्रोहति ।

(३) अथाप्यनुपरन्तार्थो मन्त्रि-ओषधे
प्रायस्वैनम् । स्वधिते मैन दिंसी
गित्याह दिंसन् ।

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्थो भवन्ति—
(१) एक एव रुद्रोऽवतरत्ये न द्वि
तीय, असंख्याता सदृशाणि
ये रुद्रा अधिभूम्याम् । (२)
अशत्रुनिद्र अक्षिपे । शत सेना
अजयत् साकमिद्र । इति ।

(५) अथापि जानन्त संश्लेष्यति 'अग्नये
सनिध्यमानायानुब्रूहि' इति ।

(६) अथाप्याह अदिति सर्वमिति ।
'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति' त
दुपरिष्ठाद् व्याख्यास्याम' ।

(७) अथाप्यविस्पष्टार्थो भवन्ति—'अभ्यग्
याददिमन् वारयापि कोसुका'
इति ।

मीमांसादर्शनस्य प्रथमाध्याये प्रथमपादे
मन्त्राणामर्थोभाषसाधनाय पूर्वसंख्यानि
निरुक्तसमानार्थानि—

(१) वाक्यनियमात् । (मी सू १।२।३२)

(२) तदर्थशास्त्रात् । (मी सू १।२।३१)

(३) अचेनेऽर्थसंघनात् । (१।२।३५)

(४) (१।२।३६ एव स्पष्टीत) अविद्य-
मानवचनात् (१।२।३४) इति वा

(५) बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३)

(६) अर्थविप्रतिषेधात् । (१।२।३६)

(७) अविज्ञेयात् (१।२।३८)

अत्र पूर्वपक्षे जैमिने सप्तद्वयमधिक हृदयते—'स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७)
इति, अनित्यसमो गान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९) इति च । नैतद्द्वयप्रतिरूपक
यास्कीये पूर्वपक्षे लभ्यते । यथा कश्चिदपेता क्वचिद्—'अदधातमन्त्रमप्यस्यति,
तत्रैव चोपदिष्टा काचिद् योषिद् मुशलेन मोहीन् अवहन्ति । तत्र समन्त्रस्तस्या,
योषितोऽवघातस्य प्रकाशक इति न केनापि शक्यते वक्तुम्, तथैव यशकालऽपि
अवघातसमये प्रयुज्यमानो मन्त्रो नावघात प्रकाशयतीति (१ २।३७) पूर्वसूत्रार्थः ।
यदि मन्त्राणामर्थो मन्त्रेण, तर्हि अनिशानो देशनगरमनुभ्यादिनाम्नो तत्र अवगा

द्वेदानामनादिता भव्येत, तस्मान्नार्थप्रकाशका मन्त्रा इत्येवाभ्युपगन्त्वप्यमिति (१।२।३९) द्वितीयस्यार्थः ।

अथैतदुत्तरमपि पर्यालोच्यतामुभयत्र—निरुक्ते प्रथमाध्याये (पञ्चमपादे) (१६ खण्डे)

(स्वतन्त्रं साधनम्)

अर्थवन्तः शब्दसाम्याद्, एतद्वैयञ्जस्य

समृद्ध यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृष्यजुर्वाभिदतीति च ब्राह्मणम् । ऋडन्तौ पुत्रैर्नप्तुमिति ।

पूर्वं पञ्चस्योत्तराणि

- (१) यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्—यथेन्द्राग्नी, रितापुत्राविति ।
- (२) यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति, उदितानुवादः स भवति
- (३) यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति आम्नायवचनादर्हिषा प्रनीयेत ।
- (४) यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्—यथा—असन्नोऽयं ब्राह्मणः, अनमिन्नो राजेति ।
- (५) यथो एतद्—ज्ञानन्तं संप्रेष्यतीति ज्ञानन्तमभिवादयते, ज्ञानते मधुरकं प्राहेति ।
- (६) यथो एतद् अदितिः सर्वमिति । लौकिकेष्वप्येतद् यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।
- (७) यथो एतद्विस्वधार्था भवन्तीति नैव स्थाणोरपराधो यदेनमन्वो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति । यथा—

मीमासादर्शने प्रथमाध्याये द्वितीयपादे

(स्वतन्त्र साधनम्)

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (४०)

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् (५१)

ऊह. (५२) त्रिधियन्दाश्च (५३)

अविरुद्ध परम् (४४)

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः (४१) परिसंख्या (४२) अर्थवादो वा (४३)

अभिधानेऽर्थवादः (४६)

गुणाद्विप्रतिषेधः स्यात् (४७)

संप्रैषकर्मणो गहानुपलम्भ संस्कारत्वात् (४५)

गुणाद्विप्रतिषेधः स्यात् (४७)

जानपदीषु विद्यात पुरुषविशेषो षतः परमविद्यानम् । (४९)
 भवति । पारोक्ष्यं हि तु खलु
 वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।
 इति ।

उक्तञ्च अनित्यसंयोगः (५०) परन्तु
 भूतिसाक्षान्यमात्रम् (१११३१)
 विद्यावचनसंयोगात् (४८)

अत्रापि द्विवेत्तवैविध्यं स्फुटं प्रतीयेत, यद् नेद सादृश्यं यादृच्छिडकम्,
 अपि तु एकस्य पूर्वोत्तरपक्षावपरेणानुकृतौ । तत्र केन कस्यानुकृति-रिति विचारे
 मीमांसादर्शने निरुक्तस्यानुकृतिरित्येव बुद्ध्यानुपारोहनि । बहुपूर्वज्ञत्वं च निरुक्तकृतः
 सिद्धयति । तथा हि—निरुक्तकृद्देदानामृषिप्रणीतत्वमभिप्रेति 'साक्षात्कृतधर्माण
 श्रुपयो बभूवुः, तेऽदरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् संग्राह्य', उपदेशाय
 ग्लायन्तोऽपरे विलम्बप्रदणायैमं ग्रन्थं समाभ्यासिषु' वेद च वेदाङ्गानि च' इति
 प्रथमाध्यायान्ते स्फुटीकृतस्तेन स्वाभिप्रायः । एवमुच्चावचैरभिप्रायैश्चर्षीणा मन्त्र-
 दृष्टयो भवन्ति (अ. ७) यश्चाम श्रुषिर्पस्या देवतायामार्थस्यमित्युक्त्वा स्तुतिं प्रयुङ्क्ते,
 तद्देवतः स मन्त्रो भवति (अ. ७) 'इयोर्मांशो' ससङ्ग दृष्टवैवमवश्यत्' (अ. ७) 'वितं
 कृपेऽवहितमेतल्मुक्तं प्रतिबभौ' () इत्यादिषु च बहुत्र श्रुतिकृतत्वमेव मन्त्राणा धर्मान-
 तम् । अत एव वेदेषु नास्तीतिहास इत्यपि विचारस्तस्य नोदति स्म, तत एव 'स्त्वै-
 तिहासिका.' 'इति नैवच्छाः' इत्येतिहासिकपक्षोऽपि तेन तत्र तत्रानूदितः, 'देवापिः
 शन्तनुश्च क्षौरव्यौ भ्रातरौ बभूवुः' (अ. २) इत्यादौ च स्फुटमितिहासपरत्वे-
 नैव मन्त्रव्याख्यानं कृतम्, 'तत्र प्रक्षेतिहासमिधमृङ्गमिधं गाथामिधं च भवति'
 इत्यत्र च स्फुटमितिहासप्रतिपादकता ब्रह्मणो वदस्योक्ता । तत एव चात्र मन्त्रा-
 णामनयेद्वत्साधनपक्षे अनित्यानां देशनगरमनुष्यादीना वर्णनेन वेदस्यानित्यता
 प्रकृत्येतेति गृह्णातेन नोद्भाविता । जैमिनिस्तु बौद्धादीना निराकरणाय वेदा-
 नामनोऽपेयत्वरश्मम्युपागमदिति वेदेतिहाससत्ताया स्वीकृत्यायामनित्यत्वप्रसक्तिं
 दोषत्वेन पूर्वपक्षेऽगणयत्, उत्तरपक्षे च भूतिसामान्यमात्रं प्रब्रुवन् तत्समाधानं
 चकार । तेन निरुक्तकाले अपौरुषेयत्वशादौ न दृढं सिद्धमनोऽभूत्, मीमांसा-
 दर्शनकाले तु तस्यैमांसीत्यकार इति बहुपूर्वज्ञत्वं निरुक्तकृतं सिद्धयति । तथैव
 अह्ननुद्विराजजनानां प्रत्यवधत् गगविद्या मन्त्रघोषप्रक्रिया जैमिनिकाले
 प्रचलितेति 'स्वाध्यायवदवचनाद्' इति पूर्वसूत्रेण सिद्धयति, यथा हासत्वेऽपि याव-
 दयं द्विष्टमनोपस्तावदहं मन्त्रमिमं मूयो भूयो रटिष्यामीति दृश्यते मन्दबुद्धी-
 नाममिनिवेशः । निरुक्तकाले तु नाशीत्यवस्था प्रकृिदेयम्, तत एव पूर्वपक्षे
 नेतदपि संश्लीनं तेनेति शक्यमनुमातुम् । एवमेव 'स्वधिते मीनं हिंसीरित्याह हिंस्र'

इत्युक्त्या केशञ्छेदनेऽपि हिंसासंभावना निरुक्तइत्यमये आसीत्, तत एव 'आम्नाय-
वचनादहिंसा प्रतीयेत' इति समाधानमपि तेन कृतम् । मीमांसाया तु 'स्वधिते
मैत्रिं हिंसा' इत्यादौ ह्यस्य सन्निधानमेव दोषत्वेन पूर्वपञ्चीकृतम्, न तु केश-
ञ्छेदने हिंसायाः संभावना कृता । एवमेव मन्त्राणां नियतानुपूर्वीकत्वम् 'इन्द्राग्नी',
पितापुत्रौ' इत्यादिलौकिकप्रयोगसाम्येनैव निरुक्तकृता कृतोत्तरम्, जैमिनिना तु
नियतानुपूर्वीकगते अदृष्टमपि स्वीकृतम्— इति अदृष्टवादस्य प्रत्यक्ष प्रचारे
मीमांसाकाले सिद्धयति, न तु निरुक्तकाले । अन्यदप्यालोच्यता सुधीभिस्तत्र
तत्र । तदिरथ निरुक्तकृन्मीमांसादर्शनकर्तुर्बहुपूर्वजः स्फुट सिद्धयति । पाणिनिस्तु
उत्तरमीमांसाप्रणेतुरपि परमव 'इति 'पारागर्वाशिलालिम्बा भिच्छुनटसूत्रयोः' इति
स्वदर्शनाद् बहुदोऽभिप्रयन्ति, स्वयं सामर्थ्यमिहाशयोऽपि च उत्तरमीमांसाप्रणेतुः
परमवनेव पाणिनिमन्युपगच्छति, उत्तरमीमांसा चैव पूर्वमीमांसावमकालिञ्ची
परमवा वेति निरुक्तकृत पाणिन्यपेक्षया बहुपूर्वजत्वमनयान्तरङ्गरोक्षया सिद्धयति ।
किं च पूर्वमीमांसायाम् 'आख्या प्रवचनात्' इति ऐतरेयतैत्तिरीयशाकृष्णक-
लादिसंज्ञाः प्रवचनादेव जाता न तु विरचनात्— इति स्वमत प्रतिपादितम्—
तदेवानुसृत्य पाणिनिनापि 'कृते ग्रन्थे' इत्यधिकारात् पृथक् 'तेन प्रोक्तम्' इति
वेदनिषयकोऽधिकारः कृत इत्यनुमीयते । भाष्यकृतापि कृतोऽत्र बहुतरो विचार
इति तेनापि मीमांसापरमवत्वमेव पाणिनेः सिद्धयति । ततश्च निरुक्तस्य मीमांसा-
तोऽपि पूर्वभवस्य पाणिनिपूर्वत्वे न संदेहलेशः ।

(३) वैदिकी भाषा एतस्येषु 'ऋन्दः' पदेन पाणिनिना व्यवहृता, निरुक्त-
कृता तु 'नेति प्रतिषेधार्थो भाषायाम्' 'उभयमन्वध्यायम्' (अ. १) इत्यादौ
अप्यायनेन सा भाषा व्यवहृता । तदनेन निरुक्तकाले वैदिकी भाषा अध्येत-
व्यभाषाऽऽसीत्, न तु ऋन्द-पद तस्मिन् काले भाषाबोधकं प्रचलितम्,
पाणिनिकाले तु ऋन्दोबाहुल्याच्छन्दःन्द वैदिकभाषाया प्रचलितमिति ततोऽपि
बहुपूर्वजत्वं यास्कस्यानुमीयते ।

(४) पाणिनीयपरिभाषाः प्रायेण निरुक्तकृन् व्यवहरति । तद्विदितशब्दो
यत्र तेन क्वचिद्व्यवहृतः, स तद्विदितप्रत्ययान्ताभिप्रायेण, प्रत्ययाभिप्रायेण तु 'तद्विदित-
प्रत्ययस्थाने उपबन्धशब्दो व्यवहृतः, तथा हि—अध्वर्युशब्दनिर्वचने 'अग्नि वा
अधीयाने युरुपबन्धः' अध्वरशब्दादध्येत्यर्थे युप्रत्यय इत्यर्थे उपबन्धशब्दः ।
'सीमतः' इति शब्दव्याख्यायां च 'सीमैत्येनदनर्थकम्, उपबन्धमाददीत पञ्चमी-
कर्मणम्, सीमन्-सीमत-सीमातः-मयादातः' इहाप्युपबन्धशब्द एव तद्विदित-
प्रत्यय बोधयित्मुपात्तः । तथैव कृत्प्रत्ययं बोधयितुं 'नामकरण' शब्दं स प्रयुङ्क्ते-
'कथो गाहतेः, वस इति नामकरणः' 'धीरं क्षरतेर्षत्तेर्वा, ईरो नामकरणः'
इत्यादिषु बहुत्र द्रष्टव्यम् । गिञन्तश्चन्तयङ्लुगन्तादीन् प्रयोगान् सूचयितुं

गोननाम, एकैकस्मिन् गोत्रे शतशो व्यक्तय सम्मवन्तीति क कौरस पाणिने
शिष्य, ओ वा यास्केन स्मृत इति निश्चेतुमशक्यमेव । महाराजस्वलालेऽपि
कालिदास 'कौरस प्रपेदे वरतन्तुशिष्य' इति कञ्चित् कौरस प्रस्तौति, किं
सोऽपि पाणिने शिष्योऽस्तु ! यश्च पाणिनिर्दिक्षेयुं मन्त्रेषु अर्थपरिचयाय प्रकृति
प्रत्ययादिक विमञ्जते, तस्य शिष्यो मन्त्राणामर्थाभावमभ्युपगच्छति इति नैतत्
सम्भावनास्पदम् ।

यत्तु सत्यव्रतसामभूमिमहाशयेन 'अपाणम्' इति निरुक्तदृष्ट पदमुपादाय
यास्केस्य पाणिनिपरम्परे प्रधानोऽय हेतुरिति महता ह्योङ्गात्तेन कूर्दतेवोक्तम्—
पाणिनिकाले ऋगशब्दे परे वृद्धिर्नैवासीत् प्रचलिता, तत एव तेन तादृश
विधान न कृतम् । निरुक्तकाले 'अपाणम्' इत्येको वृद्धिघटित प्रयोग
प्रचलित, वार्तिककृतसमये तु 'प्राणम्' 'वत्सतराणम्' इत्यादौ बहुत्र वृद्धि
प्रचलिता, परम् 'अपाण'पद विलुप्त जातम्—तत एव वार्तिककृता कात्यायनेन
'प्रवत्सतरकञ्जवत्सनाणदशानामृषो' इति बहुत्र वृद्धिरुपसख्याता, अपात् नोप
सख्यातेति च शाशयस्तेन सम्यग् विवृत ।

अत्र ब्रूम—पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा पाणिनिना नान्वा
ख्याता, पश्चात् प्रचलितत्वात् पश्चाद्भवेन कात्यायनेन त उपसख्याता—
इति सिद्धान्त एव तावन्नोपपद्यते । तथा हि कुलटाशब्दे कुल+अग
इत्यत्र पररूप पाणिनिना नान्वाख्यातम्—वार्तिककृता शकन्श्चादिषु पररूपस्य
सख्यातम्—पर कुलटाशब्दोऽय स्वय पाणिनिना 'कुल्टाया वा' इति सूत्रे
व्यवहृत । ततश्च पाणिने पूर्वं कुलटाशब्दो न प्रचलित इति क एतदनुमत्तो वक्तु
शक्नुयात् । 'सृष्टि-गृष्टि-पनि-दयि' इत्यादीन् ङका, 'भवतेर' इत्यादौ क्तिपा च
पाणिनिर्घोत्स्निर्दिशति, 'इकूदितपो घातुनिर्देशो' इति विधान तु वार्तिक उप
लभ्यते इति कथमुक्त सिद्धात पद दध्यात् । पूर्वोक्तेन वार्तिकनैव साध्यमानो
'दशार्ण' शब्द पाणिनिकाले देशवाचको नासीदित्यपि कश्चन साहसिक एव
शक्नोति वक्तुम्, दशार्ण-देशस्य महाभारतादौ सुप्रसिद्धत्वात् । 'स्वैरी' 'स्वैरिणी'
पदयोर्वृद्धिर्न पाणिनिना नान्वाख्याता, वार्तिककृतोपसख्याता, इमे च पदे छान्दोग्यो
पनिपदि स्फुट भूयते 'न म स्तेनो जनपदे "न स्वैरी स्वैरिणी कुत' इति ।
तत्किं छान्दोग्योपनिषदपि पाणिनिपरमस्य ? एव प्रैयस्य शतपथब्राह्मणे १३।५।२।
२३ 'यश्चत् प्रचापतिमिनि प्रैय' इति भूयते, स चापि प्रादूशोदोटीत्यादिवार्तिकनैव
सिद्धयति । 'षोडश' शब्दोऽय 'षय उत्च दत्तदशघासु' इत्यादिना वार्तिककृतैः
साधित, पाणिनेस्तदर्थं प्रयत्नो न दृश्यते, पर शब्दोऽय संहितास्वपि भूयते—इति
कथमस्य पाणिने पश्चात् प्रचलितत्वं वक्तुं शक्येत ! पाणिनिना ष्योदरादिस्त्रादेवास्य
सिद्धिर्मनसि कृतेति चेत् 'द्वादश' 'अष्टादश' 'त्रयस्त्रिंशदि'शब्दा ष्योदरादित्वेन

नोपेक्षिता, षोडशशब्द एव तूपेक्षित इत्यपि वैचिन्त्यमेवापनति । यत्तु श्रीयुधिष्ठिर-
प्रभृतय आधुनिकाः 'नैकमुदाहरण योगारम्भ प्रयोजयति' इति भाष्यमनुसृत्य
एकैकप्रयोगार्थं पाणिनिना सूत्राणि न प्रणीतानीति समादधति, तदपि न विचार-
सहम् । एकैकस्योदाहरणस्य साधनार्थमपि पाणिनेर्वहुसूत्रारम्भदर्शनान् । 'नृ च'
इत्यस्यैकमेवोदाहरणम्—'नृणाम्' 'न तिसृचतस्र' इत्यत्राप्युभयोः शब्दयोरेकैकमे-
वोदाहरणम् । 'पञ्चो व' 'शायो म' इत्यादीनानेकैकान्येवोदाहरणानि । सर्वस्या-
मध्यष्टाध्यास्या सर्वतो बृहद्भूतम् 'अचतुरविचतुरे'त्यादिसूत्र तदनुग 'दाधर्मिदधर्ती'-
त्यादि मद्भासूत्र चैकैकान्येवोदाहरणानि सङ्कल्प्य सट्ठथम् । 'मित्रे चर्षी' इति
सूत्रस्य चैकमेवोदाहरणम्—विश्वामित्र । शतश सूत्राण्येकैकोदाहरणार्थं सट्ठथानि
दृश्यन्त एवम् । भाष्यकरणे तु यत्र यत्र तद्भाष्यं प्रोक्तम्—तत्र एकस्योदाहरण-
स्यार्थं सामान्यो योगो न क्रियते—इति तात्पर्यम् । यथा नामाति स्वस्थाने
आसीनि कृते पूर्वं दीर्घं नुण् न स्यादिति प्रस्युते विचारे 'ह्रस्वन्द्याप इति ह्रस्व
ग्रहण व्यर्थं सदमृतपूर्वगतिमाश्रयिष्यतीति समाधाने 'नृणाम्' इत्यादौ चारिताप्यं
मात्राङ्गं भाष्यकृता तथोक्तम्, एकरस्य 'नृणाम्' उदाहरणस्यार्थं सामान्येन
ह्रस्वग्रहणं नोचितं भवतीति तदाशयः, एवमन्यत्राप्यत्रापि । नरैकोदाहरणसाधनाय
सूत्रमेव न क्रियते—इति सदभिप्रायः सम्भवति । अत एव तथा सति 'नृन्द्याप'
इत्येव नूयादिति भाष्यकृता शेष उक्तः । एतेन स्फुमिद जातम्—यदेकरस्याप्यु
दाहरणस्य कृते सूत्रं तु भवति, सामान्यपदग्रहणं न भवतीति आस्तामप्रवृत्तम् ।

किं च केचन वैदिकप्रयोगसाधनाय 'छन्दसि' इति प्रकृत्य यानि सूत्राणि पाणिनिना
प्रणीतानि, तेष्वपि कात्यायनकृतानि बहून्नुपसंख्यानानि दृश्यन्ते वार्तिकपाठे
च भाष्ये च । तदेतद्भवता मते कथमुपपद्यताम् ! न हि वैदिका शब्दा अपि
पाणिनेः पञ्चाक्षरचरिता, यदर्थं कात्यायनस्य प्रयत्नो दृश्येत । तस्मादनवधानव-
शादेव पाणिनिना केचन प्रयोगाः परित्यक्ताः, कात्यायनेन तदर्थं वार्तिकान्या
रचितानीत्येव कल्पना सम्भूतपद्यते । यद्यप्यनल्पमतिर्भगवान् पाणिनि, यच्च तत्र
कृतम्, तादृशं न कोऽपि कर्तुं शक्तः । सर्वेदेशावाप्तस्युक्तं लौकिकसर्वप्रयोगशीलक
च कर्तुं शक्नुयाद् व्याकरणम् ! तथापि मनुष्यमुत्तममनत्रं गणं क्वचिद् भवत्येवति
तस्माधानार्थैव कात्यायनस्य प्रयत्नः । इदन्तु सत्यम्—पाणिनिकाले मापेयत्र
व्यवस्थिता नासीत्, त्रिविधा त्रिविधा प्रयोगा अस्यां मापायाः प्रचलन्ति स्म ।
अत्र येऽस्यत्त विरलाः, ते पाणिनिना परित्यक्ताः, ये तु कथञ्चिदपि प्रातप्रचाराः, ते
भिद्भलादिना उपहृताः । यथा कृधातोःत्तमपुंस्ये 'कुर्मि' इत्यपि बालमोहोपे
रामामयो दृश्यते—तेन 'कुर्मि' कुर्वं, कुर्म' इति त्रिनवमप्याशीत् प्रयुज्यमानम्,
तत्र 'कुर्मि' इत्येतदतिविरलप्रचारं भत्वा समुपेक्षितं पाणिनिना, कुर्वं, कुर्म' इति
तु उपहृतम् । एवमेव 'गदा षष्ठो'त्याद्या महाभारतादौ दृश्यमानाः, शम्नात्याद्याश्च

निष्कादिषु दृश्यमाना अतिविरलप्रचारा प्रयोगा उपेक्षिता, प्रचलितास्तु सन्ने रन्वारयाता । पर प्रचलितेष्वप्येकप्रयोगार्थं सूत्रं न निर्मितमिति न कथमपि सिद्धयति । तत्तश्च यान् विरलप्रयोगान् मत्वा पाणिनिरुपेक्षते स्म, मनुष्यसुल्भेन अनवधानेन वा विस्मरति स्म, ते कात्यायनेन उपसरयाता इत्येव युक्तमभ्युप गन्तुम् । एव च पाणिने पूर्वमपि यास्ककाले 'अपार्णम्' इति प्रचलितं भवेत्— पाणिनिना च विरलप्रयोगस्या अनवधानेन वा त्यक्तं भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव । किं च 'अपार्णम्' इति सिद्धयर्थं वार्तिककृतोऽपि न दृश्यते प्रयत्न, वार्तिककृतस्य मटेऽपि न प्रचलितोऽयं प्रयोग, यास्ककाले तु प्रचलित इति कल्पनया वार्तिक कृतपेश्यापि यास्कस्यार्वाचीनत्वमापतति, न चैतदिष्टं कस्यापि । न वा सम्भवति, वार्तिककृता सन् 'नाम च धातुत्रयाह निरुक्ते' इति अस्यैव निरुक्तस्योल्लेखात् । तस्मादकिञ्चिद्वैयमपार्णमाधारीकृत्य प्रवृत्ता कल्पना । सन्दिग्धमेव च यास्क पाणिन्यो पौर्वाश्रयम् । तत्राप्याधिक्येन यास्कस्यैव पूर्वमवत्व सम्भाव्यत इति प्रत्यपीरदाम ।

पाणिनिदेशकालौ ।

अथास्य पाणिनीयव्याकरणस्य मुल्याचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीना देशकालादिविषयेऽपि द्विद्विचार्यते । तत्र गुणाद्वरचितबृहत्कथामाधारीकृत्य विरचिते कथासहितसागरे पाणिने पाटलिपुत्रेऽध्ययनम्, मन्दबुद्धितयाऽध्ययने साफल्यमनासाद्य तपोऽर्थं गमनम्, महेश्वरादभिनव व्याकरणानां, तत कात्यायनेन सह शान्मार्थं, महेश्वरहृद्गारेणैन्द्रव्याकरणस्य नाश, तत पाणिनीयस्यैव प्रतिष्ठा—ऐन्द्रव्याकरणनाशेन मूर्खामृतस्य कात्यायनस्यापि तपसा महेश्वरप्रसादनम्, तत्प्रसादान्—पाणिनीयव्याकरणपूर्तिशक्तिराम—इत्यादि वर्णितमस्ति, यत्सर्वत्रैव प्रसिद्धम् । नन्दराजं च पाणिने प्रसिद्धाकरणमपि तत्र वर्णितम्, तेन नन्दसम कालिकस्य पाणिने सिद्धपात । पाणिनिकात्यायनयोश्च समकालिकत्वं सिद्धयति । नन्दराज्यकाले पर महती निप्रतिपत्ति, आधुनिका ऐतिहासिका, यीशुत पूर्वं चतुर्ष्यां शतान्दद्या नन्दराजं वदन्ति । पुराणेषु तु—

आरम्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।

एतद्वर्षं सइह तु द्यत पञ्चदशोत्तरम् ॥

(श्रीभागवते १२ स्कन्धे २ अ २६ श्लो० । तथैवा-यत्राणि)

इति परीक्षितो जन्मानन्तरम् १११५ वर्षेभ्योऽर्वाङ् नन्दराज्यप्रारम्भ, शत वर्षाणि च नवाना नन्दाना राक्षसिनि उभयते । तत्रापि च निप्रतिपत्ति, पुराणानुशीलिन क्ले. प्रारम्भ एव परीक्षितो महाराजस्य जन्म मन्वते क्लेक्षाद्यत्वे ५०५५ वर्षाणि व्यतीतानीति ततो १११५ वर्षाणा नि सारणे ३९४० वर्षेभ्यः

पूर्वं ॥ ईसातः पूर्वं विशतितम्या शताब्द्याम्) नन्दराज्यारम्भकालः प्रतीयते, वर्षशतकोत्तरं च (ईसातः पूर्वमूनविंशति शताब्द्याम्) नन्दराज्यसमाप्तिकालः । अथ राजतरङ्गिण्यान्तु कले. ६५३ वर्षेष्वतीतेषु कुरुपाण्डवा अभवन्निस्त्युक्तम्— 'शतेषु घटसु सार्द्धेषु व्यधिकेषु च भूतले । कलेर्गतेषु वर्षागामभवन् कुरुपाण्डवाः, (१-५०) महाभारतयुद्धादनन्तरं च परीक्षितो जन्मेति कलेरष्टम्या शतान्दश्या परीक्षितो जन्म अभ्यते । तदनन्तरं पूर्वोक्तरीत्या १११५ वर्षानन्तरं नन्दराज्यारम्भ इति कलेरेकोनविंशतितम्या शताब्द्याम् ईसातः पूर्वं द्वादश्या शताब्द्या नन्दराज्यमायाति । केचिच्च पुराणान्तरसंवादात् पूषाक्ते श्रीभागवतपद्ये 'श्रेयः पञ्चशतोत्तरम्' इति पाठं मन्वाना परीक्षितजन्मानन्तरं १५०० वर्षेभ्योऽर्वाहं नन्दराज्यप्रवृत्तिरिति राजतरङ्गिणीरीत्या ईसातः पूर्वं सप्तम्यष्टमी वा शताब्दी नन्दराज्यकाल इति साधयन्ति । सेय विप्रतिपत्तिरद्याप्यैतिहासिकाना मङ्गलीलाप्राङ्गणभूतेवेति नात्र हलन्काये निम्न्ये धय तत्र पतितुमिच्छाम । पुराणभूमिकायां विषयमिमं भिवेचयिष्याम', एतावदेव तु ऋतव्यमनास्माकम्—यत् कथासरित्सागररीत्या नन्दराज्ये पाणिने समयं सिद्धयति । त्रिमुनिकल्पतदप्रभृतिष्यपि तदेवा-नूयते । आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पे बौद्धग्रन्थेऽपि पाणिनिना माणवेन सह महापद्म-नन्दस्य सौहार्दं समुक्तेयुक्तम् । तेनापि नन्दसमकालिकस्य पाटलिपुत्रनिवासश्च पाणिने सिद्धयति । परं कथासरित्सागरमद्यतना ऐतिहासिका न प्रमाणयन्ति, विनोदमात्रार्था कथास्तत्र सृष्टीता इत्येव ते मन्यन्ते । बौद्धग्रन्थे च योऽयं पाणिनिर्नाम माणव उक्त, सोऽयमेव व्याकरणरचयिता पाणिनिरन्यो वा ! इति न तत्. सिद्धयति । माणव इति विशेषणं च विपरीतमिव । न हीदृश आचार्य-केनापि माणवपदेन विशेष्येत, तस्मात् स्वातन्त्र्येणैवात्र विचारधारा पाणिनिदेश-कालविषये प्रवर्तनीयाः ।

तत्र त्रिकाण्डशेषे कोपे पाणिनिनामसु 'शालातुरीय' इति पठनात्, गण-रश्ममशोदधौ च जैनलेखकेन वर्द्धमानेन 'शालातुरो ग्राम, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्यत्रभवान् पाणिनिरिति' तद्विवरणात् शालातुरो ग्रामोऽस्य भगवत् पाणिनेर्जन्मस्थानमित्युररीक्रियते । काशिकाव्याख्याया न्यातग्रन्थेऽपि च ५।१।१ सूत्रपाख्यायाम् 'अतः शालातुरीयेण प्राक् टञश्च इति नोक्तम्'—इत्युक्तम् । तेनापि शालातुरीयस्य पाणिनेः सिद्धयति । गुप्तशिलालेखेषु बङ्ग्यां प्रातः एकस्मिन् शिलालेखे (३१० सन्तरिखिते) पाणिनीयशास्त्रकृते 'शालातुरीयतन्मम्' इति प्राप्यत इत्यपि श्रीवासुदेवशरणमशोदयेनोक्तम् । २५ आन् तु आर् नामकं श्रीनदेशीयं परिभ्रमणशौल ईशुखिस्तस्य उत्तम्यां शताब्द्यामिहायातः स्वयं शाला-तुरग्रामे गतः, तेन स्पष्टमेव तत्रस्थाना जनानां किंवदन्तीमाकर्ष्य शालातुरग्रामः पाणिनेर्जन्मस्थानमिति लिखितम् ।

तदित्यनेके प्रमाणैर्निश्चित पाणिनेर्जन्मस्थानं शालातुरग्राम इत्येवैतिहासिका मयन्ते । अस्य च ग्रामस्य स्थाननिर्देशोऽपि चीनदेशीयेनोक्तेन परिभ्रमण शीलेन कृत, यद्य शालातुरग्रामो गान्धारदेशे उद्भाण्ड इति प्रसिद्धात् स्थानात् प्रायेण क्रोशद्वयान्तरे लङ्ग्रामसमापेऽस्तीति । गान्धारदेश इदानीं कन्धार इत्युच्यते—इति वृत्तां विधात । उद्भाण्डपुर चेदानीम्—ओहिन्दनाम्ना कुभाया (कबुलनद्य) विधात सङ्गमस्य नेऽस्ति, तत्रैव पश्चिमोत्तरेया दिशि लङ्गुर नामको ग्रामोऽपि नास्ति एव दूरे प्रसिद्ध इदानीमपि । तस्मिन् प एनासीत् शालातुर ग्राम इति निर्णयप्राप्तम् । तस्मिन्श्च काले गान्धारदेशोत्पन्न कथनं बाल शिक्षार्थं पाण्डिपुत्रं गच्छति न सम्भाषते, तस्मात् तत्रैव प्राप्ते स्थिते तद्विद्यार्थि व विद्यालये पाणिने शिष्या बभूव्याधुनेका अनुमिन्वते ।

पञ्चनददेशे ये शब्दा द्विद्विद्वेषम्येणापि प्रवृत्ता, तेषामप्यन्तःस्थानं पाणि नीये दृश्यते, यथा 'उदकं च विपाश' ४.२।७४ इति सूत्रेण विपाशो नद्या उत्तररूप्ते स्थितानां कुराना वाचकेषु शब्देषु अन्तःस्थानो विधीयते, विपाशो दक्षिणभागे स्थितानां तु वाचकेषु अण् प्रत्यय । अग्नोश्च केवळं एव भेद—सोऽय मूत्रोऽपि मद्दस्तेनान्त्राख्यत इति पञ्चनदेषु परिभ्रमणं पाणिने स्वष्टं निदृश्यते । पाण्डिपुत्रे वर्षाचार्यसमीपेऽध्ययनं तु कालान्तरमेवाद्यत्वं मन्वते पाणिनेना ग्रन्थो विरच्य महाराजसन्निधौ प्रेषित, तेन च पाणिनेर्नैव सम्मानित, अन्यस्य प्रचा रश्च पारितापिःप्रदानादिना कृत इति चीनरिवाचकानामि लिखितम् ।

राजेश्वरणा कावमीमासाया चोक्तम्—'श्रूयते च पाण्डिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा, अयोपवर्षवर्षोविद् पाणिनिर्द्विग्ल्याविद् व्याडि । वररुचिरतडनली इह परी ष्तिना खपालिमुपजग्मु र्त्थादि । तेन अ वरचनेत्तर पाणिने पाण्डिपुत्रे गमन सम्भाषते, तत्रैव तद्ग्रन्थस्य परीक्षा सम्पन्ना भवेत् । तत एव 'उद्दालकपुष्प मञ्जिका' इत्यादि प्राच्यदशप्रसिद्धकीर्तिनाचका शब्दा अपि पाणिनिनाम्ना खराता दृश्यन्ते । एतन्निधानां शब्दानां तत्तद्देशपरिभ्रमणान्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

वैदग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलरूप समुद्धृतानां पाणिनिरयमाचार्य एव चेत्, तदपि सम्भवति । पाण्डिपुत्र परीक्षणान्तरं तत्रत्येन महाराजनास्य सत्यं सम्पन्न मयदिति । एतस्य पाणिनिनामि च 'वृद्धीशालातुरवर्म' (४।३।९४) इति 'मन्वदुत्तमशालादिभ्योऽग्नौ' (४।३।९३) इति च प्रदद्यादिति स्मृतौ । तदेव देशनिर्णये प्रायेणैकमस्यमवैतिहासिज्ञानम् ।

अथास्य कालनिर्णये तु महती विप्रतिरक्तिः । यीजुनव सराध्याक् चतुर्णां पञ्चम्या वा शताब्द्या पाणिने प्रादुर्भाव इत्यधुनि का ऐतिहासिका मन्वते । तत्र चैता युक्तीवन्त्यस्यन्ति—

१ भगवतो बुद्धादयमर्वाचीन, 'कुमार भ्रमणादिभि' इति सूत्रप्रणयनात् । भ्रमणशब्दो हि बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रसिद्धः । तथापि च भ्रमणादिगणे भ्रमणाशब्द-
स्त्रीलिङ्गः पठ्यते । स्त्रीणां सन्यासप्रवृत्तयामपि बौद्धैरेव परिनालितम् । बुद्धभाष्य
भागान् यीशुत प्राक् सप्तम्या शताब्द्यां जात इति तन्मतप्रचारादर्वाचीनोऽयं
पञ्चम्या चतुर्थ्यां वा शताब्द्यां भवेत् ।

२ 'पञ्चदशतौ वर्गो वा' (५।१।६०) इत्यस्मिन् तद्विते पाणिनीय सूत्रम् ।
तेन पञ्चानां वर्गं पञ्चत्, दशानां वर्गं दशत् इति सिद्धयति । विकल्पे च
पञ्चक, दशक इत्यपि भवति, अयं च पञ्चानां दशानां च वर्गं प्रचारार्थं
बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रचलित इति बौद्धानां महावगमग्रन्थे स्पष्टमुल्लेखः, पञ्चत्
दशदिति शब्दावपि तत्र निर्दिष्टौ । तेषां साधनार्थैव पाणिनेः प्रयत्न इति सुतरां
बुद्धादर्वाचीनत्वमस्य सिद्धयति ।

३ पाटलिपुत्रनगरनिर्माणं बुद्धदेवस्य जीवितावस्थायामेवार्थमिति बौद्धग्रन्थेष्वप्य-
प्रतीयते । तस्य नगरस्वप्नाति, तत्र राजधानीप्रतिष्ठापनम्, तदुत्तरं पाणिनि
जातः । तत एव तद्विचित्रस्य ग्रन्थस्य नन्दराजधान्यां पाटलिपुत्रे परीक्ष्यं
सम्भवति, इति बुद्धदेवाद् द्वित्रशतान्दीपरत्वमेवास्य सम्भाव्यते । तस्मात् पञ्चमी
चतुर्थी वा शताब्दी सुयुक्तोऽस्य कालः ।

४ नन्दराज्ये पाणिनीयव्याकरणस्य या परोक्षा उक्ता, बौद्धग्रन्थे च यत्
पाणिनेर्नन्दराज्येन सख्यमुनर्वर्णितम्, तदप्येवमुपपद्यते । नन्दराजस्य चतुर्थ्यां
पञ्चम्या वा ईशात् प्राक् शताब्द्यामेवेतिहासिकैरवधारणात् ।

५ कथमभूत्तय आङ्गशस्त्रे वदति, यद् 'इन्द्रवहणमन्दावंशद्रमृडिमारण्यय-
वयवनमातुलाचार्यागामानुक्' इति सूत्रे यवनशब्दपातो दृश्यते । इह यवनशब्देन
माहम्मदा परिचेतुं शक्यन्ते, यतो ह्यनन्तप्रवर्तकस्य श्रीमहम्मदमशभागस्य
जातस्य चतुर्दशेवेयं शताब्दी । पाणिनिस्तु ततो बहुपूर्वज इति । तस्माद्
यूनानदेशवास्तव्या एवेह यवनशब्देनोपात्ता इति स्फुटमेव । यूनानदेशीयानां
परिचयश्च 'प्रेट अलैगण्डर' सिक्न्दरस्य भारताक्रमकालादेव भारतीयैः प्राप्त
इति सिक्न्दरकमशादेवार्थमेव ईशात् पूर्वं चतुर्थी शताब्द्येव पाणिनेः कालो भवितु
मर्हति, न ततः प्रागिति ।

ता एता अर्वाचीनत्ववादिना युक्त्यः । प्राचीनत्ववादिनस्तु नैता एता
मन्यन्ते । एवमुत्तरयन्ति च—

(१) भ्रमणशब्दोऽयं बौद्धोपज्ञम्—शतपथब्राह्मणे १४ काण्डे ७ अध्याये
१ ब्राह्मणे २२ कण्डिकायामपि स्पष्टं भ्रममाणत्वम्, तत्र हि सुप्रुप्यवस्थानि
रूपमसङ्गे सर्वोपाधिविनिवृत्तिप्रतिपादने (अत्र विता अधिता भवति, माता

अमाता, लोका अलोका, देवा अदेवा --- --- * * * भमणो अभमण तापसो
अतापस) इत्यादि भूयते । इह परिभाषकाभिप्रायेणैव भमणशब्द प्रयुक्त इति
स्फुट शाङ्करभाष्यादिषु । सन्यासश्च याज्ञश्लक्परस्य तदुपदेशान्मैत्रेय्याभाषापीदैव
काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषत्सु) भुत इति भमणापदेन वा न बुद्धदेवादवाचीनत्व
शक्य कल्पयितुम् । किं बौद्धमतमपीद न शाक्यसिंहादेव प्रवृत्तम्—अपि तु
यहुप्राचीनम् । 'कथमसत एवजायेत' इत्यादिना उपनिषत्स्वेव बौद्धमतानुवाद-
निकारणयोर्दर्शनात् । कालमीकीयरामायणादावपि स्वयं रामेण बौद्धमतस्योल्लेख-
करणात् । बौद्धग्रन्थेष्वपि शाक्यसिंहोऽयमन्तिमो बुद्ध स्मर्यते, तत पूर्वं
प्रादुरभून् पृथ्वी बुद्धा इति स्फुटमेव । ततश्च बौद्धमतप्रचारादर्वाचीनत्वे
पाणिने सिद्धेऽपि न शाक्यसिंहादर्वाचीनत्व कथमपि सिद्धयति । वस्तुतस्तु
ब्राह्मणशब्द भमणशब्दश्चेति द्वावपि शब्दौ विशानमूलकावतिप्राचीनौ ।
ब्रह्मशब्दो हि 'ज्ञान' पर्याय, भमणशब्दश्च क्रियापर्याय । तत्र ब्रह्मैवेद सर्वमिति
य आतिष्ठते, ते ब्रह्मैकाद्वयवादिनो ब्राह्मणा, क्रियैव (भम एव) सर्वमिदम्,
नातोऽन्यद् ब्रह्मास्तीति येऽभ्युपगच्छन्ति, ते भमैकाद्वयवादिन भमणा ।
ज्ञानैकाद्वयवाद भमैकाद्वयवादभानादे कालात् प्रवृत्त इति भमणशब्दापारेण
कालनिर्णयोऽय वैदेकरिभाषानभिधानामेव शोभते, न तु विवेचनानाम् ।

(२) पञ्चदशदादिशब्दा पञ्चानां दशानां च वर्गे शाक्यसिंहारपूर्वमपि
प्रवृत्ता स्युः, पूर्वमर्शा प्रक्रियामेवानुसृत्याधुनिकैरिन्द्रेस्तथा वर्गा विरचिता
स्युरित्यपि बहुलं सम्भाष्यते । बहुत्र बौद्धे प्राक्तनी प्रक्रियानुसृता स्फुट प्रतीयते ।
तस्मान्नेदमपि दृढ प्रमाणम् । यथा च नन्दराजशादीनां काले विप्रतिपत्ति,
तथा भगवत शाक्यसिंहापरपर्यायस्य बुद्धदेवस्य कालेऽपि पौराणिकानां विप्रति
पत्तिरस्येवेति शाक्यसिंहापरमक्षत्रेऽपि पाणिनेरविप्रतिपन्न कालो न सिद्धयत्येव ।
भोद्वेषसहायत्रिवेदिप्रभृतय इतिहासविक्षणा सर्शमपि आधुनिकानां युक्तिभि
रपण्डयन्ति, सहस्राधिरुवर्षप्राचीनतां च तदभ्युपगतकालापेक्षया तत्तेषां साधयन्तीति
कोऽय यूरोपानुगामिष्वेददृढतरो विश्वास ।

(३) यदा कथासरित्सागर इतिहासविषये न प्रमाण मन्यते, बौद्धग्रन्थोक्तश्च
पाणिनिर्माणश्च पाणिनेराचार्याद् भिन्न एवाभ्युपगम्यते, तदा पाटलिपुत्रपरिचयोऽपि
पाणिनेर्न सिद्धयत्येवेति पाटलिपुत्रनिर्माणकालेन तत्कालावधारणमपि न दृढम् ।
नन्दराज इव पाटलिपुत्रनिर्माणेऽपि पौराणिकदृशा महती कालविप्रतिपत्तिरस्येवेति
ततोऽपि न कालनिर्णयं मुशक ।

(४) नन्दराज्ये पाणिनिग्रन्थपरीक्षेति राजशेयरादीनां क्विदन्तीमाश्रो
रुनेत । नन्दराज्यकालोऽपि च महासन्देहास्पदमितीयमपि युक्ति सिधिल्ल्याया ।

(५) यवनपरिचय आर्याणां सिद्धन्तराक्रमणानन्तरमेवेति तु महदुपहासा-
स्पदम् । श्रीकृष्णकालेऽपि काल्यवनवृत्तमधुराक्रमणस्मरणात्, महाभारतयुद्धेऽपि
च यवनादितैः निवृत्तनात्, तस्मादतिचिरन्तनोऽयं यवनपरिचयो भारतीयानाम् ।

एवमर्वाचीनस्वप्रतिपादिका युक्तय शिथिला एव प्रतीयन्ते ।

इदानीन्तनेषु विवेचकेषु श्रीसरदनरथामश्रमिमहाभाग श्रीयुधिष्ठिरमीमांसक
श्रानिप्राचीनतावादी । एतौ हि 'श्रृण्वन्थकवृष्णिक्कुबन्ध', 'वासुदेवार्जुनाभ्या
बुन्' 'गवियुधिम्ना स्थिर' 'राजे लक्ष्' (जननेजय) इत्यादिश्लेषु महाभारत-
निर्दिष्टानां व्यक्तीनां च नामोल्लेखात् तथोद्भूतव्यक्तिनामसाधनप्रयत्नाच्च महा-
भारतयुद्धपरमस्वन्तु पाणिनेर्मन्येते, परं किञ्चिपरभवत्नेव साधयत । तत्रापि
शामश्रमिमहाशय —

शतेषु पशुमु सादेषु ऽधिकेषु च भूतल ।

कृत्तैर्गतेषु वशोशामभवन् कुष्पाण्डवा । (१-५०)

इति राक्षसवृत्तिगीवचनमप्रतिहत प्रमाण मन्वान क्लेशस्या शताब्द्याम्—
यीशुस्तिशात् प्राक् चतुर्विंशत्यां च शताब्द्या पाणिने प्राटुर्नीचमभिमन्यते ।
श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकस्तु राक्षसवृत्तिगीवचनस्य पुराणादौ क्वाप्स्यन्तुमोदितत्वा
त्रिभूल्लवमेव तस्य मन्वान क्ले प्रारम्भ एव महाभारतयुद्धमभिमन्यमान
क्लेस्तृतीयरथा शताब्द्याम्, यीशुस्तिशाच्च पूर्वमूर्तिशरा शताब्द्या पाणिनेप्राटु
र्मात्रं मन्यते । सोऽयमवान्तरोऽनयोभेदः । प्राचीनस्यसाधने युक्तयोऽपि चानयो
विभिन्नप्रायः । तत्र सामश्रमिमहाशयस्यैता युक्तय, यत्रापिनिरव प्रयतो
व्याकरणप्रणेता, तेन यत्र यत्रापि व्याकरणनाम स्मर्यते, तस्य सर्वेषो ग्रन्थेषुऽ
य प्राचीन, निरुक्तकृतो यास्काद्, अन्येभ्यश्च वेदाङ्गग्रन्थनिर्मातृभ्य प्राचीनोऽ
यम्—तस्मादत्यवरद्वन्द्वस्य नैव सम्भवति । प्रधानमृता चेय तस्य युक्ति—यद्
ध्यासपुत्रस्य पुत्रस्य वैयासद्विरिति नाम श्रीभागवतादौ पठ्यते, न च वैयासद्विशब्द
पाणिनीये सूत्रे सिद्धपति, वार्तिककृता तु 'सुधातुरकृत् च' (५।१।१७) इति
पाणिनीये सूत्रे 'व्यासद्वयनिपादचुग्दालविश्वाना चेति वक्तव्यम्' इत्यपसंख्येय,
वैयासद्विशब्द साधित । तेन स्फुटमिदं प्रतीयते—यद्वासासपुत्रस्य शुक्रस्य याज्ञ
प्रसिद्धिरभवत्, वैयासकृत् च न प्रचारल्लोके, तावदेव समुपेत पाणिनि, तत्र
एव तेन वैयासद्विशब्दसाधनाय न कृत प्रयत्नः । वार्तिककृतराज्ञे तु प्रचक्षितं स
शब्द इति तेन प्रयत्नः कृतः । तदित्य व्यासात् किञ्चित्परमस्वन्तु पाणिने—
सुप्रसिद्धमतीति ।

ता एता सामश्रमिमहाशयस्य युक्तयोऽपि शिथिलप्राया एव । यतो हि
पाणिने पूर्वमपि बहूनि व्याकरणान्यासन्निति दृढाभिर्युक्तिभिः प्रतिपादितं पुरस्ताद-

स्वामि । यास्कात्पूर्वमत्रत्वमपि खण्डितं प्राक् । किं च पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा वार्तिककृता अन्वाख्याता इत्यपि पूर्वमेव दृढतरं निराकृतम् । एवमभ्युपगमे तु महतीं विशुद्ध्यां स्यात्, अश्वत्थामत्रश्वत्थामशब्दयोः साधना यमपि न दृश्यते पाणिनेः प्रयत्नः, वार्तिककृतैव तु 'स्याम्नोऽकार' 'भवार्थे तु लुग् वाच्य' इति शब्दौ तावन्वाख्यातौ । ततश्च महाभारतशुद्धे मुप्रतिष्ठिताद्वीरादश्वत्थामतोऽपि पूर्वमवयवः पाणिनेरभ्युपगन्तव्यः स्यादिति भवदभ्युपगतं महाभारत-युद्धादर्वाचीनत्वमपि न सिद्धयेत् । 'गवियुधिभ्यां स्थिर' इत्यादिसूत्रनिर्माणं च निरालम्बनं भवेत् । पृथोदरादित्वाकल्पना तु मयत्रापि समाना । किं च 'बाह्य' 'देव' 'देव्यादिशब्दा अपि 'देवाद्यजस्रौ' 'बहिषष्टिलोपो यञ्ज' इत्यादिभिर्वार्तिकैरेव सिद्धयन्ति, अतिप्राचीना, श्रुतियुक्तं भूयमाणा अपि । तस्माद्याकं प्रसिद्धा अपि बहवः शब्दा अनवधानेन अल्पप्रसिद्ध्या पृथोदरादित्वाभिमानेन वा पाणिनिना त्वन्वा, वार्तिककृता त्वन्वाख्याता इत्येवानुमानं सम्यग् भवत् । ततश्च वैयासक्यपदाधारेण क्रियमाणा कल्पना अतिशिथिला ।

अथ युधिष्ठिरमीमांसकमहाशयस्तु यास्कशौनकपिङ्गलव्याडिप्रभृतीनां पाणिनि-समकालिकत्वमहत्कारणमभ्या प्रतिपादयन्, अस्य प्रातिशाख्यकृतं शौनकस्य नैमिषादौ सत्तात् पुराणानां भूतुश्च शौनकस्यैक्यमभ्युपगच्छन्, तस्य जनमेजय-कालिकत्वं च प्रसाधयन् वर्षशतत्रयपरिमितमायुश्च तस्याभिमान्वा, शौनकस्य कालिकत्वादेव पाणिनिमप्येतावत्प्राचीनं साधयति । ता एता अस्यापि महाशयस्य युक्तं धर्मात्प्राकारा नैतिहासिकानां प्रमाणरत्नत्राणां पुरं स्यात्सुखहेरन् । यतो ह्यनेके शौनकाः शौनकप्रणीतेभ्य एव ग्रन्थेभ्यः सिद्धयन्तीति प्रातिशाख्य-प्रकरणे प्रागस्वामि मुप्रतिपादितम् । किमन्यत्—शौनकप्रणीतायामेव बृह-देवतायाम्—

'काशीवनं सर्वमिति भगवानाह शौनक' (बृ. दे. ३।१५२) इति शौनकस्य भगवानिति विशेषणं सामभूमिमहाशयेन निरुक्तलोचने प्रदर्शितम् । न हि स्वयैव विशेषणं भगवानिति कश्चिदनुमत्तो वदेत् । मन्त्रद्रष्टाऽप्यस्ति शौनकः, मन्त्रद्रष्टापि, वेदाङ्गप्रातिशाख्यकृतपि, यास्कादर्वाचीनो बृहदेवताप्रणेतापि । नैषा सर्वेषामैक्यं कश्चिदपि प्रतिष्ठितशेमुद्योक्तं समावधेत् । तस्माद्यदा बहवः शौनका अभ्युपगन्तव्या एव, शौनक इति गोत्रनाम अनेकासु अतिविभिन्नकालासु व्यक्तियुः प्रतिष्ठितम्, तदा पुराणानां भूतुः प्रातिशाख्यकर्तृत्वं च शौनकस्यैक्यप्रकल्प-नमपि कल्पनामात्रमेव भवेत् । टीकाकृतो विष्णुमित्रस्य—

शौनको एहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः ।

दीक्षासु चोदितं प्राह सने तु द्वादशाहिके ।

इति शास्त्रावतारोक्तिरपि चैतिहासिकान्धकारकालप्रस्ता किंवदन्तीमूलिकैव न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे । अर्षद्यतत्रयायु प्रकल्पनमपि च कल्पियुगप्रारम्भे सर्वप्रामाणिकग्रन्थविरुद्धमिति कल्पनाच्चातुरीमेव ख्यापयन्नेतिहासिकं तथ्यम् । यास्कादीनां समानकालिकत्वमपि न प्रमाणै सिद्धयतीति प्रागेव प्रत्यपीपदाम । 'पाणिनिर्दाक्षीपुत्र इति भगवता भाष्यकारेणाख्यात , व्याडिरपि दाक्षायण इत्युक्त , तस्माद् व्याडिरय पाणिनेर्मातुल' इत्यादिकल्पना अपि दाक्षायणसंबन्ध स्मारयन्तो विनोदायैव प्रभवन्ति न तत्त्वान्वेषणनिश्चर्षाय । गोत्रनाम्नामतिविभिन्नकालेष्वप्यैक्यदर्शनात् , तदाधारेण कालकल्पनायां कथमपि दृढतासम्भवात् । तथैव वायुपुराणादौ पाणिनिगोत्रधरणमपि नास्य आक्षरणाचार्यस्य पाणिने कालनिर्णयाय समुपयुक्तं भवेत् , गोत्राणामतिविभिन्नकालेष्वनुवृत्तिदर्शनात् । आक्षरणाप्रयोक्ता पाणिनिरिति यदि पुराणेषु कल्पयुक्तं स्यात् , तर्हि निश्चेतुं शक्यं स्यात्तदीय काल । तादृश तु किमपि मीमांसकमहाशयेन—नोद्भूतमिति सन्देहात्परमेष्वापि पाणिनिसमय ।

ममत्विद् प्रतिभाति—यत्पाणिने कात्यायनस्य च समये चतुष्पञ्चशताब्दी-परिमितेनान्तरालेनावस्य भाव्यम् , तथैव कात्यायनस्य पतञ्जलश्चापि समये तावदन्तरालम्बश्यमपेक्ष्यते । तत्र सन्ति हेतव —

१—पाणिनिना 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इति सूत्रे ब्राह्मणानामपि पुराण प्रोक्तत्वं विशेषणदत्ता याज्ञवल्क्यदृष्टस्य शतपथब्राह्मणस्य नवीनत्वं व्यञ्जितमिव । अन्यथा विशेषणदानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कात्यायनेन तु तत्र 'याज्ञवल्क्यादिभ्य प्रति पेश , तुल्यकाञ्चवात्' इति शतपथस्थापि समानकालिकत्वमेव ब्रूयता नवीनत्वं नोर-रीकृतम् । ततश्च स्पष्टमिदं विज्ञायते—यत् पाणिने समयं याज्ञवल्क्याज्जात्यन्तमर्षात्तनम् । तस्मिन् काले याज्ञवल्क्यस्य नवीनत्वप्रसिद्धिरासीदिति । कात्यायनकाले तु सा नवीनत्वप्रसिद्धिस्तितरोहिता , याज्ञवल्क्यस्यापि अन्यब्राह्मणप्रवक्तृणामिव प्राक्तनत्वमेव प्रसिद्धं जातम् । नैतावद् वैपम्यमन्तत चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेन विना सिद्धयतीति प्रथमो हेतुः । यस्तु सुधित्तिरमीमांसकमहोदयेन समानकालिकत्व कथनात् कात्यायनस्य याज्ञवल्क्यसम्बन्धित्वं तत्कुलज्ञत्वं वानुमिनम् , तदेतदुपहासास्पदमिव । न हि कस्यनित्कुलजं सम्बन्धी वा नवीनं प्राचीनं ख्यापयितुं सततो मवेद्यथार्थवादी । एतद्विधानुमानेन तु कात्यायनस्यानाप्तत्वं ध्वन्येतेति । तस्मात् कात्यायनकाले याज्ञवल्क्यस्यापि पुराणत्वप्रसिद्धिरेव जाता—इत्येव दहन्यं स्यात् । अतश्च व्यवधानाधिक्यमवश्यमुरीकर्तव्यम् ।

२—पाणिनि संहृतमाषां भाषापदेनैव चरन्हरति । तेन तस्य काले संहृत भाषैव भाष्यमाणासीत् , भाषा-तरप्रवृत्ति' न बभूव , अल्पोपवी वा बभूव इति स्फुटमनुनीयते । कात्यायनस्तु 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम'

इति वदन् भाष्यकाररीत्या 'समानायामर्थाङ्गत्वात् शब्दैश्चापशब्दैश्च शब्देण धर्म नियम क्रियते' अर्थात् साधुशब्दैरेव व्यवहारे धर्मो भवति, नासाधुशब्दैर्व्यवहारे इति सङ्गतभाषाया धर्मजनकत्वमात्रेण उक्तं बोधयति । तेन तस्य काले अप भ्रष्टशब्दधरिताया भाषाया बाहुल्येन प्रवृत्तिरासीदिति स्फुगीभवति । अथ भाष्यकारस्तु 'सन्त्येकैकस्य शब्दस्य बह्वेऽपभ्रष्टा', यथा गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोशोतल्लिङ्गस्यादयः' इति वदन् धर्मनियमज्ञानि 'याज्ञे कर्मणि स नियम अन्यत्रानियमः' इति यज्ञकर्ममात्रे एवस्थापयन् स्वकाले व्यवहारार्थमपभ्रष्टभाषाणामेव प्रयोगमभिव्यञ्जयति । नैतत्सर्वमल्पेन समयेन सम्भवति—इति प्रयाणामेषा सुमहता कालव्यवधानेन अदृश्यमाव्यम् ।

३—पाणिनिर्गोशब्ददेशवादीनि ऐनिहासिज्ञानामैकमत्य प्राक् प्रादशंयाम । कात्यायनस्तञ्जली तु प्राग्देशवादिनौ । तेन पाणिनिकाले गान्धारप्रदेश, तत्सन्ध्या पञ्चनदप्रदेशो वा विद्याकेन्द्रमासीदिति प्रतीयते । विद्याकेन्द्रे एव एतादृशानां अथानामुद्भवः सम्भवतीति । कात्यायनपतञ्जलिकाले तु प्राग्देश एव विद्याकेन्द्रतामापेति प्रसङ्गमेव । इयं ध्यनानि नालकालसाध्या ।

४—पाणिनिसूत्राणामुत्तरे अनेकानि वार्तिकानि प्रागपि विरचितान्यास्तन्, तदनन्तर कात्यायनेन स्वीयो वार्तिकपाठो विरचितः । तथैव वार्तिकस्यापि माध्यान्तर प्रथमममूत् तदनु पातञ्जल भाष्यम्, इति युधिष्ठिरमीमांसकमहोदया साधयन्ति । एतत्सर्वं यदि दृढ निश्चितं स्यात्, तर्हि इदमपि कालव्यवधानबाहुल्याय पर्याप्तं भवति प्रमाणम् । अत्र प्रातिशाख्यानि इयन्ति प्रादेण पाणिनि कात्यायनयोरन्तरात् एव विरचितानीत्यस्मानि साधितपूर्वम्, ततोऽपि कालव्यवधानाधिक्यमेव शक्यमनुमातुम् ।

८ इत्यं भाष्यकार पतञ्जलेरीगुक्तिः पूर्वं द्वितीयस्या शतान्या जात, कात्यायनस्तृतीयस्या चतुर्थ्यां वा पाणिनिश्च चतुर्थ्यां पञ्चम्या वा इत्याधुनिका नामैनेहासिकाना विनिर्गमो न सम्यग् बुद्धावुसारोऽहति । कस्तचिदपि अन्यस्य एव विस्तृतव्याख्यानपश्चात् नालसोयसा कालेन शताब्दीमात्रेण सम्भवतीति विचार्ये स्पृश्ये । अस्मादस्मात् मते भाष्यकार पतञ्जलिर्येदं इयुत प्राक्तन्यां द्वितीयस्या शतान्या जात, तर्हि कात्यायन प्राक्तन्यां सप्तम्या शतान्यान्, पाणिनिश्चान्तत प्राक्तन्यां द्वादश्या शतान्या जातो भवेदिति सम्भावनाम् । यदि नन्दराजकाले अस्तनपुरातन लेखनरीत्या इतस्तदृशाब्दीत्रितयप्राक्तन, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सन्त्ये प्रोक्तनैर्प्रकारैरुक्तिश्चिन्तयथा अिद्यति । यदि तु अर्वाचीनैति हासिकदृष्ट्या नन्दराजनीगुक्तिः प्राक् चतुर्थ्यां शतान्यामवति सत्यम्, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्प्रसक्त्या केवल कालनिश्चये, पाणिनेस्तथावाचीनत्वा

सम्भवान् । आस्थाक्षाम, इदमित्यभावेन कालनिर्णय कस्यापि सुदुष्कर, यैरपि क्रियते, तैरपि साहसमात्रमेवानुष्ठायते, कालमेतावदेव वक्तुं शक्यम्, यद्यपि निर्मगयान् भाष्यकारादन्ततः, सहस्राब्दीपूर्वमवोऽनस्य स्वीकार्य इति ।

अथ कात्यायनदेशकालौ ।

अथ कात्यायनस्य देशकालनिर्णये तु न स्फुटं किमपि विज्ञायते । ऐतिहासिकैरपि एतद्विषये स्फुटं निश्चेत्तु न पारितम् । कात्यायन, वररुचि इत्यादीनि नामान्यपि बहुतरदेशकालव्यवहितानामनेकासा यक्षीनां सम्भाव्यन्ते—इति सोऽयं देशकालनिर्णयमहानन्तराय । कात्यायनो हि सुकृत्युतु श्रौतसूत्रकार २५, सोऽतिप्राचीनसम्भाव्यते । प्रातिशाक्नः इतोऽपि कश्चित् कात्यायन, पाणिने सूत्रार्थिककारोऽपि च कात्यायन, स्वर्गादेहगङ्गाभ्रनिर्मातापि च कात्यायन उच्यते । तदन कस्य कस्यैक्य को वा मित इति जल्पोऽप्य प्रदन । तथैव वररुचिरपि एक षोडशेन स्वीयेऽयंशास्त्रे राजनीतेराचार्यस्त्वन स्मृत । एकश्च किङ्करस्य समाया नजमु रत्नेष्वपि समयते, वाररुच काव्य चापि तत्र तयोस्तेऽप्यने—इति त्वाथैक्य भिन्नत वा सुदुर्दं वक्तुं सुदुष्करम् । अनैतावदेव शक्यतं वक्तुम्—परत्यासक्तिसागरे पाणिनिश्चात्यायनयो समकालिकत्वं परस्पर निरेपेप ध्यात्रार्थादिकञ्च यत्पनिवध्यते, तत्तु प्रायेण कालानिकनेव प्रतीयते । उक्तरीत्या पाणिनिकारयायनयोर्बहुकालप्रधानमेवानुनीयते । यच्च कथासरित्सागरे कौशाम्बीनिवासित्वं कात्यायनस्योक्तम्, कौशाम्बी च प्रयागसन्नाहितामेव सम्भावयन्त्यैतहासितं, तदेतदपि अनुगमननिर्णय । भाष्यकारो हि 'प्रियतल्लिख दार्णियात्वा, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तये यथा लौकिकैरेदि केष्विति प्रसुञ्जते' इत्यादिना दार्णियात्वेन दार्णिककारमुपहसति । तेनानेन हटेन प्रमाणेन कात्यायनस्य दार्णियात्वरत्वं स्फुगीभवति । ततश्च प्रयागप्रान्तवासित्वं न तस्य सम्भवति । यदि तु कौशाम्बी दक्षिणप्रान्त एव कश्चित् भवेत्तर्हि सम्भवति कौशाम्बीवासित्वम् । भाष्यकारसमये कुत आरभ्य दार्णदेशो गतते स्म, इत्यपि निश्चेत्तु दुःशक्यमेव । तत्प्रातिशाक्ननिश्चयोऽप्य कारयायनस्य न पूर्णतया निषातुं शक्य । दार्णियात्वं च व्याधीदित्येवानन्नाय भाष्यराज्ञा निश्चितं प्रतीयते ।

अप्यस्य कालनिर्णये योऽनुचितत पूर्वं चतुर्थो गताव्दी तस्य काल इति केचित्वाश्चात्यैरैतिहासिकैर्निर्णीतम् । इदं प्रमाणत्वं तु न किमप्युपलभ्यते, केचित्तु 'पाण्डोर्द्वयं' इति चार्तिककृत्वात् पाण्डुराज्यपरिचय करयायनस्योक्तम्, पाणिनेस्तु तदर्थं प्रयागात्पाण्डुराज्यपरिचयस्तस्य नासीदिति सम्भाव्यन्ते । परं सर्वमतद्वेददानुमानमानम् । पाणिने परतया एव श-श कात्यायनेनोपलभ्यता इति मूलमूत सिद्धान्त एव सररिक्करममानि खण्डित । पाण्डुराज्यस्य श्यायनकालोऽपि चाद्यावधि सम्यक् न निश्चितः । तस्मान् कालस्य सम्यक् निश्चयो नास्ति ।

अस्मन्मते कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे ये राजनीतिराचार्या परिगणिता, तेषूक्तो वरुचिरयमेव स्यादिति विशेषेण सम्भाव्यते । पाणिनिप्रकृतोक्तरीत्या अस्य कात्यायनापरपर्यायस्य वरुचे कौटिल्यपूर्वभवत्सम्भवात् । भाष्यकृत पतञ्जले कात्यायनस्य च काले चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भवितव्यमिति प्रोक्तमेतदस्माभिः । सत्यव्रतसामभूमिमाशयोऽपि चैतदेव साधयति । तत्रेदमपि प्रमाणं तेनोपन्यस्तम्, यद् वातिककृता स्त्रीप्रत्ययसिद्धयर्थं सभाशब्दात्क्रियमाणे प्रत्यये यदनुबन्धासञ्जनमुपसंख्यासम्, तद् भाष्यकृता 'कथं स्त्री नाम सभासु साध्वी स्यात्' इत्युक्त्वा प्रत्याख्यातम् । तेनेदं शक्यतेऽनुमातुं यत् कात्यायनकाले सभासु स्त्रीणां साधुत्वम्-अर्थाद् वस्तुत्वादिना भागग्रहणं प्रचलितमासीत्, भाष्यकारकाले तु तन्निवृत्तमिति । एतद्विषयं सामाजिकं परिवर्तनं नाल्लेन कालेन सम्भवतीत्यनयोश्चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भाष्यम् । अस्माभिरपि भाष्यपरिचर्तनविषया तदेतस्मात् धितमव । तस्मात् यीशुख्रिश्चत पञ्चशताब्द्यां वा शताब्द्यां अत्राहं न सम्भवति कात्यायनकाल इत्यनुमिनुम । कथासरित्सागरे तु नन्दराज्यकाले स्थितं पाणिनिं समसामयिकं एवायमुक्तं इति लिखितपूर्वमतत् । तस्य चैतिहासिकदृष्ट्या न प्रामाणिकत्वमित्यपि चोक्तिरिति-पूर्वम् । इदमपि स्मर्तव्यम्-सरूपसूत्रे 'द्रव्याभिधानं व्याडि' इति व्याडिनाम कात्यायनं स्मरति । तेन व्याडिना पाणिनिसूत्र-व्याख्यारूपं सप्रशो निर्मितं इति यदि सत्यं तर्हि तस्मात्परममैव कात्यायनेन भक्तिव्यम् । तस्मात्पाणिनेरस्य च विशेषेण कात्यायनव्यवधानमावश्यकमेव ।

पतञ्जलेदेशकालौ

अथ भाष्यकारस्य पतञ्जलेऽस्तु काठनिर्णयं अस्ति दृष्टं साधनम् । पाणिनिना हि भगवता मृतार्थे लकारप्रय विहितम्-लुट्, लृट्, लिट् चेति । तत्र मृतसामान्ये लुट्, अनद्यतनमृते लृट्, परोक्षानद्यतने लिट् इति सूत्रोक्ता व्यवस्था । तत्रानद्यतने लिट् इति सूत्रे 'परोक्षे च लोकविशते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इति वार्तिक इतोक्तम् । तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे आह भाष्यकार-अरण्यवनं साकतम्, अरण्यवनो माध्यमिकम् । प्रतोक्तुर्दर्शनविषये इति किम्-'जघान कस किल वासुदेव ।' इति । एतद् व्याख्यातज्ञानं कैयट । 'अननुभूतत्वात् परोक्षोऽपि प्रत्यक्षयोग्यतामात्राभ्रयेण दर्शनविषय इति विरोधाभासः । उद्योतकृत्प्रागेऽश्वात्रैव व्याख्यातज्ञानं 'भाष्ये व्यवधानेति-कसवधो हि नेदानन्तनप्रयोक्तुर्दर्शनयोग्योऽपीत्यर्थः । अरण्यदिर्युदाहरणे तु तुल्यकालं प्रवक्तव्येति बोध्यम्' । सर्वस्यास्येदं तात्पर्यम्, यद् या घटना सत्यं न दृष्टा, परस्वकाल एव जातस्त्वं दर्शनयोग्या लोकप्रसिद्धा च, तस्या बोध्याया पाणिनिरीत्या भट्टहस्तन परोक्षत्वात् लिख्यं प्रातः, परं तत्र 'लृट्' प्रयोक्तव्य इति वार्तिककृता संसम्मतिः प्रदर्शिता ।

तत्र च पतञ्जलिना भाष्यकृता 'अरुणचयन साकेतम्, अरुणप्रवनो माष्यमिन्द्राम्' इत्युदाहरणद्वयं दत्तम् । तेनेदं शकुनीभवनि-यधवनकृतं साकेतावरोधो माष्यमिन्द्रावरोधश्च यद्यपि पतञ्जलिना स्वयं न दृश्यते, अथापि पतञ्जलिस्मृतसामयिकत्वाद् दर्शनयोग्यो लोकप्रसिद्धश्चेति तत्र लङ्कारप्रयोगोदाहरणं तेन दत्तम् । अथायं साकेतावरोधो माष्यमिन्द्रावरोधश्च यवनकृतं कदा वभूवेति ऐतिहासिके सुस्पष्टमद्य निर्वर्तितम् । ऐतिहासिकदृष्ट्या यीशुख्रिस्त ३२७ वर्षेभ्यः पूर्वम् अल्चेन्द्रस्य (अलेग्जण्डरस्य) आक्रमणम् । तदनन्तरं चन्द्रगुप्त राज्ञः कालं सिल्यूकसनामा यवनो भारतमाचक्राम । चन्द्रगुप्तं परानितम् श्वकन्या तस्मै दत्त्वा गत इति सुप्रसिद्धा धरता । तस्यैव सिल्यूकसनाम्नो यवनस्योत्तराधिकारी 'मीनाण्डर' नामाऽस्या यवन पुष्यमित्रराज्यकाले पुनर्भारतमाचक्राम । स स्वयं यद्यपि मथुरापरान्तं न गत्वा, परं तस्मिन्नायकरयोष्या विंशत्यवसरे पूर्वास्या दिशि बहुदूरपर्यन्तमाक्रमणं कृतम् । अनन्तरं तेऽपि तत्रावस्थापितमराठा परावृत्ता । सोऽयं साकेतावरोधः । एतद्विचारिण्येव च सैन्यपद्धतिरेका चित्रकूटं (चित्तौड़) प्राप्तोऽपि गता । तत्र च चित्तौरसमीपे वर्तिनी माष्यमिन्द्रा नगर्यापि तथाऽस्मात्तत्रैव साधितमैतहासिकं । अस्माकमस्य वृत्तमस्मदीयाया गणसंहितायामपि प्राप्यते । तत्र 'मनद्र' इति 'मीनाण्डरस्य' नाम निर्दिष्टम् । संहृतीकृतैव तन्नाम भारतीयैः परिवर्तितमिति ऐतिहासिका मन्वते । अत एव 'मनद्र' नामैव त्वरेष्ठीरपाख्याया गिष्या तन्मद्रा अपि मथुरापरान्ते सम्पलन्वा । ततश्च सुविद्वदिदं बातं यत् पुष्यमित्रराज्यकाले एव यवनस्य साकेतावरोधकागे माष्यमिन्द्रावरोधकालश्च । स एव च माष्यमिन्द्रस्य पतञ्जलिस्मृतस्य । महामाष्ये 'पुष्यमित्रं याजयामह' इत्युदाहरणमुपलभ्यते । तेन पुष्यमित्रपुरोहितोऽश्वमेधं यज्ञेऽभिप्रथन्ति । राजसभा, चन्द्रगुप्तस्य, इत्युदाहरणद्वयं तत्राद्युक्तं परमत्तमस्य त्रिदशस्य । पुष्यमित्रसमयध्यायुक्तिकानां मैनिहासिकानां दृष्ट्या यीशुख्रिस्त पूर्वा द्वितीया शताब्दी । पौताणिकदृष्ट्या तु यीशुख्रिस्त पूर्वं सद्विवादीताऽपि पुरातनं पुष्यमित्र इति सोऽयं मतमेव सर्वत्रैव लागति, न च बहुविधेषुऽस्तिन् स विवाद उग्रथावयितुं शक्य इति प्रागव न्यनदयाम् । तस्मात् पुष्यमित्रयज्ञ-यज्ञगे य कोऽपि वा भरतु, स एव पतञ्जलि काल इति निर्णयिताः नानाम् ।

दृष्टोऽप्यस्य 'गोनर्द' । स्वयमेव भाष्यकृता स्वमतमिनिवेशेन तत्र तत्रोपन्यस्यता 'गोनर्दाश्रमाह' इत्युक्तम् । यद्यपि अस्मिन्महाशया परमतमेवदम, अन्य एव कश्चिद् गोनर्दाय इत्यत्र द्रव्यं, परं प्रामाणिक्याख्याकृतो गोनर्दाय पदेन स्मृतमेवोपन्यस्यति येषामुपलब्धं । यद्यपि च तत्र तत्र भाष्यकारैश्चैत्रे दृष्टा नाम्याहृतो मतमेवानुमोदामहे । तेन गोनर्दाभिज्ञो गोनर्दावो माष्यमिन्द्र

इति स्फुटीभवति । गोनर्ददेशश्चाय 'गोडा' इति प्रसिद्ध प्रान्त इति दहवो मयन्ते । पुष्यमित्रस्य यद्यपि प्रधानमूला राजधानी पाण्डिपुरमासीत्, अयानि अयोध्यायामपि तेनोपराज्यस्थान स्थापितमित्यप्यैतिहासिका विवृण्वन्ति । ततश्च 'गोडा' प्रान्तनानि पतञ्जलेस्सम्भन्त्ययोध्याया वसता पुष्यमित्रेण सम्बन्ध । पुष्यमित्रेण च अश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठान कृतमिति प्राप्तेभ्योऽभिलेखेभ्यो हरिवंशादिभ्यश्चापि प्रसिद्धमिति । एवंविधेषु महत्सु यज्ञेषु पतञ्जलिषटशो महानिदान् सम्मिलितो बभूवति क एतन्नानुमन्येत । अन्ये तु 'गोनर्द' स्थानमुज्जयिनीप्रान्ते मध्यदेशेऽभ्युपगच्छन्ति । यस्य प्राकृत नाम गोनर्दमित्यासीत्, व्यापारिणाञ्च तत् केन्द्रस्थान बभूव । पुष्यमित्रादीनां शुङ्गशीयानां च मूलस्थान 'विदिशा' नगरी । येदानीं स्वालियरराज्ये 'भिल्ला' इत्याख्यायते । तदेवमभिजनस्थान सामीप्यात् पुरातन एव पतञ्जलिपुष्यमित्रयो सम्बन्ध इति तेषामभिप्राय । काशिकादिषु व्याकरणग्रन्थेषु तु प्राग्देशेष्वेव गोनर्दस्य गणना कृतेति गोडाप्रान्तमेव गोनर्दपदेन वयमधिकं सम्भावयाम ।

इत्य दृष्टेः प्रमाणैर्निश्चितयो पतञ्जलिदेशकाल्यो पुनरपि केचिद्विप्रतिपद्यन्त एव । तत्र सामभूमिमहाशयो नेदमनुमन्यत, स तु अल्क्षेन्द्राङ्गमगात् प्रागेव युद्धकालाच्च किञ्चिद्वर्षाकं प्रायेण पञ्चमी शताब्दी (ई. पू) पतञ्जलिकाल मन्यते । तत्र चेमे हेतवस्तेनोपन्यस्ता —

१ अभिमन्युराज्यकाले चन्द्राचार्यादिभिर्विजुनप्रायस्य महामाष्यस्य पुस्तकमेकं सुदुर्लभं कश्मीरेष्वानीतं तैरेव च तस्य प्रचरस्सन् च कृत इति राजतरङ्गिण्यानुक्तम्—

चन्द्राचार्यादिभिल्लेष्व्वा देश तरमात्तदागमम् ।

प्रवर्तितं महामाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥

राजतरङ्गिणीतरङ्ग १ श्लो० १७६ । हरिणा च वाक्यपदीये कश्चिद् विशेष उक्तः—

पूर्वतादागमं लब्ध्वा माष्यबीजातुसारिभिः ।

स नीतो बहुशालस्यं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥

(वाक्यपदीय-२।४८६)

अभिमन्युराज्यकाले च अस्ति पाश्चात्यानां विप्रतिष्ठि । विल्हर्डमहाशय यीशुख्रिष्ट ४२३ वर्षेभ्यः पूर्वमभिमन्युराज्यकालं मन्यते । बोयलिङ्गमहाशयश्च यीशुत शताद् वर्षेभ्यः पूर्वम् । प्रिस्तिप्पहोदय यीशुत ७३ वर्षेभ्यः पूर्वं तद् राज्यावसानं मन्यते । लासेन-महाशयश्च यीशुत ४० वर्षेभ्यः पश्चान्मन्यते । तदत्र बोयलिङ्गप्रिस्तिप्पमहाशययोर्मतं प्रायेण सवदतीति तत्रैव विश्वसिति साम अभिमहाशय । तथा च यीशुख्रिष्टः शताद् वर्षेभ्यः पूर्वं दूरत दाक्षिणात्यपर्वत

प्रान्ता-महाभाष्यपुस्तक कश्चीरेषु गतम् । ईदृशस्य च महतो ग्रन्थस्य ग्रन्थ देशे विरचितस्य दादिगाथेषु तस्मिन् काले प्रचारो यदा वाष्यद्युत्तरादिक नाधीरिद्धमपि यानवाधनम्, तदनु च तस्य विरोध, इत्येतदयमन्तत निचतु इयाना-दीसमयोऽवश्यमपेक्ष्यते । तस्मात् यीगुत्विगात् पूर्वं पञ्चम्या शताब्द्या अर्वाक् महाभाष्यकारसमय कदापि न भवितुमर्हतीति ।

० 'चङ्कणदिम्यश्च' (४।२।७५) इति सूत्रे पाणिनिना साङ्ख्यनगरस्य सत्ता प्रकटीकृता । तच्चेद नगर अच्येन्द्राकमगात् तेन विनाशितमित्येतिहासिकी प्रसिद्धिः । महाभाष्यकृता च तत्र सूत्रे तद्दिनाशयिष्ये किमपि नोक्तम् । यदि हि महाभाष्यात् पूर्वमेव साङ्ख्यनगरविनाशोऽभवित्, तर्हि ईदृशी प्रथमा घटना तेनादृश्य तत्र निरुद्धतर-साङ्ख्यनगरमिदानीं स्वस्तमिति ।

३ अलक्षेत्रेण पञ्चनदप्रदेशे क्षुद्रकेति प्रसिद्धा सुदप्रवणा जातिर्विनाशितेस्यपि रयापित यवनदेशीयैरेतिहासिकैः । महाभाष्ये तु 'एकामिषि क्षुद्रकैर्नितमित्यु दाहरणं दृश्यते । यदि हि अच्येन्द्राकमगादनंतर महाभाष्य विरचितमिति मन्त, तदानुपदमेव पराजिताया विनशयथाश्च ज तेर्विजयशीलस्य न कदापि तत्र वर्तित स्यात् । तस्मादलक्षेत्रेन्द्राकमगात् प्रागेव महाभाष्यस्य निर्माणमिति । ता एता प्रधानस्तस्य सुक्तय । 'पुष्यमित्र याज्यामहे' 'चन्द्रगुणसभा' 'पुष्य मित्रसभा' 'अरुणयवन साकतम्' इत्यादीन्युदाहरणानि तु स्वकल्पितान्येवति सामर्थ्यनिमहाशयो वदति । यथा व्याकरणग्रन्थेषु देवदत्तयज्ञादीनि कल्पितान्येव नामानि तत्र तयोदाह्रियन्ते, तथैव पुष्यमित्रचन्द्रगुतादिनामान्यपि तदात्रै कल्पितान्येव महाभाष्यकृतोदाहृतानि । अथात्तु तन्नामका राजानोऽपि बभूवुरित्येव कल्पयितुमुचितम् । पुष्यमित्रो हि यीशुत प्राग द्वितीयस्या शताब्द्या जात इत्येतिहासिकाना मतम् । ततश्च एकशताब्दीमात्रे समये महाभाष्यरचयस्य दूरदेशे प्रचरन्तदिलोपथापि नैव सम्भवतीति न सुपते पुष्यमित्रकाले माष्य निर्माणम् । किञ्च महाभाष्ये 'अनुशोण पाण्डिपुत्रम्' इत्युदाहरण दृश्यते । कुमुदपुराणस्यैव पाण्डिपुत्रच्चेद बुद्धदेवकाल एव वाचयितुमुत्कान्तम्, बुद्ध दयन 'महद्विद नगर मन्त्रिष्यतीत्याशोरिति दत्ता । तच्चेद प्राक् शोणतीरे निवासिन् तदनु च तत परित्यक्तं गङ्गातीरे स्थापितमित्येतेषु चैव बौद्धग्रन्थेषु प्रतीयते । इत्थ च याद-उोगतीरे आसीत्पाण्डिपुत्र तावदेव महाभाष्य निर्मितमिति ततोऽपि महाभाष्यस्य अर्वाचीनता न सम्भवतीति ।

इय एता अपभ्रंशनिमहाशयस्य सुक्तय उपरिखिन्नादृशसुत्तरस्यै नैव स्थितु स्यादन्ते । पुष्यमित्रचन्द्रगुणयोर्नामनी स्फुट महाभाष्ये दृश्यन्ते । पुष्यमित्रस्य पाण्डरुणमपि तत प्रसिद्धयति । यवनकृत सानेतावरोधो माष्यमिकावरोधश्चापि यदेतिहासेभ्य प्रमाणीभवति' तदा सर्वमिद कल्पितमित्युक्तिरुपहासार्थैव

श्रेयाकाम् । एवमपत्याप तु कस्याप ग्रन्थस्य कालनिर्णय कदापि न सम्भवति । सर्वत्रैवमुच्यते । कालनाशो जागृह्यत्सम्भवात् । एतेनात् ता प्रवर्तन्त्या युक्तम् । 'सकलादिग्रन्थ' इति सूत्रे भाष्यमेव न दृश्यते, तदा क्वचन नगर एव सर्वानाथैव भाष्यकारस्तस्मिन् व्याचरीतितत्तदप्युहास्यदम् । न हि भाष्यमैतिहासिको ग्रन्थः, यत्रैवाद्या धरणा अन्वयमनुल्लिख्यते । छुद्रकाविविपर्येऽपि ऐतिहासिकैरन्यथैव प्रमागितम् । माल्वा छुद्रकाश्चेति वातद्वय पञ्चनदप्रान्ते सुप्रसिद्धमासीत् । तयोश्च सर्वत्र युद्धादितु साहचर्यमव बभूव । परमल्लेन्द्रस्या क्रमशःकाले तेन सह युद्धावसरे तयो साहचर्ये केनचिद्धेनुना न कालम् । तत्रैव मासै पृथक् युद्ध इतम्, छुद्रकैश्च पृथक् । ते एते जाती तदा विनष्टे इत्यपि भारतीयैः तिहासिकैः लण्डनम् । अत्र तयोर्परिपोदशान्तरेषु निवास स्फुटं सिद्धयतीति । छुद्रका एतान्त-सदा पराजिता इत्यपि जायसवा-महेदयो नातुमनुन । यद्यपि यूनानदेशीया स्वल्पिन इतिहासे छुद्रकाणां पराजय वदन्ति, परमिदमप्येतहाल्लेख्यन्ते यद्युद्धान्ते छुद्रकेभ्यः सम्मान समाप्तु भोग्यादिक यूनानदेशीयैरुपहिते स्म । न हि पराजितानानेवविषयं सत्कार सम्भवति । एतन्नाद् युद्धे परिवरेवसीत्, तत्र च यवनैः तिहासिकैर्यवनाना ल्यो भारतीयैश्च छुद्रकाग लय उद्घोष्यते स्म स्मरन्तुमीते । तत्र भारतीयमतनेवा सुखं महामाष्यकृता 'एकाकिमि' छुद्रकैर्हितम्' इत्यादाहुदाहृतम् । तादृशेन विध्विन्नयिना महावीरेण सन्धिरपि नूनं न्य एवेति जितनिःसुक्तिर्न विश्वा । अत्र 'एकाकिमि' इति पद माल्वासाहचर्यवेह व्यञ्जयत् स्फुटमेव अल्लेन्द्रयुद्धकाले स्मरयति, तेन अल्लेन्द्राक्रमादनन्तरमेव महामाष्यनिर्माणं सुस्फुगीभवतितराम् । पण्डितपुत्र चापि त्रिस्तुततन नगरम्, गङ्गाशोण-सङ्गमसन्निधाने निवासिन्म अनुद्योगनित्यनुाङ्गमिति च उभयपार्श्वे एवापयेदुमद्यापि शक्यते । गङ्गाशोण सङ्गमश्च पूर्व यत्र सीत् ततोऽथ पश्चिमस्या दिश्यागत इति प्राचीनानिर्णयनाभि सिद्धयति । एतन्तदापि अनुद्योगनिःसुक्तं कथमपि विश्वा । अमिन्पुराण काले कर्नातरेषु भाष्यपुराणकालमनमवशिष्यते । परमभिन्पुराणकाल एव यदा न निश्चितस्तदा तदाधारेण कथं पञ्जने ज्ञाननिर्माणं इह स्यात् । यदि ललेनमहोदयस्यैव मतं सारं स्पष्टं, यीशुत्रिंशदन्तर चाभिन्पुराणकाले सिद्धं स्यात् तदा पुष्पनिनादनन्तरमपि द्वित्रिंशत्तन्दी-वचनं सम्भव्यत एव । किञ्च नैव राक्षतरङ्गिणा न वा हरिणा प्रचारानन्तर महामाष्यविशेष उक्तः । पूर्वं देशान्तरेषु प्रचारं तदनं विरोध इति कल्पनामात्रमिदम् । इदमपि सम्भाव्यते यत् पूर्वं महामाष्यप्रचारो नैव जातः, कैश्चित्तद्वयैः शिष्यैः सुरोधीयं तत् पुस्तकं देशान्तरेषु नीतं तदेव च कथञ्चनप्राचार्यादपि प्राप्तम् । प्रचारस्तु तैरेव प्रभात् इति । अस्यां च कल्पनाया शताब्दीव्यवधानमात्रमपि पर्याप्त

भवति । तस्माद् दृढतरप्रमाणाऽप्येऽनुमानसाधकानि प्रमाणानीमानि दुर्बलान्येवेति पुष्पमित्रराज्यकाल एव पतञ्जलिकाल इति मन्यामहे । स तु काल कीदृश इति द्विप्रतिपत्तिर्न शक्यतेऽत्र समाघातुमिति निवेदितपूर्वम् ।

तदेव व्याकरणप्रधानाचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालविषये यथोपनिधि यथाशक्य च विवेचितम् । एषां चाचार्याणां 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्' इति मट्टोजिदीक्षितप्रभृतयो वैयाकरणा आहुः । पाणिनिव्युत्पत्तये यत्र कात्यायनेन कानि द्विप्रतिपत्ति-प्रदर्शिता उपसंख्यानानि वा कृतं तत्र कात्यायनस्यैव वचनं ग्राह्यम् । तद्वचनसंस्कृता एव प्रयोगा साधुत्वेन मन्त्राणां । यत्र च कात्यायनवचनानि खण्डयित्वा भाष्यकारेण कश्चिन् प्रयोग समर्थितः, वार्तिकं वा प्रत्याख्यातं तत्र भाष्यकारवचनमेवानुसृत्य प्रयोगायां साधुत्वं ननु संशयमिति तदा शयः । एतेन भाष्यकारस्य प्रामाण्यं सर्वोपरिस्थितमिति सिद्धं भवति । यथा 'न बहुव्रीहौ' इति बहुव्रीहिसमास सर्वनामसहाप्रतिषेध कुर्वत एषकारस्य मते बहुव्रीहयवदानामपि सर्वनामत्वाभावे तत्रान्ध्रं भवतीति 'एषा पिता यस्यैत्यादि' विप्रदे स्वार्थिके कप्रत्यये 'त्वत्कपिनृक्' इत्येव प्रयोग साधुतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तं प्राप्नोति । परं भाष्यकारेण 'शोभदीपस्त्वाह अकस्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्-स्वकपिनृको मकल्पितृक् इत्येव भवितव्यम्' इति स्वीकृतम् । तत्र भाष्यकाराभ्युपगता एव प्रयोगा साधुतया मन्त्राणां इत्याधुनिका वैयाकरणा मन्यन्ते । इत्यनेन च व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलङ्घनम्' इति परिभाषयाऽपि सिद्धयति । व्याख्या तस्यैवानया पूर्वसन्देहनिवारकत्वरूपस्य प्रारब्धस्य बोधनात् । श्रीमन्तो दाधिमथाद्यास्तु 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यमिति' ऋवते । पाणिनिरेव भगवान् मुख्यप्रमाणभूत इति तदाशयः । आचार्याणां दृष्ट्या तदेव युक्तम् । स्वयमेव भाष्याकारादयः पाणिनिवचनं सर्वोत्तममत्र प्रमाणयन्तीति । आधुनिकवैयाकरणदृष्ट्या तु व्याख्यानरीत्येव व्याख्येयस्य तात्पर्यप्रतिपत्तिमवात् भाष्यरूपव्याख्यानमेव मुख्यं मन्यते-इत्युभयो सामञ्जस्यम् । श्रीमाहादर्शनभाष्यकृता श्रीधरस्वामिनाऽपि दशमेऽध्याये अष्टमे पादे चतुर्थे सूत्रे प्रकृतादिदमुक्तम्-'सद्वादिरयात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम् अथवादिरयाद् न कात्यायनस्य' इति । नञ्प्रमातेन नित्येन मन्त्रितव्यं विकल्पितेन चेति तत्र विचारः । पाणिनिर्मिमांसाधिकारकरणात् तद्व्रीत्या विकल्पं सिद्धयति, वार्तिककारेण तु 'वा वचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्' इति विभाषाधीकारण्यङ्गनं कृतम् । तद्व्रीत्या नष्टप्रमातो नित्यं सिद्धयतीति पाणिनिवचनमनुसृत्य विकल्पित एव समासो मन्त्रव्य इति शबरस्वामिनोऽभिप्रायः । अस्ति विकल्प इति विकल्पाऽभ्युपगमात् पाणिनि सद्वादिति तेन ख्यापितः, नास्ति विकल्प इति कथनाच्च कात्यायनस्यासद्वादोऽस्त्वस्तम् । वस्तुतस्तु कात्यायनस्य तथायमभिप्रायः, समासविकल्पो

न विधिसाधक, अपि तु स्वमावतिष्ठ । एकाधामावो व्यपेक्षा चेति द्विविधानि
शब्दस्य वृत्तिर्वक्तुरिच्छाधीना । यो हि व्यपेक्षया प्रयोक्तुमिच्छति स राज
पुरुष इति पृथक्पदघटित वाक्यमेव प्रयुङ्क्ते, यच्चैकार्थभावेन प्रयोक्तुमिच्छति
स राजपुरुष इत्येकपदतो प्राप्य प्रयुङ्क्त इति व्यर्थम् । तत्र सुद्धादिस्वासद्भादिस
कल्पना । स्वीकृतमिदं तत्रैव दुष्प्रकाया मट्टपादै ।

इदं तु वार्तिकानां भाष्यस्य च पर्यालोचनया बहुत्र प्रतीयत एव-यत्
वार्तिककार सूत्रज्ञ पाणिनेऽन्यूनताप्रदर्शनमेवाभिप्रेक्ष्य वातिकरूपव्याख्याकरणे
प्रवृत्त । महाभाष्यकारस्य तु पाणिनेर्गोस्वरस्वार्थमेव दृश्यते प्रवृत्ति । अत
एव 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भत्रविश्रपाणि शुचाववकाशे प्राङ्मुत्त उपविश्य महता
प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्य षण्णान्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता
सूत्रेण' (अ १ पा १ सू १ भा ३) इत्यादिकमनेकत्र तेनोद्घुष्टम् । अत एव
कथासरित्सागरे पाणिनिकाव्यायनयोर्विद्वेषपूर्वक परस्परशास्त्रार्थकिवदनयपि प्रवृत्ता ।
यद्यपि श्रीत्रासुदेवशरणप्रभृतय वार्तिककारस्य न्यूनता-प्रदर्शनबुद्ध्या विद्वेषबुद्ध्या
वा प्रवृत्तिरिति श्रुत्वा विमनायन्ते, अतुकुञ्जुद्वयैव व्याख्यानरूपाभ्येव वार्तिकानि
तेन विरचितानीति ते मन्यन्ते । परं किं कुमा वय यदा भाष्यकार एव तथा
श्चनयति, तदाऽभ्युपगन्तव्यमेवेदं भवति । तथाहि-प्रत्याहारादिके 'अ इ उण्'
सूत्र एव 'अकारस्य विवृतोपदेश आकारप्रद्वेषार्थ' इति वार्तिक विवृण्वतो
भाष्यकृता स्पष्टमुक्तम्- 'आहोपुरुषिकामात्र तु भवानाह सवृतस्योपदिश्यमानस्य
विवृतोपदेशोद्यते इति, वयं तु ब्रूम, विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वा
रयायत इति' । अत्र आहोपुरुषिकेति पद स्फुमेव वार्तिककृतोऽहकारपूर्विकां
प्रवृत्तिमवाचष्टे । तथैव 'ऋनृक्' सूत्रभाष्यान्तेऽपि 'स एन सूत्रभेदेन लृकारो
पदेश प्लुत्याद्यर्थं सन् प्रत्याख्यायते सैषा महतो दशस्तम्बात्त्वाद्वातुकुष्यते' । एव
परिहास स्फुमेव काव्यायनस्य न्यूनताविश्ररणरूपा प्रवृत्तिप्रभिव्यनक्ति । किमन्यत्,
सर्वमपि भाष्य पर्यालोच्यतामाधिक्येन न्यूनताप्रदर्शनरूपाणां वार्तिकानां निराकरण
मेव भाष्यकृता कृतम् । सूत्राक्षरैरेव वार्तिकार्थगमाय च प्रयतितम् । अथल्पानि
वार्तिककृत उपसंख्यानानि तेन स्वीकृतानि ।

महाभाष्य चेद वार्तिकानामेव व्याख्यानमिति शक्यते वदितुम्, वार्तिक
मेवावलम्ब्य भाष्यस्य सूत्रं प्रवृत्तिदर्शनात् । स्वातन्त्र्येण सूत्राणि तु क्वचिदेव
व्याख्यातानि । येषु सूत्रेषु वार्तिकानि न दृश्यन्ते तत्र भाष्यमपि प्रायेण न
दृश्यत एव । इदमपि वैलक्षण्यं व्याख्येयोऽनुसन्धेयम्-यदन्यत्र गीमासा-वेदान्त-
न्याय-योग दर्शन-प्रभृतिषु भाष्यस्य व्याख्यानभूत वार्तिकम्, इह तु वार्तिक
व्याख्यानरूप भाष्यमिति । अस्यापि इदमेव तात्पर्यं प्रतीयते यत् सूत्रेषु

उक्तानुक्तदुष्कृतचिन्ता व्याख्यानरथामीष्टाऽम् । तत एव तेन स्वीयस्य ग्रन्थस्य
 वार्तिकमिति नाम कृतम् । 'उक्तानुक्तदुष्कृतानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । तं ग्रन्थं
 वार्तिकं प्राहुर्वीरिक्या मनीषण'—इतिवार्तिकव्युत्पत्त्यात् । इदं च प्यविदुष्कर
 मापतित यत् व्याख्यानकृतं सन्तुतो वार्तिकरः इदानीं नोपस्थिते । मापनेन तु
 दृष्ट्वा वैश्वदार्तिक्या सन्नीकृत । परं नार्यं परं सर्वथाऽऽदिप्यो गदितुं शक्यते,
 यतो हि स्ववाक्यमपि यत्र व्याख्यायते तद् माप्यं भवति माप्यव्यङ्ग्यं वदन्त्यमि
 युक्ता । 'सूत्रार्थो ज्ञायते यत्र वाक्ये 'सूत्रानुत्पत्तिभिः । स्वयदानि च व्यन्ते
 माप्यं माप्यविशो नितु' । इत्येते च महामाष्ये बहुत्र तथैव यत् महामाप्यकृत
 पूर्वं प्राहकवाक्यमुक्त्वा ततस्मिन्निवृत्तं चित्तुते इति । तेन कृत्वा महामाप्य
 स्वैव तत्प्रहक वाक्यं कृतं वा वार्तिककृतस्तथा वार्तिकमित्यदिष्व दुःशक्यो
 नित्यं । 'वक्तव्यं न भक्तवन्' इत्यादिमाप्यस्यैवा कथंचिन्निर्गम्यं स्याद्यते,
 परन्तु तथापि बहुत्र विप्रतिपत्तिर्न निवर्तत एव ।

स्ववाक्यव्याख्यानरथमाप्यपरिभाष्या बहो विप्रतिपत्तिं प्रवृत्ता । यथा
 'अथ शब्दानुशासनम्' इति यद्वाच्यकारस्य आदिमं वाक्यं तत्प्रथमवेति
 केचिन्महाशया मन्यन्ते । साधयन्ति च तदेव महत्कारमप्या । यत्र तु तेषां
 भ्रान्तनव मन्यन्ते यतो हि माप्यकार स्वयम् 'वृद्धिरादैच्' सूत्रे वृद्धिपदेन मङ्गल
 यमाह । 'अनुवाचनतुक्त्वा हि न विधेयमुदीरयेत्' इति नियममनुसृत्य
 पूर्वमुदीरयकथनं तदनु विधेयकथनमित्यस्याचार्यस्य शैली । यथा 'इको याचि,
 अक सन्तो दीर्घ' इत्यादि । तथैव सहास्रोत्तरे 'अदेह् गुण' इत्यादिषु पूर्व
 मुदीरयकथनं तदनु विधेयकथनमिदं रीतिर्यते । तथैव च रीत्या सहास्रदिनावो
 नित्येति इति माप्यकृता सिद्धान्तिः । तत्रैव शब्दा 'कथं वृद्धिरादैच् इति' अत्र
 पूर्व विधेयनिर्देश कथमिति प्रदर्शयति । तत्रोत्तरयति माप्यकृत—'एतदेकना
 चार्यस्य मङ्गलार्थं सूचयाम्, माप्यकृत आचार्यो मरुत शास्त्रोपमं मङ्गलार्थं
 वृद्धिशब्दादित् प्रयुक्ते । 'मङ्गलदीने हि शास्त्राणि प्रयते वीर्युत्पत्तिं च
 भवन्ति आयुष्मत्तुष्पत्तिं च अभ्येत्तारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्तुरेति । एतस्य
 माप्यस्य दुःखनाया यानि 'अथ शब्दानुशासनम्' इति वाक्यस्य सूत्रसाधकानि
 प्रनागान्युपस्थस्यन्ते तान्यनित्यं गानि । ब्रह्मण्ये च सिद्धा आदिमस्यैव 'वृद्धि
 रादैच्' इत्येव परम्परया पन्ति । तदेतदपि मुख्यं प्रनागं मन्तव्यम् । तथैव सिद्धे
 शब्दार्थस्य 'इति वार्तिकं सिद्धशब्दोपि मङ्गलरथं माप्यकृता व्याख्यात ।
 तस्मात् 'रजोहागन्तव्येन्देहा प्रथोक्तम्' इत्येतादिमं वार्तिकं ये मन्यन्ते
 तेन भ्रान्ता एव प्रतीयन्ते । किञ्च 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिपदेन सूत्रकृतो मङ्गलम्
 'सिद्धे शब्दार्थं सङ्घे' इति सिद्धशब्देन च वार्तिककृता मङ्गलम् इति व्याख्यानं
 पत्रज्जलि इत्य महामाप्यरथारम्भे मङ्गलं न कुर्यादिति नैतदुपययते । तस्मात्

‘अथ शब्दानुशासनम्’ इत्यथशब्देन तेन मङ्गल कृतम् ‘इत्येव सम्यगाभाति ।
 व्याख्यात च प्रधानध्यात्यात्रा कैयटन ‘भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य
 सान्नात् प्रयोजनमाह ‘अथ शब्दानुशासनमिति । प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षो
 हादीति पश्चाद् ‘वक्ष्यन्ते’ इति । एतेनोभयमपि भाष्यकारवाक्यमिति कैयटमत
 स्फुगीभवति । यादृशी च भाष्यकारस्य शैली, यद् वार्तिकमुल्लिख्य तदनु तद्वा
 क्यनुवादेन ‘कर्त्तव्य’ ‘वक्तव्यम्’ इत्यादि वदति, तथा ‘रक्षोहागमलध्वसन्देहा’
 इत्यत्र न दृश्यते इत्येतदपि तस्य वार्तिकस्वभावे बीजम् । यत्तु-मीमांसकविरुद्ध
 माजा श्रीयुधिष्ठिरमहाशयेन, सस्कृत-व्याकरोतिहासे प्रोक्तम्-आदिशब्दो
 भाष्यकारस्य न सर्वादिबोधक, अपि तु मिञ्चिन् परतोऽपि विद्यमाने मध्यगोऽप्यादि
 शब्द प्रयुज्यते । एवमेवान्त्यशब्द मध्यगशब्दश्चापि तस्य व्यभिचारी । तत्र
 निदर्शनं च ‘भूवादयो धातव’ इति सूत्रे ‘भूवादीना वकारोऽय मङ्गलार्थं प्रयुज्यते’
 इति वार्तिकं तद्भाष्यं च । ‘भूवादय’ इति सूत्रं हि नाद्य नान्तिम न वा
 मध्यगम्, प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादादौ वर्तमानत्वात् । तथापि च वाशब्द
 मङ्गलार्थत्वनोक्त तत्समर्थनञ्च ‘मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शान्त्राणि
 प्रयन्ते’ इत्यादिरीत्यैव कृतम् । तस्मात् तस्यादित्त्वं मध्यगत्वं वा भाष्यकारेणा
 म्युपगतम् । तत्रैव सिद्धमिदं यदादिशब्दा मध्यगशब्दो वा सर्वादिभूते सर्व
 मध्यगे वा प्रयुज्येतेति नैष नियमः । ततश्च ‘अथ शब्दानुशासनमि’त्यस्य सूत्र
 स्वाम्युपगमेऽपि ‘वृद्धिरादैच्’ इति वृद्धिशब्दस्य मङ्गलार्थता न विरुद्धयते ।
 ‘रक्षोहागमे’त्यस्य वार्तिकश्चेऽपि च ‘द्विदे शब्दार्थसम्बन्धे’ इति सिद्धशब्दस्यापि
 मङ्गलार्थता युज्यते एव । तदिदमितिहासमीमांसकस्य वचनं बालानामप्युपहासाय
 भवेत् । ‘सति हि परस्मिन् यस्मात् पूर्वो नारित स आदि, सति च पूर्वस्मिन्
 यस्मात् परो नास्ति सोऽन्य’ इति स्वयमेव भाष्यकृता आद्यन्तयोर्लक्षणं कृतम् ।
 तच्च स्वकीयं लक्षणं स्वयमेव स न मन्यते-इत्यहो तस्यातता समर्थिता । ‘भूवादय’
 इत्यत्र यद् वचनस्य मङ्गलार्थत्वमुक्तम्, तस्य तु धातुपाठमङ्गलार्थत्वं प्रतीयते ।
 सर्वो हि धातुपाठो ‘भूवादयो धातव’ इति सूत्रेण स्पष्टीत, ततश्च सप्राहके
 सूत्रे कृतं मङ्गलं धातुपाठस्यैव मङ्गलं स्मृतमिति तदभिप्रायः । सम्भवेच मध्य-
 गशब्दस्य व्यभिचारित्वमपि, आद्यन्तौ विहाय सर्वेऽपि मध्यगा वक्तव्ययते ।
 आद्यन्तशब्दौ तु व्यवहारे शास्त्रे च नियतौ न अतिक्रममहंत । ‘वृद्धिरादैजिति
 सूत्रे हि ‘एतदेकनाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्, माङ्गलिकं आचार्यो महत
 शान्त्रौष्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दनादि प्रयुङ्क्ते’ इति स्पष्टमादिशब्दो भाष्यकृतो
 पाठः । नैव ‘भूवादयो धातव’ इति सूत्रे आदिशब्दोपादानं दृश्यते । एवमेव
 द्विदशब्दविषयेऽपि ‘महत् शान्त्रौष्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दनादित प्रयुङ्क्ते’
 इत्यादिशब्दप्रयोगो दृश्यते । तस्मात् ‘वृद्धिरादैजिति’त्यतः प्राक् सूत्रकल्पना ‘द्विदे

शब्दायं सम्बन्धे' इत्यतः प्राग् वार्तिककल्पना च न कथमपि प्रामाणिकी मन्ति
महति । यैर्मन्यवृद्धिस्तथोक्तिवित्त तद्भ्रान्नाथमादाद्वैत्येव मत्स्य स्यात् । भाष्य
कृतस्तुत्याया तेषां प्रामाण्यामावात् । अद्यापि सर्वेषु पुस्तकेषु व्यवहियमाणेषु
अध्यायाद्यङ्गु प्राथम्यमेव 'वृद्धिरादेर्' सूत्रस्य दृश्यत इति 'अथयान्दानुशा
सनमित्यस्य सूत्रस्य कल्पना सर्वप्रामाणिकविद्वेष्यासां तात् । तस्माद् भाष्य
कृतं किं स्वकीयं वाक्यं किं वा वार्तिककृतो वार्तिकम् इति निर्णयो दुश्च एवा
पतितः । भाष्यकारस्य जीमवावधानेन परीक्ष्य कथञ्चित् निर्णयत एवऽभियुक्ते ।
सिद्धान्तकौमुद्यादिषु तु षड्भ्यं वार्तिकानि सन्त्यन्तरनामित्प्र प्रारिक्तानि दृश्यन्ते ।
केवलमर्थसम्बन्ध एव तत्रानुसृतः । मन्तु नाम, वार्तिकसाहचरं प्रामाणिकस्यो
द्धारोऽवपहाणा कर्तव्येषु मुस्यतया निष्ठनीति अवसरमन्वेरम् ।

इदं तु असदिग्धमेव, यदद्यत् पाणिनीयस्य व्याकरणस्य चादधी प्रतिष्ठा
दृश्यते, यथा च शास्त्रेषु व्याकरणस्य मुख्य स्थानं गगने, सोऽथ सर्वोऽपि
कार्यायनस्य, भाष्यकृत पत्रञ्च प्रभावः । महामप्य न के उ व्याकरणनिवध,
अपि तु सर्वेषुपि शास्त्राणि विषयानि स्थान स्थानेऽत्र उपरिक्त विरे
वितानि । लौकिके व्यवहारा, प्राक्तना इतिहासा, आन्तरा धर्मा, दर्शनानां
सिद्धान्ता, गूढतमानि विज्ञानानि चेति समन्तमहामाप्ये कृतपरिभ्रमैस्त्वयक्
परिचेतुं शक्यते । एवमिषया विवेचनस्यैव संस्कृतस्य व्याकरणशास्त्रमिती प्रतिष्ठा
गतम् । न च पत्रकतारव सरगम्भीरा प्राच्यतमा मायाऽपि कस्याप्ययम्
अन्यकृतो भाष्ये विधिना निरक्षिता । तस्मान्महामाप्यमिदमौक्तिकं यन्तु संस्कृत
वाङ्मयमन्दिरस्य सुवर्णमण्डपयमानमित्यत्र न स देहः । आदवर्थं हिन्द यत्
समयो भाष्यकारस्य निर्णयत स आधुनिकस्य भौतिकज्ञानस्य न तादृश
प्रचारसमयं शक्यते निर्णयितुम् । भारतीय वैदिकं विज्ञानं तदापि विदुमप्रायमेव
सम्भावते, तथापि विज्ञानस्यापि गूढतमा सिद्धान्ता महामाप्ये तत्र तत्र
प्राप्यन्ते । यथा 'स्थानेऽन्तरतम' इति सूत्रे 'अचेतनेऽग्नि-स्योऽपि शिरो वायुदेग
गत्वा नैव विर्यं गच्छति, नोष्वमारोहति, पृथिवीविकारं पृथिवीमेव गच्छत्या
न्तर्यत । तथा या पृथा अन्तरिक्षं घृणा आगस्तासां विकारो घूम, स
घूम आकाशे निवाते नैव विर्यं गच्छति, नार्वागवरोहति, अर्वाविकारोऽपि एव
गच्छत्यान्तर्यत । तथा प्योत्रियो विकारोऽर्चिराग्नादेशे निवाते सुप्रन्वञ्ज
नैव विर्यं गच्छति, नार्वागवरोहति, प्योत्रियो विकारो प्योत्रिरेव गच्छत्यान्तर्यत
इति । इह हि सजातीवाङ्मयसिद्धान्तं स्वगतया क्रियभिरक्षितं इति वैज्ञानिक
विदाः एवाथ प्रमाणम् । यमाकर्षणसिद्धान्तं न्यूनमहाशयेनादिभूत पाश्चात्या
मन्यन्ते, स भारत्ये यीशुख्रिष्टतोऽपि पूर्वं विस्तृतं प्रचलित आसीदिति नालं गौरव
भारत्ये । अनन्तरं सिद्धान्तोऽयम्—

‘आवृष्टिसक्तिश्च मही तथा यत् स्वस्थं गुणं स्वामिमुखं स्वशक्त्या ।

आवृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क पतस्त्रियं खे ॥

(सिद्धान्तशिरोमणौ)

इत्यादिना भास्कराचार्यप्रभृतिभिः स्वशब्दैरेव स्पष्टीकृतं इत्यन्यदेतत् ।

एकमन्यत्रापि तेन तत्र द्रव्यम् । शब्दविज्ञान्तु पदे पदे महाभाष्ये काग
स्त्वेन । अनेकत्र तु भाष्यकृता नल्पितं विज्ञानं व्याख्यावृद्धिरपि न बुद्धम् । तेन
च भाष्यकारस्याशय एव तैर्गते पातितं । तत्र निदर्शनं ‘क्रियम्’ इत्यधिकार-स्वस्थ
भाष्यम्—

सकृतभाषायामचेतनबोधका खट्वा-वृक्षादिशब्दा अपि तत्तल्लिङ्गभाष्योऽभ्यु
पगम्यन्ते । तत्र वैज्ञानिकद्वैतमुपदर्शयन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलि —

सस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतात्तत ।

सस्त्याने स्त्यायतेऽटं स्त्री सृते सप् प्रसवे पुमान् ॥

इति नार्तिके व्याचष्टाण आह ‘अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गभं
इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् सृते पुमानिति । इह पुनश्च भवसाधनम्=सस्त्यानं
स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्, कस्य पुनः सस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान् । गुणानाम् ।
वेपाम्, शब्ददर्श-रूप-रस-गंधानाम् । सर्वाश्च पुनः मूर्तय एवमात्मिका
सस्त्यानप्रसवगुणा शब्दस्पर्शरूपरसगंधवश्च । यत्राल्पीयोऽसौ गुणास्तत्रावरतत्रय
शब्द स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सन्तः । प्रवृत्तिं तत्रैव निश्चयः, न हीह काचिदपि
स्वस्ति नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम्, अपायं न वा
युज्यते, तत्रोभयं सर्वत्र, यद्युभयं सर्वत्र, कुतो व्यवस्था, विवक्षातः । सस्त्यानविष-
याया स्त्री, प्रसवविषयायां पुमान्, उभयविषयायां नपुंसकम्’ इति । अस्याभिप्राय
स्फुट एव—यत् सर्वत्र यज्ञप्रक्रियाविषया आदानप्रदाने प्रवर्तते । सर्वमपि पदार्थं
जातं दृश्यमानं न कदाप्येकैकम्, परिवर्तमानमेव स्थितं सर्वमुपलभ्यते । परिवर्त-
मानमपि च नैकान्तत उक्ता जहाति । तदिदं सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावा
नाम यत्रार्पणम्, अयतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रक्रिया यज्ञः । यथा
प्रदीप प्रकाश सर्वत्रार्पयति, तैश्च वयश्चाश्वाजस्रमादत्ते, मल बल च सर्वत्र प्रयोज-
यति । तथैव वृक्षा अपि मूलं जलमाददते, प्रसूनफलादिकं च ददति वाय्वादिष्वपि
च स्वप्रभावमयन्ति । इष्टका-प्रस्तरादिष्वन्यत्र जडेष्वपि प्रक्रियेयं सर्वत्र प्रवर्तते ।
तत एव नवस्य पुराणत्वं सर्वत्रैव जायते इति विभाष्यम् । सोऽयमादानप्रदाना
परपरायोऽनान्नादभावः । तत्रादानविषयायां स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र प्रवर्तते, प्रदान
विषयायां पुंलिङ्गशब्दः, तादृश्यविषयायां नपुंसकलिङ्गशब्द इति । परं कैयट
महाभाष्यो यज्ञप्रक्रियामिषामनभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्वकृतमपि भाष्यं,

कृतो विवरणं गौणं मत्वा गुणशब्दस्य सादृशप्रसिद्धं सत्त्वाद्यर्थमुपगतम् तदुपचयात्-
 चयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वौ वैशानिकप्रक्रिया तिरोदधाति । नामेशमट्टाद्याश्च
 तदेवानुसरन्ति । विज्ञानप्रक्रियायां देशे विशेष एवात्रापराध्यतीति न प्रश्नार्थम् ।
 एवमेव 'उच्चैश्चदात्त' इति सूत्रेऽपि शब्दोत्पत्तिप्रक्रिया या वैशानिकी महामाष्य
 कृतोक्ता, सा व्याख्यातृद्विरचयैव नीता । उच्चैस्त्व नीचैस्त्व चेदमभ्यवस्थितम्,
 यदेव एकस्य कृते उच्चैस्तदेवापरस्य कृते नीचैर्भवतीत्यादाङ्क्य गानायामदाह
 प्यादिना क्रियमाणामपि व्यवस्थामनवस्थिता निरूप्य 'सिद्धन्तु समानप्रक्रम
 वचनात्, सिद्धमेतत्, कथम्-समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम् । क पुन प्रक्रम,
 उर कण्ठ शिर इति' इत्येव मुख्यसमाधानमुक्तम् । वर्णानां हि द्विविधानं
 स्थानानि पाणिनीयशिक्षादौ दर्शितानि, सवनस्थानानि, व्यास्यान्तर्गतस्थानानि
 च । बुद्धयार्थान् समर्थ्यात्मना प्रेरतेन मनसाऽभिहतं कायाभिनयदा शारीर
 मारुतं प्रेरयति, तदा स वायु उरसि, कण्ठे, शिरसि वा मनोऽभिप्रायानुकूल
 मेव क्वचित्प्रथमं करोति, तान्येतानि त्रीणि सवनस्थानानि शिक्षायामारम्भ एव
 स्पष्टीकृतानि—

मरुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।

प्रातः सवनयोग त उन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यमं त्रैष्टुभातुगम् ।

तारं तार्तीयसवनं शीपय्य जागतातुगम् ॥ ८ ॥

एव त्रिषु प्रक्रमेषु क्रमेण मन्द्रमभ्यमतारा स्वरं भवन्तीति प्रतिपाद्य
 धनन्तरम्—

'शोदीर्णो मूर्ध्वभिहतो वक्ष्यमाणस्य मारुतः । वर्णान् जनयते'

इति भास्यस्थानेषु वर्णोत्पत्तिरुक्ता । उरसि कण्ठे शिरसि वा क्वचिद्रूपमि
 प्रायानुसारेण केन्द्रं प्रकल्प्य पुनर्न्यस्तस्मात्केन्द्राद्गुण्याय मूर्ध्वर्यन्तं गच्छति,
 ततश्चाभिधातमाश्रय्य मुखे प्रातस्तत्तत्स्थानसम्बन्धेन वर्णान् जनयतीति स्फुटोऽभि
 प्रायः । व्यास्यगतस्थानेष्वपि 'अथौ स्थानानि वर्णानाम्' इत्यादिना उर कण्ठ-
 शिरसि स्थानानि शिक्षायामुक्तानि, तान्येतानि सवनस्थानेष्वपि पृथगाभूतानि,
 अत्रैव हि कण्ठाब्जीचैस्तनो भाग 'उर' इत्युक्तं, दन्तानां मूर्धा च शिर इति ।
 तन ह्य, झ, इत्यादिषु हकारस्य उरस्थानमुक्तम्—केवस्य तु हकारस्य कण्ठ्याव
 मित्यादि सर्वे तत्रालोच्यम् । सवनस्थानानां च स्पष्टीकरणमत्रऽपि शिक्षायाम्—

प्रातः पठेन्निरयमुर स्थितेन स्वरेण शार्दूलत्वोपमेन ।

मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव शक्राहसकूजितधन्निभेन ॥

तारं तु त्रिधात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोष्यम् ।

मथूरहसान्वभूतस्वराणां तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥

प्रत्यात्ममनुभवविद्धं चेदम्—स्वस्वामर्थ्यानुसारं कदाचिरकश्चिदुच्येवदति,
 कदाचिन्नीचैः, कदाचिच्च सनेन स्वरेण इति । सोऽयं भेदः सवनस्थानकृत एव ।
 तान्पेतानि सवनस्थानान्येव प्रक्रमशब्देनोक्त्वा भाष्यकारेण उच्येत्सवनीचैस्व-
 योरव्यवस्थायाः समाधानं कृतम्, यद्यथाविधो यस्योपक्रमः, तत्र यदुच्ये-
 स्तदुदात्तमिति विज्ञातव्यम्—कामं तदन्यापेक्षया नीचैर्मवत्, न तेनास्माकं
 प्रयोजनमिति । परं कैयटमहाशयः सवनस्थानानामास्त्यस्थानानां च भेदमविचा-
 र्यैव भाष्ये स्पष्टमुक्तम् 'उरः कण्ठ शिरः' इति स्थानत्रयमशानामपि स्थानानामु-
 पलक्षणं कृत्वा तत्र च प्रत्येकं स्थानेषु काल्पनिकमनुभवविद्धं विन्दुत्रयमुरीचकारे-
 त्येकदेशिताप्रापराध्यति । एवं महामाष्यस्य गूढा आशया व्याख्याकृता
 कृपया अन्यथैव नीता इति निदर्शनमात्रमिदम्, सम्यगालोचने बहुत्रैव
 प्रतीयेत ।

इदं त्रकारभार महामाष्यस्य कैयटमहाभागस्य नैव विस्मृतं व्यम्—यद्
 बहुत्र महाभाष्यं तद्व्याख्ययैत्राद्यास्मादशैर्बुध्यते, यदि नानविध्यन् कैयटकृतं
 व्याख्यानम्, तर्हि दुरवबोधमेव महाभाष्यं बहुनामविश्रदिति । यद्यप्यस्या
 अपि व्याख्या महाभाष्यस्य बह्वयः सन्तीति भीमुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन
 संस्कृतन्याकरणशास्त्रस्येतिहासे स्फुरीकृतम्, हरिवद्ध सेतुन्तु कैयटः स्वयमा-
 लम्बनत्वेन स्मरति, तथापि ता अनुजलब्धा अप्रचलिता वा, प्रसिद्ध प्रामाणिकं
 व्याख्यानन्तु कैयटस्यैव भाष्यप्रदीपाख्यमेव । हरिविद्वानिकमूर्धन्य इत्यत्र न
 संदेहः, तदीयाद्वाक्यपदीयग्रन्थात्तयावगतेः, तन्त्रशास्त्रेष्वपि च तन्मतस्य
 मान्यताप्रसिद्धेः, परं तद्व्याख्यायाः क्रियाश्रिदेवाद्यो जननपुस्तकालये प्राप्तोऽ
 स्ति । ततश्च तद्यतिद्विपि पञ्चापविश्वविद्यालयेनापि आनाय्य स्वकीये पुस्त-
 कालये रक्षिता ततः द्वैश्विद्विदुभिरपि प्रतिगिरीः कृता । प्रचारस्तु तस्या
 अद्यावधि नास्ति । स्वल्पपरिमाणैव च सा लब्धा इति भाष्यार्थावबोधकृते
 कैयट एवाद्यावधि शरणम् । अस्य च कालः दशमी एकादशी वा यतान्दी
 ऐतिहासिकैर्मन्यते ।

धर्मशास्त्र-खण्डः

(अत्र खण्डे—१ चातुर्वर्ण्यम्

२ प्रमातृपतिका धर्मालोचनम्

३ स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

४ पितृविवेक

एते चत्वार प्रबन्धा निवेशिता । अन्तिम पितृविवेकोऽपूर्ण एवोपलब्धो
यद्यपि, पूर्वपक्ष एव विशतेऽत्र, नतूलर पक्ष , तत्रावरयमुत्तरमाकाक्षेयु पाठका ।
पर दौर्भाग्याच्छिष्यमायातेषु पितृचरणेषु न सजाता पूतरेतदीया । वैदिके
खण्डे पितृविवेकाख्योऽपि लेख एतद्विषयक एव । तेनैवात्र विषये सिद्धान्तपक्षोऽव
धेय । अत्र तु यावानुपलब्धस्तावन् प्रसारयते । सभावितै पूर्वपक्षैस्तु परिचय-
स्यादेवानेनेति—सपादक)

चातुर्वर्ण्यम्

इह हि वक्ष्य इदानीं चातुर्वर्ण्यविषये लौकिकानां शास्त्रविदुषा च विप्रतिपत्तयः
 भ्रूयन्ते—‘नासीत्पुरा भारतोन्नतिसमये वर्णविभागप्रथा, अर्वाक् काले तु मतिभ्रंशा
 दल्पयैर्जनैः सैषा समुकल्पिता, एतन्मूलिकैः च यमालोक्यतेऽतितरामवन्ति -
 तस्मात्सुदूरमुत्सृज्य तामिमां सम्पादनोया भारतोन्नति इत्याहुः केचन स्वतन्त्रप्रज्ञा
 ऐतिहासिकमन्या । ‘यद्यप्यासीत्पुरा वैदिकेऽपि काले वर्णविभाग, पर सोऽय
 कर्मविभागमूलक एव तदाख्ये प्रचलितो न तूत्पत्तिमात्रसमनियतमासीद्दर्शना
 वर्णत्वम्, जन्मनाय वर्णविभागस्तु श्रुतिरमृत्यननुमत वैश्विदल्पशैराधुनिकैरेव
 प्रचारित इति समुच्छेदाहं एव’ इति वदन्ति बहवो वैदिकमानिनः । ‘पुरा
 कर्मणैवासीद् व्यवस्थितिर्वर्णानाम्, इदानीन्तु जन्मनैश्चोरीकृता सा समीक्षादक्षै
 समाजसरक्षरैः” इत्यभ्युपगच्छन्त्यनेके मध्यस्थाः । ‘इदानीमिव आसृष्टेराप्रलयाच्च
 योनिनैव व्यवस्थिता वर्णा, सर्गकाल एव भगवत आदिपुरुषस्य मुखवाहूरुपादाद्
 विभिन्नानामेव ब्राह्मणादीनामुत्पत्त्यभ्युपगमात्’ इत्यातिष्ठन्ते सनातनधर्माग्रहिणः ।
 ब्राह्मणध्वनियविशेषां शूद्राणां च परन्तप ।
 कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

[श्रीभगवद्गीता]

इति तु व्यवस्थापयन्ति धर्ममर्मनिष्णाताः । ताभिरेताभिर्विप्रतिपत्तिभिर्व्या
 कुलीभूत इवेदानीं समाज, यथा कथमपि वा प्रवर्तन्ते तत्त्वमविद्वांसो नव्य
 शिक्षिता— इति भारतीयधर्म प्रधानभूताया दण्डव्यवस्थायास्तत्त्वनिर्धारणमिदानीं
 सर्वेषामपि विदुषा कर्त्तव्यं नाम, येन तत्त्वज्ञानान्न वञ्चिता स्युरल्पमतयोपि न
 च वेयाकुलीमुपेयास्तमाजबन्ध इति । तद्व्यवस्थेतदाकल्प्य गभीरतरेऽपि विषयेऽ
 रिमन् यथा मति प्रवर्तयामो लेखनीं कर्तव्यमनुसन्धाना, आशास्महे च मनुष्यबुद्धि-
 सुलभमत्रोपजायमान प्रमाद परिशोचयेयुः कर्तव्यपरश्या महान्त इति ।

तत्र ये तावत् सर्वविद्यानां बीजरूपतया सर्ववाक्यमयादि मवत्त्वेन सर्वेश्वरी-
 क्रियमाणास्तु श्रुतिषु वर्णभेदप्रलभमाना अपि तदशस्य प्रक्षिप्तत्वादिना पुरा
 वर्णभेदमेवापल्पन्तोऽवनतिसाधनता च तस्मिन्नारोपयन्तो निष्कारण प्रद्वेषमात्मीय
 तनाविष्कुर्वन्ति, न ते किञ्चिदपि प्रतिदत्तुं शक्याः । येन वा साधनेन प्रत्युत्पन्ता-
 मेते—वर्णभेदप्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां सर्वेषामेव वाक्यानां प्रतिज्ञायमानत्वात्—
 शब्दप्रमाणमन्तरा च पुरारथार्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् । अन्नतिसाधन-
 त्वमुन्नतिसाधनत्वं वा सम्भवति वर्णव्यवस्थाया इति तु लौकिकी दृष्टिमवलम्ब्य

सत्यवसरे वित्रेचमिष्याम । तदिदानीं वर्णव्यवस्थितिरिधं ज-मना कर्मणा वेति
कथमासीत्पुरा, कथंच तेयमिदानीमभिमतः स्मृतिकाराणाम्-इत्यस्मिन्नेव
विप्रतिपत्तिविषयीभूते विषये भ्रुतिस्मृती अवलम्ब्य किञ्चिद् विविच्यते ।

तत्र सृष्टे प्रभृति जन्मनैव वर्णव्यवस्थितिरिति वदन्ति केचन विद्वांसः,
प्रमाणयन्ति च तत्र —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राज-य कृत ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्व पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

इत्याद्या भ्रुती । अत्र हि चतुर्थपादवाहचयैणादिपुरुषस्य भगवतो मुखाद्
ब्राह्मण आसीदित्यादिरेवार्थः, ब्राह्मणो मुखमासीदित्याद्युक्तिस्तु कार्यकारणयोर
भेदोपचारमूलिकैव । भवन्ति ह्यस्यैवार्थस्यानुगामिन्य स्मृतयः, तथा हि—

लोकानान्तु विवृद्वयर्थं मुखबाहूष्पादत ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र च निरवर्तयत् ।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुणवर्थं स महाद्युति ।

मुखबाहूष्पञ्जाना पृषक कर्माण्यकल्पयत् ! (मनु) ।

विप्रक्षत्रियविदश्रात्रा मुखबाहूष्पादवा

वैराजात्पुण्याज्जाता य आशनाचारलक्षणा ।

(श्रीभागवतम् स्क० ११ अ० १७)

वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणा सम्प्रप्ता

स्वद्वक्षस्त क्षत्रिया पूर्वमागौ ।

वैश्याश्चोर्वीर्यस्य पद्भ्या च शूद्रा

सर्वे वर्णा गानत सम्प्रसृता । (चा०पु० अ० ७१)

तत कृष्णो महामाग पुनरेव युधिष्ठिर ।

ब्राह्मणाना शत भेष्ट मुखादेवास्तजत् प्रभु ।

बाहुभ्या क्षत्रियशत वैश्यानामूहत शतम् ।

पद्भ्या शूद्रशत चैव केशवो भरतर्षभ ।

स एव चतुरो वर्णान् सुत्पाद्य महातपा ।

अप्यक्ष सर्वभूताना धातारमकरोत् स्वयम् ।

(महाभा० शा० ५० २०७ अ०)

इत्यादि सर्वत्रैव पुराणेषु द्रष्टव्यम् । तथा च स्पष्ट विद्वमेतत्—सृष्ट्यादौ
भगवत आदिपुरुषस्य मुखादेयामुत्पत्तिस्ते तद्वशोद्भवान् भवन्ति ब्राह्मणपदवाच्या-
'सर्वण्य सर्वान्द्रु जायन्ते हि सजातय' स्मरणात् एवं भगवतो बाहुभ्यां
वैश्यामुत्पत्तिस्ते तद्वशोद्भवान् च क्षत्रिया, ऊरुभ्यामुत्पत्त्यास्तद्वशोद्भवान् वैश्या,

पादजातास्तद्वंशोद्भवाश्च शूद्रा इति । तत्तदचोत्पत्तिकृतैवेयं वर्णव्यवस्था-विधातु-
नियोगात्तु ते मुक्तादिजाताः स्वस्ववर्गोचितानि कर्माणि प्रतिपद्यन्ते-ये तु स्वो-
चितानि कर्माण्यङ्गवर्णाणा अन्यधर्मान् प्रपद्यन्ते त इमेऽवश्यमीश्वराहाविमुक्त्वा
दण्डमाजो भवन्ति । श्रुतिस्मृतिभ्यां तयार्थस्यावगमादिति शब्दैकप्रमाणानां
यथाभूतप्रतिपत्तणामृजूनां पन्थाः ।

अत्रापरे तर्कशब्दप्रमाणान्तराणि चास्याय प्रत्यवतिष्ठन्ते, नेय वर्णव्यवस्था
योनिभूता भन्तुमर्हति, अपि तु गुणकर्मकृतैव, समाजोपनिबद्धा च । यदि हि
जन्मभूता स्यात्-अवश्य भारतनिर्विशेषं सर्वेष्वेव (युरोपादि) देशेषु समुप-
लभ्येत । न खलु भगवतादिपुराणेषु भारतीया एव समुत्पादिताः, न स्वयदेक्षायाः-
इत्ययमर्थः शक्यते केन चिदभिघाटम्-अभिहितो वा रमसात् समीक्षादक्षैः
प्रतिपत्तुम् । यदि तु तेऽपि भगवतोत्पादितास्तर्हि स्युर,श्य मुखवाह्याद्यन्यतमजाता
इति प्रवेक्ष्या अन्यतमे वर्णे, न तु तत्तथोपलभ्यन्ते-धर्मशास्त्राण्यपि ह्यस्माकमार्यदेश
एव वर्णधर्मान् बोधयन्ति न तु सर्वत्र । यत्तु केचिदाग्रहपरतन्त्राः प्रतिपादयेयुः-
अस्येव देशान्तरेष्वपीयं वर्णव्यवस्था, तत्रापि वैज्ञानिकानां सैनिकानां व्यापारिणां
सेवकानां च विभागस्य सुप्रथिततरत्वात्-तदेतद्विपरीतम् । यथा हि गुणकर्मतिरो-
धिनी समाजभूता च सर्वोन्नतिसाधनीभूता प्रचरति तत्र वर्णव्यवस्था-तथैवेयमा-
सीत्पुरास्मात्स्वीत्येवास्माकमभिप्रायः, न त्विय प्राकृतिकी (ईश्वरभूता) भवितु-
मर्हति, तथास्वे तथोपलब्धेरेव सर्वत्रावश्यकत्वादिति ।

तस्माद्विज्ञानोन्नतिमधिरूढैस्समूर्णैर्पुरुषैश्चतरोत्तरमुन्नतिसाधनार्थं विभज्य कार्यं
करणाय समाजव्यवस्थारूपेणैवेयं प्रचारिता वर्ण-व्यवस्थेति मुख्यमधिगम्येत
विचारदक्षैः । अभिहितं चैतदेवमेव श्रुतिस्मृतिष्वपि, तथा हि “देवविद्यः
कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्प्यमानाः अतु मनुष्यविद्यः कल्पन्ते” । (ऐ. ब्रा.
१-२-३) इत्याद्याः श्रुतयो भङ्ग्या कल्पनाप्रसूता वर्णव्यवस्थितिमाचक्षते ।
स्मृतिषु तु-

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं भगत् ।

ब्रह्मणः पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णना गतम् ॥ (महाभारते)

इत्याद्यास्तु स्पष्ट कर्ममूलको जातिविभाग इति प्रतिपादितम् । एवं
धर्मराजेनापि सुधिष्ठिरेण नहुषसंवादादिषु सर्वत्र गुणकर्ममूलक एव जाति-
विभागोऽभ्युपगतः-(महामा० ब० प० अ० २८०)

सुधिष्ठिरः

सत्यं दानं धर्मा शीलमानृशंस्यं तपो धृगा ।

इत्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः ।

सर्प (नहुष)

चानुर्गर्णे प्रमाणं च सरप च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सरथं च दानमक्रोध एव च ।
आनृचास्यमहिंसा च घृणा चैन युधिष्ठिर ! ।

युधिष्ठिर

शूद्रे तु यज्ञवेल्क्ष्म द्विन तन्न न विद्यते ।
न वै शूद्रो भयच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण ।
यत्रैतल्लभ्यते सर्पे । वृत्तं स ब्राह्मण स्मृतं ।
मनैत्र मवेत्सर्पं । त शूद्रमिति निर्दिशेत् ।

सर्प

यदि ते वृत्तनो राजन् । ब्राह्मण प्रसमीप्सित ।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् । कृतिर्यान्न विद्यते ।

युधिष्ठिर

पानिरत्र महासर्पं । मनुष्यत्वे महामते । ।
सङ्करासर्ववर्णाना दुष्परीक्ष्येति मे मति । इत्यादि ।

एकमेव यच्चयुधिष्ठिरसत्वादेऽपि—(म० भा० व० प० ३१३ अ०) ।

यक्ष

राजन् । कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन भुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं क्व भवति प्रब्रह्मेतस्मुनिश्रितम् ।

युधिष्ठिर

शृणु यक्ष ! कुलं तान् । न स्वाध्यायो न च भुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न सशय ।
वृत्तं यत्नेन सरक्ष्य ब्राह्मणेन विरोधत ॥ इत्यादि ।

अथालेख्यतामस्य ऋषिः कर्मभ्याषचनादोऽपि (म० भा० व० प० अ० २१२)

शूद्रयोनी प्रजातस्य सदगुणानुपतिष्ठत ।
वैदयत्नं लभते राजन् । धनियत्नं तथैव च ।
आजैवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते—इत्यादि

स चायं कर्ममूढो वर्णवेनागोऽपि नासीरुरा कृतयुगे प्रचरित—अपि तु
नही । कालादनंतरं परिकल्पित इत्यपि ह्युद्धतरमभिहितं धायवीये महापुराणे
(अ० ८) ।

अप्रवृत्तिं कृतयुगे कर्मणो शुभपापयो ।
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न सकर ।
अनि-शद्रेषयुक्तास्ते वर्तयन्ति परस्परम् ।
तुल्यरूपायुष सर्वा अधमोत्तमवर्जिता ।

तदनन्तर तत्रैव त्रेतायुगप्रस्तावे—

सिद्धायान्तु वार्त्तिया ततस्तासां स्वयंभुव ।
मयादा स्थापयामास यथारब्धा परस्परम् ।
ये वै परिग्रहीतारस्तासामसन् दिघारमका ।
इतरथा कृतवाणा स्थापयामास छत्रियान् ।
उपलिष्ठन्ति ये तान् वै धावन्तो निर्मयास्तथा ।
सत्यं ब्रह्म यथाभूतं ब्रुवन्तो ब्राह्मणाश्च ते ।
ये चान्येष्ववलस्तेषां वैश्यसकर्मसंस्थिता ।
क्षीनाद्या नाशयन्ति स्म पृथिव्या प्रागतन्द्रिता ।
वैश्यानेव तु तानाहू क्षीनाद्यान् वृत्तिषाथकान् ।
शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रता ।
निस्तेजसोऽलनवीर्याश्च शूद्रास्तानब्रवीत्सु स । इत्यादि ।

एव श्रीभागवतेऽपि (११ स्क० १७ अ०) ।

आदौ कृतयुगे वर्णा नृणा हस, इति स्मृत ।
कृतकृत्या प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदु ।
त्रेतामूले महाभाग ! प्रागामे हृदयात् तयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमास त्रिवृन्मव ।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखवाहूरुपादजा । इत्यादि ।

ततश्च त्रेतायुगे सप्रवृत्तेषु वर्णाणां व्यवस्थितिं कथमभ्युपगम्यता योनिविद्धा ।
युगे युगे पुन पुनरीश्वरस्य स्रष्टृत्वकल्पनाया अशास्त्रार्थत्वात् । तस्मादवश्यं
गुणकर्ममूत्रैव सेयमिति स्फुटं विद्वयति ।

किं च संस्कारजन्यमिदं वर्णाणां वर्णरश्मित्येकनुखेनोररीकुर्वते सर्वेऽपि धर्म-
सूतकारा ।

‘ज-मना जायते शूद्र संस्काराद् द्विज उच्यते’

‘स्वाध्यायेन जपेर्होमैस्त्रैविद्यनेज्यया सुते ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ’

इत्याद्युक्ते । अत एव तु षोडशवर्षाभ्यन्तरेऽनुपनीतस्य ब्राह्मणकुमारस्यापि
नैवे ब्राह्मणत्वमभिमन्यन्ते-प्रतिपद्यन्ति च ब्राह्मणानां तेन सह सन्धमपि ।

नैतत्सर्वं योनिवृत्ते वर्णविभागे मुख्यम्—अपि तु तत्तद्गणितकर्मकरणात्सूक्ष्मकार
संस्कृतस्यात एव तत्तद्गणितकर्मयोग्यतामात्रस्तत्तद्गणितत्वमप्युपगम्यते इति स्मृति
कारेणैतत् स्पष्टमप्युपगता कर्मवृत्तेव वर्णव्यवस्थेति निश्चयात्तत्तद्व्यवस्थानु
व्यत एव च—

‘ब्राह्मणो भविरा पीत्वा ब्राह्मणपादेव हीयते’

इत्यादिवचनैर्विपरीताहारविहारसम्बन्धेनापगताया कर्मयोग्यताया तत्तद्गणित
भ्रष्टप्रतिपादनमपि स्मृतिकाराणां सगच्छते । न चैभिर्वचनजतैः प्रायश्चित्तीयतेवा-
भिप्रेता—न तु आतिभ्रष्ट इत्याप्रहीतव्यम्, कामकृतपुत्रानाम्यासाद्यौ प्रायश्चि-
त्तस्यापि प्रतिषिद्धतया स्पष्ट आतिभ्रष्टस्यैव बोधितत्वात् । योनिवृत्ते तु वर्णविभागे
योनेराशरीरपातमपगमात्समवेन आतिभ्रष्टव्यवस्थेय स्मृतिकाराणां स्फुटं व्याकुप्येत् ।
अथ ये प्रमाणजातमुपगम्यापि वर्णविभाग योनिवृत्तमेव स्थापयितुमाप्रदमहिंस्त
इमे प्रणम्यैवं प्रष्टव्या—इदानीं लिख्यमानानुयायित्व यवनतर वा प्रतिपन्नाना
ब्राह्मणकुमाराणां ब्राह्मणत्व प्रतिपद्यन्ति भवन्ती न वा । भाष्ये कापगत तस्य
ब्राह्मणजन्यत्वमिति पृच्छान् । अन्ते तु स्फुटं परिपालयन्ति भवन्ती एतादृशान्
धर्मसिद्धा वर्णं यवस्थामिरयेव ब्रम्हे । अस्माकं तु ब्राह्मणोचितकर्मणे प्रतिपद्य-
मानस्यैव ब्राह्मणत्वेन यवनत्वादिस्वीकारे च नाट्यकर्मणा दुरोज्जितत्वेन नास्येव
तस्य ब्राह्मणत्वद्रुपापीति समीचीनतयेव लोकरियति सविदा । तस्माद्यदि सुसूक्ष्म
निरीक्ष्येत्—तत्तर्हि आम्ना पौरुषादिकी कथा, इदानीं लोकस्थित्यापि कर्मवृत्त एव
वर्णविभाग संसिद्धयेदिति विचारणीय मनःप्रतिपाद्यम् ।

ननु च मो अस्ति तावदुत्तमस्य वर्णस्यावरणप्रतिपत्तिरार्यधर्मं सुसिद्धा,
अवरस्य तु वर्णस्योत्तमवर्णप्रवेश शास्त्रविद्वदो लोकविद्वदश्च । कर्मकमूल्यायान्तु
वर्णव्यवस्थायामस्याप्युचितत्वमापद्येतेति चेत् सप्तमापद्यत एव । परमिदानीन्तना
ग्रहप्रहितलोकविद्वद एवायमर्थो न तु पुरातनेतिहासविद्वदो न वा शास्त्रविद्वद
इति स्फुटं प्रतिपत्नीम । तथा हि—सर्वस्मृतिङ्गमूर्धन्योऽयं महाबाहू मनु स्फुट-
मवरवर्णस्याप्युत्तमत्वमनुजानाति ।

शत्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणत्वेति शब्दताम् ।

सत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैतयात्तथैव च ॥ इति

इतिहासलङ्घनेन च स्पष्टमवरवर्णस्याप्युत्तमवर्णत्वाविति प्रसिद्धमिति । ऐतरेय
कर्मती हि कवयस्यैलूपस्यातरन्तावरवर्णस्यापि द्विजोत्तमात्वावतिर्मन्त्रदृष्टवरूपपृथिव्य
चाग्नायते—

“ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । ते कवयस्यैलूपं धीमादनधन्, दास्या
पुत्रं क्वितवोऽब्राह्मणं कथं नो मध्ये दीक्षितेति । तं बहिर्धन्वोदवहन्तयेन विपासा

इन्द्र, भरस्त्रया उदक मा पादिति, स बहिर्धन्वोद्दृष्ट रियासया विच एतदपोनः
पत्नीयमपश्यत्” ।

इत्यादिना प्रबन्धेन । एवं महर्षेर्भगवतो विश्वामित्रस्यापि बहूना सुतानाम
नार्यत्वमान्नातम्—

“इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा” ।

(ऐत० ७-३-६)

तथा च ररष्ट श्रौतेतिहासञ्ज्ञेन तुल्यन्यायादुत्तमवर्णस्यावर्णस्यावरत्नप्राप्ति
स्वरवर्णस्योत्तमवर्णप्राप्तिश्चेत्युमान्प्यर्थो प्रतिपद्येते । पौराणिकमप्यनल्पेनाऽम्बरेण
सर्वश्रोपनिबन्धमान प्रसिद्धतममिद वसिष्ठविश्वामित्रयोरुपाख्यान क्षत्रियकुलोद्भवस्य
विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिं प्रतिपादयत्येव । ये स्वत्र तपोऽतिशयवलेनापठित
धन्यामुरीकुर्वाणा ब्राह्मणत्वरूपमात्रेण बीज एव विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं ब्रुवाणा
वा नैतेनेतिहासेनोच्चार्यमभ्युपगच्छन्ति तेषां कृतेऽन्यान्यपि वीतिहोत्रादीनामूष
मपुत्रादीनां चाख्यानानि बहुदा पुराणेषु दृश्यन्त एव । किञ्चेदमालोक्यता
तावत् कुर्यैव वर्णपरिवर्तनम्—(श्री मा० ९ स्क २ अ)

नृगवश प्रस्तुत्य—

उरुभवा सुतस्तस्य देवदत्स्ततोऽभवत् ।

ततोऽग्निवश्यो मगनानग्नि स्वयमभूत्सुत ॥

कानीन इति विख्यातो चातुर्वर्ण्यो महानृपि ।

ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवश्यायन नृप ॥ इति ।

तदग्रेऽपि—

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्य कर्मणा वैश्यता गत ।

मन्मन्दन सुतस्तस्य वरश्रीतिर्मल्लन्दनात् ॥

इत्यादि ।

हरिवशे च प्रथमे पर्वणि (११ अ.)

नामागारिष्टपुत्रो द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणता गतौ । इत्यादि ।

बहुशैवमुत्पद्यते कृत्स्नस्यापि कुर्यस्य कर्मणा वर्णपारवर्जनमिथ्यालोचनीय तत्र
तत्र सुधीवरे । ननु च भोस्त्वपआदिना महापुरुषप्रसादादिना वा विशिष्टेनैव
हेतुना ब्राह्मण्याद्येभिर्बल्य र्यादिति चेदास्ता कथमपि । न खलु हेतुसत्तास्माभि
प्रतिषिध्यते, योनिवृत्तमेव तु ब्राह्मणत्वादि न सिद्धयतीति निष्पन्नपतमुच्यते ।
तच्च क्षत्रादियोनिजाना ब्राह्मणत्वाद्यवाप्ते कथमपि सिद्धौ सिद्धमेव । वस्तुतस्तु
“कर्मणा वैश्यता गत” इत्यादिस्मरणाद् हेतुवरकल्पनस्यन्याय्या । यथा हि

१ अपोनप्तीय नाम वैदिक सूक्तम् ।

१० च० स०

कर्मवैगुण्यवाहुत्तमवर्णस्य स्वस्मादर्गोत्प्रभुतिस्तथा कर्मसाद्गुण्यादुन्नतिरप्यज्ञोक्तं-
 ज्यैवेति न्यायसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च योनिवृत्ते वर्णानां परस्पर भेदे गवाश्ववादीनामिव ब्रह्मजवादीनामपि
 विशेष प्रयत्नमुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते । उपश्रयत एव स्वभावादिभेद
 इति चेत्तदपि न । तस्यापि नियमितस्य भेदस्य शतशो व्यभिचरितत्वात् । दृश्यन्ते
 हि बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणोचितशीलानुद्धिनिमवाद्युपेताः, बहवश्च ब्राह्मणा अपि
 नितान्त बुद्धिहीना अतृप्तमायादिपराश्च । तत्तादृशप्रकृत्यनुरूपवर्णत्वमेव तेषामेष्ट-
 मित्येव तु पक्षोऽस्माकम् । तत्तद्वर्णन्योऽव्यतामभवतामपि हि तत्तेषां ब्रह्मासादृशवर्ण-
 तानियमनादेव वैयाकुलीमनुभवति समाज इदानीम् । तथा हि पूर्वोपदर्शितत्रिषो
 ब्राह्मण स्वीकारितोऽपि बलाद् ब्राह्मण्यं न तदुचितकर्मसु काञ्चिदप्युन्नतिं साधयितु
 मीष्टे, योग्यताविरहात् । शूद्रस्तु तथाविध उच्छृष्टकर्मसु कुशलोऽपि न हास्यसमाजे
 नानुपलभ्यते—इति पतितेयमुन्नतावर्गला सर्वतोमुखी । तस्मात्समाजमुन्नमयितुं कामैरपि
 गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगन्तव्यः, शास्त्रसिद्धश्च स एवति सिद्धम् ।

ननु च भौ आस्ता तावदुन्नतिकथा, शास्त्रसेद्धत्वं तु विषयस्यास्य साहसे-
 नै-ओद्भाषयसि, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादिपूर्वोपदर्शिताभिर्योनिवृत्त वर्णभेद
 स्फुटमभ्युपगच्छन्तीमि भुतिस्मृतिभि स्फुट विरोधादिति चेद् भ्रान्तिमानमेतत् ।
 तासां भुतिस्मृतीनां योनिभेदोपदर्शने तात्पर्यानुपलभ्ये ।

अपि तु अस्य विशरूपस्य भगवन् परमात्मनो, ब्राह्मणो, मुखमिव मुखम्
 सर्वदिग्मन् चगति प्रधानभूत इति यावद्, आसीत् (अस्ति) (विद्योपजीवित्वे-
 नाम्यर्हिततमत्वात्) । तथा राजन्य, बाहू इव बलप्रयोक्तृत्वात् । एवमेव वैश्य
 ऊरु इव, कृष्यादिनान्नादिद्रविण सञ्चित्य सर्वेषां पोषणकरणात् । तथैव शूद्र
 पादादिव, सर्वाणुगामित्वाद्—इत्येवमर्थप्रतिपादन एव भुतितात्पर्यम् । 'पद्भ्यां
 शूद्रो अजायत' इत्येवमुक्तिस्त्वौपचारिक्येव, भव-मते पूर्वतनपादचितपस्योपचरि
 तार्थत्ववदित्यवसेयम् । युक्तध्यायमेवार्थ, अन्यथा को हि नाम वैदिको विद्वान्
 मुखबाह्यावर्यवक्तो मनुष्यसदृशात्परमात्मन सृष्टिरियमुपजातेति सर्वथा विशान
 निरुद्धमर्थं अदधीत ।

'अपाणिपादो जन्तो ग्रहीता,'

इत्याद्याभि श्रुतिमिहिं परमात्मनोऽवच्छेदमेव रूप प्रतिपाद्यते, न तु साव्यवम् ।
 किं च परमात्मानमेवानभ्युपयन्तो मीमांसकादय कथं श्रुतेरस्यास्तात्पर्यमुपवर्णयेयुः ।
 तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः ।

दृश्यते चैवविधानां श्रुतीनां बहुप्रोपचरितार्थत्वम् । तथा हि—

'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्, न
 केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्'

इत्यस्ति ब्राह्मणम् (भृति) । नैतस्मात्किल गाय या नामाष्टाक्षरपादत्रयदशा
ब्राह्मणशरीरं समुत्पादितमिषयमर्थं केनापि प्रैशवना भक्षीयते, अपि त्वग्निदैवतस्य
ब्राह्मणस्याग्निच्छन्दो गायत्र्येव मुख्यतया समुरास्येष्यार्थं औपचारिकीय भृतिरिति
सुप्रतिपन्नं सर्वं । एवमेव—

‘अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीदर्द्धं माल्यम् । यद् धैर्यं सोमो वै स,
ततो ब्राह्मणमसृजत । यन् माल्यं सुरा वै सा, ततो राजव्यमसृजत, ’”

इत्यस्या भृतेरपि धैर्यप्रधाना सोमपायिनश्च ब्राह्मणा, क्रोधप्रधाना सुरा
पायिनश्च राजन्या इत्येवमर्थ एव तापर्यम्, न तु वस्तुतो धैर्यनामकेन केनचि-
द्भस्तुना प्रजापतिशरीराधभागेन ब्राह्मणशरीरनिर्मितिबोधने । तथा च तथैव
पूर्वोक्ताया (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्) भृतेरप्युक्त एवार्थे तात्पर्यमिति निर्विवाद
निष्पन्नवातिनाम् ।

इत्थं च तदनुगामिनीनामुपदेशितमन्वादिःमृतीनामप्यत्रैव तात्पर्यमवसेयम् ।
यदि तु स्मृतिषु सर्वत्रोत्पन्नजातसम्प्रसृतादिपदप्रयोगेण स्य मनुष्यरूपस्य परमात्मनो
मुखादिजाता एव ब्राह्मणादय इत्याद्यह्येन—तर्हि—

एहात्मनो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।

यन् स्थानाद्गने वासो न्वासु शीर्षणि सस्थित ।

वर्णानामाश्रमाणा च जन्ममूढ्यनुसारिणी ।

आसन् प्रकृतयो नृणा नीचैर्नोच्चोत्तमोत्तमै ॥

(श्रीभा० स्क० ११ अ० १०)

इत्यादिप्रामाण्यादाश्रमाणामपि परमात्मनस्तत्तदङ्गजातस्य सिद्ध्येत् । न
चाश्रमाणां योनिवृत्तत्वेननुमन्यते केनापि स्मृतिविदा, नापि शक्यते ऽनुमन्तुम्—
स्मृतिष्वेकस्यैव पुरुषस्य कालभेदेन चानुराश्रम्योपदेशान् । तत्रश्चावश्यमस्या
उपचरितार्थस्यैव स्वीकार्यमिति तुल्यन्यायाद्गणविषयेऽप्येवविधस्मृतीनामुपचरिता-
र्थतैव युक्ततामवगाहते ।

‘कर्मभिर्वर्णना गतम्’

इत्यादिस्मृत्यन्तरतिहासाद्यनुरोधाच्च तथैव प्रतिपत्ति साधीयसीत्यल्मतिवि-
स्तरेण । इत्थं च शमादिगुणानूक्तो विद्यायज्ञादिकर्ममूलक एव चायं जाति
विभाग समाननोरनिर्गदो न तु प्राकृतिक इत्ययमर्थं सुष्ठु सहाधित,
इदानीमपि च तस्य तथैव प्रचार उन्नतिसाधक, न चात्र कोऽपि शास्त्रविरोध
गन्ध इत्यपि सम्यक् प्रतिपादितमेवेति समीक्ष्यता समीक्षादर्थे । सोऽयमध्वा
बहुभिरेवेदानीन्तरैर्विशिष्टप्रश्नैरप्यनशीलित इति ।

अथैवममिदध्मदे—न तावदस्य वर्गविभागस्यैकान्ततो गुणकर्ममूलकत्वमभ्यु-
पगन्तुं शक्यम्—इन्द्रादिषु देवेषु, गवाक्षप्रभृतिषु पशुषु, वृक्षगुल्मतादिषु जडेषु,

गायत्र्यादिषु छन्दसु चेत्यादिसर्वरदाथेष्वेवाप्रतिहत वर्णविभागस्य भुतिस्मृत्या दिष्वभ्यनुष्ठानात् । तथाहि दिङ्मात्रमुपदर्शयते—

‘ब्रह्म (ब्राह्मण) वै बृहस्पति’ (ऐतरेय०) ‘यान्येतानि देवत्रा (देवेषु) क्षत्राणि इन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान् ’ ‘स विश्वतस्तुवत-यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वदेव मरुत इति (इत्यादि शतपथ०)

पशुषु—ब्रह्म वा अन्न, क्षत्र वा अश्व, देश्य च शूद्र चानु रासभ’ (श प)

वृक्षादिषु—‘ब्रह्म वै पलाश, (श प)

‘क्षत्र वा एतदोषधीना यद् दूर्वा’ (ऐत)

छन्दसु—‘गायत्ररुद्रा इसा ब्राह्मण’ (ऐत)

इत्यादि तत्र तत्रान्वेष्यम् । सन्ति चैतदनुगामीनि बहूनि पुराणादिवाक्यानि । तथैव ज्योतिषे महानक्षत्रादीनां चिकित्सिते सोमाद्योषधीनां चारितं वर्णविभागं सुविख्यात इति स्पष्टं तत्तद्विदाम् । तथा च सर्वरदाथेषु समन्वितेषु वर्णविभाग-व्यवस्था कथं वा प्राकृतिकी न स्यात् । गुणकर्ममूलके हि वर्णविभागेऽनुपेते क ताददजस्य पलाशास्य वा शमादिगुणानामध्ययनादिकर्मणा वा सम्बन्ध इति सर्वमद-भुतिस्मृत्युक्तं व्याकुप्येत । तस्मात्सन्ति केचन स्वाभाविका घर्मा ब्राह्मणत्वादिप्रयोजका, येषां सत्तया देवमनुष्याणां पशुवृक्षादीनानि च स्वाभाविक एव वर्णविभागोऽयमुपनयत—इत्येकानेनाप्यवश्यमनुपगतत्वं यम् ।

किं च कर्मभेदादेव चाति (वर्ण) भेदमनुपगच्छति । प्रेक्षादत्त इदं प्रष्टव्या—जातिभेदात्पूर्वमयं तत्रप्रयोजकं कर्मभेद एव कुत कारणार् प्रवृत्तं । समाप्तं प्रवर्तितं कर्मविभाग—इति चेत्, हन्तेदं पृच्छाम—कुत समाप्तं निष्कारणमेव कच्चन पुरुषा अध्ययनादिपूतृकर्मसु नियोजिता, केचन तु सर्वरक्षणभारं समर्थं भूपतिस्वमारोपिता—अपरे तु सेवादावरकर्मणि प्रवर्तिता । न ह्यन कर्मविभागं पूर्वं निर्वाच्य एव प्रवृत्ते भवेदिति शक्यते केनापि समीचनत्वेन सम्भावयितुम् । तथा तथा पुरुषाणां भिन्नैव तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तिरिति चेन्न कस्य नामोद्दिष्टकर्मव्यपहाय स्वादावरकर्मसु भिन्नैव । चेत्तु समाप्तं नेतृत्वभाजां ब्राह्मणानामत्र शिरसि कलङ्कनारमिमनुष्यस्य सुहृन्मा न्दन्ति—रेव यथच्छ्रमत्याचारेणोद्दिष्टकर्मणि स्वादावतीकृत्य परे पुरुषा आदावरकर्मसु निवि-सुक्ता इति, त इमे निमील्य नेत्रे यत्किमपि प्रलम्बन उपेक्षया एव विचारदक्षे । वर्णविभागात्पूर्वं ब्राह्मणानां समाजनेतृत्वाया एव तादृशभाव्यत्वात्, ब्राह्मणा-दिवर्णविभागो हि कर्ममूलक इति न आदिहन्ते त एव प्रथमं कर्मविभागो

ब्राह्मणानां हेतुत्वं कथं द्रव्यम् । कर्मविभागात्पूर्वं ब्राह्मणत्वस्य तन्मतेऽप्रसिद्धत्वात् । तस्माद्योग्यतान्निवेशं परीक्ष्यैव ते ते मनुष्या स्वस्वोचितकर्मसु समाजेन प्रवर्तिता, स्वयं वा सादृशयोग्यतया तत्र प्रवृत्ता इत्येवात्र युक्तमुत्तरं स्यात् । तथा च योग्यतायां स्वभावानतिरेकात् स्वामाविक (प्राकृतिक) एव वर्णविभागोऽपि ससिद्धः । कर्मविभागस्तु वर्णविभागमूलको न तु कर्मविभाग इति स्फुटं ससिद्धम् । एतदर्थं प्रतिपादकमेतद् पूर्वोक्तं भगवद्वाक्यं न विस्मरणीयम्—

ब्राह्मणश्शत्रियविशा शूद्राणां च परन्तप ।

कर्माणि प्रविमळानि स्वभावप्रभवेर्गुणैः ॥ (गीता)

ननु च मो आस्तामेतदेवम्—किमेतावता ससिद्धमिति चेत्सर्वमपि न समेक्षितं सिद्धयत् । स्वभावानुत्के हि वर्णविभागेऽभ्युपेते स्वभावस्थानादितयानपायितया च वर्णविभागोऽभ्यमनादिरविनश्यत् तत्त्वसिद्धिः । किं चेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वादिनां वैदिककर्मनिष्ठायाः अस्माकं तत्तज्जन्तुस्वभावोऽपि नूनमीश्वरकृत इति तन्मूलकस्य वर्णविभागस्येश्वरकृतत्वमपि सुतरां सिद्धिमापन्नम् । तत एव च—

‘चातुर्वर्ष्यं मया सृष्टम्’

‘तेषां कर्माणि धर्माश्च ब्रह्मा तु व्यदधात् प्रभुः’ ।

इत्यादीनि जगदीश्वरस्यैव वर्णविभाजकत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि भ्रूतिस्मृतिवाक्यानि साधु संगतानि । मूलकर्मण्येव कर्तृत्वयवहारस्यौचित्यात् । एष एव नूनं कर्मसु धातुकृतो नियोगः—यत्तत्तत्कर्मानुक्त्वात्प्रकृतिस्वादानम् । तस्माद्विधात्रैव सर्वे वर्णा स्वस्वकर्मसु नियोनिता इत्येवाभिप्रयन्ति शास्त्राणि । अस्य च प्रकृत्यपरपर्यायस्य स्वभावस्य ऋचेनादिसर्ववस्तुसाधारण्येन सर्ववस्तुषु वर्णभेदप्रतिपादनमपि मूर्धाणां न कथमपि विरोधमियतीति द्रष्टव्यम् । ननु तथापि कोऽयमप्यश्वत्थानुष्णादिसाधारण इत्येव स्वभावविशेषो येन सर्वत्रैव तत्र वर्णविभागं प्रवर्तते इति चेद् बहुभिन्नानुष्णमेतद् । नैतदञ्जला शक्यमारादुपदशयितुम् । श्रुत्यवगाहनान्तीरेवैतदवबोधम् । अथापि तु दिङ्मात्रमुपदश्यते—ब्रह्मेश्वदेन तावच्छ्रुताग्निं परिभाषते, क्षयमिति चेद्द्रादये, विदिति च विश्वेदेना, शूद्रशब्देन तु पुष्या । एत एव च परस्परविलक्षणशक्तिमन्तो देवाः सर्वेशस्य जगत उपादानानि मन्वतीति स्पष्टं भ्रूतिविदाम् । तथा च यत्र यत्र पदार्थोऽस्य ब्रह्मणोऽग्ने प्राधान्येन सवन्ध सौऽयम् ब्राह्मणं, अत एव चायं ब्राह्मणं आग्नयः । अग्निः ऋन्दमां गायत्रीव चास्य सवन्धं प्राधान्येन । अग्नेरष्टौ वसवः, गायत्रीव अपि प्रतिपादमष्टावशराणि—अत एव ब्राह्मणानामप्यष्टमे वर्षे उपनयनं नियतम् । एवमेवाग्रेऽप्यालोचनीयम् ।

अयेन्द्रवज्रादिदेवानां यत्र यत्र प्राधान्यं त इमे क्षत्रिया । विश्वेषां देवानां च यत्र मुख्यत्वं ते वैश्याः । पूषणं सम्प्रचेतं च शूद्रा इति । उक्तोऽयमर्थः शतपथे चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यके) तथा हि—

‘यान्देवानि देवना क्षत्राणि’

इत्यादिपूर्वोक्त देवेषु वर्णविभागं प्रतिज्ञाय तेषां देवानां सम्प्रदादेव मनुष्येषु स्वयं तद्विभागं दृश्यमुक्तं—

“तदेतद् मह्यं अत्र विष्टं शङ्कन्तदग्निनेत्रं देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः”

इत्यादिना । प्रकरणान्तरेऽपि (शतपथ एव) भङ्गया ब्राह्मणादीनामभिर्द्वेषताभिः सम्प्रथम उपदर्शितं, शूद्रस्य तु तत्रादेवत्वमुक्तम्—

“प्रजापतिरकामयत,—प्रजायेयेति । स मुक्तस्त्रिभूतं निरमिमीत, तमग्निदेवता अन्वसृज्यत—गामप्रीं छन्दो, रथन्तरं साम—ब्राह्मणो मनुष्याणाम् अजं पशूनाम्, तस्मात्ते मुख्याः—मुखतो ह्यसृज्यन्त । उरुषो वाहुषा पञ्चदश निरमिमीत—तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहस्पतिं, राजस्यो मनुष्याणाम्, अवि पशूनाम्—तस्मात्ते वीर्यान्तो वीर्यादथसृज्यन्त । मध्यतः सप्तदश निरमिमीत, तं विदग्देवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगती छन्दो, वैश्यं साम, वैश्यो मनुष्याणां गात्रं पशूनाम्, तस्मात्ते आधा (भोग्या) अत्रघानादथसृज्यन्त, तस्माद् मूयांशोऽयेभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त । पक्ष एकविंश निरमिमीत, तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणामश्नं पशूनाम् । तस्माच्चौ भूतस्रकानिगावश्च शूद्रश्च । तस्माच्छूद्रो यथेऽनवकलुसो न हि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात्तदा उपजीवते, पक्षो ह्यसृज्येताम्”

इह हि शूद्रस्य देवतसम्बन्धभावादेव यथेऽप्यसम्बन्ध उक्तः । वैश्यानां च बहुपूर्वदेवसम्बन्धाद् बाहुन्यमुक्तम् । तत्तदङ्गैश्च उदात्तैश्च चानानि—

‘ब्राह्मणेऽस्य मुखनासीद्’

इत्यादिमन्त्रमूलकमेव । इह च तत्तत्पर्यम्—यथा मनुष्यशरीरे चत्स इमा विशिष्टशक्तयः प्राधान्येन चतस्र्यङ्गान्याश्नपन्ति—शिरो ज्ञानशक्तिः, वक्षः पापक्रमशक्तिः, उदरं समग्रशक्तिः, पादौ च परिवर्थाशक्तिः । विशानानुमोदितोऽयमर्थः अत एव च शिरसि दुर्जनं ज्ञानशक्तिरपि दुर्जनं भवति, वक्षस्य चित्तप्रवणौ च चेतसि शिर एव भ्रान्तं भवतोऽप्यादि परीक्षन्ते परात्कां भावुका, ज्ञानेन्द्रियाद्यपि च प्रायेण शिरोभागेऽश्रितानि । एव च प्रयोगोपायं बाहुनाथ्यो वक्षसि च भ्रान्तिमुत्पादयतीति सुविदितमेव । मध्यभागमित्युदरं चैन्द्रं वाह्यमादिकं सत्स

मयायोग्य सर्वशरीरे विमज्जते । पादादपि च सर्वशरीरस्य परिचर्यामिष्टदेशप्रापणादि
रूपा विधत्त इत्यतिरोहित लौकिकानामपि । तथैव खलु भगवतो विश्व (विराट्)
रूपस्येश्वरस्य शरीरमूलेऽरिन्द्रखिले जगत्पति यत्र विज्ञानशक्तिः प्राधान्येन विद्योतते
त इमे ब्राह्मणा भगवत शिरो (मुख) रूपा । पराक्रमशक्तिमन्त क्षत्रिया वक्ष
उदया । कृष्णादिनागादिकं सञ्चय सर्वजगत्गोषका वैश्यास्तु मध्य (ऊरु)
स्थानीया , एवमव परिचर्याप्रवृत्त्या द्वा पादा इवलि भावयन्तु भावुका
विपश्चित । अथापि तत्तदवयवस्य एषमुत्पत्तिश्रुते क्रोऽभिप्राय इति चेदुच्यते ।
जगत्प्रधारमीश्वरप्रमिसम्प्रमानानां श्रौघमैवशरणानामस्नाक जीवोऽयमीश्वरस्वाद्य
एव, अस्य च सर्वा शक्त्योऽपीश्वरशक्तिः स्या एव । एव च मनुभ्यामा तत्तदङ्गे
पुण्यमाना इमा (पूर्वाका) अत्र शक्त्योऽपि नून सर्वसमष्टि (विश्व)
रूपस्य भगवत परिकल्पिततत्तदङ्गजन्या एवामुपगन्तव्या — गत्यन्तराभावात् ।
तथा च तत्तच्छक्तिवैशिष्ट्येन सम्बन्धमिदं ब्राह्मणत्वाद्यपि शक्यविनाभावात्तत्तदङ्ग
जन्यमेवेति युक्तियुक्तमनुशास्त भगवान् वेदपुत्र । सूक्तोऽयमर्थ श्रीभागवते
ऽपि—

(३ स्क० ६ अ०)

मुखोऽवर्तत ब्रह्म पुत्रपरस्य कुरुद्वह ।
यस्तन्नुत्तरवाद् वर्णानां नुत्प्योऽमूद् ब्राह्मणो गुरु ॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्र क्षत्रियस्तदनुव्रत ।
यो जातश्चायते वर्णान् पौरुष कृणुश्चतत् ॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्बोर्लोकशक्तिः करीर्विभो ।
वैश्वस्तदुत्तरो वासु शृणु य सप्तवर्णसु ।
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे गुश्रुषा धर्मभिक्षये ।
तस्या जात पुरा शूद्रो यद्दृष्ट्या तुष्यते इति ॥ इति ।

इह हि पूर्वोक्तरीत्या शक्त्यपरपर्यायाणां तत्तद्वृत्तीनां तत्तदङ्गस्य उत्पत्तिमुप
पाद्य तदनुवर्तनाद्ब्रह्मणो वर्णस्वरमुक्तम् । तेन च पूर्वोक्तमेव तात्पर्यं दृष्टं इति मति
सुस्पष्टं भावनीयमेतद्विषयश्चिदरे । ताश्चेमाश्रयस्त शक्त्यो मनुष्येषु तासामन्यादि
देवतानां सम्बन्धविशेषादेवाविर्मन्तीति वैदिकानां दर्शनम् । ब्राह्मणादिशब्दाश्च
नैतासु शक्तिश्च नियता — अथ त्वनादिसम्बन्धनियता एव । अन्यादिदेवानां
च सर्वेष्वेव पदार्थेषु सम्बन्धननुसरन्स्तत्रमन्तो मर्षय सर्वैव वर्णावभाग
प्रतिजानते—इति नाश्रयतां भावुके ।

ननु च भो मुक्तमेवैतद्विधादितम्—आस्ता एवमाश्रमेदाद् ब्राह्मणादिजानि
भेद । स्वभावस्य च तत्तद्देवतसम्बन्धादेवास्तु भेद , स च देवतसम्बन्धवैलक्षण्य
विशेष ईश्वरकृत एव निश्चय, तेन च वर्णभेदस्यापीश्वरकृतत्व खादमुपपाद्यताम् ।

अथापि तत्तत्स्वभावपरीक्षण्येन तांस्तान् तत्तत्कर्मसु विनियोग्य तेषामाहारविहारादि भेदव्यवस्थापनरूपोऽयं लोकप्रचलित स्थूलस्तु वर्णविभागो नून समाजकृत एवाभ्युपगन्तव्य । तत एवास्त्य भारतवर्षमात्रप्रचरितस्वमभ्युपगम्यते, समृद्धविज्ञाने तत्तत्स्वभावपरीक्षणदक्षैर्हि भारतीयै र्-कीये देशे स्वस्वोचितानि कर्माणि विभ्रम्य तत्तदनुकूला आहारविहारादयोऽपि परीक्ष्य नियमिता इति बहो कालात्पुरैश्चात्र सुदृढतामाप्तौ वर्णविभाग । दशान्तरेषु तु पुरा तथाविधविज्ञानविरहान्नेत्र परीक्षाक्षमत्वमासीदिति सत्यपि स्वाभाविक विभागो स्थूलोऽप्यमीदृशो विभागो न तत्र प्रचलित । अत एव च त्रेतारम्भे वर्णविभागप्रतिपादकानां वायुपुराणादिवचनानां

‘कर्मभिर्वर्णता गतम्’

इत्यादिभारतवचनानां चाभ्युपगम्यते सगति । एवविधस्य स्थूलस्यास्य विभागस्य त्रेतारम्भे ऽप्यभ्युपगमे छत्रभाषात् । अस्य च कर्मविभागोत्तरमेव निष्पन्नत्वात् । मूलविभागस्य स्वभावभेदस्यैवेश्वरकृतत्वेनानदिताभ्युपगमात् । तथा चान्ततो वर्णव्यवस्थिते समाजकृत्वै सिद्धे अधुनापि समाजं ब्राह्मणाद्युचितस्वभाव एव ब्राह्मणादिरनुमन्यताम्—न तु ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्या प्रसूतमात्र एवावस्वभावोऽपि ब्राह्मण, शूद्रजस्तुः शूद्रप्रवृत्तिरपि शूद्र एवेति प्रतिपात्त साधीयसीत्येतास्माकमभिप्राय इति चे विव्यूहान् प्रत्येवमाचक्षते ।

आस्तामेतत्तिपुरातने काल इश्वरकृत वर्णविभागमनुष्ठानं समाजस्यैव तत्तद्गणकतव्यताद्वारादिप्रवर्तकवाभ्युपगमः, सगच्छन्ता च तत एव—

‘कर्मभिर्वर्णता गतम्’

इत्यादीनि वचनानि । अथापि तु तदानीमेव किञ्चिदमयान्तरमव वा

‘कारणगुणा कार्यगुणानारभन्ते’

इति प्राकृतिक नियममनुबन्धानमर्हामहिमशालिभि समाजनेतृभिर्मर्दङ्गिमिस्तत्तद्दशज्ञाना तत्तद्गणैश्च सुदृढ नियमितम् । नहि ‘विता क्षत्रिय, पुत्रस्तु शूद्र, पुत्रस्तु ब्राह्मण’ इति यथानिश्चि प्रवर्तनानां समाजविच्छेदकरी विशृङ्खलस्य बहुकाल तैरुपक्षिता, अपि तु वर्णव्यवस्थितिप्रवृत्तिवमनन्तरमव

‘सर्वेभ्य सर्वाणु जायन्ते हि सजातय’

इति नियमोऽप्यव्यभिचरित प्रवर्तित । पश्यन्ति हि ते महानुभावा—मधुरादाम्न बीजादुत्पादितस्तर्कमधुराण्येव फलानि सप्रयत्नति, अम्लान् बीजादुत्पादितोऽम्लान्येव, रक्तात्कापीसाद्रक्तमेव वल्गमभ्युपजायते—पीतात् पीतम्; तथैव खलु शीमप्रधानाद्यद्यथादिर्कर्मप्रवणाद् ब्राह्मणादुत्पन्न मुनोऽपि तथाविधमेव योग्यता विन्देत, न तु तथेतराम् । यद्यपि तु लक्ष्यतेऽस्य नियमस्यास्य व्यभिचारः, अथानि

तु सोऽय हेतुनिशेषजन्य क्वचिदेव स्यात्—स च विशिष्टकारणप्रभव क्वाचित्को
व्यभिचार प्राकृतिक नियम न भङ्गकुमीष्टे । तत एव तु समुपेक्ष्य क्वाचित्कर्मि
व्यतिक्रम योनिस्वन्ध एव वर्णविभागे प्रधानो हेतुररीकृतो विज्ञाननेधैरस्मत्पूर्व
पुरुषे । बहून्येतदर्थप्रमापकानि प्रमाणानि, तथा हि—पूर्वमुपदर्शिता कवपो
पाख्यानभूतिरेव तावदर्थमिमं सुदृढमवबोधयति—शूद्रो हि कवपो दीक्षा प्रविष्ट
इति सावेश महर्षिभि स बहिष्कृत, अहो समाजनियमभङ्गकारिणि कवपे महर्षाणा
सुतीक्ष्ण दण्डविधानम्—यद्

‘अत्रैन पिपासा हन्तु’

‘सरस्वरया उदक मा पात्’

इति निर्णये प्रदेशे स निश्चित । कर्मण एव वर्णविभागहेतुताभ्युपयन्तो
महानुभावा सुस्तम्भमिदमालोच्यन्तु—यदि कर्मानुरोधिन्येवावस्थितिवर्णाना तदाखे
महर्षिभिरभ्युपगम्येत तत्तर्हि किमिति दीक्षा प्रविष्ट स वराक एव तिरस्कियेत ? किमिति
तस्य दीक्षाप्रवशामिदमैव स सवहुमान ब्राह्मणवर्णे न प्रवेश्येत ? तस्मात्तस्मिन्नपि
काले सुदृढतरो योनिवृत्त एवासीद् वर्णविभाग, तत एव चान्नवर्णजोऽयमुत्तमकर्मा
प्यनुतिष्ठासन्नवधोरीतो द्विजपुङ्गवै । अनन्तर तु समुद्भूतानन्यसाधारणप्रखरतर-
विज्ञानशक्तिरपोनप्त्रोयसूक्तद्रष्टा स कवध ऐलूषो महर्षिभिर्ब्राह्मणवदग्यहंणीयतामापा-
दित—इत्युक्तगुणस्वन्ध एव तत्र कारणम्, न तु तथाभूतस्तेन नियम शक्यते
कल्पयितुम्—यद् ब्राह्मणकर्माभ्यनुतिष्ठासन्नेव ब्राह्मण स्यादिनि । उक्तगुणवन्ति तु
वस्तुनि सर्वाण्यपि प्राकृतिक नियममतिक्रम्यैव तिष्ठन्ति—नहि गोमय पूतलमिति सर्वमपि
पुरीष तथापि स्यात्, न वा कस्दरी सर्वत्रोपादेयेति सर्वमपि मास सर्वत्रोपादेय
स्यात्, न च कश्चिन्मणिरसख्यमूख्य इति सर्वोऽपि तथैव भवेत् । तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्ट-
कारणादधिगतोऽदृष्टतमगुणसन्धोऽयमैलूष कवपोऽपि न सामाजिक कुल्कमागतवर्ण
विभागनियमं भङ्गकुमर्हति, प्रत्युत तत्सादृशगुणामिव्यक्ते पूर्वं तस्य ब्राह्मणत्वानवा-
तिर्णवपरथा द्रवपत्नैरत्याजोच्यन्तु निद्रात । ततश्चोपाख्यानेनानेन सिद्धमेतत्—
ऐतरेयश्रुते प्रकाशात्पुत्रैव कुल्कमागतावस्थितिवर्णाना सुदृढतामयासीदिति । तथैव
एतु भगवान् विद्वान्निवरापुपाख्यानेनायमेवार्थ सिद्ध्येत्—ब्राह्मणत्वमभीष्टन्
हि स भगवान् तत्सादृशमन्यसाधारण वर्णसहस्राणि तपस्तेपे, न त्वमीष्वामात्रेणैव
समत्राप ब्राह्मण्यम् । तन्न हि ततोऽपि पूर्वतरमेव सुदृढैवासीद् योनिवृत्ता व्यवस्थिति
वर्णानामिति सुखाधिगम्यमेतत् । यदि हि तदाखे तत्तद्गोचितकर्मानिश्चिरेव
तत्तद्गोच्ये कारण स्यात्—तर्हि ब्राह्मणकर्माभ्यनुतिष्ठासन्नेव स भगवान् ब्राह्मणत्वो-
ररीकियेत, न त्वेतावत्तपस्तदर्थमपेक्ष्येत । न च ब्राह्मण्ययोग्यतासंपादनार्थमेव
तपस्तेन समनुष्ठितमिति भ्रमितव्यम्—आस्ता नाम योग्यता, अनितरसाधारण्या
विशिष्टतामात्रमपि योग्यताया समुद्भूताया न तस्य ब्राह्मणत्व समाजप्रभुत्वै

वैशिष्ट्यादिभिरम्बुपगतमिति स्पष्टं तदाख्यानविदाम् । सुमहत्तरतप समनन्तरन्तु
 तस्य ब्राह्मणस्य सपत्तिस्तरुत्तप सबन्धमूलिकैवति न सा नियममवस्थापयितुमीष्टे,
 उत्कृष्टगुणसम्बन्धस्य प्रकृतिनियमातिक्रमकारिताया उक्तत्वात् । तच्च विद्वान्ना
 मित्रादपि भगवतः पुरस्तादेव कुलक्रमागतैवासीद्गर्णव्यवस्थेति सखिद्रम् ।
 सर्वबाहुमयादिभूताया भगवत्या ऋकसहितायाश्च बहुतरसूक्तद्रष्टाऽयं भगवान्
 विश्वामित्र, यदि तस्यापि काले योनिवृत्तो वर्णभेद इतिहासेन सुप्रतिपद्यते—
 तत्तर्हि कुतोऽनादित्वमस्य न व्यवहरेम । ततः प्राक्तने तद्वृत्तानां प्रमापकस्यैतानुप-
 लब्धे । तस्माद्गर्णभेदशैथिल्यायोरानीयमानान्युपाख्यानानीमानि वर्णभेदस्य
 पुरातनतन्त्रव्यवस्थावबोधयतीति सुसूक्ष्म भावयन्तु विरक्षित । एतेनेतराण्यपि
 पौराणिकानि वर्णविनिमयबोधकानीतिवृत्तानि ध्याय्यात्तानि, तत्रापि क्वचिद्
 दम्यर्हणीयतमगुणससर्गादेव वर्णपरिवृत्तेरभ्युत्थितात् । अन एव स्वनेकगुणसंबन्धिनि
 वृत्तमेऽप्यायोगामिति वृत्तं द्वित्राण्येवास्य वर्णविनिमयस्य निदर्शनानि, यदि तु
 तत्तत्कर्माभिस्त्विरेव वर्णभेदे प्रमाणं स्यात्तदा किमतावतामेव गणनीयानां वर्णपरिवृ-
 त्तिरुक्ता स्यात् । वयन्तु पश्याम—यदि पुरैव वर्णभेदं सुदृढं न नियम्येत तत्तर्हि
 एवविधानां वर्णविनिमयानां नामनिर्देशायापि पुराणमपर्याप्तं स्यात् । तदेव
 खल्विति वृत्तनिबन्धा नियन्तानि यत्प्रकृतेर्विलक्षणं नूत्रमिवाभाति, वर्णविनिमयश्चापि
 क्वचिदस्ति तत्रैतिवृत्तेऽन्यत्र इति क्वचित्क एवायत्कृष्टगुणसंबन्धमूलकं सपत्तेरम-
 नं तु सामाजिकनियमसिद्धं इति वाटमनुनीयेत विचारदशे । तथैव खल्वित्ये—

‘तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीया योनिमारद्यन्—
 ब्राह्मणयोनि वा धनिययोनि वा वैश्ययोनि वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह
 यत्ते कपूया योनिप्रापयेत्—इत्ययोनि वा सूकरयोनि वा चण्डालयोनि वा’ ५।१०,

इति पुनर्न-मविषयिणी छान्दोग्यश्रुतिर्ब्राह्मणादियोनिं प्रशंसती योनिवृत्तं
 ब्राह्मणावादि स्पष्टमम्बुपगतमिति । तस्माद्योनिवृत्तस्य वर्णभेदस्य समाजनियमितत्वाभ्यु-
 पगमेऽप्यतिपुरातनकालिक एव सोऽयं नियमो न स्वर्गीचीन इति स्फुटं सहायितम् ।

अथ योऽमहत्तरकृष्टगुणस्य धादपि केषांचिदभ्यर्हितवर्णप्रवेशप्रचार इतिवृत्तेनानु-
 मितं सोऽप्यतिपुरातन एव समये शक्यतेऽनुमातुम् ।

तदुत्तरन्तु प्राचीनतमेऽपि रामायणमहाभारतादिकाले नैव कथमप्यासीद्गर्णवि-
 निमयः, अत एव समनुष्ठितप्रबलतरत्रियकर्मोऽपि भगवन् परशुरामो ब्राह्मण इत्येव
 परिपूज्यते एव भगवता रामेण, सकलधनुर्धरगुहश्च भगवान् द्रोण इत्येव वा नैव
 ब्राह्मण्यं विजहौ । उत्तमवर्णोऽन्त न्व तप समनुतिष्ठन् शम्बूक इन्द्र इति भगवता
 रामेण निधनमेव प्रापित — इत्यादीनि बहूनि पुराणेषु प्रामाण्येऽप्यर्थस्य प्रमापका
 नीतिवृत्तानि । अथ बालोऽवता महाभारतस्यानुशासनिके पर्वणि मीधनयुधिष्ठिर
 सवाद —

युधिष्ठिर (प्रश्न)

नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ।
क्षत्रियो यदि वा वैश्य शूद्रो वा राजसत्तम । ।
ब्राह्मण्य प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ।

भीष्म (उत्तरम्)

ब्राह्मण्य तात दुष्प्राप्य वर्णं क्षत्रादिभिर्त्रिभि ।
पर हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर । ।
बह्वीस्तु ससरन् योनीर्जायमान पुन पुन ।
पर्याये तात कश्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥

इति । (अ २७)

इह हि स्पष्टमेव भगवता सर्वधर्मरहस्यनिष्णातेन भीष्मेण जन्मान्तर एवावर-
वर्णाणां ब्राह्मण्यलाभो न तु कश्चिदप्येकस्मिन्नेव जन्मनीति स्पष्टमेवोद्बुधम् ,
जन्मान्तरे च ब्राह्मणत्वाद्यवाप्तेरुक्तिरियं पूर्वोक्तदशितञ्जान्दोग्यश्रुतिमूलिकैव ।
अनन्तर च तेन भगवता मतङ्गस्य शूद्रस्योपाख्यानमाख्याय हृदीकृतोऽयमर्थ ,
स हि मतङ्गो ब्राह्मणत्वमभीषन् ब्राह्मणोचितसकलगुणगणसंवृतो महत्तर तपश्चचार-
तदुक्त तेनैव सुरराजमिन्द्र प्रति—

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहित ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुया क्वम् ।
अहिंसादममास्याय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

(आ० प० अ० २६)

स चायमेवविधोऽप्येतदेवन्द्रेणोत्तरित —

भेष्टता सर्वभूतेषु तपोऽर्थे नातिवर्तते ।
तदप्रथं प्रार्थयानस्तमन्विराद् विनशिष्यसि । इति ।

तदित्य मतङ्गेन सुमहत्तपस्यताऽपि नैराधिगत ब्राह्मण्यमिति । उपाख्यानेनैतेन
मुख्यमिदं भवति—यद् बहुतरतपोऽनष्टानादिनाप्यतिपूर्वमेवाभ्यर्हितवर्णश्चावाप्ति
प्रवर्तितासीत्—तदुत्तरन्ववर्णस्योत्कृष्टवर्णत्वं सर्वथैव प्रतिपिद्यम् । ततश्चाति
पुरातन एव रामायण महाभारतादिकाने कुलक्रमान्तेयमन्वितिर्वर्णाणां सुहृदस्व
मुपगतेति साधु संसाधितम् । यत्तु यक्षशुभ्रिणोर्वादे करतलामलक्यायितधर्मरहस्ये
नापि युधिष्ठिरेण कर्मण एव द्विजत्वहेतुस्त्वमुक्तम्—तदिदं कर्मण प्रशंसनमात्रम् न
तु युधिष्ठिरकाने कर्महेतुको वर्णविभाग सम्भावयितुमपि शक्य , द्रोणादीना

ब्राह्मणत्वव्यवहारविरोधापत्ते । पूर्वोक्तमीधवाक्येनात्यन्त विरोधाच्च । स्पष्टीकृतधो परिष्ठात्—'वृत्त यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः' इति वदता तेनैव महात्मना स्वकीयोऽभिप्राय । यत्नतो हि ब्राह्मणेन स्वकर्मपरायणेन भवितव्यम् अन्यथा निन्द्यात्मनस्यापद्येतेरप्येव एव तदभिप्राय । एवमेव नहुषेण सवादेऽपि यत्सत्यशीलादिभिश्चिष्टस्य ब्राह्मणत्वरूपात् सुधिद्विरेण—तस्याप्येतैश्चणैश्चमो ब्राह्मण परीक्ष्य इत्येव तात्पर्यम्—नञ्चेत्—

जातिरन महासर्वं मनुष्यस्य महामते ।

सकरारसर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥

इति वदता तत्रैव स्पष्टीकृतम् । आरभ्ये हि तदा ऋषये युगे बहुशो व्यभिचारादिप्रवृत्त्या वर्णसकरवाहुल्यत आतिमात्रेण ब्राह्मण उत्कृष्ट शक्य परीक्षितुम्—अपि तु सत्यशमादिगुणानवलोक्यैवोत्कृष्ट ब्राह्मण्य निश्चिनोपमिति तदभिप्राय । एव धर्मव्याघादिसवादेऽपि चत्वादिगुणोरुत्कर्षयन् एव तात्पर्यं भवत्येवम् दृढतरप्रमाणान्तरानुगुण्यदिति मान्यता भावुके । भदा हि स्वकीय वर्णाचित कर्म परित्यज्य वर्णोत्तरोचितकर्मणा जिजीविषन्तमर्जुनं महात्मान् वासुदेव —

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मो निघन श्रेय परधर्मा भयावह'

'तत स्वधर्मं क्रीतिं च हिंसा पापमवाप्सतः'

(भगवद्गीता)

इत्यादिभिर्वचनचतैर्निवारयामास भनिच्छतमाप 'स्वधर्म' इति युद्ध कारया मास च, तरिमन्त्रेव महाभारतकाले कर्मणैव वर्णव्यवस्थितिसुधिश्चिरादिभिर्धर्मम मन्विद्धिःपगतेति श्री नाम विचारशील सम्भावयेदपि । वर्णविभागदेतुक् एव कर्मविभागो, न तु कर्मविभागहन्को वर्णविभाग इति सुस्पष्टमतद्भगवद्गीतासु तात्पर्यम्—अतएव स्वर्जुनस्य ब्राह्मणोऽन्वितमैश्वादिपरिमह पापमिति निषिद्ध । तस्मात्तदाख्येऽतिदृढमूलाया योनिजनवर्णव्यवस्थायाम् सुतरां संसिद्धौ पूर्वोक्तवचनानामुपपत्तितार्थ एव तात्पर्यम्—न तु गत्यन्तरमिति स्फुट समीक्षादक्षाणाम् । ततश्च पुराणमहाभारतादीनां कुलक्रमागतवर्णावस्थितावेव तात्पर्यं स्पष्ट संशयितम् ।

स्मृतयस्त्वेकमुखनैव जन्मसिद्ध वर्णविभाग स्फुट प्रतिपादयन्ति—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पनीष्वस्तयोनिषु ।

आनुलोम्येन सम्भूता जात्या श्रेयास्त एव ते ॥

(मनु अ० १०)

सवर्णस्य सवर्णास्तु जायन्ते हि सजातय ।

(याज्ञवल्क्य)

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मोऽयमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वर सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (मनु ७० १)

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृत ।

(हारीत)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः सस्कारैर्द्विज उच्यते ।

विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥ (अत्रि)

किं च स्वस्ववर्णोचिताध्ययनादिकर्मविरहितस्यापि ब्राह्मणादेर्वगुण्यमानं मन्यते, ब्राह्मणत्वं तु सामान्यतोऽभ्युपगम्यत एव स्मृतिवृद्धि—तदेतदाह भगवान् मनु—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग ।

यश्च विप्रोऽनघीयानस्त्रपस्ते नाम विभ्रति ॥

यथा षण्डोऽफलं स्त्रीषु यथा गौर्गवि वाफला ।

यथा चाश्लेषोऽफलं दानं तथा विप्रोऽनुचोऽफल ॥ (अ० २)

अत्र अनघीयानस्यारि विप्रस्य नाममात्रेण विप्रत्वं सुस्पष्टमुक्तम्, न चैत एवमविद्व १११मेऽमन्तरा कथमपि घटेत—कर्मण एव जातिहेतुत्वेऽनघीयानस्य विप्रशब्दवाच्यताया एव दूरापेतरवात् । किं च ब्राह्मणेषु विदुषा भ्रैष्यमानाश्चाणो (१।६७) भगवान् मनुस्मृतौऽपि ब्राह्मणत्वमभिप्रेत्येव । सर्वस्म्युपेतशासनश्च भगवान् व्याकरणमहाभाष्यकारोऽपि नञ् सूत्रे प्राशङ्गिकी स्मृतिमिमांसादाबहार—

तप भृत च योनिभेदेनद् ब्राह्मण्यकारकम् ।

तप भृताभ्या यो हीनो जातिब्राह्मण एव स । इति ।

इहापि तप भृतयोनिरे यदि शिष्टस्य मुख्य ब्राह्मणत्वम्, तप भृतविहीनस्यापि तु केवल ब्राह्मणकुलप्रसूतस्य जातिमात्रेण ब्राह्मणत्वमिति स्पष्टमभ्युपगच्छन्त्या स्मृत्या जातेर्मुख्यता द्योतितैव । भाष्यहृता चात्रैवविषे ब्राह्मणे यद्यब्राह्मणशब्द क्कारि प्रयुज्यते तर्हि स उपवारादेव, सुच्याचारादिनिशिष्टेऽपि योनिविरहिते तु ब्राह्मणवाभावनिवन्धनो मुरय एराब्राह्मणशब्द इत्यनिदधता स्पष्टमेव योनि प्राधान्यमुररीकृतम् । एवमुक्तमङ्गीकृतमित्युक्ततामङ्गीकृतानामुक्त्यै स्फुटं प्रतिषेधति भगवान् मनुरेव—

अनायंमार्यं कर्मणिनायं चानायं निर्माणम् ।

सप्रधायत्रिवीदाता न समौ नासमाविति ॥ (अ १०)

इह किञ्चिदर्थकमप्यनुतिष्ठत इन्द्रस्य विगुणार्थसमन्वयमपि कथञ्चित् प्रतिपिष्यते-
किं पुनरार्थत्वम्, कथञ्चित्समर्थं तुमयोरपि निषिद्धाचरणकर्तृत्वादेवाम्युपेतमिति
स्पष्ट टीकास्तु । भगवान् पराशरोऽपि सुस्पष्टमाह—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः ।

कं परित्यज्य दुष्टां गां दुरेण्डीलवनीं लरीम् ॥

अवश्यमपि दुःशीलस्य द्विजस्य पूज्यतोक्तिः कैश्चित्कन्यायमूलिकैवेति मन्यते
तथापि तु योन्युत्कर्षे एव महर्षीणामेव तात्पर्यमासीदित्येतन्न शक्यं कथमप्य-
क्षोतुम् । उक्तश्रायमर्थो भगवता मनुनापि राजधर्मेषु—

अविद्वाश्चैव विद्वाश्च ब्राह्मणो देवतं महत् ।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निदेवतं महत् ॥

(अ. ९) इति ।

अथैव दूरे तिष्ठतु वर्णविनिमय, स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं निवेदमाणानां
प्रवक्तृपातकसंन्ध प्रपञ्चयामास भगवान् मनुरेव द्वादशोऽध्याये—

स्वेभ्यः स्वैभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युतवर्णा ह्यनापदि ॥

पापान् ससृत्य ससारान् प्रेष्यता यान्ति शत्रुषु ॥ इत्यादिना ।

तदेव कियदुदाहराम — सर्वत्रापि स्मृतिषु जन्मनैः वर्णभेदसिद्धान्त-मुप्रातिष्ठित
इति नेद दुरधिगम प्रेक्षावताम् । यत् स्मृतिषु वर्णानां संस्कारजन्तवस्योक्तत्वात्
संस्काराणां च कर्मयोग्यतासंपत्त्यर्थमेवोपयोगात्, कर्मयोग्यताया एव वर्णभेद-
मूलत्वं प्रस्थापितम्, तदेतन्नारम्भमशतोऽपि प्रतिकूष्म् । यतो हि न वयं कर्म-
योग्यताया मुख्यवर्णहेतुता कथमपि चारयाम — 'योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं
ब्राह्मण्यकारणम्' इत्युक्तत्वात्, कर्मविरहितानां चातिब्राह्मणादीनां बहुतरनिन्दा-
स्मरणान् । तत एव वर्णानां मुख्यवर्णत्वसंपत्तये समपेक्ष्यन्त एव संस्काराः । इमे तु
संस्कारा ब्राह्मणादिभ्योऽप्येतेष्वेव तत्तत्कर्मयोग्यतामाविर्भावयितुं प्रभवन्ति—न तु
कचिद्वरनेऽप्यभिनवा तादृशीं योग्यतामाधातुमिति स्फुटं प्रतिजानीमहे । दृष्टा हि
लोके संस्कारा मालिन्यमुपगतेषु मणिमौक्तिसमुत्कर्षादिष्वेव श्रुतिमन्त्रायां विधीयन्तः,
न तु लोष्टप्रस्तरादिष्वपि तादृशीं श्रुतिमभिनवामुत्पादयन्तः । तस्माद् ब्राह्मणादि-
कुलजानामेव मुख्यब्राह्मणत्वादिसिद्धये समपेक्ष्यमाणा अपि संस्कारा न शूद्रेष्वपि
ब्राह्मण्यजनयेदुरिति स्मृतितात्पर्यं शक्यमुपपादयितुम् । अत एवावरजानामुत्कर्ष-
वर्णाचिता संस्कारा स्मृतिषु निषिद्धा एव, तत्र तेषां फलाप्राप्त्यभावादिति
विभाव्यतां भाषुके । किं च—वैवर्णिकानुद्दिश्य विहितेष्वप्येषु संस्कारेषु तत्तद्वर्णाचितः
प्रतिनियम आभीयते स्मृतिवृद्धि—तथाह मनुर्नामकरणे—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य घनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् । इत्यादि ।

अहिंमश्च एतमात्रस्य शिशोर्दशमेऽह्नि नामकरणकाले किं तस्य ब्राह्मण-
त्वादिसाधकं भवितुमर्हति, श्रुते योनेः । न हि गुणकर्मादीनां विज्ञानस्य कथापि
तदाश्वे शक्यसम्भवा । तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव ब्राह्मणाद्युचितं नाम
स्मृतिष्वभिप्रेतमिति संस्कारप्रकरणादपि जन्मसिद्धस्वमेव वर्णानां प्रसिद्धयति । तथैवो-
पनयने तत्तद्दर्शानां दण्डमौञ्ज्यादिप्रतिनियमोऽप्यत्रानुसन्धातव्यः ।

यच्चैतद्विपरीताहारविहारदिसंख्यादधःपातेन स्मृतिषूपन्थ्यमानेन कर्मयोग्य-
तैव वर्णभेदे मुख्यो हेतुरित्युत्प्रेक्षितम् तदप्युक्तयुक्तेरेव प्रत्युक्तम् । कर्मयोग्यताया
मुख्यवर्णहेतुतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्—तस्याश्च मदिरापानाद्युक्तप्रत्यवायसंपाते
ऽपगमात् तत्तद्दर्शानां ब्राह्मणत्वादेः प्रन्थवस्योपपत्तेः । नाममात्रेण तु कथञ्चिद्
ब्राह्मणत्वादिकमेधामपि नशक्यमपलपितुम् । इतरेषान्तु ब्राह्मणादीनां दोषसम्पर्क-
भीतानां न ते संभवद्वार्या भवन्तीति पतिता एवाख्यायन्त इत्यास्ता तावत् ।
यस्मिन्तो वर्णानामध पातादेव दृष्टान्तात् समुन्नतिरप्यवरवर्णानामनुज्ञातुमभिलष्यते
तदेतदन्याम्यम् । विनिगतस्येव समुन्नतेः क्वापि स्मृतिष्वनुक्तत्वेनाप्रामाणिकत्वात् ।
सुभो हि विनिपातः, सुदुर्लभा तु समुन्नतिरिति प्राकृतिकोयमर्थः । तस्मा-
त्कुतश्चिद्विशिष्टहेतोर्विनिपात इव कुतोऽपि हेतोः समुन्नतिरवरवर्णानां स्मृतिषु कुत्रापि
नोक्तेति न स्मृतिसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च—‘योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्’ इति स्मृतिमुदाहृत्य
ब्राह्मणादिशब्दानां सृतिर्भाष्यकृतैव भगवताऽभ्युपगता । समुदायश्चायमेकविनाशोऽ-
प्यपैतीति युक्त एवायं वर्णानां तत्तद्दर्शत्वापगमः । न त्वेकविरहेऽपि समुदायः
शक्यते कथमपि व्यवहर्तुमिति न युक्तोऽभिनववर्णत्वसमुत्पादः । तथा हि—
ब्राह्मणकुलप्रसूतत्वेन योनिविशिष्टोऽपि कश्चिद् व्यक्तिविशेषो विद्याकर्मणी यदि
ब्रह्मात्, विद्याविशिष्टोऽपि वा कर्मपतितः स्यात्, मुरापानादिभिरुत्कृष्टविद्या-
कर्मयोग्यतानेव वा समुच्चिन्ध्यात्—तत्तर्हि न तस्मिन् योनिविद्याकर्मणा समुदायः
प्रतिष्ठित इति सोऽवश्यं ब्राह्मणत्वात् पतितः स्यात् । योनिमात्रस्यैकस्य वा सत्त्वेऽ-
पि त्रितयसमुदायस्य वस्तुमशक्यत्वात्—ब्राह्मणशब्दस्य च त्रितयसमुदाये निरुद-
त्वादिस्युपगमनं ब्राह्मणादियोनिजानामपि पातित्यम् । यस्तु ब्राह्मणकुलेऽनुत्पन्नतया
योनिविरहितोऽप्युत्तमा विद्यां सस्कारवशादधिगच्छेत्, यमनियमादिपूङ्गुष्टेषु
कर्मैवपि चानुरक्तः स्यात्, सोऽयं द्वितयसत्त्वेऽपि योनिविशिष्टत्रितयसमुदाया-
भावादेव न ब्राह्मण्यमाप्तुं शक्नुयादिति नोपपन्ना वर्णानामस्मिन् जन्मन्युत्कर्षा-
वाप्तिः । एतेन ब्राह्मणस्य श्लेष्ठादिधर्मान् प्रतिपन्नस्य श्लेष्ठादिवदेव ब्राह्मण-

धर्मं प्रतिपन्नानां यवनादीनामपि ब्राह्मणवादि तुल्यन्यायादुचितमिशाद्यन्तु
 ज्वलमापादयन्तो निरस्ता । समुदाये ब्राह्मणादिशब्दानां प्रयोगस्येभ्यश्चात्
 समुदायस्य च योन्याद्य यतमविरहे ऽप्युत्पादयितुमशक्यत्वादिति भाव्यता भावु
 कैर्मन प्रणिघाय ।

अथ यदेतदुच्यते—योनिवृत्ते वर्णविभागे गवाशवादीनामिव ब्राह्मणत्रिपा
 दीनामपि परस्पर भेद प्रत्यक्ष समुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते, सर्वेषामपि
 वर्णानामैकरूप्यस्यैवोपलब्धे, ततश्च नास्त्येव वर्णानां योनिवृत्तो भेद इति तत्त
 ०३म् । गवाशवादीनामिव योनिवृत्तस्य वर्णानां परस्पर भेदस्यास्माभिरप्यनभ्यु
 पगमात् । प्रकृतिभेद एव हि तेषामादौ विधातृकृत, तदनुसृत्यैव च कर्मभेदा
 दुपपन्नोऽयं जातिभेद ।

‘कारणगुणा कार्यगुणानारमन्ते’ ।

इति प्राकृतिकेन नियमेन योनिभेदमूलकता नीत इति भृतिस्मृतिभिरसङ्ग-
 साधयाम । तथा च मनुष्यत्वजातेरवान्तरा एवैते ब्राह्मणशब्दादिभेदा स्यु, न
 तु गवाशवादीनामिवैकान्ततो जातिपार्थक्यमभिधातुं संप्रतम् । अवान्तरास्तु
 भेदा सर्वोऽपि (मनुष्यतिर्यंगादि) जातिषु बहुषु समीपकै समुपलभ्यन्ते न च
 ते ऽपि परस्पर सकीर्यन्ते भवन्ति च तेऽपि बहुधा योनिभिर्दत्त इति तद्वदेव
 वर्णभेदस्याप्यभ्युपगमे क्षत्यभाव । यो ह्येषा वर्णानां वर्णत्वप्रयोजको नैसर्गिको
 भेद आख्यात स किल परीक्षमाणे सर्वत्रैव समुपलभ्यु मुद्यक । न च स्वरूपभेद
 एव भेदप्रयोजकतयादरणीयो न तु प्रकृतिभेद इति काचिद्राजाज्ञास्ति । तस्मा
 त्प्रकृतिभेदनियतेऽपि वर्णानां भेदे योनिभिर्दत्त न शक्यमपलपितुम् । अथ सोऽयं
 प्रकृतिभेदो ऽपि वर्णानां नियत नोपलभ्यत एव, नूनं ब्राह्मणानामत्यल्प
 मतीनां, क्षत्रियाणां कातराणां शूद्राणां च कुशाग्रधिपणानां वीर्यवता च प्रत्यक्षमुपल
 भ्यमानत्वात् इति यदि कश्चिदाक्षिपेत्तदेतदप्यविचारात् । इदानीं हि कालदोषा
 च्छिद्यित्वामुपगते स्वस्ववर्णाभिमाने परिशुक्तेषु स्वस्ववर्णोचितेषु कर्मसु सुदूरमुत्सा
 रितायां शास्त्रमर्यादायां नाममात्रपरिचयेषु वर्णेषु क्लियन्नुपगते च स्त्रीणां यथार्थं
 चारित्र्ये दुरवस्थेयमुज्जृम्भते, न तु यथाविधि प्रवर्तमानेषु वर्णेषु कदाचिदप्येतदेव
 स्यात् । अवश्यं हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्योचितप्रकृतय एव मुता समुत्पद्येन्
 मधुरादास्रधीजादुत्पन्नस्य तरोर्मधुराणि फलानीवेति प्राकृतिक एव नियमः ।
 प्राकृतिक नियममनुसृत्यैव चार्याणां धर्ममर्यादां प्रतितिष्ठन्ति । यत्तस्य
 प्राकृतिकस्य नियमस्य क्वचिदुपश्येत व्यभिचार, स किल हेतुविशेषजन्य
 कादाचित्क एव स्यात्, न च क्वचित्कस्य तस्यकृते समाप्ते प्रवर्तनीया विन्वा
 ददुरवस्थेति न्याय्यं पथा । तस्मात्समाजमुन्निनीषद्भिर्वर्णानां यथाशास्त्रं प्रवृत्ता
 वैव प्रयतनीयम्, येन समूलमुमूल्येत दुरवस्थेयम्—ब्राह्मणक्षत्रियादिमुताश्च

ब्राह्मणपरिव्याप्त्युचितप्रकृतय एव स्युः । न तु क्वाचिरक्षस्य क्षतिक्रमस्य कृते सत्यपि समाजस्य सुव्यवस्था समुत्सारणीयेति कश्चित्प्रशाशीलोऽनुमन्यते । ततश्चाद्य त्वे समुपलक्ष्यमाणोऽयं वर्णानां प्रकृतिविनिमय कर्मदोषजन्य एवेति नैतस्माद्गर्णानां नियता प्रकृतय एव न सन्तीति शक्यं साधयितुमिहयुगपादितम् । अथ त्विदानीमपि कथञ्चिद् ब्राह्मणानामेव लोक विद्याधिक्यं वैश्यानामव च घनाधिक्यं सुस्तु-
टमदगोवयं सतीशं यमस्मद्राक्येषु समीक्ष्यैरिति कृतं त्रिस्तरणम् ।

यत्तु क्वचिदाचक्षते—सृष्टेप्रकरणे सृष्टिविभागमुपरादयद्भिः सर्वैरपि शास्त्र-
जातेरेकविधत्वमेव मनुष्यसृष्टेरुच्यते—न तु तिर्यगादिषु नानामेदा इव मनु-
ष्येषुपि ब्राह्मणादिभेदास्तत्रोच्यन्ते । तथा च सात्याचार्यं ईश्वरकृष्ण सृष्टि-
भेदानाह—

अष्टविकल्पो देवस्तर्यग्योनश्च पञ्चधा मतिः ।

मानुष्यश्चैकत्रिय समासतो भौतिकं समं ॥ इति

इह हि चतुदश वेधे मूलसर्गे देवसर्गस्य ब्राह्मणराजापत्येन्द्रपैत्रगान्धर्वयक्षराक्षस-
पैशाचभेदैरष्टविधत्वमाख्यातम्, तैर्यग्योनस्य च मनुष्यसृष्टिरीदृशस्यैवराणां
भेदात्पञ्चविधत्वमुक्तम्, मनुष्यसर्गे तु नैवं ब्राह्मणादयो भेदा प्रतिपादिता, अपि
त्वेकविधत्वमेव तस्याभ्युपेतम् । तथैव कृत्वा भागवतादिषु सर्वेष्वपि पुराणेषु सृष्टेवि-
भागं न कुत्रापि मनुष्यसृष्टेश्चतुरो विभागानुपलभामहे । ततश्च नायं वर्णविभाग सृष्टे-
रादितः प्रसिद्धो न वा योनिनिष्ठ इति प्रतिपद्यामहे इति । तदेतत्सर्वमतिरिथवीयम् ।
मनुष्यसृष्टेर्हि अवाप्तरा भेदा ब्राह्मणादय इत्यवोचाम । न च सर्वेऽप्यवान्तरा सृष्टि-
भेदा कुत्रापि परिगण्यन्ते, न वा शक्यन्ते परिगणयितुम् । अङ्गं हि समालोचयतु
भवान्—य इमे पञ्चविधास्तिर्यग्ब्रह्म व्याख्याता—किमेषु न सन्ति शतशोऽवान्तरा
भेदा ! न वा ते योनिनिष्ठा सृष्टेरादिनः प्रसिद्धा वा ! ततश्च सतामेव गोमहिष्या-
दिभेदानामुपेक्षया तत्र प्राधान्यमात्रविश्लेषया यथा पशुशब्देनैकेनैव सर्वास्तानुप-
सृष्ट्या पञ्चविधत्वं निरश्चानुपपाद्यते—नथैवेदं रजःप्राधायात्राविकक्षयाऽवान्तराणां
ब्राह्मणादिभेदानां उपेक्षया मनुष्याणामप्येकविधत्वमुपपन्नमिति नैतावता योनि-
निष्ठत्वं वर्णानां हीयेत । रजःप्राधान्यं चापीदमापक्षिकम्, देवाद्यपेक्षया सत्त्वं
मात्रायास्तिर्यगपेक्षया च तमोमात्राया मनुष्यसामान्ये न्यूनतया तत्र सर्वत्रैव
रजःप्राधान्यव्यवहारात् । सन्ति तु तत्र रजःप्राधान्येऽपि सत्त्वादितातत्त्वकृता बहवो
भेदा, तन्मूलकत्वमेव चेत् ब्राह्मणदीनामस्माभिराख्यातमिति न विस्मर्तव्यम् ।
कारकां चेमा व्याचक्षणस्तत्र भवान् वाच्यतिमिश्रो ब्राह्मणादिभेदानामप्यपि
व्याख्यास्तात्पर्यमपि सुस्पष्टमन्वाह—

‘सस्थानस्य चातुर्वर्ण्येकविधत्वादिति’ ।

संस्थान हाव्यवसनिवेश, न किल सोऽयमेषु चतुर्विदि मित्यने—प्रकृतय एव खेपा मित्रन्ते, संस्थानभेदादेव चेह भेदा विवक्षिता—इति न ब्राह्मणादिभेद परिगणनमिह कृतम् । एवमेव तत्पुराणेष्वपि भेदाविवक्षाऽनुसन्धेया कार्त्तयन भेदानां परिगणनस्य कुत्राप्यशक्यत्वात् । यानतो भेदा यत्र परिगणितास्तत्राप्य वान्तराणां शतशो भेदानां संभवात्, अवान्तरभेदेष्वेव च ब्राह्मणादीनामपि प्रवेशात्, बहुन तु पुराणेषु सृष्टिभिर्भागोऽप्युक्ता एवैते भेदा, उपदर्शितानि च तद्वाक्यानि दिङ्मात्रमादाधेवेति विरम्यतेऽन तदुपदर्शनात् । ततश्चानया सृष्टि विभागेऽनुकर्यापि न वर्णानां योनिसिद्धयः आहन्तु शक्यमिति विवेचयन्तु विचारदधा ।

यत्त योनिसिद्धमेदेषु गवाश्वादिषु नान्यकार्यमन्य शकनोत्यनुष्ठानम्, न चैषा भेदविज्ञाने बालोऽपि सशेते, प्रत्यक्षेणैव भेदस्य सुप्रतिपद्यमानत्वात्, नाप्येतेषु विजातीयै पुरुषैर्विजातीया स्त्रिय सन्ततिमारब्धुमीशते । योऽपि कश्चिदश्वतरादि सकरजातीय उतरयते सोऽप्यय द्वाभ्यामस्यन्त विजातीयो भवेत् । न खेतसर्गमेव ब्राह्मणश्रमिणादिषु, तद्य हि सुशिक्षित शूद्रोऽपि ब्राह्मणकार्याणि कर्तुं शक्नुयात्, न च कर्मभेदविज्ञानमन्तर कश्चिदश्वेषा भेद प्रतिपश्येत्, भवन्ति च वर्णान्तरेष्वपि वर्णान्तरचन्या सन्ततय सरूपा एव । ततश्च नैव जातिभेदोऽर्हति योनिसिद्धो भवितुमिति कश्चिदातिपन्ति, तदेतदतिरभवादविज्ञानाच्चेति ब्रूमहे । अत्रापि वर्णान्तरकार्याणां यथावद्वर्णान्तरे सपादयितुमशक्यत्वात् । ननु च मो इत्यन्त एव बहव शूद्रा अपि ब्राह्मणकर्माण, इति चेदङ्ग किमिद ब्राह्मणकार्यमवधार्यं तत्र भवन्ती वदन्ति—शूद्रा ब्राह्मणकर्माण इति । आलोक्यता यतिस्मृतिषु ब्राह्मण कर्माणि—

“यश्चैव ब्राह्मणो विद्याःतस्य देवा आसन् चशे ।” (श्रुति)

“देवाधीन जगरत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता ।”

ते न प्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवता । (स्मृति)

ततश्च प्रवर्तमान प्राकृतिक जगत्कमेतद्यथारद्विजाय मधेऽक्रमन्यथा प्रवर्त चेत्तदिद ब्राह्मणकार्यम्, नेदानीं ब्राह्मणा अप्येतदनुष्ठानु शक्ता इति चेन्न स्माकमिय वर्णव्यवस्था एतत्समयार्थमेव प्रस्तुता, सार्वकालिको तावदेवस्य धोचाम । अहो ! यदा हि क्विठ वय सर्ववर्णानां कानि कर्माणीति मनागप्यालोचयितुमशक्तास्तदा कथकारमयमस्माक वर्णपरिवर्तनाप्रह औचित्ये विदेत । न च यथानकश्चिदपि कर्तुं न शकनोतीति व्यवस्थैव समुत्वारणीया, प्रस्तुत यथा कर्मप्रवृत्तये व्यवस्थां मुह्यत नियमयितु प्रवर्तनीयमिति कृत विस्तरेण । वर्ण भेदपरिज्ञान तु कर्मभिरेवेति युक्तमेव, वर्णभेदस्य प्रकृतिभेदमूलकत्वात्—प्रकृतिभेदस्य

च कर्मभेदानुमेयत्वात् । इहापि च विजातीयकन्या सन्ततिरक्षतर इव चात्यन्त रत्नमेव भजत इत्यालोक्यता स्मृतिषु । वस्तुतस्तु नाथ वर्णभेदोऽस्माभिरपि गवा-
श्रादिभेदवदिष्ट इति ध्यात्वायतमेव बहुश पूर्वम् ।

अथ यदेतद् वर्णानां कर्महेतुकत्ववादिना मूर्द्धाभिषिक्त प्रमाण—

‘शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्’

इत्यादि मनुवचनम्, तत्तु प्रकरणानभिज्ञानां प्रतारणामात्रमित्युपहासार्थैव प्रेक्षावताम्, ५०१संस्कारप्रकरणे हि—

शूद्रायां ब्राह्मणाञ्जात भ्रैयसा चेत्प्रजायते ।

अभ्रैयान् भ्रैयसीं जातिं गच्छत्यासतमाद्युगात् ।

इति स्वयं पूर्वं प्रकृत्य मनुना तदभिहितम् । अस्य च पूर्वस्य श्लोकस्यायमर्थं —
ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामुपन पारसवारयो वर्णं पूर्वमभिहितं, स चापि मातृदोषा
दभ्रैयान् । पितृसम्बन्धादि तरिमन् ब्राह्मण्यम्—मातृसम्बन्धात् शूद्रत्वमिति वर्णा
न्तरमभ्रैय कथञ्चिद् ब्राह्मणशब्देन शूद्रशब्देन चेत्युभयोरप्येव शक्यते व्यपदेश्य
मुपचारात् । स स्वयं भ्रैय सप्तर्षित्तमे युगे (जन्मनि) भ्रैयसीं पितृतुल्या
जातिमाप्नोति । तथा हि—तत्रजातीया कन्या ब्राह्मणेन चेद् विवाहिता, तत्कन्यापि
च पुनर्ब्राह्मणेन, तत्कन्यापि ब्राह्मणेनेत्येव क्रमेण सप्तमी कन्या ब्राह्मणेन विवाहिता
शूद्र ब्राह्मणमेव जनयति । सप्तमे हि युगे मातृदोष समूलमपैति, वैजिक च
ब्राह्मण्यं सुस्पष्टमुदेति । अत्रान्तरीमूतास्तु तां कन्यां संस्कारमेव जनयन्ति, मातृ
दोषस्य कथं चिदनुवृत्तेरिति । इह च कन्यापरम्परैवाभिप्रेता न तु पुत्रपरम्परेति—

‘प्रजायते’

इत्येतस्मात्सदादधिगम्यते । प्रज्जननं हि स्त्रिया एव सम्भवति न पुरुषस्येति ।
तदेव भ्रैय सप्तर्षित्तमे जन्मनि शोणितानुवृत्तस्य शूद्रत्वस्य निवृत्तरुच्छा । तावत्तैव
च स तस्य सङ्करजातीयस्य शूद्रत्वाद्योऽपि ब्राह्मणत्वे परिणत, इत्यभिप्रेत्य—

‘शूद्रो ब्राह्मणतामेति’

इत्युत्तरद्वन्द्वोक्त्यादोऽभिहितं । अथ यदि ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नस्य तस्य
संस्कारस्याभ्रैयसैव सर्वत्र स्यात्, तत्कन्या यदि शूद्रेणैव विवाह्येन, तत्कन्याऽपि
च शूद्रेणैवत्यादि, तदा बहुभिर्जन्मनिस्तस्य पितृसम्बन्धादनुवृत्त ब्राह्मण्यं समूल
विनश्येत्, मातृरनुवृत्त शूद्रत्वमेव च तस्य नियतमस्तिष्ठेत् । तावत्तैव तस्य ब्राह्म
णाद्योऽपि शूद्रत्वं परिणत इत्यभिप्रेत्य—

‘ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्’

इति पूर्वोक्तश्लोकस्य द्वितीयः पादोऽभिहितः । अयमेव च न्यायः क्षत्रिय-
वैश्यसंकरेऽप्युत्तरादौनातिदिश्यते—

‘क्षत्रियाञ्जातमेवन्तु विद्याद्वैस्यात्तथैव च’

इति । क्षत्रियाञ्छूद्रकन्यायामुत्पन्नोऽपि सङ्करविशेष एवमेव क्षत्रियैर्मृत्यो मृत-
सम्बन्धमापद्यमानः क्षत्रियत्वमनुविन्देत्, शूद्रेस्तु सम्बन्धमान्त्सु क्षत्रियत्वं
विजहातीत्याद्यहम् ।

एतदेवोक्तं भगवता याज्ञवल्क्येनापि—

‘जात्युत्कर्षो युगे श्रेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा’ इति ।

तत्र ब्राह्मणात्क्षत्रियायामुत्पन्नस्य वैश्याञ्छूद्रायामुत्पन्नस्य वा श्रेयः सप्तमं
पञ्चम एव जन्मनि पितृतुल्यवर्णावाप्तिः, विप्रकृष्टस्य शूद्राया ब्राह्मणादुत्पन्नस्य तु
सप्तमे जन्मन्युत्कर्ष इति व्यवस्थितो विकल्पः मुरस्पष्टं मिताक्षराश्रुता व्याख्यातः ।
तथा च स्मृत्यन्तरसंवादादर्णसङ्करप्रकरणाच्च मनुप्रोक्तस्य तस्य श्लोकरयोक्त एवार्थः
संभवति, न तु प्रकरणविक्रमः पूर्वापरविदग्धश्च सामान्येन शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्ति
रूपस्तदर्थो न्याय्यः, न च शक्यः प्रकरणमालोचयता निरामहेण केनचित्प्रोक्तावता
सोऽर्थः श्रद्धातुम् । वर्णसङ्करप्रिये तु यत्पितृब्राह्मण्य तस्मिन्नुत्पन्नमाधीचदेनेर्द
महता कालेन श्रेयःसम्बन्धान्मातृदोष निरस्योद्भूतमिति न तत्रामिन्द्राद्यो-
त्पत्तिशङ्काऽपि लक्ष्यपदा । बीजसम्बन्धादेव हि स्त्रीश्वरवर्णाश्वपि जातानां बहूनां
महर्षिणा समुत्पन्नित ब्राह्मण्यमाधीदिति भगवता मतुनाप्युक्तम्, इतिवृत्तेष्वपि
चोपलभ्यते । न तु सामान्यतः शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावतीकोऽपि दृष्टान्त इति प्रागेवा-
चोचाम । यथा च प्रकरणान्तरेषु भगवता मतुना योनिशिद्धैव वर्णव्यवस्थाम्युपेता
तथैतदसङ्कल्प्यमेवासाधयाम । एव च तदविक्रमे एवार्थोऽत्र न्याय्यः स्यात्तु
पूर्वापरविक्रम इत्यालोच्यम् । तथा च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिरसं श्लोकः शुक्र-
शोणितानुवृत्तस्य ब्राह्मणत्वादेरङ्गीकरणात्कर्महेतुकरवादिनां प्रस्युत परं प्रतिकूलः
न तु कथमपि वर्णानां योनिशिद्धस्वराधक इति स्पष्टमेतत्साधितम् । यदि हि कर्म-
निमित्तिकैव व्यवस्था वर्णानामप्राप्तिरेता स्यान् तत्तर्हि ब्राह्मणेनोदमाश्रैव शूद्र-
कन्या ब्राह्मणी स्यादेवेति तत्पुत्राणां शुद्ध ब्राह्मण्यसंश्लिष्टो कोऽय सप्तमपञ्चमादि-
जन्मसङ्कर्षावाप्तिविचारः ?

यदि हि ब्राह्मण्यन्तनिरसि केवञ्च क्षैत्रदोषात्सप्तमे जन्मनि शुद्धं ब्राह्मणत्वमा-
प्नोति तदा केव कथान्देया ज्ञात्या शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्तेरिति । तस्मान्छूद्रो
ब्राह्मणतामेतीत्यस्माद्रचनायोनिशिद्धैव वर्णं यवस्थितिः मुह्यतामाप्नोतीति निर्वि-
वादेमेतत् ।

यत्, केचिदाग्रपरत-ना शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्य यथाभूत पूर्वापरविच्छेद विनरीतमेवार्थं समर्थयितुम्—

‘शूद्राया ब्राह्मणाजात’

इति तदुर्वतनमपि श्लोकमन्यथैव व्याख्यातुमुद्युञ्जते, तथा हि—‘ब्राह्मणा च्छूद्रायामुत्पन्न अध्रेवान् कथञ्चिद् ब्राह्मणीमुतास्त्रिष्टोऽपि यदि श्रेयसा-
कल्याणेन-धर्माचरणेन, प्रजापते-युज्यते, तदा सप्तमे युगे-वर्षे, श्रेयसो-पितृतुल्यां जातिमापद्यते । सप्तमो ह्ययं वर्ष उपनयनकालमुपञ्चयति, तत्र स्वकाले कृतोपनयनस्य, वेदाध्यायिनस्तस्य नास्ति द्विजकुमारोऽपि कोऽपि विशेष इति तात्पर्यम् । उपनयनवयदेव हि शूद्रास्तु शूद्रोऽपि वा शक्नोति ब्राह्मणी भावतुम्, अनुमनीतस्तु द्विजकुमारोऽपि शूद्र एव स्यादिति । अयमेव वचन स्यास्य -याथाऽर्थं, युगशब्दस्य ज-मार्थैकत्वे हि नास्ति किमपि मानम्, वर्षवाचकता स्वस्योपपद्यत एव, अयनयुगमरूपत्वाद्दर्पस्य, वर्षावयवश्चतुर्मासादिरपि मातृपत्न्यादियुगमरूप । अष्टमेऽब्दे उपनयनस्योक्तत्वाच्च सप्तमाद्दर्प एवात्र युग-शब्देन प्रहीतुमुचित । किं च ।

“तपोबीजप्रभावेस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षे चापकर्षे च मनुष्येष्विह जन्मत ।”

‘परमाद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा नृषयोऽभवन् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीज प्रचारयते ।”

इत्यादिना भगवता मनुनैकरिम्बनेन जन्मनि साङ्ख्येणोत्पन्नानामुत्कर्षावाप्ति राख्याता, दृष्टान्तै समर्थिता च । सेय सप्तमे जन्मन्युत्कर्षमभिप्रयद्विर्भवद्विर स्यत् विरोधिता स्यात् । तस्माच्छूद्राया ब्राह्मणाजात इत्यादेर्महुक्त एवार्थो न्याय्यः, शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिस्तस्य श्लोक-पूर्वणासम्बद्ध स्वातन्त्र्येणैव शूद्रमात्रस्य कर्महेतुका ब्राह्मण्यावाप्तिमन्वाहेति । तदेतेःसर्वमनर्गलप्रलपितम् । प्रजा यतस्तस्यस्यार्थानालोचनात्, प्रपूर्वकस्य जनेर्गमग्रहणार्थं एव प्रसिद्धतया युज्यत इत्यर्थस्य नितान्तमसामञ्जस्यात् । अष्टमस्य वर्षस्योपनयनकालतया स्मृतिप्रसिद्धत्वेऽपि सप्तमस्य तादृशकालोपलक्षकरं नानाभावाच्च । इदं च भवान् पृष्टो व्यचष्टाम्, गुणकर्ममूलक एव जातिविभागे शूद्रायामुत्पन्नतामात्रेण कथं नाम तस्याश्रेयस्त्व भगवता मनुनाभिहितम् ? सप्तमाद्दर्पोर्दो-श्रेयस्त्वप्रयोजकानि कानि तस्य समवन्ति गुणकर्माणि ? सर्वेऽपि च यदा भवदुक्तरीत्योपनयनादूर्ध्वमेव श्रेयस्त्वमापद्यन्ते, तदा किमिह तस्यैव विशेषानुकीर्तनास्त्वमभिषहितम् ? उपनयनाच्चावोक् कामचारस्य क्षीरकण्ठस्य तस्य श्रेयस्त्वमश्रेयस्त्व वानुकीर्त्यं किं विवक्षितम् ? तस्मात्सर्वथैव दृष्टार्थनिरिकल्पनं दृष्टादावृष्टिमात्रमन्याय्यं चेति विवेचयन्तु विवेचका । तथैव किल—

‘शूद्रो ब्राह्मणतामेती’

स्यादिवचनस्य पूर्वोणान्वय विन्डिष्ठ स्वातन्त्र्येगार्थप्रकल्पनमपीदमनवधेय प्रेक्षा-
वताम् । स्वातन्त्र्ये ह्यस्य वर्गव्यवस्थितिप्रकरण एव पाठोचित्येन सङ्करप्रकरणपाठ-
स्यासङ्गतिप्रसङ्गात् ।

किं च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकं केवल प्रतिज्ञावाक्यमिदं हेतुविशेषानुक्ते
हेत्वशो साक्षाद्भेदं न शक्यमर्थं व्यवस्थापयितुम् । केन हेतुना क्विं शूद्रो ब्राह्मणता-
मेति । कुतो वा ब्राह्मण शूद्रतामेतीति हेतोरवश्यमपेक्षणात्, तस्य च हेतुविशेषस्य
प्रकृतश्लोके ऽनभिहितत्वात् । न च गुणकर्मनिरोधादित्यय हेतुराक्षेपलभ्यः स्यादिति
शक्यं वक्तुम्, तस्य सर्वथा प्राकरणिक्त्वाभावेनाक्षेपे प्रमाणाभावात् । ततश्च
श्रेयसा चेत्यजायते इत्ययं पूर्वश्लोकोक्त एव हेतुरिहाभिसंबन्धन इति सर्वथास्य
शूद्रोक्तस्य पूर्वसम्बन्धिताया अनिवार्यत्वाद्ययोक्त एवार्थोऽत्र न्याय्य, न तु पूर्वपरि-
विरुद्ध सर्वेषामपि शूद्राणां ब्राह्मणत्वानामिरूप ।

अनार्याया समुत्सन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मणशामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्र वनेति चेद्वेत् ॥
जातो नार्यामनार्यायानार्यादार्यो भवेद्गुणै ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यं इति निश्चय ॥
तावुमावप्यसंस्कार्याविति धर्मो नवस्थित ।
वैगुण्याज्जन्मन पूरं उत्तरं प्रतिलोमक ॥

इत्यादिना तदुत्तरमेव भगवान् मनुर्जन्मन एव वर्णध्वे हेतुतामभिप्रेति, ततश्च
कथं पूर्वमनैकहेत्वया शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिमभिदधीत् । इह चानार्यसंस्कारजातानां
संस्कारस्त्वैवानुचितत्वाभिधानाटुपनयनेन ब्राह्मणत्वमेवा सिद्धयतीत्यादि पूर्वश्लोकार्थं
कल्पयन्त इतोऽपि निरस्ता वेदितव्या । यत्तु युगशब्दस्य जन्मार्थं इत्येव नास्ति
मानमित्थाक्षिप्तम्, वर्षार्थं कश्चेति तन्नून तुल्यम् । वर्षार्थं कृत्वा सर्वथैव मानादुप-
लब्धे । अयनतुम्भूरुपत्वाच्च युगशब्दप्रयोग इति तूपाहावास्तवम्, मासादिध्वरि
पञ्चयुमादिरूपेषु तत्प्रयोगापत्ते । सतने युगे—आयेंद वरेण सम्बन्धे, शूद्राया-
मुत्पन्न. कन्यारूपो वर्ण इदं ब्राह्मणत्वमवाप्नोतीति मनुकार्येऽप्युपनयनेऽक्तुं शक्य-
त्वाच्च । प्रजायत इति पदं च मनुकार्ये तु तात्पर्यमाहकमस्तु । मनुदथे तु साहा-
तिरिक्त नास्ति किमपि तात्पर्यमाहक नाम । अथ यदे-त्तनमे जन्मन्युत्कर्षावाता
वन्मुपगताया—

‘तपोवीभ्रप्रभावैस्तु’

इत्यादिना दृष्टान्तसमर्थितमेकस्मिन्नेव जन्मन्युत्कर्षावाप्तिरुच्यते भगवतो मनी-
र्विरुद्धधेतुत्वमिहितम्, तदप्यनालोचनविज्ञप्तिमतम् । तपःप्रभावेणैव हि भगवतां
व्यासादीनामेकस्मिन् जन्मन्युत्कर्षावाप्तिः, तपोविरहितानान्तु सामान्येन सतम एव

जनन्युत्कर्ष इति व्यवस्थाया स्फुट भासमानत्वात् । अत्रापि च बीजहेतुवृत्तस्योक्ततया जनन एव वर्णत्वहेतुता सर्वशेषवाञ्छते तेन निरुदन्तव्यम् । तथा च मनुस्मृत्यस्य वचनद्वयस्य यथाव्यवस्थारितं सर्वंगीकाकृतसम्मत एवार्थं समुचिततर इति प्रवृत्तपादयाम ।

“धर्मचर्यया जन्यो वर्णं पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ”

“अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जन्म्य जन्म्य वर्धमानद्यते जातिपरिवृत्तौ”

इतीदमापस्तम्बवचनमपि मनो समानार्थमनुलोमव्यवस्थैव क्रमगोष्ठ्याविति मन्नाह, एतत् परिवृत्तावृत्तमेव ज्ञेयं मूयं मूयं सन् ये स्तीतान् तदर्थोक्तिस्त्वात् । जननं जातिरिति जननार्थकज्ञानिशब्दोपादानाद्दधमाचरणेन जन्मान्तर उत्कर्षाविति शोधकं वास्तु । धर्मो जन्मान्तर उत्कर्षवर्णत्वोपाप्तेर्यनिपदादप्रामाण्येन प्राक् समयितत्वात् । इह जन्मज्ञेयोऽर्थावाप्नोत्यभ्युपगतायां शास्त्रान्तरागि विरुद्धे न, इह च जातिपरिवृत्ताविति पदमन्तगतमनर्थकमापद्येत्स्थलनतिशायतेन परवादेन । तथा च सर्वथा जन्मज्ञेयवर्णविभागमनुपपन्नस्य स्मृतयो न कथनापगुणकर्ममूलिका वचनव्यवस्था स्वान्त्यपानि बहुधा प्रपञ्चेन स्फुमेतत्प्रसाधितम् ।

अथ यत्केचिदाचक्षते—स्वराज्यस्य जायतेऽत्र वेदयापुत्रस्यापि सत्याभयत्वेन ब्राह्मणत्वदर्शनाद्गुणकर्ममूलक एव च जातिविभागं पुरासीत्युच्यते इत्यनुमीयते । तथा हि छान्दोग्योऽनिपदि स्वराज्यमर्थैव भयने—अवालाया पुत्रं सत्यकामो नाम कश्चिद् ब्रह्मर्षिर्मात्रेणानर गौं पश्यन्तु मता तु तत्रैवमुत्तरमन्नाह—

“बृहद् वरन्ती परिवारिणी यौवने त्वामलभे, सऽहमनुव ब्रह्म, यद्गोत्रस्य मसि षडाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, स सत्यकाम एव जाबालो बवेथा ।”

इति । अनेन च यौवने बहुदुरन्तरगारुडगोत्राज्ञानबोधकनोत्तरेण अवालाया स्फुटमव वेदयारं प्रतीयते जान, अधमन्यया भर्तृगोत्रं सा न विजानीयात् । किं वा बृहद् वरन्ती परिवारिणीत्यनेनात्र विवक्षितं स्त्वात् । तथा च वेदयापुत्रत्वमेवात्र सत्यकामस्य सविद्वम् । स चायमेवविध सत्यकामो गौतमनेत्य त्वैव ब्रह्मचर्येण वस्तुनिष्ठं गौत्रं तेन प्रजे यथावनात्रोक्तमेव निवेदयाञ्चक । गौतमस्तु तेन स्तने सन्तु प्रत्युवाच—

‘नैतद्ब्राह्मणो विवक्षुर्हति, शमिष सोम्य आहर, उर त्वा नष्टे न सत्यादगौ ।’

इति । तथा च विज्ञायापि सत्यकामस्य वेदयापुत्रत्व केवल तस्य सत्यरूप विशिष्टगुणाभयत्वेनोपनयन भगवता गौतमेन कृतमिति जित सर्वथा गुणकर्ममूलकेन वर्णविभागेन । एवमेवैव सन्ततो चातुर्वर्ष्यं समुत्तरमिति पुराणे बहुधा स्मर्यते—

पुत्रो गृहमदस्यापि सुनक्षो यस्य शौनकः ।
ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च ।

(हरि-श्लो)

पुत्रो गृहमदस्य च सुनक्षो यस्य शौनकः ।
ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च ।
एतस्य पशो सम्भूता त्रिभिर्ना कर्मनिर्दिज ।

(वायुपुराणम्)

एवमन्यनाप्यनस-धेयम् । तथैव च बहूना गृहमददीतहृष्य काश रम्ममभूतीना
वर्णपरिवर्तनं पुराणेषु स्मर्यते, उपदर्शितं च पुरस्तादपि बहुधा इति नेह विस्तर
भयात्प्रतन्यते । तथा चैतेन सङ्गे स्फुटं कर्ममूलक एव जातिविभाग भूतिपुराणा-
दिकालेषु प्रसिद्धयतीति तदप्यत्र साहसमात्रमिति ।

तदेतदपि सर्वं पूर्वमुक्तोत्तरत्वेन पिष्टपेषणमात्रमपि सस्त्रेण किंचिदिहा-
प्युच्यते । सत्यकामस्य आवाल्स्य तावदिय कथा तदात्वे मुहृदा जन्मकृता
वर्णव्यवस्थितिमेवावबोधयति, यदा हि गोत्रज्ञानादिना ब्राह्मणकुलोत्पन्नतां सम्यक्
परीक्ष्य गुरव शिष्यानुपनयन्ति स्म, तदा कैव कथा गुणकर्ममूलकस्य जानिक्विभागस्य ।
भवदुपगत एव चेज्जातिनिर्भागस्तदा प्रचरित स्यात्तदा किमिति गौतमेन सत्य
कामो गोत्रं पृच्छयेत् । किमिति तस्येवञ्जामात्रेणैव ब्राह्मणेषु प्रवेद्य सोऽय
नोपनीयेत् । तस्माद्गोत्रप्रश्नोऽयं किं सुनिश्चितं जन्मन एव वर्णव्यवहृततां तदात्वेऽव
बोधयति । जन्मकृत एव वर्णविभागे मुहृदे सम्भवति क्विंत्त ग्नेत्रप्रवरव्यवस्था ।
अन्यथा तु गुणकर्मनिरोधेन यत्किञ्चिद्विकुलोत्पन्नस्यापि ब्राह्मणत्वादिसमवेन कथ
नाम् गोत्रप्रवरेषु समनियता व्यवस्था प्रचलति । गोत्रप्रवरव्यवस्था चैयमाश्रितेरा-
स्मृतेर्भाभिहितेति सर्वत्र तत्र जन्मकृत एव वर्णविभाग प्रसिद्धिमापद्यते । यत्तु
पश्चाद् गोत्रमविज्ञायापि सत्यव्यहारासङ्घेन भगवता गौतमेनोपनीतं सत्यकाम,
तदिदमसाधारणेन सत्याश्रयणन तस्य ब्राह्मणवीजजन्यत्वमनुमायेति बोद्धव्यम् ।

‘नैतद्ब्राह्मणो वक्तुमर्हति’

इत्यादिना सत्यमापणेन ब्राह्मणत्वानुमानस्य स्फुटप्रबोधनात् । ब्राह्मण-
त्वानुमानं चेद तत्र ब्राह्मणजन्यत्वानुमानमेव वक्तव्यम्, उपनयनादिकां तरिभत्
स्वतो ब्राह्मणत्वासम्भवात् । बीजप्रभावेण च केचन विशिष्टगुणभाजस्तथैव जन्मनि
ब्राह्मणत्वादिना व्यवहियन्ते स्मेत्युक्तमेव पूर्वम् । वस्तुतस्तु बवालाया वेदपारव
प्रकल्पनमपीद् नैकान्तत प्रामाणिकं भवितुमर्हति स्पष्टं तथोक्तेरभावात् । ‘अविधीन्
बहुधा परिचरन्ती (तत्कार्यं एव निष्कृता) अह यौशत एव स्वामप्रापम्,
(तदुत्तरेणु त्वस्मिन्निर्विरहात्) न गोत्रप्रश्नायावकाशो मयाधिगत’ इत्यपि

सवालोकैस्तास्पर्यसम्भवात् । आस्ता नाम कथमपि, न तूपनिषत्काले योनिङ्गता वर्णव्यवस्था कथयानया प्रतिबद्धु शक्येति प्रतिपादितमेतत् । यथा चोपनिषत्सु—

ब्राह्मण्योनि वा क्षत्रिययोनि वे'

त्यादिना योने प्राधान्य स्पष्टमुपदर्शित तथा निदर्शितमेव पुरस्तादिति नेह पुन पेष्टमुच्यते । यच्चेद शौनकस्य कुले चत्वारोऽपि वर्णा समुत्पन्ना इति पुराणानि प्रमाणयता समर्थितम् तदपि नास्माक प्रातिकूल्यमावहति । एकस्यैव विभिन्नवर्णासु भार्यासु चतुर्णामपि वर्णानामुपत्ते सुतरा समवात् । आसीत्किल पुरा उत्तमस्यापि वर्णस्थावरेषु वर्णेषु विवाह, स्मृतिप्रसिद्धत्वादस्याभ्यस्यापलपितुम शक्यत्वात् । ते चैते सङ्करजाता क्वचिद्वैशिष्ट्यापितृवर्णा, सामान्येन तु मातृ सदृशवर्णा एवा गणन्ते यपि प्रसिद्ध स्मृतिषु । सत्यमेवविधो विवाह कलौप्रतिप्रिद्ध इत्यन्यदेतत् । अतिपरातने च सृष्ट्यादिकाले केषाञ्चिदुत्कृष्टगुणाविभवन्वाद्गर्ण-पन्वर्तनमप्यासीदित्युपपादितमथस्तात् । श्रुतिमनुसृत्य तदात्वं एव किल सर्वे धर्मा विशिष्टप्रकैर्महर्षिभिर्व्यवस्थापिता इति सर्वरेप्यवश्यममुपगन्तव्यमेव, सृष्टे पुरानुष्ठा तृणामेवामावे धर्मव्यवस्थाया अभित्तिविज्ञायमाणत्वात् । व्यवस्थाप्रारम्भे च कियन्त चित्काल भवत्येव तत्र निश्चलेति क प्रज्ञाशीलो नानुमन्येत । ततश्च तदानीन्तनीं क्वचित्प्रवृत्ता निश्चलनामुपादाय कर्ममानेऽपि समये सर्वधर्माणामुपह-ननमिदमत्यर्थमुपाप्रत नाम । तस्मात्कृतयुगे कथञ्चिदेव वीतहव्यादीना केनचि द्विशिष्टकारणेन वर्णपरिवर्तने पुराणानुवर्णितेऽपि तदुत्तर सुदृढ व्यवस्थानसिद्धतया नेदानीं तथा कर्तुमुचितं स्यादिति सुसूक्ष्ममालोचयन्तु सुधियः । ये तु महानुभावा बृहद्देवतादिवर्णिताना मन्त्रसूक्तादिद्रष्टृणामृतीणा समयेऽन्वमुपगम्य वर्णव्यवस्था पुनरप्याधुनिकत्वमेव तस्वामारोपयन्ति त इम आग्रहपरतन्त्रा सर्वथा प्रणम्या । मन्त्रद्रष्टृणां समयोऽपि चेदधुनापदव्यवहार्यस्तदा कोऽय प्राक्तन समय इति दुर्विज्ञेयमिदं प्रेक्षावताम् ।

यच्चेय स्वमतोपष्टम्भकतया वज्रसूचिकोपनिषत् प्रमाणीकियते—तत्र दामदमाद्यु पनस्यासन्त्वविद एव ब्राह्मणव्यवस्थापनादितस्तात् । तदिद परीक्षकमन्यानामतिथ पितमुपहासास्पद कार्यम् । प्रसिद्धेषु सतपथादिब्राह्मणेष्वपि पूर्णतया ऽनाश्चर्त्विर्वज्र-सूचिकोपनिषत्प्रमाणीकरणमिति सत्यं चिन्तितमाग्रहेण । लेश्वरिपाश्वेन किल सैवमुपनिषत्प्रामा-न्यैरप्याधुनिकत्वेन शक्यतेऽन्योद्बुद्धम्, स्ववदपि चाप्युपगम्यते तथैव । ततश्च किं तदुल्लेखेन विवक्षितं प्रयोजनमिति जानन्तु त एव । आस्ता वा तस्या प्रामाण्यम्, अथापि तूपनिषत्सु ज्ञानकाण्टस्यैव मुख्यतया प्रतिपिवाद विहितत्वादात्मविज्ञानमुपस्तोतृमानविद एव तत्र ब्राह्मणवमाख्यातम् । तच्चेदं मुख्य ब्राह्मणतमस्तु तत्रैव, व्यावहारिकं तु ब्राह्मणत्वमितरत्रापि नैवानया प्रति

पेक्षु शक्यम्—ब्राह्मणोद्देश्येन विहितानां सर्वेषामपि भौतस्मार्त्वादिकर्मणा किलोपापत्तेः । तत्रोक्तलक्ष्यस्य ब्राह्मणस्य प्रयोजनाभावेन कर्मस्वधिकारासिद्धे तत्रैव च कृतार्थतोक्ते कर्मानधिकारस्य स्फुटं सूचितत्वात् । नाप्यब्राह्मणानां ब्राह्मणत्वावाप्तिप्रत्याशाऽनयोपनिषदा कार्या, अब्राह्मणानामनधिकारेणैव तादृशचमदमादिसपत्नु आत्मतत्त्वज्ञाने चाप्रवृत्तेरिति नास्ति कोऽपि विरोधः । एव याददमहाभारतस्य पद्यद्वयं पुनः पुनरुदाहृतम्—

ब्राह्मणं पत्नीयेषु वतमानो विकर्मस्तु ।
दाग्मको दुष्कृतं प्रायः शूद्रेण सदृशो भवत् ।
यस्तु शूद्रो दमः सत्ये धर्मे च चतलोस्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तन हि भवद् इदञ्च ।

तदपि नूनं निषीदमेव क०३ रत्नसाधुदाहृतम् । पूर्वपद्ये हि पत्नीदेश्वपि कर्मस्तु वर्तमानस्य ब्राह्मणस्य शूद्रसादृश्यमात्रमभिधीयते—न तु स्पष्टं शूद्रस्मुररीक्रियत न वा ब्राह्मणत्वं प्रतिषिष्यते । कर्ममूलके हि जातिविभागे शूद्र एव स इति किमिदं शूद्रसादृश्याभिधानम् ? उत्तरप्राप च प्रसस्तगुण शूद्र ब्राह्मणमहमन्ये इत्येवोक्तम्, न तु लोकेऽपि स ब्राह्मण एवेति स्थापयतम् । अहं मन्य इत्युक्त्या च स्फुटमारोप एव बोध्यते—सुवमहं च शूद्र मन्ये, ज्योत्स्नाघवलिता च रात्रिं दिवस मन्ये इत्यादौ । आरोपस्य च सादृश्य एव पर्यवसानम्—इति नैन्द्रप पूर्वस्मादतिरन्वयते । एतत् तत्र नीचोच्चसादृश्याऽभिधानस्तु कर्मणामुपस्तुतये तत्राद्याद्यद्वोचनयोचितमेवेति व्यक्तपुररीकुर्मं । न हि योनिमात्रगतिर्ब्राह्मणादिभिः परित्यक्तकमानुष्ठानैरेव भावयामिती मतमस्माकम् । सर्वथापि तु कर्ममूलक एव विभागो जातीयो न सिद्धयति, योनेरपि शास्त्रेष्वपेक्षितत्वेनाभिधानादित्येव वयमभिप्रेम । यदि हि कर्ममूलक एव विभागः स्थाप्यता भवदुदाहृतेष्वपि वाक्येषु विकर्मणो ब्राह्मण पत्नादेश्वित्येव, ब्राह्मणशब्देन धर्माऽभिधानपरस्य च शूद्रशब्देनाभिधानमव कथं स्यादिति दरमकुलितनेत्रं विचार्यता तादृशस्य पक्षपातम् । यदा हि विकर्मस्वपि ब्राह्मणत्वादिकर्मम्युपगम्य केवलं नि दामात्र तेषां तत्राभिप्रेयते—तदा किमित पर तदास्व योनिःसिद्धे जातिविभागे प्रमाणं स्यात् । बहूनां चैवाभिधानं वाक्यानां पुरस्तादेवोदाहृतानि व्यवस्थापितानि चैत्युपरम्यतेऽप्यविस्तरमिष्या ।

तदित्यमुपनिषत्समृतिपुराणादिषु सर्वथोत्पत्तिमूलक एव जातिविभागोऽभ्युपेत इति बहुधेतत् प्रसाधयाम । अत्र तु ये तावदित्यं प्रत्यक्षमिष्टेरेत्—न क्व सृष्टिपुराणादीनां, ब्राह्मणानां, तद्भागानामुपनिषदाणां प्रामाण्यमवलम्ब्य प्रवर्तमाने । अतिमूलकान्देव तु तद्वाक्यान्मुपगम्यतयोदाहराम । अतिविशदे चारो सर्वथे

धामप्रामाण्यमेवापेक्षणीयम् । भ्रुतिपदवाच्यासु चासु श्रृगादिसहितासु नैव योनि
मूलक चातुर्वर्ण्यं काव्युपलभामहे इति सस्त्वपि तत्रान्येषु दृतरा प्रमणेषु न तदुर
रीकृतुं पारयाम, भ्रुतिपरतन्त्राणां स्मृत्यादीना स्वातन्त्र्येण प्रमाणभावासंभवात् ।
तत्रश्च भ्रुत्यनुगत एवार्थे व्यवस्थापनीया ब्राह्मणस्मृत्यादयो ग्रन्था, स्फुट विरुद्धस्य
चांशस्याप्रामाण्यमेवोपगन्तव्यमिति नैतदवलम्बेन योनिसिद्धो जातिविभागो ऽभ्युप
गन्तु साप्रतम् इति । तान् प्रतीत्यमुत्तरणीयम् । यदि हि सहितावलम्बेनैव प्रवर्तन्ते
ऽप्रमबन्तस्तदा नून गुणकर्ममूलकोऽयं जातिविभाग कोपन्त्र्य श्रीमान्द्र, न हि
केनचिदपि मन्त्रेण गुणकर्ममूलको जातिविभाग स्फुट साधयितुं सुशक । कर्णधारोपि
स भवनामिममर्थमुपपद्यमित्युक्त्वादाकृष्याकृष्याऽनार्थे कथमप्यसंभव त्यपि ब्राह्मण
स्मृतिवाक्यान्वेवोदाहहार—

‘ब्रह्म हि ब्राह्मण’ ‘क्षत्रं हीन्द्र’ ‘क्षत्र राजन्य’ ।

इत्यादीनि ।

व्याचख्यौ च—ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सद् वर्तमानो विद्या
द्युत्तनगुणयुक्त पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव धर्म क्षत्रियकुलम्, य पुरुष
इन्द्र परमेश्वर्यवान् शत्रूणा धर्मकरणाद्युद्धोत्सुस्तत्राच्च प्रजापालनररर धर्मियो
भवितुमर्हति’ इत्यादि । एतानि च ब्राह्मणवाक्यानि नाब्राह्मणेऽपि गुणकर्मयोगाद्
ब्राह्मणत्वविधायकानि भवितुमर्हन्ति, प्रसिद्धार्थमपेक्षहिद्वयद्वयदितत्या सतामेव
ब्राह्मणक्षत्रियादिगुणाना ख्यापकत्वात् ।

‘ब्राह्मण एवविधो भवति’

‘क्षत्रिय एवविधो भवती’

स्याद्येव किल वाक्यानामेषा तात्पर्यम्, न तु य कश्चिदेवविध स एवास्तु
ब्राह्मण इत्यर्थे किमपि प्रमाणमुपश्याम । अस्तुतस्तु य एषा वाक्याना मुख्य
स्वारसिकोऽर्थं स पुरस्तादुपपादित एव—

‘ब्रह्मणोऽग्निदेवताया सम्बन्धेन ब्राह्मण्यम्, बलदैवतस्येन्द्रस्य च सम्बन्धेन
क्षत्रियत्वम्’

इत्यादिरूप । सत्यपि चास्मिन्नर्थे यथा कारणगुणा कार्यगुणानारमन्ते इति
न्यायेन योनिसिद्धैवावस्थितिवर्णाना प्रतिद्वयति तथैतस्सर्वं पुरस्तादेवोपरादिन
मित्यास्तामेतन् । श्रृगादिसहितासु तु गुणकर्ममूलकस्य वर्णविभागस्य स्फुट प्रति
पादक न किमपि मानमुपश्याम । प्रपुत—

‘ब्राह्मणोऽस्य मुचमासीत्’

‘पद्म्या शूद्रो भजायत’

इत्याद्या भ्रुति स्पष्ट योनिसिद्धमेव विभाग वर्णानामभ्युपगच्छत्येव । अर्थान्तर
परत्वमस्या भ्रुतिरिति चेत्किं तत्र मानमिति पृच्छाम ! स्वत प्रमाणभावा हि

भगवती श्रुति कुत इयमर्थान्तरपरत्वमुपनीयते ! त्वयाऽप्यर्थान्तरपरत्वमेवास्या
व्यवस्थपितमिति चेद् ब्राह्मणस्मृत्याद्येकवाक्यतया वममर्थं व्यवस्थापयाम । भक्ता
तु केवल श्रुतीना प्रामाण्यमभ्युपयताऽर्थान्तरपरता दुरमुपगमा । यच्चेदमर्थान्तर
मभ्युपगतमृग्भाष्यम् मेकायाम्—

“अस्य पुरुषस्य मुख ये विद्यादयो मुख्यगुणा सत्यमापणोपदेशादीनि
कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति, बलवीर्यादिलक्षणाङ्कितो
राजन्य क्षत्रियस्तेन कृत आश्रित आसीदुत्पन्नो भवति, वृषिभ्यापारादयो गुणा
मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिगजनो ऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति ब्रह्मम्,
पद्म्या पादेन्द्रियनीचक्षमर्थाञ्जडबुद्धित्वादगुणस्य शूद्र सेवागुणविशिष्ट परा
धोनतया प्रवर्तमानोऽजायत जायते इति वेद्यम्” इति । इतोऽर्थोत् परमेश्वरस्य
विद्यादिगुणेश्चो ब्रह्मादिषु विद्यादिगुणानामुत्पत्ति प्रसिद्धयति । तत्रैतन्मनुष्यते—
न खलु भवद्दर्शने जीवोऽप्यमीश्वरस्याद्य ईश्वरादुत्पन्नो वा, जीवप्रकृतीश्वराणां वस्तुत
पृथग्भूतानामेव निरत्यत्वस्य भवद्भिन्नपगतत्वात्, ततश्च कथं वैश्वरस्य विद्यादिगुणे
भ्यो जीवस्य विद्यादिगुणानामुत्पत्ति ? कारणगुणानामेव कार्यगुणोत्पादकतया
प्रसिद्धत्वात् । उपदेशद्वारेण जीवे समुत्पादिता परमेश्वरेणैते गुणा इति चेत्तथा
सति मुख ब्राह्मण इत्याद्युपचारासमव प्रथमो दोष । उपादानगुणानामुत्पादेय-
गुणैरभेदोपचारस्य दद्यनेऽपीतरन तथात्वासमवात् । विद्यादीना चोपदेशे कथं
चिद्धेतुत्वऽपि बलव्यापारादीनामुपदेशे हेतुत्वगन्धस्याप्यभावाद् बाहू राजन्य
इत्याद्युपचारा सर्वथाऽसंगतार्था प्रसजन् । क्व चेमे जडबुद्धित्वादयो गुणा
शूद्रस्योपदिष्टा ? इत्यपि प्रदर्शनीयमापतति । सति च समानेऽप्युपदेशे कुत
कचिदेव केषाम्चद् गुणानां वैशेष्यात्प्रादुर्भाव इत्यपि कारणासमवाद् दुर्वचम् ।
स्वमावात्तत्र तत्र विभिन्नाना गुणानामुत्पत्तिरिति चेत्स्वभाव एव तच्चर्हि तत्तद्गुणत्वे
हेतुर्नेश्वरोपदेश इतीश्वरत्वाद्बुद्धिदिक्मेधामसंगत प्रसक्तम् । न चेदानीन्तनेभ्यस्तत्त
द्वेष्य ईश्वर साक्षादुपदिशतीति तद्गुणानामोश्वरगुणजन्यत्वासमव एव । तस्मा
न्मदुक्तपूर्वं एवार्थाऽस्य मन्त्रस्य स्वारसिक । ईश्वराशरत्वाज्जीवस्य तद्गुणानां
मीश्वरगुणजन्यताया सुतरा स्वारसिकत्वात् । सा रिक्य जीवगुणानामीश्वरगुणजन्यता
सुस्थानो स्वत एव, तदुत्तरन्तु पित्रादिपरम्पर्यैव पुत्रादिषु तत्तद्गुणोत्पत्तिरिति
योनिसिद्ध एवायमापतितो वर्णविभाग ।

ननु च भो किमतद् भूयो भूय उद्बुध्यते-विद्यादिगुणजन्या पुत्रादिषु
ते ते गुणा इति, सर्वथा विषगादि मलमिद्ध ते सर्वानपि दार्शनिकात् । शरीर
माननिष्ठो हि पुत्रपित्रादीना कार्यकारणभावो, न तु कथमपि जीवनिष्ठ । पुत्र
जीवस्य पितृजीवजन्यताया केनाप्यनभ्युपेतत्वात् । ततश्च स्थूलशरीरगता केचन
गुणा पित्रादीना पुत्रादिपूषकाभ्यन्तु नाम, विद्यादय शक्तिविशेषास्तु नैव

कस्यापि कुत्राप्युपसकमितुमर्हन्तीति निरुपपत्तिकोऽयं योनिसिद्धो वर्णविभाग इति चेन्मैत्रं बोचः । नास्ति यद्यपि जीवानां परस्परं कार्यकारणभाव इति सत्यमेतत् गुणा अपि त्विमे वर्णत्वप्रयोजकतया भवद्भिस्समुपगम्यमाना न हि जीवमाननिष्ठा भवितुमर्हन्ति, परमात्मजीवात्मनोरुभयोरपि केवल्योर्निर्गुणत्वस्यैव वेदान्तसिद्धान्त-सिद्धत्वात् । ततश्च शरीरत्रयविशिष्टे त्रितयान्यतमविशिष्ट एव वा जीवे ते ते गुणा आस्थेयाः । तत्र यद्यपि स्थूल एव शरीरे मुख्यं पितृपुत्रयोः कारणकार्यभावः, अथापि तु मृगमदनासितवसन इव सौरभं सूक्ष्मादिशरीरशक्तिविशेषा अपि पुत्रादिष्ववश्यमुपसंक्राम्यन्तीति प्रत्यक्षसिद्धो दुरप-ह्वोऽयमर्थः । अत एव च—

‘वाच मे स्वयि दधानि’

‘मनो मे त्वयि दधानि’

इत्याद्या भ्रुतिरपि संगतार्था भवतीति कृतं बहुना । ततश्च सर्वयोपपत्तिसिद्धो मन्यसिद्धभार्यं मे वर्णानां योनिकृतो विभागः । अन्यत्रापि च बहुत्र वर्णानां विभागः भ्रूयते मन्त्रेषु, ब्राह्मणादीनां क्रमिक उरुक्रांतिरिति तत्र तत्र ध्यत एव—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तं लोके पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

(अ. २०. २५)

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।

सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्यामिश्रितपाः ॥

(अ. ५. १८. ६)

तथा च मन्त्रभागस्य पर्यालोचनादऽपि जन्मसिद्ध एव वर्णविभागः प्रवि-
दयेत्,—ननु गुणकर्ममूलके जानिभेदे तत्र किमपि मानमुपदर्शयितुं शक्यम् ;
सुहृदतामापन्न एव हि विभागे ।

‘ब्राह्मणोऽस्यमुल्लम्’ ।

‘पद्म्या शूद्रो अजायत’

‘न ब्राह्मणो हिंसितव्यः’

इत्यादयो व्यपदेशाः प्रवर्तितुमर्हन्ति नेतरयेति स्वयमेवं तावदालोच्यत
दरमुकुन्तिनेत्रम् ।

शान्तिस्त्वान्त्संमूर्धन्याः पाणिनिमुनिप्रवृत्तयोऽपि चेने ब्राह्मणादिशब्दव्यवहारं
जन्मसिद्धमेव द्रष्टव्यं । तथाहि—भगवान् पाणिनिस्तावद् ब्राह्मणशब्दसंसिद्धये—

‘ब्राह्मोऽजाताविति’

पयुंदस्यन् ब्राह्मणशब्दस्य जातिवाचकत्वं स्फुटमेवाम्बुपैति । कात्यायनोऽपि—

‘शूद्रा चामहृत्पूर्वाजाति’

रिति वातिके शूद्रपदस्य जातिवाचकत्वमभिदधत् पुयोगव्यावृत्तये क्रियमाणेन जातिग्रहणेन शूद्रभार्याऽप्यशूद्रजातिर्भवतीति स्फुटमुपदर्शयँश्च जन्मसिद्धमेव वर्णविभाग वाचिकमेवाम्यनुजानाति ।

‘सकृदाख्यातनिगोष्ठ’

जातिरक्षण वृत्त्यादिषु सगमयतो

‘योनिर्विद्या कर्मचे’

एत्यादि पूर्वोक्ता स्मृतिमन्यप्रोदाहरतश्च भाष्यकृतस्तु कैश्च कथा गुणकर्ममूलक वर्णविभागाभ्युपगम इति । अथोच्येत—आरोपिता एवैत आचार्योगामेषा ब्राह्मणादिषु जातिव्यवहारा इति, तत्रेथ प्रतिवक्तव्यम्, सन्तु नामारोपिता एव, सत्यमारोप किंहेतुक इति पृच्छाम । न खलु सादृश्यमन्तरारोप क्वचिद्दृष्टम् । तत्तत्कर्मविशिष्टेषु बहुषु ब्राह्मणादिष्वेकबुद्धिप्रयोजकत्वमेव जातिसादृश्यमिति चेत्तदेतदबोधप्रिन्तुम्भितम् । कर्मणां स्वत एवैकबुद्धिप्रयोजकतयाम्युपगमात्तत्र जानित्यारोपे स्वारस्यानुपलब्धे । जातिगुण क्रिया यद्वृत्ता चेति चातुर्विध्यमाहुः ऋषये शाब्दिकाचार्या, अत एव शब्दानामपि चातुर्विध्यमेवाम्युपगत भगवद्भिर्भाष्यकृदादिभिः । यदि कर्मत्र प्रवृत्तिनिमित्तमवलम्ब्य ब्राह्मणादिशब्दा इमे प्रवर्तेरन्—तत्तर्हि क्रियाशब्दत्वमेवा प्रसज्येत न तु जातिशब्दत्व कथमपि । न हि बहुषु पाचकेषु समानबुद्धि प्रयोजकत्वपीथ पचिक्रिया जातिरित्यनुमन्यते केनापि सचेनसा । ततश्च जननसिद्धत्वमेव जातिसादृश्य ब्राह्मणवादीनां निर्विवादमुरीकार्यम् । यथाप्यय कर्मकरेषु लोहकारादिषु जातिव्यवहार सोऽपि जननसिद्धत्वेनिबन्धन एवेति कृतमतिशयितेन विस्तरेण ।

तदित्थ मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्स्मृतिपुराणसुत्रभाष्यादिभिः सर्वैरपि जन्मसिद्ध एव विभागो वर्णानां प्रसिद्धयतीति बहुधैतद् विचारितम् ।

अथैव श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रमाणैः प्रसाधितेऽपि जन्मसिद्धे ब्राह्मणादिजातिविभागे ये तावन्तुदमात्रेऽप्यविश्वसन्त केवलाभिरुपपत्तिभिरेव धर्माधर्मविनिर्णये कृतसनाहा युक्त्वावनतिहेतुतां जातिविभागेऽस्मिन्वारोपयत्त प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रत्यपि किञ्चिद्वक्तुमिच्छाम । तत्र तावद्दर्शविभागफलमूनमिद विभज्य कार्यकरण कथमपि नावनतिसाधक प्रयुतोन्नतय एव परमुपयुज्यमानमिति सप्रतिपद्येत सर्वैरपि प्रज्ञासुते । न हि परस्परमङ्गाङ्गिभावमननुप्राप्तानि विशावल्ब्यापारादिकार्याण्येके नैव पुरुषेण शक्यानि सर्वाणि प्राधान्येन सपादयितुम् । यद्यपि स्वगत सर्वा अपि शक्य सर्वत्रैव कार्येषु कथञ्चन समपेक्ष्यन्त इति सत्यम्—व्यापारे बलविद्ययौबलेऽपि विद्याया विदुषोऽपि च योगज्ञेयमात्रकृते बलव्यापारादीनां सुभ्रूयामपि च सर्वेषामपेक्षाया सुस्पष्टमनुमसिद्धत्वात् । न ह्यन्यासामेकांततो

विरह एकैश्चक्रिहृतानि कार्याण्यमुदयमानादपितुमर्हन्तीति । अयापि तु प्राधान्याप्राधान्यकृतः सुमदान् विरेष सर्वैवानुसन्धेय । न हि प्राधान्येन सर्वा अपि शक्यं क्वचनैकरिन्न् विद्याश्रमासादयेषु, न च तत्तच्छक्तिसाध्यानि प्रधान-कार्याणि क्वचिदप्येक एव उपादयितुं प्रगल्भेत । यस्तु शक्तिरुदात्तिसाध्यानि प्रधान-सर्वगतानि शक्तीनानेकत्र विद्यायां सोऽयं महान् हिमताप्रयोजकं ह्यचिदुपलभ्यमानं त्वेवाप्रकृतं इति प्राकृत्यवस्थापामपरिगम्य एव । प्राकृतास्तु वैशिष्ट्यभावोऽपि जना गुणभावेनान्या शक्तीरस्योऽप्येकैश्चक्रिहृतानि विदधानास्तत एव च पर वैशिष्ट्यमाप्नुवन्त उलम्पन्त इति सर्वेषामपि दृग्गोचरोऽयमर्थः । सर्वागतानि चात्ता प्रधानशक्तीनां प्राधान्येनैव निरुद्यन्तस्तद्देशानानुसन्तौ प्रयोजक इति तत्सिद्धये ऽवश्यं विषय फलकारगमेव समपेक्षितं भवति । अत एव च सर्वेष्वप्युत्तरेषु नमस्तु च देशेषु समालोक्यत इयं विमानं कार्यकरणपरिणतौ । न हि ज्ञानि विद्यावल-व्यारादीन्येकैश्चक्रिहृतानि विदधानास्तत एव च पर वैशिष्ट्यमाप्नुवन्त उलम्पन्त इति । शिष्यान्वपि च तानि तानि विदधानैव सर्वं सर्वत्र सराद्यन्ते । ततश्च वर्णानिविभागस्य मुर्या शैल्य तावन्न कथमपि विदधाना स्यादुपपत्तेरुपपत्तशीलना वा । केवलन्वित्त्वदमवशिष्यते विचाररितुम् जन्मविद्वत्त्वस्य वर्णानिविभागस्य यद्भारतायैश्चिरादुपगम्यते, तदिदमुन्नताशुनमुक्तं ततो विद्वद् वेति । तत्र सर्वेषोन्नतेर्विद्वदोऽयं जननसिद्धौ ज्ञानिविभाग इति बहूनामनुसन्तानां बुद्धिः । अनुकूल एव त्वयनुन्नतेरिति पुरातनपथपरिशीलिनोऽभ्युपयन्ति । तथा हि उन्नतविरोधिनाऽरिन्न् जननसिद्धौ ज्ञानिविभागो फलबलाद्वा कल्पत उपरत्तिवत्पदा । यदि ह्यवनतमिदानीं भारतमत्र लोक्य सत एव तद्देवताऽस्मिन् ज्ञानिविभाग आरोप्यते तर्हि तदिदमन्यास्यं विपरोत् च । यदा हि सर्वशक्तिरनुद्विभाजो भारतस्य सर्वज्ञपूर्णा समुन्नतिरासीदिति सर्वैरपि समुद्बुध्यते तदापि (पुरातने काले) सुदृढोऽप्यमासीत् जन्मविद्वदो ज्ञानिविभाग इतोविहासादिभिः प्रथमदयाम । यदि हि ज्ञानिविभाग एवायमुन्नते प्रतिबन्धकोऽप्रविध्यत्-कथकार तत्तर्हि पुराप्यस्य भारतस्योन्नति समुद्बुध्यत । प्रथुन येदानीमियमवलोकयतेऽवन्ते परा काष्ठा तेय वर्णविभागशैथिल्यनूलिकैवेति शक्यतेऽभिधातुम् । यत एव प्रभृते तत्तद्गणोचितेषु कार्येष्वीदासीन्वमालम्बित भारतीयेस्तत एव मुग्धमिनेनिबन्धाः पारम्पर्यशृङ्खलादेति क एतन्निर्देशु शक्यु यादिनिहासतत्त्वान्वेषक । वर्णानुद्विभाजिन्ये तु हेतुर्बोद्धादिविधिमतप्रचार इति विज्ञानन्तेषु विद्या ।

इदं तु तावदाधुनिकानां केषाञ्चनमहातुमावानां परम्परारामत्र यदिने तत् स्वामिमतधर्मप्रचारमनिष्पन्नसुदभ्रवृत्तामेव साप्रतिकीनवन्ति भारतस्योद्-घोषयन्तीति । अत एव केचन विद्वानां पुनश्चाह कामयमानास्तदमात्रादेव भारतमन्नमन्ति । परे तु प्रतिना एव प्रतिदिपन्तस्तदन्वया एव शिरसि सर्वं

मनविमारोपयन्ति । तथैवान्ये आतिविभागनेवोच्छेत्तुमुपाह्वयन्तमितममनविहेतुं
 ब्रुवन् इति कथमेतदुपचितविनाकृत भक्षीयेत ! वस्तुतो विद्याद्रविगाध्यवसायैक्या
 यभावस्थैवावनतिप्रयोजकता विज्ञसमतेति । तस्मात् फलवत्त्वज्ञानिविभागरनाव
 नतिहेतुत् नैव शक्यते समर्थयितुम् । अधोपपत्तिद्वलादुच्येत, तदाप नैव विचार
 सहम् । यदा हि विमल्य कार्यकरणमुन्नतावुच्युक्त सर्वसिद्ध तदा तस्य कुलपरम्परा
 नियतत्वे कोऽयमुन्नतिविरोध इति नैतन्ज्ञातु प्रभवाम, प्रत्युत परित्यज्य
 कुलपरम्परानियतत्वं यदीच्छेत्तैव सोऽय विभागो नियम्येत, तर्ह्यारकर्मसु प्राये-
 ष्ठाया अनुदयादवरकर्मकरा सुदुर्लभा सपयान् । अयोग्यानामपि चोच्चको
 चितेष्वेव कर्मसिद्धयः प्रवृत्तिः स्यात्, तानि च कर्माणि शक्यमावाद्यथावत्स
 पादयितुमनर्हास्त इतो भ्रष्टततोभ्रष्ट इति न्यायमेव पदे पदे चरितार्थयेयु ।
 प्रवृत्ताया च सर्वानुभूत्या विशृङ्खलनाया वञ्चोन्नते प्रत्याशापि । अथ परीक्ष्यैव
 तत्तत्कार्योचितास्तत्कार्येषु समाज्यवस्थया नियम्येन्नितिचेत्तदिदं परोक्षकार्यं
 कीदृशं गुफतरं कष्टसाध्यं समवितुमपि कथं शक्यतीति दरमुकुलितनेत्रं मवन्त
 एव विचारयन्तु, किंच तत्त उक्तदुपचयोपयोगिनः सरकारा आहारविहारा
 दयभावात्स्यमेव तत्तद्दर्शानां भारतीयैर्विभिन्नतया नियम्यन्त इति कथं तदारो
 योग्यतापरीक्षणं प्रसरेत् ! अथ ब्रुयु — विभिन्नाहारविहारादिकथैधयमप्रयोषि
 काऽवनतिसाधिका च, तदभावऽपि बहुषु देशेषु प्रचुरतरोन्नतिदर्शनादिति, तदिदं
 मेकान्ततोऽनवधेयमेव धर्मैकजीवितानां भारतीयानाम् । न खलु भारतीयैः
 ऐहिकोन्नतिमात्रेण कृतार्थमभ्या । परलोकेऽपि प्रतिपदं सुन्दतरोऽर्जुना विश्वासः ।
 अत एवैते विशुद्धसत्तादिसरक्षणाय विरुद्धतत्तद्मौनसकर्मगनिवृत्तये च नाहारा-
 दिसाध्यै रोचयन्ते । देशप्रकृतिमनुसृत्य चैषां तत्तत्तदुपचयाय विभिन्नानां
 मेवाहारविहारादीनामपेक्षेति नैतदप्रकृतनिहं विस्तरभयाद्विवरीतुमिच्छाम । ततश्चैव
 विधिविचक्षाख्यत्र भारते कुलपरम्परानियतेनैव वर्णविभागेन समन्वितं गतिरिति
 सुखममालोच्यता सुधीभिः । एकस्मिन्नेव कुले पितृपुत्रादीनां विभिन्नवृत्ताः यदि
 स्यात्—कथं तर्हित्तदनुकूलाहारविहारादिसामञ्जस्यमुत्पद्येत । अभिनवमतकर्ण
 धारोऽपि स विद्वानाशङ्कितवानिमा विशृङ्खलाम् । “शूद्राद्युपगता ब्राह्मणादीनां
 सुता कथं वा विवादि कार्याणि निर्वाहयेयुः, कथं च सत्सुपि सुतेषु कुलानि
 न नश्येयुरिति ।” आग्रहवशवदस्तु परतो “ब्राह्मणादयः समाज्यवस्थानुरोपे
 नान्यान् स्वानुरूपां पुत्रान् प्राप्नुयुः” इति समाधेः । अहो स्वीयशुक्र
 योगितसमूतानां सर्वथा स्वीयानां वर्णान्तरतया परित्यागोऽन्वेषान्तु सर्वथाप्य
 सद्विद्वानां पुत्राणां स्वनिर्वाहापोषणग्रहणमिति क्रियदियं समाज्यवस्थाया
 सामञ्जस्यं प्रदर्शितं द्रष्टव्यमुदघाट्य चक्षुषी । किं चायत्—‘कारणगुणा कार्यगुणा
 नारमन्ते’ इति प्राकृतिकनियमानुपपत्तौ कुलपरम्परायातच्छक्तीना वैशिष्ट्यमपि

वर्णविभागेऽस्मिन्नूलभूततया बहुधाः प्रागेव समुद्रद्युष्टमिति तद्विहाय प्रकृति-
 विरुद्धयाहञ्छिन्ननियमाभ्युपगमे किं निदानमिति चिन्त्यमिदम् । यत्तु वदन्ति-
 अनेकशोऽनुभूतव्यभिचारोऽयं नियमः, बहूनामेव ब्राह्मणादिकुलजातानां ब्राह्मणादि-
 योग्यतानुपपत्तेः, बहूनामव्यभिचारवर्णानामप्युच्चतरयोग्यतोपपत्त्ये । अत एव तु परित्या-
 ह्योऽयं जन्मसिद्धो जातिविभागः, अयोग्यानां तत्तत्कर्मसु प्रवेशनेन योग्यानां च
 प्रवेशप्रतिबन्धेन तत्तत्कारणोत्तरे प्रत्यागताया अपि दूरापेक्षत्वात् । किञ्च सत्कुलजनन-
 मात्रेण कृतार्थमन्यास्तान्मात्रेण चाभ्यर्थात्मिकाः पारस्पर्य-शब्दा उच्चर्णा न स्तोत्रितेषु
 कार्येषु कथमप्यवदधतीति सेयमपि दुरवस्था जन्मकृताजातिविभागादेव । कर्मकृते
 विभागे कर्मणामवश्यविवेक्यतैव भवेदादरकामुक्तानामिति नायं दोषः प्रसरेत् । न
 च योनिमात्रगर्हिता उत्तममन्या वर्णा अवतरणेषु बाह्यमात्रेणाप्यादरं दर्शयितु-
 मुरीकुर्वन्तीति इव वराही पारस्परिकप्रेमकथा । परस्परप्रेमवञ्चिताश्चानवरतमनै-
 क्यमन्वयमाना अवन्तरेव भवन्ति भोज्या इति समुत्सारणमेवायमर्थेति जन्मसिद्धो
 जातिविभाग इति ।

अथेत्थ प्रतिबन्धव्यम् । अवश्यं वर्तमानेऽस्मिन् समये दुर्देववशात्प्रभूता
 इमे दोषाः, समुत्सारणीयाश्चैतेऽवश्यमुन्नतिकामुकैरिति सर्वेऽप्यभ्युपगच्छन्ति विचार-
 दक्षाः । केवलानु दोषमार्थं समुत्सार्य रक्ष्यं रक्षणीयमिति मतिमता पत्याः ।
 न तु दोषा समूना इति व्यवस्थैव समुत्सारणीया । अव्यवस्थाया हि
 दोषाः प्रसरन्तीति दोषानपनेतुकामैर्व्यवस्था सुदृढं नियम्या, न तु कथचनाव-
 शिष्टाणि सा समूलमुन्मूल्येति केनापि प्रेक्षावतानुमन्येन । समाजसंस्कारस्तावदिदानीं
 नव्यानामिव प्राक्तनपरिपाटीप्रगयिनामप्यभीष्टित एव । उभाभ्यामपि च संस्काराय
 यत्रोऽप्यवश्यमेवास्येयः । न ह्यन्तरेण यत्र केनापि प्रकारेण यत्किञ्चिद्विधोऽपि
 संस्कारः नेत्यतीति । तथा च तेनानेन यत्नेन पूर्वसिद्धैव सुव्यवस्था नियम्यताम्,
 न त्वथापि स्थितायास्तस्याः प्रथमं समुत्सारणे तदुत्तरं चाग्निवायाः प्रवर्तने द्विगुणो
 यत्नभरः शिरस्यारोप्यतामिति मतिमता दर्शनम् । पूर्वसिद्धसुव्यवस्थाप्रचारे च
 मुनियने स्वधर्मावल्म्बनेऽवश्यमेव तत्तत्कुलेषु तत्तद्योग्यताभाज एव सुताः समुत्सरे-
 रन् । उपपत्तिविद्वस्य प्राकृतिकस्य नियमस्य व्यभिचारस्तावदवश्यं दोषादिबन्ध
 एव वक्तव्यः । न सन्ति ब्राह्मणादिषु सुदृढाः स्वस्तोचितशक्तिसंस्कारा इत्येव ते
 सुतादिषु नासादयन्ति विकासम् । अस्यामपि तु दुरवस्थाया बहुधाः कुलसंस्कारा
 अनुवर्तमाना एवानुमूयन्ते इति सुस्पष्टमनुभवरक्षागाम्-प्रतिपादितं च प्राग-
 पीदम् । कर्मणा च तत्तद्वर्णोचितानामवस्थानुष्ठेयस्वमस्मच्छास्त्रेष्वेव सुदृढं
 नियमितमिति यथार्थधर्मप्रचारे कार्यं कर्मान्तर्यदोषोऽनुविन्देत्तदमपि । आस्ता
 च कर्मान्तरानां समाजकृतः परिभव इति तदपि शास्त्रानुकूलमेव । न च
 यथार्थभूतायां व्यवस्थितौ वर्णानां पारस्परिकविद्वेषकथापि कथंचित्यचलेत् । यत्र

वयमीश्वरेणोत्पादितास्तदेव कर्मोत्पत्तिरिवलम्ब्यमिति यथार्थविश्वरूपाणामवर वर्ग-
नामीर्ष्यानुदयात्, प्रस्युताव्यवस्थायामेव प्रसरति विद्वेषकारणी मूत्रा सेयमीर्ष्या ।
उत्तमवर्णरूप्यवरवर्णेषु दर्शनीय सौहार्दनेव तदधीनवहुतरकार्यभाटै । न हि भोजना
शैक्य एव सम्भवति सौहार्दम्, न चावरवर्णेषु प्रकृतीया घृणेति कोऽपि वर्णविभा-
गोपयुक्त शास्त्रविद्रो नियम । आलम्ब्यता यथार्थधर्मपरायणै सर्वैरपोद् भूति-
वाक्यम् ।

यथेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य ।

ब्रह्मराज-वाम्बा शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।

सर्वेभ्य एव कल्याणी वाङ् निगद्येत्वाज्ञापयति भगवानृषि । तस्मादुप-
पत्त्यापि नास्ति कोऽपि विरोधोऽस्मिन् वर्णविभाग इति शिवम् ।

तदित्यमुपपत्त्यापि चातुर्वर्ण्यस्य युक्तता ।

प्रदर्शितैव दिङ्मात्रमल सुविदुषा कृते ॥ १ ॥

वस्तुतो धर्मतत्त्वानामुपपत्त्या विद्वम्बनम् ।

न शास्त्रापेतया न्याय्य मतिमात्रतमुत्थया ॥ २ ॥

सुविचार्य ततो धारै भ्रुतिस्मृत्यनुमोदित ।

सम्यगालम्ब्यतामप्या भगवान् व प्रसीदतु ॥ ३ ॥

प्रमीतपतिकाधर्मालोचनम्

इह लल्लु लोकान्तरगतपतिक्रिया न्त्रिया ओ धर्म इति विद्यासाया—
‘मृते ननरि ब्रह्मचर्यमन्वारोहण वा’

इत्यादि वचनजातमनुस्त्वाना सनातनार्यधर्मालुयायिनो विद्वाठस्तावद् ब्रह्म
चर्यानुस्त्वानेव ता स्तान् धर्मानुपकल्पयन्ति, तत्र तु विप्रतिपद्यमाना केचिदिदा
नीन्तना विचरणा पुनरप्युद्वाह तासामनुमन्वते । आयतते च विषयेऽस्मिन्नव-
स्थिति समादस्येति बहुभिरथ विद्वत्प्रकाण्डैर्बहुधा विचारितो विचार्यमाणश्चापि
त्रिपय एष पुनरपि विचारचक्रमारोपणीय एव । तत्र तावत्केचन धूर्तप्रकल्पितेयमिति
समुत्पन्न शास्त्रमयोदा सनाजान्तरनिदर्शनैस्तर्कावष्टम्भैश्च बहुविधैः पुनरुद्वाह
विधवाना प्रमाणयित्तुमुञ्जते, तदभावमेव च समाजविलङ्घनेतुमुत्तरीकुर्वते स्वतन्त्र
प्रथा । अपरे तु धर्मशास्त्राणि कथचित्प्रमाणयन्तोऽपि तत् एव तमर्थं साधयित्तु
समर्हन्ति । तत्राद्याना मन तर्कावष्टम्भैरेव परतो विचार्यम्, धर्मशास्त्राणि तु
त्रिपयेऽस्मिन्ननुकूलानि प्रतिकूलानि चेति तावद्विविचरते । तत्रानुकूल्यवादिनां
त्रिधा विभज्यते समुदाय । तथाहि क्वचित्तावदविशेषात्सर्वासामपि विधवानां
पुनरुद्वाहो धर्म एवत्यातिष्ठन्ते । अप्राप्तपुरुषसगानामज्ञतानामेव तु पुनरुद्वाहो
धर्म्य इत्यपरे प्रतिजानते । अन्ये तु पुनरुद्वाह प्रतिषेधन्तोऽपि नियोगेन सन्तःपु
स्वादन सर्वदा धर्म इति ब्रुवते, तदेतन्मत तत्र क्रमेणैवेहालोच्यम् । ये चैषाम-
वान्तरा बहुधा भेदास्तेऽपि तद्विवेचन एव स्फुरीमदिष्यन्ति ।

तत्र सर्वविधानामपि विधवाना पुनरुद्वाहमभ्युपगन्तुन्त आद्यास्तावदाहु
प्रमीतरत्नोक्तानां पुरुषाणामिव प्रमीतमर्तृकाणा योषितामपि पुनरुद्वाहस्तुल्यन्यायेन
समुचित एव, उभयोरपि त्रिवर्ग (धर्मोर्थकाम) ससाधने परस्परपेक्षत्वात् । ये
तु केविदाधुनिका पुरुषाणा पुनरुद्वाहमनुमानन्तोऽपि योषिता त प्रतिषेधित्तु
समर्हन्ति त इमे स्फुट पञ्जातप्रह्महिता न्यायमुत्सृज्य तास्त्व्याचरन्तीति क.
प्रेक्षावात्रानुमन्वेन । न हि धृतय स्मृतय इतिहासा वा पुनरुद्वाह स्त्रीणां सर्वया
प्रतिषेधन्ति, अपि तु तत्र तत्रानुमन्यन् एव । तथा हि श्रुतिस्तावत्—

उदीर्ष्व नार्यमिजीवलोक्मितामुनेतनुपशोष एहि ।

हृत्प्रामस्य दिषिपोस्त्वनतत्पत्युर्जनरवममिचवभूय ॥

(श्रु० स० म० १०. २. १८. ८)

मृतस्य परतु समीर उन्विशयाया पन्था देवरादिमिदृश्यापने त्रिनिपुक्त एष
मन्त्र । तथोक्त एष्ये—‘तामुत्पापदेदेवर, पतिस्थाभीयोऽन्तेवासी, बरदासी वोदीर्ष्व’

नार्यमिञ्जीवलोकमिति' (आ० गृ० सू०) अस्यार्थस्तु ' हे नारि इतामुम् (मृतम्) एत (पतिमुद्दिश्य किं) शेषे (स्वपिपि) उदीर्ष्व (उत्तिष्ठ) जीवलोकम भिलक्ष्य उपैहि (पुनरस्मिन् जीवलोके प्रवृत्ता भवेति यावत्) । (इदानीं) त्व हस्तग्राभस्य (पुनस्ते हस्त ग्रहीष्यत, तवोद्गाहं करिष्यत इति यावत्) दिधिषो (गर्भनिघाट) पत्यु (भविष्यतरते स्वामिन) एतद् अनित्यम् (जायात्वम्) अभिसवभूय (प्राप्ताऽसि) ।

मृतमिम पतिमुत्सृज्योत्तिष्ठ, य कश्चिन्वामभिलष्यति तरय पत्युतरस्य सव ध चाप्नुहीति स्फुट एवास्यायमाशय । तथा चाने पुनर्द्वाह भ्रुतौ स्पष्टं विहित एव । अन्यत्र --

कुहृश्विदोषा कुहृवस्तोरश्विना कुहाभिपित्त्र करत कुशेषतु ॥

को वा शयुना विधवेद देवर मर्ये न योषा कृणुते सधस्य भा ॥

(ऋ० १० ४० २)

मन्त्रोऽथ यद्यपि देवताविशेषावश्विनौ विषयीकृत्य प्रवृत्त, अथापि दृष्टान्त विधयाऽत्र द्वितीय उद्गाहो विधवानां सूच्यत एव । तथा च मन्त्रस्यास्यायमर्थ— ' हे अश्विनौ युवां रात्रौ क भवथ, दिवा ष्णु क भवथ, क वामिप्रार्तिं कुरुथ, क वसथ । को यजमान सहस्थाने (वद्या) युवा आहृणुते—परिचरणार्थमात्मा भिमुखीकरोति । तत्रैव दृष्टा तद्व्यमेतत्—यथा विधवा शयने देवरमभिमुखीकरोति, यथा वा सर्वाऽपि योषा मनुष्यमभिमुखीकरोति तद्वत्' इति । तथा च स्पष्ट मस्मिन्पि म त्रे विधवाया पुरुषान्तरानुवृत्तिरुक्ता । न चात्र देवरस्यैव अनुवृत्ति कर्णान्नियोगपरत्वमस्य धटेत, न तु विवाहपरत्वम्—विवाहस्य येन केनापि पुरुषेण सह जायमानतया तत्र देवरानुवृत्तिनियमामावादिति भ्रमितव्यम् । देवरशब्दस्यात्र यौगिकत्वेन द्वितीयवरसामान्यबोधकत्वात् । तदाहेतुमन्त्र एव निरुक्तकारो भगवान् यास्क ' देवर क्रमाद्, द्वितीयो वर उच्यते' इति । तस्माद्देवरशब्दस्यात्र द्वितीय पुरुष एवार्थ, तथा चास्य मन्त्रस्यापि विधवोद्गाह बोधकत्व निर्विवादम् । तथैव किल विवाहकालिन्नेन्द्रप्रार्थनयाऽपि बहुपतित्व स्त्रीणां सूचितम्—

'इमा त्वमिन्द्र मीद्व सुपुत्रा सुभगा कृणु ।

दशास्या पुनानाघेदि पतिमेकादश कृधि' ॥

(ऋ० १० ८५ १५)

अत्र षोकादशपर्यन्त योपित पतयो भवतीति सूच्यते । न चात्र दशभि पुत्रैरेव पत्युरेकादशसत्त्यापूरण न्याय्यम्—उपस्थितत्वात् तथाचैक एव पतिरिति पठ्यतीति वाच्यम् । विजातीयै पुत्रै पत्युरेकादशत्वसामञ्जस्यविरहात् । वजातीयैरेव

द्विल सजातीयसख्यापूरणमुत्तितम् न तु विजातीयेन । न ह्येको ब्राह्मण एकश्च
प्रस्तर इति सयोऽय द्वित्य केनचित्प्रकल्प्यते । पुत्राणा चाधिकानामशीष्टत्वसमवात्
तत्रैकादशनियमाध्यानात् । तस्मात्पतिगतैरयमेकादश सख्या, ततश्च सिद्धयत्येव
पुन पुन स्त्रीणामुद्वाह इति निविवादमेतत् । अन्यच्च—

या पूर्वं पतिं हिरवाथान्य विन्दते परम् ।
पञ्चौदन च तावज ददातो न वियोष्वत ।
समानलोको भवति पुनर्भुजा पर पति ।
यो ३ ज पञ्चौदन दक्षिणा ज्योतिष ददाति ।

(अथर्व० २ अनु० २ सू०)

इह पूर्वं पतिं परित्यज्यान्वमाश्रितवतीं पुनर्भूपदपरिभाषिता प्रति बलिप्रदाना
दिक विधीयते उच्यते चोत्तरस्मिन् पुनर्भुजा सात्विक्यमपि तत्पते । तेन च सुस्पष्ट
प्रसिद्धयत्येव श्रुतिकालेऽपि विधवाना पुनरुद्वाह इति विवेच्यता विद्वद्भिस्तुज्य
पक्षपातम् ।

किं च 'तस्मादेकस्य सहस्रो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहव सह पतय' इतीयं
ब्राह्मणश्रुतिरपि सह शब्दोपादानाद् युगपदनेकपतिवत्त्व नारीणा प्रतिषेधन्ती पर्याये
गानेकपतिक्रममनुजानातीव, सर्वदापि पत्यन्तरनिषेध इत्यमाणे सहशब्दवैयर्थ्यं-
प्रसङ्गात् । तस्मादितोऽप पतिविरहिताना स्त्रीणां पुनरुद्वाह प्रसिद्धो भवति ।
मन्त्रे च स्वय पत्युरेव स्वस्यासामर्ष्यादिदशाया पत्नी प्रति पत्यन्तरकरणानुशासन
श्रूयते 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पति मत्' इति । ततश्च श्रुतिसिद्धोऽय विधवाना पुनरु-
द्वाह सर्वथा धर्म्य इति स्पष्टमतत् सिद्धम् इह च 'विधवाविधातृका भवति' इति
निरुक्तव्याख्यानानुरोधेन पालनादिकर्तृविरहितैव विधवाभिप्रेयते, तेन च सन्नपि
यस्या पते प्रव्रजनेन देशान्तरचिरप्रवासन बलैव्यपातित्यादिना वा न पालनादिषु
क्षम स्यात् सापीह विधवेव विवाहन्तराधिकारिणीति विज्ञेयम् । तदेतत्सर्वं स्पष्टमेव
निवृत्त स्मृतिषु, तथा च 'कौ पाराशरी स्मृति' रिति न्यायेन विशेषत कलियुगो
चित्तानेव धर्मान् विवृण्वन् भगवान् पाराशरस्तावदाह—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्नीषे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्त्रापस्तु नारीणा पतिरन्यो विधीयते ॥ इति ।

अन नष्टभिरादपरिज्ञात वृत्तान्त प्रोषित । तद्विधये च प्रतीक्ष्यकालावधिमपि
नारद स्पष्टमुपगदयति—

अज्ञातशोपेगोदाया निर्दोषा नान्यमाश्रिता ।

वन्धुभि साभियोक्तव्या निर्वन्धु स्वयमभयेत् ॥

नष्टे मृते प्रवृत्ते क्लीब च पतिते पत्नी ।
 पञ्चस्वापस्तु नारीणा पतिरन्यो विधीयते ॥
 अथै वर्षायुदीक्षित ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम् ।
 अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽप्य समाश्रयेत् ॥
 क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समाश्रयम् ।
 वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत् ॥
 न शूद्राया स्मृत कालो न च धर्मव्यतिक्रम ।
 विरक्षितो प्रसूताया स्त्रिया सत्त्वरात् स्थिति ॥
 अप्रवृत्तौ स्मृत काल एव प्रोषितयोपिनाम् ।
 जीवति भयमागे तु स्यादेव द्विगुणो विधि ॥
 प्रजाप्रवृत्तौ नारीणा वृत्तिरथा प्रजापते ।
 अतोऽन्यगमते स्त्रीगामेष दोषो न विद्यते । (नारदस्मृति)

अप्रवृत्तौ-प्रोषितस्य वार्तायामभयमाणायामेषोऽष्टवर्षादिक कालो नियमितः,
 जीवतो वार्ताया भयमाणायान्तु तद् द्विगुण काल स्यात् । तदुत्तर तु सर्वशान्तस्य
 परपुराभयण न दोषावहम्, मृत प्रवृत्त क्लीब पतित पत्नीना च पत्यन्तराभयण
 धर्म एवेति स्पष्टमनयाऽपि स्मृत्या ख्यातितम् । नारदस्मृतिभ्ये ननुक्तानामेवार्थानां
 विवरणमिति तदुपक्रम एव स्पष्टमभिहितम्, ततश्च भगवतो मनोरप्यनुकूल एताय
 मयं । इह प्रतिपादिता चैव प्रोषितस्य कालप्रतीक्षा संक्षेपेण भगवता मनुनानि
 निदर्शिता—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽथौ नर उन् ।
 विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्तरान् ॥

इति । तदुत्तर चान्य पतिराभयणीय इत्यर्थानुगुणान् नारदस्मृतिसंवादाच्च
 प्रसिद्ध्यन्त्येव । ततश्चैवदेशानुमत्या पञ्चस्वप्वापस्तु पुनश्चाहोऽप्य भगवतो मनो
 स्पष्टमभिमत सिद्ध । कात्यायनस्तु मगधानन्दध्याप कारयेत् पुनश्चाहमाह । तथा
 च तदीय वचनम्—

स तु यद्यन्यजातीय पतित क्लीब एव वा ।
 विकर्मस्य सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ।
 ऊदापि देवा सान्यरमै संप्रावरणमूढता ।

इह चान्देनोदाप्यन्यरमै हेदेति वचनस्वारस्यात्प्रादेरेव पुनरपि दातृत्व विद्म
 भवति, तेन च विवाहात्पूर्वमेव क्लीवादीना प्रतिपद्यतीतायामपि भार्यायां स्वत्व
 नैकोत्पद्यते । विवाहादुत्तरन्तु क्लीबपतितमृतादीना पूर्वश्रुतजननि स्वत्व विनियते ।
 ततश्च पूर्वस्य स्वामिन विवादेरेव तत्र स्वत्वमिति तस्यैव तदप्रदानेऽधिकार इति

विज्ञायते । एतेन पितु स्वयस्य पूर्वप्रदानेनैव विनाशात्पत्युश्चासत्त्वाद्विधवाया प्रदाने कस्याप्यधिकारो न सिद्ध्यतीत्याद्यनर्गल प्रजल्पन्तो निरस्ता वेदितव्या । स्मृत्यानु-
कृत्यात्पितुरेव प्रदानाधिकारसिद्धे । 'परतोऽन्य समाभ्येत्' इत्यादि नारदस्मृत्य-
क्षरानुगुण्यात् पत्यन्तरकरणे स्त्रिया एव स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति । तदेवैतदाह
देवलोऽपि—

नष्ट प्रजित क्लीब पतितो राजकिल्बिषी ।
लोकान्तरगतो वापि परित्यज्य स्त्रिया पति ॥
मृते भर्तारि जीवे वा स्त्री त्रिदेतापर पतिम् ।
सन्तरयनाशायतया न स्वातन्त्र्येण योषित ॥

(शूद्रकमण्डरे)

अत्राप्यपत्तिबदने स्त्रिया एव कर्तृत्वोक्त्या तस्वरातन्त्र्ये स्वयत् इव । ततश्च
वाल्मीकिपित्रैव पुन प्रदान प्रौढायस्तु स्वातन्त्र्येणैव पुन पत्यन्तरमित्यादि
व्यवस्थानुसन्धेया । न च स्त्रीणां विवाहे सर्वथा स्वातन्त्र्य नास्त्येति भ्रमितव्यम्—

'गम्य त्वमाय दातुणा कन्या कुर्यात् स्वय वरम् ।' (याज्ञवल्क्य)

'श्रुतुनयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वय वरम् ।' (विष्णु)

इत्यादिभि स्मृतिवचने प्राप्तवयस्कानां स्त्रीणां स्वात्मप्रदाने स्वातन्त्र्यस्यापि
बोधनात् । सर्वथापि तु पुनश्चाह पतिविरहितानां स्त्रीणां स्मृतिसिद्ध इति स्पष्ट
मेतत् प्रतिपादितम् ।

एवमितिहासपुराणादिभिरप्यर्थ एव शक्यते साधयितुम् । तथा हि महाभारते
नलोपाख्याने तावन्नष्टपतिकाया पतिव्रताशिरोमणेरपि दमयन्त्या पुन स्वयवराय
पत्रिकाप्रेषणम्, तदवगत्य राज्येश्रुतुपर्णस्य तद्विवाहार्थमागमनं, तेनैव सहायातस्य
पूर्वपतेर्नलस्य दमयन्त्या समागमश्चेत्यादि सर्वं सुस्पष्टमभिहितम् । तेन च तस्मि
न्नपि काले स्त्रीणां पुनश्चाह आसीत् प्रचलित इति स्फुटं शक्यमनुमातुम् । कथ-
मन्यथा दमयन्ती पत्र तादृशं प्रेषयेत्, कथं वा स राजधिरभ्रुतपूर्वां तादृशीं कथा
श्रद्धयात् । न च दमयन्त्या नलान्वयणायैव स प्रयत्न आरब्धस्तथा च नातस्तया
प्रचार प्रसिद्ध्यतीति वाच्यम् ।

आस्तां दमयन्त्याः कथमपि स प्रयत्न, श्रुतुपर्णस्तु राजर्षिं प्राप्त स्मरणीय-
कथं तादृशो धर्मोपेतेऽर्थं बुद्धिपूर्वकं प्रवर्तत । तस्मादवश्य विधवानां पुनश्चाह
हस्तदात्वं धर्मत्वेनैव पृथक् स्मेति निर्दिवादमस्मादाख्यानात् प्रसिद्ध्यति । अत्यन्त
धर्मपरायणस्य पाण्डवस्यार्जुनस्य परपूर्वाया नागकन्याया उल्लुप्या स्वीकरण
कथाभ्येतदुबोधयत्येव—तदुक्तम्—

अर्जुनस्यात्प्रज श्रीमान्निरावाप्तम वीर्यवान् ।

मुताया नागराक्षस्य जात पाथेन धीमता ॥

पेरावतेन वा दत्ता ह्यनपत्या मशात्मना ।
पत्न्यौ हते पुनर्न कृष्णा दीनचेतना ॥
नार्यार्थं तां च ब्राम्ह पापं कामव्यानुगं ।

एवमेष समुत्पन्न परस्त्रेऽर्जुनात्मज । इति (म० भा० मीमं०)

किंच स्त्रीणां पुनर्भूतप्रख्यापकस्मृतीनां द्वादशविधपुत्रप्रतिपादकस्मृतीनामपि च पर्यालोचनेन पुनर्निवाहस्य पुराप्रचरितत्वं शक्यमनुमातुम्—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू सङ्कृता पुनः ।

इति ह्याह भगवान् याज्ञदल्क्य । वृत्तिषोऽपि च—

‘या च क्लीबं पतितद्रुमच वा भर्तारमुत्सृज्यान्य पतिं विन्दते मृते वा—सा पुनर्भू भवति’ इति ।

तथा चाक्षीदेव पुरा योषिता पुनः सस्कार इति क एतत् प्रविदेद् शक्यत्वात् । ननु मो अस्ति पुनर्भू प्रतिपादनं शास्त्रेषु, निन्दापि तु तासां तत्र तत्र स्मर्यते एवेति नैतेन पुनर्निवाहस्य घर्मस्य प्रविद्धं मन्योति चेन्मैव बोच । क्यचिन्नन्दा भ्रनरोऽपि स्वैरिणीभ्यस्तासां वैलक्षण्यप्रतिपादनस्य तत्र तत्र जागृकत्वात् । त्रैविध्यं हि पुनर्भूणां चातुर्विध्यं च स्वैरिणीनामन्वाह भगवाभारद—

परपूर्वां स्त्रियस्तन्वया सप्त प्राक्ता यथाक्रमम् ।

पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा ॥

कन्यैवाक्षतयोनिर्था पाणिग्रहणदूषिता ।

पुनर्भू प्रथमा नाम पुनः सस्कारकर्मणा ॥

देशघर्माननेक्ष्य स्त्री गुह्यमिषां प्रदीयते ।

उत्पन्नसाहसान्पस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥

असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्यां प्रदीयते ।

सवर्णाय रुपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥

स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यादव तु जीवात् ।

कामाक्षमाश्लेषेदन्व प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥

कीमारे पतितुत्सृज्य वा तन्व्य पुरुष श्रिता ।

पुनः पत्सुर्ग्रहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥

मृते भर्तारि तु प्राप्तान् देवरादीनपात्य या ।

उपगच्छेत्पर कामात् सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥

प्राप्ता देशादनकीता क्षुत्पिपासादरा च या ।

तवाह्नित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥ इति ।

इह हि तावदुत्तरमनिपादितचतुर्विधस्यैरिणीम्य पूर्वप्रतिपादिताना विविधाना पुनर्भूणा वैलक्षण्य स्फुटमेवानुमूयते । तच्चेद वैलक्षण्य सस्कारनिबन्धनमेव वक्ष्यम्, ससृता पुनर्भू, अससृतास्तु स्वैरिण्य इति । सस्कारस्त्वय शास्त्रैक मूल कथ नाम शास्त्रादत्यन्त विद्वे कर्मणि प्रवर्तते । तस्मान्नास्त्येव पुन रद्वाहस्यैकान्तेन शास्त्रविद्वत्त्वम् अनुकल्पमात्र विद स्यात् । ब्रह्मचर्येणा वस्थान हि विधवाना प्रशस्यतमम् तदभावे तु विराहोऽपि शक्य एव विधातुमिति । मुख्यकल्पातिक्रमणमूलिकैव चात्र कथञ्चित्तद्यमानतो निन्दा स्मर्यत इति सर्वं समञ्जसम् । तस्मात्पुनरद्वाहोऽय नात्यन्त शास्त्रविद्वद् कर्म, अपि अनुकल्पमात्रमित्यतोऽपीद क्षिप्तमेव । अत एव द्वादशविधेषु पुत्रेषु पौन र्भवोऽप परिगण्यत एव तत्र तत्र ।

यः पर्या वा परितपच्छा विधवा वा ह्येव-उया ।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ इति ॥ (मनु)

अधनाया क्षताया वा जात पौनर्भव सुत ।

(याज्ञवल्क्य)

अस्यापि च पौनर्भवस्य व्यभिचारजात्या कुण्डगोलकात्या भेद सुस्पष्टमेव स्मृतिहतामभिमत्, कुण्डगोलकयोर्दीपभागानर्हत्वात् अस्य च दायभागेऽधिकारस्य स्फुट तत्र तत्र प्रतिपादनात् । ततोऽपि हि नास्देतत् पौनर्भवमुतोत्पादनमल्पन्त शास्त्रविद्वद्, अनुकल्पमात्र स्वेतदित्यपरोक्षमेतत् । सर्वथाऽपि चैवविधामि स्मृति भिरैतिहासिकदृष्ट्या पुरा प्रचरितत्व विधवोद्वाहस्य नैव शक्य प्रतिषेद्धुम्, तथा सत्येवविधवर्णनस्यैव तत्रापन्मयोग्यत्वाभावप्रसङ्गात् । स्मृतिकृतामपि च काले यथाधीत्यन्तरित पुनरद्वाहस्तदा कृतमिदानीन्तनाना तन्निरोधायासेनेति विचार्यता मनागेतत् ।

अथ चेत्कञ्चिदुच्छृङ्खला द्वाधमैतिहासिकरीत्या पुराणादियु प्रचारयामस्तदा नैव विधेयं घर्मात्निरोधस्यश्लक्ष्णोऽप्यवतिष्ठते नाम । तथाहि—अस्य तावन्महा भारत आदिपवणि (१०४ अ०) महर्षेर्दीर्घतमस एकाक्या, सेय सुस्पष्टमवगो धयति तत पूर्वं स्त्रीणां यथे-उक्तामचारापरपर्यायमनावृत्तत्वम् । दीर्घतमसैव तु महर्षिणा स्त्रीयभाषीकृतकादतिक्रमाद् दु खितेनैकपतिमर्याद्वैय प्रवर्तितेत्युक्त तत्रैव—

‘अद्यप्रभृति मर्शादा मया लोक प्रतिष्ठिता ।

एक एव पतिनीर्या याञ्जीव परायणम् ॥

मृते जीवात वा तस्मिन्नापर प्राप्नुयाचरम् ।

अभिगम्य पर नागी पतिष्यति न सशय ॥ इति ।

इत्थ चैकनातेन पुष्पेण कृतेयमेकपातकवयवस्यैव तावत्कथ नाम घर्मा भवितुमर्हति, अपौरुषेयश्रुतिवाक्यविहितमेव द्विलार्थं घर्मं इत्युपगच्छन्त्यार्या, अत

एव चानादिस्वमार्यधर्माणां । पुरुषेण तु क्वचिद्व्यवहितोऽयं यदि धर्मत्वेनानि
मन्येत तत्तर्हीदानान्तेनैर्बहुभिराप्तौ प्रत्यर्पमानोऽयं विधवोद्वाहोऽपि कुतो न प्रहृते
धर्मत्वेनेति विचार्यता यावद्दूरमुकुञ्चितनेत्रम् । तस्मात्सम्यक्तामनुष्यैव बहुपतिक्रम
नारीणां समाप्ते प्रतिषिद्धं न तु धर्मेण सह कोऽप्यस्य सम्बन्ध इति सिद्धनेतत् ।
प्रमीह्यतिज्ञानान्तु योषिता पुनरुद्वाहोऽयं न तदात्वेऽपि प्रतिषेद्धं पारित सामा
पिचैरपितु कल्पियुगारम्भपर्यन्तमयं निष्प्रल्यूहं प्रचरति स्नेने बोधयन्ति पुराणेषु
दृश्यमानानि कल्पिष्यवचनानि—

उदाया पुनरुद्वाहं प्येष्टात् गोवधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजाया कर्मदञ्जुम् ॥

इति हेमाद्रिचूनाया चतुर्वर्गचिन्तामणौ परिदृश्यमानं वचनमिदं सामान्येन
निवृत्तविवाहानां स्त्रीणां पुनरुद्वाहं प्रतिषेधत्तत् पुरातनेषु सुगेषु प्रचरितं तस्य
सुदृढमनुमापयति ।

‘दत्ताद्यताया कन्याया पुनर्दानं परत्वं च’

इमान् धर्मान् कल्पियुगे वर्णानाहुरित्यादिकन्तु वचनजातमक्षयाया अपि
पुनरुद्वाहं प्रतिषेधति—एवमव—

‘देवराच्च सुतोरत्तिर्मधुपर्कं पशोर्नध’

इत्यादिवचनानि नियोगमपि कलौ प्रतिषेधन्ति । तदिदमत्र रहस्यं स्फुटं
मवभासते यत्पुरातने काले धर्मत्वेन सामानिचैर्दृष्टमाणा लोकोन्वयिगिनोऽ
पीनेऽर्था क्रमेण वैष्णुर्मवबलम्भ्य कलेयुगोत्पन्नैरल्पप्रथे स्वर्धमात्प्ररादणैर्जनैर्यत
कुतोऽपि कारणान् स्वार्थविधातमाद्यङ्कमानैर्वलात्कोमलप्रभान् प्रतार्य प्रतिबद्धा इति ।

इतिहासा अपि ननु निष्प्रक्षपातमालोच्यमाना द्रव्येषु रिमानमनमितम् । अस्ति
हि महाभारतस्योद्योगपर्वणि गालस्यैकारयायिष्वा, तत्र यथातिदुहितुर्मधिष्या
पतिचतुष्टयस्वीकारस्तेम्यधतुर्णां सुनानामुत्तस्तिस्तदुत्तरमपि च पित्रा स्वववर्षि
धिनोद्वाह्यमानायास्तस्या अनिच्छन्त्या अरण्यप्रस्थानमुपात्त्यातम् । यस्तु प्रहृता
यास्तस्या पुन पुन कन्यास्त्वामस्तत्र प्रतिपादितं, सोऽयमर्थं सर्वथा प्रकृति
विरुद्ध इति न श्रेय प्रेषावताम् । केवलन्तु पुरुषान्तरपरिग्रहस्तदानीं नापी
धर्मविरुद्धतया परिगृह्यमान इत्येव तास्त्रालिङ्गी स्थितिरात्पानेनानेनानुमेया ।
तथैव सत्यवती-कुन्ती-द्रौपदीप्रभृतीनां प्रात स्मरणीयानामपि सुप्रसिद्धानुपा
रयानानि पुरुषान्तरपरिग्रहस्याद्रूपशीघ्रत्वमनुमापयितुमलम् । ननु च भो नैता
विधवा, यदेतासां निदर्शनेन पुनरुद्वाहं विधनानां समर्थयितुमशक्यवितोऽपीनि
चेन्न क्व निदर्शनेरेभिर्विधवोद्वाहं समर्थयामहे । पुरातने काले नापीत् स्त्रीणां
पुरुषान्तरपरिग्रहाऽत्यन्तमधमदित्येव तु पूर्वानुमितमर्थं द्रवीकुर्म । तथा च समाजा

जुरोधेनैव कस्मिंश्चित् काले प्रवर्तितेय मन्त्रेरेकनतेक्त्वयवस्थेति सनात्तुरोधेनै-
वेदानीं परिवर्त्य ता प्रचाराणीय उद्वाहो विषवानानिषुक्त भवति । यथा तु
सनात् इदानीन्त्यावस्यत्वे विषवाना पुनश्चाद्वाहस्य, तथैतद्युक्तिप्रकृत्यावसरे
निष्ठा प्रतिपादयिष्याम । तदित्यु सन्निविधविषवाना पुनश्चाद्वाह समर्थयनानानां
मत्तुपदयितम् ।

अथैव केचिदेकदेशिनोऽननत्यानानेव विषवाना पुनश्चाद्वाहमभिप्रयन्ति न
सर्वाणाम् । पूर्वोक्तवाक्येष्वेव 'सन्त्यनाशार्थेभ्या' 'प्रवाप्रवृत्तौ नारीा वृत्तिरेषा
प्रजापते' इत्यादिसमस्तादीनि च । वातापत्या हि त्रिवोऽननरसन्त्यादिनैव
दृश्यन्ति यापयितुमिति न तासामननरसक उद्वाह । नापि च वातापत्या
नार्यस्तथाविधानमवासानाशया मनन्ति । पुनश्चाद्वाहप्रचारे च तासां वातापत्या
अपि त्रिवोऽननेन सहैव पुत्रपान्तरनभवेतुरिति पूर्वस्य षड् सन्त्युच्छेद
प्रवृत्तादिना दोषवाहुल्यमप्यनाशङ्कितमनन् । एवमनत्यानां दुःखस्यापि बहुषु
प्रवृत्तैव विरलाश वातापत्यानां स्त्रीा मुद्गेदरोऽपि मनन्तीति न तासां विनाहेऽ
त्यन्तं निर्दग्धनीयम् । इत्यथा तु तासां दृष्टदोषाप्रवृत्तौ क्यचिदनुमन्तानो वा
न वा पुनश्चाद्वाह, अननत्यानां तु सेऽप्यननस्य निर्दग्धात्यन्तनीय, तासां नुद्वाह
एव बहुविधानर्थसमवात्, न ह्यननत्यानां विषवानानुदरनेपमनाश्रयति मुक्तम् ।
धार्मिकमन्त्रैरपि च विनूकर्मार्थं सन्त्यविच्छेदमुररीक्रियमात्रवश्य सेऽप्यनु-
मन्तय शक्ति दिग्मात्रनेरनतान्तरवादिनाम् । त एतेऽपि प्रथमस्यैव पक्षस्यैक
देशिनोऽनुसंघातया ।

अथ द्वितीयेषु सद्वाहय सवविधविषवानानुद्वाहप्रचार उदासीनेऽप्यप्रत
पुरप्रवर्गागन्त्यानां पाणिप्रदण्णावदूषणानां विषवाना पुनश्चाद्वाह निर्दग्धा
त्यन्तारपितु वदपरिकर । एषा ह्येकान्तवादिनां प्रतिपत्ति, विषवाना स्त्रीा
धर्मत्रय तादृष्टपदिष्ट सृष्टिषु-पुनश्चाद्वाहो वा, ब्रह्मचर्यं वा, अन्नारोहणं वा ।
तदेतश्चनेन सम्पक् प्रदयादि मज्जता पराशरेण ।

नष्टे मृते प्रवृत्तिते कर्त्तव्यं च पठिते पौ ।
पञ्चत्वापनु नारीा पठित्वा निधीयते ॥ ३० ॥
मृते मूर्त्तरे या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रजन्तरिणः ॥ ३१ ॥
जित्वा कथ्योऽर्षभोयं च यानि लोनानि मनवे ।
तान्काञ्च वसेत्सर्वं भर्त्तारं यादुर्गच्छति ॥

एषु चैकत्रैव क्रमेणोपदिष्टेषु त्रिषु प्रकारेषुत्तरोत्तरत्पोत्तमत्वं स्वर्गादिफलविशेषानुकीर्तनाद्भावत पराशरस्यानुमत प्रतीयते । तत्र सर्वोत्तमत्वेनानुमतऽस्यान्वारोहणस्येदानीं राजप्रतिपिद्धतयासम्भवेऽपि सम्भवति पूर्वोक्त प्रकारद्वितयम् । तत्र चेयव्यवस्था या तावत्स्वर्गादिफलार्थिनी भर्तृरूपकाराधिनी लौकिककारणान्तरवशवदा वा शकनोत्तरनुपालयितुं ब्रह्मचर्यं सा सुखमनुगलयतु । या तु न शक्ता तथा विधातु सा सत्यावश्यकत्वं आपदममनुबध्य विनाशिता नामान्येन पुरुषेण सद् तत्सवन्धिभिः । इतरद्विधाधानर्यापेक्षया विवाहप्रसङ्गैवोत्तमत्वात् । इदं तावद्विधवाविषये यात्प्रमातपुरुषससर्गा केवत्र पाणिग्रहणद्विधा सा तावद्विधवापदवान्यैव भवितुं नार्हतीति तस्यास्तु कुमार्या इवावश्यकतमो विवाहः । न हि विवाहमन्त्रप्रयोगमात्रेण कन्याया कन्यात्वं निवर्तते, अपि तु मन्त्रप्रयोगपूर्वकं पुरुषससर्गादेव । तदेतदुक्तमात्तनमेन तत्रनश्वता भगवता व्याकरणमहाभाष्यज्ञाना पतञ्जलिमुनिना 'कन्याशब्दोऽयं पुत्राभिसम्बन्धपूर्वके सप्रयोगे निवर्तते' इति ।

कन्याया कनीन च (४ १ ११६) इति सूत्रभाष्यम् ।

अत्र हि पुरुषसप्रयोग एव कन्याशब्दनिवृत्तिर्दक्षिता, न तु मन्त्रप्रयोगमात्रेण । "शास्त्रोक्तो विवाहोऽभिसम्बन्धस्तपूर्वके पुरुषसयोगे कन्याशब्दो निवर्तते" इति च स्पष्टं भाष्यं विवृण्वान कैयटोपाध्याय आह । ततश्च शाब्दिकाचार्याणामेवा मतेन प्रातपुरुषसयोगा कन्यैवेति हि तद्विवाहे प्रतिबन्धकं स्यात् । यौक्तिकोऽनुभवसिद्धश्चाप्ययमेवार्थः, कुतो हि नाम पुरुषसयोगान्तरैव कन्यात्वं विनश्यत् ! मन्त्रप्रयोगाद्या सर्वा अपि क्रिया प्रधानभूतसयोगनिवृत्त्यर्थं इति प्रधानभावे कथं ता परलक्ष्यं स्युः ? अत एवस्मृतयोऽप्येकमुखेनाक्षतानां पुनरुद्गाहसुदोषयन्ति । तथा हि—

सा चेदक्षतयोनि स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।

पौनभवेन भर्ता सा पुन सस्कारमर्हति । (मनु)

पाणिग्राहे मृते वारुण केवल मन्त्रसस्कृता ।

सा चेदक्षतयोनि स्यात्पुन सस्कारमर्हति ॥ बसिष्ठ ।

उद्गाहितापि सा कन्या न चेत्सप्राप्तमैथुना ।

पुन सस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥ नारद ।

याद सा वारविधवा यत्प्राप्त्याथवा क्वचित् ।

तदा भूयस्तु सस्कार्या एहीता येन केनचित् (ब्रह्मपुराणे)

यद्यप्यप्रातपुरुषससर्गा न विधवा, तथापि लौकिकी रथातिमनुबध्यौपचारिकोऽप्रप्रयोगः । विदेश गतेऽपरिष्ठातवृत्तान्तेऽपि पर्यावस्था विवाह उक्त —

वरयिवातु य कश्चित्प्रणश्ये पुरुषो यदा ।

श्वत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्याय वरयेद्भरम् ।

• (कात्यायन पराशरश्च)

अत्र हि नष्टे मृत इत्यादाविव नाशशब्दाद्यो निर्देशगमनेनापरिज्ञातवृत्तान्तता, मरणार्थकत्वे तावत्कालप्रतीक्षाया अनुपयोगात् । न चात्र वस्तिवेति भ्रवणाद्वाग्दत्तापरमिदम् वाचा स्त्रीकारस्यैव वरणत्वादिति भ्रमितव्यम् । तावन्मात्रे श्रुतुपपर्यन्तमुपासनस्यानर्थरूपत्वात् । आवश्यको हि स्त्रीणामृतुकालात्पूर्वमेव विवाह इति बहुशः स्मृतिवृत्ता डिग्दिग्मः । ततश्च कथं वाचाभ्युपगममात्रेण श्रुतुपपर्यन्त विवाहः प्रतिबद्धः स्यात् । कन्यास्नातन्वयमपि चेतो वचनात् 'कन्या वरयेदिति' कर्तृत्वनिर्देशेन प्रतीयमान विवाहात्पूर्वमनुपपन्नतरम् । तस्माद्वरयित्वेत्यस्य विवाहोत्पत्ते वाचार्थः । एवं न केवल मन्त्रा कन्यात्वनिवृत्तौ कारणमित्यत्रापि स्फुटीभवति—

वरक्षेत् कुलशीलाम्यां न युज्येत कथंचन ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यावृतं भवेत् ॥
समाच्छिद्य तु ता कन्या बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽप्रवीत् ॥

(शातातपः)

अत्र मन्त्रा विवाहमन्त्रा एव, पूर्वं वाग्दानादौ मन्त्रानुपयोगात् विवाहमन्त्रेभ्यः पूर्वं क्षतयोनिस्वसंभवाभावेनाक्षतयोनिकामिति पदस्वारस्यमङ्गापत्तेश्च । ततश्च यदा वरस्य वैगुण्येऽप्यक्षतयोनिकायाः 'कन्यायाः पुरुषान्तराय प्रदानं न विरुद्धं स्मृतिवृत्ता तदा कैत्र कथा प्रणाशादाविति विभायता भाङ्गुकैः । पराशरेणाप्युक्तमेतदेव—

हीनस्य कुलशीलाम्या हरन् कन्या न दोषभाक् ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यावृतं भवेत् ॥

(प० मा० आचार काण्डे)

तदित्थं पुरुषसंयोगविरहितस्य मन्त्रप्रयोगमात्रस्य नास्ति कन्यात्वनिवर्तकत्वमिति संसिद्धम् । अत एव मनुस्मृतिव्याख्यातुर्मूर्धन्य आसततमः कुल्लूकभट्ट-महाशयोऽपि "ता क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति, नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः ।"

इत्यादिकं वदन् क्षतयोनिविवाहस्यैवाधर्मत्वं मनोरमिभ्रतमुपदर्शयन्नक्षतयोनीना पुनरुद्गाहमनुजानातीव । याज्ञवल्क्योऽपि च भगवान् 'अक्षता च क्षता चैत्र पुनर्मुं संस्कृता पुनरिति' वाक्ये क्षतायाः पृथगक्षतां प्राह् निर्दिशन् तस्याः पुनः संस्कारयोग्यताया प्राधान्यमभिव्यञ्जयति । नारदोऽपि च त्रिविधामु पुनर्मुं प्रथमामक्षतामेवोपब्रुवंस्त्वाधान्यमुररीकरोति । विष्णुश्च "अक्षता पुनः संस्कृता पुनर्मुं" इत्यक्षतामेव पुनर्मुंमन्वाह । पुनर्मुंश्च पुनः संस्कारादेव भवतीत्यस्याः

पुन सस्कार सर्वेषां स्मृतिहृततामभिप्रेत प्रतीयते । ननु च भो त्वन्मते तु कन्यात्वमेवाधनायामवस्थितमिति पुनर्मूलं तस्या कुतस्त्यम् ? पुनर्मूलत्वस्वीकारे स्वस्या अपि स्मृतिदृष्ट्या निन्दितत्वमेव जातमित्यन्यविधविधवाभ्यो निर्विशेषप्र-
सक्तिरिति चन्मैवम् । पूर्णमपि सस्कृता पुनरपि सस्त्रियत इति पुन सस्कार
मात्रेण पुनर्भूयत्रह्यारप्रवृत्ते । निन्दापि पुनर्भूया स्मृतिदृष्ट्या पुन सस्कारमात्रेण
कथंचिद्वाप्यनुयोष्या । सा च सस्कृत्सस्कृतापक्षया किंचिन्मूनतायामेव पर्यव
स्यतीति न तान्मात्रेण मुख्यपक्षे विवाहराहित्यरूप ब्रह्मचर्यमाशानपि विहित
शङ्कनीम् । स्फुटमासा कन्यात्वात् स्मृतिहृदादिमिरभ्युपेतत्वात्, कन्याना विवाह
राहित्यस्य शास्त्रिनियमविच्छेदत्वाच्च । अस्या च पूर्वोक्तवाक्यादिभिर्नोस्ति पर्यु
पूर्णस्वत्वमिति पत्रादे स्वत्वस्यानपायात्प्रदानमप्यस्या उपपन्नतरम् । यत्तु—

“प्रागिद्वहणका मन्त्रा नियत दारलक्षणम् ।

तेषा निष्ठा तु विद्येया विद्वद्धि सप्तमे पदे (मनु १२६)

इत्यादिवचनान्यनुरुध्य सप्तपद्यन्तरमेव पूर्णं पर्यु स्वत्व पित्रादे स्वत्वनिवृत्ति,
कन्यात्वनिवृत्ति चाम्युपगच्छन्ति केचित्तदसत् । विवाहसंस्कारोपयुक्तानामेव
मन्त्राणा निष्ठापरपर्याया पूर्णं सप्तपदेऽभिहितत्वात् । निवृत्ताया हि सप्तपद्या
विवाहसंस्कार पूर्णो भवति, स चाय संस्कारो कन्याया बोद्धुं स्त्रीत्वसंपादन
उपपन्नोतीत्येवास्वाधरानुपुष्ये हात्पर्यम् । न तु विवाहमात्रेणैव पर्यु स्वत्वनिवृत्ति
कन्यात्वनिवृत्तिर्वा शक्यापादयितुम् । पूर्वोक्तवचनजातविरोधापत्ते । किं च सप्त
पदीमात्रेण भार्यात्वनिष्पत्ताविमान्यपि वचनानि स्फुट व्यावृष्येरन्—

कन्यादान शचीयोगो विवाहोऽथ चतुर्थिका ।

विवाहमेतत् कथित नाम कर्मचतुष्टयम् । (अग्निपु०)

विवाहे चैव निवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु ।

एकत्वमागता भर्तुं पिण्डे गोत्रे च एकैः । (ब्रह्मिणित)

चतुर्थीहोममन्त्रेण स्वह्मासहृदयेन्द्रियै ।

भर्ता उयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत् । (बृहस्पति)

एतानि हि वचनजातानि चतुर्थीकर्मन्तरमेव पर्यु पूर्णं स्वत्वमनुशासति ।
सप्तमे पदे एव तु दारत्वनिष्ठायां तानीमानि स्फुट विद्वधेरन्, भृत्यानुगुण्य चैषां
वचनानाम्—भ्यते हि चतुर्थीहोममन्त्रेषु—“प्रागैस्ते प्राणान् सदधामि, अस्थि
भिरस्तेऽस्थीनि सदधामि, मासैस्ते मासानि सन्दधामि, स्वचा ते स्वच सदधामि”
इत्यादि । एतेनेह चतुर्थीकर्मणेव तावदैक्य पत्या पत्न्या संपादनीय भवतीति
सुस्फुट प्रतीयते, तेन च सप्तपद्या नास्ति दारत्वनिष्ठेति सुव्याख्यातम् । नवास्तां
तर्हि चतुर्थीकर्मणि दारत्वनिष्ठा तथापि विधवानामुद्वाहे तवाभिप्रेते किमायातमिति

चेच्छ्रयतामवधीयता च । चतुर्थीकर्मणि यासा नामुत्तयामूतानां बालविधवानां
पुनरुद्वाहस्तु निष्प्रयूह प्रसाधित । अथ चैषा भार्यास्वनिष्ठानुबोधकाना मन्त्राणा
परस्परविराधेनार्थान्तरपरत्वप्रसक्तया चोपकारकत्वमात्रमेवा कर्मणा भार्यात्वसपादने,
निष्पत्तिस्तु सप्रयोगादेवत्यपि सुसाधम् । तेन चाक्षतानां विधवाभासाना पुनरुद्वाहो
मदमिप्रेत सिद्ध । युक्त चैतत्—न हि चतुथाकर्मोपयुक्तमन्त्राणा प्रयोगमात्रेणैक्य
सिद्धिरिति तद्विहितप्रक्रियानुष्ठाननैव । ततश्च परस्पर स्वहमासादियोगेऽर्थोपुरुष
मंत्रक्य जायते—पत्यु पूर्ण स्वस्वमुत्पद्यते, कन्यास्व च निवर्तते न तु पुरुषप्रयोग
शूयास्वक्षतासु कन्यास्व निवृत्तम्, ऐक्य वा परया जातमित्येष एव शास्त्रार्थ ।

[उत्तरपक्ष]

तदिह परस्परपदमर्दाद् विप्रत्तिपत्तिजननीभूत जीर्ण वसनलण्डमिव प्राञ्चमन्यै परि
णतप्रज्ञाविरहितैरितस्तत समाकृष्यमाणतया ऋत्युत्प्रायमुत्तमप्रज्ञाना कृते—‘स्वरूप
व्याक्रियैव पराक्रियेति’ -वायेन स्वरूपतोऽनूदितमपि शब्दतोऽर्थतश्च व्याहृत
विधवोद्वाहमत मा मूत् कोमलप्रज्ञाना प्रज्ञाभ्रान्तिजनकमिति भूयोऽपि क्रमेणा
लोचयितुमुपक्रम्यते ।

(श्रुतिव्यवस्थाप्रकरणम्)

तत्र या तावदादौ श्रुतिव्यवस्था—

उदीर्घां नार्याभिजीवन्शोकमितासुमेतमुपरोष एहि ।

इस्तप्राप्तस्य दिविधोस्तवेद पत्युर्जनित्वमभि सवभूय ॥

(श्रु० स० म० १०-१८-८)

नैषा पुनरुद्वाह विधवाना साधयितु कथमप्युपसहते । विवाहविधेः लेशतोऽ
प्यदर्शनात् । इह हि “उदीर्घां” इति “एहि” इति च विधी, तौ चोत्थानमा
गमन च विरत्ता न पुनरुद्वाहम् । अत एव च मन्त्रलिङ्गानुसारिणा सूत्रज्ञता-
प्युत्थापन एवेय विनियोजिता । “तामुत्थापयेद्देव” (भा० ए० सू०)
इत्यादिना सूत्रेण । भावस्तत्रोऽपि “प्रेत चित्तिमारोप्य, इय नारीति
प्रेतपत्नीं प्रेतसमीप नीत्वा, उदीर्घेति मन्त्रेण प्रेतपत्नीमुत्थाप्य तत सुवर्णमिति
प्रेतहस्ते सुवर्णेन समृज्य” इत्युत्थापन एवास्या विनियोगमाह । मृतस्य
परपुरुषस्यायिनी शोकाकुला भार्या देवरादिसुत्थापयेदित्येव तत्तात्पर्यम् ।
तथा च विनियोगानुरोधेनाऽप्युत्थापनमेवेय श्रुतिर्विदध्यात्, न तूद्वाहकथामपि ।
अथ प्रकरणमपि परोक्षामहे—तत्र ऋग्वेदसंहिताया तावद्दशमस्य मण्डलस्याष्टादश
सुक्तांतभूतोऽष्टमोऽय मन्त्र, सूक्तञ्चेद मृत्युसम्बन्धमेव विषयिकरोति । तथा
चानुक्रमणिका—“पर मृत्यो सकुमसुक (श्रुधि) चतस्रो मृत्युदेवता—परा धात्री,
परा स्वाष्ट्री, परा पितृमेधा” इति । तदिरथ पितृमेधोऽस्य मन्त्रस्य दैवतमिति
पितृमेधसम्बन्धेनैव क्रियाविशेषोऽय विधित्तिस्त स्यात् । न च मृतस्य पत्न्या

पुनश्चदाहोऽपि पितृमेघस्यैव सम्बन्धो, तदास्व एव वा सनुस्त्वय सकृत्कार्यो
पूर्वमेगासौ विधेय इति कोऽपि सचेत्ता एतदनुमन्देत । इतश्च पूर्वेषु मन्त्रेण—

इमा नारीगविषवा सुरनीराजनेन रर्षिणा सविद्यन्तु ।
अनध्वेऽनमीवा सुरता आरोहन्तु जनयो योनिमम ॥

इत्यन्यासां सध्वाना श्वहनारीणा धृताकृतेना । एहप्रवेदाननाश्वासनविहितम् ।
इत उत्तरेण च—

धनुहस्तादाददानो मृतस्यासौ क्षत्राय वचंसे वक्ष्य ।
अथैव त्वमिह वय सुवीरा विश्वा रृद्यौ अभिमातीर्षेयम् ॥

इति मृतस्य हस्ताद्धनुष आदान विधये, ततश्च मृतस्यकारेऽप्रसर्गत प्रकान्ते
को नाम विवाहस्य प्रसङ्ग इत्यालोचयन्तु मनाक् सुधियः । तस्मात् 'हे नारि !
मृतस्य पति । उदीर्ष्वं उत्तिष्ठ, जीवलोकममि जीवानां स्थूलशरीरविहितानां लोक
यमलोक प्रति, इतानु गतप्राण, एत पुरुष, त्वम्, उपरोधे तस्य समीपे तिष्ठसि,
तन्नोचितमिति भावः । यद्वा जीवलोक जीवता पुत्ररीवादीनां लोक स्थानमभिलक्ष्य
उपैहि । गतप्राणमेत किमुपरोध इत्येव भाष्यमनुसृत्य व्याख्येयम् । यतस्त्व इति
शहीतवत्, दिधिपोगर्भस्य निघातु, तवास्य परतु (सम्बन्धि) इद वर्तमानम्,
जनित्व जायास्वम्, अभिसम्भूय प्रातस्त्वसि, अनुभूतवत्पत्नीति वा । पूर्वं
जीवनोऽस्य जायास्व स्वयाऽनुभूतम्—यदाऽय गर्भनिधतासीत् । इदानीं तु
मृतस्यास्य समीपोपस्थान तवाऽकिञ्चिद्भ्र' नित्यर्थः इत्यास्य मन्त्रस्य स्फुटमाश्राय
करमेव प्रतीतिसिद्धन्तुचितमञ्च, न तु विधवोद्वाहवार्तादेशोऽप्यत्र प्रतीयते नाम ।
भाष्यकृत सायणाचार्यास्तु मर्तुरनुगमनविधायकरवमस्य व्यञ्जयन्तीव । यतस्तेर्ग
ख्यातमुत्तराद्धं यस्मात्स्व इस्तप्राभस्य पाणिप्राह कुर्वतो दिधिपोगर्भस्य निघातुस्त
वास्य परतु सम्बन्धादागतमिदञ्जनित्व जायास्वमभिलक्ष्य सम्भूम—सम्भूतास्व-
नुमरणनिश्चयमकार्षांस्तस्मादागच्छेति ।

अथर्ववहितायाश्चाम्नातस्य मन्त्रस्यास्यानुमरणविधायकता प्रकरणादपि स्फु
टमिव प्रतीयते, तथा हि तत्रत्य सन्दर्भ (अथ० १८ का० ३ मनु० आरम्भे)
'पूर्वत एव पितृमेघे प्रकान्ते—

इय नारी पतिलोक वृणाना निपद्यत उप रथा मृत्यं प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपाल्यन्ती तस्यै प्रजां द्रविणञ्चेह वेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्वं नार्याभिर्जीवलोकमितासुमेतमुपरोध एहि ।
इस्तप्राभस्य दिधिपोस्तवेद एतुर्भेनिचमभिसम्भूय ॥ २ ॥
अपस्य सुवति नीयमाना जीवा मृतेभ्य परीणयमानाम् ।
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीनमनव तदेनाम् ॥ ३ ॥

प्रज्ञानत्वघ्न्ये जीवलोक देवाना पन्थामनुसद्भरन्ती ।

अयन्ते गोपतिस्त जुपस्व स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् ॥ ४ ॥

अत्र हि प्रथम मन्त्र “आशया (श्रुत्वा) चितो भार्यां प्रेतेन सह सवेशयेत्” इति सूत्रानुसारेण भार्यायाश्चिति सवशन निनियोप्य व्याचरुद्युर्माधवाचार्या— ‘इय-पुरो तिनी, नारी-त्री, पतिशैकम्-पस्या अनुष्ठिताना यागदान होमादीनां फलमूढ स्वर्गादिस्थानं, वृणाना-सहधर्मचारिणीत्वेन समजमानां, हेमर्त्य ! मरणधर्मन् मनुष्य ! प्रेतम्—अस्माद् मूलोकाद्विनिर्गतम्, स्वा उपनिपद्यते-समीपे नितरा गच्छति । अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यथ । कस्माद्धेतो पुराण पुरातनमनादिशिशाचारसिद्ध धर्मं सुदृतमनुपालयन्ती । आनुपूर्व्येण सप्रदायाविन्दे देन पालनमनुपालनम् । स्मर्यते हि—

मर्तारमुदरेञ्चारी प्रविण्य सह पादकम् ।

व्यालप्राही यथा सर्पं बलादुदरते विलात् ॥

तस्यै अनुसरणं कृतस्यै स्त्रियै इहास्मिन् मूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेऽपि प्रजा पुनर्पौत्रादिकां द्रविण धन च घेहि प्रयच्छ । अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्या पतिर्मवतीत्यर्थः । [माघवीय भाष्यम्]

तदनन्तरम् उदीर्ष्यं नारीति भार्यामुद्दिश्यैव पत्युरनुगमनं विधीयते । श्रुत्वेदमाश्रयमनुसृत्य मन्त्रार्थं प्रागभिहित एव । तदुत्तरं चापश्यमिति स्फुटं पतिमनुगच्छन्त्या पतिप्रताया वृत्तमुपवर्णयते । नीयमाना पत्या सह प्राप्यमाणा, जीवा जीवती, युवति, मृतेभ्य मृतमुद्दिश्य (छन्दसि व्यस्ययेन बहुवचनम्) परिणीयमानाम्—समर्थ्यमाथामहमपश्यम् । यदियमघेन तमसा शोकाख्येन, प्रावृणा-आच्छादितेवासीत्—तत् तस्मात्, एना प्राक्त पूर्वस्मात् स्थानात्—अपार्ची-लोकान्तराभिमुखीमनयमिति, तद्देवरपुरादिराह । उत्तराऽप्यतो मूयसे निर्वचनाया स्यैवार्थस्य—हे अघ्न्ये—निष्पापे—चीवाना लोक स्वर्गं प्रज्ञानती, देवाना मार्गमनुसचरन्ती (स्वपानिव्रत्यमाहात्म्याद्) एव योऽयं ते गोवीच इन्द्रियाणा वा पति स्वामी त जुपस्व-सेऽस्व । स्वर्गं लोकं चैनममि प्ररोहय, इति भार्यामिवोद्दिश्य वाक्यम् । पतिब्रह्मामाह—भ्येन तत्पतिरप्यश्रय स्वर्गसुखमनुभुङ्क्त इति हि स्फुटं स्मृतिपुराणेषु ।

तदाह भगवान् व्यास करोतिकाख्यानम्—

पतिव्रता सप्रदीप्त प्रविशेद्य हुताशनम् ।

तत्र चित्राङ्गदधर मर्तारं सान्त्वयत ॥

तत स्वर्गं गत पथी भार्यया सह सगत ।

कर्मणा पूजितस्तत्र रमे च सह भार्यया ॥

स्मृतिश्च ।

ध्यात्प्राही यथा सर्पं बलाद्बुद्धस्ते विलात् ।
तद्बुद्धुधृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥

तदित्यमथर्वसंहितायाः सन्दर्भशुद्धया मन्त्रस्यास्यानुगमनविधायकता स्फुटी-
भूतेव । ततश्च यदेतत् 'जीवलोकमभिलक्ष्य उपैहि-जीवलोके पुनः प्रवृत्ता भव, इस्त-
प्राभस्य-इस्तं ग्रहीष्यतः दिधिपोस्त्वयीदानीं गर्भं निघानुमिच्छोस्तेव पर्युः पुरुषान्त-
रस्य अनित्त्वं जायात्वं त्वया प्राप्तमिति यधेच्छे' व्याचक्षते, साधयन्ति च पुनरुद्धाहम्-
तत् सर्वथाप्यसमञ्जसमनुचितं हेयमेव प्रेषावताम् । उपदर्शितप्रकरणविरोधात्,
अथर्वसन्दर्भविरोधात्, त्रिनियोगसूनविरोधात्, दैवतानुक्रमणीविरोधात्, ब्राह्मण-
ध्वेनविधविधेरनुपलम्भात्, भाष्यविरोधात्, अक्षरस्वारस्यविरुद्धत्वाच्च । इदं अनि-
त्वमभिसन्दर्भभूयति हि वर्तमानं जायात्वं लक्ष्यीकृत्यते, तच्च मृतस्य पूर्वस्य एत्युरेव
सम्बन्धि, ननु पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्येदानीं यावदनुत्पन्नत्वात् । यदि हि पुरु-
षान्तरनिरूपित जायात्त्वमुत्तरसमभविष्यत्, कुतस्तर्ह्ययं मृतस्य उचिषेऽस्थास्यत् ।
'त्वमेतत्पुत्रं जनिष्य' मिति तैत्तिरीयाणामध्ययनेऽपि 'एतद् जायात्वमिति पूर्वोक्तार्थो
न व्यभिचरितः । किंच "अमि सबभूवेति नाथं विधि", लोडाद्यवर्शनात्-अनुवाद-
स्वयम्-मृतकालनिर्देशात् । ततश्च यत्पुरा प्राप्त जायात्वं तदेवात्रानूयते, न
स्वमिनं पुरुषान्तरनिरूपित तद्विधीयते । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्वं साद्य यावत्
प्राप्ता, अथ यदि प्राप्ता, नाथ तर्हि विधिप्राप्तप्रापकाभावाद् इति नात्र पुरुषान्तर-
परिमहक्या कथमपि सामञ्जस्य समस्तुते ।

अत्राहुः—

पुनर्मूर्ध्नि रुद्रा द्विस्तस्या दिधिषु पतिः ।

स तु द्विजोऽग्रे दिधिषु सेव यस्य कुटुम्बिनी ॥

(अम० श्रौ० मनुष्य व० ५२६)

इति कौशादिधिषुपदस्थान् पतिश्लेषणत्वेन धृतस्य पुनर्विवाहकर्तृपरस्वमेवाध्य-
क्षीयेत, अस्तु वा छान्दसहस्रवस्त्वेन, तवेत्यस्य विशेषणं तत्, पुनर्मूर्धायाः
पुनर्विवाहसंस्कारमाप्स्यन्त्यास्तव पर्युनित्यर्थसामञ्जस्यात् । उभयथाऽपि रुद्रार्थेन
पुनर्विवाहोऽप्यर्थतः सिद्धो भवति, इतरथा दिधिषुपदस्य रुद्रार्थभङ्गापत्तेः । आहुध
लौकिकाः "रुद्रियोगाद्दलीयसीति" 'रुद्रियोगार्थमपहरतीति' च । मीमांसका अपि
च शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणे प्रसिद्ध एव पदानामर्थः कल्पनीयो न तु
व्याकरणादिसहाय्येनाप्रसिद्धवर्तिकश्चिदर्थकत्वं कल्प्यमिति स्फुटं व्यवस्थापयन्ति ।
तदाह—'चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन' । (मी० सू० २ । ३ । १०) इति
सर्वं व्याचक्षाणः शबरस्वामी—'अपि च' निगमादिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः

शब्दार्थो भवेदिति' । लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणे च वेदे लोकभिन्नार्थता प्रतिषेधन्ति । तथा च सूत्रम्—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' (मी० सू० १ । ३ । ३० ।) इति निघादस्वरस्यधिकरणे रथकाराधिकरणेऽपि च रुद्रस्यै लाघवाद् रुद्रिरेवादर्थेति स्फुटो मीमांसकदिद्धान्तः । 'परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी-सू- १ । १ । ३२) इत्यादौ तु व्यक्तिविशेषस्येतिताभा सज्जानामेव भुताधर्मान्तरपरता प्रतिपाद्यते, नतु रुद्रशब्दानामैकान्तिकोऽभावः । ततश्च लौकिककोशसाहाय्येन दिधिषुपदस्याप्यर्थे प्रबल्लुप्ते श्रुत्यैव प्रहरणादिभ्योऽतिवलीयस्या पुनर्विवाहः प्रसाधितो भवति । प्रकरणमपि च न न प्रतिकूलम् । 'इय नारीति' मन्त्रस्यापि पुनर्विवाहप्राकृत्वात् । इय हि तस्य समीचीना व्याख्या 'हिमर्ष्य, हेसजीव पुंशु ! पतिलोक पतिस्तुल्य वृणाना कामयमाना इय नारी, प्रेत प्रक्षेपेण लोकान्तरमितं पतिं (विहायेति शेषः) यद्वा मृत पतिमनु तदन्तर यदि पतिस्थान वृणाना, त्वा उपनिरव्यते प्राप्नोति पुराण प्राचीनम् अनादि धर्म पुनर्विवाहरूप स्वीकुर्वती, तस्यै अस्मिन् लोके प्रजा सन्ति इति घन च धेहि देहीति" । इतिगन्तरवादिप्रार्थना च स्फुटमस्या व्याख्यायानेवानुकूला, मृतमुद्दिश्य तथा प्रार्थनाया सर्वथा अवगम्यस्यात् । अय तैत्तिरीयारण्यके (६ प्र १ अनु) श्रुतस्यास्यैव मन्त्रस्य (उदीर्घस्यादेः) मधिवीर्यमाभ्यमन्त्रमदनुकृन्म-नत्र हि "इय नारी" 'उदीर्घं नारि' 'मुवर्ण इस्तादाददाना मृतस्य' 'धनुइस्तादाददाना मृतस्य' मग्नि इस्तादाददाना' इत्येय मन्त्रसन्दर्भः । 'त्वं इस्तमामस्य पाणिमाहवत', दिधिषो पुनर्विवाहेच्छोः, पशुः, एतद् जनित्व जायासम्, अमि सरम्य आभिमुष्येन सम्यक् प्राप्नुहि' इति च माघवीय माष्यम् ।

तथाच पुनर्विवाहेच्छोः पर्यन्तरस्य भार्यात्वं स्फुटमत्र त्रियमुद्दिश्य भाष्यकृता विहितम् । अमिसदभूयेति लिट्श्च व्यस्येन लोडर्थकता तेनैवाभ्युपगतेति सोऽय-मपि विधिर्नानुवादः । इत्यस्यैवकृतापि चाश्वलायनेन (ताम्ब्यापयेदेवरः पतिस्था-नीयोऽन्तेवाही जरहासो) वेति देवरस्य पतिस्थानीयतामभिदधतात्प्यवकृत्त्वं चास्य मन्त्रस्य विदधता पर्यन्तरकरणमुक्तप्रायमेव । देवर इति हि द्वितीयो वर उच्यते इत्यनौचाम ।

ततश्च सुन्दं ससिद्धमस्य मन्त्रस्य पुनर्विवाहप्रापकत्वमिति ।

तदेतत्सर्वमपि मनोराज्यविज्ञानमितमात्रम् । प्रमाणाभाससंदग्धत्वात् । तथा हि—

(दिधिषुपदार्थः)

स्यादप्येतदेवं यदि हि दिधिषुपदस्य शास्त्रेषु पुनर्मुसमानार्थद्वये दृढं प्रमाणं स्यात् । तदेव तु नोन्यमामहे । प्रत्युन विपरीतमेव स्मरन्ति स्मृतिकाराः । तथाहि—

भगवान्मनुस्तावच्छास्त्रप्रकरणे निषिद्धनाशयेषु स्वप्रयुक्तं दिधिपूपतिपदं च व्याचक्षणं आह—

“भ्रातृभृतस्य भर्त्यायां योऽनुरूपेत कामत ।

धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेया दिधिपूपति ॥”

(मनु० ३ । १३७ इति ।)

ततश्च धर्मनियोगे धर्ममुख्येयं कामतं प्रवृत्तरयं पुरुषस्य दिधिपूपतिश्च ततो स्त्रयास्त्वर्थदिधिपूस्त्वमुपलब्धं भवतीति न प्रकृतमन्त्रे तादृशरूढार्थमहणसम्भवः । तस्यार्थस्य प्रकृतेऽन्वयासम्भवात् । नहि नियुक्तस्य त्यक्तमर्यादस्य मन्त्रेऽस्मिन् ग्रहणे किमपि प्रमाणमस्ति, वैधस्य मुख्यपरयुरेव श्रुतौ ग्रहणौचित्यात् । तदर्थम्युपगमेऽपि च ‘दिधिषोस्तव’—धर्मेण नियुक्तायास्ततस्तस्यक्तमर्यादायां कामेन प्रवृत्तायास्तव, पर्युरित्यर्थः स्यात्—कथं चायं समजसः, न हि मर्यादाऽप्युक्तमश्रुतिरेव बोधयेत्नाम । ततश्च नास्ति मनुक्तार्थस्यात्र कथमपि सम्भवः । अथ स्मृत्यन्तरेऽन्यथैव दिधिपूशब्दार्थो निरूपितः—

“ज्येष्ठायां यद्यनृदाया कन्यायामुद्भतेऽनुजा ।

सा चाग्रेदिधिपूज्ञेया पूर्णा तु दिधिपू स्मृता ॥

(मिताक्षरावीरमित्रोदयाद्रिनिश्चयेषु लौगाश्रिद्वेषु)

एव च यथा ज्येष्ठे भ्रातृवर्गूढे कृतविवाह कनिष्ठा परिपेतृशब्देन, स ज्येष्ठश्च परिचित्तिशब्देन धर्मशास्त्रे परिभाष्यते, तथैव ज्येष्ठाया भगिन्यामनृदाया विवाहिता कनिष्ठा भगिनी अग्रदिधिपूपदेन सा ज्येष्ठा च दिधिपूपदेनात्र परिभाषिता द्रष्टव्या । व्युत्पत्तिरप्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिताऽभियुक्ते, “दिधि धैर्यं स्यति”—इति (शब्दकल्पद्रुमे) अर्थैर्यव्यात् पूर्वमूढेति यावत् । भगवान् गौतमोऽपि ‘परिचित्ति-परिवेष्ट-पर्याहित-पर्याधात्रमेदिधिपूपति-दिधिपूपतीना सरस्वर प्राकृतं ब्रह्मचर्यमम्’ इति परिविद्यादि प्रकरणे एव दिधिपूपतिं निर्दिशस्तत्समानं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयन्नुक्तार्थमेव दिधिपूपदं स्फुटमभिप्रेति । तथैव च प्रायश्चित्तप्रकरणे वशिष्ठोऽपि । तदित्येव विवाहक्रमवैतरीस्य निमित्तीकृत्य परिभाषितस्यास्य रुढस्य शब्दस्य नैवास्ति प्रकृतमन्त्रे कोऽप्युपयोग इति पांसुल्पादोऽप्येतद्विजानीयात् । आश्रानां च तत्रभवता स्मृतिकारणां विरुद्धं कोशोऽमरेणामिहितं पुनर्भूलपो रुढार्थं कथङ्कारं प्रामाण्यकोटिमारोडुमी शीतः । शिष्टानां हि शब्दार्थं प्रमाणम्—सदेतदुक्तम्—

“शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्” (मी० सू० १ । ३ । ९)

इति मीमांसासूत्रं व्याचक्षणेन भाष्यकृता शबरस्वामिना “यं शास्त्रस्थानां स शब्दार्थः । के शास्त्रस्था शिष्टाः । तेषामधिष्ठित्वा स्मृति शब्देषु च वेदेषु च । तेन शिष्टा निमित्तं भूतिस्मृत्यवधारणे, इति । शिष्टाश्च यथा तत्रभवन्ती मनुगौत

मादयो महर्षयस्तथा नायममर । ततश्च पुनर्भुञ्जन्मता दिधिपूरदस्य क्रोशे प्रति
 पाद्यमाना सर्वाथैवाऽप्रामाणिकी । ननु च भो यथा मनूक्ते देवलायुक्ते चार्थे भिन्न
 प्रवृत्तिनिमित्तद्वय तथैव क्रोशोक्तमपि पुनर्भुञ्जन्मन्यतप्रवृत्तिनिमित्त शब्दस्यास्य
 प्रकल्प्यताम्—तेन स्वादिदमपि शब्दस्थस्यार्थान्तरमिति चेत्तदयुक्तम् । तथा
 मूत्रार्थे प्रमाणाभावात् । शास्त्रे ह्येव परिभाषितोय शब्दो न लोकिक्, लोकव्यवहारे
 प्रयोगानुपलम्भात् । यत्र च परिभाषितस्तत्र यथा विवृतस्तदर्थक एवाभ्युपगन्तव्यो
 न त्वर्थान्तर मनसैव कल्पनीय किमपि । किमन्यन् साक्षाच्छ्रुत्यापि मगवत्या स्मृत्य
 नुनोदित एव शब्दार्थो ध्वन्यते । तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मणे (३ का० ४ प्रपा०)
 पुरुषमेघमुपक्रम्य “ब्रह्मणे ब्राह्मणामालभते, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्,
 तरुत शूद्रम्, तनत्ते तस्करम्, नरकाय वीरहणम्, पाप्मने क्लीबम्” इत्याद्युक्त्वा
 “मन्थये नारम्, गेहायापरीतम्, निम्बुल्यै परिवर्त्तिम्, आत्यै परिविदानम्,
 आराध्यै दिधिपूरतिम्, परित्राय भिषजम्” (४ प्र०) इत्यत्र आम्नातम् । एष
 पञ्चाह पुरुषमेघ इत्याहापस्तम्ब । अत्र चतुर्थ्यन्ता देवता द्वितीयान्ता पशव,
 आत्मन् इति सर्वात्रानुवर्त्तते । ब्रह्मब्राह्मणजात्यभिमानो देवस्वरस्यै कचिद् ब्रह्मवर्च-
 सयुक्त ब्राह्मणमालभते । आराध्यै कर्मासिद्धिप्रतिबन्धाभिमानिन्यै दिधिपूरतिमालभते,
 इत्यादि व्याचक्षते मन्थञ्जत् । अत्र च परिवर्त्तिपरिवर्त्तम्या समुपनिषद्द्वय
 दिधिपूरतिशब्दस्तत्साहचर्येण विवाहकमभ्यासमेव निमित्तोक्तम् प्रवृत्त स्यादि
 ति स्फुट शक्यमभिधातुम् । यत्तु “आराध्यै दिधिपूरतिम्, इत्यत्रैव दिधिपूरदमात्रे
 एवापनिषत्तनुपनिषत्तोऽनेनैव श्रुतिप्रमाणेन पुनरुद्धाह विषाद्यविषमिति महत्मानोऽ
 योनिनिशास्त इम सर्वा प्रणम्या एव । अभ्युपगतेऽपि दिधिपूरदस्य पुनरुद्धापरत्वे
 क्यमनया श्रुत्या पुनरुद्धाह आचक्षते भवतीति पृञ्जाम । दिधिपूरदप्रयोगेणैव ताह
 शब्दव्यवहारस्य शिष्टानुग्रहीतत्त्वबोधनादिति चेज्जारपदमुपपत्तिपद कथैवपद चाप्यत्र
 प्रकरणे प्रयुक्तं किं न पश्यसि ! तत्रिंशत्तात्पर्यव्यवहार क्लीबतापि च श्रुत्य
 नुनोदितौ शिष्टानुग्रहीतौ भवताम् ! आस्तामप्रकृता एवविधा प्रलापा । प्रकृते
 तु पुनरुद्धार्थकत्वे दिधिपूरदस्य श्रुत्यापि विरुद्धमसाधयाम । वस्तुतस्तु क्रोशकृतोऽ
 मरसिद्दस्याप्यत्र तात्पर्यान्तरमेव समुन्नेयम् । तथा हि—एवविधिविवाहकमवैररीत्य
 विषये पुनरुद्धाहो वशिष्ठेन प्रायश्चित्ततया विहित ।

“परिविदानं कृच्छ्रान्कृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत्, तामे
 वेषयच्छेत्, अप्रादिधिपूरति कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशत, ता चेषोपय
 च्छेत् । दिधिपूरति कृच्छ्रान्कृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेतेति (वशि-
 ष्टस्मृति) ।

परिविदानं ज्येष्णे भ्रातर्यङ्गनदारपरिग्रहे स्वयं कृतदार कनिष्ठ कृच्छ्रा
 तिहृच्छ्रौ व्रतविशेषी विधाय—तस्मै ज्येष्ठाय ता स्वभायां दत्त्वा—गुखे मैक्षीमत्र

निवेद्य-पुनस्तदनुष्ठया निविशेतविद्देत्, तामेव पूर्वपतिपत्नीना भायां ज्येष्ठाय वाह्मात्रेण निवेदिता पुनर्षणीयात् । इति पूर्वस्यार्थः । उत्तरस्य तन्मनुपनिव वन्ध मित्रमिश्र ।

“अग्नेदिधिपूषतिः कनिष्ठापति कृच्छ्र कृत्वा ता ज्येष्ठामन्योदा समुद्रहेत्, दिधिपूषतिज्येष्ठापति श्वोदा ज्येष्ठा कनिष्ठापतये दत्त्वा स्वयमन्यामुद्रहेदिति” (वीरमित्रोदये विवाहप्रकरणे) ।

अम्न वानापि परिवेनादाविव निवदनमात्रम्, पुनश्च तथैव स्वयमूढया पुनर्विवाहः । सर्वथापि पुनः सस्कारोऽत्र प्रायश्चित्तनया विहितो न शक्योऽपलपितुम् । ततश्च या दिधिपू सा द्विवारमूढा भवति, वैधस्वेऽपि चास्य विवाहस्य पुनः सस्कारमात्रनिमित्तीकृत्य पुनर्मुंशब्दोप्यवश्यमत्र प्रवर्तेतति तदभिप्रायेण वेदममरभेदेन “पुनर्मुंदिधिपून्दा द्वि” निरुपनिषद्दम् । तदित्यमुक्तप्रकारेण द्विरुदत्त्वादिधिपू सर्वापि पुनर्मुंभवति, पुनर्मुंस्तु सर्वा दिधिपून् भवति, विवाहक्रमवैपरीत्यमन्तरा पुनर्विवाहेऽपि दिधिपूदा प्रवृत्तः । तथा च कश्चित् सामानाधिकरण्यं च कश्चिद्वैयधिकरण्यं चानयो शब्दयोर्लभ्यम् । सामानाधिकरण्यमात्रमादायोपपत्ता कोशव्यवहृतिः । एवमेव मनुक्तमपि नार्थान्तरम् । किन्तु—यथैत्रोऽग्ने दिधिपूपति ज्येष्ठामन्योदा समुद्रहन् परपूर्वाया पतिर्भवति, मर्यादा चातिक्राम्यति, तथैव नियुक्तोऽपि देवरादिव्यदि परपूर्वाया पतिर्भवै मर्यादा च जह्यात्तर्हि तथामूते सादृश्येन दिधिपूपतिपद मगवता मनुनाऽऽग्नेपद त्रिलोप्य प्रयुक्तम् । तदित्य सर्वत्राप्यैकाध्येनैव सामञ्जस्येऽनेकार्थकत्वनाऽऽननुगमदोष पराहतेति निपुणमिदं विभाव्यता परीक्षकैः । एवविधस्य च परिभाषितस्य दिधिपूपदस्य पितृनेषक्रियाया सामान्येन निनियुक्ते प्रकृतमन्त्रे नास्ति सम्बन्धसम्बन्ध इत्यगत्या रुद्व्यर्थमुत्सृज्य भाष्यकाराद्यभिमतो योगार्थ एव शरणीकरणीय आपतितः ।

प्रयुक्त चान्यत्रापि धौगिके धारणाद्यर्थ एव दशतस्यां दिधिपुपदम् ।

‘अश्वाद्यो न ये ज्येष्ठास आश्वो दिधिपवो न स्य सुदानव’

(ऋग्वेद १० म० ८८ सू० ५ म०)

इति हि माहते सूक्त ‘ये मद्यतोऽश्वा इव ज्येष्ठा, आश्वश्च शीघ्रगमना, दिधिपवो न दत्त्वा धारका इवे’ त्येवरीत्या धारणाद्यर्थक एव दिधिपुशब्दो वास्तव्यते । “मातुर्दिधिपुमन्त्रव स्त्वुर्जाः सृगोतु न । भ्रातेन्द्रस्य क्त्वा मन्त्रः” (ऋ० सू० ६ म० ५५ सू० ५ म०) इति च पौष्णे मन्त्रे ‘मातुर्दिधिपु रात्रेदिविपु—पति, पृथणवन्त्रम्, स्वमुदपतो चारश्च पूषा नोऽस्माक स्तोत्राणि सृगोतु’ इत्यादिरीत्या सामान्यतः पर्यर्थकमेव दिधिपुपद सर्वरूप्यरीक्रियते व्याख्यातमि ।

गत्यन्तरामावात् । अन्यत्रापि च श्रीभागवते “ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषु पुरुषादेन भविनम्” (९ स्क० ९ अ० ३४ श्लो०) इति कलमापपासकथाया गभीधानेऽनुपनिरेव दिधिषुपदेनाभिहित, परिभाषितस्य तत्र ग्रहणे पूर्वापरसम्बन्धे । तदेव मन्यत्र बहुत्र यौगिकेऽर्थे एव प्रयुक्त पदमिदमिहापि तथैवोपगन्तुं साप्रतम् । ततश्च दिधिषुपदमात्रावलम्बेन क्रियमाणमिदं साहसमभित्तिचिन्नायितमेव । इदमपि न विरहणीयम्—पुनर्भूषणमिव परिभाषित दिधिषुपदमपि निन्दार्थकत्वेनैव स्मृति क्रोशादिपूपात्तमिति । ततश्च तथाविधार्यस्य भ्रुतावाग्रहेण ग्रहणेऽपि निन्द्योपवहारस्थानवत्सर्गमात्रं श्रुत्या बोध्येत, न चयं विधिः स्यात् । विधिससृष्टेऽर्थे निन्द्यत्वा सम्भवात् । अथ विधिससृष्टादेव नास्ति निन्द्यत्वमित्येव ब्रूमह इति चेत्तथासति स्मृतक्रोशाद्यभिनतरुद्धार्यता दिधिषुपदस्य परित्यक्ता भवेत् । तैनिन्द्येऽर्थे एव प्रयुक्तत्वात्—श्राद्धार्हतानिषेधप्रायश्चित्तधामिधानात् ।

परित्यक्ते च तदभिमतोऽर्थे स्ववृत्तितायै न स्यात् किमपि प्रमाणमित्येकमभि सधिरवतोऽपरं न्यवते । किं च अथर्वसंहिताया दिधिषोरित्येव पाठ इति तत्र नास्त्येव योगातिरिक्तस्य कस्यापि रुद्धार्यस्य समत्वं । दिधिषुपदस्य रुद्धार्यानुपपत्तये । तच्छ्राद्धैकवाक्यतया चान्यत्रापि योगार्थकतैवोचितेत्यलमतिमात्रं मृदितमर्दनेन ।

अथ यदिदमियं नारीतं पूर्वतनमत्र व्यापयान्तरं स्वमनानुकूलमित्युपन्यस्तम्, तदप्यापातरमणीयम् । ‘प्रेतत्वा उपनिषद्यते’ इति स्फुटं प्रतीयमानं सामानाधिकरण्यमपलप्य प्रेतविहायेत्यैच्छिकशोषकल्पनाया अद्वाजडैरेव अद्वेयत्वात् । न हि सुन्दरं बालकमानयेत्यादौ सुन्दरं बहि, बालकं चानयेत्येवमर्थं प्रकल्पयन् कश्चिद् दृष्टन् । न वा ग्रामं गच्छेत्पादौ ग्रामं दह, अरण्यं च गच्छेति शेषं केनापि क्लृप्तम् । सर्वव्यवहारवैयाकुलीप्रसङ्गात् । विहायेति शेषं प्रकल्पयस्तत्कर्मणो द्वितीयान्तता ल्यबलोप इत्याद्यनुशासनविरुद्धामनाकल्पयश्च मुष्टुं खलु वैयाकरणो भवान् । ‘प्रेतपतिमनुत्वा उपनिषद्यते’ इत्यपि निःसारम् । उत्तरार्द्धं घट्टस्यानुरसगस्यैवमाकृष्यान्वयं सम्बन्धकल्पनाया वैदिकशैली विरुद्धत्वात् । तस्मात् प्रेतत्वा उपनिषद्यते—इति मृतपुरुषमुद्दिश्योक्तिरेव ज्यायसी । मर्त्येति सर्वोधनमपि मरणधर्मतामावेदयंस्तत्रैव समञ्जसम् । न च मृतस्य सर्वोध्यत्वाऽऽसम्भवः, ‘पूषात्वेताश्चावयतु’ ‘अत्रैव त्वमिह न्य सुवीरा’ इत्यादियु पितृमेघमन्त्रेषु सर्वत्रैव मृतस्य सर्वोध्यत्वावगमात् । पितृमेघप्रक्रमेऽन्यस्य कस्यापि पुरुषस्य सर्वोध्यत्वप्रकल्पना त्रिव्यमेकातत प्रकरणविरुद्धा । उक्तं च भगवता यास्केन “न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या”, इति न हि कथंचिदेकमन्त्रस्याऽप्यर्थान्तरप्रदर्शनमात्रेण प्रकरणानुकूल्यं प्रदर्शितं भवति । पूर्वापरसर्वार्थाधारणाधीनत्वात् प्रकरणस्य । ततश्च पूर्वमुत्तरत्र च

प्रकान्तरस्य मृतसंस्कारस्यैव सम्बन्धेनैतस्याथा वक्तव्य । न च पुरुषान्तरकर्तृको निषवाया पुनरुद्वाहो मृतसंस्कारसम्बन्धीत्ययोचाम । किं च 'आद्यया चितौ भार्यां प्रेतेन सह सवेद्ययेत्' इत्येव कौशिकस्मृतानुगतेन विनियोगेनापि भाष्यधृतेन स्त्रियाश्रितिसवेशान मन्त्रस्यास्य निषय इति तदनुकूल एवार्थो वाच्य स्यात् । प्रकरणसूत्राद्यननुषङ्ग्य यस्य कस्यापि यत्किञ्चिदर्थकल्पने तु सर्वेष्वनर्थव्यवहाराभ्युत्थैव प्रसाधिता स्युरित्यन्यत्र विस्तरेणाभिधास्याम । किं चात उत्तरस्मिन्तु दीर्घेति मन्त्र मृतस्य सविधे शयाना एतन्नी समाश्रास्यते, (इतामुमेतमुपरोप) इत्यशस्य भवद्विरपि तयार्थकताया एवोपगमात् । यदि तु सा पूर्वमेव पुरुषान्तरमुपनिषजा (प्राता) कुतस्त्वं उत्तरमन्त्रे मृतस्योपशयनाभिधानम् समाश्रासनं चेति विचार्यता मनाग् दारमुकुलितनेत्रम् । किं चान्यत् पुरुषान्तरपरिग्रहस्यास्य 'विधे पुराणमनुपालयन्तीति' सनातनवर्मस्थाभिधानमपि युक्तिविरुद्ध स्वीयोक्तिविरुद्ध च । आपद्घर्मताया एव विधोद्वाहस्य त्वदीयैरप्यभ्युपगतत्वात् । मृतमुद्दिश्य द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना तु यथा न प्रतिकृत्वा तथा पुरस्तादुपदर्शित एतन्मन्त्रमाध्य एव सुस्पष्टम् । यद्वा—'प्रजा—सन्ततिं द्रविणं च पूर्वं वर्त्तमानमेव वेदिं धारय—अनुजानीहीति यावत्' इति धारणार्थकस्य धातो प्रयोगसामञ्जस्येनार्थ उपकल्पयताम् ।

पूर्वं द्रविणसन्तत्यादौ भर्तुर्मुख्य स्वत्वम्, स्त्रियां भर्तृपारतन्त्रात्, इदानीं तु भर्तृसम्बन्धादस्या एव नार्यास्तत्र स्वत्वमुत्पस्यत इति तदनुज्ञा भर्तुं प्राप्स्यते । ततश्चोपपन्ने सूत्राद्यविरुद्धेऽर्थान्तरकल्पने विद्वन्मन्त्रमात्रमेतत् । यदपि माधवी यस्य तैत्तिरीयभाष्यस्य एवमज्ञानुसूल्यखयापन तदप्यभिप्रायानवबोध्यात् । 'पुनर्विवाहेऽञ्जोरेतद् जनित्वा जायात्वमाभिमुख्येन प्राप्नुहीति' तावद् भाष्यकृतोक्तम् । तदिदं जायात्व न पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्योत्पत्त्यमानस्यैतच्छब्देन निर्देशायानगात् । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्व तस्यामेतन्मन्त्रप्रयोगात् प्रागुपपन्न यदेतच्छब्देन वर्त्तमानतया निर्दिश्येत् । निर्दिष्टं च भाष्यकृता तथैव । तेन च स्पष्टमेतत्—न पुरुषान्तरस्य जायात्वविधाने भाष्यकृतस्यैवार्थम्, किं तर्हि, तस्यैव मृतस्य परपुल्लोकान्तरे पुनरपि त्वामेव जायामिच्छतो यज्जायात्वमेतत् इति वर्त्तमान तदेव पुनरप्यनुमरणेन प्राप्नुहीति" स्फुटतरोऽयं भाष्यार्थः । अनुमरणप्रभाषेण पुनस्तेनैव पत्या सा सद्युष्यत इति पूर्वमवैतदवोचाम । इहापि च मरद्वाजवीधायनकला सूत्रानुसारिणा भाष्यकृतेन "अथास्य भार्यमुपसवेद्ययन्—इयं नारीति, तां प्रगिगत सवेद्ये पाणावभिषाद्योत्थापयति—'उदीर्यं नारीति सुवर्णेन हस्तौ समाष्टि'" इत्यादिना उत्थापनमात्रे मन्त्रस्यास्य विनियोग उक्तो न तु पुनरुद्वाहकयायामपि । ततश्च कल्पसूत्राननुमत स्त्रीयवेदायववेदमाध्यविरुद्धं च पुनरुद्वाहमेत कथमत्र परमास्तत्रमरान् माधवाचार्योऽभिदध्यादिति मुधीभिरेवालोक्यम् । यदपि

अभिसवभूयेति लिंगे लोड्यकत्वेन विष्वाभ्रवग तदपि न विचारसहम्,—एव विधेषु मन्त्रेषु विधित्वकल्पनाया मीमांसकैरुक्तो निरस्तत्वात् । तथा हि—भगवान् जैनेनिस्तावद् मन्त्राभिधायकराधिकरणे—

‘विधिमन्त्रयारैऋष्यमैकशब्दात्’

(मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण ब्राह्मणान्मित्र मन्त्राणामप्यविशेषेण विधायकरा—पूर्वपक्षीकृत्य तदुत्तरेण—

‘आप वा प्रथोऽन्तान्मन्त्रान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्’,

(मी० सू० २।१।३१)

इति सूत्रेण तत्प्रयोगे विनियुक्ताना मन्त्राणामभिधायकत्वमात्रमनुष्ठानन् विधायकत्व प्रातपेक्षति । “तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवजातीयको विधायकः” इति च तदीय भाष्यम् । एवजातीयकस्तत्त्वमसु विनियुक्त इत्यर्थः । विनियुक्तश्च मन्त्रोऽयमपि कल्पसूत्रकृद्भिरुक्त्यापन इति न ततोधिकमर्थे विदध्यात् । इना च विधिशक्तप्रतिबन्धकतामनुगमयन्तस्तत्रभवन्तो वार्तिककृतो मट्टपादास्तन्वार्तिके प्रकृतस्य शाख्याया—

‘देषामाख्यातशब्दाना यच्छब्दाद्युपबन्धनात् ।

विधिशक्ति प्रशस्तु ते सर्वत्राभिधायकाः” ॥

इति सामान्यतोऽभिधायक्यच्छब्दोपहितत्वमन्त्रविभक्तिं यदिशब्दादिकं च विधिशक्तिप्रतिबन्धकानाहु । भयते च प्रकृतेऽपि मन्त्रे “नारि” इत्यामन्त्रण विभक्ति, तत्समानश्च तदशब्दोऽपि । तेन नश्च विधायकत्वसम्भवं । अपथैतत्सुत्र विद्वानाणां शास्त्रदीपकाकृत पार्थसारथिमिश्रा अपि ‘यानि च निमित्तादिप्रतिपादनेनाख्यगतान्तरैरेकनाक्यता गतानि तान्नुदाहरणम् । आमन्त्रणविभक्तेश्च वक्त्रमिमुवभ्रोटुविधयत्वात्, वेदे च वक्तुरनावादिषेध्यामिमुञ्चानमिमुञ्चपुत्रसाधारणत्वादिसद्व्यभिचारेणामन्त्रणेन विधिशक्तयदने’ इति प्राहु । प्रकृते च मन्त्रे ‘उदीर्ण’ ‘एही’ स्वनयो राख्यातयोर्निमित्तमत्र प्रतिपाद्यते “अभि सवभूये, ति । ‘यत्सर्वं पूर्वं विधियोरेवस्य अनित्त्वमभिसवभूय । न त्विद मृतशरीरं ते परिशतो हेतोरुत्पिठेति’ स्वरस्येन भाष्यकृदादिभिरभिहितत्वात् । ‘नारी’ विद्यामन्त्रणविभक्त स्वमिति त्वामिमुञ्चमुद्दिश्य प्रतिपादनमिति सर्वस्या अपि विधित्व प्रतिबन्धकताप्रस्था सत्त्वेऽपि विधिप्रकल्पना द्योमते मीमांसानभिधानानेव वरनिति कृतमनल्पजल्पनेन । अथैव सत्तुदीर्णेत्यपि विधेर्न स्यादिति चैनास्तरे च विधि, कल्पसूत्रोक्तविधेरभिधायक एवैव मन्त्र इति स्फुटोऽप्य मीमांसारिशीघ्रिनाम् । तदनवच्छतां तु कृते ‘उदीर्ण’ ति विधि प्राक्त्रोचाम सामान्येन । तस्मादभि सवभूयेति लिंगे लोड्यकता दूरतरमपास्ता । यदपि ‘पतिस्थानीयो देव’ इत्याश्च

लयनोक्त्या द्वितीयस्य पशुदेवरशब्दवाच्यस्य पतिस्थानीयतामुपेक्ष्य पुनर्विवाह
 प्रसाधन तदपि कुशकाशावलम्बनम् । पतिकर्तृकपुत्रवनादिप्रस्योक्तसंस्कारेषु
 प्रातिनिध्यमात्रेण पतिस्थानीयताया व्याख्याकृद्भिरुपपादितत्वात् । देवरशब्दस्य च
 सामान्येन द्वितीयपर्ययकनानुपदमेव प्रतिपेक्ष्यते । साधित चानुपदमेव रुद्रार्थं
 ग्रहणोचितं पूर्वपक्षे सोपपत्तिकमिति रुद्रार्थोभिधायकतैव देवरशब्दस्य सर्वथा
 समुचिता । पशुनितरक्षणादिकार्यकारिवादिनापि च पतिस्थानीयत्व स्वरूपात् ।
 न हि पतिस्थानीय इति पशु सर्वाणि कार्याण्यपि तेन विधेयानि । 'मातृवत्
 परदारेष्विति' नहि सर्वा परदारा विदुषस्त्योऽपि भवन्ति । किं च यदि द्वितीयो
 वर एव देवरस्तर्हि नूनं स पतिरेव, तस्य किमिति पतिस्थानीयता सूत्रकृता विहिता ।
 तस्मादेवंविधार्थप्रकल्पना नितरां शास्त्रार्थगन्धशून्यानामेव समुज्जमते । तदित्य
 कथञ्चिदापातत संभवति मन्त्रस्यास्य पुनरुद्वाहार्थं सवधोपपत्तिभिः प्रतिपद्ये ये
 विदुषामुपद्रासास्यदीमृताऽभिज्ञमन्याना यादृच्छिकी हठादाकृष्यार्थप्रकल्पना 'हे
 (विधये) नारि एत गतामु गतप्राण मृत विवाहित पति (त्यक्त्वा) अभिजीवणेक
 जीवन्त (देवर द्वितीयवर पतिम्) एहि प्राप्नुहि । उग्रशेपे-तस्यैवोपशेपे (सन्तानो
 त्पादनाय वर्तस्व) (तत्सन्तान) हस्तमाभस्य विवाहे सपत्नीतहस्तस्य पशु
 'स्यात्' । (यदि नियुक्तपर्ययो नियोग कृतस्तर्हि) दिधिषो तस्यैव सन्तान
 भवेत् । तवेदम् इदमेव विधवायास्तव, जनिष्ये सन्तान भवति । हे विधये विगत
 विवाहस्त्रीकस्य पशुश्वेतत्रियोगहरणार्थं एव) उदोर्ष्व—(विवाहितपतिमरणानन्तर
 मिम नियोगमि-३) तथा अभि सवभूथ—सन्तानोत्पत्ति कृता सुख सयुक्ता
 भवेति, । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नियोगप्रकरणे) सा स्वल्पव्याक्रयैव पराकृता ।
 यद्व्युत्पा तत्तदध्याहार्य यत्किञ्चिदर्थप्रकल्पन नामेदं क सचेता अनुमन्येन ।
 यथाहि कश्चिद् 'अग्निमीले पुरोहितम्, यज्ञस्य देवम् च्वजम्, होतार रत्नधातमम्'
 इति मन्त्रस्यास्य 'अग्नि पृष्टु क्षिन्, अह त्वामीडे, पुरोहित यज्ञस्य मन्वे देव
 प्रकाशमानमृत्विज जहि, रत्नधातमम् अतिशयेन धनव त होतारमुल्लुण्ठे' स्यादि
 यत्किञ्चिदर्थं प्रकल्पयेत्—स एवायमप्यध्वा । रफुत् परस्पर प्रतिभासमानसम्बन्धानि
 पदानि यादृच्छिकोपकल्पनया स्वबुद्धयैकन्यथा योज्यन्ते इति कथमसौ वेदार्थ ।
 रवकल्पित किमप्येतद्वेदशिरुस्मारोप्यत इति सत्यम् । तदाहुर्मंष्टृपादास्तन्प्रभर्तिक
 (१ अ० २ पा० ७ सू० व्याख्यायाम्) "यदि छत्ररानुपाचाऽप्यथोऽस्तमदादि
 भिरेव कल्प्यते, यस्माद्रय प्रयत्नेन धारयामस्तस्मादस्य पुरुषार्थतेति, तथा सत्या
 र्मचोऽस्तवशेन प्रामाण्यमनुपगत स्यादिति" । इह ह्युक्तेऽर्थे उदोर्ष्वेतस्य नियोग
 मिच्छति सर्वथा प्रमाणविह्वलार्थं । त्यक्तवति, देवरमिति, सन्तानोत्पादनादेशपादि,
 चाप्रामाणिकोऽध्याहार । जनिष्यमिति सन्तानार्थेऽवाचकम् । 'यमो ह जातो यमो
 जनिष्य जात कनीना पतिर्जनीनाम्, (ऋ० १ म० ६६।२) स्यादौ "कन्यकानी

धारो करयिता, यतो विवाहसमयेऽनौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासा कन्यात्व
निवर्तते । तथा कनीना आयाना कृतविवाहाना भर्ता पालयिता, यतोऽयमनुष्णितै
योगे फल प्रय छती' त्येवमादिना धामार्थकत्वेन्नेव कनिशब्दस्य व्याख्यातय
त्वात् । अत्रैव कनित्वमु परस्यमानमिति व्यख्यामनुसृत्य सन्तानार्थकता सम्भवेत्
सोऽय भिन्न आद्यदात्तो कनित्शब्दस्व प्रत्ययान्त । प्रकृते च त्वप्रत्ययान्तोऽयम
न्तोदात्त इ त स्फुट वैयर्थ्यम् । तथैव च—इतामुमुशोपे—इति स्फुट भासमानस्या
न्वयस्य परित्याग । उपशोपे—इति स्वरसामञ्जस्यदिनाकृतस्य लिङन्तस्य दुवन्तत्व
प्रकल्पनमिति दोषघ्नत दुधिय ए- परामृशन्तु । कृतनतिविस्मरेण । अदि-थ प्रथमो
मन्त्रस्यावदन्तिद्वार्थे व्यवस्थापित ।

अथ यदिद मन्त्रान्तर विधयोद्वाहे प्रमाणमित्युपन्यस्यते—

बृह स्विहोषा बृह वस्तोरश्विना बृहामिषित्व कर्त बृहोषतु ।

को वा शयुत्रा विधवव देर मर्ये न योषा कृशुते सद्यस्य आ ॥

(श्रु० १०-४०-२)

तदपि नार्थस्थितसाधनाय प्रभवति । अनुक्रमगिक्रियामश्विदैवतरजन
घोषाया काशीवत्या आर्षत्वेन चानुक्रान्ते 'यो वा पारष्मैत त्रीणि त्रिभिन्ने
अद्य' (भा० श्रौ० सूत्र, ४, १५) इति भगवताश्वलायनन प्राप्तानु
वाकाश्वनशस्त्रयोर्विनिमुक्तेऽस्मन् मन्त्रे न हि किमपि लिङादिक भूयते—येन
पुनरुद्वाहो विधीयते नापि निध्यान्त्य सम्भवति, तादृशसामान्या अभावात् ।
अथ 'शयुत्रा विधवव देवरम्' इत्युपमानेन 'यथा विधवा—मृ-मर्तुका शयुना—
शयने, देवरमभिमुखीकरोती' त्ययकन तादृशव्यवहारानुपपत्त्या सम्भवत्येव
निध्यान्तेष, इति चेदत्र कचिच्चिन्तना—म्वतु यथा कथावाद्ब्रह्म्यान्ते, न त्वय
पुनरुद्वाहविधि । पुनरुद्वाहे देवरम् उद्वाह इति नियमे प्रमाणात्कल्पे । विवाहोत्तर
तस्य देवरस्यच्यवशानुपपत्तेश्च । नियोग तु 'देवराद्वा सविण्डाद्वा स्थिया सम्यक्
नियुक्त्या' इत्यादि स्मृतिप्रामाण्यात्सोषादास्त देवस्य प्राधान्यम् । अथपि च
नियोगे क्षेत्रस्वामिन एव स्वस्वनिमन्वन्ते स्मृतिकारा इति देवरस्यदोषपरिहृति ।
तस्मात्त्रियोग एवास्या उपमाया सामञ्जस्येन तृतीये पक्षे मवेदस्य मन्त्रस्य
कथं चत् पक्षगतो न तु प्रथमे । अथोच्येत—देवरस्यदोऽय प्रकृतमेव मन्त्र
व्यावृत्तौ न मन्त्रा यास्केन 'देवर करमद् द्वितीयो वर उच्यते' इत्येवं
निरुक्त (नि० अ० ३ पा० ३) तथा च नहि देवरस्यदोय मर्तुभ्र-परि
रुद्ध भुतावत्रोन्म्यते, अपि तु द्वितीयस्यभिषायक—उपदर्शितनिरुक्तप्रामाण्यादिति
द्वितीयस्य वरस्य विवाहमन्तरेण—सम्मानतया स्फुटमेवोपनय द्वितीय विवाहनव
शोधयेदिति । तदेतदप्यर्थनिवशोधविष्मन्त साहसमात्रम् । निरुक्तमर्थनिवशोधत् ।

(निवृत्तव्युत्पत्तिरहस्यम्)

नहि निवृत्तञ्च शब्दव्युत्पत्तिं प्रविष्टं प्रवृत्तिनिमित्तं व्याहृतं, अपि तु यथैव य शब्दं प्राकृतैर्न प्रवृत्तते, तदनुष्ठात्-व्युत्पत्तिमत्स्य शब्दस्य निवृत्तव्युत्पत्तिरहस्यते । निवृत्तव्युत्पत्तिरहस्यं हि 'अर्थं तस्य परीक्षेत' 'विषयकारो हि वृत्तयो भवन्ते' इत्यादि मन्त्रानुष्ठात् तदन्तर्निवृत्ते (२ अ० • १००) । तत्रेदमाहुतम्—यस्य कस्यपि शब्दस्य येन कनाप्यर्थविशेषेण सुप्रसिद्धं सम्बन्धं सर्वाणि सदेतुः इति प्रतिपादयते तत्र मन्त्रो नैव ह्य । चिरन्तनसुप्रसिद्धमिति शब्दार्थसम्बन्धस्य निवृत्तव्युत्पत्तिरहस्यते । तदत्र सन्ततं तेषु तेष्वर्थेषु क्वचिदन्तर्निवृत्तेण यात्रिनेचीकृतं तै तै शब्दान्तेष्वर्थेषु चिरन्तनैर्न संविदिता । त एव घर्ना यन्त शब्दान् व्युत्पादयन्तोरसरीश्या इति तदर्थमस्य निवृत्तव्युत्पत्तिरहस्यते नाम । तै तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमृता घर्ना यद्यन्तरस्य व्युत्पत्त्यन्ते, कामनुरस्यन्ता नाम । ननु तावता स शब्दस्यजापि प्रवृत्तेव । अत्रहाग्नूत्तौ हि शब्दप्रयोग, अत्रहारश्च चिरन्तनप्रविद्धिसम्बन्धाश्च ह्य इति । अत्र एव प्रथमाध्याये 'सर्गाणि नामान्नाख्यातबानीनि' प्रतिपादां "अथ चेत् सर्गाणां नादकानि नामानि स्यु, य कश्च तत् कर्म इत्यन्त् सर्वे तास्य तथाक्रीरन्, कश्चनाख्यातमदनुदीत-अथ स वचनीय एगान्, यत् त्रिद्विचित्रासृत् तदिति", वैशाहरणाना पूर्वस्य, "पदवाम समानकर्मणा नाम धेयप्रतिगम्यन्तेषान्, नैकपान्-यथा तत्र परित्राज्जो जीवना मूमिब इति" इत्येव समाहितो मगवता निवृत्तव्युत्पत्ता, न तस्युत्पत्तिरहस्यते । सर्गाणां प्रातिगदिकानां व्युत्पत्ताव्युत्पत्तिरहस्यता यत्र यत्र व्युत्पत्तिविद्वधमन्वोमन्त्र सर्वमेव तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिरहस्यता, तथा च 'अन्तरेऽध्यायमिदमस्य' इति व्युत्पत्तिरहस्यता-नामन्त्रेण गच्छति मनुष्यादायस्यम्भुत् प्रवृत्तेनेति पूर्वभाष्ये । अत्राप्यत्र च पदस्यव्युत्पत्तिरहस्यं, अत्रि शब्दाक्षिरन्तनैर्धुत्पत्तिना इत्यनुत्पत्तिरहस्यता, तद्वि तत्तदन्तर्निवृत्तेण न सर्वत्र प्रवृत्त्यन्ते-सर्वोपहरहृत्पददारेषु यत्किञ्चिच्छाष्टादिकं तद्वै, अथानि न स तस्य मन्त्रि । सर्वोपहर च काल काले सुदृक्त्वधुत् परिव्यय दशान्तर मन्त्रि, ननु तावता परित्राहुच्यते । इत्यादि । तथाच यत्र तं तं शब्दा अत्रहाग्निसम्बन्धेव वा तावन्तस्य व्युत्पत्तिमदस्य व्युत्पादनीया, ननु तावता सर्वकारि तथा शब्दानां प्रयोग शक्य आत्मानविदुम् । 'अन् हि घर्नं परीक्षन् परीक्ष्यो ननु व्युत्पत्तिरहस्यं प्रमुता परीक्षस्य । सर्गाणि समाने घर्नसम्बन्धे क्वचिदेव शब्दं प्रवृत्तं यत्र नान्यत्रेयत्र शब्दशक्तिमत्ता एव हेतु म्यात् । यैरिभ मन्त्रेण शब्दा मन्त्रपाममिभन्विशेषो वा, वैशेष्यात्तदन्तर्निवृत्तेणैव कनाख्यातमदप्रवृत्तम् । इदं तु त्रिद्वि-गृह्यशब्दो हि यत्र विषयसम्बन्धविशेषेण प्रवृत्तते-त्रैव 'शिरसो निर्वा' निवृत्ते व्युत्पाद्यते, ननु यदेव शिरसो निर्वा इति कथादि, तदपि गृह्य मन्त्रि । अत्रहाग्निस्य यैव मन्त्रविषये वृद्धे प्रवृत्तस्यैव, अत्रतत मन्त्रि' इति व्युत्पा

दनीय, ननु नीचैर्विषर्पद्व्यख्यादिकमपि तावतापर्य स्यात्-इत्येव भगवतो
याम्कस्य स्फुट आशय । अत एव च 'अन्यदि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्'
इत्याहुरभियुक्ता । तथा च देवशब्दोऽपि यत्रैव भर्तुर्भ्रातरि व्यवहारसिद्धि,
अतिस्मृत्यनुमोदितश्च, तत्रैव 'द्वितीयो वर, इत्येव व्युत्पाद्य स्यात्, ननु द्वितीये
वरे यत्र कुत्रापि देवशब्दप्रयोगो युज्येत व्यवहारविसवादादिति निपुण भाष्यतां
मात्रुकै । भर्तुर्भ्रातरि द्वितीयवरश्च तु 'पुत्रवनादिकर्मसु पतिप्रातिनिध्यात्-रश्मित
क्रीडालापादिषु भर्तुरपरस्य तस्यैव प्रायम्यादित्यादि, पूर्वैर्हि मन् मन्त्र एव
व्याख्यातम् ।

उपपादितोपि च भवतेत्य देवशब्दप्रयोगे पुन परिणीताया विधवाशब्द
प्रयोगानुपपत्तिर्मन्त्रे, नहि 'विधवनात्' विधवनाद्वेत्यादियास्कोक्ता यर्मा परिण
योत्तर तस्या सम्भवन्ति । भूतपूर्वताश्रयण त्वगतिक्रगति । अथ चान्यत् 'देव
कर्मणाद् द्वितीयो वर उच्यते', इत्येव न साम्प्रदायिको निरुक्तपाठ, अपि तु कैश्चि
दिदानीतनै प्रशिक्ष इति स्फुटमुपगत तैस्तैर्विवेचकै । अत एव च 'देवरो दीव्यति,
कर्मति व्युत्पत्त्यन्तरमत्रैव निरुक्ते देवशब्दस्योपलभ्यते । पूर्वमेका व्युत्पत्तिमभि
षाधानन्तर द्वितीयापि व्युत्पत्तिरभिष्टिता स्यान्निरुक्तकृतेति चेदनु नाभिजानावि
निरुक्तशैलीम् । बह्व्योऽपि व्युत्पत्तय एकस्य शब्दस्यैकत्रैव 'एव वा, एव
वेति, रीत्या निरुक्तकृताभिधीयते । ननु मध्ये शब्दान्तर व्युत्पाद्य पुनः
सिद्धावलोकनन्यायेन पूर्वतनशब्दव्युत्पादन निरुक्ते दृष्टचर कापि । इह तु देव
कर्मणादित्यादिपाठोत्तर विधवाशब्दनिरुक्तिस्तदनन्तर च पुनर्देवरो दीव्यतिकर्मत्या
द्युत्तिरिति स्फुट पूर्वतनस्य प्रशिक्षत्वम् । अत एव च प्राचीनेषु बहुषु पुस्तकेषु
तादृशपाठानुपलब्धे, देवरो दीव्यतिकर्मति तु सर्वत्रोपलब्धम् । किं च सर्वत्रैव
मन्त्रेषु मन्त्रपाठक्रममश्लभ्यैव शब्दा निरुक्तकृता व्युत्पादिता, इह तु 'विधवव
देवरम्', इति पूर्वभूत विधवाशब्द परित्यज्य पूर्वं देवशब्दव्युत्पत्त्यभिधानमति
तमामसमञ्जसम् । विधवाशब्दव्युत्पादनानन्तर 'दीव्यतिकर्मति' व्युत्पादनमेव
त्वाचार्यशैलीसिद्ध सर्वानुमोदित चेति निविवादमेतत् । ततश्च क्रीडालापाद्यप्युक्ते,
भर्तुर्भ्रातरि देवनादेव देवशब्दप्रवृत्तिरिति व्युत्पत्तिमवलम्ब्यापि साहसमिदमभिति
चित्रायितमेव । तस्मान्नियोगेऽस्य मन्त्रस्य कथञ्चित् प्रामाण्यसमवेऽपि पुनरुद्वाहे
न सम्भवेत्येव प्रामाण्यमित्याहु ।

(दृष्टान्तेन विधिप्रवरूपनानौचित्यम्)

वस्तुतस्तु नियोगेऽपि न सम्भवत्यस्य मन्त्रस्य प्रामाण्यम्, विध्यभावात् ।
उपमा तु लोकसिद्धव्यवहारानुवादिकैव मनेन तु विधायिका । सर्वत्र हि सिद्धेन
वस्तुना सिद्ध वा साध्य बोधनीयते न तु साध्येन । तस्मादक्षिस्ततावेव मन्त्रता

‘सर्ग्यम्’, ‘विधवेव देवः’ मित्युपमा तु लोकव्यनहारमेवानुवदति, न तु किमपि विधत्ते । अथ तथापि तादृशो व्यवहार भ्रुतिविद्ध इत्युपगत भवतीति चेन्नैतन्न-
पुण पश्यति, भ्रुत्या विहितमेव भवेच्छ्रुतिविद्धम् न तु भ्रुत्यानूदितमपि भ्रुतिविद्धम् ।
अत एव ‘चोदनालक्षणो यो धर्मः’, इति भगवता जैमिनिना विधिवाक्यप्रकाशितस्यै
वार्थस्य धर्मत्वमाख्यातम् । न चोपमादीनां सर्वत्र विधात्तेरकस्वमभिप्रयन्ति मोमां
सका । ननु यावता भ्रुत्या तादृशस्य व्यवहारस्य विद्वत्समनूदितम्, तावतैव
धर्मत्व तस्य विद्धमायम् । न ह्यधर्मो व्यवहार भ्रुत्यानूयेत, भ्रुत्या चानूदिष्याति
व्यवहारस्य धर्मत्वमप्युपगतन्तव्यमेव भवेत् । किं च शिष्टाचारस्यापि धर्मं प्रामा-
ण्यमनुबानन्ति धर्मसूत्रकाराः, तथा च भ्रुत्यानूदितस्य व्यवहारस्यातिपुरातनत्वं
सिद्धौ शिष्टाचरितत्वादि भवत्वियोगस्य प्रामाण्यमिति चोत्तरमेतदनर्थकम् । यत्र
कुत्रचित् प्रतिद्वेनापि व्यवहारेणोपमानिर्वाहे तस्य सार्वत्रिकत्वकल्पने, शिष्टाचरित-
त्वप्रकल्पने वा प्रमाणाभावात् । यथाहि विधाषुद्देश्यताकन्ठेदकाकन्ठेदेन विधि-
यान्वयः कल्प्यते, न तथानुसादे तत्कल्पने किमपि प्रमाण पश्याम । तथा च योयं
द्विपतरेषु शूद्रारष्वसजादिषु प्रतिद्वेषति नियोगव्यवहारः, यो वा प्रतिपेक्षाल-
मत्तिकामन्त्या द्विल्लिया अपि कदाचन सभवेत्, स एव भ्रुतो दृष्टान्तव्यानूदित-
न तु तावता तस्य भवेद्धर्मत्वम् । विधिरस्यर्थाभावेन धर्मत्वादिदे । चिरन्तना
एव व्यवहारा भ्रुत्यानूयन्त इत्यपि नि शास्त्रम्, भूत मवद् भविष्यती त्रिविधा
नामपि व्यवहाराणां भ्रुत्या प्रतिपाद्यत्वात् । अवश्य हि वेदान्तिस्ववादिनि-
रिदमित्थेनाभ्युपगन्तव्यम्—अन्यथा वेदस्यानादित्वभङ्गापत्ते । इयमेव च वेद-
प्रतिपाद्येषु यज्ञ-राज्यसमाज-व्यवहारादिषु गतिरित्यास्तामेतदप्रकृतम् । किं च
नायमपि नियमो धर्मो एव व्यवहारा भ्रुतावनूयन्ते, भ्रुतावुक्तमात्राणां व्यवहारा-
णां वा भवेद्धर्मत्वमिति । पश्यामस्तु सर्वथा धर्मविरुद्धतया सर्वदरीकृतानामपि
व्यवहाराणां भ्रुतावनुवादम् । तथा हि—

‘उदीरय पितरा जार आ भगमियस्यति ह्यतो ह्यत्त इष्यति ।

विपक्ति षड्दि स्वस्वते मवस्तविष्यते अमुशो वेपते मती ॥

(ऋ० ७ वा० १० । १), (अथ० १८ का० १ अ० ३ ए०)

इति वाङ्मार्थनापरे मन्त्रे ‘जार आ भगम्’ इत्युपमया जारव्यवहारसत्ता
वदन्त्यतः । एतदधिकृत्य व्याचख्यौ तत्रभवान् यारकाचार्य —

‘आ इत्याकार उपमार्थं, “जार आ भगम्” जार इव भगम् । ‘स्वमुर्जाट
शृणोतु न” उपसमस्य स्वसारमाह । अपि एष्य मनुष्यजार एवाभिप्रेत स्यात्,

स्त्रीमस्तथा स्याद्—भवति ।

(निर० ३ अ० १६ ए०)

तेन च जारो—जरयिता आदित्य, भग—भजनीय, भौममान्तरिक्ष वा रश्म यथा प्रेरयति तथेति, प्रसिद्धो जार स्त्रिया भग यथा प्रेरयति म्लानरूपा करोति तथेति चार्थद्वयमत्र पलितम् । तत्र द्वितीये यास्काभिमतोऽर्थे सुस्पष्टो जार व्यवहार । तथैव च—

‘प्रमिनती मनुष्या युगानि दोषा जारस्य चक्षमा विभाति,

(ऋ० १ म० ९२ सू० औषसे सूक्ते)

इत्यादावपि ददुवानूद्यमान उपलभ्यते जारव्यवहार । यथा च व्यवहारा नुवादादमात्रेण विधिप्रकल्पकाना ‘योषाभि प्रियो जारोऽनुगन्तव्य’ इत्यपि विधि प्रकल्पनीय स्यात् । भृत्यनूदितानां च व्यवहाराणा धर्म्यत्वमेवाभिमत्य मानैर्नारव्यवहारोऽपि धर्म्य इत्यग्युपगम्येत । ननु ‘जरयतीति जार’ इति व्युत्पत्तिम नुस्य यौवनादिजारके मुख्ये पर्यावेव प्रयुक्तोऽयं जारशब्द इति नासद्व्यवहार श्रयानया सिध्येदिति चेत्—तर्हि ‘विधवेव देवरम्’ इतीहापि ‘दीव्यति—रमते’ इति व्युत्पत्तिमनुस्य मुख्य पतिरेव वाच्योऽस्तु, विशिष्ट प्रेमातिशयेन पुरस्कर्ता धरो यस्या शैव च सौभाग्यवती भवतु विधवाशब्दप्रतिपादोति नैवात्र कोऽपि नियोगादिकल्पनात्तर सम्भवेत् । ‘मर्यं न योषे’ति पुनरुक्तमेव सति स्यात् न इति चेदस्तु मर्यं देवर विधवा योषा इवेति सामानाधिकरण्येनैवान्वय, उरमार्थकनकारद्वयप्रयोगस्तु सादृश्यदाढ्याय भवतु । भवतु वा ‘मर्यं—मरणधर्मा णमध कुक्कुर वा यथा योषा बडवा गुनी वाऽभिमुञ्चिकरोतीति’ द्वितीयेयमुपमा शब्दाना रुटिरेव सति विरोधिता स्यादिति चेन्न तवापि जारशब्दस्य रुटि विरोध शिरसि पतित एव अभियुक्तव्याख्यातृवचोविरोधभाष्युभयोस्तस्य एवे ति । अथ च—

‘यमो ह जातो यमो अनिश्च जार कनीनां पतिर्जनीनाम्’

(ऋ० १।६६।८)

इति याम्ये मन्त्रे ‘कनीना—कन्यकाना जार—इति विशेषणबलात् कन्यका जारत्वमपि धर्म्यमित्यभिमत्येत ।

आ ते कारो शृगवामा वचासि ययाथ दूरादनसा रथेन ।

नि ते न सै पीप्यानेव योषा मययिव कन्या शश्व चैते ॥

(निरु—२ अ)

इति मन्त्रे च ‘मर्यायेव कन्या परिभ्रज्जनाय निनमा इति वा’ इत्येव यास्का चार्थेण व्याख्यातामुपमामनुसृत्य कन्यापरिभ्रज्जस्यापि धर्मत्वमापद्येत ।

‘विभिर्द्वा वरत एक या सह प्र प्रवासेव वसत’

(ऋ० ८।२२।८)

इति चाविर्देवतेन मन्त्रेण द्वावश्विनौ निभिरश्वैश्चरत, एकया च सह वसत, प्रवासे यथे' ति माधवाचार्ये कृतमाश्रयेण प्रवासे द्वयो पुरुषयोरैकया स्त्रिया सह सत्रासो धर्म' इति प्रकल्पनीय स्यात् ।

‘एथगमन् पतिकामा वनिकामोऽइमागमम् ।

अश्व कनिकद्वयया मगेनाह समागमम् ।

(अथ० का० २ अनु० ५)

इति चोत्तिमङ्गीमनुसृत्य पतिकामाया स्त्रिया, 'जायाकामस्य पुरुषस्य च वडवी कामयमानस्याश्वस्येव तत इत आहिष्णन, प्रशस्य धर्म्यमित्यवधार्येत । किं च—

धृतवता आदित्या इधिरा आरे मरुतं रहसुरिवाग'

(ऋ० २।२।१)

इति मन्त्रं 'रश्मि-अन्यैरजाते प्रदेशे सूयत इति रहसू —व्यभिचारिणी, सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे, परित्यजति, तद्वत्—हे आदित्या आग, मदारे-मत्तो कर्तं कुर्वत' इति भाष्यकृता माधवाचार्येण व्याख्यातमनुसृत्य पुष्पान्तरव्यभिचारस्य तज्जनिगर्भपरित्यागस्थापि च धर्म्यत्वं दुर्निवारमेव सति स्यात् ।

यस्मा ऋण यस्य जायामुपैमि वं याचमानो अश्वैमि देवा ।

ते वाच वादिशुर्मोक्षरा यदेवपनी अम्बरकावधीत ॥

(अथ० ६, १०, ११८, ३)

इत्यस्मिन्ध मन्त्रेऽम्बरका प्रार्थको वक्ता स्वस्मिन्मन्त्रेषामृणधारण परेषां स्त्रीषु गमनं च व्यवहरतीति तावता तदुभयस्य धर्मत्वं केन वाय्येत ।

किमन्यत्—“अत्रा षता दुहितुर्गर्भमाधात्” (निघ० ४ अ० उद्धृते मन्त्रा भाग) ।

“प्रजापति र्वा दुहितरयभ्यध्यायत्” (ऐतरेयब्रह्मणे)—

इत्यादिक रूपकोषनिबद्ध व्यवहारमापाततोऽवलोक्य ववसाऽप्यनुच्चारणीयस्य कस्यापि दुष्कृतस्य धर्म्यत्वं कश्चिदल्पधीरवधारयेत् । अन्यच्च—

सुवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषावस्तोहंदिपा निह्वयामदे ।

(ऋ० १०।४०।४)

‘मृगण्यवो हिंसा, मृगानिव वय सुवामाह्वयाम्’ इत्यश्विस्तुतिपरे मन्त्रे ‘मृगण्यवो मृगानेव’ इत्युपमयाऽनूदितो मृगयाव्यवहार कथं न धर्म्यं स्यात् ।

अथव हि मूरिदास्तरा वा विजामातुस्त वा श्यालात् ।

अथा सोमस्य प्रयती सुवम्यामिद्राम्नी स्तोम जनयामि नव्यम् ॥

(ऋ० १।१०९।२)

इति च मन्त्रे विजामातेति शशब्द दाक्षिणाजा. श्रीतापतिमाचक्षते, असुसमात् एव बरोभिप्रेत' इति सत्रभवतो यास्त्रस्योक्तिमनुसृत्य 'यस्मै ऋत्या दितिसता' स ऋत्यादानात् प्राक् तदर्थं द्रविण ददाति, स्यालो वा यावद् ददाति, ततोऽपि शयनेऽमिमुखीकरोति तत्कालनमानपरायणा भवति, न तु भर्तारमनुगच्छती'ति "वालसवर्धनं भुक्त्वा बालापरया न गच्छती" त्यादिस्मृत्यनुकूल प्रथमोऽर्थः । दीव्यति—रमते, इति देवर पूर्णं पतिरव, ते यथा विधवा शयनेऽमिप्राप्यर्थं मनुगच्छति अनुम्रियते, इत्यनुमरणविधायकस्मृतौना तथाभूतसदाचाराणा चावबोधको द्वितीय उच्यते । यद्वा 'दिविरैश्वर्यवचन' इति पङ्क्तिविंशतीति सूत्रभाष्यप्रामाण्येन भरणसमर्थं पिता भ्राता पुत्रः प्रत्यनुजो वा देवर, त यथा विधवाभिमुखीकरोतीति—

पितृमातृमुतभ्रातृश्वश्रुश्वशुरमानुलै ।

हीना न स्याद् विना भर्ता गृहणीयाऽन्यथा भनेत्

(याश्वल्क्य)

इति स्मृत्यनुकूलोच्य तृतीयोऽर्थः । 'दीव्यति—इष्टे इति देवर वाक्कादीश्वर एव, ते यथाऽमिमुखी करोति विधवा, केवलमीश्वरमाराधयतीति तद्वर्धनबोधकश्चतुर्थोऽयमर्थः । "विजामातेत्यसमात् एव बरोऽभिप्रेत" (नि० ६।१।१) इति यास्त्रोक्तमेव निश्चयवाक्यानमनुसृत्य वि - असुसमात् पाणिग्रहणेन पूर्णं पतिमावमप्राप्त, घनो यस्या सा विधवेत व्याख्यया वाग्दत्तानियोगबोधको मन्वाद्यनुकूल पञ्चमोऽर्थः । तदित्य सम ति स्मृत्याचाराद्यनुकूलोऽर्थपञ्चके केवलयाऽन्यैषोपमया विधवास्तु यथेच्छमाचरेतुमभीप्सन्त कथं न साहितिका । रुढ्यादिमङ्गापत्याऽनमिमता इमेऽर्था इति चेन्नतु पूर्वोदाहृतमन्त्रेषु यदेच्छ व्याख्यास्यतस्तवापि दुर्निवार एव रुढ्यादिमङ्ग । पूर्वोदाहृतमन्त्रेष्वपि रुढ्याद्यानुकूल्येन व्याख्याने तु तत्र तत्रोक्ता जारचौरादिव्यवहारा अपि घर्मा प्रसजन्ते । अनुवादमात्रेण न तेषां घर्मस्व विषयभावादिति चेत्सम प्रकृते विधवोद्वाहेऽपि नैव घर्मस्वम् । तस्मात्सर्वथाप्यसामञ्जस्येन नेयमुपमा विधवोद्वाह नियोग वा कथमपि घर्मस्वत्वन बोधयितु प्रभवतीति सम्यगेतत् प्रत्यपीपदाम् ।

अस्यापि मन्त्रस्य यदिद निरङ्कुशानामुन्नतप्रल्पितमिवोत्सव्नायितमिव वा स्वतन्त्र व्याख्यान्तर तदपि परिशुनप्रज्ञेभ्यस्तत्वाण्डित्यपरिचायनाय स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रियेति न्यायेनानुदितव्य तद्यथा—'धे (अश्विनौ) विवाहितौ स्त्रीपुष्यौ युवा (कुह) कश्मिन् स्थाने 'दोपा' रात्रौ 'वस्तो' वसथ, (कुह०) अश्विना दिवसे क

वास कुरुष्य (हामि०) कुदामिष्व प्रातिं करत कुरुत (कुहोपतु) क युवयो निजस्थान वासो (!) स्ति । (को वा शयुत्रा) शयनस्थाने युवयो वाम्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रदनेन द्विचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्रीय कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्या स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयो परस्पर सहैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवतामिति शीत्यते । (विधवेव देवरम्) क केव, यथा देवर द्वितीय वर नियोगेन प्राप्ता विधवा इव । अत्र प्रमाणम् देवर कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते (निर० अ० ३ ख० १५) विधवाया द्वितीय पुरुषेण सह नियोगकरणे आशास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवाया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यात् कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवाया सह (!) च । अर्थात् कुमारयो स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाह स्यात्, पुनरेव नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवार विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णं एव विधीयते, तस्य विद्याभ्यवहाररहितत्वात् । निमोगिनौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्पर वृत्तामित्यत्राह (मर्यं न योषा) यथा विवाहित मनुष्य (सद्यस्ये) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्पर नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्तयताम्” इति (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-नियोगावयवे पृ० २२२) तदस्मिन् विद्वच्चेतश्चमत्कारावहे स्वैरव्याख्याने अश्विचन्द्रस्य विवाहितस्त्रीपुरुषार्थकत्वे किंवा प्रमाणम् किंवा स्त्रीपुरुषयो शयन स्थानभेदासया वेदप्रवक्तुरीश्वरस्यावयवस्य वाकिमपि प्रयोजनम्, किं च विधवेव देवरम्, मर्यं न पोषेत्युपमाद्वयाभ्यामुपमेयम्, कथं च विधवेव देवरमिति साक्षाच्छ्रुत्तोपमानभावस्य स्वयमपि चोपक्रमे उपमानतयैव व्याख्यातस्य शेषे मर्यं न योषे त्येतदुपमेयत्वप्रकल्पनम्, का च मध्येमध्ये समुद्घुष्टानां राजाद्यानां शान्दी गति रित्यादि सर्वनिदमशैकिकप्रज्ञो ष्पारयातानुप्रष्टव्य, कथं च तदाशवैश्वर्येण विधवोद्वाहाय यावद्वल्लवैमन विचैष्टन्त इति च तदीया अनुमष्टव्या । मन्त्रस्य तु प्रामाणिकमर्थं निरुक्तकृतोऽभिसन्धि च प्रागेव ष्पवास्थापयाम इत्युपरम्यते विस्तरात् ।

अयेद प्रमाणान्तर विधवोद्वाहसमर्थकित्वेनावतारयन्ति—

या पूर्वं पतिं विद्याऽथान्य विन्दते परम् ।

पञ्चोदनं च तावज्ज ददातो न वियोपत ॥

(अथ० ६ का० २० १ ३ १ २७)

तदमे च—

समानलोकौ भवति पुनर्भुवा पर पति ।

योऽज पञ्चोदनं दक्षिणा ष्पौनिय ददाति ॥

अप्राचीदमेव प्रतिवृत्त्यम्—न भ्रूयतेऽत्र पुनरुद्वाहविधिलेशतोऽपि । पञ्चौदन-
प्रशसाप्रकरणे समाम्नातयोस्तत्रैव मुख्यतात्पर्यवतोरनयो पूर्वस्मिन् मन्त्रे पूर्वं पति
परित्यज्यान्य धिनवर्ती स्त्रिय तत्परिं चोद्दिश्य पञ्चौदनमिश्रिताजदान विधीयते, अवि
योगश्च तत्पत्न्येनानुवर्ण्यते । उत्तरस्मिन्पि पञ्चौदनमिश्रिताजदानं सदक्षिणमनुष्ठितवन
पुनर्मूर्धते पुनर्मूषालोक्यरूपलसम्बन्धो विधीयते । शालोक्य चात्र समानस्थानत्वम्,
समानमुन्वत् समानोपमोगकृत् वा । मुन्वे स्थाने उपमोगादौ च लोकशब्दप्रयोगस्य
बहुशः श्रुताधुपलभ्यमानत्वात् । तदित्य पत्यन्तरानुसरण केवलमत्रानूदितम्, न तु
प्राधान्येन तद्विहितम् । एव च यथा 'श्येनेनाभिचरन् यचेते' त्यादौ यद्यभिचार-
मिच्छेत्तदा श्येनेन यचेनेत्यर्थके विधिसस्पर्शमन्तराऽभिचारस्य नास्ति क्वयपि धर्म
त्वमिति सुस्फुट निर्णयि पूर्वतन्त्रे (मीमांसायाम्) ।

कार्यकारणमात्रमान तु तत्र श्रुत्याववाध्यते श्येनयाग शत्रुमारणसाधनमिति ।
तथैव खलु श्येनाधिकरणन्यायेन प्रकृतेऽपि विधिसस्पर्शमन्तरा नास्ति पत्यन्तरवेदनस्य
धर्मत्वम्, कार्यकारणमात्रमानन्तु श्रुत्या बोध्येत पत्यन्तरमनुगता पञ्चौदनेनावियुक्ता
भवतीति । यदेव खलु श्रुत्या विधीयते तदेव धर्म स्यान्न तु श्रुत्यानूद्यमानपि धर्म
स्यादित्यसकृदवोचाम । विधीयमानस्य चानुवर्ण्यत्वमेव, न च प्रकृते मन्त्रे पत्यन्तर
वेदनमपूर्वं बोध्यते 'या पर दिन्दते' इति यच्छब्दादिना केवलमनूद्यन एवेति न
परोक्षमिदं पण्डितानाम् । तस्मान्न समवति विधवोद्वाहविधानेऽनयोरपि मन्त्रयो
प्रामाण्यम् ।

ननु च मो यदि न स्यात्पत्यन्तरानुसरण धर्म्यं तत्तर्हि मन्त्रे भ्रयमाणोऽय पञ्चौ
दनविधि क्वावकाश विन्देत् । न ह्यधिकारसपत्तिमन्तरा कश्चिद्विधी प्रवर्तते, अधि
कारिविशेषणतया चात्र पत्यन्तरवदनं पुनर्मूर्धतिश्च चानुभ्रूयते, तच्चेदमुभयमपि
धर्ममार्गोदपेतमिति ब्रवीथ, तथा च श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यवादिनामास्तिकाना धार्मि
काणा विध्यधिकारसपत्तिसेवासम्बन्धिनीति प्राप्त विधिवैयर्थ्यम् । सोऽय विधिरेवानुप-
पद्यमान पुरुषान्तरवेदन स्त्रिया पुनर्मूर्धतिश्च च पुरुषस्य स्वाधिकारितारुपत्तये
रथकाराधिकरणन्यायेन प्रकल्पयेत् । 'वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीते' ति हि विधी
रथकारेण विद्यासम्बन्धमन्तरानुपपद्यमानो विद्या तत्र प्रकल्पयतीति नैव निरोहितो
मीमांसकाना घण्टाशेष, तथैवाधिकारिताप्रकल्पन केनात्र विधेर्वीर्येण इति चेन्नैतत्त
भ्यगनुपपद्यन्ति भवन्त । यथा हि श्येनयागादौ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी' ति
प्रतिषेध तीरक्रोधाकान्तस्वान्ततयातिक्रान्त एव भद्रपथिकारी, त च यागविशेषम-
नुतिष्ठेत्तत्पत्न्यपमुज्जानोऽप्यसा उत्तरकालेऽवश्यमनर्थेन सुख्यत एव, धर्मातिक्रमणात् ।
अत एव च श्येनयागादेर्धर्मस्य वारयितु 'वेदप्रतिपद्य प्रयोजनवदयो धर्म' इत्य
र्थपद लक्षणे निवेशयन्तो जैमिनीया, अनर्थे च श्येने ब्रुवते । तथैव तुल्यन्यायात्
प्रकल्कामयवशीकृता पुनरुद्वाहप्रतिषेधशास्त्र शिष्टाचार चातिक्रान्तैव पुनर्मूर्धतथैव

प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रान्तस्त्वतिश्च भवतीतिनाधिकारिणी । इत्यमेव सामयस्येऽधिकारि
 तावपत्तये पुनश्चाहविधिप्रकल्पनस्या तैगौरवप्रस्तथात् प्रदर्शयिष्यमाणपुनश्चाहनिषे
 धवाक्यविरोधापत्तश्च । यथा च पञ्चोदनानुष्ठानेन तत्पञ्चमूतादियोगविद्धावपि भव
 देवोत्तरकाले प्रतिषेधातिक्रमणहृत्कोऽनर्थ इति सुख्यम् विभाव्यताम् । रथकाराधि
 करणे हि न विधिमन्तरं भवति वेदाध्ययने प्रवृत्तिरित्यगत्याध्ययनं कल्प्यते । इह
 तु रागत एव पुरुषान्तरानुसरणादौ सिद्धा प्रवृत्तिरिति न तदर्थमपि वचनव्यापार
 उपकल्प्य । ननु च रागनोऽतिक्रान्तप्रतिषेधा पुनर्भू पातित्येन युज्येतोत कृत
 स्तस्यास्तत्पतेर्वा शास्त्रविहितकर्मस्वधिकार, पतिताना शास्त्राधिकारबहिर्भूतत्वात् ।
 तथा चाधिकारिणोऽभावात् पुनरपि निधिवैयर्थ्यं प्रसक्तमिति चेन्नैतदेवम् । सर्वपि
 पातित्ये निषादस्यपत्यधिकारग्न्यायेन कर्मविशेषे विधिनैवाधिकारस्य कल्पनीय
 त्वात् । यथा हि 'निषादस्थपति याजयद्' इति विधिरनुरपद्यमानतया वर्णत्रय
 बहिर्भूतस्यपि निषादस्य कर्मविशेषेऽधिकारिता प्रकल्पयति तद्देवायपि विधि
 कर्मविशेषे पुनर्भूतेरप्यधिकारिता प्रकल्पयिष्यतीति सामञ्जस्यात् । न चैवमप्यपूर्वं
 कल्पना शिरसि पतितैवेति पण्यन्तरानुसरणमत्र धर्मत्वेन कल्प्यतामिति भ्रमिन्व्यनू ।
 अपूर्वविधिप्रकल्पनापेक्षयाऽधिकारितामानप्रकल्पने लाघनस्य सुख्यत्वात् ।
 वचनान्तरविरोधस्य चान कल्पऽनवतारात् । अस्तु च प्रायश्चित्तादिनिधिविषये
 पतितादेरेवाधिकारित्वं श्रुतिस्मृत्याचारसिद्धमिति तद्देवात्रापि कर्मणः पतितस्यैव
 पुनर्भूतेरधिकारिताऽस्तु । तथा हि—मत्र लिङ्गमनुसृत्य प्रायश्चित्त एव भगवता
 कौशिकेन विनियुक्ते—

यस्मा श्रुण यस्य जायामुपैमि य याचमानो अम्पैमि देवा ।

ते वाच वादिपुर्मोक्षरा मदेवज्ञी अप्तरतावधेःम् ॥

(अथ० ६, १२, ११८, ३)

इति प्रागुदाहृते मन्त्रे पारदारिकादेरेव अधिकारित्वं सिद्धयति, एतावत्तु न द्वादश
 वार्षिक्यादिप्रतेषु ब्रह्मशादे मुरापादेरेव चाधिकारित्वं सर्वसिद्धम् । ननु प्रायश्चित्तस्य
 पापापनोदकत्वाद्भवतु तत्र पापिनामेवाधिकारिता, तत्कर्मविधिमन्तरा पापापनोद
 नस्याशक्यत्वात् । कर्मन्तरेषु तु पतिता किमिति शङ्केणाधिक्यं ते । एव हि
 शिष्टैकसमाभ्यणोयना शास्त्रस्य भवति, पतितेऽपि च कर्मसु लोका प्रोत्साहिता
 भवन्ति इति चेद्विपरीतमिदं दर्शनम् । येऽपि खलु प्रकृतानां तनोदकला कामदोष
 लोमादिनाऽनमिमवनीये वशीकृता सात्त्विकराजसादिषु कर्मसु सर्वथा प्रवर्तमानान्
 शक्याः, ये वा देहात्मवाद एव पर विश्वस्ता परलोककर्मव्ययनान्नोऽनम्युपगच्छन्त
 एव परलोकैकपलेषु कर्मसु न प्रवर्तन्ते तेषुपि परमकारणिकेन शास्त्रेण स्वस्वमि
 पितानुसूत्रेषु दृष्टफलपु ताम्नादिभ्यः कर्मसु कार्यकारणमाध्वविशयमनुसोष्य प्रवर्तयता
 कथञ्चित्स्वमर्यादात्र चेदनुप्रवेद्वन्ते । एव हि दृष्टफलप्रत्ययेन शास्त्र विश्वगत क्रमणा

दृष्टलोभनि कर्मसु प्रवृत्त्यन्ति, शास्त्रविधिमाश्रिताश्च प्राकृतिकं तमोबाहुल्यं शनैः शनैरपहास्यन्तीति । तस्मादेतादृशतमोबहुल्लोकानुग्रहाय प्रवृत्तं तदर्थमेवोपयुज्यते एवंनिर्धं शास्त्रम् । स्वप्रकृत्या विधिप्रतिषेधशास्त्रमतिक्रमत्तथापि तानेव पुनः पुनरनुग्रहसुदृढया स्वविहितकर्मसु अधिकारमत्रोपभावबोध्यं प्रवर्तयति, गुडबिहिक-यैव हि बालान् कटुकौषधपाने प्रवर्तयन्ति भिषग्बराः कारुणिकाः । शिक्षानान्तु प्रकृत्यैव शास्त्रेषु विश्वसतां प्रतिषेधशास्त्रातिक्रमणभीतानां पारदार्यं पुनर्मूर्खतिरवादिषु प्रवृत्तिरेव न जायत इत्यधिकारसप्तत्रिंशद्द्वयान्यैवविधानि कर्मणि तेषूपयुज्यन्ते । अधिकारिनिरोधगत्तेऽपि न पारदार्यादीनां धर्मत्वमिति व्यवस्थापितमेव किं प्राक् । न च शिक्षानामधार्मिकी प्रवृत्तिरिति नात्र किमप्यसमञ्जसमापद्यते नाम । अत एव च तामगानपि लोकाननुग्रहीतुं शास्त्रविधौ च कथंचित्तान् प्रवर्तयितुं मारण मोहन-दशीकरणादीनां दूषतविजयादीनामपि चाम्युपायभूताः प्रयोगविशेषास्तत्र तत्र विधीयन्ते तथा हि ।

इमा खनाम्पोषधि वीरुधा बलवत्तमाम् ।

यथा सपत्नी बाधते यथा सविन्दते पतिम् ।

(अथर्व० ३ । ४ । १८ । १)

इति मन्त्रे सप्तनीबाधनस्य तद्वशस्य पर्युः पुनः प्राप्तेक्षाम्युपायः भवते । कृत्स्नमपिसूक्तमिदं पूर्वापरपर्यालोचनया सपत्नीबाधन एव व्यवनिष्ठते । मन्त्रलिङ्ग-मनुसूत्रस्य च कल्पसूत्रकृता नम्रमरता कौशिकेनापि सपत्नीबाधनाम्युपाय एवेदं विनियुक्तम्—‘इमा खनामीति वाणापर्णी लोहिता जाया द्रष्टेन सनीय शयन-मनु परिकिरति’ (कौशिकसूत्र ४ । १२) इत्यादिना । ‘इमां खनामीति तृतीयस्कन्धेन सपत्नीबाधनकर्मणि वाणापर्णीरत्रचूर्णे लोहितवर्णा जाया दध्युदकेन समिधय अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत्’ इति चावतारितं माध्यकृता माघवाचाप्येण । न च सपत्नीबाधनं भवेदभ्यर्च्यम् अथापि तत्र प्रवृत्तायास्तदभ्यु-पायो निधीयत एव ।

उत्तुदस्तोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इधुः कामस्य या भीमा तथा विध्यामि स्वा हृदि ॥

आधरिर्गा कामशल्लयामिषु संकल्पकुल्मलाम् ।

ता सुधनतां कृत्वा कामो विध्यतु स्वा हृदि ॥

(अथर्व ३ । ५२५ । १-२)

इदं च सूक्तं मन्त्रलिङ्गनेवानुसूत्रस्य श्लोवशीकरणे कल्पसूत्रकृता कौशिकेनर्षिणा विनियुक्तम्—“उत्तुदस्त्रेपरहृगुण्योरनुदति, एकविंशतिं प्राचीनकण्टकानलकृताननू-क्तानादधाति । सितानकण्डया हृदये विध्यति” (कौशिक० सू० ४ । ११) इत्या-दिना ।

यथा वृक्ष लिङ्गज, समन्त परिपट-जे ।

एवा परिष्वजस्व मा यथा मा कामि यन्ते यथा मन्त्रापगा अस ।

(अथ० ६ । १ । ८ । १)

इदमपि सूक्तमर्यानुसारेण स्त्रीवशीकरणबोधकम्, तत्रैव श्रौते विनियुक्तं च ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्नि उन्मादया स्वमसौ मामनुशोचतु ॥

(अथ० ६ । १३ । १३० । ४)

“देवा प्रद्विष्णुत स्मरमसौ मामनुशोचतु” ।

इतीदमपि सूक्त स्त्रिया उन्मादन-विषये देवान् प्रति प्रार्थयते । कौशिकेन (कौ० सू० ४ । १२) तत्रैव विनियुक्तं च ।

स्वप्नु माता स्वप्नु पिता स्वप्नु श्वा स्वप्नु विश्वति ।

स्वप्न्वस्वै ज्ञात्य स्वप्नवयमभितो जन ॥

(अथ० ४ । १ । ५ सू०)

एष खलु स्वप्नप्रयोग । इदं सूक्तमवतारयति भाष्यकृन्माधवाचार्य — ‘सहस्रशृङ्ग’ इति सूक्तेन स्वप्नभिगमने तस्य स्तत्परिस्वरवर्तिना च स्वप्नार्थमुद्राप सपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशाला प्रोष्य शेषमभ्यन्तरद्वारेभिनयेत् । सूत्रित हि- ‘सहस्रशृङ्ग इति स्वप्नम्, उरपात्रेण सरातवता शाला सयोक्ष्यापरस्मिन् द्वारपक्षं न्युञ्जति’ (कौ० सू० ४ । १२) इति । इदं च स्वप्नमुन्मादन वा परदारसक्त स्वैवोपयुज्यते-इति नैतद्विधिष्व प्रतिपादनाहम् । न हि परदाराभिगमन धर्म, अथापि तदासक्तस्य तदभ्युपायो विधीयत एव ।

उद्भिदन्ती सजयन्तीमम्भरा साधु देविनीम् ।

ग्लहे कृतानि कुण्ठानामम्भरा तामिह हृवे ॥

(अथ० ४ । ३८ । ३८ । १)

सा न कृतानि सीपती प्रदामाप्नोतु मायया ।

सा न पयस्वयेतु मा नो जैश्वरिद धनम् ॥

(पूर्वोक्ते सूक्ते ३)

अत्र द्युते विजयप्राप्त्यर्थमम्भरसामाह्वानं मन्त्रार्थं प्रतीयते । कल्पसूत्रकारश्च मगवान् कौशिकस्तत्रैवास्व सूक्तस्य विनियोगमाचष्टे । ‘पूर्वोस्वापादासु गर्तं खनति’ इति प्रकम्य ‘उद्भिदन्ती सजयन्ती, यथा वृषमश्रानि, इदमुपाय, — इति वासितानध्वान् निर्दपति, (कौ० सू० ५ । ५) इत्यादिना ।

यो न शपादशपत शपती यश्च न शपात् ।

दुने पद्ममिवाक्षाम तं प्रयस्यामि मृतपवे ॥

(अथ० ६ । ४ । ३७ । ३)

केनचित्कृतस्य मारणाद्यभिचारस्य प्रत्यभिचारोऽप्यम् । “यो न शपात्—इत्यनया अभिचारकर्माण विद्युद्धतवृत्तजा एकादश समिध आदध्नात्” (कौ० सू० ६।२) इति तद्विनियोगमाह कल्पसूत्रम् । न हि मारण प्रतिमारण वा धर्म, अद्यापि प्रतिषेधमतिक्रम्य तत्र प्रवृत्ताना तदभ्युपायो विधीयत एव ।

“कलीव कलीव त्वाकर वध्रे वधि त्वाकरमरकारस त्वाकरम्”

(अथ० ६ । १० । १६८ । ३)

ये ते नाख्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्यम् ।

ते ते भिनद्धि शम्ययाऽमुष्या अधिमुष्क्यो ॥

(पूर्वोक्त सू० ४)

सूत्रकृताऽभिचार एव विनियुक्तयोरनयो परस्य क्लीवतासमादनमर्थं प्रतीयत एव । न हि चैवविधानि कार्याणि धर्माणीति शक्यत कनाप्यभ्युपरन्तुम् ।

तथा सत्यधर्मशब्दार्थस्यैव त्रिलोपापत्ते । तस्मात् क्रोधलोभादिना य स्वयमेव धर्मस्य विधेयु प्रवर्तते न शक्यते प्रीतिषेधास्त्रेण निवारयितुम्, सप्रति तत्तदभीषितसिद्धयरायमात्र शास्त्रेण विधीयते, पातकन्तु तत्तदनुचितकार्यकरण प्रयुक्ते नियतमेव । तन्तत्कार्याणां शास्त्रेणाविधानात् । उपायमात्रस्य विधानात् । यदि शास्त्रेण नापि कश्चिदुपायो बोध्येत, अद्यापि स कथमपि स्वामीषित साधयेदेव, तीव्रतरमाविश्रवात् । शास्त्रविधिर्वहिर्भूत सर्वथाऽमान मन्यमानस्तु स विराय पतेदेव, स्वमनीषामात्रेणोपायान्तराध्वारचयैश्चानर्थांतराण्यप्युद्गापयेत् । शास्त्री यैरेवोपायैर्व्यवहरस्तु क्रमेण शास्त्रेणुपवीयमानविधातो विधिप्रतिषेधशास्त्राणि सर्वो णपि विश्वस्य प्रायश्चित्तादिना वीतकल्पस्य सदाचारोऽपि स्यादित्येवामिसन्धि कारुणिकस्य शास्त्रस्यत्यल प्रसक्तानुप्रसक्तता ।

तथा च वशीकरणदेवनाद्युपायवत् पुनर्वास्तपतेश्चाविषोगसाधन धर्ममात्रमत्र विहित प्रतिपत्तव्यम्, न तु पुनर्विवाहस्य धर्मस्य दोषाभ्युपगमनात् सिद्धयति तस्य शास्त्रेणापिहितत्वादिति चिरमिदं दरमुकुलितनमनुबन्धेयम् । यदि तु धर्मस्य तत्राग्रहेणाम्युपगम्येन, तत्तर्हि पूर्वोक्तदृशित वशीकरण देवन मारणकलीवकरणादिष्वपि धर्मस्य दुर्निवारमेव प्रसज्येतेति ।

केचित्तु कस्मैचिद् वाचा दत्तायास्तस्य वरस्य कस्याचिद् विपत्तौ पुन पुरुषान्तरं धर्ममनुसृत्य विवाहिताया एवाय पञ्चीदनविधि । पति विरता लब्ध्या, पुन अपर पतिं विन्दते इति पूर्वपतिलभमाशानुकीर्तनात् । लामश्च वाचा दत्ताया वाप्यभिमानमात्रेणोपपन्न एव । अस्तु वा ‘विचारणार्थकस्य विदेरिदं रूपम् । तथा च पूर्वं पतित्येन विचार्योन्तर पर विन्दते लभते इति वागदत्ताविपयतैव सुरफुत्मुपपद्यते । पारपातव्या च शास्त्रीय नियममनुसृत्य पुनर्भू स्माते प्रकरणे ।

तद्विषयतयैत्र मन्त्रद्वयमिदमुपादनीयम् । यस्य नस्यापि विध्यधिकारितात्त्वात्मे सर्वत्र
 तत्प्रकल्पनस्यानावश्यकत्वात् । ततश्च सामञ्जस्येनैव मन्त्रद्वयमिदं श्रुतिस्मृत्यविरोधेन
 व्यवस्थापयन्तीति, अथार्थान्तरं वा व्याख्यास्याम । या पूर्वं पूर्वकाले, अपूर्वमिति
 निष्ठत्वात् निलक्षण स्वाभिमतमिति पतिविशेषणं वा, पति निरा लब्ध्वा अथ पति
 वेदनानन्तरम्, अन्य तदतिरिक्तं पुरुष, पर विन्दते परमेव लभते परमेव
 जानातीत्यर्थः । अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेर्विकरणस्यैव चान्दसेन
 विन्दत इति रूपम् । तेनान्य परमेव विचारयति ह्यपत्तामेव सम्यगनुरक्ता मन्तरस्य
 येन पतिव्रतैव पूर्वोद्धेन स्यात् । तथा च परपुर्वियोगमसहिष्णुतामुद्दिश्य 'पञ्चोदन
 च तावजम्' इति पञ्चोदनविधानम्, अवियोगस्य च तत्फलत्वेनानुवर्णनं सम्यगसमे-
 वोपपन्नम् । द्वितीयेऽपि मन्त्रे 'पुनर्भुवा पुनर्भवति जायत इति तथाभूतया द्वितीय
 पत्न्या इति यावत्, पर उत्कृष्ट धर्मशील, पति, समानलोको भवति, न कदापि
 वियुज्यते' इत्येवमर्थके पुरुषस्यैव द्वितीयो विनाह कथमपि सिद्धयति न तु स्त्रिया ।
 न चैव पुनर्भुवाब्दस्य रुटिर्विरुध्येत्, श्रुतौ तस्य रुटस्यै प्रमाणाभावात् ।

सनाहिव परिभूमा विरूपे पुनर्भूता युवती स्वमिरेवै । (श्रु १।६२।८)
 इत्यादौ हि सर्वैरेव पुन पुनर्जायमाने युवती राशुषसी इति पुनर्भुवाब्दार्थो यौगिक
 एवाख्यायते । तथेवात्रापि, नन्वस्तु यौगिक एव द्वितीया स्त्रीति पुनर्भुवाब्दार्थः ।
 तेन स्त्रिया पुनर्विवाह सर्वथैव न विषयीकरोति मन्त्रद्वयमिदमिति । अन्तेऽपि स्वय
 मूढ्याः सुधीभिरर्थभेदा, युक्तायुक्तता च तयोर्विवेच्येति तृतीयमपि सम्यक परोक्षित
 प्रमाणम् ।

तद्विद्यमानपातत कथंचिद्विधवोद्वाहपरत्वेन समापमानेषु मन्त्रेषु विस्तरेण स्फुट
 वास्तविकार्थबोधनेन तद्विधायकतया व्याख्यातेषु या काश्चन श्रुतय केवर्त मन्द
 मतीन् प्रतारयितुमुप-यस्यन्त तत्प्रक्षपातिमिस्ता अपि सञ्ज्ञेपतो याथाथ्ये व्यवस्था
 प्यन्ते । तत्रैव विवाहकालिकी वरकर्तृवन्द्यप्रार्थना—

इमा त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगा कृणु
 दद्यास्या पुत्रानाघेहि पतिमेकादशं कृधि ।

(श्रु १०, ८५, ४५)

अस्यार्थः—मीढ्व—सेचनकर्ता । इन्द्रा त्वमिमा स्त्रिय सुपुत्रा सुभगा च कृणु
 कुरु । अस्या दश पुत्रानाघेहि—उत्पादय, एकादश न पतिं कृधि कुरु, रक्षेति याव
 त् । देवा एव मनुष्याणा रक्षितास्तत्तच्छक्तिप्रदातारश्चेति वैदिक दर्शनम् । 'देवा
 नामिदवो महत् तदावृणीमहे वधम्' (श्रु ८ । ८४ । १) 'देवानां सख्यमुपसे-
 दिमा व्य देवान् आमु प्रातरन्तुषीवते' (श्रु १ । ८९ । २) इत्यादिभिर्भूयोभि
 र्मन्त्रैर्वहुशो देवकर्तृकस्य रक्षणस्य प्रार्थ्यमानत्वात् । देवनामेव चाध्यात्ममपि तत्

चतुर्दशप्रयोजकत्वात् । तथैव चापि विष्णुदधीश्वरादिन्द्रात्स्वयो दशपुत्रोत्पादन
योग्या प्रजननशक्तिः, क्रिया गर्भधारणशक्तिः पर्युश्वरलीलिता च समार्थ्यत इति
नात्र त्रिपिप्यधिक वक्तव्यं पश्याम । न ह्यस्मिन् मन्त्रे पुनर्विवाहस्य नियोगस्य वा
गन्धमाधमपि प्रतीयते—इति स्फुटमञ्जरमुखानामपि । यत्तु पत्न्यौ श्रूयमाणेषुमेकाद
शसख्या सञ्जातीयैः पतिभिरेव पूरणीया, न तु विज्ञातीयैः पुत्रैरिति पत्युरेकादशत्व
सिद्धये पुनरुद्वाहो नियोगो वाक्यमुररीकार्य इति, तदेतदत्यन्तमुपहासाय प्रेम्भा
वताम् । 'प्रयो वय एहे निवनाम', एकोऽहम् द्वितीया माता, तृतीयश्च पितेत्याद्या
पामर प्रसिद्ध व्यवहारे पितस्तृतीयस्वोक्त्या न हि कश्चिदपि नीनु । पतन् प्रतिपद्यते ।
न वा 'एहे मे द्वे महिष्यौ, तृतीया च गौ' इत्युक्ते तिस्रो गाव एव लोकेऽनुष्यन्ते
केनचिदपि । शास्त्रेऽपि 'श्रुत्वेद भगवोऽध्येमीत्याद्युपक्रम्य 'इतिहासपुराण पञ्चम
वेदाना वेदम् (छान्दोग्योपनिषत् ७ प्रश्न १ ख) 'वेदानघ्यापयामास महाभारत
पञ्चनान्' इत्यादी विजातीयैरेव सख्या पूयते, अवदुष्यते च सम्यक् तथैव सर्वैरिति ।
तत्र च सञ्जातीयैरेव सत्त्वापूरणमिति कुतस्त्योय नियम । तस्माद् 'दशास्या
पुत्रानावेहे' इत्युपस्थिता पुत्रसख्या परित्यक्त्वाश्रयमाणानामनुगस्थिताना दशाना
पतीनां प्रकल्पन सर्वधैचाप्रामाणिकम् । न चात्रैकादशपतय श्रूयन्ते, किन्त्वका
दश पति । पूरणप्रत्ययान्तशब्दोपादानात् । तत्रैकादशस्य पत्युरेव कल्प
मनेन विधानेन द्वितीयादीना दशमान्ताना पतीना किं विधायकमस्तु ! कश्चेद
विवाहे प्रार्थयते वा आचार्यो, ब्रह्मा, ऋषीः, अन्यो वा तत्तत्स्वन्वी । न ताद्
ऋषीः, तस्या 'अस्या पुत्रानावेहे' इति प्रथमपुरुषत्वेन श्रूयमाणत्वात् ।
नापि वरस्य युज्यत इय वक्त्रा एकादशपतिप्राप्तिप्रार्थनामुखेन स्वस्याविलम्बित
यमश्वदनमनप्राथना । आचार्यब्रह्मादयोऽन्ये वा वरवन्धिना कथमेतत्
प्रार्थयन्ताम् । भूयो भूयो विवाहे दक्षिणाधिक्यदोषेन प्रार्थयन्ते चेद् ब्रह्मादय क
एषां हताशानमन्त्रविवा प्रार्थनाननुमन्येत । अहो ! यत्र विवाहे आनुष्मानस्तु
मे परिषन्ता जातयो भूम 'मया पत्वा वरदशियैया स पुत्रान् विदावहे
ऋषीः । अत्रैतु मृत्युरमृत न आगान्' 'मया पत्या प्रजावति एव जीव शरद
शतम्' 'जोवेम शरद शतम्' 'अचोश्चक्षुरपतिघ्नेधि' 'जोषपती पतिलोक
विराज' इत्यादिभिः, प्रतिपदननुप्रार्थनं महल वरवधोश्रिर्ब्रीविता च 'अस्नेव
एव स्थिरा मन्' 'एता पत्या तन्ने सख्यस्व' 'श्रुवाली पं कुल इयम्' सा
नामदुष्का नत्र' 'यदिद् हृदय त्व' इत्यादिभिश्च शतशोऽन्यागामिता प्रार्थ्यते
ऋषीः, तत्रैवनामेकादशपति-प्रार्थनादुपन्यस्यता सम्यगुपदर्शित बुद्धवैभवं,
परा तु शास्त्ररूपशतैस्त्वन्यविधकुट्टितेन ।

यत्तु चनावशते ईश्वर आवापयति । हे इन्द्र विवाहितपते । भूद्व-
हे वीर्यदानकर्त । स्वमिमा विवाहितस्त्रियं (वीर्यतत्रेण) गर्भसुक्ता दुरु । तां)

सुपुत्रा श्रेष्ठपुत्रवती सुमर्गा अनुत्तमसुखयुक्ता वृष्णु कुरु । अस्यां विवाहितस्त्रिया दश पुत्रानाधेहि उत्पादय । (नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादन स्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा) पतिमेकादश कृधि (हे स्त्रि त्वं विवाहितपति एहीत्वैकादशपतिपर्यन्त नियोग) कुरु । (अर्थात् कस्या विदा पत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैः कस्या अभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्त नियोग कुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रिया मृताया सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोग करोरिति । इच्छा नास्ति चे मा कुरुताम्)” इति । सेय व्याख्या मन्त्रानुक्तस्वकपोलकल्पितार्थसदृश्या मुखमस्तीति वक्तव्यम् , इति न्यायमालम्ब्य प्रवृत्ता कुमारार्णामपि यद्यप्युपहासायैव तथापि कौतुकायैव मनाक् परीक्ष्यते कचिद्विशेषमर्थमभिधातुम् ।

(वेदमन्त्रार्थशैली)

भवति एतलु वेद ईश्वरेणैव सर्वशक्ति सर्वश्रवादि वैशिष्टेनोपदिष्ट इत्यास्तिकानां दृढतमो विद्वांसस्तथापि तपस्यता तत्तपानुयोगा बुद्धित्तैरेऽयमाविर्भूतस्तन्मुन्वादि-नि सूनश्रेति तत्तन्मन्त्रार्थानुसन्धानकाले स श्रुतिरेव वक्तृत्वेनानुसन्धेयो भवति । अत एव मन्त्राणा स्नाध्याये कर्मणि वा विनियोगे तत्तदपिदैवतस्मरणमाश्रय कर्मानति “यो ह वा अविदिन् पश्यन् उन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा, स्याण् वञ्छित गते वा पात्यते, प्रमोयते वा पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे वित्राद्” इत्यादिभूतिषु ।

अविदिश्वा श्रुधि उन्दो देवत शीगमेव च ।

योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु य ॥

इत्यादिस्मृतिषु, ‘एतान्यविदिश्वा योऽधीतेऽनुनूते, जयति, लुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वायं यानयाम भवतीत्यादि शुक्ल्यजुर्वेदीयानुक्रमणिकादिषु च । तत्र श्रुपयो मन्त्रद्रष्टार, येषा मनसीश्वरप्रेरणया मन्त्रार्थं मन्त्रा वा आविर्भूता । तदाह ब्राह्मणप्रभाषेण निरुक्तवद् भगवान् यास्क ‘श्रुपेदर्शनात्, स्तोमान् ददशैतवीपमन्यव । तद्यनेनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भुव्यानर्षत्त श्रुपयोऽभवस्तदृषीणामृषित्वमिति दिशायते (ब्राह्मणम्) (निरु अ २ स्व. १२) अन्यत्रापि च ।

यद्येन वाच पदवीयमायस्तामन्वकिन्दनृषिषु प्रविष्टाम् इति ।

(श्रु. १०।७।१३)

‘मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्तानि त्रेयाया बहुधा सन्ततानि’ इति च । (मुण्डकोपनिषत्) ।

“तद्वा ऋषयः प्रतिबुद्धिरे, य उ तर्हि ऋषय आसु” (शतस्ये २।२।१।१४)
 ‘साक्षात्कृतधर्मा ऋषयो बभूवुः’ (निरुक्त १ अ.) इत्यादिषु च तत्तदर्थोत्स-
 द्धृत्त्वमुक्तमृषीणाम् । त एते मन्त्रादिद्रष्टारोऽनुक्रमणिकादिभूपनिबद्धा ।

देवता च मन्त्रप्रतिपाद्योऽर्थः । तदुक्तं निरुक्ते ‘यत्कामं ऋषिर्यस्या देवताया-
 मार्यपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुवच्छे तद्देवतं स मन्त्रो भवति’ इति (निरु.अ.७.७.१)
 आर्यपत्य एवप्रयोजनामिसम्बन्धमित्यर्थः । ततश्च यथा लौकिकेषु वाक्येषु सम्यगर्थ-
 विज्ञानाय वक्तुर्वक्तव्यस्य च ज्ञानमावश्यकं भवति तथैव मन्त्रेष्वपि सम्यगर्थविज्ञानाय
 वक्तुश्चैवंक्तव्यस्य दैवतस्य च विज्ञानमावश्यकमित्येव मन्त्रार्थनिर्वाचकानां दृष्टिः ।
 तथा च तत्तन्मन्त्रदर्शकस्य ऋषेरेव वक्तृत्वमसिन्धाय मन्त्रार्थं प्रवर्तितव्यमिति
 सुस्फुट एवायमर्थः । कर्मसु विनियुज्यमानानां तु मन्त्राणां प्रयोक्त्रा स्वस्यैव तद्व-
 च्छृण्वन्मुसन्धात्वं स्यात्, तत एव तत्तत्कर्मफलानां स्वस्मिन्ननुसन्धानमुपपद्येत ।
 मन्त्रदर्शकेन तेन तेन ऋषिणाप्यनुष्ठितान्येव तानि कर्माणि, स खलु येन येन
 विज्ञानेन यथा यथानुसन्धानेन यथा वा स्तुत्या स्वस्य कर्मणः फलेनामिसंबन्धस्तथैव
 सर्वमप्यस्मदादिभ्योऽप्युपदिदेशेति तच्छिक्षणस्मदादिभिरपि स्वस्य वक्तृत्वमभि-
 मन्यमानैस्तथैव स्तोत्रव्यम्, तथैव भावयितव्यम्, तथैव चानुसन्धातव्यम्, येन
 फलेनामिसंबन्धीयान् । ईश्वरोक्तस्वानुसन्धाने तु नेश्वरस्य फललिप्सा, न वा तेन
 तानि कर्माण्यनुष्ठितानि इति तत्तन्मन्त्रार्थवैवाङ्मुनी प्रसज्येत । वेदार्थनिर्वाचनमेव
 हि लक्ष्योक्तस्य प्रवृत्तेन भगवता यास्केनापि वेदप्रतिपाद्यान् विषयान् सन्नेपतः
 समुदरार्थता ‘अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः’ ‘अथाप्याशोरेन न स्तुतिः’
 ‘अथापि शय्यामिशापौ’ ‘अथापि निन्दाप्रदाते’ इत्याद्यभिधायान्ते ‘एवमुच्चावचैर-
 भिप्रायेष्टृषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति’ इत्युपसंहृतम् (निरु. दैव. का. १ अ.-
 ३ ख.) । तेन मन्त्रदर्शकानामृषीणामभिप्राया एव वेदार्थनिर्वाचने सहकारिणः,
 तन्मुखादेव मन्त्राणां विनि सुतरादिति स्फुट एव तस्य सिद्धान्तः ।

ब्राह्मणेष्वपि चैतरेयादिषु मन्त्रार्थमवतारयितुं ‘तद्देतदृषिः पश्यन्नम्यनूवाच’
 इत्यसङ्कटमिहितम् । तेन मन्त्रार्थनिर्वाचनकाले ऋषीणामेव वक्तृत्वमनुसन्धातव्यमिति
 ननु स्थापितमेव । युक्ततरं चैत् । घन-पुन-शत्रुनाशादियाचनापरागा, पूर्वा-
 परदालसम्बन्धबोधकानां, वक्तृषु क्रोध द्वेषादिविहारबोधकानां, वक्तृषु दुरितादि-
 सम्बन्धं वितृपुत्रादिसम्बन्धं च स्थापयतां, स्वस्मिन्नज्ञानादिसम्बन्धं विविषधर्मसम्बन्धं
 च प्रकाशयतां, नामग्राहं प्रदन्स्तुनियोजनाद्यभिदधता, पारस्परिकं संवादमाचक्षतां,
 शयथाद्यर्थकानां च मन्त्राणां नहीश्वरस्य वक्तृत्वमसिन्धाय सामंजस्येनार्य उपपद्येत ।
 एवमर्थका एव प्रायेण वेदचतुष्टया मन्त्राः, दिङ्मात्रं तूदाहरिष्यान् ।

‘मुच्यतां महमाशीम्या मुच्यतां मुच्यतेन मुच्यते कर्माभ्यां मूयासम्’ (निरुक्तो-
 द्धृतो मन्त्रभागः)

ता व शर्मं शशमायाय सन्नि, विधात्वा दाशुषे यन्तुताधि ।

अस्मभ्य तानि गस्तो निपत रथि नो धत्त दृषण सुवीरम् ॥

(ऋ० मं० १ सू० ८५ मन्त्र १२)

मा नो कधीरिन्द्र मा परादा मान भिया भाजयानि प्रमोदी ।

आश्रमा मा नो भगवच्छक निर्भेन्मा न पावा भेखह चानुपाणि ॥

(ऋ० छं० १। १०४। ८)

इत्याद्या प्रार्थना । यद्गुः जैतादय तय, क एतत्सर्वं प्रार्थयते इंधर
श्रुति, इदानीन्तन (कर्मसु) मन्त्रोच्चारयता वा । सत्र श्रुतिरिदानीन्तनो
मन्त्रोच्चारयता येत्येव युक्तमिति सुगमं पथा । प्रार्थयितुरेव चारमच्छब्दवा
प्यया, तस्यैव च वस्तुवास्तुस्थानेन सामञ्जस्यमर्थस्य ।

अग्निमळि पुरोहित यज्ञस्य देवगृत्विजम् होतार रत्नधातमम् ।

(ऋ० १। १। १)

इत्याद्या स्तुतय, सद्य एव मन्त्रा मायेण स्तुतिपठिता । स्तोत्ररेवाश्रा-
प्यारमच्छब्दवाप्यया वस्तुवास्तुस्थानं च युक्तिम् ।

अग्नि पूर्वमिष्टुर्विमिरीष्टयो नूतनैवत । (ऋ० १। १। २)

अतु प्रत्नसौकषो हुये तुविप्रति नरम् । ये ते पूर्व पिता हुये ।

(ऋ० १। १०। ९)

आभोग्य प्र यद्विन्दन्त ऐतनापाका प्राज्ञो मभ केचिदापय ।

सौधन्वनासधरितस्य भूमागच्छत सविदुर्दाशुषो यदम् ॥

(ऋ० १। ११। १)

किवात्या यत्समया भवाति वा ध्युधुर्वाध नूनं शुभुञ्जान् ।

(ऋ० १। ११। १०)

विष्टीमथ पारयथ सद्ग्राह्युनधमशनं चक्रपुंशार ।

(ऋ० १। ११। १६)

इत्यादिषु वस्तुवेषया पूर्वकालोऽप्यर्थे कुर्यात्प्रभासते । य च द्रष्टव्यामृषीणा
मपेश्यैव पूर्व संभवेऽनु कर्तुं जगदीश्वरस्यादेशया ।

ये मां क्रोधयन्ति सपिता हस्तिर्न मशका इव ।

तातह मन्वे दुर्हिताः जने अल्पशामुनिव ॥

(अथ ४। १६। ७)

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य एवं प्रायेणाप्यायस्य ।

का ह्य ष्याशिषीमहि गोभिरथै प्रजया पशुभिर्पैर्हर्षनेन ॥

(अथ ७ का ८। १५)

न किंदा निनीमि न किंदा येनपन्ते ।

न वक्षुपं चरन्ति (श्ल० १० । १३४ । ७)

रुद्रोऽपि बहुत्र हरस्य हृत्पदं चिन्तयन् ननु तस्य कर्मकारिणं च प्रकथयते ।
नैव तदेव चरन्तीति वादोऽपि ननु तदुच्यते ।

अथ हृत्पदो निरुत्तमश्चेति ननु ।

नानादिषु वक्षुपेऽपि ना ह्येव तस्येव ।

इन्द्रोऽपि पतिवत् । श्ल० ७११३ । १

हरश्चैव हरस्य हृत्पदस्य दुरितेषु निविष्टकर्मकारित्वं प्रकथयन्ते, 'अथ ह्येव
पृच्छान् श्रुत्वा कथयते न ह्येव हि पुत्रं पुत्रुश्चे शोभ्य च शिरान्नाह्वयं कर्म निवृत्तं
ता नो विनेहि यत्रिषा हस्तिम् ।

(अथ० ३२/११७)

य एवा देवलो मनवे बहुनेह पतिवत् ह्येववाहन ।

य कश्चे नेषातिपिबन्सुव य वृषा यदुनसु ॥

(श्ल० ११६११)

कथं नो वा ब्रह्म कृष्णनरकरो तेषां सुशुशुते हवन् ।

(श्ल० ११७१२)

यानि कथननिर्दिष्टानि भावत पुवनश्चिना ।

(श्ल० ११७०५)

अथ हं त इन्द्र गोमन्त्रिणां श्लोका नमसा हरिभ्याम् ।

सुदेशत वज्रानरा न प्राप्सन्तु विना बहुर्जन्मात् ।

(श्ल० ११६३१९)

इन्द्रोऽपि शशो मन्त्रेषु श्रुत्वा नानमहमूर्त्तिकं सृष्टि-मार्थना-प्रदना
दिकमहमूर्त्ते । कथनं चतुर्दशविंशत्युत्तम्यं समवेत् ।

तद्यथा आनिर्वादनं कथिता स्तोत्रो तु न । (श्ल० ११२२८)

आ त्वेता निषादतेन्द्रनने प्रगापत ।

तत्रापि स्तोमनहत् । (श्ल० ११५११)

परैरे विप्रनसूतनिन्द्रं पृच्छा निरक्षितम् ।

यस्ते हस्तिम् आ जम् (श्ल० ११५१४)

इन्द्रोऽपि परात्तस्य उवाच प्रत्यनिर्वापते ।

(यजुर्वेदोक्तं इति श्रुत्वा)

अथा मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततपपूर्वपरस्य अथा स वारैर्दं
अभिर्विद्युया यो मामोथ यातुधानेत्याह ।

(ऋ० ७।१०४।१५)

इत्यादौ च शपथ उल्लिख्यते । कुत श्रुतिसमुद्रावगाहनेऽस्मादृशा शक्ति ,
स्वयमालाभ्यतामधिक जिज्ञासुभि । सर्वमप्येत मन्-द्रष्टृणामृषीणा कर्मसु दीक्षिताना
वा वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थकरण समुपपद्येत, न तु जगदीश्वरस्य वक्तृत्वमनुसन्धाय
कोऽप्येषामर्थं स्यात् । ननु जगदीश्वर एवास्मदादीनेव स्तोत्रमेव प्रार्थयितुमेवमूलं
लितु च शिष्ययतीति न तस्य वक्तृत्व हीयत इति चेन्ननु को ब्रूते नेश्वर
शिष्ययतीति । सर्वथैवाशक्तोऽल्पश्रवाय जीव ईश्वरपरतन्त्रो न सन्दिदतुमप्यल
तदनुग्रहमन्तरा किं पुनर्विज्ञाननिधिमेवमिध वेद द्रष्टु कर्तुं वा । ततश्चेश्वरप्रेरण
यैवाधिगतो वेदो महर्षिभिरीति निरस्तसदेहमक्तुब्ध हृदतम विश्वसिम । येषानु
मुखादीश्वरेण प्रकृतिता मन्त्रास्त एव तद्वक्तार श्रृणय, तेषामेव चाक्तिरियमित्य
नुसन्धाय तत्तन्मन्त्रार्थं उपपद्यत इत्येव केवल प्रतिपादयाम । अस्मच्छब्दा
दिना च तत्तन्मन्त्रसम्बन्धेनानुक्रमणिकादिपूक्ताना तेषामृषीणामेव ग्रहणम्,
कर्मणि मन्त्रप्रयोक्तुर्ना प्रार्थनादिषु वक्तृत्वमनुसन्धीयत, स्वसम्बन्धेनैव तत्त
द्वस्तुन प्रार्थ्यमानत्वात् । ततश्च य इदानीन्तना 'ईश्वर आज्ञापयती' त्याद्य
वतार्य मन्त्रार्थे प्रवर्तन्ते ते नितान्त भ्रान्ता । लौकिकेष्वप वाक्येषु वाक्य
प्रयोक्तुस्तदभिप्रेतस्य (कविनिबद्धवक्तु) वा कस्यचिद्वक्तृत्वानुसन्धानमर्थबोध
काले दृश्यते, न तु प्रेरयितु कस्यचित्तत्वेऽपि तदुक्तिरव फेनास्पवधार्यते । अस्मच्छ
ब्दादिना च तयोरेवोभयोरन्यतरस्य ग्रहणं भवति, 'मदीय पुत्र आगत' तेनो
क्तम्—'मम शिरसि पीड' त्यादौ । यस्माज्जगन्नियन्तु प्रेरकत्वेऽपि न तस्य वक्तृत्व
मन्त्रार्थेऽनसन्धेयम्—अपि तु श्रृण्यादीनामेव । सर्वेषा मन्त्राणामेकया शैल्यार्थ
निर्वचनसम्भवे कञ्चिद्वोक्ति क्वचिदीश्वरोक्ति क्वचिदन्यस्य कस्यचिदुक्तिरिति
निष्प्रमाणस्य वैयम्यस्य नितरा कल्पयितुमशुक्तत्वात् । न ह्यपदर्शितमन्त्राणामी
श्वरोक्तिरत्वेऽप्युपगते सम्भवति कथमप्यर्थं ज्ञात प्रत्यपादयाम । अत एवेश्वरोक्ति
स्वममिसन्धायाथे प्रयतमानाना क्वचिदीश्वर आज्ञापयति, क्वचिच्चेश्वरप्रेरिता वय
ब्रूम—इति स्वेऽपरिकल्पित प्रमाणरहितमर्द्धजरतीय पदे पदे शिरसि पतितम् ।
किमयत् एकरिम्-नेव सूक्ते क्वचिरकस्यचिद्वक्तृत्वमाभितम्, क्वचिच्च कस्यचिदिति
तद्भाष्य पर्यालोच्यतामपरोक्षमिद विलक्षण चरितम् । अस्माक तु ईश्वरस्य
प्रेरकत्वम्, वक्तृत्वं तु श्रृषीणामवैयमिसन्धाय प्रवर्तमानाना न क्वचिदपि शैली
मङ्ग । येषु स्तु 'सगच्छ्व सवदश्च' समानी व आ कूनि समाना हृदयानि
व' इत्यादय उपदेशा ईश्वरप्रदक्तृत्वमेव परैरभिसंहितास्तेऽपि श्रृषीणामीश्वरप्रे
रणोपदेशकत्वमाश्रित्य सर्वेऽपि सम्यगुपपद्यते । आताश्च तत्रमन्त्रतो माधव

महीधरप्रभृतयो वेदभाष्यकृतः सर्वत्रैव श्रुष्यादीनां वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थे प्रवृत्ता इत्यल्पमनया प्रसङ्गपतितया बहुतरं विन्यमानया कथया ।

ततश्च प्रवृत्तेऽपि (इमा इमिन्द्रमीद्वः) इति मन्त्रे ईश्वर एतदनुशास्तीत्याद्युपक्रमोपन्यस्तं व्याख्यानं सर्वथा न भद्रेयमेव प्रेक्षावत्तान् । अपि तु कर्मभ्यस्य विनियुक्तत्वान्मन्त्रस्यास्य प्रयोक्ता विवाहकर्ता वर एव श्रुषिणा वक्तृत्वानभिमतोऽत्र प्रार्थकरत्रेनानुसन्धेयः । न च स स्वातिरिक्तमेकादश पतिं स्त्रियाः प्रार्थयेतेति पूर्वमुपपादितमेव विस्तरेण । एवम् 'इन्द्र' 'मीद्व' इति पदाम्ब्या विवाहितपते संशोधनमपि निरर्थकं प्रलभितमभद्रेय प्रेक्षावत्तान् । इन्द्रवरुणाभ्यादीनां विश्वगणानामेव देवानां मन्त्रेषु स्तुतिर्न मनुष्याणामेव तत्तन्नामभाक्तमित्यस्य सर्वसमत्त्वात् । स खल्विन्द्र इव तुष्टूपितो यो 'इन्द्रस्य तु वीर्षाणि प्रबोचम्' (ऋ० १।३।२।१)

इत्युपक्रम्य अत्रैव भगवत्या वृन्दन्तृत्व-स्यावरज्जमाधिपतित्वादिना संकीर्तित । यश्च 'नेन्द्रादृते पवते घाम किंचन' इति सर्वत्र व्यापक्येन मन्त्रे स्तुतः 'स जना स इन्द्रः' (ऋ० २।१२ सू०) इति च बहुभिरुपलक्षणैरुपपादितः । 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान' (निव० अ० ७) इति भगवता यास्केन चान्तरिक्षस्थो य आख्यातः ।

सप्तस्य ऋद्धिरस्यगन्मज्योतिरमृता अमूम ।

दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्गोति ।

'चित्र देवानामुदगादनीकम्'

इत्यादिषु बहुषु मन्त्रेषु स्फुटं देवानामिन्द्रादीनां दिवि वान्तरिक्षे वा स्थिति-राख्यातेति मनुष्याणामेव देवत्वकल्पनं किमन्यत् स्यात्प्रमादात् । वेदस्यानादि-तामङ्गभयादितिहासान् वेदेषु नाम्युपगच्छति, विवाहकर्तृमनुष्यादीनां संशोधनं स्वभ्युपगच्छति मन्त्र इत्यहो ते बुद्धिकौशलम् । मनुष्याः किमु भूतेः पूर्वमेव जाताः ? विवाहाश्च किं पूर्वमेव प्रवृत्ताः ? अथ मविष्पन्तोऽपि भूत्या लक्ष्यी-कृतास्तर्हि कुतो न मनुष्यविशेषाणामितिहासा अपि लक्ष्यीकृताः ? अल्पज्ञा किमु भूतिर्न तान् विजानातीत्यहो भूतो भक्तिः । अथ 'इमा इमिन्द्र मीद्व' सुपुत्रा मुमगा वृषु । दद्यास्या पुत्रानावेहि' इति पादत्रयमीश्वरेण पुरुषं प्रस्थाशतम्, 'पश्मिकादश वृषि' इति चतुर्थस्तु पादं स्त्रिय प्रस्थाशत इति केन स्वप्ने सर्वशस्तन भवानुपदिष्ट ? यदि चेश्वरस्य सामान्येनेय-माका, तर्हि कुतोऽस्यापदमत्वम् ? कुतो वा नैकादशभिः पतिभिर्व्यभिचरन्ती मुञ्चिला वराकी निमुलेयमीश्वराद्या इति पतितेति न विगीयते ? आस्तामिदं तुपकृष्टनम् । नाथमपि मन्त्रः कथमपि प्रमाणं विषयोद्बोद्धे इति प्रस्थापितम् ।

अथ नद्या प्रवाहपतिता कुशकाशमन्त्रमध्य जिजीविषव इव परे निधवोद्वाह समर्थयितुकामा इह मन्त्रवृत्तमवलम्बन्ते ।

‘अन्यांगच्छस्व सुभगे पतिं मत्’ ।

व्याघ्यादिना क्लीशत्वादिना वा अशक्ततामुपगत पति स्त्रिय रिरसमाना मिदमाह ‘सुभगे सौभाग्यामिषिणि, मत् मत्त, अन्यमपर, पतिमिच्छस्व, अह रिन्दानीमशक्तव मनोरथाना प्रपूरग’ इति तदीया व्याख्या । नैतत्कृतबुद्धि मिर्दष्टिपथमभ्युपनेतुमर्हं प्रमाणम् केवल पूर्णो मन्त्र प्रकरण चैनदीयमालोच्यम् ।

श्रुक्त संहिताया किल दशमे मण्डले दशममिद सूक्तम् ‘ओचित्तस्त्राय सख्या ववृत्त्या’ मिरयादि । यत्प्रकृत्याखणायतेऽनुक्रमिकायाम् ‘ओचित् घडूना (विशति) (चतुर्दश मन्त्रा इह सूक्त इति भाव) वैवस्वनयोर्यमयम्यो सवाद । पृथपयु ग्भि (पृथया श्रुचा, अयुग्मिश्च प्रथमावृतीयादश्रुग्भिरित्यर्थं) यमी मियु नार्थं यम प्रोवाच स ता नवमीयुग्भि (नवम्या युग्भिश्च) रनिञ्जन् प्रत्या चष्टे’ इति । तथा च भ्रातृभगिन्योर्यमयम्योरुक्तिरूपमिद सूक्तम् । पूर्वमेकयर्चा यमी बालिशतया भ्रातर यम स्वोरयनार्थं प्रार्थयने अथ परया अभिशो यमो भ्रातृभगिन्यो परस्पर विवाहे दोषमुपदरर्थं तदुक्तिं निराकरोति । अयमेव तावदनु क्रमगिकायामुक्तोऽर्थो—

किं भ्राता सद्यदनाथ भवति किमु स्वस्य यन्निश्चुतिर्निगच्छात् ।

काममूता बह्वे तद्रपामि तन्वा मे तन्व स विष्टुष्वि ॥ ११ ॥

(यस्मिन् भ्रातरि सति भगिन्यादिक्रमनाथ भवति, तेन किम्, यस्या च भगिन्या सखा भ्रातर निश्चुतिर्दुःख निगच्छति तथा भगिन्यापि किम् । कामेन मूता मूर्च्छिताहमेतद्बहु रपामि प्रल्पामि, मे तन्वा तन्व स्वशरीर सपिष्टुष्वि सद्योजयेति यमी) ।

न वा उ ते तन्वा तन्व सप्रष्टव्या पापमाहुर्व्यं स्वसार निगच्छात् ।

अयेन मत् प्रमुद कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्येत् ॥ १२ ॥

(यम)

वतो वतासि यम नैव ते मनो हृदय चाविदाम ।

अन्या किल स्वा कश्येव युक्त परिष्वजाते लिजुजव वृक्षम् ॥ १३ ॥

(यमी)

अन्यमूषु १५ यम्यन्य उ स्वा परिष्वजात लिजुजव वृक्षम् ।

तस्य वा त्व मन इच्छा स वा तवाधा इष्टुष्व सविद सुमद्राम् ॥ १४ ॥

(यम)

इत्येवमादिभिरेतासूक्तप्रतिताभिष्मृग्भिरपि सुस्पष्ट प्रतीयते । भ्रातृभगिन्योरेवेमे उक्तिप्रत्युक्ती तत्र चानौचित्यादेव प्रत्याख्यान न स्वशक्तनयेति नैष दुरसंबोधश्च तुभ्यंतामर्थ । निष्कारोऽपि च भगवान् यास्क एतत्सूक्तसम्बन्धिनम्, अन्यनूत इत्यादिमन्त्र व्याचष्टाण आह “यमी यम चक्रमे, तां प्रत्याचचक्षेऽथाख्यानम्” इति । (निर० दे० का० ५)

अथ काविमौ यमीयमाविति चेत्संवागिनौ सूर्यपुत्रौ शरीरविशेषौ चेतनौ देवावित्येतिहायिका ब्रुवु । अहयं, रात्रिर्यमी न तयो कदापि समागमो भवतीत्यत्र सूक्ते स्थापितमिति रूपाकरिका । सद्वातौ भ्रातृभगिन्यावेव ताभ्यां शब्दाभ्यामुच्येते, न हि तयोर्विवाह शिष्टानुमोदित इत्येतल्लोकमात्रनिष्ठा । बृहदारण्यके हि प्राणविशेषाणामेव देवमाख्यातमिति प्राणविशेषावेव यमीयमौ, न च तयो कदापि एकत्रावस्थितिर्भवतीति सोऽयमेवार्थो रूपकविधया भ्रातृभगिन्यो र्वाह प्रतिषेद्धमत्राख्यात् इति विष्टानकुशला । अतिशभीर देवविष्टानमिद नात्रा-यपरे लघुनिबन्धे प्रपञ्चयितुमर्हम्, भ्रातृभगिन्यो सवादरूपेणैवाप्रोक्तिप्रत्युक्ती इति तु मन्त्रार्थर्यालोचकैर्नापलितुमर्हं कथमपि । तदित्थं सर्वथा भ्रातृभगिन्यो सवादरूपतया सिद्धेऽस्मिन् सूक्ते दशमीयमृक्—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय कृणवन्नजामि ।

उपवेहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुमगे पतिं मन् ॥

‘यत्र येषु कालेषु, जामयो भगिन्यो, अजाम्यभ्रातर पतिं कृणवन् करिष्यन्ति, तान्युत्तराणि युगानि कालविशेषा, आगच्छान् आगमिष्यन्ति (इतो भाविनि समये स्त्रिय पतिवरण करिष्यन्तीति भाव) (देवसृष्टिकाले मैथुनजन्माया प्रजाया अभावादिय मनिष्यत्कालोक्ति समवेत्) परमादेवं तस्मादेव सुमगे त्वमिदानीं मत्तोऽन्य मर्तारमिच्छस्व कामयस्व तदनन्तर वृषभाय तव योनौ रेत सेस्त्रे पुण्या यास्मीय बाहुमुपववृहि शयनकाल उपवेहण कुरु’—इत्येतदीया भाष्यकृन्माधवोक्तं समीचीना व्याख्या । निरुक्तकृतापि च व्याख्यात एष मन्त्र—‘आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामय करिष्यन्त्यजामि कर्माणि । (जाम्यतिरेकनाम, बालिशस्य वा, असमानजातीयस्य दोषजन) उपवेहि वृषभाय बाहुम्, अन्य मिच्छस्व सुमगे पतिं मदिति व्याख्यातम् । (निर० अ० ४)

जामिशब्दार्थं विनिश्चेतुं प्रवृत्त एष निरुक्तग्रन्थ । तथाभिभाषितेषु विश्वयेषु असमानजातिदोषकोऽत्र जामिशब्द इति भगिनीमाह, भ्रातृसमानजातीया स्त्री त्वाद्भगिनी भवति इति व्याचष्टे भाष्यकृद् दुर्गाचार्य । येषु जामय—भगिन्य, भ्रातृणाम् ‘अजामि’ योग्यानि मैथुनसम्बन्धीनि ‘कर्माणि’ करिष्यन्ति । कल्पियुगान्ते हि तादृश सङ्करो भवति, न चेद् कल्पियुग वर्तत इत्यभिप्राय—इत्येतदीया

दुर्गचार्यकृता व्याख्या । अस्त्युभयोर्व्याख्ययोरजानिश्चयार्थं मतभेद, अथाप्युभे यथापि भ्रातृमन्योरेवाय सवाद् इति प्रकरणानुक्रमणिकानिश्चयादिष्विद्वोऽयमर्थो न शक्यते कथनप्यन्यथा कर्तुम् । आह हि निश्चकृत् 'न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या, प्रकरणे एव तु निर्वक्तव्या' । इति ।

ततश्च यथा 'आरधन् पुरुष पशुम्' (पुरुषसूक्ते) इति मन्त्रखण्डमात्रमु पादाय कश्चिदुपस्थात्वा पशुरन्व नन्वन धर्ममाकुरुते—न तु पूर्वोत्पकरणार्थमनु सदध्यात्—तथैव नन्वयमशमाप्रमुनादय नियोगादिषाधनादम्बरोऽस्मान्मन्त्रात् । न तु कथमपि विधवाविवाहे नयोगे वा लेशतोऽपि मन्त्रवान्मन्त्रस्वमिति कृत कुट्टतद्वृत्तेन ।

अथैतदपरमप प्रमाण वैश्विद्वलम्ब्यते—

उत यत्नयो दश क्रिया पूर्वं अब्राह्मणा ।

ब्रह्मा चेदस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकषा ॥

(अथर्व० ५।४।१७।८)

रक्षणार्थस्यास्य मन्त्रस्य न हि यद्यपि विधवोद्वाह साक्षात् प्रतिपाद्य, अथापि तु अनेके पतिभिर्विवाह इत प्रतिद्वयवीक्षेपयमपि मनागालोच्यते ।

अथर्वसंहिताया खत्रु पञ्चम काण्डे (चतुर्थेऽनुवाके) 'तेऽविदन् प्रथमे'त्या दिक्मस्ति सप्तदश सूक्तम् । यद्गोहरणेऽभिचारकर्मणि विनियुक्त मगवता ऋषिकेन— 'तेऽवदजिति नेतृणा (गवानइतृणां) पद वृक्षति, अन्वाह' (ऋ० औ० सू० ६।२) इत्यादिसूत्रेण । अस्मिन्नेव सूक्ते ब्रह्मजायाविषये बहुक्त्वा ब्राह्मणप्राश स्यरूपेणोदमुपक्रान्तम्—

उत यत्नयो दश स्त्रिया पूर्वं अब्राह्मणा ।

ब्रह्मा चेदस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकषा ॥ ८ ॥

ब्राह्मण एव पनिर्न राज्ञो न वैश्य ।

तत् सूर्यं प्रब्रुवन्नेति पञ्चम्यो मानवेभ्य ॥ ९ ॥

पुनर्वै देवा अददु पुनर्मनुष्या अददु ।

राजान स्य एहाना ब्रह्मजायां पुनर्ददु ॥ १० ॥

इत्यादि । तदत्र विनियोगबोधकश्रौतस्य पर्यालोचनया पूर्वोत्पकरणार्थोचनया च पूर्वोक्त मात्रे स्त्रीरदेन प्रकरणप्राप्तत्वेविशिष्टा स्त्री (स्त्रीगवी) प्रतिपाद्यत इति प्रविभाति । 'यदे क्रिया स्त्रीविशिष्टाया गो (घेन्वा) पूर्वं अब्राह्मणा दशापि पत्यो मनेषु', अथापि चेद् ब्रह्म—ब्राह्मण, इस्तमग्रहीत्—(इस्तमग्रहण-मत्र स्त्रीकारमात्र निश्चितम्—पञ्चाया) तदा स एव तस्या पति—स्वामी मन्तव्य (२) । राजन्दवैदरादिसमवायेऽपि गवादेर्धनस्य ब्राह्मण एव मुख्य

पतिर्भवति इति सूर्य एव भगवान् सर्वभ्यो मानवेभ्यो धोषयति (९) अत एव ये
ब्राह्मणद्रव्य गवादिकं पृच्छन्ति देवमनुष्याद्यास्तं पुर्गरेव प्रदर्शयन्ति राजानंश्चापि
एहीत ब्राह्मणद्रव्यं सत्यं परीक्ष्य पुनर्ददति दापयन्ति च (१०) इत्युपपद्यतेऽत्र
मन्त्रार्थः । अत एव च सूक्तस्योपान्त्ये मन्त्रे—

नास्मै वृश्निं विदुहन्ति येऽस्य दोहमुपासते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचिन्त्या ॥ १७ ॥

इति दोहनं गोलिङ्गमूतमेव स्पष्टं श्रूयते । ये जनाः, अस्या ब्राह्मणस्य गो,
दोहमुपासते, यत्र च राज्ये ब्रह्मजाया ब्राह्मणस्य गो, निरुध्यते, अस्मै वृश्निं न
विदुहन्ति, वृश्निंरादिस्थो भवतीति भगवान् यास्कः, तेनादित्यं न विदुहन्ति
वृश्निस्तत्र न भवति तेन पापेनेति तात्पर्यम् । अन्ते च—

नास्य धेनु कल्याणी नानडवान् सस्ते धुरम् ।

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

इति गोविरहितो ब्राह्मणो यत्र वसति, तत्र कल्याणी धेनुः, धूर्त्तदोऽनड्वाश्च
न भवति तस्माद् ब्राह्मणाय गो प्रदेयेव, इति तात्पर्यमुपपद्यते । तदिदं मन्त्र
सूक्ते स्त्री जायादिशब्दैर्धेनुबोधने सर्वं समञ्जसम् ।

सर्वं स्व ब्राह्मणो मुञ्चते स वस्ते स्व ददाति च (मनु)

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विभ्योऽर्धं द्विजं पुनः ।

विद्वानरोपमादद्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः । (याज्ञवल्क्य)

‘अहाये ब्राह्मणद्रव्यम्’

इत्याद्यासु स्मृतिषु यद् ब्राह्मणस्योत्कृष्टं स्वस्व, तद्द्रव्यस्यानपहार्यता च
प्रतिपाद्यते—सत्सर्वमेतदादिभ्रुतिमूलकमेवेति । स्त्री जायादिशब्दानां पत्नी-नाचकृत्ये
तु गोऽपहारप्रकरणेऽप्रकान्तार्थता प्रथमो दोषः । ‘ब्राह्मण एव वृश्निं राजन्यो न
वैश्यः’ इति च क्षत्रियवैश्यादीनां सर्वथाप्यववाह एव प्रसज्जेन, तेषां पतित्वस्य
श्रुत्या प्रतिषिध्यमानत्वात् । ‘राजानं पुनर्ददुः’ इति चाप्यनुपपन्नम् परस्त्रीग्रहणस्यैव
राजा सर्वथा अप्राप्ततया पुनर्दाननिषेधाम्बुद्ध्यात् । गान्धिवये तु चौरादिभ्यो
राजस्तदग्रहणमुपपद्यत एव । ‘येऽस्या दोहमुपासते’ (म० १७) इति च सर्वथाऽनुप-
पद्यमानार्थकमेव भवेत् । ‘विजानिर्यत्र ब्राह्मणः’ (म० १७) इत्याद्यपि विपरी-
तार्थकम्, यत्र यत्र ब्राह्मणो वसति तत्र तस्मै जाया प्रदेयेति कल्पनापालप्रसङ्गात् ।
तरमारभ्य नृदुर्द्धिमनुसृत्य गोऽपहारं निरियुक्ते सूक्ते स्त्रीजायादिशब्दैर्धेनुरेव बोध्येति
नास्य मन्त्रस्य प्रकृते कोऽपि संशयः ।

अथापि कश्चित् प्रसङ्गात् साक्षात्स्त्रीविषयकत्वमेवाप्य वनाख्यायेतामिरेण,
तथापि किं भक्ता मन्त्रेणानेन साधनीयम् । ‘यस्या दद्यापि पूर्वं पतयत्यस्य’

अथापि यदि ब्राह्मणस्ता एहाति तर्हि स एव मुख्य पतिर्भवति, तथा च सर्वेषां दारापहारे ब्राह्मणानामधिकार सिद्धयेत्, न चैतदिष्ट स्यात्करस्यापि । पूर्वपूर्व पतिमरणे क्रमेणैकादशपतिकरणन्तु न व्यभ्रि मन्त्रादस्मात्सम्यग्, अस्य मन्त्रस्य क्वल ब्रह्मगोत्कर्षख्यापकत्वन विवाहविधावकादशपतिविधायकत्वानुपपत्ते । तथाभूतेऽर्थे कल्पमाने ब्रह्मणपदस्यानुपयोगात् । सर्वेऽपि हि भवन्मते पर पर पतिरेव मुख्यो भवतीति किं ब्राह्मणग्रन्थेन । उत्तरस्य च मन्त्रस्य न किमपि तात्पर्यमुपपद्येत । तस्माद् 'यदि पूर्वं दशम्योऽप पतिम्यो (भविष्यद्ब्रह्मस्य पतिशब्दप्रयोग) अब्राह्मणेभ्यो वाग्दान भवेत् अथापि यदि ब्राह्मणो हस्त एहायात् तर्हि स एव पतिमन्तव्य' इति ब्राह्मणाय कन्यादानस्य प्राशस्त्यमय मन्त्रो बोधयेन्नान्या कापि कल्पना सामञ्जस्येनोपरयेत् । उत्तरार्द्धे 'हस्तमग्रहीत्' इत्युक्त्या च पूर्वेषां पतीनां हस्तग्रहणपयन्तसंस्कारामावो गम्यत इति वाग्दानस्य प्रदानान्येव ते भवेयुः ।

तथा च—'दत्तामनि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चिद्वर आत्रनेत्'

इत्यादिना याज्ञवल्क्यादिभिस्तदुक्तस्य वरस्य लाभे वाग्दत्ताया पूर्वस्माद् दारापहारेऽस्तेना धर्मप्रदानरूप उक्तं, सप्तपद्यान्तु जाताया निष्ठा विवाहस्योक्ता, तदेव मन्त्रादप्यस्मात्सम्यग् । ब्राह्मणपदस्योत्कृष्टब्राह्मणगरत्वात् । क्षत्रियकन्यादीनां वा ब्राह्मणवरलाभस्योत्कृष्टता पूर्वतिहासदृष्ट्या मन्त्रतात्पर्यविषयास्तु, विधवो द्वाहस्य तु नास्त्येव कोऽप्यत्र सबन्ध इति स्वयमेव विचार्यम् ।

केचित् पूर्व दश पतयोऽब्राह्मणा, ब्राह्मणपदस्योपश्रयगतत्वादमनुष्ठा अर्था देवा भवन्ति, अनन्तर च ब्रह्मा-ब्राह्मणादि कश्चित्पुरुषो हस्त यो एहाति, स एव मुख्य यावज्जीवन पतिस्वकार्यनिर्वाहको भवति—इति मन्त्रार्थेनाचक्षते दश देवाश्च—

इन्द्राग्नी चावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा ।

भगो अश्विनोभा । बृहस्पतिर्मरुता ब्रह्म सोम

इमां नारीं प्रत्रया वर्षयन्तु (अथर्व १४ १ ५४)

इति मन्त्रोक्तान् सित्रया पतीनाहु । एते च दशदेवा 'सोम' प्रथमो विविदे' इति व्याख्यास्यमानमन्त्रोक्तानां प्रयाणां देवानामवाह्यमूता विस्तरणे निर्दिष्टा इति न काश्चिद्विरोधः । 'ब्राह्मण एव पतिर्न राज्ञ्यो न वैश्य' इत्युत्तर-मन्त्रोक्त्या च ब्राह्मणस्यैव पतित्व मुख्यम्—क्षत्रियादिषु तु गौगम्—तेन क्षत्रियादिभिः कदाचिन्नयोगादिकनापचतुर्दशमपि, ब्राह्मणानां तु न काप्यय दृष्टो धर्म इत्यादिरीत्या प्रकरणमनपेक्षया विवक्षयापयन्ति । अस्तु यथाकथञ्चित्, विधवो द्वाहेन तु न कोऽपि मन्त्रस्यास्य सबन्ध इति सुरिपरीभूतमिदम् ।

अथ ये—

अधोरचलुरपतिष्ण्येषि शिवा पशुभ्यः ।

सुयमा सुवचा । प्रजावती वीरसुदेवकामा ॥

स्योनैममर्षिं गाहंपत्य सर्पं । (१०, ८३, ४४)

इति विवाहविधौ विनियुक्ते मन्त्रे 'देवकामे' ति पद दृष्ट्वा देवरण विवाह
नियोग वा धर्म्यमाकलयन्ति, ते तु 'पुत्रकाम' ति दृष्ट्वा पुत्रेणैव सहावाच्य-
मकर्म कारयिष्यन्तीति दूरत एव ते प्रणम्या । इयं मार्या देवरमपीच्छतु,
देवरा मे भवन्तिवराद्यास्तु, देवरेषु स्तिग्वा भवतु, मा देवरविद्रोहिणी भूदित्येव
मन्त्रेण प्रार्थनीयमिति तु स्थूलविद्यामपि मुक्तनावसोऽधोऽर्थं । प्रवृत्ते विवाह
कर्मणि देवरमपीय नियोगार्थं कामयनमिति तु वरकवृत्तैवाद्यासा क्रियन्तिन्दते
सामञ्जस्यमिति विचार सहृददेवेव निश्चिप्य तूष्णीमास्मह । तदित्य विषवोद्वाह
जालसे स्वामीश्वरमपकस्वेन समाश्रिता श्रुत्यो याथ ह्येन व्याख्याता ।

अथाग्रहमहित्तया वैमाकुलीमुदन्ता इव खे खानु गते खनन्त इव
केन्द्रिपरीतप्रगा विद्वार्यामधायीन्यपि कानिचिच्छ्रुतिवाक्यानि स्वयंश्रम्यंक्त्वा
नाददते । तान्यपि मनाक् कौटकाय पयागेच्यते । तत्र कचेत्—

नैकस्यै बहव सह पतय' (ऐं ब्रा १० अ० १० ल०) इत्येतरेयश्रुती
सहस्रवद साहचर्यामिधायइत्येन इत्येकार्गर्थ- व्याख्यान 'दुल्लभात्नेकेषा
स्त्रिया बहव पतयो न मन्वि' 'तेन मिने तु काल बहवो भवन्त' एवाद्य
मुद्राग्यन्तो विषवोद्वाह समर्थयन्ते । अतो दुमाहचिका । तस्माद् दीर्घेन
सत्यमेव वदितव्यम्' (ऐ० ब्रा० १ अ० ६ ल०) इति श्रुतेर्गोत्रघारणामात्र
काले यश्चर्मणोऽन्यत्र मित्यावादाविधाने तास्यै किमु भवन्तोऽवधारयेषु ?
'इच्छातो न पीडनीय' इति शेषदेशमाकर्णान्वोऽन्यत्र पीडनीय एवमेव किमु
भवता बुद्धिरध्यवस्यति ? मुद्रांस्तेषु महापातश्चमभिन्नयमाना स्मृतिकारा किमु
मुवर्गाविरिक्त द्रव्यमपहर्तुंमनुजानन्ति ? वयन्तु परमान दीक्षितस्य सत्यवदानाधि
सत्यवदन यदाऽत्रत्या ग्राहयन्ति, न तन्वत्रास्त्वमशगाभ्यनुजाया तास्यंम्, अन्य
नापि यदि कश्चिदसत्य वदेत्, अवश्य स प्रत्यवेरान् । रोगार्द्रस्य पीडने मुवर्गस्तेषु
च पानवद्भुव खयाप्यते, अयस्यापि पीडनेऽन्यद्रव्यस्त्वेषु चि चास्तेवाधनं—तथैव
'नैकस्यै बहव सह पतय' इत्यनुवादेनारि साम्यान्नेधमात्रिपता इत्येकार्ग
बहुवतिपरिग्रहस्य सन्नप्रतिषिद्धता पाववद्भुव वा ०५ खरप्येन, मिन्नेऽपि तु काले
सवथप्यधर्म एव स वृत्ति कल्पनाया नेद वचन प्रतिकूम्, दूरे स्वनेन वचनेन
विषवोद्वाहस्य धर्मत्वप्रकल्पना । ननु वचनान्तरेऽन्यद्राप्यसत्यमादगादीनां पाठ
कत्र निष्पत्ति, न तदाहृते प्रमाणमिति चेत्—इहाप यथा वचनातरण्यमनु
जानन्ति तथैव न्यवस्थाप्यतान्, व्यथंमस्य वचनस्य शरत्प्रदणम् ।

वस्तुतस्तु वचनमिदं सर्वदा बहुपतित्वं प्रतिपेक्षतीति विधयोद्वाहसाधकानां परं प्रतिवृत्तम् । यथा हि प्रकरणमेतदीयम्—

श्रृङ्क् च वा इदमग्ने साम चास्ताम्, सा-श्व नाम श्रृगासीद्, अमो नाम साम । सा वा श्रृङ्क् साम उगावदद्-मिथुनं समवाव प्रजास्यै-इति । नेत्यब्रवीत् साम-‘प्यायान् वा अतो मम महिमति’ । ते द्वे भूत्वोपावदताम्, ते न प्रति चन समवदत । तास्तिस्त्रो मूषोपावदन्, तत्तिस्रुमि समभवत् । यत्ति स्रुमि समभवत्—तरमात्तिस्रुमि स्तुवन्ति, तिस्रुनिरुद्गायन्ति, तिस्रुमिर्हि साम सन्तिवम् । तरमादेकस्य बह्व्यो व्याया भवन्ति, नैकस्यैव बहव सह पतय । यद्दे वत् सा चामश्च समभवता तत्त्वामामश्च । तत् साम्न सामत्वम् ।’ इतीयमास्या विधा भूयत ऐतरेयब्राह्मणे (१२ अ० १२ ख०) ।

अयमत्रामिप्राय — बह्व्यं श्रृच एकेन साम्ना साम्ना दिन्दन्त । साम्नो हि रोयतना महास्तस्य बालरिञ्छेद, श्रृच पाठे स्तुत्य एव तदपेक्षयापेक्षयते कालं । तस्यास्य साम्नं पुरुषपरमृत्वा च स्त्रोयं परिकल्प्य तद्दृष्टान्तेन बह्व्यं क्रिय एकस्य पुरुषस्य समवति, एकस्य साम्न इव समितास्तिश्च श्रृच, बह वस्तु पुरुषा नैकस्या क्रिया समवन्ति, एकस्या श्रृच इव बहूनि सामानीति स्थापितं भूया । तदत्र दृष्टान्तं न कदानिदमि कालमेदं वा कालैक्ये वा श्रृच एकस्या बहूनि सामानि मवन्तीति दुष्यन्त्यायात् क्रिया अप्येकस्या न कदाचि दाप पुषैर्वहुनिर्मविभ्यन् । ‘नैकस्यै बहव सहपतय’ इति सहशब्दभाय सहश वचनोऽर्थानुगुण्यात् । तेन सहशा एकविधा बहव पतय एकस्या न भवति, बह्व्यमाणा सोमन्धर्वाइत्यस्तु न मनुष्येण सहशा देवतात्, तेषां च पति त्वस्यौरचारिकत्वात्, तेन तेषां बहूनामप्य सत्त्वे न क्षति । ये वा पालकत्वेन पतय उच्यन्ते, पितृभ्रातृनुनादयस्तेऽप्य न पाणिग्रहीता समाना, तेषां पति त्वस्यान्यविद्यत्वात्, प्रजोत्सादकं पुरुषस्तु पतिर्वाङ्मजीवनेक एव क्रिया धर्म्यं इत्येव तास्यर्थं भूते ।

अल्पत्र तैत्तरीयसंहिताया सहशब्दमन्तरेणैव भूयते यदेकरिन्दू यूप द्वे रथने परिभूयति, तरमादेको द्वे व्याये निन्दते यन्नैका रथना द्वयोर्यूपयोः परेभ्ययति तरमानैका द्वौ पती निन्दते, इति ।

(तैत्ति० स० ६ का० ६ प्रपा० ५ अनु० ख२)

इह हि यूनरथनादृष्टान्तेनोक्त एकार्यं समर्थित । यत्तु हेकरिन्दू यूप द्वे रथनं बभूवत्, एका तु रथना न क्वदामि द्वयोर्यूपयोः भवते । तथैव पुरुषस्यैकस्यानेका अपि स्त्रियो भवन्ति, स्त्रियास्तत्त्वेकस्या न पुषैर्वहुनि कदानि योगं समवति । इह नैव सहशब्द उक्त इति सर्वथैव पतयप्रतिपक्षोऽस्माद्बुद्धीयेत ।

दृष्टान्तेऽपि च नैऋतिमन् काले नाप वा भिन्नयो काल्योरका रशना यत्रे कदापि
 यूपयोर्द्वयोर्बन्धयते । तस्मादेक काल कालभेदेन वा नैव स्थिया एकस्या पतिद्वयमपि
 भूतिरनुमयत इति का कथैकादशानाम् । एतत्सहितैकवाक्यतया च पूर्वोक्ताया
 मैतरेयब्राह्मणभूतावपि नहि सशब्दस्तुल्यशब्दवचन, इतरथा ह्येका सर्वापि
 पतिद्वय प्रतिषेधति अपरा चैन्नेमनेव काले प्रतिषेधतीति भूयोविस्वादा
 प्रसज्येत । तस्मादेकवाक्यत्वय दृष्टान्तानुगुणाय च सर्वकालसम्बन्धेनैव पतिद्वय
 प्रतिषेध प्रारम्भमस्या भूतेर्बोध्य इत्येतद्विद्वद्वा सर्वाप कल्पना भूतिविरोधादेवा
 प्रामाण्यरतं निखननीयेत्यल पल्लवितेन ।

अथैतानपि विशाह्विधी वरकर्वृकेशारणे विनिसुक्तान् तुस्तथ पुनर्ब्राह्मणप्रति-
 षेधकरानपि मन्त्रान् केचन साधकस्ये नोपस्थापयन्ति

सोम प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥

(ऋ० व० ॥२५॥ ४०)

सोमस्य छाया प्रथम गन्धर्वस्तेऽपर पति ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥

सोमोऽददद्गन्धर्वोऽपि गन्धर्वोऽदददग्नेये ।

(अथ० १४१२ अनु २ सू०)

रपि च पुत्राश्चादादग्निर्मह्यमथो इमान् ।

(ऋ० १०॥२५११)

इत्यमत्र व्याचक्षते—ईश्वर स्थिय प्रतिषेधयति । 'हे स्थि । ते प्रथम पतिर्वी
 विविदे—प्राप्त, स सुकुमारत्वादिगुणवोगात्सोमतादृश्यात्सोमनामिधेय । उत्तर,
 द्वितीयश्च यो नियोगेन विशाह्वान्तरेण वा प्राप्त, स एकस्या स्त्रिया पूर्वं सपुत्रत्वा
 त्कामकलाप्रावीण्येन गन्धर्वपदेनामिधेय । अथ यस्तथैव तृतीय प्राप्त, सोऽप्यु
 ष्णतायोगाक्षमिपदेन वाच्य । अत्र तुरीय इत्युल्लङ्घनम्, चतुर्थंभारम्यैकादश
 पर्यन्ता ये पतयस्ते मनुष्यजा भवन्ति, मनुष्यपदेनैव साधारणेनाभिधातव्य' ।
 एष एवार्थ उत्तरयोराप मन्त्रयो शब्दान्तरैरतिहित । तथा च प्रथमस्य पत्यु
 सोमसहा, द्वितीयस्य गन्धर्वसहा, तृतीयस्याग्निसहा, तुरीयप्रभृतीनां च सामान्या
 मनुष्यसञ्ज्ञैवेति स्फुटमभिप्राय मन्त्रस्योपसङ्घे पुष्प० हृत्समेकस्या स्थिया साधयित्वा
 संनहन्ति ।

इत्यमत्र समालोच्यम्—उक्तार्थपर्यालोचने क्रमेण त्रिवैक्या समुप्यमानान्
 पुरुषानुद्दिश्य सोमगन्धर्वोदिसहा भूत्यानया विहितः स्यु । किमर्थं तदिदं कथा

विधानमिति पृ०उाम । सज्ञा हि सर्ववस्तूना व्यवहाराय विधीयन्ते बहुत्र तत्त
द्विधिसौकर्याय वा शास्त्रकारा रक्षाज्ञे काश्चित्सज्ञा परिभाषन्ते—पाणिनिरिव
गुणवृद्ध्यादिसज्ञा ।

न चात्र लोकेऽन्यत्र शास्त्रेषु वा तादृशपुरुषविषये सोमगन्धर्वाग्न्यादीन्
व्यवहारान् पश्याम । न हि क्वचिदपि कश्चिदपि विवाहित प्रथम पति सोमपदेन
सबोधयन् दृष्ट, नियुक्त वा गन्धर्वाग्निपदाग्राम्, नापि शास्त्रे दृष्टतया व्यवहार
क्वापि । न च भूतावपि तथाविधान् सोमादीनुद्दिश्य क्वचिद्धर्मांतर विधीयमान
दृष्ट येने पाणिन्यादीनामिव परिभाषाप्रकल्पन समाध्येत । ततश्च व्यर्थमिदं सज्ञा
विधानं कथं भ्रुतिसरम्भगोचरं स्यात् । कथं वा व्यर्थं प्रायैव विधिसंज्ञाप्रशतसदृश्या
भ्रुतिरीश्वरप्रणीतेति गौरवास्पदं स्यात् । किं च नामान्येव केवल भ्रुत्याऽनया
विधीयन्ते, उत पत्यन्तराभिगमनमपि तदाक्षितम् । अन्ते पत्यन्तरमभिगच्छन्ती
यावज्जीवमेव पतिपरायणा भ्रुतिविरुद्धकारिणीति पतिता भवेत्, न चैतदिष्ट
भवदीयानामपि । इच्छन्त्या नियोग भ्रुतिर्विधत्त इति चेन्नैतन्मन्त्रे भ्रुतम्, तत्र
हि स्फुटं सर्वविषयिणी भवेदियमाज्ञा । तथा च सध्यामनुपासितेव ब्राह्मणादि
नियोगमकुर्वाणा योषिदवश्यं पतेदिति साधुधर्मिकोऽध्वानुसृत स्यात् । नाम
मात्रविधानपक्षे तु परन्तरविधाने न भ्रुतेर्ध्यापार इति कथं विधवोद्वाहो वा
नियोगो वा सिद्धिमनेन मन्त्रेण विन्देत । असति पत्यन्तरे कस्य भवेन्नामेति तदर्थं
पत्यन्तरमाक्षेप्तव्यमित्येव विधा तु कल्पना 'कुहस्विदोपेति' 'यापूर्वं पति'मिति
च मन्त्रव्यवस्थाया सुदूरमुत्किता पूर्वम् । या शास्त्रमतिक्रामन्ती व्यभिचरति,
तत्रापि नामविधिसंभवात् । दृश्यते हि चौरजारादीयपि नामानि शास्त्रेषु न
हि तावता तत्कार्याणां धर्मश्च भवतीनि । तथा च विधिविवेकशून्यतया मन्त्रोऽय
मनर्थकप्रलाप एव प्रसज्येत । तदित्य भ्रुतिवचनानां स्वारस्य कुत्रेति कुशळप्रज्ञा
विचारयन्तु ।^{१२}

स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

इह खल्विदानीमस्पृश्यतया शिष्टसम्प्रदाये गृहीतानां केषाञ्चित् चर्मकारादीनां प्रतिलोमसंस्कारजातीयानां विधर्मिभिः समाजसंशोधकमानिभिश्च कथञ्चित् बुद्धिभेद प्रापितानां, यवनखैशदिभिः समं व्यवहरतामपि केषाञ्चित् वर्णाश्रमानुयायिनां स्वेष्वसंयवहार्यतामालोक्य हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वे स्वेषामपमानमिव विभावयता हिन्दूसमाजपरित्यज्य मत्तान्तरं प्रविक्रिणा परितोषव्यवस्थाप्य तेषां हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वरक्षणेन गोरक्षकता सुस्थिरीकर्तुमस्ति कश्चित्शास्त्रानुमतं पन्था न वेति बहुशो हिन्दूसमाजहितैषिभिः यंथितान्तरेर्विचार्यते । तत्र च किमिदमसंयवहार्यत्वमस्पृश्यत्व वा शास्त्रानुमतमास्ते न वा ? सत्त्वेऽपि चैव विधास्वापस्तु सापवादं नित्यं वा ? अपवादाश्चेत् कीदृशा ? केषु च स्थानेषु कथं विधा संयवहार्यता कथञ्चित्शास्त्रेणानुमन्यते ? कथं विधानि च संयवहारे प्रायश्चित्तानि स्मर्यन्त इत्याद्या बहूनां जिज्ञासा समुत्तिष्ठन्ते लोकानाम् । तत्र तावदाहुः केचिदिदानीन्तना यत् सर्वेषामपि मनुष्याणां समानाधिकारतायां भौचिर्येन कस्याश्चिज्जातिविशेषस्य सर्वेषामसंयवहार्यतायां प्रकल्पनं नितरां न युक्तिसहम् प्रस्तुतं तज्जात्युपमर्दनं द्वेषमूलकोऽयमस्वाचारः । नाप्ययं भौतो धर्मः, तत्र—

‘सगच्छेत् संवदं च स वो मनासि ज्ञानताम्’ ।

‘समानीव आकृतिः समाना हृदयानि च’ ॥

‘समानो मया सह बोऽन्नभागः’

इत्यादिभिर्वचनजातैः समानस्यैवाधिकारस्य प्रतिपादनत्वात् परस्परं सहभावसहभोजनोपदेशाच्च । स्मृतिषु तु क्वचित्थाविधवचनान्युपलभ्यमानानि श्रुतिविरुद्धतया न प्रमाणकोटिमारोडुमीशते, अपितु द्वेषपक्षपातादिवशीमूतै र्वर्चानैः प्रकल्पितानि परित्यागार्हाण्येव । तस्मात् समानमेव सहासनसहभोजनादिभिः सर्वं सह यच्छेच्छं सञ्जवहर्तव्यम्, येन पारस्परिकप्रेमबुद्ध्या समुन्नतिरस्मत्समाजस्य सञ्चिद्येदिति ।

तदिह श्रुतिस्मृत्यनुयायिनो धार्मिका न समन्यन्ते । आहारनिद्राभयक्षोपकामादिषु केषुचित् कर्मषु सर्वमनुष्यसाधारण्येन स्थितैरिति कर्तौधेयारभेदप्रयोजकस्य योनिहेतुकस्य योभ्यताभेदस्य प्रत्यक्षं परिदृश्यतात् । स्पर्शादि संयवहारे परस्परप्रभावशक्यस्य विधानानुमोदितत्वाच्च । न ह्ययमसंयवहारो

नाम कथञ्चिदपि परेष्वत्याचार, अपित्त्ववर्गानां स्वप्रभावशक्त्यादिसंज्ञा
 फलक आत्मवयम्, च्चेद शक्तिसंज्ञा वर्गव्यवस्थोपयोगितया समाजहिता-
 येवेति न कथञ्चिदपि पक्षभाते द्वेषे वा पर्यवस्यति । अत एवोच्चवर्गानां
 प्रतिलोमसंज्ञा संव्यवहारेण न प्रतिलोमसंज्ञाणां कोऽपि दण्ड स्तयते,
 अपित्त्ववर्गानामेव प्रायश्चित्तमिति कथमिदमनाचारतया परिगम्यताम् । तत
 एव च नेयनत्वव्यवहार्यता पारस्परिकधर्मव्यवहारोद्देशेनानुष्ठायमाना पारस्परिके
 प्रेम्णि कथमपि प्रतिबन्धकतामाप्नुयात्, कर्त्तव्यपालनस्य विरोधजनकताया
 दूरापास्तत्वात्, भोजनस्पर्शादिसंभवहारस्य प्रीतिप्रयोजकताया व्यभिचारित्वाच्च ।
 द्वेषादिर्बुद्धिमेदस्तु शस्त्राननुमते परित्याग एव । न चेदमसंभवहार्यत्व
 मशास्त्रीयमिति शकित्वम् ।

न तै सनयमन्च्छेत् पुत्रयो धर्ममाचरन् ।

व्यवहारो निरस्तेषां विवाह सदस्ये सह ॥

(वर्गसंज्ञाप्रकरणे मनु-१०।१२)

न सवत्सेव पतितैर्न चण्डाणैर्न मूर्खैर्नादित्यैश्च ।

असत्कारणात् पतितेन सहान्यद् पतति,

यद् यानासनाभ्याम्, योनिभौतसन्धात् सद्य एवेति ॥

(वि० ५०)

न श्लेष्ठासुव्यवधानिकै सह समादेत ।

(गौटम अ० १।१)

एकश्यासन भाण्ड पङ्क्तयन्नभिन्नम् ।

याजनाभ्यासन योनिस्थाय च सह भोजनम् ॥

नवधा सङ्कर प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽयम् सह ।

(बृहस्पति)

सलान्तरशानिधासात् सह शय्यासनाशनान् ।

याजनाभ्यापनाद्यौनात् पाद सङ्गते नृणाम् ॥

(देवर्षि)

चण्डान्तरशाने सम्प्रयाया दशने च दोष ।

(आनन्द)

इत्यादिनि शतश स्मृति वन्नै संभवहारस्य स्फुट प्रतिषिद्धत्वम् ।

'नितोपे त्वनपेक्ष स्यादस्ति ह्यनुमानम् ।'

इति मीमांसादीदृश्या स्मृत्या ह्यनुमान साद्येप सन्धयना विच
 लना वानानधिकारमद वरम्पञ्च श्रुतरेव नावती सुस्तु प्रविशदवति
 मन्वशरनिपय च । यन्मनुष्या यवनस्य तस्माद्येन शूद्रो मन्वो
 िदत्, एतेषां (ब्राह्मणशिववैरमानन्तानान्) एवैः नृपदिनामिति
 विचञ्च, इममिति निचरचति ।

(शतस्य भा० २१११८, ९)

इत्याद्यानि श्रुति शूद्रमन्वपनाद स्तु प्रतिपदनात् । किन्तु—
 यद्यथायामन्मननी शूद्रादीना स्तु प्रतिपद श्रुतिषु ।

(शतस्य २१११२)

मच्छादिगद्या श्रुति पश्य वशनुमूलिष्यत प्रेमानव विदधति,
 न तु च्चनहारमरे ।

'य वै मनानि ज्ञानतान्', एताना हृदयानि च' इत्यदेमन्मन्वस्य
 दिवत् ।

'मननी प्रया म्दोऽप्रमया' मनियेक वद्वो पुनक्त ।'

(अयनं० २१६।३०)

इत्याद्यनु ट श्रुतिषु—

अनश्रुति पुत्री मन्मानातान्तरादपन्

इत्याद्यश्रुतिषु प्रक्रम्य प्रवृत्तासु प्रहरादेः शूद्रमन्वन्ताननइव
 मन्मानादिङ्गान्तीरते न तु मन्वाङ्गीनाम् । तस्मादन्ववहाप्यनिद
 यान्मन्निस्वविदाऽप्रमयं । अद्यस्तु मन्वहर क्व प्रतिपद्यते, कथ
 तत्र प्रयश्चित्तम्, का चानन्द, कथ च मन्वमन्तु निर्दिश्यमन्वति म्निगस्तु
 सचनय विद्या । तत्र च म्निगतिना पुनश्चादिदिति पतिदन्व विद्वान्त
 मुनयेव प्रगामह ।

इतिष्य मन्वश्रुत्यु मन्वते अनपञ्चमन्ववगानिनश्च । तदुक्तं स्मृतिषु—

राजं मन्वाञ्च नय इवह एव च ।

इवमन्वन्तिश्च मन्वैत अन्ववह स्मृता ॥

(यन, अर्थ)

मन्वाञ्च मन्व इवह एव वैदेहस्तथा ।

मन्धानोऽथै वैव मन्वैवमन्वावदिन ॥

(अद्वय)

तत्रान्त्यावसायिनामपेक्षयान्त्यजाना संव्यवहारे प्रायेण प्रायश्चित्तस्तत्र—तत्र स्मर्यते । चाण्डालस्याशतस्य गृहनिवासे िशते द्वादशदिन व्रत गृहदाहादिभ्यः कामतश्चान्द्रायणं पराको वा अन्यजाना तु तथा निवास तद् न च गृहदाह, चाण्डालानामन्त्यजाना चोच्छिष्टभक्षणे चान्द्रायणम्, चाण्डालस्त्रीषु कामतौ गमने शुक्तल्पसम, सङ्कृद्गमने कामत इच्छ्वाब्दम्, अकामतस्तु चान्द्रायणद्वयम्, अन्यजानास्तु तु कामतश्चान्द्रायणद्वयम्, अकामतस्तु चान्द्रायणम्, चाण्डालान्न भोजने चान्द्रायणद्वयम्, अन्यजानन्नभोजने तु चान्द्रायणम्, चाण्डालोदकपाने षड्वाराव्रतम्, अन्यस्ये तदधम् । चाण्डालभाण्डस्योदकपानं बुद्धिपूर्वकं स एव त्रिप्रस्य अन्यजभाण्डोदकपानं तु ब्रह्मकूर्चोपवाच । उच्छिष्टास्य चाण्डालस्पर्शे कामत प्राजापत्य, अकामतस्त्रिरात्रव्रतम्, गायत्र्यष्टमहस्रजरोऽपदाशतत्रय पञ्चगव्य च, अन्यजान्तुच्छिष्टेन स्पर्शे कामतस्त्रिप्रस्य, तैरप्युच्छिष्टैरुच्छिष्टस्य स्पर्शे षड्वाराव्रतम्, इत्यादे प्रायश्चित्तविशेषस्य तत्र—तत्र स्मर्यमाणत्वात् । किं च प्रायश्चित्तमयूले प्रायश्चित्तविवेके च शूल्पाणिङ्गते चाण्डालाद्यपेक्षयान्तरानां संव्यवहारेऽर्द्धे प्रायश्चित्तमिति स्फुटमेव मुग्धेन व्यवस्थापितम् । स्पर्शविषयेऽपि चाण्डालस्य साक्षात् स्पर्शे सचैत स्नानमिति सर्वेषामव स्मृतिकाराणानुपदेश —

दिवाकीर्तिमुदक्या च पतित सूतिका तथा ।

शव तस्सृष्टिनि चैव सृष्ट्या स्नानेन शुद्धयति ॥

(मनु)

चाण्डालपुलकसम्लेच्छभिल्लपारयिकादिकान् ।

महापातकिनश्चैव सृष्ट्या स्नायात् सचैलक ॥

(मयूल्दधृतपाञ्चवलयवचनम्)

चाण्डालस्पर्शाने चैव सचैल स्नानमानरेत् ।

(पराशर)

इत्यादि । कामतस्तु चाण्डालस्पर्शे—

पतित सूतिकामन्त्र शव सृष्ट्या च कामत ।

स्नानेन सचैल सृष्ट्याग्नि षृत प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

इति विशेषोऽपि वृत्त्यतिना दर्शित । अग्निस्पर्शो महा-वाहतिहोम इति मयूल्कारादय । वचनेऽस्मिन्—त्यस्य चाण्डालाभिप्रायकमिति सर्वेषामपि निबन्ध काराणामभिमतम् । अथ शास्त्रमनादस्य कामतौऽग्निनिवेशेन स्पर्शे—अकामतौऽग्न्यासे वा कैश्चिद् सचैलमन्मोऽवगह्योत्तीर्णान्मुपसृष्टय गायत्र्यष्टशत जपेत्, षृत प्राश्य पुन स्नात्वा । प्रराचमेत् ।

(च्यवन)

रजस्वला स्त्रिका वा चाण्डाल पतित तथा ।
पालण्डिन विकर्मस्थ शैव स्पृष्टवाप्यकामत ॥
गोमयेनानुलिताङ्ग सवासा जल्माविशेत् ।
गायत्र्यष्टयत जपवा घृत प्रादय निशुद्ध्यति ।

(वृद्धहारीत)

इत्यादिर्विशेषोऽप्यभिहित अयं तु विशेष वर्गाभ्रमोत्तमादर्शरक्षिणां साम्नी
नामस्थन्तपवित्राणां व्रतस्थादीनां वा सम्भाव्यते, सचैत्स्नानमात्रस्यैवेदानीं
शिष्टसमावाहृतत्वदर्शनात्, मन्वादिभिस्तथैव प्रतिपादितत्वाच्च । सर्वाङ्गीणे
चाण्डालस्पर्शे विरात्रमपि पूर्वोक्तगुणवतां व्रतयशादिस्थानामेव च सम्भाव्यते
इति कृत प्रपञ्चेन । चाण्डालस्पृष्टेन चेतनभिन्नेन क्त्वादिना स्पर्शे भाच
मनाच्छुद्धि, एककाल एवैवसस्तराद्यासने तु साक्षादस्पर्शेऽपि स्नानमेव ।

एकघालां समारूढभाण्डालादियंदा भवेत् ।
बाह्यगस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात् ॥

(आपस्तम्ब)

मूढ सस्तरे वाऽसस्पृश्यन्नपि तान् प्रपतो मन्यते ।

(आपस्तम्बसूत्र शूलपाणिधृतम्)

इत्यादि वचनात् । अथ चाण्डालस्पृष्टेन मनुष्यादिना चेतनेन स्पर्शे तु मत
भेद, भाचमनमात्रमिति केचित्—

‘सस्पृष्टस्तैरपस्पृशेत्’

(याश्वल्क्य)

इत्यादिवचनात् । अशक्तविषयमेतद् वचनम्, अशक्तस्यमावे तु तथापि
स्नानमेव, तृतीयेऽपि स्नानम्, चतुर्थेऽस्वाचमनमिति बहवो निबन्धकृत । इदं
सर्वं स्यावसायिस्पर्शे, रजकचर्मकाराद्यत्यजस्पर्शे तु—

चर्मार रजक वेण घोरर नटमेव च ।

एतान् स्पृष्ट्वा द्विजो मोहादाचमेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ (सर्वत)

रजकचर्मवृत्तैश्च न्यातवात्योपजीविनौ ।

निर्णजक सौनिकश्च टक शैलूषकरतया ॥

मुखे भगस्तथा श्वा च वनिता सर्व-र्णगा ।

चञ्च्री ध्वजी वध्यघाती प्राग्यशङ्करकुक्कुटौ ॥

एभिर्यदङ्ग सस्पृष्ट शिरोवर्षे द्विजातिषु ।

तोयेन क्षालनं कृत्वा भाचान्त शुचितामियात् ॥ (धातातप)

इत्यादि वचनान्यवलम्ब्य अकामतः स्पर्शो आचमनमात्रम्, कामतः स्पर्शे स्पृष्टाङ्गकालनपूर्वकमाचमनम्, शिरस्पर्शे तु स्नानमिति शूल्पाणिः प्रायश्चित्त-
त्रिवेके व्यवस्थापयति मयूखेष्वेवमेव । मिताक्षराङ्गदादयस्तन्त्यजस्पर्शनं विचार-
यन्त्येव । इत्थं च—

चण्डालं पतितं व्यङ्गगुण्मत्तं शवमन्यजम् ।
सूचिका सूतिका नारीरजसा च परिप्लुताम् ॥

श्वकुक्कुटवराहाश्च प्राग्यान् सस्पृश्य मानवः ।
सचैल सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुद्धयति ॥

(मयूखे शातातप.)

इत्यादिषु यत्त्वचित् अन्यजस्पर्शं स्नानमुक्तम्, तन्त्रिंशत् स्पर्शविषयतद्बोधोप-
सहत्तन्त्र्यम् कर्मकालपरतया यायजूकविशिष्टब्राह्मणपरतया वा नेयम्, पूर्वोक्त-
वचनैकवाक्यत्वात् । तथैव च व्यवस्थापितं शूल्पाणिमयूखङ्गदादिभिः । कश्चित्त्व-
न्त्यजपदमन्यजपदं वा चाण्डालबोधनायापि प्रयुक्तमुपलभामहे—

तथाहि—

पतितं सूतिकामन्त्र्यं शव स्पृष्ट्वा च कामतः ।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुष्यति ॥
(बृहस्पतिः)

इति वचने, चाण्डालपरमेवान्यजपदं मयूखादिषु निबन्धेषु व्यवस्थापितम् ।

अन्याजानां तु गमने भोजने संप्रमापणे ।
पराकेण विशुद्धिः स्याद् भगवानङ्गिराब्रवीत् ॥

इति पराशरभाष्याऽधृते च वचनेऽन्यजपदं चाण्डालपदतथैव विद्वान्बो-
नयन्तीति । तदित्थं अन्यजशिरसि स्पृष्टे स्नानम्, चाण्डालेन तु यथाकथं-
चित्स्पर्शेऽपि स्नानमेव व्यवस्थाप्यते । अतएव नैमित्तिकस्नानप्रकरणे प्रायेण-
निबन्धङ्गदामिषण्डालादिस्पर्शाएव स्नाननिमित्तकोपात्, न तु सर्वान्यजस्पर्शं
इति । यत्तु व्यासेन—

चर्मकारो भटो भिल्लो रजकः पुष्करो नटः ।
वरथो मेदचाण्डालो दाशद्वयचक्रौतिकाः ॥
एतेऽन्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।
एषा समाधयात् स्नानं दर्शनादर्करीक्षणम् ॥

इति बहून्त्यजानुक्त्वा सर्वेषां सम्मापणेऽपि स्नानमुक्तम्, यद्वा तथैव
पाठभेदेन—

वर्द्धनी नाभितो गोन आशाय कुम्भकारक ।
 वग्निर्यातकायस्य मालाकार कुटुम्बिन ॥
 वरगो मद-चाण्डाल-दास इवत्र शौचका ।
 एतेऽन्यत्रा समाख्याता य चान्ये च समाशना ।
 एषा सम्भाषणात् स्नान दर्शनादकरीडाम् ॥

इति वर्द्धनीनाभितोगोपकुम्भकारमालाकारादीनामन्वयं गणनाया समाशना समाशनायाऽपि स्नानमुक्तम्, तत्र समाशने सङ्कटाना मापानिति निरूपयन्त एतद्विष्णुशङ्खयोरन्वयवानस्थानितमुच्यते परस्पर कर्णे यदुपानुमाया तदेव स्नान निमित्तत्वा व्यवस्थापनीयम् । सामान्यरूपत परस्पर व्यवहारात्त्रेऽन्वय प्राप्तिरस्य बहुभि स्मृतिवृद्धिरपदिष्टत्वात् । तथाहि—

श्वराक वापि चाण्डाल विप्र सम्भाषते यदि ।

द्विजसमाशय कुयोद् सावरी तु सङ्कटपत् ॥

(इति पराशर.)

द्विजसमाशयमात्रे गायत्रीवर इति विक्र पत्र म घनो व्याच इति ।
 हारीतश्चापि—‘गायत्री वा जपेत्’ इति मुष्पष्ट द्विजसमाशय-गायत्रीसङ्कटपत्तयो
 विकल्पमाह ।

‘चाण्डालसंशने समाशया दर्शने च दोष । तत्र प्रायश्चित्तमङ्गलमङ्गल
 संशनम्, समाशया ब्राह्मणसमाशया, दर्शनं व्योतिषा दर्शनमिति ।

(व्यासस्मृत्य, मुमक्षुत्र)

स्मृत्यन्तरेष्वप्येव द्रष्टव्यम् । तथा च चाण्डालसमाशयोपि यदा
 समाशयनात् प्रायश्चित्तत्वन स्मृतिद्वाराणमभिमतम् तर्हि सामान्यव्रतसमाशयनात्
 स्नान कथं युक्तिवह स्यात्, अन्वयजाना चाण्डालपेत्तया द्वैगुण्येनोत्कर्षस्य
 दर्शितत्वात् । किञ्च—यदान्तवृत्तस्यैष्यन्तत्वात्पूर्वज्ञानाचननानामुदरितम्,
 स्मृतिवृद्धिमिदं—तदा समाशयनात् स्नानकृत्या दूरापास्या तस्मात् प्रायश्चित्त
 गौरवान्निमित्तगौरवमुन्नेयमिति न्यायेन यथोक्तसमाशयस्यैव उच्यते ।
 तत्र च युक्तमेव स्नानमिति । इह च स्मृत्यन्तरेषु मन्त्रद्वयेन निर्गताना गोप
 नाभित-वग्निकृ कायस्यमाकारादीनामन्वयं गणनायास्वन्तरादिप्रायेण स्यात्,
 प्रसिद्धमन्त्रि हि बहुपैकनामैवानवा क्त्वाय, कायस्य इति हि प्रसिद्धिता एतद्व
 न् एतद्मूला चातिरिष्यमिधीयते, कर्मानुशोषका, नरावरणस्यैव प्रतिशेन
 सङ्कर्षशेषानि कायस्य इत्यभिधीयते, नाशिता अपि सति केचित्त्वा, सन्ति
 कश्चिन् नीचकर्मसरा प्रतिशेमन्तानोऽपि । तथैव गोपवग्निकृ मालाकायस्योऽपि
 कश्चिदन्वया प्रतिशाम्य अन्वयो विच्छेदा एव कश्चिदशु तथा प्रसिद्धा भवतु ।

व्यासवाक्येऽन्यथा नदम्—‘अन्तमदो ऽस्य, अन्त्या प्रायतेऽन्यथा’ इति व्युत्पत्त्या
शूद्रानामन्यधीषक वा स्यादिति कृतमन्वहतप्रसङ्गेन ।

अथ यत् शान्त्येन शूद्रानामन्यधीष्यारि मितान्—ननुवादिषु निषेध उक्त
स्तत्र च स्नानमनिहितम्, तच्च सध्याग्निहोत्रपूजादिकर्मकाले, ऋतस्यस्यो
विद्वद्वादिदशाविशेष एव विद्येते, न तु पञ्चमहायज्ञाद्यधिकारित्वेन भेदान्-
त्वेनाद्रंतीरिगादेर्विशिष्टयोर्मन्वन्धत्वेन च स्मृतेऽङ्गि स्वीहृतानां पात्राद-
वधिष्ठितानां सर्वेषामपि शूद्राणां शान्त्येनासृष्टत्वे सम्भवति, तथा सति सर्व-
व्यवस्थावैराकुलीप्रसङ्गात् । अत्र एव मदनपारिवात प्रायश्चित्तविशेषेण स्मृति
तत्त्वादिषु गौडमहालिङ्गेषु न ह्यत्रिदश शान्त्येन शूद्राणामसृष्टत्वा व्यवस्था-
यिता, न वा तस्मै स्नान प्रायश्चित्तयोक्तम् । एवं निजाश्रयकृता शूद्रस्य
स्नाननिषेधे—

‘अस्वर्गा ह्याहुति सा स्याच्छूद्रवर्गं प्रेता ।’

इति मानवीय लिङ्गमुक्तम्—तदपि ब्रह्मण्यस्य शूद्रस्य प्रतिषेधदशाविशेष
एव प्रागुक्ते स्नाननिषेध एवपि, न तु सर्वत्र ।

अनुच्छिन्नेन शूद्रेण स्नाने विधीयते ।

तेनोच्छिन्नेन ससृष्टः प्रावानस्य समाचरेत् ॥

इति पराशरवचन चोच्छिन्नेन शूद्रेणोच्छिन्त्य द्विजस्य वा स्नाने प्रायश्चित्तम्
वदतीति स्फुटनेन माषवाचायां व्याख्यातम्—

“यद्यन्तुच्छिद्येच्छिद्यशूद्रो शूद्रविशेषात्तथा भूतो, तस्मिन् विधीयमान-
स्नानप्राधान्यानुकारेण विप्रोऽपि तौ शौचनीनौ” इत्यादि वदन्नात् ।

तथा चोच्छिष्टस्नानेन तद्वचन प्रतिषेधति, न तु शूद्रस्नानान् । तथैव
च शूद्राणिरप्याह—

शैवान् पाशुपान् सृष्ट्वा लोकपतिकनास्तिकान् ।

विकर्मस्थान् द्विजान्शूद्रान् सत्वासा वचनाविशेषम् ॥

उच्छिष्ट ससृष्टेः किमो मय शूद्रं शुनोऽशुचिन् ।

अशौचवोधितं स्नानं पञ्चान्येन शुद्धयति ॥

इति शाठकवचनमपि चोच्छिष्टस्यैव स्नाने प्रतिषेधति न तु सर्व-
कालिकम् ।

शूद्रं सृष्ट्वा निषादं च शुद्धयेदाचननाद् द्विजम् ।

न तद्विनास्नानात्स्नानं प्रायश्चित्तं नोवन्नात् ॥

इति प्रायश्चित्तमयूखधृत गार्ग्यवचन च—

एहक कुक्कुटं काक इवशूद्रात्यावसायिन ।

दृष्ट्वैतानाचमेद् कर्म स्पृष्ट्वा तान् स्नानमाचरेत् ॥ इति—

मयूखधृतेनैव वचनेन कर्मकालविषयतयोपसहरणीयम् । 'कर्म इति कर्मकाले' इति मयूखेनैव व्याख्यातत्वात् । अन्यथावसायप्रभृतीनां तु स्पर्शप्रतिषेधो न कर्मकालविषयतयोपसहर्तुं शक्य बहुस्मृतिवचनव्याकोपप्रसगात् । असच्छूद्रास्य जपरमेव वा वचनयोरनयो शूद्रपदमस्तु—अन्वजादीनामपि शूद्रवर्णेऽन्तर्भावस्य सर्वसम्मतत्वात् । अत एव शूद्रकर्मशास्त्रवेऽपि स्पृष्टमुक्तम् । यत्तु याज्ञवल्क्य—

'विकर्मस्थान् द्विजाग्र शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्' ।

इति शूद्रस्पर्शे स्नानमाह—

तराशादिभिन्नशूद्रपरम्, निषुत्तपर वा । (शूद्राजानिदृचविधिद्वान्नाहणपर वेश्पयं) अन्यथा—

'मूल्यकर्मकरा' शूद्रा दासी दासस्तथैव च ।

स्नाने शरीरस्कारे एहकर्मण्यदूषिता ॥

सद्यः स्पर्शो गर्भदातो मरुदावस्पृष्टान्कुचि ।

इत्यादि विरोधादिनि । शूल्याग्निना चान्त्यजापेक्षया शूद्राणां त्रैगुण्येनोत्कर्ष उक्तं, तद्यदाऽन्तयजस्पर्शेऽपि स्पृष्टाङ्गकालनपूर्वकमाचमनमेव, तदा दूरे शूद्रस्पर्शे स्नानं कार्यम् । तथा च यशूजादिकाल एव सामान्येन शूद्रस्पर्शनिषेधो न । तु सावकाशिक इति मुनिष्पन्नमिदमिति कृतं प्रवक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन । तदि स्थम्—सामान्येन साक्षादन्तयजस्पर्शे अकामकृत आचमनमात्रम्, कामकृते तदङ्गकालनपूर्वकमाचमनम्, शिरस्पर्शे स्नानम्, परम्परासम्बन्धे त्वन्त्यजानां न कचिदोप उक्तं । चाण्डालस्य तु यथा कथंचिदपि साक्षात् स्पर्शे सचैल- स्नानम्, कामकृते व्याहृतिहोमाद्यपि, अचेतनपरम्परास्पर्शे आचमनमात्रम्, चेतनपरम्परास्पर्शे त्वशक्तस्याचमनमिति, शक्तस्य तृतीयपर्यन्त स्नानमिति प्रामा- निङ्गनिबन्धन्यवस्था सप्रपञ्च निर्दिष्टा ।

अथैतस्य स्पर्शदोषस्यापवादं स्मर्यते—

ग्रामे तुभयस्तथ्यात्रायौ कल्हादिषु ।

ग्रामसदूपयो चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥

(शातातप)

ग्रामे—राजमार्गादाविति तद्व्याख्यान मदनपारिजाते—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च ।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

(मदनपारिजाते षट्त्रिंशत्)

परिहितस्य कार्यासनन्तु वस्त्रस्य च स्पर्शे साक्षात् स्पर्श इवेति ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न विद्यते ॥

(अत्रि)

तीर्थे विवाहे यात्राया सम्रामे देशनिष्पन्ने ।

नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

अपहृष्टि च दृष्ट्या सामये पीडिते तथा ।

मातारित्रोर्गुरोश्चैव निदेशे वर्तनात्तथा ॥

(बृहस्पति)

कूपकुण्डे शिलाखण्डे नौकाया गजमस्तके ।

विवाहे तीर्थयात्राया स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(व्यासवत्)

सलम्नेषु तु काष्ठेषु सलम्नेषु तृणेषु च ।

सलम्नेषु च पर्णेषु स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(स्मृतिस्मरणसमुच्चये)

आसन शयन पान नाव पथि तृणानि च ।

चाण्डालपतितस्पृष्ट मास्तेनैव शुद्ध्यति ॥

(बोधायन)

अत्रासनं वस्त्रमिन्न काष्ठकटादिशयन च वस्त्रविरहित शय्यामात्रमिति युक्त प्रतिमिति । चाण्डालादिस्पृष्टपूर्वासनादेरनन्तर स्पर्शे न दोषः, एकासनोपवेशने तु दोष उक्त एव प्रागिति । यस्तु वचनान्येतान्येवं विधेभ्वत्सेरस्वपि न साक्षात्स्पर्शापवादकानि, अपि तु 'य ब्राह्मणेन स्पृष्ट इति प्रत्यक्षज्ञान नास्ति तद् विषयकाणि' इति मतम्, तत्र रोचयामहे । 'स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति', 'स्पर्शदोषो न विद्यते' इति स्फुटमुक्तस्य स्पर्शदोषप्रतिषेधस्यैव मानामावात् ।

'वानशस्तमभ्युनिर्गिच्छमशात च सदा शुचि' इति सामान्येनैव वचनेनाशते स्पर्शे दोषप्राप्तेरेवाभावात्प्रापवादवचनवैपरम्यप्रसङ्गाच्च तावन्मात्रापवादस्ये हि बहुनीमानि वचनान्यशातदशानुवादानि प्रसङ्गपरमिति, अनुवादकत्वे लक्षणप्रामाण्यमेषु समारोपित स्यात् । न च सम्भावन्त्यागतावनुवादकत्वमनुमन्यन्ते

मीमांसादक्षाः । किं चैवं देवयात्राविवाहादिषु नास्त्यसातस्य स्पर्शस्य दोष इत्यन्यत्राज्ञातस्यापि दोषत्वं प्रसज्जेत, कथं च सर्वथा ज्ञातस्य प्रायश्चित्तमनुष्ठीयता सिद्धैः, सर्वदा दोषसम्भावनया सततप्रायश्चित्तपरैर्वा भाव्यमिति सर्वकार्यान्तरोच्छेदप्रसङ्गः । किं च सर्वत्रैष्ववतैरस्वज्ञानं न सम्भवति, नौकायां, संगमे, पीडितादौ च तथाविधस्याज्ञानस्याप्रसक्तेः । न च रोगाक्रान्तः कश्चिच्चाण्डालत्वादिना विशेषणाज्ञान एव रक्षणीयो न तु ज्ञात इति, कश्चिदपि धर्माभिज्ञो धर्माभिमानि वाऽऽभ्युपगच्छेत् । सततमेवापन्नरक्षणस्य धर्मशास्त्रैर्मुदयकर्त्तव्यतयोद्युष्टत्वात् । ततश्चैकप्रैव वचने कश्चिदंशोऽज्ञातदोषाभावात्तुवादकः, कश्चित्तु सर्वस्पर्शापवादक इति वाक्यभेदप्रसङ्गो दुर्बुद्धो दोषः स्यात् । अत एव भीरुधुनन्दनभट्टाचार्यशूलपाणिप्रामाणिकमूर्धन्या अविशेषेण स्पर्शदोषापवादकता वचनानामेषामिच्छन्ति । ततश्च स्पर्शदोषापवादकरूपमेव वचनानामेषां स्व्यवस्थितमन्यामह इति सुधीभिरेव विचार्यतामवधानेन । तदेषा वचनानामवलम्बेन राजनीतिसम्बन्धिनीना सामाजिकीनां धार्मिकीणां वा समानाणामुत्सवेषु न प्राप्नोत्येव स्पर्शदोषः, 'उत्सवेषु च सर्वेषु' इत्यविशेषेणात्रिणा स्पर्शदोषस्यादोषितत्वात्, यत्रैवंविधवह्निसमुदायसम्भवत्तत्र सर्वत्र स्पर्शदोषापवादे सिद्धे द्रव्यव्यायेन सभास्वप्नवादप्रसरस्य वारयितुमशक्यत्वात् । तथा च सामाजिककर्त्तव्यधर्माद्युपदेशार्थं यत्रावश्यकता, तत्रावश्यमस्पृश्यानामप्यधिकारः सभाप्रवेशस्य देयः, एकासनपरिहारस्यावश्यकत्वेऽपि विभिन्न एकतमे प्रदेशे तेषामवस्थितौ धर्मकोपशंकावतारात्, तत्र गच्छता यथा कथञ्चित् यनागते साक्षात् परम्परया वा तत्स्पर्शोप्यपवादवचनाभ्रयेण तत्र दोषानुत्पत्तेः सिद्धत्वाच्च । ये तूत्तमवर्णाभ्रममर्यादादशैरक्षिणस्तादृशसभाम्यो विनिर्गता स्नानानमनादिकं प्रायश्चित्तमन्तरेण चान्तरपरितुष्टास्तथा विधातुमिच्छन्ति, ते विदधतु यथेच्छं प्रायश्चित्तम्, दोषाभावस्य शास्त्रेण सुहृद्वुष्या सौकर्यार्थमनुशास्त्रेऽपि प्रायश्चित्तमनुतिष्ठता दोषस्याबोधितत्वात् । अनुशावाक्यानामतिक्रमणै हि न पातकोत्पत्तिशक्ता, प्रस्युत यद्यप्युत्तमादशरक्षणप्रयुक्तं गौरवमेवेति न कस्याप्यत्र विवादः । येषां स्वप्नवादवाक्येषु विश्वसतो चेतसि न मनागपि शंकातंककलेशः, तेषां न तत्र प्रायश्चित्तयोग्यता, अधिकारदानं तु तद्बुद्धिभेदं निराकृत्य तेषां स्वधर्म रक्षणाय सर्वेषामन्यावश्यकमिति सर्वं चतुरस्रम् । यत्र तु कर्मकारादिषु विशेषेण दोषः स्मर्यते, तत्र सर्वेषामपि स्वर्गपरिहारः, ज्ञाते वा स्पर्शे प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तमेवेति । तथैवाधुनिकेष्वाल्लभायादिविद्यालयेषु, यत्र विद्यादाने नास्ति वर्णाभ्रमव्यवस्थाप्रयुक्तः कोऽपि नियमः, सुमुत्पन्न यथाध्येतुं प्रभवन्ति । विधर्मिणा कुमारा अपि, तत्रैषामन्त्यज-जातीनां कुमारा अपि भ्रूयाद्यतिरिक्तं किमप्यधीरंश्चेद् न तत्र दोषं पर्याप्तः । विधर्मिणामपेक्षयैषा कथमप्यवस्थाभावात्, प्रस्युत गौरवकरत्वेन भवेत्त्वादिति ।

किञ्च द्विजकुमाराणां तादृशविद्यालयेषु प्रवेशः केवलमापदर्शनमनुसृत्यैव वाच्यः, इतरथा वेदमनघोतवता विवेकमापाठानरूपकलाशिक्षायां प्रविशताम्—

योऽनघैरथ द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते भ्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

इत्यादिस्मृत्यनुसारेण—

‘न पठेद्यावर्नो भार्यां प्राणैः कृण्ठगतैरपि ।’

इत्यादिशिष्टप्रसिद्धवचनानुसारेण च पानित्यप्रसङ्गात् । आपदि चापोदित एव स्वर्शादौ इति तेषां धर्मरक्षणशुद्ध्या तत्र विद्यालयेष्वनुज्ञाप्रदाने नावतरति दोषशक्ता । अनापि येषामुक्तधर्मादर्शाभिलाषिणा ग्लानिर्नमनसि भवेत् तैरधीत्य इत्यावृत्ता कुमारा स्नानाचमनादिना शोधनोया इत्यास्ता तावत् ।

अथास्पृश्यत्वेनाभिमनानामप्याधिव्याधिप्रभृतिरागमूतानां स्थण्डिलता तदा पद निवार्य परिरक्षणन्तु सर्वोपायवश्यकर्तव्यमेव । तस्य मुख्यधर्मस्यात्—

श्रान्तसवाहनं रोगिपरिचर्यातुराचनम् ।

पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥

इति भगवता याज्ञवल्क्येन निर्विशेषं रोगिपरिचर्यादेश्चकृष्युत्थापनात्—

नाभिरक्षन्ति ये शक्ता दीनं चातुरमाभितम् ।

धार्तं न चानुकम्पन्ते ते वै निरयगामिनः ॥

(पराशरमाधवधृतं स्कन्दपुराणवचनम्)

इत्थरक्षितुः प.तकभवणात्—

चाण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः ।

अन्नेन पूजनीयश्च परत्र हितमिच्छता ॥

चण्डालोऽथवा पापं शत्रुर्वा पितृघातकः ।

देशकालाम्युपगतो भ्रणीयो मतो मम ॥

(अपराकें विष्णुधर्मोत्तार.)

इत्यादिषु स्पष्ट चाण्डालादीनां हितकरणभरणत्वादीनामाख्यातत्वात् । तस्माद् आपदि मनुष्यमात्रस्य यथाशक्ति रक्षार्थं प्रयत्नमावरणको धर्म इति निर्विवादम् ।

अथ—

‘ब्राह्मणं क्षत्रियो वैश्यं शूद्रो वा यदि वेतरः ।

विष्णुमक्षिप्तमायुक्तो श्रेयः सर्वोत्तमोत्तमः ॥

(स्कान्दे)

मा हि पार्थ द्व्यपाभिरय चेऽपि स्यु पापयोनय ।

स्त्रियो वैश्यास्तमा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम् ॥

(भगवद्गीतासु)

किरातहूणा-त्रिपुलिन्दपुल्कसा

- आभीरकका यवना लसादय ।

चेऽये च पापा यदुपाभयाभ्रया

शुष्यन्ति तस्मै प्रमविष्णवे नम ॥

(श्रीभागवते)

इत्यादिभिर्भूयोभिर्वचनैर्भगवद्भक्तौ मनुष्यमात्रस्याधिकारः सुस्पष्ट सिद्धयति,
मतेष्व—

भ्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।

भजन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

इति पुषार्पिता विष्णो मातृभ्रजवल्लक्षणा ।

क्रियते भगवद्भक्त्या तन्मध्येऽधीतमुत्तमम् ॥

इति नवाङ्गानि स्मर्यन्ते—इति स्मरणोपयोगिविष्णुप्रतिमादर्शनादावपि
मनुष्यमात्रस्याधिकार सिद्धयेदेव ।

चतुर्वर्णैस्त्वया विष्णुः प्रतिष्ठाप्य सुभार्थिभिः ।

इति च देवीपुराणे सर्वेषां वर्णानां विष्णुप्रतिष्ठापनेऽप्यधिकार उक्तः,
किंपुनर्दर्शने । ब्राह्मणादीनां पूज्या प्रतिमा नान्देन स्पृष्टव्या इत्यादिनियमा
स्तथापि विशिष्टप्रतिमान्त दूरतो दर्शनेऽधिकारो न केनापि निवारयितुं शक्यते ।
तथा च विशिष्टेषु मन्दिरेषु दूरे छायापानशकाविरहिते स्थाने स्थितिं प्रकल्प्या
न्यजाना देवदर्शनाधिकार प्रदेयो येन मकरयुद्धेन मुसरकारसिद्धौ धर्मान्तरसिद्धौ
धर्मान्तरप्रवेशशका तेषां समूलमुमूलयेत् भवयागमागिर्व च तेषां भवेदिति ।
तथैव तथा स्वधर्मोन्दरेऽपि धार्मिकैश्चयमवधेयमेव, धर्मज्ञानप्रन्तरेण धर्म
पालनस्याशक्यत्वात्-तत् एव च धर्मान्तर प्रदणशक्योदयात् । विधर्मो हि
जना प्रकारोत्था सर्वानपि मनुष्यान् स्वीय धर्मं बोधयेन्ति यत्तूदासीना इत्येव
धर्मान्तरेऽस्मदीयानां प्रवेश आपतति । न चाय धर्मोपदेश सर्वकल्याणसाधक
कथमपि शास्त्रविद्वद् —

‘एव एव चरिश्च शिञ्चैरन् पृथिव्या सर्वमानवाः’ ।

इत्यविशेषेण ब्राह्मणात् सर्वमानवानां धर्मांशलाग्रहणस्योपदिष्टत्वात् । धर्मसवध
प्रतिषेधस्तु भौतोपनयनादिनिषयतयैव नेय इति ।

अथ कूपसम्बन्धे तु स्मृतिषु निबन्धकृतामपि च मृतद्वैधमिवास्तीति, तथाहि
द्रव्यशुद्धिप्रकरणे—

अल्पैरपि कृते कूपे सेतो वाप्यादिके तथा ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रापश्चित्तं न विद्यते ॥

इति शातातपवचनमुदघृत्य 'चाण्डालादिभूते तडागादौ तु न दोष, इति
मिताक्षराङ्गद्वयवस्थापयति । कूपशब्दस्य मिताक्षरायामनुपादानेऽपि वचने तस्य
तदभावात् वचनावन्विन्यां व्यवस्थायामादिपदेन कूपग्रहणस्य नाप्राप्तत्वात् ।
तेन च चाण्डाल कृते कूपादावपि यदि न दोषस्त्वर्हि चाण्डालसृष्टे तस्मिन् दोषवृत्त्या
दण्डापूर्विकाव्यायेनैव दूरापास्ता ।

खल्लक्षेत्रेषु यद्धान्यं कूपवापीषु यत्नत्रम् ।
निभोज्यादपि तद् भाज्यं पञ्चगोष्ठगतं पय ॥

इति बोधायनवचने, तत्समानार्थके—

खल्लक्षेत्रगतं धान्यं वापीकूपगतं जलम् ।
अमोक्ष्यादपि तद्ग्राह्यं पञ्चगोष्ठगतं पय ॥
प्रपाश्चरण्या कृत्के च सौरे द्रोण्यां जलं क्रीडाविनिर्मुक्तं वा ।
इत्थं चाण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्धयेत् ॥

(आपस्तम्ब)

चाण्डालपरिग्रहीतं यदशानादुदकं पिबेत् ।
तस्य शुद्धिं विजानीयात् प्राजापत्येन निःपश ॥

(अगिरा)

इत्यादिषु स्वीकृतपरिग्रहपरिग्रहीतादि शब्दस्मरणमुपसृचते । एषा शब्दानां
तत्सम्बन्धमिच्छन् एव प्रयोगसामञ्जस्यात् । सर्वार्थमुत्सृष्टं च कस्यापि स्वामित्वाभावात्
देवारण्यकेषु कूपेष्वदोषं स्मर्यते—तत्र प्रायेण दृष्टानामेव सद्भावाभिभवात् ।

अत एव च—

कूपैकपानदुष्टा ये तथा ससङ्गदूषिता ।
सुद्वीनेदोषनासेन पञ्चगव्येन शोधयेत् ॥

इति सर्वतोपस्तम्बयोर्वचनं मयूखकृता एतन्निवाससार्क्यप्रकरणे व्याख्याय
एहकूपादिपरतामेव नीतम् ।

अत्यज्ञैः खानिता कूरास्तडागा वाप्य एव च ।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि च पराशरस्मृतिभाष्ये माधवनाम्न्यज्ञस्वामिकं कूपे
स्नानायम्यासे प्रापश्चित्तबोधकत्वेन व्याख्यातम् । 'चाण्डालपरिग्रहीतं यदशानादुदकं

पिबेदिति' प्रागुक्तं च वचनं चाण्डालेन भाण्डं पृहीत्वा स्वीकृतस्य अल्पस्य पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माघवेनैव व्यवस्थापितम् । 'चाण्डालवानवापीषु इत्यादिकं चापि पूर्वोक्तं वचनं चाण्डालश्चामिकवाप्यादिभिपयकमेवति माघवेनैवोक्तम् ।

चाण्डालकूपमाण्डस्य नर कामजल पिबेत् ।

प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णो वर्णो विनिर्दिशेत् ॥

चरेत्सातपनं विद्याप्राजापत्यं तु भूमिषु ।

तदर्धन्तु चरेत् हि यः शूद्रस्य विनिर्दिशेत् ॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि क्रूरस्थितचाण्डालभाण्डइत्यादिव पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माघबोधिप्रैति । तत एव च—

चाण्डालघृतस्थं तु यत्तु यः पिबति द्विज ।

तत्क्षणात् क्षिपते अस्तु प्राजापत्यं समाचरेत् ॥

यदि न क्षिपते तोयं शरीरं यस्य जीर्णमिति ।

प्राजापत्यं न दातव्यं बृच्छं सातपनं चरेत् ॥

चरेत् सातपनं विप्रं प्राजापत्यमनन्तरं ।

तदर्धन्तु चरद्दैन्यं पादं शूद्रस्य चरेत् ॥

इति पराशरवचनैरेकत्राक्यतापस्तम्बवचनानामुपपद्यते । उभयत्र समप्रायश्चित्तस्मरणात्—पराशरेण च स्पष्टं घृतपदस्य पृहीत्वात् ।*

पितृविवेकः

इह खलु पञ्चयज्ञानुष्ठानमार्याणां घर्मकवीवितानां प्रधानो घर्मः, तदन्तः-
पालो चैव प्रात्यहिकमासिकवापिकादिविविधभेदमिन्नः आद्यापरपर्यायः पितृयज्ञ इति
नैवत्परोक्षं विदुषाम् । तेन यज्ञेन तर्पणीयाः क इमे पितरः । केषां प्रीत्यर्थमिदं
भाद्रमितीदानीं विवेचयितुमावश्यकम् । बहुधा विप्रतिपत्तेस्तत्र सशयदर्शनात् ।
तथा हि—य इमे पितृपितामहादिशब्दा जनकादिवाचकत्वेन लोके निरुद्धास्त
एव यथाक्रमं भाद्रप्रक्रियाया स्मर्यन्त इति रुद्ध्या तत्रापि तेषां जनकादिवाचकत्वं
तावत्प्राप्तम्, तत्र च तेषां क्वीवतामेव पितृशब्दादिवाचकत्वसामञ्जस्यादिहैव भद्रा
(भक्ति) पूर्वकं वित्राद्यभ्यर्हणं भाद्रमिति केचिदवीचीना अभिप्रयन्ति । लोकान्तरगतान्
वित्रादीनुद्दिश्य यद्दीयते तच्छ्राद्धमिति तु स्मार्तप्रक्रियानुसाराणां प्राचा
सराणि । ततश्च विप्रतिपत्तेः संशयते—क इमे पितरः, केषां च प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (१)

अथ केचिदिदानीन्तना रुटिनप्यसहमानाः 'पान्तीति. पितरः' इति व्युत्पत्ति-
मेवानुसन्धाना रक्षकसामान्ये एव पितृशब्दप्रयोगमाचक्षते—अत एव—

अरुच्यदुषस. पृथिनरमिय उक्षा विभर्ति भुवनानि वाबयुः ।

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षुः पितरो गर्भमादधुः ॥

(ऋग्वेद ६. ८३. ३.)

इतिमन्त्रं व्याचक्षाणो वेदमाभ्यकार सायणाचार्योऽपि पितरः पालका देवाः
पितरो जगद्रक्षका रश्मयः' इति पालकत्वसामान्येनैव सूर्यरश्मीनां पितृत्वमुपपादया-
मास । बहुत्र च मन्त्रेषु पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रवृत्तः । युक्तं च रक्ष-
कागामन्त्रादिभिरभ्यर्हणमिति य इमे चौराद्युन्मत्तैः प्रजाः परित्रायन्ते तदुद्देश्यक
एव पितृयज्ञस्तत्र विहितो न तु लोकान्तरगतवित्राद्युद्देश्यक इति तेषां विप्रति-
पत्तिः । ततश्च जायतेऽयं संशयः—क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (२)

मृतकभद्रवादिनोऽपि च केचन 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्याद्यनुरोधात् पितृ
शोभंरथनानामेव पितृनितामहादीनां भाद्रेण वृत्तिमाचक्षते । अपरे तु स्वस्वकर्मा-
नुरोधेन तास्वा योनोऽनगतानामेव तेषां वृत्तिमभिप्रयन्ति । तदाह देवत्र.—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मनुयोगतः ।

तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽभ्यनुगच्छति ॥

गान्धर्वं भोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।

भादान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इति ।

तयानयाऽत्रामृतपिप्रतिष्ठाया विज्ञायते संशय, क इमं सिद्धं देवा वा प्रीत्यर्थं भादनिति (३)

तत्र च शास्त्रेषु सर्वप्रकर्ये तिष्ठा मन्त्रा तत्रैव स्वाहयेन धृयते स्मर्यते च, तथा हि—

देवा निर्ये मनुष्या मन्ववंप्रमथ वे ।

तच्छशास्त्रिरे सर्वे दिवि देवा दिवि भिन्ना ॥

(अथर्व ११. १. २७)

सर्वत्र प्राग्निद्यमेव तन्नोऽप्या ब्रह्मे तदनु ।

निरुद्धमन्वमानस्य नितरहस्य षडिरे ॥

तस्मिन्नि निरुन् सुवा तस्मानने च प्रमु ।

सा चोत्सुष्मत्तस्मिन्ना दिननक्तान्तरस्थिति ॥

निष्पुत्रान् । (१. ५)

वाग्निद्याप्यादिषु तु सम्प्रादरीरादेव तिष्ठानुत्तरेण संस्था च देवा षडस्थानिहिता ।

सहस्रां चतुर्वर्तिष्मिष्मता प्रकीर्त्तता ।

पृथगीतिहरस्राणि यथा बर्हिषदो दिवा ॥

इत्यादिना मन्ववन्तुर्गने षष्टेप्रकरा एषामुत्तरेण्वाह—

कारुत निशानाश्च मन्ववंप्रसोऽपुत्रान् ।

नामान् सर्वान् सुनांश्च भिन्ना च पृथग् गान् ॥

इति । (१. ३०)

यदि तस्मिन्लोकाद्रेता एव नितरोऽपि तस्मिन् नैव देवा सर्गदो इत्युत्तरेण मन्ववारायत । अनिहिते तु सर्वत्र स्वान्मन्त्रैर्देवोत्तरितिति सद्यते क इमे निरुत्त, केषां वा प्रीत्यर्थं भादनिति (४)

निरुद्धमन्वमन्त्रान्तेषु च द्रुधाभेक्यते विप्रिच्छि, तत्र तावद्भवान् मन्त्रैश्च तिष्ठा मतीच्यादृष्टिुत्रमन्त्राह—

मनोहैरुदगर्गस्य वे मतीच्यादयः सुता ।

तेषामृतेण सन्ना पुत्रा निरुग्णा मृता ॥

निराग्मुला सोमस्य सध्याना निरुत्त मृता ।

अग्निष्वादाश्च देवानां मतीच्या मोक्षविभूता ॥

सोमसा नाम विष्ठा मन्त्रियाना इतिदुक् ।

वैश्यानामन्वरा नाम शूद्रानन्दु मुक्षारिन् ॥

इत्यादिना (मनु० ३ अ०)

अपरत्र तु वस्वादिरूपत्वमेषामाचख्यौ—

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहास्तयादित्यान् भुतिरेषा सनातनी ।

(३. २८४)

वस्वादयश्चेमे प्रसिद्धा देवाः । न तु मृतानां पितृणा मरीच्यादिपुत्रत्वं वस्वादि-
रूपत्वं वा कथमपि संभवतीत्युत्पद्यते संशयः क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं भाद्र-
मिति । (५)

तथैव पि॒णामेषामृतरूपत्वमपि दृष्टम्—“ऋतव पितरः” (शतप० भु०)

‘ऋतवः पितरो देवा इत्येषा वैदिकी भुतिः’ ।

(वायुपुराणे)

मासाश्च पितरो ज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः ॥

संवरस्यः प्रजाना च सुष्ट्रैकः प्रपितामहः ।

(आदित्यपुराणे)

भगवान् मनुषि च भाद्रप्रक्रियाया—

‘षड्रत्नं नमस्क्रुयान्पितॄन्नेव च धर्मवित्’ ।

(३. २१७)

इत्यभिदधत् पितृणामृतरत्वं व्यञ्जयतीव । महीधरोऽपि—

‘नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय ।

यजुः सं (२. ३२)

इति मन्त्रभाष्ये पितृणामृतरत्वं व्याखरुषौ । कथन्तु मृताना पितृणामृतरूपत्वं
सभवेदिति संदिह्यते क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (६)

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवमानवाः ।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चर स्यात्तनुपूजंशः ॥

(३. २०१)

इत्याचञ्छाणो भगवान् मनुः पितृषु देवानामपि जनद्वस्वमभिप्रेति, देवाना
च मनुष्यादिसकलजगत्कारणस्वमन्त्राह । ततश्च कथमितः प्रेतानां मनुष्याणा पितृत्वं
संभवेत्-मनुष्यसत्त्वादपि पूर्वं तत्कारणानां देवाना ततोऽपि च पूर्वं तत्कारणाना
पितृणा प्रसिद्धेः । तस्मात् सुदृढोऽयं संशयः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं
भाद्रमिति (७)

अधेयमितरथैव पितृणामुत्पत्तिः भयते शतपथभृतौ—“महाहविषा ह वै देवा
वृधं जघ्नुः, ते नो एव द्यजायन्त—देवनेषां विजितिस्तोम् । अय यानेवैषा तस्मिन्
संप्रामेऽर्धंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त—पितरो वै त आसंस्तस्मात् पितृयज्ञो नाम ।

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा -२ते ते ये व्यनायन्त । शरद्धेम त शिशिरस्त उ ते यान् पुन समैरयन्त" (१ का० ६ अ० १ ब्रा०) इति । इह हि पूर्वं वृत्रेण हताना देवविशेषाणामेव शिष्टैर्देवै विवृत्यष्टासमेन कर्मणा पुन समागतानां पितृत्व व्याहृतम्, तदुत्तर चैषामृतुरूपत्वमेव प्रागुक्तमुपसंहृतम्-न तु कथमसीत प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं भ्रुतमिति समुद्देशेति सशय -क इमे पितर केपा वा प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (८)

अथ तत्रैवाग्रे पितृविशेषाणां नामनिरुक्तावयथैवेद प्रतीयते--"तथे सोमेने ज्ञानारते पितर सोमवन्त, अथ ये दत्तेन पश्वेन लोक जयन्ति ते पितरो बर्हिषद, अथ ये ततो -यतरश्चन धानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वाचा एत उ ते ये पितर " इति । इह हि सोमयज्ञदानाग्निहोत्रादिकारिणां मनुष्याणामेव पितृत्वमाख्यातम् । "अग्निरेव दहन् दहन् स्वदयती" सुक्त्वाग्नि दग्धाना मृतपुरुषाणामेवेह पितृत्वं युक्तमुक्तमिति तु न भ्रमितव्यम् । तथा सति सर्वेषामेव पितृणा मन्मतेऽग्निदग्धत्वाविशेषाद्विभागत्रयस्यासंगतत्वापत्ते । तस्मात्सोमयागदानादिविरहिते केषुचान्निहोत्रिणि गौण एवविध प्रयोग इत्यवश्यमुप गन्तव्यम् । ततश्च तथाविधानां मनुष्याणामेव पितृत्वमत्र रथापितं भवतीति विप्रतिपत्ते सशय्यत एव-क इमे पितर, केपा वा प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (९)

हरिवशे तु पितृणामुत्तिरियं किलक्षणैवाख्यायते-(अ० १७)

देवानस्तुजत ब्रह्मा मा यक्षयन्तीति भार्गव ।
 तमुत्सृज्य तथात्मानमयनस्ते पलापिन ॥ २२ ॥
 ते शप्ता ब्रह्मणा मूढा नश्वता दिवोकस ।
 - न श्म किंचिद्विजानन्ति ततो लोकोऽप्यमुष्यत ॥ २३ ॥
 ते भूय प्रणता शप्ता प्रायाचन्त पितामहम् ।
 अनुग्रहाय लोकानां ततस्तानब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥
 प्रायश्चित्त चरुं वै व्यभिचारो हि व कृत ।
 पुत्राश्च परिपृच्छथ ततो ज्ञानमवाप्स्यथ ॥ २५ ॥
 प्रायश्चित्तक्रियार्थं ते पुत्रान् अप्रच्छुराचैवत् ।
 तेभ्यस्ते प्रयतात्मान शशमुस्तनयास्तदा ॥ २६ ॥
 प्रायश्चित्तानि धर्मशा धारुमन कर्मज्ञानि वै ।
 शसन्ति कुशला निरय चक्षुर्धामरि नियथ ॥ २७ ॥
 प्रायश्चित्तार्थतश्च लब्धशशा दिवोकस ।
 गम्यता पुत्रकाश्चेति पुत्रैककाश्च ते तदा ॥ २८ ॥
 व्यभिचारास्तु ते देवा पुत्रवाक्येन निन्दिता ।
 पितामहपुत्रागच्छन् सशयन्देदनाय वै ॥ २९ ॥

ततस्तानब्रवीदेवो यूय वै ब्रह्मवादिन ।
 तस्माद्यदुक्तं युष्माकं तत्तथा न तदन्यथा ॥ ३० ॥
 यूय शरीरकर्तारस्तेषां देवा भविष्यथ ।
 ते तु ज्ञानप्रदातारं पितरो वो न सशय ॥ ३१ ॥
 अन्योन्यं पितरो यूय ते चैवेति न सशय ।
 देवाश्च पितरश्चैव तद्ब्रुष्यध्वं दिवौकस ॥ ३२ ॥
 ततस्ते पुनरागम्य पुत्रानूचुर्दिवौकस ।
 ब्रह्मणा ऽभिषदेहा प्रीतिमन्त परस्परम् ॥ ३३ ॥
 यूय वै पितरोऽस्माकं यैर्वयं प्रतिबोधिता ।
 धर्मंशा कश्च व कामं को वरो व प्रदोयताम् ॥ ३४ ॥
 यदुक्तं चैव युष्माभिस्तत्तथा न तदन्यथा ।
 उक्ताश्च यस्माद्युष्मामि पुत्रका इति वै वयम् ॥ ३५ ॥
 तस्माद्भवन्त पितरो भविष्यन्ति न सशय ।
 यानिष्ट्वा तु पितृञ्छ्राद्धे क्रिया काश्चित्करिष्यति ॥ ३६ ॥
 राक्षसा दानवा नागा फलं प्राप्स्यन्ति तस्य तत् । इत्यादि ।

अनेन च प्रकरणेन देवानां पुत्रां देवविशेषा एव स्वपितृभ्यो विद्याप्रदानेन पितृत्वमापुरिति स्फुग्भेव प्रतीयते । भगवता मनुनापि सञ्ज्ञेयत, सूचिनोऽयमर्थ —

अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरस कवि ।
 पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिशुद्ध तान् ॥
 ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यव ।
 देवाश्चेतान् समेत्योचुर्न्याय्य व शिशुश्चवान् ॥
 अशो भवति वै बालं पिता भवति मन्त्रद ।
 अश हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥

(म. सू. अ. २)

इत्यादिना । ततश्च त्रिशिष्टविद्याशास्त्रिणां मन्त्रार्थानुपदिशतामेव केषाञ्चिरेव विशेषाणामितरेषां वा पितृत्वमिदं प्रविद्धयेन्न तु सामान्यतो मृतपुरुषाणामिति समुदेति सदेह—क इमे पितर, येषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति । (१०)

अथापि च पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियायां भूतौ—“आयन्तु न पितर सोम्याशोऽग्नि-
 प्वात्ता पथिभिर्देवयानैः” (य० सू०)

“सर्वोत्तमान्मन आवह पितृन् हविषे अत्तवे” (अय० सू०)

इत्यादिषु मन्त्रेष्ववाहनलिङ्गदर्शनात्पितृणां यजमानसन्निधौ प्राप्तिं प्रतीयते—
 तेनच देवा इव भवयुः केचन पितरोऽपि विलक्षणशक्तिमन्तश्चेतनविशेषा, मीमांसक
 प्रक्रियामनुसृत्य मन्त्रमयादिविग्रहा वा—इति प्राप्नोति । पूर्वोक्ते “तस्याज्ञममृत

भूवा देवतेऽप्यनुगच्छति” इत्यादिभिः स्मृतिवचनेषु यद्यमानदत्तस्यास्यैव, वितृणां संनिधौ प्राप्तिः प्रतीयते—इति पूर्वजन्मनि यद्यमानविभ्रादीनां तत्त्वोनिगतानामेव वितृत्वं भवेदिति प्राप्नोति । तत्र च बहुविधाभिरानिर्विश्वगामिर्विप्रतिपत्तिभिः सुहृदोऽयं संशयः क इने पितरः केषा वा प्रीत्यर्थं भादमिति । (११)

तदित्यं भ्रुनिस्मृतिप्रामाण्येन वितृरदार्यनिर्वचनस्यावश्यकत्वे प्रसक्ते केचिदिदानीन्तनास्तावदित्यमानिश्रन्ते—मृतान् प्रवित्तादोनुद्दिश्य प्रतिमासं प्रतिरवर वा रिण्णादिप्रदानं ब्राह्मणादिभोजनं चेति सर्वथा प्रमाणशून्यत्वाद्गुणरपत्तिविषयत्वाच्चाक्षानकल्पित एवायं केषांविदाधुनिकस्मार्तानां पन्थाः । तथा हि—स्वकृतमेव कर्म स्वैवोपमुञ्चत इत्यस्ति तावद्दीधराज्ञासिद्धः सर्वथाऽप्यभेदरितः प्राकृतिको नियमः सर्वत्र तैर्यिक्तेरमुपेतः । प्रतिपादितं हि यद्यमानस्यैव कर्मफलवृत्तत्वं महतादभ्यन्तरेण पूर्वनीमात्तापान्, उररीकृत चैवदेव सर्वैरपि दार्शनिकैः । इह तु पुत्रादयः कर्मकृत, विनादयश्च उत्सृज्याज-तानि सुखेष्ट नियमस्यास्य व्यतिक्रमः प्रथमो दोषः । इतश्च प्रेतोऽयं जन्तु स्वकृतकर्मोत्सृज्यापितास्ता योनीव्यसिद्धिस्तदास्य एव शरीरान्तरमुदपृच्छातीत्युक्तं भ्रुतिस्मृतिषु ‘तद्यथा तृणजलायुक्ता तृणस्यान्तं गतवान्यक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्यात्मविद्या गमीयत्तान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति, (बृहदारण्यकोपनिषदि ७.४.३) इति भ्रुतिः ।

‘ब्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

यथा तृणजल्लुकेवं देही कर्मगतिं गतः ॥ (भी माग० १०, १)

इति तदनुगामिनी स्मृतिश्च तृणजल्लुकानिदर्शनेन शीवस्य पूर्वदेहमपरिच्छहत एव देहान्तरसम्बन्ध बोधयन्ती देहान्तरप्राप्ती कालविश्रम्बं वारयति ।

शीर्णानि वासासि यथा विहाय नवानि पृच्छति नरोऽपराणि ।

एवं शरीराणि विहाय शीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥ (म. गी)

इत्यादावपि वासोदृष्टान्तेन हृदित्येव देहान्तरपरिमहः श्रम्यते । देहान्तरमुपगतस्य च देहिनी यथाकर्मैवाक्षपानादयस्तत्र तथैव विधात्रोपपाद्यन्ते इति प्रत्यक्षमेतदनुभवामः । न हि क्वानि केऽपि जन्तवोऽप्रायलभमानाः पौर्वमवीयपुत्रादिकृतं भाद्रमपेक्षमाणाभ्यासाम्भिरनुमूयन्ते । भवेयुश्च केचिदत्मदादीनामपि पूर्वजन्म सम्बन्धिनः पुत्रादय इति तत्कृतं भाद्रं वयमपि कदाचित्त्वेमेमहि, ‘आयन्तु नः पितरः’ इत्यादिभिर्मन्त्रैराहूताश्च तदन्तिकमुपसरेम नत्वेतदेवं कदाप्यनुभवाम इति नान्देऽपि जीवास्तपानुभवन्तीति स्वदृष्टान्तेनैवाध्यवस्थामः । तथा च देहान्तरसम्बन्धमुपगतान् जीवान् प्रति भाद्रविदमप्रयोवकं सिद्धमेव । यदपि मनुष्यशरीरेष्वानिद्य केचन पिशाचाः शुद्धिमर्थयमानाः भयन्त इति तदर्थमेव भवे-

च्छाद्रमिति केपि समादध्यस्तदप्येनदबुधन्नवञ्जनामात्रम् । निशाचाना तदा
 वेशानामपि च विद्याविहीनप्राप्त्यजनमात्रभेदेऽस्वात् । लोकवञ्जनामेव परम पुरुषार्थ
 मभिमयमानानामन्यञ्जीवनीपायविरहिताना कस्यांचिदलसधूर्ताना मायामात्रमिय
 निशाचलीलेति क एतदुक्तिं प्रमाणकोटौ प्रवचयेत् प्रज्ञाचग । अम्युपगमवदेऽपि
 च देशामेव पितर निशाचवमुपगतास्त एव भाद्र कुर्वन्तु, अन्ययोनिगत्पितृ
 काणा तु भाद्रमिद सर्वथा चर्यमिति नैतन्नित्यकर्मतयावस्थापयितुं शक्येत । न
 हि सर्वेषामेव पितर निशाचवमुपयान्तीति एप्रन वस्तुन्, इतरसर्वविधमून्सृष्टि
 विलेपप्रसङ्गात् । न च निशाचत्वमनुभूयैव तत्तामु योनिभूयरा वाच्यम्,
 मानामान्तु कृति देहन्तरसर्वबोधकपूर्वोक्तभ्रुतिस्मृतिविरोधात्तेष्व, कर्मानु
 सारिणी बीजगतिश्चैव सति विरोधिता स्यादिति शक्येतिदेत् । तथा च क्षया
 होत्तर दशदिनवपन्न गन्धरिक्लनार्थं दशगात्राभिषेप णिण्डादिप्रदानम्,
 मृतस्य पित्रादे पत्रामहादिभि सजोजनस्य सपिण्डीकरण निष्पाद्युपपत्तिशून्या
 सर्वा अपीमा भ्रुतिस्मृतिविषदा कुक्लनना निरस्ता वेदितरा । जननान्तरेषु
 गात्राग तुक्रशोभिनादिभिरेवोत्पादनोपस्थात्, एवकर्माग्यनुसृत्य यत्र कुत्राप्य
 बरिष्यै पित्रामहादिभि पित्रादीनां सजोजनस्य भाद्रयतेनाप्यशक्यत्वाच्च । न च
 कापि भ्रुतौ मन्त्रादिस्मृतिष्वपि वा गात्राद्युरत्तिरेवविधाभिहितैस्त्वल्मप्रामाणिक
 प्रकल्पनाल्लग्ननायात्तेन । अम्युपगतेऽपि च सर्वेषां जीवाना क्षियरहालपरिमिते
 प्रेतस्ये नेद भाद्र नाम कर्म नित्य विष्णुत्, तत्तयोनिप्राप्तेरनन्तरमस्याप्रयो
 जकताया प्रतिपादितत्वात् । नित्यमेव तु भाद्रमभिमयन्ति स्मृतयो न तु नियतका
 लमिति नेद मृतपित्राद्यर्थं स्यात् । ननु भो नित्यपितर इमे वस्वादयो देवास्तत्त
 द्योनोरुपसृजानपि मृतान् पित्रादीनुपवर्णयन्तीति वयमभिप्रेम—उदेतदुक्तं भगवता
 याश्वल्क्येन—

बभूवुद्रा दितिमुता पितरः भाद्रदेवता ।

प्रीगयन्ति मनुष्याणा पितृनाब्देन सर्विजा ॥ इति ।

प्रत्यक्षसिद्ध चेन्त्, देवा एव सन्वेतेऽस्मदादिभ्य अन्नाद्युपहरन्ति सर्वत्र ।
 सूर्यादिदेवानामेव जन्मप्रवर्तकशोभामात् । न सन्वन्निवात्वादिष्यादिदेवेष्व
 ननुकृतेषु कश्चिदपि कृष्यादिजन्यमन्नमीशीत लभ्युम्, देवाश्चैतेऽस्मदादिभि
 यंशैराराधिता एवोपयात्पनुकृत्तामिति सविस्तर समर्थित एषोऽर्थो भगवद्गीतासु—

‘देवान् मावयन्तेन ते देवा मावयन्तु व ।

परस्पर मावयन्त भेष परमवाप्यय’ ॥

‘अन्नाद् भवन्ति मृतानि पञ्चन्यादन्नसम्भव ।

यथाद्भवति पञ्चन्यो यत् कर्मसमुद्भव’ ॥

‘एव प्रवर्तित’ चक्रं नानुवर्तयतीह य ।

अथायुरिन्द्रियारामो मोघ पायं स जीवति ॥

इत्यादिना-अन्यथापि च स्मृतिषु ‘आहुत्याध्यायते सूर्यं’ इत्यादिना । वस्तु वदन्ति तु पितृनित्यादिना न भगवता मनुना देवानामेषां आद्रेऽपि सप्रदा नत्वं नन्वस्मुपगतमेव । तथा च आद्वयज्ञेनास्मदादिभिराराधिता इम आदित्या दयो देवा एव । पञ्च-यादिद्वारात्राद्युत्पाद्यास्माक पित्रादीस्तत्र तत्रावस्थितानधु पतपयन्त्येवेति किमनुपप-नमिति चेदहो भ्राम्यन्ति भवन्त । अवश्य वस्वादित्यादि देवानामेषा जगच्चक्रप्रवर्तकश्च सांश्रत वक्षुम्, न तु तत्र प्रवर्तनाया किमपि वैपम्य सुपवादिषितुं शक्यम्, वैपम्यमन्तरा च व्यर्थमेवेद आद्र नाम कर्म । सूर्यादयो देवा हि सामान्येनैव जगदिदमुपकुर्वन्ति न तु आद्रकर्तुरधिकं तदकर्तुरल्प वा फल प्रदातुमीशते, जडात्वात्, सर्वसाधारण्येनैवैषा प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च । एतश्च आद्र निधाता तदनिधातापि च तुल्यमेव फल यदि लभेयाताम्-कृत तर्हि शक्यरीरो-द्वर्तनायमानेन निष्कलप्रयासेन आद्रेण नामानेन कर्मणा । न चेदपि वय आद्र कुर्याम, अवश्य तदपीमे सूर्योदयोऽस्मत्पित्राद्यर्धमन्नाद्युपहरेयुरेव निर्वाहणायैव किल जगच्चक्रस्य परमेश्वरेणोम उत्पादिता इति, ततश्च किमस्माक आद्रविधानेन फलमिति कृतधिय एवैवद्विचिन्वन्तु । न चाय नियमस्तत्रास्थातु शक्यो यच्छ्रेऽस्मदत्त-मन्नपानाद्यस्मत्पितर एवोपमोक्षयन्तीति चेतनस्य हि कस्यचिष्ठापकस्य सत्त्वे तद्यथा भवेदाप । अचेतनास्तु सूर्यादय इत्यसङ्गदवाचाम । ततश्च जगदुपकारदुदयेव हवनादिषु प्रवृत्ति क्यचिच्छ्रेयसे स्यात्, पित्राद्युपमोगमुद्दिश्य प्रदान त्विदमात्मन परेषां च प्रतारणमाश्रमेवेति विज्ञायतां विधे ।

अथापि केचन ब्रूयु मन्त्रसामर्थ्येनैवास्मदत्तमन्नपानाद्यस्मत्पित्रादीनुपस्थातु महतीति, त एतेऽपि ननु श्चीयमज्ञान मन्त्रेश्वारोपयन्तीत्युपेक्षया एव । न हि मृतेभ्य पित्रादिभ्योऽन्नपानाद्यनुप्रापयामीति कस्यापि मन्त्रस्यार्थं शक्यते सऽप दर्शयितुम् । यदि च भवेदेवविध मन्त्रेषु वस्तुप्राणसामर्थ्यं तर्हि श्चीकृद्भ्योऽपि विदेशावस्थितेभ्य इष्टेभ्य किमपि वस्तु मन्त्रेण संप्रेष्य परीक्षणीय तदेतत् । सोऽयमत्र कर्मणि प्रत्यवलिष्ठमानाना चिन्तन प्रवाद ।

मृतानामिह जन्तूना आद्र चेत् तृत्तिकारणम् ।

प्रस्थितानां हि जन्तूना वृथा पायेयकल्पनम् ॥ इति-

किञ्च मृतेभ्योऽनुप्रदीपमानमिद पिण्डाद्यज्ञेय यथापूर्वमवस्थित पदयाम इति किं कुत्र मन्त्रेण नीतम् ? गोब्राह्मणादीनामुदरसाकृतमेव त्विदमग्नादि पितृन् समुपेयादिति नात्र कल्पनामात्रे किमपि बीजमनुप्रपश्यामोऽन्यथाज्ञानात् । एतेनै वान्निक्षेपादिसाम्प्रत्यवापादयन्तो निरस्ता वेदितव्या । अन्वो प्रक्षिताना हि

इविधा सूक्ष्मीभूयान्तरिक्षादिगमन विज्ञानानुमोदितमपि स्यात्, ब्राह्मणादिभुक्ता नान्तु कान्यत्र गमन समुदाित विविच्यता किञ्चित् । तस्मादुपगतिविरोधन्नास्देव मन्त्रेषु तथाविध सामर्थ्यम्, न च काऽपि मन्त्रो मृतभ्रातृ कथञ्चिदप्यनुकूल इति यत्किञ्चिदेतन्मन्त्रसामर्थ्यात्थापन नाम । किञ्च नेद मृतभ्रातृ नाम कर्म वेद सिद्धमनादीति स्फुट ख्यापयति पुराणेषूपभ्यमानाख्यायिका । तथा हि महाभारत स्यानुशासनिके पर्वाणि—

“केन सकलितत भ्रातृ कस्मिन् काल किमात्मनम् ।

भृशङ्गिरसके काले मुनिना कतरण वा” ॥

(अ० ९१)

इत्येव युधिष्ठिरेण पृष्ट पितामहो भीष्म आह स्मेतिहास पुरातनम् । स्वायम्भुव स्यात्रैर्वशे दत्तत्रेयसुतो निमिनां तपस्वी स्वपुत्रे श्रीमति निषनमुग्याते भृश शोकातुरमानसोऽमावास्यायां ब्राह्मणानाहूय पुत्रस्येष्टमन्नपानाद्यभोजयत् । ततश्च दक्षिणामेषु दमेषु नामगोत्राद्युदाहरन् पिण्डस्थारनमप्यनुविदधे, कृत्वा तु सर्वमेतत्कर्म पश्चादनुतनार चिन्तयामास च—

अकृत मुनिभि पूर्वं किं मयेदमनश्चितम् ।

कथं नु शापेन न मा दहेषुब्राह्मणा इति ॥ इत्यादि ।

तदनु तु समात्तरतत्रभवान् मगवान् वशप्रवर्तकोऽपि सर्वमप्येत्द् ब्रह्मणैव पुरा दृष्टम्, तदेतत्कर्म भयताद्य प्रवर्तितमिति मा भैषेद् भवानित्यादिना परितोष्य गत इति । वराहपुराणेऽपि समुपलभ्यते उपरिहरा सेयमाख्यायिका, उक्तञ्च तथा प्येतदेव नुतप्तेन निमिना नारद प्रति—

शोकस्नेहप्रमादेण एतत्कर्म मया कृतम् ।

न च भूत मया पूर्वं न देवैश्चरिभि कृतम् ॥

भय तीव्रं प्रविशामि मुनिशापस्तुदाहृगात् । इति ।

तयानयाख्यायिकया, स्फुटसे त्रसिद्धयति, यपुराऽस्य कर्मणो नासीन्नर्चापि क्वचित् । शोकानुतप्तेन तु निमिना पुत्रस्नेहात्तदिष्टमन्नपानादि तत्प्राप्तिसुदया ब्राह्मणेषु प्रदत्तम् । सेयमज्ञानान्यस्नेहवशवदाना नैरुगिन्की प्रवृत्तिर्न त्वेव धर्मो मन्त्रिमहति, गतानुगतिकत्या तु लोके सेयमेव प्रमाणीकृतेति मोहविलसितमेत् । यदि स्वनादिसिद्धा भगवती भृति कर्मैतदभिप्रेष्यत् तत्तद्दि मुनि स निमिर्न च भूत मया पूर्वं न देवैश्चरिभि कृतमिति न भ्यधास्यत् । तत एवाभगम्यते नेद भृतिसिद्ध कर्मेति ।

अनन्तर तु यदिद् ‘ब्रह्मणैव पुरायं त्रिभिर्दृष्ट’ इति ख्यापित, सेय शैली पुराणानाम् । अर्वाकप्रवर्तितमपि हि कर्म पुरातनतममेवात्र ख्याप्यते । ब्रह्मणा

तु यद्य विधिर्दृष्ट स्यात्, कथं न तर्हि तत् पुरातनैशु धिमेस्पादगत स्यात् । अस्याश्चाख्यायिकाया सत्यमुगीयत्वाख्यानमपि पुराणशैलीप्रसिद्धम् । वस्तुतस्तत्रा कृतनैरखानवशंबदेरेव कर्मोदमतुप्रवर्तितम्, केवलं तु कर्मोदस्य श्रौतत्वामाव एवाऽऽख्यायिक्याऽनया साधनीय । श्रौतत्वामावे च सिद्धे सर्वानुपादेय- मिदमुपपत्तिविद् भूतधाद नाम कर्मोति सिद्धमेव । अमुपादेते चारिम्न कर्मणि पापनरायणा अपि जना पुत्रादिकृतेन भाद्रेण सुख र्गो लप्स्यामह इति निश्चया स्यु । स्वर्मानरताश्चाप्युत्सु पुत्रादिषु द्विगुणाभावादिनाऽसम्बन्धपरि वा भाद्रे नरकमीकतामापयेरिति महतीय समाहुरस्या प्रकृतन । तस्मान्नेव लज्जु भाद्रेऽप्रदानमृता मृता पित्रादयः, न वा तथा प्रीत्यर्थमिदं भाद्रे नाम कर्म । के तर्हि पितरं भाद्रेऽप्रदानमृता इति चेत्तत्रैवमाहु । अनेकधाऽपि पितृशब्द प्रविद्यति, सन्ति ननु पितृवितामहादिशब्दा अनकादिषु निरुद्धा, अस्ति च 'पातीति पितर' इति नैवक्तानो विवृतिमुपजीव्य पालकत्वसामान्येन पितृशब्द प्रयुक्त । सोऽपि तस्करादिविविधमीनिम्य प्रजा परिपालनार्हेषु वक्ष्यामिषु विविधा विष्कारादिभिर्जगदुपकुर्वन्तु विविधप्रियावृत्तेषु च पितृशब्द स्थाने प्रयुक्तः । त इमे मनुष्यपितर । क्वचित्तु पालकत्वसामान्यविवक्षयेव जडेभ्यश्चैव वाग्वादिषु वसन्तादिषु सूर्यकिरणादिषु वायुपत्रात्रयत्राणि वा भवेदयं पितृशब्द प्रयुक्त । ए त्वय पितृशब्द सर्वत्राणि क्लियशब्द, पात्रकत्वसामान्येनैव स्य प्रयुक्तः । अति शब्दत्वं स्वस्यावज्ञाणा सर्वथा भ्रन्ता, पितृनामिकाया कस्याश्चनापूर्वजातेऽप्यु पगमे मानाभावात्, पत्नीनि पितर इत्यादिनिवृत्तिरिरोधाच्च । तत्र इमं उभयविधा मनुष्यपितर आख्यातास्त एवास्माकं पितृशब्दे (भद्रे) सप्रदानमृतास्तेषामेव च प्रीत्यर्थमिदं भाद्रे नाम कर्म । युक्तं हेतुत्—वार्दक्यमुपगताना अनकादीनामुप कारकाणां रक्षकादीना चाम्यर्हणस्य सर्वथा समुचित्वात् । तत्र यदिमे गृहावस्थिता एव पितृवितामहादय स्वयमुपाजयितुमशक्ता पुत्रादिमित्त्वगानादिना भद्रापूर्वकं मभ्यर्च्यन्ते स प्रारम्भिक भाद्रे । उक्तोऽयमपि स्मृतिवृद्धि—

‘कुयोदइरह भाद्रे पितृम्य प्रीतिमक्षयाम्’ ।

‘अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयन्पितृवह अन्म्’ ॥ इत्यादिना ।

ये तु वानपस्थभ्रमगता पितृवितामहादयो वने निवसन्ति, ये च द्वितीयास्त स्करादित परिश्रितार पितरस्तेषां भद्रायाऽभ्यर्चनस्यान्वहमशक्यत्वाऽमात्रारथाया मपराहे विशिष्य तदर्थं भाद्रे उक्त । तस्मिन् हि कालेऽवश्यं ते सर्वेऽपि समानाभ्य भद्रयाऽभ्यर्चनीया मोक्षनीयाश्चेति । अनेन हि पुत्रादे सुखदा मक्तिस्तथा च सुपुत्रता ख्यातिता स्यात् । ज्ञानोपदेशादिना च ते पितरोऽस्याप्युपकुर्वन्तु । रणकारु पितर प्रतिपदमेवोपकुर्वन्तीति युक्तैः प्रयुपचिन्वीर्या तेषामभ्यर्हा । अत एव तु त्रिपुत्र भवेद भाद्रे विधीयते सर्वत्र । पितृवितामहादयः पितामदानेवोदित्य विधीयमानत्वाच्छा

द्वय । भ्रातृयोग्येन हि पुरुषेऽन्तत्कृत्य एव पूर्वपुरुषा शक्यन्ते जीवन्त उप
 लभ्युम् । बृहस्पतिनामशादीना हि जीवनामुपलम्भोऽसंभवप्राय एवेति । ये तु मृताना
 भ्रातृमाहुरते त्रिपुरुषोद्देशकत्वं भ्रातृस्यापराध्या व्यनस्थापयितु सर्वथाप्यशक्या ।
 तथैव खल्विमे भ्रातृप्रशस्तं दक्षिणमपन शरद्वतु, कृष्णः पक्षोऽमावास्या तिथिर
 पराहो दिक्समाग इत्याद्या समयविशेषा अप्यस्मिन्नेव कल्पे समयगुपपद्यन्ते ।
 तथा हि सर्वत्रैवात्र त्रिंशत्पि पिचारे प्रवर्त्यमाने स्फुग्मेवेद परिलक्ष्येत यदापूर्व-
 मागो दैव काल, अपक्षीयमानस्तु पितर इति द्वास्त्ररक्ष्यमिति । उत्तरस्यां दिश्य
 यमानस्य भगवतो मरीचिमालिन समधिकमुपनीयते तेज इति स दैव काल ।
 दक्षिणस्या तु दिश्यमानस्यात्तरोत्तरमन्त्रीयत एवेति स एव विंशत्पि दिश्य
 काल आख्यात । तत्सम्बन्धादेवद शरदोऽपि दिश्यत्कल्याख्यातप्रायमेव । कृष्ण
 पक्षोऽमावास्या तिथिर्धेनि चन्द्रसम्बन्धेन विरच्यम् । शुक्लपक्षे हि क्रमिकामुन्नतिम-
 धिगच्छन् पूर्णायां पूर्णयैव विद्योतते भगवान् कुमुदबन्धु । कृष्णे तु पक्षे प्रत्यहम
 पचीयमानोऽपत्या नामरैष्वामेवावगाहते । सर्वतोऽन्वयतमसपरिप्राप्ते च सप्यत
 रजनीति स एवाख्यात पितर काल रक्ष्यमेव प्रातरारभ्य प्रतिशतमधिकाधिक
 प्रहरि चण्डमानो प्रदीनितामन्वाहमेति सोऽय दैव काल । ततश्चपराहमार
 म्यानुज्ञामुपभयमेनोपयातीति सोऽय नियमित पितृणा काल, इत्यनेव तत्रतत्र सर्व
 शालोच्यम् । अस्य च स्फुग्मयमेवाभिप्रायो यद्विद्यादलादिभिरायौवनमुपचीयमा
 नास्तत्र तत्र प्रपद्यतपशो जना भवन्ति देवदाभिधेया । तदुत्तर तु वार्धक्येऽ
 पक्षीयमाणरत्नादिविभवा मन्वन्तीम एव पितर । अत एव हि 'पुत्रासो यत्र पितरो
 मन्वन्ती' इति भगवती श्रुति पुत्रागामेव कालेन पितृरप्राप्तिमाह । त एवैते
 स्वयमशक्ततामुत्पन्ना पितृधेनार्चनीया पुत्रादिभि । ते ते समयविशेषाधापि
 तेषा प्राकृतिकसर्वपदारथोऽभ्यशिक्षाय पुन पुनस्तरस्तरणेन जगदीश्वराराधन-
 प्रवृत्तये च नियमिता इति जीवतां भ्रातृ स्फुग्मेवति । ये चाप्येते रक्षकाः
 पितर आख्यातास्तत्सम्बन्धेनापि समयगेवैपरचतेऽय समयानिनियम, बह्म-
 न्यकाररजनोविशिगयाममावास्याया तिथौ तस्करादिनीतिवाहुल्येन रक्षकानाम
 नियदेनापक्षगतत्वेने तदभ्यर्हणाया अस्तरस्तरगोरत्तान् । 'कार्यकारगतक्ष न्ये
 भवन्ति हि स्फुग् एव लौकिको न्याय । यदा हि यदपक्षा तदा सोऽय
 मवदममन्वर्च्य इति । तमोवाहुल्येदेव चाऽमावास्याया प्रकाशार्थं विद्युदा
 याविष्कारपक्षोऽपि पितर सुखरामपेक्षन् एव । अरराहकान्तेऽपे रात्रि
 सन्निहितत्वादेव पितृभ्रातृऽदेशगीवाया ख्यात । रात्रावव विशिष्य रक्षका
 णामपेयाविद्धे । तदारव एव नन्तरनदादिगृहे कृममेजना रत्रिपुरुषा कथ
 रात्रावमनुपेक्ष्यन्ते । रात्रौ विशिष्य रक्षकानामपेक्षितत्वादेव च रात्रैरपि विशिष्य
 पितृसम्बन्धस्यायत्र शास्त्रेष्वार्यात उपरन्तो यदितद्वय । अत एव च सन्ध्याया

पितृप्रसूरिति नाम व्यपदिशन्त्यामिधानिना । सन्ध्याया एव च पितृणामुत्पत्तिमा चक्षते पुराणानि । सन्ध्यामेवारम्य रक्षकाणां प्रवृत्ते सर्वस्यास्योपपादकत्वात् । शनद्वतुरप्यय यच्छ्राद्धे विशिष्याद्वनस्तदिद तदाख्ये धान्यादिसमुत्पत्तिं बाहुल्येन बहुतरोगप्रचारादिना च रक्षकाणामधिकापेभासच्छ्राद्धेनोपपत्तिमन् । वानप्रस्थाश्रमिणामपि चारुष्ये नियमतां पितृणां वषोषु एहे समानारुशाम्यहंण दुष्करमिति शरदि विशिष्य तच्छ्राद्धमुपनिषमितम् । मृतश्राद्धवादिनस्तु सर्वस्यास्य कालादि विशेषस्योपपत्तिसमाख्याने बद्धमौना एव भवेत्पुत्रिणि जीवनामेवोपपत्तिषिद्धश्राद्धम् ।

योऽप्यय श्राद्धे नामास्मिन् कर्मणि पितृसम्बन्धेन स्वघाशब्दो बहुधा प्रयुज्यते, स्वघाशब्दप्रयोगमन्तरेण च श्राद्धस्यैव वैगुण्यमभिप्रेत्यते, तदपि कल्पेऽस्मिन् सम्यगुपपन्नं द्रष्टव्यम् । स्वघाशब्दस्य हि शब्दशास्त्रमनुसृत्य विद्विष्यमानस्य 'स्वाशक्तिधनादयस्त्रे आत्मात्मीयादयो वा धीयन्ते धार्यन्ते यया सा स्वधेति' विप्रहेण स्वसम्बन्धिद्रविणपुत्रकल्त्रादिरक्षणवरेषु पितृणां (रक्षकाणां) कर्मसु शक्ति सिध्यति । तथा चानया रीत्या स्वघाशब्दोऽयं भवेत्पितृकर्मवाचक इति ।

विदुषामुपाध्यायाचार्यादिशब्दवत्पितृणामेव उपाधिभूतो द्रष्टव्यः । स्वकर्मवैशिष्ट्यबोधकोपाधिसकीर्तनन च भवेदेव सर्वस्यापि सचेननस्य ह्यर्थात्तरिति तत् एवास्योच्चारणं पितृप्रीतिकरमिति तदुद्देश्यके कर्मणि श्राद्धे नियमितम् । यदा 'स्वस्वकीयमस्तिरव दधातीति स्वघा प्रवृत्तिरिति स्वभाव-स्वधर्मादेर्वाचकोऽर्थं भयस्वघाशब्दः । तथा च महामहिमसु विद्वस्तु रक्षकादिषु चोत्कृष्टस्वभावधर्मादिशालिषु युक्ततम एवास्य शब्दस्य प्रयोगः । चेऽपि च ब्रह्मवर्षादीन्लोनाधमान् यथावन्निव्यूढवन्त स्वकीया पितृपितामहादयस्तैः, प्ययमुत्कृष्टप्रकृतिधर्मादिवोधकतया तुप्रयुक्त एव । भैद्यण्डकास्त्रेण स्वधामाहुः । तथाविधोऽप्ययमवश्यं स्वयमुपाजयितुमशक्ता ब्रह्मा पितरोऽनादिभिरम्यहंणीया एवेति शिक्षयितुं पुत्रादीन्निषमितः श्राद्ध इति सर्वथाऽप्युपपन्नतरम् । यत् पुराणादिषु द्रष्टव्यं सुता पितृणां काचन स्वधेयारयायते ताददमेकस्या स्वघाया सर्वविधपितृपत्नीरव क्यमुपपद्येतेति परोक्षोऽयमर्थं सुविदुषाम् । सहस्रशो हि पितर रम्यं ते, बहवश्च तेषां गणा । ये चाप्येते प्रत्यहमुपयान्ति यमसदनं तेऽपि पितर एवाम्मुपगम्यन्त इति कथं सर्वेषामेका पत्नी भवेत् । तस्माद्यदपि पितृपत्नीत्व तदपीदं पितृणामुपाधिरूपतया तत्सहचरत्वेन तत्प्रसादकरत्वेन च पत्नीगोदृश्य एव पर्यवसितमिति जीवतामेव पितृणां सम्बन्धेन तदप्येतत्प्रपन्नं न तु मृतपितृणां कोऽपि स्वघ एतेन सिध्यति । यथाप्यय यम पितृणां रा-त्यस्ति प्रवादः सोऽपि नास्माकं प्रतिदूल् । सर्वस्य सुतो यमो यमी चेति शौचन चेतननिर्देशाविति हि पौराणिकानां पत्न्या

यद्यपि विद्वद्येताऽप्यनेन, परं विशिष्टप्रज्ञास्तु पश्यन्ति यमो नाम दिवः, यमी च रात्रिरिति । अनयोः सर्वसम्बन्धेनैवोत्पन्नत्वात्सर्वपुत्रतादिव्यवहारः । तदित्यमहोरात्रे प्रथमं प्रवृत्तो यमशब्दः भ्रमेणाहोरात्र्याद्युपाध्युपहितस्य महाकालस्याप्यमूढवानकः । अत एव—

“वैश्वतं रुक्ममनं जनानां यमं राजानम्” ।

इशादिभृती यमस्य वैश्वतस्वमुक्त्वाऽपि ॥

“यमः परोऽदरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन”

इत्याद्यमवर्धती (१८।२।३२)

यमस्य सूर्यादपि परावमाप्नातम् ।^१



१. अपूर्ण एव रुक्मातोऽयमपि लेख इत्यादावेवोक्तमनुसन्धेयं कृपया पाठक-
महाभागैः—सम्पादकः ।

काव्यसाहित्यखण्डः

एतद् ग्रन्थरचयितृमिशिरामहाकाव्यप्रह्वनाम्ना रघुवशकुमारसमश्रिता
 जुनीयशिष्टपालवधमहाकाव्यानामनेकसर्गाणां परि अक्य-व्याकरण-व्याख्या-
 भावार्थ इत्येत्क्रमेण व्याख्या विहिता, तत्र भावार्थेषु पद्यानां स्वातन्त्र्येण सरलेन
 सस्कृतेनाशयस्तथा प्रस्तुत येन सस्कृतेनाल्पपरिचिता अपि पद्यस्य भाव सम्प
 शवगन्तु पारयेयु । तत्र तत्र पद्येषु व्यंग्यार्थरूपेण ये निगूढाश्चमत्कारा सन्ति
 तेऽपि भावार्थेषु प्रस्फुटीकृता कामपि कमनीया कान्तिमुद्घाटयति काव्यस्य
 लानामिति बहुभिर्विद्वद्भिस्त एते भावार्थसन्दर्भा अपि रचनादलयामस्यामवश्य
 स्थापनीया इति प्रेरितेन मया निश्चिता—सम्पादक ।

रघुवंशे द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

सूर्यपौत्रस्य मनुपुत्रस्यैश्वाकोर्महाराजस्य १२थो राजविदिम्नीन प्रौढेऽपि वयसि सन्ततेरभावात्त्रिचक्रे गुरोर्वादात्तस्य महर्षेराश्रमं गत्वा स्वस्यापुत्रताया कारणं प्रतीकारं च जिज्ञासते स्म । तेन च “स्त्रलोद्गादागच्छता स्वया मागे कामधेनु प्रमादात् सत्कृता, तत्र एव ते सन्तते प्रलिवन्ध । अधुना मदाश्रमं स्वं कामधेनुमुता नन्दिनीमाराधय, प्रतन्नायामस्या फलिष्यति मनोरथ” इत्यनुशिष्ट । ततस्तदाज्ञया तत्रैवाश्रमे ऋचिरर्गशाळाया समार्षो वसतिं प्रकल्प्य रात्रौ सुप्त इति प्रथमर्गो गतम् । तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

दिलीप प्रातरेव कृत्स्नन्यषाम नन्दिनीं वस स्वस्थाने बद्ध्वा सुदक्षिणा गन्धमाल्यादिभिः पूजिता नन्दिनीं धेनु वने स्नन्द विदारार्थं मुमोच—

२.

यथा स्मृति श्रुतिविहितमेव पवित्रमर्धमनुविदधती श्रुतिमनुगच्छति, तथैव पतिव्रताशिरोमणि सुदक्षिणाणि ता गामनुत्ताम, तस्या पादैः पवित्रे पथि स्वयमपि गन्तु प्रवृत्ता भूवेति ।

३.

मूयति किञ्चिद्दूरं गत्वा-अनुयान्तो प्रिया सुदक्षिणा “परिश्रान्ता मा मूय” इत्याश्रमं प्रति निवर्तवामास । स्वयं च येन प्रयत्नेन समुद्रमेकला कृत्स्ना पृथ्वी रक्षति स्म, तेनैव गामपि ररत् । यत् इय गौरगुरुपधारिणी साक्षात् पृथिवीव सभाविता । अस्या स्तनाश्रं समुद्रश्च सम्भाविता, उभयो पय प्रदत्तं मध्यस्थितत्वं च सादृश्यमिति ।

४.

मूयति स इ गच्छत्तमिनरमप्यनुचरवर्गं निरतंयानकार । यतो व्रतनिष्ठ

अथ प्रजानामधिप प्रमाते जायाप्रतिमाहृतगन्धमाभ्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवक्त्रा यशोधनो धेनुमृपेर्मुमोच ॥ १ ॥
तस्या खुन्यासपात्रपासुमपासुगाना धुरे कीर्तनीया ।
मागे मनुष्येधरघर्मपत्नी श्रुतेरिदार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
निवर्त्य राजा दयिता दयालुस्ता शीरभेषी मुरभिर्यशोभि ।
पयोधरीभूतचतु समुद्रा जुगोष गोरुपधरामिनोर्वाम् ॥ ३ ॥
ऋताय तेनानुचरेण धेनोर्न्येधेधि श्रेयऽनुयायिवर्ग ।
न चान्यत्स्य शरीररक्षा स्वकीर्यगुना हि मनो प्रसूति ॥ ४ ॥

स्यास्य न प्रभावदर्शनार्थमनुचरापेक्षा, अत्रे हर्मणा एतेनैव सपायत्वात् ।
 सन्तरीररक्षार्थं तु न कदाप्यस्यानुचरापेक्षा जायते स्म, यतो मनुनराजा आत्मरक्ष
 णमात्मपराक्रमेणैव विदधते, परं तापेक्षन्त एव ।

५

दिलीपः कदाचित् कोमलवृषणाछानुपानयति स्म, कदाचिन्नलादिना गात्रं
 विवृण्व्य खजूं विनोदयति स्म, वनमक्षिकाणां च दूरीकरणेन सततं रक्षति
 स्म । न न कुत्रापि यथेच्छं गच्छतीं तां निवर्तयामास इत्येव तेषां प्रवृत्त ।
 सम्राट्प्येवमाराधयती यही ।

६

यथा छाया छायावति चेष्टमान एव स्वयमपि तद्वच्चेष्टते न तु स्त वा,
 तथैव दिलीपोऽपि गवि तत्तदवस्थानप्रस्थानोपवृत्तनादिन्या कुर्वत्यामेव स्वयमपि
 तास्ता क्रियाश्चकार न तु स्वयं तां कस्यामपि प्रेरयामास ।

७

नन्दिनी परिचरन् दिलीपो यद्यपिच्छत्रचामरादिशकचिञ्च त्यक्तवान्,
 तथापि केनचिदावृत्तौ लक्ष्यमात्रेण स्वाभाविकेन राजतेजसा "राजेनायम्" इति
 लौकैरन्वयीयते । यथा गण्डव्यञ्जनालक्षितमदरेखोऽपि गन्ध्र आकारेणैव मत्त
 ह्रायनुमीयते ।

८

दिगीर इतस्तत्र प्रतीर्णान् खान् केशान् लतातन्तुमिहर्षं सयम्य सपत्र
 धनुरादाय वा मनश्छत स्म, तत्संरूपेणैव प्रतीयते स्म, यदर्यं वन्यानां दुष्ट
 जन्तूनां प्रजासुपद्रवकारिणाम् शासनाथमव वने भ्रमति, गोरक्षा तु तत्र व्याज
 मात्रमिति ।

आस्यादवद्भ्रं कवलैस्तृणानां वण्डयनैर्दशनिवारणैश्च ।
 अन्वयाद्दत्तै स्वैरगतै स तस्या उघ्रात् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥
 स्थित स्थितानुच्चलित प्रयाता निपेटुषीमासनबन्धवीर ।
 जलामिलाषी जलमाददाना ज्ञायेत् तां भूपतिरन्ध्रगच्छत् ॥ ६ ॥
 स न्यस्तचिञ्जामपि राजत्शनीं तेजोविशेषानुमितां दधान ।
 आसीदनाविष्कृतदानरात्रिरन्तर्मदावस्थ इव द्विमे द्र ॥ ७ ॥
 लताप्रतानोद्ग्रथितै स कशौरिष्यधन्वा निचचार दावम् ।
 रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेभ्यश्चिव दुष्टहरान् ॥ ८ ॥

९

यथा वरुणो जलमिदं पश्येन समस्त वनस्पतिजातमभिवर्धयति, तथैवा
यमनि महाराजो दिलीपो रक्षणशिक्षणादिना प्रजा परिपोषयति । अत एव वरुण
देवतुल्यस्य अवहाय वने भ्रमताऽस्य पार्श्ववर्तिनो वृक्षा अस्य दर्शनेन हृष्टाना
पक्षिणा कलकू तै स्वागतमिव कुर्वन्तो जयशब्दादिनामनुचराणा कार्ये निर्व
र्तयामासुरति सम्भावते ।

१०

नगर हि राज प्रचारे पौरकन्या एदेभ्यो लाजान् प्रक्षिपन्ति इत्याचार ।
स एव आचारोऽत्र कन्यानामभावेऽपि वायुनान्दोलिताभिलंताभिलाञ्जसदृश
पुष्पर्येण सञ्चित । अग्नि खलु वायोर्मित्रम् दिलीपधाग्निसदृश प्रमायेण
पूज्य अतएवदृशस्य मित्रस्यातिथीमृतस्य स्वागतं कर्तुं वायुना एता प्रेरिता
इति । महापुरुषस्य प्रयाणे शुभसूचकस्य मन्दस्य वायो प्रचार प्रकृतिसिद्ध ।
तत्र मित्रसदृशस्य राज आतिथ्य हेतुतया निगूढमुप्रेक्षित कविना ।

११

यद्यपि कामुकधारिणो दिलीपद् बाह्यदृष्ट्या भय सभावितम्, तथापि
हरिणीनो मनसि त दृष्ट्वा मय न ज्ञानमिति—“विमलं कलुषी भवच्च चेत क्रयय
स्येव हितैषण रिपु च” इति न्यायेन ‘दयाशीलोऽय राजा नास्मान् हिंस्यात्’
इति हरिण्यो विश्वस्ता । तत एव च निर्भोका अतिशयेन मनोहारि शरीरमस्या
लोक्यालोक्य स्नेत्राणा विस्तारस्य साफल्यममन्यन्त ।

१२

वने विचरता दिलीपेन तत्र तत्र कुञ्जेषु वनदेवता दृष्ट्वा, रन्मुलादुञ्चे
स्त्रीलिंगान च धनम्, वायुना नि स्वनतो वद्या एव तत्र गाने वद्य
वाद्यतामाता भमून् ।

विस्तृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्विमा पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिषोन्मदानामालोक्यदृश वयसि विरावै ॥ ९ ॥
महामयुक्ताश्च महत्सल्लाम तमर्च्यमारोदमिर्वर्त्तमानम् ।
अवाङ्मिन् बाल्लता प्रधूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या ॥ १० ॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रमावभाष्यातमन्त करणैर्विशुद्धे ।
विनोक्ष्यत्थो वपुरापुरक्ष्णो प्रकामविस्तारफल हरिष्य ॥ ११ ॥
स स्त्रीचक्रेर्नीहतपूर्णरन्त्रै कूजद्विपापादितवशकृत्यम् ।
गुभात्र कुञ्जेषु यद्य स्तमुञ्चेद्विदीपमान वनदेवताभि ॥ १२ ॥

१३.

सदाचरणेन परिपूतस्य दिलीपस्य आतरजनिर्ता भ्रान्ति हृदय जगत्पावन
शीतलो मन्दः सुगन्धिश्च पवनो विनोदयामास ।

१४.

दिलीपस्य वने प्रातिमात्रेणैव तद्यालौकिकप्रभावात् तत्र तत्र सभावेन वने
प्रभवन् दावानलो वर्यगन-उरेणैव शान्तिमवाप । वृक्षा पूनपिक्षपाधिक पुष्प
फलभाजोऽभवन् । सिंहादिद्विस्तन्तवो निर्बलमृगादिकान् नावाधन्तेति ।

१५.

सर्वं दिनं वने त्रिमित्रासु दिवसु परिभ्रम्य सायं समय आसन्ते गौरा
भ्रमामिमुक्ती प्रस्थिता । सूर्यप्रभापि तयैवेति तयोरेकधर्मतया सदृशत्वं प्रतिपातम् ।
उभयोस्ताम्रवर्णतयापि सदृशता प्रतीयते स्म ।

१६.

आभ्रम गच्छन्ती गा दिलोऽप्यनुजगाम । तेनानुगम्यमाना च सा अतु
ष्ठानानुगता भद्रेव शुशुभे । कर्मसु केवल भद्रेव न कौशलहेतु, किन्तु “यस्तु
क्रियावान् कुशल स एव” इत्यभियुक्तोक्त्या अनुष्ठानानुगता भद्रा लोके
विशेषेण प्रशंसामहति । तथैव राजानुगता गौरी विशेषेण प्रशंसासद आता ।

१७.

सूर्योऽन्तमुपगच्छति तम प्रकारेण इयामीभवन्ति तत्रारण्ये स राजा क्वचि
बजलाशयेभ्यो निर्गम्य उतो वराहान्, क्वचिच्च स्वनीडेषु गन्तुस्तुक्तान् मयूगान्,
क्वचिच्च स्वैरविहारारिद्रम्य वृणहरितप्रदेशेषु विश्राम्यतो मृगान् पश्यन् यशिष्ठाभ्रम
प्रति यथौ ।

पृच्छस्तुपारैगिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्परगन्धी ।

तमातपक्वन्तमनातपनमाच्चाभूत पवन विषेवे ॥ १३ ॥

शशाम वृष्टयाऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि ।

ऊन न सत्त्वेष्वधिको दवाधे तरिमन् वन गोतरि गाहमाने ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि वृक्षा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।

प्रचक्रमे पञ्जवरागताम्रा प्रमा पनङ्गस्य मुनेश्च धेतु ॥ १५ ॥

ता देवतापितृतिथिक्रियाऽर्थान्-व्ययी मध्यमशोक्पाल ।

यमौ च सा तन सता मतेन भद्रेव साक्षाद्विधिनोपवना ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्पावासवृक्षोन्मुलवद्विजानि ।

यथौ मृगाभ्यासितशाद्वरानि इयामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

१८.

दुग्धबाहुल्यात् स्थूलस्योषसो भारान् नन्दिनी, शरीरगौरवाच्च दिलीपः, इत्यु-
भावपि मन्दगामिनौ । मन्दा च गतिः शोभते-इति तयोस्तथा गमनेन
मार्गस्यापि शोभामत्रदिति ।

१९.

सर्वे दिनं प्रियस्यादर्शनेन सुदक्षिणाया नेत्रयोश्चरवास-इव चातः, तेन च
यथा कश्चन कृतोपवासः सञ्जातकण्टशोषस्तृष्णया कपोहत्व पयः रिशति, तथैव
सुदक्षिणाऽपि घेन्वा सहायान्त दिलीपं तृष्णातिशयेन निमेषमपि परित्यज्य
पपात्रिव, सोत्कण्ठं ददशति ।

२०.

दिलीपरयाद्रनोभूत्वा तरोवनात्प्रयागन्वन्ती घेनु सत्कर्तुं यदा सुदक्षिणा
आभनात् क्रियन्ति पदानि सम्मुखे जगान, तद (दिलीपः पुरुषश्चात्तेव स्वतया
च दिवसदृश्यः, सुदक्षिणा तु स्त्रीत्वान् शोभनया च रात्रिसदृशीनि) तयोर्दम्पयो-
र्मध्यस्थिता ताम्रर्णा सा घेनुः दिनरूपयोर्मध्यस्थिता ताम्रर्णा सन्ध्येव व्यराजत् ।

२१.

सुदक्षिणा तां नन्दिनीं परिक्रम्य, प्रगम्य च अक्षनादिभिस्तस्या नन्दिन्या
मालमयसिद्धेर्दारं मरुतं पूजयामास ।

२२.

वनात् परावृत्त्य स्ववत्समालोकयितुमुच्छ्रम्यमानापि सा घेनुर्निश्चिन्मावेन सुद-
क्षिण्या विद्विता पूजा स्वीवकार । तेन स्वदिपदे तस्या प्रवृत्ततामनुनाय-
सुदक्षिणादिलीपौ परमानन्दं प्रापत् । यत्श्च नन्दिनी-दद्याना महानुभावानां
प्रवृत्तता अतिरिचिता पलसिद्धिं सूचयति ।

आसीनमारोद्धहनप्रयत्नाद् दृष्टिर्गुंश्वाद्गुप्यो नरेन्द्र ।

उभावन्श्चक्रतुरञ्जिताभ्या तरोवनावृत्तिरथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

वतिष्ठधेनोरनुयायिन तमावर्त्तमान वनिता वनान्ताम् ।

पौ निमेषालक्ष्यमनङ्गुक्तिरुपेदिताभ्यामिव लोचनभ्याम् ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वरमनि पार्थिवेन प्रायुद्धता पार्थिवधर्मपत्न्या ।

तदन्तरे सा विरराज घेनुर्दिन्क्षरामध्यात्तेव सन्ध्या ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीहर्य पयसिनी तां सुदक्षिणा काशतपात्रहस्ता ।

प्रगम्य चानर्चं विशालन्दरनां शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

बत्सोत्सुकाऽपि सिन्धिन्या सवर्षां प्रत्यप्रदहीस्ते नै ननन्ददृशौ ।

भक्तयोपरम्येषु हि तद्विधाना प्रसादविशानि पुरजलानि ॥ २२ ॥

२३.

ततोवनादाश्रमं प्रातो दिगीः पूर्वमरुन्धतीश्रितं वशिष्टं प्रणनाम, तदनु सायकान्त्रिकीं सन्ध्यामुपासाञ्चके, अथ दुग्धदोहनानन्तरं भूमाशुभविद्यायास्तस्या एव कामदुषाया नन्दिन्या परिचरणे उत्तरो ध्रुवः । न च तदानीं तन्वेतसि राजचिन्ता पदमकरोत्, यतः स पूर्वमेव स्वरिपून् उत्साहितवान् ।

२४

सुदक्षिणादिलीषाशुभावपि तस्या नन्दिन्या समीपे बलिद्रव्याणि मच्छपाय सादीनि दीपाञ्च स्थापयामाशु । अथ तस्यां भूमाशुभविद्यायां स्यात् स्वयमप्युपाविशताम्, सुतायामक्षयताम्, प्रातः पुनस्तित्यायां चोरियतौ तथैव पूर्वं दिवसोक्तं सर्वमकुर्वताम् ।

२५.

उक्तैव प्रकारेण स परनीसहेतो दिग्धीर सन्तानं धर्मकविशतिदिनपर्यन्तं गोसेवारूपं व्रतमकरोत् ।

२६.

द्वाविंशे दिने नन्दिनी दिलीपस्य भावः परीक्षितुमिद्येय, 'सत्यमयं मद्रक्तं, कृत्रिमा वा भच्छरिति' परीक्षेत्तया च गङ्गाप्रपातसमीपवर्तिन्यां हिमालयगुहायां प्रविशति । अत्र हरितहरितो घासः प्रकटं आसीत् ।

२७

"इमां नन्दिनीं प्रभावाद् व्याघ्रादयो मनसाप्याक्रमितुं न समर्थाः" इति विचार्य निश्चिन्तो राजा क्षणं पवतशोभादर्शनासक्तोऽन्यमनस्कः आसीत्, परमं ज्ञानं तरे अकस्माद्वाचाऽदृष्ट एव कश्चन दिग्भ्रतामाक्रान्तवान् ।

गुरोः सदास्स निरीक्ष्य पादौ समाप्य सा भ्यञ्जं विधिं दिलीपः ।
 दोहावसाने पुनरेव दोग्धो मेने भुजोन्ति-नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २१ ॥
 तामन्त्रिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोतां शृङ्गिणीसहायः ।
 क्रमेण सुतामनुसन्निवेशं सुतोऽस्यतां प्रातःपूर्वदक्षिणम् ॥ २४ ॥
 इत्थं व्रतं धारयन्तः प्रजाऽर्थं सर्वं महिष्या महनीयक्रीते ।
 सतः प्रतीमुखिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
 अन्देशुरात्मानुचरस्य भावः जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
 गङ्गाप्रपातान्तद्विरुदशर्ष्वं गौरीगुरोर्गङ्गरमाविश ॥ २६ ॥
 सा दुग्धप्रदायां मनसाऽपि हिंसैरित्यद्विशोभाप्रदितेषणेन ।
 अलक्षिताभ्युत्पन्नो नृपेण प्रसङ्गसिद्धं किल तां चकल्प ॥ २७ ॥

२८.

विहेनाक्रान्ता नन्दिनी दुःखाक्रन्दनमकरोत् । तच्चाक्रन्दनं पर्वतगुहा
यामुञ्चै प्रतिश्वनितम् । ततश्च यथान्यमनस्कमधमधारोहो दलगामाकृष्य
कुमार्गोन्नितस्य मार्गमानयति तथैव दीर्घं तदाक्रन्दन नेत्रकिरणरुजा दलगामाकृष्य
राशो नेत्र पर्वताभिर्कर्य नन्दिन्यभिमुखमकरोत् ।

२९.

यथा गैरिकघात्रना रक्तवर्णाया पर्वतस्योर्ध्वमूमौ पुष्पितो लोभ्रवृक्षो लक्ष्यते,
तथैव रक्तवर्णा नन्दिनीमाक्रम्य स्थित प्रसन्नमूर्तिं सिंहोऽपि पर्वतात् परावृत्त
चक्षुषा दिलीपेन लक्ष्यते स्म ।

३०.

येन सर्वे रक्षत्रो बलद् विनाशिता, तादृशं च शरणागतस्त्रको
दिलीपः स्वसमक्ष गवि सिंहरयाक्रमण दृष्ट्वा स्वपरामभवमन्यत । अत एव स्वररा-
भवकर्तुर्बन्धयोग्यस्य तस्य सिंहरस्य वधाय तूणीराद् राण निष्कासयितुमैच्छत् ।

३१.

यदा दिशेष पृष्ठभागे लम्बमानात् तूणीरात् बाणनिष्कासनाय स्वदक्षिण
हस्ताङ्गुलीः पुङ्खे योजितवान्, तदाङ्गुलयस्तथैव सदेष्ट्वा निश्चेष्टा अभवन्,
बाणं चक्षिराकृष्टं नाशकतुवन् । अत एव यथा चित्रलिखितं वस्तु स्पन्दशून्य भाति,
तथैव दिलीपस्य दक्षिणहस्तोऽपि भाति स्म ।

३२.

स्ववाहोः प्रतिरोधेन दिलीपस्य क्रीधो बभूधे । न च समीपस्यस्यापि
सिंहरस्य किमपि कर्तुं शक्नोऽमृत् । तेन यस्य सर्पस्य पराक्रमो मन्त्रेणौषधेन च
निरुद्धः स्यात्, स यथा किञ्चिदङ्गुलीं स्वहृदय एव प्वलति, तथैव राजापि तेजसा
स्वयमेव मनसि जञ्जाल, अत्यन्तं खिन्नस्तप्यमान इवामवदिति ।

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तं वाघोर्गुहानिषद्प्रतिशब्ददीर्घम् ।

रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रशक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

स पाटलाया गवि तरिषिवास धनुर्धरं केशरिण ददश ।

अधित्यकायामिव धातुमस्या लोभ्रद्रुम सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

ततोमृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय बध्यस्य शर शरणम् ।

जाताभियङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्घृतादि ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करं प्रहत्तुर्नैलप्रमामूषिचन्द्रकपत्रे ।

सक्ताङ्गुलि सायकपुङ्ख एव चित्रानितारम्भ इवावतस्ये ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्ठम्भविबुद्धमनुरम्यर्णभागसृष्टतमस्पृशद्भिः ।

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

३३.

दिलीशोऽभूत्पूर्वे स्वभुजप्रतिरोधमनुभूय विस्मय प्राप्त एव, पुनरपि स सिंहो माननी वाचमालम्ब्य तस्याधिकमाध्यर्ममुत्पादयन् त सम्बोधयामास ।

३४.

सिंहो वदति—हे राजन् । मा स्म वृथा वृथा भ्रमम्, यत् प्रथम तु त्वमस्त्रचालन एवासमर्थं, यदि कथं चेच्चालयेस्यि, तथाप्यल्पजलान् हिसितुं शक्तमपि तन्नास्त्र मम न किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति । यथा वृक्षाणामुत्पादने समर्थोऽपि वायोवेग न पर्वतमुत्पादयितुं समर्थं ।

३५.

हे राजन् । नाह सामान्य सिंहो य त्वं हन्या, अपि तु कुम्भोदर निकुम्भनामानौ यौ द्वौ प्रसिद्धौ भगवत आशङ्करस्य गणौ, तयोरन्यतरोऽहम् । यदा शिशो वृषभ स्ववाहनमारोडुमिच्छति, तदानीं तस्यास्तुक्ष्णतया मन पृष्ठदेशे पाद न्यस्य तमारोहति इत्त मम सेवा ।

३६.

हे राजन् । समुत्थितस्य देवदारुवृक्षमेतमप्यवलोकसे ? एष खलु शिवेन पुत्रव मानित । यतश्चाय स्कन्दस्य जनन्या पार्वत्या स्वकुचसदृशे पय सदृशजल्पू, तैर्होमकुम्भै सिक्त । अतएवायमुभयोऽहमाहेश्वरयो स्कन्द-त् प्रिय ।

३७

एकदा कश्चनारण्यो हस्ती खर्वपनोदाय स्वगण्डस्थलमारिन् देवदारौ घर्षयामास । तेनास्य चल्कश्चुराग्निमभूत्, तच्च दृष्ट्वा पार्वती देवासुरसमामेऽसुराणां शस्त्रै धृत कार्त्तिकेय विलोक्य यथा, तथैव शोकातुराभूत् ।

समार्यण्यं निग्रहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवशकेतुम् ।

विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुच्य निजगाद सिद्ध ॥ ३३ ॥

अल महीपाल । तव अमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्ति रह शिलोक्षये मूर्च्छन्ति मारुतरथ ॥ ३४ ॥

कैरासगौर वृषमारुणो पादापणानुमहपूतपृष्ठम् ।

अपेहि मा किङ्करमभूत्ते कुम्भोदर नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

अमु पुर पश्यसि देवदारु पुत्रीकृतोऽसौ वृषभ-जेन ।

यो हेमकुम्भराननि सृताना स्कन्दस्य मातु पयसां रसस ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कट कदाचिद्वन्यद्विपनो-मथिता स्वगत्य ।

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेना यमालीढमिवासुरास्त्रै ॥ ३७ ॥

३८.

यदा वन्यगतेनास्य देवदारोस-गुरुरागिता, तत आरभ्यैव वन्यगजानाम्
भीत्युत्थादन र्थं महादेवो मम सिंहरूप विधाय मामत्र न्ययोजयत् । आदिशच्च
नाम् यत् 'त्वया स्वसमीभागान्-प्राणिन व्यापाद्य स्वजीवन निर्वोढव्यम्, न
पुनरिम परिच्येन भोजनाय वारि गन्तव्यम्" ।

३९

एकादश्यादिपर्यन्तु कृतोपवासा चना उरवानान्ते पारणा यथा विदधते,
तथा चिराद् भोजनात्प्राप्तान् कृतोपवासरस्य मम पारणायै महादेवन
तृप्तिजननयोग्यस्य गौरव प्रेषिता । राहुणा यथा चन्द्रमण्डलामृत प्राप्यते, तथा
मयेय प्राप्ता ।

४०.

हे मुदिनीप ! "क्षत्रियोऽहमिमां रक्षितुं नाशकम्" इति हेतोर्मां स्म घात
पद ते चेतसि लब्धा । यतस्त्वया यावच्छत्रमिमा रक्षितु प्रयास कृत्वा सुकर्मिक
प्रदर्शितैव । अस्यास्तु गोर्विनाशो जग्दीश्वरेणैव रचित, तथा च प्रतिविधातुमश
क्तस्य तव का लज्जा ! न चाशक्ने वस्तुनि यशोहानिरपि । तस्माद् गृह स्वया
गन्तव्यम् ।

४१

विद्वस्य वाक्यमिद ध्रुवा "क्षीशङ्करप्रभावान्मदन्त्रप्रतिबन्धो जान" इति
राजा ज्ञानम् । तेन या पूर्वमात्मनि तस्यावशा प्रादुरासीत् "काने मदस्य
व्यर्थं जानम्, विह माम्" इति सा निवृत्ता । सामान्यात्परामर्शो ब्रौडा जनयति,
न तु सर्वेश्वरादिति । अधिराजत्वेन सिंहस्य साम्याद् ब्रौडाया योग्यता, पर
स शङ्करस्यानुभावेन क्वचित इव निवृत्ति ।

तदाप्रभूयेव वनद्विजानां प्राकार्यमग्निमहमद्रिकुञ्जी ।

व्यापारित शूलभृता विधाय सिंहस्वमङ्गागनसत्त्वृत्ति ॥ ३८ ॥

तस्याल्पेया क्षुधितस्य तृप्यै प्रदिष्टकाल परमेश्वरेण ।

उरुस्यता शोभितपारणा मे सुरद्रिपभ्रान्द्रमणी सुमेव ॥ ३९ ॥

म त्व नि-र्त्तस्व विदाय लज्जा गुरोर्भवान्दक्षिणशिष्यमक्ति ।

शक्तेन स्वयं यदशक्यरक्ष न तद्यश शक्यभृता क्षिणोति ॥ ४० ॥

इति प्रकृतम् पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।

प्रत्याहृत स्त्री गिरिद्यप्रमानादात्मनश्चो गिरिलीचकर ॥ ४१ ॥

४२

यद्दिल्लीपो गां भक्षयितुमुद्यत सिंह इन्द्र घनुषि बाण सधातु नाशकत्, तदिदं दिलीपप्रयत्नस्य प्रथममेव वैफल्यम्, इतः पूर्वं कदापि तेन शास्त्रप्रयोगे निष्फलता नानुभूता । ततश्च वज्रप्रयोग चिकीर्षुर्महेन्द्रो महादेवप्रभावात् निश्चेष्टो यो दशामनुमूतवान् सैव दशा दिलीपस्यापि तदवधरे जाता । तेन विश्व स बाह्मात्रेणोत्तर दत्तवान् । अन्यथा परामर्शकतुरंगे क्षत्रियाणां शास्त्रेणोत्तर शस्तम्, न बाह्मात्रेण ।

४३

हे मृगेन्द्र ! यद्यपि समर्थस्यैव वनस्यादर प्रायेण सर्वथा भवति, किमपि कर्तुमशक्तस्तु यद्यपि वदति, तत्केवल लोके परिहासयोग्य मन्यते अत एव यदहं सर्वां वक्तुमिच्छामि, तच्छ्रुत्वापि “अहो अशक्तोऽप्ययं वीर इव प्रल्पति” ‘असम्मानविनयेतस्त्वनुमन्’ इत्यादिरूपेण प्राकृतो जनो मामुपहसेत्, अतो न वाच्यमन्येष्वेवम् । किन्तु एव शिवसेवकत्वात् सर्वज्ञोऽसि, मम बाह्ममनस्योरेकरूपतां शत्रु प्रभवसि, अतस्त्वा प्रति वच्येव । अनुक्तमपि त्वया ज्ञायते, ततः कथने को दोषः ।

४४.

हे मृगेन्द्र ! अस्य देवदारो समीपमागता प्राग्निस्तव भक्षयामिति जगदीश्वरस्य भगवतः शङ्करस्य शासनं मया शिरसैव धार्यते, तेन “स्वमेना कृपया त्यज” इति न वक्तुं शक्तोऽसि । किन्तु गुरोर्वननाशमपि नोपेक्षितुं शक्तोऽसि । गुरुभ्रात्रिणाग्निरिति गौस्तस्य मुख्य धनम्, इति साधनत्वात् एतदभावे धृतरूपहृदियोऽनुपलभ्ये स कथमग्निहोत्रं होष्यति !

४५.

हे मृगेन्द्र ! एवं कृपया गो प्रातिनिध्येन मदीयं शरीरम् भुक्त्वा जीवनं निर्वह । इमां महर्षेणुं परित्यज । इदानीं सायं ज्ञातम्, एतस्या लघुरस एतदागमनं सोऽकृण्ठ प्रतीक्षमाणो भवेत् । स इमामहं कथं जीविष्यति ।

प्रत्यत्र शीघ्रैर्नमिषुप्रयोगे तत्पूर्वमङ्गे तित्थप्रयत्नः ।

कडीकृतस्यम्बकवीक्षणैर्न वज्रं मुमुक्षुन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

सकृद्वेद्यस्य मृगेन्द्र ! कामं ह्यस्य वचस्तद्यदहं विब्रुह ।

अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेदं सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

मान्वा स मे स्वान्तरजङ्गमानां सर्गारिपतिप्रत्यवहारोऽहम् ।

गुरोरपीदं धनमादिताग्नेर्नैवस्यपुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

स एव मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।

दिनावसानोऽस्तु क्वालवत्त्वात् सिद्ध्यता धेनुरियं महर्षे ॥ ४५ ॥

४६

राजं ऋष्यन भ्रुवा हिं ह ईषद् विनहास । तदनु राजानमुवाच । हास्यकाले
निर्गतेस्तद्दष्ट्राणां किरणैर्गुंहा धकारो विनष्ट ।

४७

राजन् ! त्व यत् सत्यमिदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमिति विवेकं न जानासि ।
यदेकस्या लघीयस्या गो कृते स्वशरीरं मह्यं दातुमुद्यतोऽसि । अनेन ते साहसेन
एकच्छत्रं राज्यम् , नवीनमुपभोगोचितं यौवनम् , मनोहरं शरीरम् चैतत्सर्वमपि
एकपदे त्यक्तं स्यात् ।

४८

हे दिलीप ! यदि स्व प्राणियु कृपालुतया गा रक्षितुं स्वशरीरं मह्यमर्पयसि,
तर्हि मुधा ते विचार । कुत ! स्वदिनाशे केवलमियं मुनिधेनुर्जावनदानेनानु
कम्पिता स्यात्, किन्तु यामिस्व “प्रजानाथ” इति व्यपदिश्यसे, तास्वदीया
बहुप्राणिसकुला प्रजास्वदभावे बहुपद्रवैराकान्ता नितरा पीडिता स्युः । स्वयमेव
खलु तासां पितृवद्रसक इति अनेकान् पीडयित्वैकरक्षणं किं दयाधर्मः ?
“प्रजानाथ” इति सम्बोधनेन प्रजारक्षणहेतुके जीवने न स्व धर्मेण स्वतन्त्र इति
बोधयति ।

४९

हे नृप ! यदि गोविनाशेन गुरुर्मह्यं क्रोस्यति, शार्पं च दास्यतीति तत्र
चेतसि भयम्, तर्हि तदपि व्यर्थमेव । यत एकस्या अस्या गो स्थाने क्वोटि
सख्याका गावो भवता दातुं शक्यते, अल्पस्थाने बहु लब्ध्वा च तस्य क्रोधं
शाम्येदेव ।

अथाधकार गिरिगह्वराणां दष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।

भूय स भूतेश्वरश्चर्त्वी किञ्चिद्ब्रह्मस्यार्थं परि वभाषे ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतं प्रभुस्त्वं नवं दयं क्वातमिदं वपुश्च ।

अल्पस्य हेतोर्बहुं दातुमिच्छति विचारमूढ प्रतिमासि मेत्त्वम् ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरका भवत्स्वस्तिमती स्वदन्ते ।

जीवपुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजा प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥ ४८ ॥

अथैकधेनोरपराधच्छायाद् गुरो कृशानुप्रतिमाद् विमोष ।

शक्योऽस्य मनुर्मवता विनेतुं गा क्वोटिश्च स्पर्शयता घटोष्णी ॥ ४९ ॥

५०.

सिंह उपदिशति—राजन् ! तस्मात्पुत्रसन्तानमुपभुञ्जानेन त्वया स्वशरीर
रक्षणीयमेव । गोरुपेक्षेण स्वर्गादानिस्तु न शङ्कनीया, यत् सम्पात्तशालिराज्य
मिन्द्रपदाञ्च किञ्चिदपि भिद्यते, यदि तयो ऋश्चन भेदोऽस्ति, तर्हि स इयानेव
यदिदो भूतल न स्पृशति, राजा तु स्पृशतीति । (देवानां भूतलस्पर्शाभाव आगम
सिद्ध) । अन्यत्तु सुवैश्वर्षादेक सम्मानमेव । ततश्च प्रत्यर्थ स्वर्गं राज्य परित्यज्य
कोऽयं परोक्षस्वर्गप्राप्ते प्रयत्न इति ।

५१

एवमुक्त्वा सिंहो यदा निरराम, तदा स एव तस्य शब्दो गुहायामुञ्चे प्रति
ध्वनितोऽभूत् । तत्र कविप्रप्रेक्षते यद्वाशि प्रेम्णा हेतुना पर्वतोऽपि “आत्मदेहरक्ष”
इति सिद्धोमञ्जुवदन् राजान मरणव्यवसायान्निवारयति स्म

५२

पुनरुक्त सिंहेन हितमुपदिशता शरीररक्षणायानुरोध कृत, अपरतस्तु तेनाक्रान्ता
गौ “किमिदानीमय वदति, अपि मा मोचयति, शरीर वा रक्षति” इति दीनया
दृष्टया तन्मुख प्रेक्षते । एव सकटावसरेऽपि हृदिति स्वकर्तव्य निर्धार्य राजा सिंह प्रति
पुनर्ब्रूयात् ।

५३

हे सिंह ! स्वकर्तव्य पालयत एव पुष्पस्थैश्वर्यमोगो जीवन च इच्छये,
न तु कर्तव्यविमुखस्य लोकनिन्दितस्य । एवं हि लोके “क्षत्रा” इति व्यवहि
यामहे । क्षत्राद् न शत साधून् प्राणिनस्त्रायामहे इत्येव क्षत्रशब्दप्रवृत्तिरस्मात् ।
तद्यदि सम्मुखे इत्यमानां गणमुपयव जीवन रक्षेयम् तर्हि कर्तव्यविमुखो लोक
निन्दित स्यात्, वृथा च तथा सति मे जीवन राज्य चेति ।

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणा मोक्षारमूर्जं स्वल्मात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनिमात्रभिन्नमृद्ध हि राज्य पदमै द्रमाहु ॥ ५० ॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिश्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिले-चयोऽपि क्षितिपालमुञ्चे प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥
निशाम्य देवानुचरस्य वाच मनुष्यदेव पुनरप्युवाच ।
ये वा तदध्यासितकृतराक्षया निरीक्ष्यमाण मुतर्गं दयालु ॥ ५२ ॥
क्षत्रारिक्त्व प्रायत इत्युदम क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु स्मृतः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्ते प्राणैरूपकोशमलीमर्षैर्वा ॥ ५३ ॥

५४.

यत्कथोक्तम् “अथैकधेनोस्त्विवादि”, तदपि न, यत् अन्याथा दुग्धकनीना
बह्वीना गवा प्रदानेनापि महर्षे प्रसादनम् दुष्करम् । इय हि नन्दिनी न केवल
दुग्धदोहनमाश्रोपयुक्ता, अपि तदसौ कामधेनु । यद्यदपि कामयते, तत्सर्वमेवा
दोग्धि, अतो नास्या अन्यधेनुसादस्यम् । नन्वीदशी चेत्कथं मद्रशगा इति मा
स्य शङ्केया, स्वया खल्वस्या उपरि महादेवप्रभावेणैव प्रहार कृत । अन्यस्य
नास्ति सामर्थ्यामिमा प्रदत्तम् ।

५५.

अत एव हे सिंह । एतस्या गो परिवर्ते तुम्यमह स्वशरीरमुपहरामि, उचित
मेवैतत्, न तु विचारमूढतालक्षणम् । स्वप्राणव्ययेनापि परस्य प्राणिन, विशेषेण
गो, तत्राप्येवविशिष्या, तथापि च गुरुकर्मवन्दिन्या, रक्षणीयत्वाद् । एव च
कति तत्र व्रतान्तमोक्षनसि न निश्चयेत्, गुरोर्विशष्टस्वामिहोत्रादिक्रियापि मुख
निर्वहेद् इति द्वयोरेव न शान्तिः । अह च तथा सति स्वकृतव्ययपालनेन
कृतार्थम् ।

५६.

हे सिंह । स्वामिरतन्त्रस्तदप्येवदवश्य जानासि, यस्तेवको मौनमास्थाय पाणि
पादमस्तन्दयित्वा स्वयं काचिदपि हानिमोदत्वा स्वामिघ्नं चेत्साशयेत्, तर्हि
श्रीढावनतकृषरो दण्डमयभीतश्च स्वामिनोऽग्रे स्थानु न शक्नोति । यद्यव नामवि
ष्यत् तर्हि स्वर्गपि एतदेवदासकृतसिपय एव यत्नवान् नामनिष्य ।

५७.

हे सिंह । यदि त्वं मां केनानि हेतुना “अवध्यम्” मन्यते, तत एव मम
देहरक्षणमुपदिशसि, तर्हि कृपया मे यद्य शरीरं मां हिंसी । इदं तु भौतिकं पिण्ड
वपूराण्य काम स्वभोजनाशोपयुङ्क्ष्व । निवेदिन खलु भौतिकेषु शरीरेषु नामदपरा,
यतस्तेषां मूतपिण्डरूपतादिनाशोऽनस्य भावी, यद्य शरीरान्नु स्थिरं ते सर्वार्थना
रक्षन्ति ।

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्ब्रह्मणानाचान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेस्वेहि रुद्रीवशात् तु प्रदत्तं स्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥
सोयं स्वदेहापैर्गनिष्कयेन न्याय्या मया मोक्षयितुं मवच्छः ।
न पारगा स्याद्विहता तवैव भवेदलुप्तश्च मुने क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥
भवानशीद परवान्वैति महान् हि यत्नस्तव देवदारो ।
स्थानुं नियोक्तुं हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्य स्वयमधतेन ॥ ५६ ॥
किमप्यर्हिस्वस्तव चेन्नतोऽहं यद्य शरीरे मव मे दयालु ।
एकान्विष्वसिषु मद्रिधाना पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

५८.

हे सिंह ! परस्परमालाप एव औद्दार्ढ्य हेतु । तथापि च वने, (वने साहचर्यस्य मैत्रीलक्षणेषु गणनात्) । स चालापो वने सन्निहितयोरावधोर्जात एव । अत एवेदानी त्वमह च सुहृदो भव । सुहृदो मे पूर्वोक्ता प्रार्थना न स्वया विपलीकरणीया । यतस्त्व मृतनाथस्येश्वरसदानुगा—इति भवाटरो औद्दार्ढ्यस्य न सम्भाष्यत एव ।

५९.

दिलीपस्य प्रार्थना स्वीकुर्वन् सिंह “यथा भवते रोचते, तथैव भवतु”, इत्युवाच । “किमयं सत्य ददाति देहम्, उत वाङ्मत्रमिदम्” इति परीक्षणे तत्तात्पर्यम् । तक्षण एव राज्ञो बाहुरपि प्रतिबन्धरहितो जा० । “अपनीते बन्धने प्राकृतजनवत्पुनरप्ययं शस्त्रचालनायाविशे यतेत, उत प्रतिज्ञामनुस्मरन् शरीरमर्पयेत्” इति परीक्षणे तात्पर्यम् । अथ स दिलीपस्तु शस्त्रादिकमेकत परित्यज्य स्वप्रतिज्ञानुसार स्वदेह सिंहास्यामे न्यपातयदेव । यथा कश्चिन्साधारण मासत्रासमन्वित्र एव दद्यात्, तथैवात्रिजस्य सुप्रसन्नस्य दिलीपस्य देहदानमिति ।

६०.

सिंहस्याग्रेऽधोमुख शयानो राजा “प्रथ मयि निपतित सिंह” इति सिंहाक्रमण निश्चयायति स्म । पर सिंहस्तु न निपतित, तास्थाने पुष्पवृष्टदेहोपरि निपतिता । तत्रैव हिमगिरिगुहाया स्थिता सवादमिममाकर्णयन्तो विद्याधरा राज्ञो महत्त्वेन विमुग्धा पुष्पाणि ववृषुरिति ।

६१

अथ नृपति, “क्षम । उत्तिष्ठ” इति मधुरा गिरमुपधुस्वोदतिष्ठन् ! उत्थितश्च धीर सवन्ती स्वमातृसदृशी नन्दिनीमपश्यत् । सिंह तु नापश्यत् ।

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्त स नो रुज्जत्योर्वनान्ते ।
तद् मृतनाथानुग । नार्हसि त्व सम्बन्धिनो मे प्रणय विहन्तुम् ॥ ५८ ॥
तथेति गामुक्त्वते दिलीप सद्य प्रतिष्ठम्भविमुक्तबाहु ।
सन्वस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयतिष्ण्डमिवाभिषस्य ॥ ५९ ॥
तरिमन् क्षणे पालयित्वा प्रजानामुत्पश्यत सिंह निपातमुग्रम् ।
अवाहूमुत्थस्योपरि पुष्पवृष्टि पसात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥
उत्तिष्ठ वास्तेत्यमृतापमान वचो निशम्योत्थितमुत्थित सन् ।
ददसं राजा जननीमिव स्वा गामग्रत प्रसन्निर्णो न सिंहम् ॥ ६१ ॥

६२.

अतर्कितोपतनया पुण्यवृष्ट्या सिंहस्पादर्शनेन च राजा विस्मय गत । नन्दिनी च तदा तमित्यमुवाच । हे परोपकारिन् दिलीप । मयैव कपटसिंहमुत्पाद्य तव भर्तुः परीक्षा कृता । वस्तुतस्तु मां वशिष्ठप्रभावेण सर्वजीवनाशको यमोऽपि पीडयितु न समर्थः । अन्देसा हिंसकञ्जन्तुना तु कथैव का ।

६३.

हे दिलीप । गुरौ भक्ति मद्रिषयेऽनुकम्पा च निरीक्ष्य निरतिशय प्रसीदामि । अतस्त्वं मत्सकाशात् स्वाभिमत वर प्रार्थयस्व 'एषा धेतु दुग्धातिरिक्त किं दद्यात्' इति स्वया न शङ्कित्वयन् । यतोऽहं प्रसन्ना सती यथेच्छ कामानपि पूरयितु शक्नोमि ।

६४.

धेन्वा वरयाचनायै प्रारतोऽतिवदान्य शौर्यशाली स दिलीपो वद्वाङ्मलिभृत्स्वा वशप्रवर्तक यशस्विन पुत्र धरत्वेन याचितवान् । दिग्न्तविभ्रान्तजैवरथा कल्पद्रुमाद् याचकेभ्योऽमल्पित वितरीतु समर्था अपि श्रृणव्यापाकरणाय देवानामग्रे याचनार्थं हस्तौ प्रसारयन्तीति कथेराकृतम् ।

६५.

नन्दिनी पुत्रामिलाषणे तस्मै नरेन्द्राय 'तथास्तु' इति वर प्रादात् । तदुपायरूपेण च एकस्मिन्त्रपुटके स्वकीय दुग्ध दुग्ध्वा पातु तामाशापयामास ।

६६.

हे मातृकल्पे । नन्दिनि । यथाह प्रजाभ्यो रक्षणानन्तर न्याय्य घण्टां स्वोपमो-
गार्थमाददे, तथैव वरपानाद् गुरोरग्निहोत्रीययोगान्चानशिष्ट मदर्थं न्याय्य तव

त निश्चित धेतुर्वाच साधो । माया मयोन्द्राव्य परीक्षितोऽसि ।
श्रुधिप्रभावा-मयि नान्तकोऽपि प्रभु प्रहर्तुं किमुतान्यदिक्ता ॥ ६२ ॥
भक्त्या गुरौ मन्थनुकपया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र । वर वृणोष्व ।
न कल्पाना पयसां प्रसूतिमशहि मा कमदुषा प्रसन्नम् ॥ ६३ ॥
एतं समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्ताजितवीरशब्द ।
वशस्य चर्त्तरमनन्तकीर्ति मुदाशैणायां तनय ययाचे ॥ ६४ ॥
एतानकानाय तथेति काम राजे प्रतिभ्रुस्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पय पत्रपुट मदीय पुत्रोरमुद्धरति तमादिदेश ॥ ६५ ॥
वरस्य होमार्थविधेश शेषनृपेरुत्तमधिगम्य मात ।
औधस्यभिञ्जामि तवोपमोक्तु घण्टाशमुर्व्या इव रक्षिताया ॥ ६६ ॥

पय पास्यानि, तदपि च गुरोराज्ञयैव धन्यथाऽननुशात गुरुद्रव्य विरेपतश्च यथाय
तद्यज्ञात्प्रागुपभुञ्जानस्य मे पानित्यप्रसन्न इति ।

६७.

“वसस्य होमार्थविधेश्च” इति राज्ञो वचनमाह्वयं वशिष्ठधेनु पूर्वतोऽप्यधिक
तुतोप । “यथा निरकाले, तथा सम्पत्कालेऽप्यथ धर्म रक्षति” इति धर्मनिष्ठाया
स्तोषहेतुत्वात् । ततश्च हिमालयगुहानस्तेन साक श्रम विनैवाश्रममाजगाम ।

६८.

मुखे चन्द्रवदुज्ज्वला लक्ष्मी दधत् स दिलीपो नन्दिन्या वरदानवृत्त पूर्वं वशि
ष्ठाय पश्चान् सुदक्षिणायै च सूचिनवान् । परन्तु तस्य तस्त्वन पिष्टपेषण ज्ञातम् ।
यतो वशिष्ठ सुदक्षिणा च दिलीपकथनारपूर्वमेव मुक्तप्रसादेन तद्वृत्तमन्वितुताम् ।

६९.

दिलीप स्वगुरोर्वशिष्ठस्याभ्यनुज्ञा प्राप्य वरुषीतादग्निहोत्रहोमार्थान्वान्विशिष्ट
नन्दिन्या पयोऽतितृष्णाया परो, यथास्य यथासि नितरां तृष्णा, तथैव श्वेततया
यद्य सदृशो प्रसादभूते तरिमन् पयस्यपि बभूव । विशिष्ट कर्म सम्पाद्य तत्फलभूत
यथावेद पयोऽनेन प्राप्तमित्यपि यद्य सादृश्यमभिमन्धेयम् ।

७०.

प्रभाते यदा सुदक्षिणादिलीपो पारणा विहितकन्तौ, तदा वशिष्ठो मार्गविघ्न
परिहाराय प्रस्थानकालोचित स्वस्तिवाचन विधाय तौ तदीयां राजधानीं प्रति
प्रैषयति स्म ।

७१

राजा दिलीप क्रमद्यो बहिम्, वशिष्ठम्, तत्परानीमकन्धतीम्, सवर्णां धेनु

इत्य क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विशेषिता प्रीतरा बभूव ।
तदन्विला हैमवताश्च कुक्षे प्रत्याययावाथमन्त्रमेण ॥ ६७ ॥
तस्या प्रसन्नेऽनुसुप्त प्रसाद गुरुवृषाणा गुरव निरय ।
प्रदर्शचिदानुमित प्रियायै शशश वाचा पुनरुक्तयेन ॥ ६८ ॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितारमा सद्गतलो वरुहुतान्देयम् ।
परो वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञ शुभ्र यशो मूर्त्तमिनातिवृष्य ॥ ६९ ॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिक स्वस्त्ययम प्रसुप्त ।
तौ दम्पती स्वा प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वशिष्ठ ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणोक्त्य हुत हुताद्यमनन्तर मूर्त्तरुच्यती च ।
धेनु सवर्णां च हृत् प्रतरथे सन्मङ्गलोदप्रतरप्रभाव ॥ ७१ ॥

च प्रदक्षिण परक्रम्याश्रमात् स्नां पुरीं प्रति प्रस्थान चक्रे । प्रतिष्ठमानस्य तस्य तेज पूजपरिक्रमणस्वस्तिवाचनादिना मङ्गलचारेणास्तुत्कृष्टमभूत् ।

७ .

द्वितीय - मुदक्षिणा सह रथना ह्य जगाम । स रथ पुनप्रातिलक्षणस्वीय मनोरथसदृशोऽभूत् । यथा रथस्य ध्वनि कर्णयो सुखकर, मनोरथस्य भ्रमणमात्रमपि वर्णसुखदम्, किं त्र रथो विशिष्टतया मार्गं न प्रतिहन्त्यत इति सुखकरोऽभवत्, मनोरथोऽपि प्रतिवन्धरहितो जात इति सुखकर । रथ सप्तग्रीभि पूर्ण, मनोरथोऽपि पूर्ण सम्पन्न इति । यस्य मनोरथ पूर्णोभवति, त मार्गाश्रम न बाधते, हृष्येणोस्तस्मिन् सोऽनायास गच्छतीति पूर्णस्य मनोरथस्यापि रथस्यैव गमनसाधन स्वमभिहित कानिना ।

७३

पुराणविनधिराददर्शनेन द्वितीय प्रष्टु नितरामुक्कण्डिता आसन्, अत एव स पुत्रप्राप्तिवर्दानरूप नवमश्रुदय प्राप्य यदा स्वपुरीं प्र ववश, तदा तेऽयादरेण त तदृशु । तस्य शरीर तदा सत्तानार्थं कृतन ब्रजेन वृशमासीत् । स दिलीपस्त दानीमेवमशोभत, यथा लोकहितार्थं रसा कञ्च देवभ्यो दद्या क्षीणो नवोदितो द्वितीयाचन्द्र, ओषधीना नाथमित्युक्त्या चन्द्रस्य सोमरूपता ध्वन्यते । तेनच देवपानयोग्यता । देवा कृष्णरश्मे चन्द्रकण पिबन्ति, तन च वृष्ट्यादि लोकहित जायते इति पुराणोक्ति १ ।

७४

दिलीपो यदा पुर प्रविशेत्, तदानीं तत्र पौराण भवनेपूजार्थं राक्षियरताका उदडोषत । नगरवासिनश्च तस्याभिनन्दन चक्रु । अथ स पूर्वं गुरोराश्रम गच्छन् मन्त्रिणां हस्ते समर्पित राज्यभार पुन स्वहस्तगतमकरोत् ।

श्रीनाभिरामध्वनिना रथेन स धर्मरत्नीसहित सहिष्णु ।
 यथावदुद्घातमुखेन मार्गं रथेन पूर्णं मनोरथेन ॥ ७२ ॥
 समाहितोऽस्तुभ्यमदर्शनेन प्रजा प्रजाऽर्थप्रतर्कशिताङ्गम् ।
 नेत्रे पशुस्तुत्तमनस्पृवन्नर्नवाद्य नाथामवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥
 पुरन्दरभी पुरमुत्पत्ताक प्रदिन पौरैरभिनन्द्यमान ।
 भुजे भुजङ्गेन्द्रसनानसार मूय स भूमेऽुरनाससज्ज ॥ ७४ ॥

१ ते च सोम पशुदेवा पयादेगतुर्बुध — इति पुराणम् ।

७५.

किञ्चिद्विदितानन्तर दिगीरकुलत्रिवृद्धये मुदक्षिणा गर्भे दधार, तत्रोपमा, यथा अग्निमहर्षेणयनयोद्धारपन्न चन्द्ररूप तेजोद्युत्को घत्ते, यथा वा वह्निना विप्त महा देवस्य कार्तिकेयरूप प्योतिर्गङ्गा दधार, तथेति । पूर्वं पार्वत्या वह्निना पुनर्मङ्गादिभिर्भंगस्त शङ्करस्यवीर्ये धृतमितिपाग्नातुरस्य कार्तिकस्योत्पत्तिकथा द्रष्टव्या । किं च यतस्तद् गर्भजात एव शालको राजपदमारोक्ष्यति अत एव “अष्टाना लोकपालाना क्युर्वायते नृप” इति मनुवचनानुसारमिन्द्राद्या अष्टौ दिक्पालास्त मर्म स्वस्वांशैरनुजातु ।

इति ख्युवशे द्वितीय सर्ग ।

—

अथ नयनसमुत्थ प्योतिरञ्जेरिव द्यौ गुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्टयुग्मैशम् ।
नररतिकुलभूत्यैगर्भमाधत्त राशी शुभभिरभिनिविष्ट लोकपालानुभावे ॥ ७५ ॥

रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः

कथासम्बन्धः

दिलीपपुत्रस्य रघोर्महाराजस्य वशे साक्षाद्भगवान्महाराजस्य राज्यत्रासितानां देवानां प्रार्थनया रामरूपेणावततार । सोऽयं भगवान् पितुराज्ञया राज्यपरित्यज्य वनगतो वनाद्भार्यां भगवतीं सीतामपहृतवत् तं रावणं सङ्कुटुम्बयुद्धे जघान, तद्भ्रातरं च स्वशरणागतविभीषणशरण्यो लकाराभ्येऽभिधिपेच । अथ भायया सीतया, लम्प्येन, सुहृदा वानरराजं सुग्रीवेण, तदनुयायिभिरन्यैर्वानरपुङ्गवैर्विभीषणेन च साकारार्थमनुगच्छता स पुष्पकविमानमाह्वयस्वपुरीमयोध्यां प्रतस्थे इति द्वादशश्लोकात् । तदुत्तरवृत्तमुच्यते ।

१

अथ भगवान् रामचन्द्रो वियति पुष्पकेण गच्छन्समुद्रोपरि प्रातः प्रियया सीतया विभ्रमगोष्ठीविनोदमिच्छन्—तां समुद्रप्रदर्शयन्नेवमाह ।

२.

हे सीते ! इमं क्षान्तिधिं पश्य, यं यद्यत् मलयाचलपर्यन्तं मया निर्मापितेन महता समुद्रा मध्यस्थितेन द्वयोर्भोगयोर्विभक्तं इव निरतिशयं फेनायमानं तथा शोभते, यथा मध्ये तिष्ठता छायापथेन विभक्तं शरदि निर्मलं तारकितं नम ।

३

हे सीते ! एष खल्वैतिहासिका आहुः, यदेकदास्मत्पूर्वजो महाराजः सगरोऽश्रमेधेन यन्ते स्म । भगवान् क्षणिकं भ्राम्यन्तं यच्चियमथ रसात्तलमनयत् । अतस्तदवधमायं यतमाना महाराजसगरसुता इमामूर्ध्वमन्वन् । तत आरभ्यैवायं जलनिधिरियन्तं महातमरकारदधौ ।

४.

इतं समुद्रादेवाप आकृष्य सूर्यरश्मयोऽम्भस्य गर्भं दधति । तेनैव काले वृष्टिः

अथात्मनः शब्दगुणगुणञ्च पदविमानेन विगाहमानः ।

रत्नाकरवीक्ष्य निधेः स जाया रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

वेदेह ! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सुतना फेनिलमम्बुराशयम् ।

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतत्वास्तारम् ॥ २ ॥

गुरोरियंभो क्षणिकेन मेघे रसात्तलं सङ्गमते हुरङ्गम् ।

तदर्धमूर्ध्वमन्वदारयद्भिः पूर्वं क्लिप्तं पारवधितो न ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यम्भस्योऽस्माद्विबृद्धिमत्राश्नुक्ते वसुनि ।

अविधेन वन्मिथो विभर्ति प्रहादनं शोचिरजयनेन ॥ ४ ॥

कायते । एष एव महान्त रत्नराशिं स्वान्तरे पोषयति । एतस्यैवोदरे विश्वदिति प्रविद्धोऽग्निस्तिष्ठति, विश्वतो ज्वादेवोत्पद्यमानत्वात्, समुद्रस्य च जलराशिस्त्वत्वात् । लोकलोचनरञ्जनाञ्द्रोऽपीत एव जन्म लेभे, समुद्रादेव चन्द्रस्योत्पत्ते पुराणे प्रविद्वत्त्वात् ।

५.

अथैकोपि विष्णु मत्स्यकूर्मोदिनानावताररूपेण, ब्रह्म विष्णु शिव रूपेण, स कायंभूतभौतिकरूपेण, नानेकधा विवर्तमान, सर्वत्र व्यापकश्च 'इत्थं भूतोऽयम्' 'इयदस्य परिमाणम्' इति च न शक्योऽवधारयितुम्, तथैवैकोऽपि विभिन्नाकारेण विपरिणममानो दशसु दिक्षु व्याप्तोऽय महानम्बुराशि, परिमाणेन स्वरूपेण च सर्वथा दुष्परिच्छेद । समुद्रो हि कदान्त्रितरङ्गनालासकुल, कदान्त्रिप्रशान्त इवावलोक्यते, वर्णाश्रास्य विविधा काले कालेऽनुमूयन्ते, वाष्पमेवादि रूपाञ्जावस्थामयमेव धत्ते-इतीदृक्तयावधारण न शक्यम् । दशसु दिक्षु व्याप्ततया चैयत्तावधारण न शक्यमिति द्वैधानवधारणे क्रमेण द्वय हेतुत्वेना-न्ति ।

६.

कल्पान्ते लोकान्संहृत्य योगनिद्रामाश्रितो भगवान् विष्णुरस्मिन्नेव जलनिधौ शेते । अत्र शयान चेम नाभिकमन्स्थितो ब्रह्मा स्तौति । यद्यपि कल्पान्ते विष्णो शयनमन्तरिक्षरूपे समुद्र एवोपपद्यते, मृतस्य जलस्य पूर्वमेव विनाशे तदा जलरूपसमुद्रासम्भवात्, तथाप्युभयो समुद्रयोरभेदाध्ववसायेनेद निरुक्तिमिति न विरोधः ।

७.

यथा शत्रुशीलिता राजान स्वरक्षानिमित्त मध्यस्थ धर्मप्रधान राजान शरणमुपयान्ति, तथैवैन्द्रेण स्वशत्रुणा पञ्चद्वेदादिभिरभिभूता पर्वता इममम्बुराशिमात्मरक्षायै प्रपद्यन्ते ।

इन्द्रो हि पर्वतानां पञ्चादिठनन्ति, तद्भयेनोड्डीय अत्रान्त प्रविष्टाना तेषा पञ्चद्वेदमय निवर्तत इति भावः ।

ता तामवस्थां प्रतिपद्यमान स्थित दश व्याप्य दिशो मर्दिना ।

विष्णोरिवारस्यानवधारणीयमदृकया रूपमियन्तया या ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुदहासनेन समुद्रममान प्रथमेन धाना ।

अमु युगात्तोद्धितयोगनिद्रा सङ्गत्य लोकान्पुरुषोऽदिशत ॥ ६ ॥

पञ्चदिवा गोत्रनिद्रात्तगन्धा शरण्यमेन शतशो महीश्रा ।

वृषा इनोपप्लवित परेभ्यो धमात्तर मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

८.

वराहावनारे भगवान् विष्णुर्यदेमा भुव रसातलादुज्जहार, तदानीं प्रथम
हेतुना समेधितमस्य निर्मलं जल पृथिव्या अग्रभागमावृण्वत्तथा शोभमानं लक्ष्यते
स्म, यथा वराहेण कृतोद्गाहपाऽनया पृथिव्या लज्जारक्षार्थं मुखावगुण्ठनं घृत
मवेत् । अन्यापि नवपरिणीता लज्जया मुखमवगुण्ठयति इति प्रसिद्धम् । मुहूर्त-
माश्रमिय शोभासीत्, तदुत्तरं तु भगवता वराहेण पृथिवीयमुत्तरं स्थासितैव ।

९.

वेगात् द्रवन्तीनां नदीनां मुक्तरूपाग्रभागजलं कृण्वति सागरे प्रदिशति तरङ्ग
चालितं च सागरजलं तामु नदीष्वपि किञ्चिद्विदिशति, तत्रैव कश्चित्प्रोक्षते यथा
इमा नद्यः स्वाधररसं पिपासवे स्वपतयेऽस्मै स्वयमेव समुद्राय स्वमुत्तमर्पयन्ति,
अयमपि च समुद्रः स्वाधर पातुकामाम्य स्वपत्नीम्यो नदीम्य स्वयमेव तरङ्ग-
रूपमधरं निवेदयति, एवमेतेषामसाधारणं दाम्भत्यमाभाति । अन्यत्र पुष्पा
एव प्रियाणामधररसं पिबन्ति, इह तु परस्परं पानमित्यनन्यसाधारणत्वं मञ्जिनाथ
आह । परस्परं स्वयं समर्पणमनन्यसाधारणमिति तु युक्तमाभाति ।

१०.

अमी तिमितामानो महानस्या त्वमुत्तानि श्यादाय, तेषु लुद्रमस्यादिसहितं
जलमापूर्यं यदा द्रोष्ठुष्टं मेलयन्ति, तदानीं मुखावरोधेन तेषां मुखस्यमुदकं
शिरसिऽद्वैद्वैगेनोर्णामि भूत्वा जलयन्त्रशोभां दर्शयति ।

११

सीते ! पश्य वमेनोच्छ्रित्तमंकरैर्द्विधा विभक्ता समुद्रफेना एतेषाम् (मकरा
णाम्) उभयोः कपोलयोः ससर्पन्तं श्वेतवर्णसाम्यात् कर्णचामरं च भाति ।
मकरा महत्त्वेन गजसदृशा, गजानां च प्रशस्तानामलङ्कारार्थं कर्णयोस्परि-
चामरे बन्धेते इति तस्मात्समन्त्रापि फने सम्पादितम् ।

रसातलादादिभवेन पुषा भुवः प्रयुक्तोद्बहनक्रियाया ।

अस्याच्छमम् प्रलयप्रवृद्धं मुूर्तवक्त्राभरणं वभूव ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रणामा स्वयं तरङ्गाधरदानदक्ष ।

अनन्यसामान्यकृत्नवृत्तिं पितृवसौ पापयते च सिन्धू ॥ ९ ॥

ससर्पन्मादाय नदीमुत्तानं सम्प्रीत्यन्तो विवृतानन्तरात् ।

अमी शिरोभिस्तिमयः सर्पैरुर्णवितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

मातङ्गनक्षे सहस्रोत्पत्तिर्नित्रान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।

कपोलसस्रितया य एषा श्वन्ति कर्णश्यामरत्नम् ॥ ११ ॥

१२

वायुमासेवितुं तटमुपेता इमे समुद्रस्था महान्तो भुजगा वर्णाकाराभ्यात्
पूर्वं तरङ्गा एवेति प्रतीता अपि सूर्यकिरणसम्बन्धात् सुस्पष्ट प्रकाशमाने
पगामगिभित्तरङ्गस्यो भेदे विद्वे भुजगा इति शक्यन्ते ।

१३

प्रिये ! पश्यसि पुर — तरङ्गवेगात् त्रित एष शङ्खसमूह प्रवालेषु पश्यन्,
तेषामङ्कुरेषु प्रोतवाच्चिर तथैव तिष्ठति, भूयो भूयस्तु तरङ्गपरिचालि कथं
चिञ्चनैरपक्रामति । तत्रैतथ सभावये, विद्रुमेषु तवाधरसादृश्येन ततोऽपगमने षडस्य
शङ्खसमूहस्यापि क्लेश इति । अधरस्पर्शेषु हस्तुकया 'कामोर्मिवेगात् तवाधरे
क्षिप्तस्तथैव च रागाच्चिरममृतमास्वादयन् स्थित प्रोत इव, श्वेततया शङ्खसदृशो
मदीयो दन्तसमूहस्तत क्लेशादिकापसरतीति' विनोदार्यं बहोवृत्त स्मर्यते ।

१४.

जलपात्राणोव मेघा समुद्र गत्वा जत्र एङ्गन्तीति लोकप्रसिद्धि, तामास्या
योऽन्ते सन्द्राद् जन्मादातुं प्रवृत्त एष धन, आवर्तवेगाद् भ्राम्यति । भ्राम्यतेतेन
एष समुद्र तथा प्रतीयते यथाय मन्दरेण गिरिणा पुनरपि प्रमथ्यते । देवासुरै
रेकदा मन्दरपर्वतेन समुद्र प्रमथ्य चतुर्दश रत्नानि लब्धानि इति पुराणप्रसिद्धि ।
मेघगिर्यां सादृश्य चापि कविसप्रदाये प्रसिद्धम् । तन्मूलक पुन प्रमथनमत्रो
त्पक्षितम् । देवासुरकर्तृकप्रमथनादिक यथाप क्षीरसमुद्रस्य, तथापि कविसप्रदाये
सर्वेषाम् समुद्राणामेक्यमेवेत्यविरोध ।

१५.

एष समुद्रो नीलवर्णसाम्याद्गर्तुल्लरूपेण दृश्यमानस्वाच्च लोहचक्रवदामाति ।
किं चास्य तन्मुपाश्रिता सन्ततीषा तमालवनपङ्क्तिर्नूरात्शतरा चक्रप्रान्ते सत
तमालिन्यरेखाक्त् प्रतीयते ।

वेळानिलाय प्रसृता भुजङ्गा मरोर्मिस्फूर्णमुनिर्दिशेया ।

सूर्याशुसम्पर्कसमृद्धरामैर्व्यन्त एतं मगिमि पणस्ये ॥ १२ ॥

तवाधरस्पर्शेषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सदृशोर्मिवेगात् ।

ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुख कथञ्चित्स्नेसादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयाति पातुमाकर्तव्यगाद् भ्रमता धनेन ।

आमाति भूयिष्ठमय समुद्र प्रमथ्यमानो गिरिणैव भूय ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालनालीवनराजिनीया ।

आमाति वेला लक्ष्याम्बुराशोर्घोरानिचक्षेव कङ्कुरेला ॥ १५ ॥

१६.

समुद्रतटे वायुनोद्धीय ज्ञानकीमुले सनम्य केतकीपुष्पराग विलोक्य राम
कथयति—हे आपताधि ! बेलानिल कतकपरारैस्ते मुलमल करोति । यद्यपि
मुखालङ्करणमिदं मदीय कर्तव्यम्, परमेय बेलानिलो वेत्ति, यद्दीर्घेण नियोगेनाह
तवाघरमान निरनिशय सत्पुत्र अतरव स्वहस्तेनालङ्करणे कालक्षेप सोढुमसमर्थं,
तत एव मदीय कर्तव्यमेव स्वयं सम्पादयतीव ।

१७

वयं विमानवेगान्महूर्तमात्रकालेनैव विस्तीर्णस्य समुद्रस्य तटं प्राप्ता स्म,
यत्र मित्राण्य शुक्तिमयो मौक्तिकपटलं विवीर्णमस्ति, परलनप्राध्वं पूगवृक्षा भेगिणो
दृश्यन्ते ।

१८.

हे मृगनपने ! मनाक् स्वपृष्ठदिशि दृष्टिपात विधेहि, पूर्वं समुद्रोपरि गच्छ
द्विरस्माभिर्नर्मैव परितो दृश्यते स्म, इदानीं तु समुद्रोऽस्माभिर्यथा यथा दूरे
स्थप्यते, तथा समुद्रे दृष्टिं निपातयद्विरित्य प्रतीयते-यद् वनरुहिता भूमि मध्ये
समुद्रमध्याद् वदितिरस्तरति । वेगवद्यानमारूढेन भूमिवृक्षादिषु गतिं प्रतीयते
इति स्वाभाविकम् ।

१९

सीते पश्य । एतद् विमानं यथाऽहमिच्छामि तथैव चलति । कदाचिद् भूमे
रत्यूर्ध्वं प्रवृत्ति, कदाचित्ततोऽधो भवति, कदाचिच्च ततोऽप्यधो भूमे समीप
मिवागच्छति । भूमेरुपर्यन्तरिक्षे पश्चिमा मार्गं, तत ऊर्ध्वं मेघानाम्, ततोऽ-
प्युपरि देवविमानानाम् । इदं तु सर्वेषु मार्गेषु यथेच्छं गच्छति ।

बेलानिल केतकरैणुभिस्ते सम्भावयस्याननमायताधि ।

ममाक्षय मण्डनकालज्ञानेर्वैत्तीव त्रिम्वाघरवद्रतृणम् ॥ १६ ॥

एते वयं सैकत्रभिन्नशुक्तिपदस्तनुक्तापटल पयोधे ।

प्राप्ता महूर्तेन विमानवगात्सूत्रं पलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोऽहं पश्चान्-मार्गं मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।

एषा विदूरीभक्त समुद्राखकानना निवृततीव भूमे ॥ १८ ॥

वचिसया सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनाना पतता क्वचिच्च ।

यथाविधो मे मनसोऽभिलाष प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

२०.

त्रिपथगातरङ्गवर्णकेण शीतल, ऐरावतगण्डवर्णकौत्त मदवारिवत् सुगन्धिधैव
मन्द मन्द प्रवहन् समीरस्त मुखे—मन्वाहजनित घनोदक शोषयति ।

२१

हे क्षीते ! यदा स्वया कौतुकेन ग्वाक्षमार्गाद् दृष्ट निस्वार्थ मेघ सृष्ट,
तदानो तस्माद्विद्युन्मण्डल प्रकाशते स्म, तेन एतद्वरे द्वितीय बलयरूपमाभरण
न्यस्तमिव ।

२२

अमी तपस्विन राक्षसमयादाभ्रमस्थानानि परित्यज्य पुरा इतस्तत प्रयाता,
इदानीं तु राक्षसविनाशाद् दण्डधारण्य भयरहित मत्वा स्वस्थानेषु पुनर्नवनवा
पर्णशाला निर्माय तेषु निवसन्ति । राक्षसविनाशादेवमेतेषां सुख जातमिति ।

२३

अपि प्रिये ! अत्र मूषा स्वामन्विष्यता मया तव चरणात्पतित नीरवनेक
नूपुर प्राप्तमासीत् । तस्य नीरदत्त्वे कारणं च एतच्चरणविन्दुवियोगदुःखमेव मया
सम्भावितम् । नूपुरं हि पादस्थ पादसञ्चालने शब्दायते, पादाद् भ्रष्टस्य तु
नीरवना विद्वैव, तत्र हेतुस्त्रे क्षत ।

२४

हे भीरु ! रावणो येन पथा स्वामपन्हार, त पन्थान जिज्ञासमान मां दयालव
इमा लता अबोधयन् । यद्यपि वागासा न्नास्ति, तथापि यथा कश्चिन्मूकोऽपि
दृष्टचेष्टया तथा शालानां पल्लवास्तस्यां दिशि नमयत्योऽबोधयन्नेव, एवमन
दिश्येवासा पत्राणि नतान्यासन्ति । यद्वा—यस्मिन् मार्गे एव गता, तत्र लता
नियोगदुःखान्मुक्ता आसन्, तास्तथाविधा दृष्ट्वा मे एवमार्गबोध समजनि ।

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिलमार्गगापीचिन्मिदं दर्शयति ।
आवाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाच्चासति स्वेदलनामुखे ते ॥ २० ॥
द्वरेण वानायनलम्बितेन सृष्टस्तस्या चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्गिनविद्युद्दलयो घनस्ते ॥ २१ ॥
अमी जनस्थानमपेदेविघ्न मत्वा समारब्धनोदृष्टानि ।
अध्यासत चीरभूतो यथास्व विरोजितान्याभ्रमण्डलानि ॥ २२ ॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता एता भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत एतच्चरणविन्दुविघ्नेषु स्वादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥
एवं स्वसा भीरु यतोऽपनीता त मार्गमेता कृपया लता मे ।
अदशयन्वक्तुमशक्नुत्य शालामिराञ्जितपल्लवाभि ॥ २४ ॥

२५.

इत्स्ततातव मार्गमन्विष्यन्तं नामवलोक्य हरिष्णो दर्माङ्कुरचरणमुपेक्ष्य
दक्षिणदिशि स्वदृष्टिनिपातेन, “दीर्घा दक्षिदक्षिणस्या दिशि निनाय” इत्येवं
मह्य तव मार्गमनुवयन् । एतच्छ्रुत्वा हरिष्णोपि तद्गमनदिश्येव यद्दृश्य
आसन्निति धारः ।

२६.

एतत्पुरो माल्यवतः पर्वतस्य गगनकुम्भि श्रृंगमानाति । यत्र वर्षोरम्भे यदा
मेघैर्नव च्च वृष्टम्, तदानीमेव मेघदर्शनाद्दीपित स्वद्वंद्वरहमसद्गमानेन मयाप्य-
श्रुत्वा वृष्टम् अपैव वर्षा प्रारब्धा इति तारयम् ।

२७.

ग्रीष्मे शुष्कप्रायेषु अल्पतरु नववर्षोरम्भे किमपि सौरमं प्रादुर्भवति,
कदम्बकुसुमानि च फुल्लन्ति, मयूराश्च गृध्रन्तः केकाः कुर्वन्ति, सर्वेन्द्रियावर्ष-
कमेतत्त्वर्षद्वीपनतया त्वद्वियोगार्त्तस्य पर्वतेऽस्मिन्निवसतो मे अस्त्वहमभूत् ।

२८.

अपि भीरु ! पूर्वमावयोः सहस्रिष्यतो यदा घनगर्जितमुदीर्गं भवति स्म तदा
एवं एतेन भीता सकम्प मामाश्लिष्यती, एत् पूर्वानुभूतं त्वदास्त्रेण स्मारयन्ति
घनगर्जितानि तद्दीपनतया वियोगकाले मयातिक्लेशेन छोदानि ।

२९.

ग्रीष्मे सौरतेषु सन्ततायाः पृथिव्या वर्षासु धारासंपालसेकेन वाष्पमुद्-
गच्छतीति । स्वाभादिकी वस्तुस्थितिः । धूमाकारेण तेन वाष्पेण युक्तानि नव-
विक्रान्तिरक्तकन्दलीकुसुमानि दृष्ट्वाऽहं विवाहकर्मणे होमधूनाःकणयोः तव लोचनयोः
शोभा स्मरन् विरहव्यथामन्वभवम् ।

मृगयश्च दर्माङ्कुरनिर्वपेक्षास्तवागतिर्ज्ञं समवोधयन्माम् ।

व्यापारन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पद्मराश्रीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

एतद्विरेर्माश्लियवतः पुरस्तादाधिर्मवम्बरलेखि शृङ्गम् ।

नव पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाभु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहृत्पल्लाना कादम्बमर्षोद्भूतकेसरं च ।

रिगव्याश्च केकाः शिबिनां वभूजुर्पस्मिन्नवहानि निना एवामे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरन् च यत्र कम्पोत्तरं भीरु ! तदीपनूदम् ।

गुहाविसारीष्वन्निदाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

आसर संकृतिवाप्ययोगान्नामलिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।

निदम्बयाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमाःकणोचनधीः ॥ २९ ॥

३०.

पुर एतत्प्रभासर आमामि । एतस्याश्च वञ्जुञ्जराविः शोभते । अत्र
श्लोडन्तस्तरला सारया अत्रि दूरवशेनुना दृष्टिरथनीपदायान्ति, एतरेनन् रम्ये
दृश्ये दृष्टिश्चिराय निवद्धा तिष्ठति ।

यथा कश्चित् पथिकोऽध्वखेदापनोदाय जलाशयपुराणम् अज्जनातिवृत्ति,
तथैव दूरदस्नाध्वदेयादत्र पन्नासरति निवर्तितः मे दृष्टिः अनामनोदाय लज्जन्
निवर्तीति सम्भाष्यते ।

३१.

हे सीते ! अत्र पन्नासरति शोभन्ति, प्रेम्णा परस्परमुत्तरनरागमर्षयन्ति चक
वाकमिधुनान्यवलेक्य स्वद्विरहव्यथितोऽहम् “अहो एतेषा सौभाग्यम्, यद्यहमपि
प्रियया न व्यथोश्ये, तर्ह्येमेव सानन्दं व्यहरिष्यम्” इति सोऽकण्ठ साध्यसूक्ष्म-
मिवाचिन्तयम् ।

३२.

स्वद्विरहभ्याकुण्ठोऽहं शमन्निवप्यन् यदा स्तनसदृशाम्बा कुसुमशुभ्रकाम्पा
विनतामिमा पन्नातयस्थितामशोकश्चामपश्यम्, तदा सादृशत् सीता प्राप्तेति
बुद्धिर्मे जाता । तथा च प्रेरित आलिङ्गितु यावद्दह कामये, तावत्सङ्गो नां
“नेयं जानकी” इति सखेद निवारयामास ।

३३.

विमानचलने विमानलम्बिनीनां क्षुद्रवण्टिकानां स्वनं भूत्वा सादृशत् स्वरूप-
शब्दभ्रान्त्याकाशमुत्तन्य इमा गोदावरीस्थाः सारसपङ्क्तयस्तथा शयन्ते, यथा
मन्ये तव स्वागतं कर्तुं सम्मुखमायान्ति ।

उपान्तवानीरवनोरगूढान्धातोक्पारिल्वसारसानि ।
दूरावतीर्णां पितृवीव खेदादमूनि पन्नासल्लिखानि दृष्टिः ॥ ३० ॥
अत्राविपुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकैसरानि ।
इन्द्रानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! दृष्टवमीक्षितानि ॥ ३१ ॥
इमा तयाशोकलता च तन्वीं स्तनाभिरामस्तदकामिनिस्राम् ।
स्वध्यासित्तुङ्गपा परिरन्धुक्कामः सौमित्रिणा साभुरह निषिद्धः ॥ ३२ ॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां भूत्वा स्वन काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रसुप्तवन्तीव क्षमुत्पतन्वो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

३४.

यत्र वरं पुरा स्थिता, यत्र स्वपादिपरिभ्रम स्वस्मानुसुच संदेवारि द्रुमा
लिता, तेष पञ्चम्ये प्राणा । विरादिना दृष्टा मे मानस मोदते । अत्रप्या
मृगाश्चापस्नान् द्रष्टुमद्याप्सुस्तुता ।

३५.

हे प्रिये ! यदत्र गोदावरीतीरे शीतलः पवनो मृगपावनिना मे भान्तिमन
निनाप, किंचैभान्ते स्वदङ्के शिरो निघाय बहुषा सुखमस्त्वम् इति सर्वं पूर्ववृत्त
मया पञ्चम्ये दृष्टा स्तपते ।

३६.

यः सज्जु अहुरिद्वेनमात्रे नहुषनिद्रादात् प्रच्यावयति स्त, यस्य चोदये
स्वस्तिकावारादय सर्वे क्षणशया स्तुगा जायन्ते, तस्यागस्तुनेस्वारास्तेऽपि दिवि
स्थितस्यापि मृग्यामपमाभनो विद्यते ।

३७.

हे प्रिये ! माहिवाग्नेस्वरागस्तस्याभनो निर्वन् विमाननगो सञ्चरन्तम्
इविर्गन्धेव सुगन्धिनिन धूमनप्राय मे मनसि सत्पुत्राद्रेको जायते ।

३८.

शातकर्मोर्नुनेरेत् क्रीडसते वृष्टमप्यगट दूरात् तथा हस्यते—यया मेघा-
न्तराले चन्द्रमा हस्यते ।

३९.

अत्रैदमैहमान्छते लोका—यत् पुरा द्वि स शातकर्मिश्च विर्गुणैः सह

एषा तथा पेशलनषयाऽपि दाम्भुमवर्षितवत्सूया ।
भानन्दपस्तुन्दुवृष्टपवारा दृष्टा विरात्सञ्चरी मनो मे ॥ ३४ ॥
अत्राहुगोद मृगपानिवृत्तस्वङ्गनेन विनीतलेदः ।
रहस्तदुस्तुन्नित्कानूषी स्तरानि वानीर्येष्टेषु सुन ॥ ३५ ॥
अनेदमात्रे पदान्मनेन प्रअशया यं नहुष चकार ।
तस्याक्लिम्भ परिशुद्धिहेतोर्भनो मुने स्यान्मन्त्रिहोऽपम् ॥ ३६ ॥
त्रैः प्रमिधूनामननिन्दन्तैस्त्वेदमाकन्देनान्नगंम् ।
भस्वा हविर्गन्धे रजोनिदुक्त स्तपते मे सविमाननमा ॥ ३७ ॥
एतन्नुनेर्भनेनि । शातकर्मो पञ्चान्तरो नाम विदारवारि ।
भान्ति पञ्चम्ये निदूरान्नेवन्दराहनिरेन्दु दिग्म् ॥ ३८ ॥
पुरा स वमङ्गुमानावृत्तिभरन्तैः सार्वभूतिर्भनेना ।
समाधिनीतेन द्विजेननीटः पञ्चान्तरोपौकन् वयम् ॥ ३९ ॥

चरन् दर्भाङ्कुरैश्च प्राणयात्रां निर्वहन् महत्तपस्तेपे । तत्तपोभीतश्चे द्रोमवागुरास-
हशोभिर्युवतिभि पञ्चभिरप्सरोभिस्त प्रलोभ्य तपोमार्गाद् भ्रशयति स्म ।

४०

पूर्वोक्त स श्रातवर्गिर्मुनिर्नग नर्गते प्रासादे तपसा कल्पिते सर्वैरदृशो
निवसति । तनाप्सरोभि सङ्गीतेन रममाणस्य तस्य मृदङ्गरोधो विधति प्रसरन्न
स्मद्विमानेऽपि प्राप्त , विमानस्योच्चभागस्तेन शब्दायमानो ज्ञात पर विमानवेगात्
क्षणमात्रमेवैषा घटना समपद्यत ।

४१

असौ सुतीक्ष्णामिषस्तपस्वी चतसृषु रिक्तु प्रचलन्तश्चतुरोऽग्नीन् प्रतिष्ठाप्य,
वियद्गत षण्डरश्म सूर्ये पञ्चममग्नि मत्वा त मध्ये स्थित पञ्चाग्निपस्यामा
चरति । नाममानमस्य सुतीक्ष्ण इति कर्माणि तु पर शौभ्यानि, न हि कदाप्यस्य
क्रोध इति ।

४२

एतत्तपोभीत सुरराज एन तपोमार्गाद् भ्रशयितुकाम एतत्सन्धि सुर
सुन्दरी प्रेययामास, पर तासा सस्मयन्त्याभयतादयो भिषेण सुदराङ्गदर्शना
दयश्च विलासा नास्य मनसि मनागपि िकारमु पादात्पतुमशक्नुवन् ।

४३

बाहू ऊर्ध्वौ कृत्वा तपधरन्नेष सुतीक्ष्णो मुनिर्मांसभाजयितु दक्षिणभुजमस्मदभि
मुख सभाजनानुकूल्या मुद्रया व्यापारयति । यत्र भुज जवाथमक्षमाला शोभते,
येन भुजेन दयापरवशो मृगान् काले कण्डूयति, वैदिककर्मनुष्ठानार्थं कुशाश्च येन
छुनाति । बाहो पवित्रकर्मनिष्ठता विशेषणैकता । यत्र च तादृशेन भुजेन
सभाजनप्रापया स्वस्य शौभाग्यं द्योत्यते ।

तस्यायमर्हतिशौघभाज प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गरोधे ।

वियद्गत पुष्पमचन्द्रशास्त्र क्षण प्रतिक्षन्तरा करेति ॥ ४० ॥

इतिमुंजामेषवता चतुर्णां मध्ये ल्यायन्तपसतसति ।

असौ तपस्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन द त ॥ ४१ ॥

अथ सदासप्रदितेशानि व्याजार्थं दक्षितमेवमग्नि ।

नालं विकर्तुं जनिते द्रशङ्क मुराङ्गनाभिभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

एधोऽथमालावत्य मृगणां कण्डूयितार कुशासृचिन्तावम् ।

सभाजने मे भुबमूर्ध्वबाहु संयेतर प्राध्वमित प्रसुह्के ॥ ४३ ॥

४४

यतोऽय मुनीदणो मोनव्रती, अतो मम प्रणाम शिर कम्पेनैव प्रत्यग्रहीत्,
न तु वाचाशिष प्रायुक्त् । अरमद्विमानेन च मध्यगतेनास्य सूर्यसल्गना
दृष्टिर्व्यवहिताभूत्, तच्चलिते निमाने पुनरेष दृष्टिं यथापूर्वं सूर्यं सङ्गमयति ।

४५

यथा पूता समिधोऽग्नौ ह्यन्ते, तथा मन्त्रपूत शरीरमपि शरमङ्गेनाहुनी
कृतमिति रामायणे प्रसिद्धा कथा, तस्य शरमङ्गस्यैव तपोवनम् ।

४६

यद्यपि शरमङ्गस्याश्रमे इदानीं कोऽपि न निवसति, तथापि तत्पुत्रकल्या
इमे पादपा अस्मिन्नाश्रमे समागतान् अनिधीन् धनच्छायया मधुरैश्च फलै
सकुर्वन्नि । सद्गृहेषु अतिथिपरिचरणं कदाचिदपि नोच्छिद्यते-इत्यभिधीयते ।

४७

हे सीते ! इत वृषभ इव शोभमान एष चित्रकूटो गिरिर्मदीयं चक्षु स्वस्मि
न्नाकर्षति । यथा इतो वृषभ इवमुखेन बलद् गर्जति, आर्द्रे मृत्त्रिचयमपरिहर
माणश्च विषाणयो (शृङ्गयो) पङ्क घत्ते । तथैवाय चित्रकूटोऽपि मुलसदृशो
भिर्निर्झरशब्दमुद्गावपन् गर्जति शृङ्गेषु (शिखरेषु) च कर्दमसंशान् मेयान्
धारयति ।

४८

हे प्रिये ! चित्रकूटगिरे पादेषु धोर प्रवहन्ती दूरस्वहेतुना कृष्णा प्रतीयमाना
निर्मलजलैषा मन्दाकिनी नदी भूमिकण्ठभृता मुक्तावलीव शोभते । पर्वत शिर
इव, तत्समीपमाग कण्ठसदृश, तत्र मन्दाकिनी हारसदृशीति ।

वाचयमस्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिपद्य मूर्ध्नि ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्त्वा पुन सदृशार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥
अथ शरभ्य शरमङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहितान्ते ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्धिरग्निं यो मन्त्रपूता तनुमप्यहोषीत् ॥ ४५ ॥
छायाकिनीताश्चधारभ्रमण्यु भूमिद्वसम्भाव्यगजैश्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्यां स्थिता सुपुत्रेश्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥
धारास्वनोद्धारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गामलग्नाम्बुदवप्रपङ्क ।
बध्नाति मे ५ धुरगात्रि । चक्षुर्देतं कञ्चुशानव चित्रकूट ॥ ४७ ॥
एषा प्रसन्नरितमितप्रवाहा सरिद्धिदूरान्तरमावतन्वी ।
मन्दाकिनी नाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमे ॥ ४८ ॥

४९.

विप्रकृतमीरनरपय स तमालवाद्यो विद्यते यस्य नूरमिगा नूतनरत्नवेनाह
त्वदये कर्णभरणमरचयन् ।

५०.

हे सीते ! इदमत्रिमहर्षेस्तरोक्नमस्ति । अथ महर्षेरौक्तिकप्रभाव दद्यन्त
इव दण्डमयरदिता अपि क्षन्तवो विनय पात्यन्ति, नहि प्रत्या निर्वृत्तान् प्राप्त-
यन्ति, वृक्षाश्च पुष्पोद्गममन्तरेणापि फलानि प्रमुवते ।

५१

हे सीते ! एव सत्त्वैतिहासिहा अट्टु, यदत्राश्रमे मगवती अत्रियत्री अनुश्रुत्या
स्वस्यालौकिकेन माहात्म्येन श्रुतीना स्नानाय नूना गत्वा प्रकृत्याश्चकार ।

५२.

अत्राश्रमे स्थितये कश्चित्तानु वेदित्तानु वीराश्रमेसोपदिशत सत्राश्रमस्यस्य
मृगीना मध्ये स्थिता जमी वृक्षा अपि समक्षितया इव लब्धन्ते । योगिनो
निष्कलङ्गा भवन्ति, इमे वृक्षा अपि दातान्मन्त्रेन निष्कला वर्तन्ते ।

५३.

हे सीते ! नाम्ना रूपेण च इरामो यो जलरूपवया पूर्वे वनगन्धदाने
प्रापित स एव पुरस्तिरति । रत्नरक्षे फलैर्बुक्तोऽय वृष्ट पद्मरागन्धिनहिताना
मरकतमगीना सन्त इव शामते । (पद्मरागन्द्रधानि फलानि, वस्तु
मरकतसन्तुहसदृश) इदानीं शिद्धमनोरथे (कल्पे) प्रथावृत्तैरम्मानिरव
वन्दनीय ।

अथ सुजातोऽनुगिर तमाल प्रकृत्यादाय सुगन्ध यस्य ।

यवाङ्कुरावाङ्कुरोत्थोमी मवाऽन्तस परिकल्पिते ॥ ४९ ॥

अनिग्रहासदिनीदम्बमपुष्पलिङ्गात्कल्पवृक्षम् ।

वन तत्र साधनमेतदधेरात्कृतेऽपठप्रभावम् ॥ ५० ॥

अत्राश्रमिहाय तनोधनाना म्हरिदमतीदृष्टहेमवज्रम् ।

प्रवर्द्धयामास क्लृप्तय्या विस्रोतस्य अम्बकमौष्मिलान् ॥ ५१ ॥

वीराश्रमैर्योन्युवाङ्कुरीणाननी सन्ध्याश्रितवेदिमध्या ।

निवादनिष्कम्बन्या विमान्ति योगाधिरुदा इव शाश्विनोऽपि ॥ ५२ ॥

रत्या पुरस्तात्पुष्याचितो य मोऽनव स्वाम इति प्रतीत ।

राधिमंगीनामिव गाश्चानाऽपद्मरागः फलितो विनति ॥ ५३ ॥

५४, ५५, ५६, ५७

प्रयागे गङ्गायमुनाप्रवाहयो रङ्गमे कृष्णवर्णेन यमुनाजलेन समिभित शुभ्र गङ्गाजलं विनिधसनिवेशवशाद् निविधा तुपमां घत्ते । यत्र वेगवशादावर्तमान मण्डलाकारतामापद्य प्रवहति, तत्र क्वचित्सुरिनग्धप्रभ प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति नील मणिभिरनुविद्वाना मौक्तिकाना हारमिव प्रतीयते, क्वचित् नीलमलानुविद्विक- सितशुक्लकमलमालाकार विभति, यत्र च परस्पर मिन्त्सरला रेखामाभित्य प्रवहति, तत्र कृष्णवर्णकादम्बससक्तहसपट्टकिस्दृश शोभते । यत्र तु गङ्गप्रवाहस्य मध्ये यमुनाजल प्रविष्टम्, तत्रान्ते गाम्भीर्यस्थालयतया च भूमिरप्याशोक्यते तत्रैथ विमानि—यथा भुवो नायिक वा अङ्गेषु चन्दनेन रचना कृता भवेत्, तन्मध्ये च कृष्णागुह्या मकरिकापत्राणि रचनानि स्यु । अथ यत्र प्रवाहप्रान्तभागगतं मन्दप्रवाह प्रशान्तमिव प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति च गङ्गाजलम्, यमुनाजलं तु न प्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, तत्र तच्छ्रुतायागतेन तमसा विन्दुरिता प्रसृता चन्द्रि- वेद्याभाति, यत्र च यमुनाजलं सूर्यप्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, गङ्गाजलन्तु नाभि- ज्वलितम्, किन्तु मनतानिवापन्न दृश्यते, तत्र तथा प्रतीयते यथा शुक्ला शरन्मेघा अभिव्यासा स्यु, तेषामन्तराले च स्थाने स्थानेऽन्तरिक्ष कृष्णवर्णं दृश्यते । अथ यत्र प्रशान्तप्रायस्य गङ्गाजलस्योपरि कृष्णा यमुनातरङ्गा खेळन्तस्तदावृषवत् इव, तत्र कृष्णोरगवेष्टित भगवन् शङ्करस्य भस्मसित शरीरमिव तद्विभाति । एतसर्वं भगवान् राम सीतायै प्रदर्शयति ।

५८

तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति श्रुतिभिर्निर्णीतम्, परमत्र प्रयागे कृतस्नानानां पुरुषाणां तत्त्वज्ञान विनापि मोक्षलाभो भवति । अत्र प्रमाणं 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते' इत्यादि श्रुती स्पष्टम् ।

क्वचिप्रभालेपिभिर्निन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यथिरिवानुविद्धा ।
 अन्यत्र माला सिनपङ्कजानामिन्दोवरेस्तत्त्वचिन्तान्तरेव ॥ ५४ ॥
 क्वचित्त्वगाना प्रियमानसाना कादम्बससर्गावतीव पङ्क्ति ।
 अन्यत्र कालागुहदत्तत्रा भक्तिभूर्बक्षन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
 क्वचिप्रभा चान्द्रमयी तमोभिश्चतायादिलीने शयलीकृतेव ।
 अन्यत्र गुम्फा शरदभ्रनेत्रा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभ प्रदेशा ॥ ५६ ॥
 क्वचिच्च कृष्णोरगमूपणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
 पश्यानवद्याङ्गि । विमानि गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गै ॥ ५७ ॥
 समुद्रप्रत्योज्ज्वलत्रिपाते पूतारमनामत्र किलामिषेकात् ।
 तत्रावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुष्यना नास्ति शरीरबन्ध ॥ ५८ ॥

५९.

एतद् गुह्यस्य पुरं प्राप्तम्, यनात्मामी राजवेशं विनाय आरण्यक्रेयो
धृतः । मुमन्त्रश्च रुदन् रथमादाय निवर्तितः ।

६०.

हे सीते ! एषा सरयूः प्रवहति । शृणुयः कथयन्ति यद् यथा ध्व्यक्ताद्
बुद्धिरुत्पद्यते, तथैवैषा सरिद् ब्रह्मनिर्मादाद् मानसान् सरतः प्रभवति, यस्मिन्
सरसि स्नान्तीना यक्षमुन्दरीणा पयोधरा हेमाम्बुपरारौल्लङ्घिन्ते ।

६१.

अस्यास्तीरेऽश्मत्पूर्वैर्मूनासोऽश्वमेधाना महाकतवोऽनुष्ठिताः, यद्गमयमृता
अद्याप्येतत्तीरे निगता द्रष्टव्यमायान्ति एषा चायोध्याननुप्रवहति ।

६२.

अहमिमां सरयुमुत्तरकोशलदेशवासिनो साधारणां मानरं मन्ये । या न सर्वांन्
स्वपुम्निनोत्सङ्गे ऋडयति, स्वपयोभिश्च पोषयति ।

६३.

जननीव विना दशरथेन वियुक्तैषा सरयूः प्रवासादागच्छन्तं पुत्रकल्पं मा
वारिणीकरैः पवनं चिधिरयद्विन्तरङ्गरूपैर्हस्तीरालिङ्गितुं यतत इव । अन्याऽपि
जननी प्रोध्यागतं भ्रान्तं पुत्रं कराम्या व्यजनपवनं सृजन्ती प्रेम्णा समालिङ्गति
इति प्रवृत्तिरिदम् । पतिवियुक्तायाश्च जनन्या विशेषेण पुत्र एवाधारो भवतीति
तथैव प्रेमाशितयप्रकटनं युक्ततरम् ।

पुरं निपादाविपत्तेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटामु बद्धास्ववदसुमन्त्रः कैत्रेयि! कामा फल्गिनास्तपेति ॥ ५९ ॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनाना निर्विष्टहेमाम्बुजरैणु यस्याः ।
माह्वं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाभ्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥
ज्जानि या तीरनिष्ठातयूषा बहस्यशोध्यामनु राजधानीम् ।
तुङ्गमेधावमृथान्तोर्णैरिदं वाङ्मिं पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥
यांशैकनोत्सङ्गमुषोचितानां प्राणै पयोभि परवर्धितानाम् ।
सामान्यघात्रीमिव मानसं मे सम्नाश्यत्युत्तरकोशलानाम् ॥ ६२ ॥
स्ये मदीया जननीव तेन मान्येन राजा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं चिधिरानिलेर्मां तरङ्गहृत्तैरुपगूढवीव ॥ ६३ ॥

६४.

अथि प्रिये पुरस्ताद् वियति प्रसरन्त धूलिनिक्करमवलोक्य तर्क्यामि यदनुमता
मदागमनविषये सूचितो भरत सैन्यपुरस्तर मत्स्नागत ऋतुमायाति ।

६५

ससैन्यभागवन्त भरतमुपश्रुत्वा 'किमसौ भरत स्वाधिगत राज्य निष्कण्ठ
विधावमस्माभि सह योद्धुमायाति' किमद्याप्यस्माक दुर्दैव नावासतम्' इति
सम्भाषिता सीताया शङ्कामननोदमितुङ्गामो राम कथयति हे प्रिये । त्वयैतद्
विश्वसनीयम्—यत् साधुमति स भरतश्चतुर्दशवर्षघनवाकरुपा पितु प्रतिज्ञा
परिपालय प्रतिनिवृत्ताय मे न्यासरूपेण राक्षता स्वयमनुपशुक्ता राजलक्ष्मीमवश्यं
प्रत्यर्पयिष्यति । यथा वने खरादीन् राक्षसान् हत्वा प्रत्यागताय मे लक्ष्मण
स्वरजिता निष्पाशं रत्ना प्रयापितम् । अत्र शङ्खिण्डहरयया सीतयैव राजलक्ष्मी
मुपमिमानस्य रामस्येद हृदय—यद् हे सीते ! मदनुपस्थितौ लक्ष्मणपार्श्ववर्तिन्यास्तव
यथा रश्मिन् शिवाश्वस्य श्मशे च साधुत्वस्य द्रष्टव्यान् विश्वासस्तथैव
भरतस्य राजलक्ष्म्यामनुरागरुधापि नेति रत्या विश्वसनीयम् ।

६६.

सेनां पदनाशकृत्या गुरु वनिष्ठमप्रगामिन विधाय मन्त्रिभि सह वल्कलवसनी
हस्तेऽर्धोदक दधानोऽसौ भरत पद्म्यामेव मरुमीनमागच्छति । पदात्यादि
विशेषणै पूर्वपद्योक्त भरतस्य साधुस्य समर्थितम् ।

६७

यत्प्राप्तयौवनोऽप्येष भरत केवल मद्भक्त्या सर्वथा स्वाधीनामपि राजलक्ष्मी
न बुभुक्षे, तन्मध्येऽय चतुर्दश वर्षाणि यावत् तथा राजलक्ष्म्या सह उपमसिधा-
राचङ्कमणतुल्य व्रतमनुष्ठितवान् । यथा अक्षिधाराया चङ्कमण दुष्करम्
तथैव युवास्थाया प्राताया यु-स्या इय अियरयागोऽपि दुष्कर इति भाव ।

विरक्तसन्ध्याकृपिण पुरस्तात्प्रतो रज पार्थि-मुपिब्रवीते ।

शङ्के हनूमत्प्रथितप्रवृत्ति प्रत्युद्गतो मां भरत ससैन्य ॥ ६४ ॥

अद्या अिय पान्तिरङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनशो स साधु ।

हत्वा निवृत्ताय मृषे खरादीन्वरजिता रत्नामिन् लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

असौ पुरम्कृत्य गुरु पदाति पश्चाद-भ्यापितवाहिनीव ।

वृद्धैरमरै सह नीरवासा मानर्घ्यपाणिभरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पित्रा विसृष्टा मदपेभया य अिय यु-नाऽप्यङ्कातामभोक्ता ।

इयन्ति वर्षाणि तथा सहोपमभ्यस्यतीव व्रतमाक्षिधारम् ॥ ६७ ॥

६८.

एतावदुक्त्वा मगवन् रामचन्द्रा विराम । अथ तस्य मूनादन्तोद्देश्यं
विज्ञातवत्या निमानाधिष्ठातृदेवतया प्रेरितं पुष्पकनाकायाद् मूनावकातर । इदानीं
मूनादन्तरत्तदिमान् भरतेन सह सनापातां प्रशासना चार्थंमुदयन्त् ।

६९.

विमाने मूर्तिष्ठे चाते नगवन् रामचन्द्र तेवाकर्णकुशलेन मुग्धैव
सन्वितं हस्तचाहाय्यमवलम्ब्य मनोहारिण स्तम्भैश्चरितेन सौमनस्येन तस्मादक-
रोहति स्म । निनीपश्चात्प्रवृत्ते मूला तस्मै मार्गमादिदेश ।

७०.

रामेण पूर्वं गुरव वशिष्ठाय प्रणामं कृत्वा, तदनु मरुतस्यमर्ष्यं कृत्वा
मरुतं प्रणमन् प्रेरणा समाश्लेष्य, वरुण्येन शिरस्पाश्र्वतश्च, तस्मिन् मरुतस्य
शिपिवि प्रातोप्रति राव्यानिदेक्ष्य रामस्य मकयैव प्रतिवक्ष्य, तस्मिन् शिपिवि राम
स्याम्रणम्, पर्यभ्रुतयाभ्रुवनेन तदनिनेक्ष्य युक्तं एतेतन्निश्चिन्वि ।

७१.

अथ चिराद् रामप्रवृत्तेन निमानाचमनं, निवेदादकृतशैरत्कारतया
प्रवृद्धकेयकणं, विहृताकृतिर्जन्मलक्षणादप इव प्रतीयमान, त्रियया वसता च
वृद्ध मन्त्रिवर्गो मगवन्त रामचन्द्रं प्रणामम् । प्रगताश्च कृपाद्रया हया
सम्भाव्य तै सह कुशलप्रश्नपुरस्तरं मधुरं सञ्छाप ।

७२.

रामः “अथमस्माकं विन्दुवन्धुर्निरराक मुग्धैव” “अथ च समामवीट
पुल्लिच्छये पौधो (मद्यैर्गोत्रैरपि कृतवैरी) विभीषणः” इत्येव सवदुमान
भरतेन मुग्धैवविभीषणयो परिचयमकारयत् । अथ मरुतो भ्रूवरमपि तस्मान्नि-

एतावदुक्त्वति दाशरथी तदीयान्निष्ठा निमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्यादकतारं तस्मिन्वाभिरुद्गीहितं प्रवृत्तिमर्भरतानुगमि ॥ ६८ ॥
तस्मात्पुरुषरभिर्भादचितेन तेषांविचक्षणहरोक्षरदत्तहस्त ।
थानादवातरदूरदमहीदनेन मार्गेणमङ्गिरचितस्सदृकेन रामः ॥ ६९ ॥
इक्ष्वाकुवधगुरवे प्रयत् प्रणम्य स भ्रातरं मरुतमर्ष्यंनिराहान्ते ।
पर्यभ्रुस्त्वच्चत मूर्धनि चीनञ्चप्री तद्भक्त्यनोदपवुराप्यमहाभिक्षे ॥ ७० ॥
धनुमभ्रुद्विजनितामविश्रिवाश्च प्लक्षान्प्ररोहकगिगनिव मन्त्रिपुत्रान् ।
अन्वप्रहीत्यममत्त शुभदृष्टिगतैर्गर्भानुयोगमधुराक्षरमा च वाचा ॥ ७१ ॥
दुर्बातदन्धुरदन्धुहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुटं प्रह्वी ।
इत्याहतेन वपिही रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुग्धो मरुतो वन्द्ये ॥ ७२ ॥

क्रम्य पूर्वं विपत्सहायनादिना माननीयौ तावेव वन्दे । मल्लिङ्गनाथस्तु “लक्ष्मणं व्युक्रम्य भ्रात्रिङ्गनाथरोप्राणादिभिरसंभाव्य” इति लक्ष्मणस्य कनिष्ठतन्मेवामिसंघाय-
भ्याषरातवान् । वस्तुतस्तु नात्रार्थे पद्यस्वरतः प्रतीयते, अङ्कतप्रणामस्य कनिष्ठ-
स्याल्लिङ्गनादिना असंभावन स्वतः सिद्धमिति तत्प्रतिपादनार्थं व्युक्रम्य लक्ष्मणमिति
वचनमपुणार्थमेव स्यात् । लक्ष्मणस्य ज्येष्ठत्वे तु तदतिक्रमणस्य सुप्रीतिविभीषण-
योगीरचप्रदशंनार्थत्वाद् नापुष्टार्थता ।

७३.

इन्द्रचित्प्रदग्ने यं ब्रूया लक्ष्मणस्योरसि ज्ञाताः, कालकनेग प्ररुदाश्च तैस्तस्योरसि
कठोरता ज्ञाता । प्ररुदाप्रोऽङ्गे कठोरता स्फुट सर्वैः प्रतीयते । तथाऽनयाऽमि-
नत्रया कठोरतया लक्ष्मणो भरतद्वयप्रीडयति स्मेति सम्भावते । यथा कश्चिन्नलः
पस्वाङ्गे सविशेषा कठोरतामभिमानानः परस्व मल्लस्याङ्ग पीडयितुं हृदमा-
दिशब्देन्-सथैव भरतः लक्ष्मणमाल्लिङ्गितवान् तत्र क्लेशार्थं च कनिष्ठोपेक्षितम् ।
तादृशमगस्त्येन प्रहारमतुनाय प्रेम्णा भरतस्य हृदये क्लेश शयप्यभितर्न्विः ।

७४.

रामेन वानर-मूरतीना सम्यमनुष्योचिता वेशमूपाः कारिताः, विशालेषु
मत्सेषु च गजेन्द्रेषु तु आरोहिताः । तेन परंतस्फटा एव तेऽनुमूयन्ते स्म । पर्वते
यथा वारिधाराः, तथा गजेष्वपि मदजलधारा इति ।

७५.

रामाजया विभीषणोऽपि सुवञ्जिते रथे समुरविष्टः । तदनुगाश्चापि तथावि-
धेष्वन्धेषु रथेषु । यद्यपि विभीषणादीनां राज्ञानां भाषानिनिता उल्लृष्टा रथा
भवन्ति, तथापि कृत्रिमप्रवाचना अपि रामरथास्तदपेक्षया अरपुल्लृष्टा आसन् ।

७६.

प्रणामादिसम्भावनानन्तरं भरतलक्ष्मणाम्बा सह राम पुनः पुष्पकविमान-

सौमित्रिणा तदनु संसृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरस भृशमाल्लिङ्ग ।
रुडेन्द्रविद्यहरग्नगदकंशेन क्लिप्तन्रिवाश्रय भुवनप्यनुर स्थनेन ॥ ७३ ॥
रामाजया हरिचनूरतपस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुराकस्त्रुगोन्द्रान् ।
तेषु कस्तनु बहुधा मदवारिधाराः सौमित्रोद्गणकुस्तान्नुत्तेमिरे ते ॥ ७४ ॥
सानुप्यः प्रथुरवे क्षाशानरागां भेजे रथान्दशरथप्रमत्तानुसिष्टः ।
नायाविक्लररनितैरसि ये तदीयैर्न स्वन्दनैस्तुष्टिहृत्रिनमस्त्रिशोभाः ॥ ७५ ॥
भूयस्ततो रघुर्न-दिश्रत्यवाकनघ्नास्त कानगति छावरजो विमानम् ।
शोषातर्न , दुष्कृहरपतियोगदृश्यरतारापतिस्तरत्विद्युदिवाभ्रहृन्दम् ॥ ७६ ॥

मारुद । तत्र च तस्य बुधवृहस्पतियुक्तस्य सायतनाभ्रमध्यगतस्य चन्द्रस्यैव शोभाऽभूत् । अभ्रे यथा विद्युद्, विमाने तथैव पताका राजते ।

७७.

सीता विमान एवाल्लाभूत्, विमाने प्रातो भरतस्ता ववन्दे । इय सीता कृष्णता रामेणोद्धृतास्ति । तत्रोनमाद्भ्य स्वप्नम् ।

७८

सीतानरणाभ्यां मूयोभूय प्रणमन् लङ्केश्वरोऽपि धर्मरक्षणाय तिरस्कृत इति तदतिपवित्रम्, भरतस्य शिरसा च व्येष्ट भ्रातर धर्मानुकूल्येनानुवर्तमानेन राक्षसाभिवेक परित्यज्य व्येष्टो भ्राता वने अदा विमर्त्सति, स्वयमाप जग विधृता तेन तदपि पवित्रतमम् । धनयो कस्य पवित्रताया विशेष इति तारतम्यनिर्णयस्य कर्तुमशक्यस्येन उभयो परस्पर पावनत्वमभिहितम् ।

७९.

तत प्रभृति प्रजा पुष्पकस्याग्रे (व्याख्यानतरानुसारेण तु पृथतः) गन्तु प्रवृत्ता, तत एव पुष्पकस्य वेगो मन्दीकृत, तेन च क्रियद्दूर गत्वा रामेणा योष्याया बहिरेव पटमण्डपेषु शत्रुघ्नेन सञ्चितेषु स्थिति कृता ।

इति श्लुवशे त्रयोदश सर्गं ।

तत्रैवरेण जगतां प्रत्यादिवोर्वा वर्षात्मकन रुचमभ्रनादिवन्दे ।

रामेण मैथिलमुता दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृता धृतिमती भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिमद्गृह्यत तद्द-च युग चरणयोर्जनकात्मजाया ।

व्येष्टानुवृत्तिजटिर्त्स न शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूद्भय समेत्य ॥ ७८ ॥

क्रोशार्थं प्रकृतिपुर सरेण गत्वा काकुत्स्थ स्तिमितजनन पुष्पकेण ।

शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यं साकेतोपवनमुदारमध्युवाच ॥ ७९ ॥

कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः

१.

देवभूम्याम् उत्तरस्या दिशि देवरूपं सुगिरिश्रेष्ठ एको महान् गिरिरस्ति ।
यः सर्वदा हिमाञ्जादितत्त्वाद् हिमालयनाम्ना लोके प्रसिद्धः । किञ्च यः पूर्व-
पश्चिमसमुद्रमध्यवर्तिनी सर्वा भुवः व्याप्य तिष्ठति; इत एव भुः आयामपरिच्छेदात्
प्रसारितो मानदण्ड इव लक्ष्यते । देवतात्मैत्पनेन केवलस्यैवाविरात्मत्वं निराकृत्य
वक्ष्यमाणचेतनोचितविवाहादिघटनायोग्यता सूचते ।

२.

पुरा किल पृथुः क्षुत्खामदेहाना प्रजानामन्नपानाद्यभीष्टद्विधये गोरूपधरा-
मुर्वा प्रजाभिरात्माभीष्टमर्थं दोहयामास । तत्र तेषु तेषु कर्षु यथोक्त दोघ्यारो
दत्त्वाश्च परिकल्पिता इति भागवती कथानेन पथेन सूचिता । तदेव दोहनप्रसङ्गे
यदा पूर्वतैरेषा धरित्री दोगुमभिलषिता तदानीं मेरुदोघ्याऽभवत्, हिमालयश्च
दोह्यप्रस्तुतये वरसः पर्यकल्पयत्, रत्नानि महौषधश्च दुह्यन्ते स्म, अनेक हिमालय-
स्य वरसस्वरूपं महत्त्वं सूचितम् । हिमवतो वरसवनिदेशाद् वरसरोतशेषस्यैवान्यैरुप-
योगाद् वसुधरासारभूतानां रत्नानां समृद्धिरत्रास्तीति सूचितम् । देवादीनाम-
भीष्टदोहने रसस्वजातिश्रेष्ठानां महेन्द्रादीनामेव वरसत्वं परिकल्पितम्, अतोऽस्यापि
वरसवकथनात् पूर्वपथोक्तं स्वजातिश्रेष्ठत्वं समर्पित बोध्यम् ।

३.

सर्वदा हिमाञ्जादितत्त्वेऽप्यस्य हिमाशयस्य रमणीयतागुणो न मनागपि
विनष्टः । यतोऽयमनन्तानामुत्तमरत्नानामाकरः । दृश्यते लोके यद् एको दुर्गुणो
गुणराशौ दुर्लक्ष्यो भवति, जनैरुपेक्ष्यते एवेति, यथा चन्द्रमस एक कण्डूस्तत्
किरणसमूहे लीयमानो न माधयापि तद् रम्यतां विदन्ति ।

अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी दगाह्य, स्थिनः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥
यं सर्वशैलाः परिवल्प्य वरसं, मेरौ स्थिते दोघ्यरि दोहदत्ते ।
मास्तन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां दुदुर्ध्वरेनीम् ॥ २ ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यत्रिलोपि वातम् ।
एको हि दोपो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाह ॥ ३ ॥

४.

अस्य हिमालयस्य शिखरेषु गैरिकादिधातव प्रातुयैग वर्तन्ते, यान् अप्सरस
आत्मान विनासाय प्रसाधयितुमुपयुञ्जते । किं च धातूना रक्तिम्ना शिखराण्यपि
रक्ततामुपेतानि, अत एव सम्भाव्यते यदेव पर्वत सदातनी सन्ध्या धारयति ।
सन्ध्या हि रक्ता, स्वरक्तिम्ना मेघबण्डानि रञ्जयति च, अत्रापि सन्ध्यास्थानीया
गैरिकादिधातव शिखराणि च मेघस्थानीयानि । धातव शिखराणि स्वरक्तिम्ना
रञ्जयन्ति इति शिखरबलाहकयोर्विभ्रप्रतिविम्बभाव उपप्रेषाप्रयोजक इति प्रकाशिका
निवरणकारो वाच्यते । हिमालयोश्चै शिखरेषु धृताना गैरिकादिधातूनां रागी
मेघबण्डेषु सकाम्यति, त च दृष्ट्वाऽप्यस्यकाल एव सन्ध्याभ्रम करोति, तेन च
तास्वरया रमणाय सञ्जीमवन्त्या मण्डना-मुपाददते-इत्यभिप्राय मन्त्रिनाम
आह । उभयो सारासारी सुधीमिर्विने-यौ ।

५

एष हिमान्द्योतितरामुच्चतरो विद्यते । मेघमण्डलमस्य प्रत्य तपर्वतेश्चैव
भ्रमति, जारवप्यस्य मृद्गाण्यधितिष्ठति । अत एव अत्र निवासिनो गन्धर्वसिद्धा
दय भीष्मेषु घर्मवाधा परिहर्तुं मेघमण्डलाधोवर्तिषु सानुषु प्रसृता छायां सेवते ।
मेघव्यवधानात्तत्र घर्मस्य सर्वथा अप्रवेशात् । यदा च वर्षाभिच्छेजिता भवति,
तदा मेघमण्डलोपरिवर्तीन्यातपयुक्तान्यस्य शिखराण्यधिवसन्ति । अत एव सर्वतु
रमणीयोय पर्वत ।

६

अन्वत्र किराता प्रायो हतगजाना सिंहाना शोणित्ताक्तानि पदचिह्नान्येव
दर्शं दर्शं ताननुगच्छन्ति, परमत्र हिमालयेऽन्यतरहिमज्जन्तव्येन शोणितस्य
छालिततया पदचिह्नानि स्फुट न प्रतिभासते, तथापि सिंहानां घरन्त्रेषु नखेषु
गजमस्तकविदारणसमये यानि मौक्तिकानि सङ्गृह्यते, गमनसमये पदचिन्याह
वशात् तेषा गलनेन तान्येव दृष्ट्वा सिंहमार्गं किरातैरनुमीयते ।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनाना, सम्पादयिषी शिखरैर्विमर्त्ति ।
बलाहक-द्वैदविभ्रकारागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
आमेखल सञ्चरता धनानां, छायामघ सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराभयन्ते, मृद्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥ ५ ॥
पद द्युपारसुतिधौतरक्त, यरिमज्जदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखर प्रमुक्तेर्मुक्ताकले केसरिणा किराता ॥ ६ ॥

७.

अत्र हिमाद्रौ विद्याधरऋषिः स्वकामुकेभ्यः प्रेमसदेशान् प्रेषयितुं मूर्खंश्च
बल्कलानि पत्रत्वेन, गैरिक्यादिद्रव्यं च मशीत्वेनोपयुञ्जते । मूर्ख्वाहुल्यम्, घातु-
बाहुल्यम्, विद्याधरस्त्रीणां विहाराश्रानेन हिमालये वर्णितानि ।

८.

अत्र हिमालये स्वमावतः क्षीचकषेणो गुहानिःखेतेन वायुना पूयमाणाः
स्वनन्ति । तत्र कविष्येष्टते—यथा लोके कस्यचिद् नायकस्य गानारम्भात्—पूर्वम्
परस्तत्सद्वन्तः 'गाता य य स्वरं गच्छेत्तं त वरोन तानयेत्' इति सङ्गीतशास्त्र-
मनुष्य तानं प्रदातुं वेणुवाद्यं स्वमुन्ववायुना पूरयति, तथैवायं हिमाद्रिरपि तत्र
वसतां गायकानां क्लिन्नरागा गानारम्भात् प्रागेव दरीरूपमुन्वनेर्गतेन वायुना
वेणुवाद्यसदृशान् शमान् क्षीचकान् गायकस्वरताननेच्छया पूरयति इति ।

९.

अत्र हिमाद्रौ सरलाख्याः पादपाः प्रमृताः सन्ति । हस्तिनो यदा स्यगण्डकृष्ट-
विनोदयितुमिमान् गण्डरयलेन धर्यन्ति, तदैतेभ्यः सुगन्धि क्षीरं निर्गच्छति, यस्य
सुगन्धेनास्य हिमाद्रेः सानुप्रदेशा अपि सुवासिता भवन्ति ।

१०.

एतस्य हिमाद्रेः गुहासु निवादिनः किराता राशौ नगरसुलभप्रकाशवापन-
दीनाद्यभावेन क्षीरस्नानुभवन्ति, यतोऽत्र पर्वते सन्त्येवाऽऽस्यो मूयस्य ओषधयो
या राशौ प्रचलन्ति, अस्य गुहासु रममाणानां किरातानां ता एव दीनकार्यं
निर्वहन्ति । दीपे मूयो मूयस्तैलपूरणापेक्षा, अन्यथा विलीयच्छा, एते तु विच्छन्ना
'दीनाः' विनापि तैल विलीयच्छाकारहिता एव ।

न्यस्ताश्रया घातुरत्नेन यत्र, मूर्खंश्चः कुञ्जरविन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीगामनङ्गलेक्षक्रिययोगिन् ॥ ७ ॥
यः पूरयन्शीचकलप्रभागान्दरीनुक्षीरयेन समीरयेन ।
उद्रास्यतामिच्छति क्लिन्नरागा तानप्रदादित्विनोवगन्धुम् ॥ ८ ॥
दपोलकृष्टः करिमिक्त्रिनेतु, विनहितानां सन्तुद्रुमागाम् ।
यत्र सुन्धीरतया प्रसूतः, सानूनि गन्धः सुरमीकरोति ॥ ९ ॥
बनेवराणां वनितासलानां, दरीरहोःकृष्टनिषच्छमासः ।
भवन्ति यत्रोषधयो रश्म्यामलैल्पूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥

११

अत्र हिमालये निरसत्स्योऽश्वमुखस्य किन्नरस्त्रियो यदाऽस्य प्रदेशेषु विचरन्ति, तदा घनीभूतेन शीततमेन हिमन मुकुमारस्तावत् पादा पीड्यन्ते । शीतमा वास्वमम पादत्वं न ता मार्गोऽर्पयन्ति, कदाचिदग्रभागेन चलन्ति, अङ्गुलीषु च मुकुमारामु वाधितासु पश्चाद्भागेन पाणिना गन्तु प्रकमन्ते, सोऽपि च शैत्येन बाध्यते, एव विन्ना अपि तु ता न शीघ्र धावतु प्रभवन्ति, स्थूलस्य भोगिमारस्य पयोधरयोश्च दुर्बलत्वेन शीघ्र गन्तुमशक्तर्यात् । एतेन सर्वानयवधौ-दर्ये तासा व्यक्त भवति ।

१२

अत्र हिमालये गमीरामु गुहामु सर्वांसुसम्पर्काभावाद् रात्राविव दिवाप्यन्व कारस्तिष्ठति । तत्र कविना अन्वकारस्य गुहास्थितौ सूर्याद् भय हेतुमुपदेश्य मीता यान्धकाराय शरणप्रदानेन हिमालयस्य शरणागतस्यैव सम्भाविन्मू, तदेव चोत्तरार्धेन समर्थिनम् । ये हि उन्नतशिरस इति लक्ष्यप्रतिष्ठा (हिमालयो प्युन्नतशिरसाश्चादुन्नतशिरा) ते शरणागत लुद्रमणि रक्षन्तीति । दिवा मीता — टलूका अप्यनन गुहामु रक्ष्यन्ते—इति च श्लेषमूलयोपेया द्योत्यत ।

१३.

अथ हि हिमालयो गिरिराज इति व्यनहियते । राजश्च चामरादिसद्भावो ऽप्यावदपक्व । तदग्र सतत विनरन्त्यो बहुशयमयो लङ्गूलचालनेन तदग्र भाग मूतानि चामराण्यन्दोलयन्त्योऽस्य गिरिराजशब्द समर्थयन्ते । आन्दोलितानि चामराणि दृष्ट्वा । राजस्वप्रतीति सर्वेषां जायत इति । लङ्गूलानां व्यननदण्ड-साम्य च द्योतितम् ।

१४.

अस्य हिमालयस्य गुहाद्वारेषु सतत मेघमण्डलानि प्रभान्ति, तानि च सुरतकाले अयनीतवस्त्राणा किन्नरस्त्रीणां लङ्गानिवारणाय अवनिकाकार्यं कुर्वन्ति ।

उद्वेकयस्यङ्गुलिपाणिमागान्, मार्गो शिलीभूतहिमऽपि यत्र ।

न दुर्बलभोगिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दा गतिमश्वमुख्य ॥ ११ ॥

दिवाकरसद्वक्षति यो गुहामु लीन दिवामीतमिवाऽन्वकारम् ।

सुद्रेऽपि मून शरण प्रपन्ने ममस्वमु-चै शिरसा सतीव ॥ १२ ॥

लङ्गूलविद्येवविसर्पिणोभैरिस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरे ।

यस्योऽर्थोऽर्कं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति गालं च नैश्चमर्य ॥ १३ ॥

यनाऽपुकाक्षैरदिलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाऽङ्गनानाम् ।

दरीपट्टद्वारविलम्बिन्मदास्तिरस्वरिण्यो जल्दा भवन्ति ॥ १४ ॥

१५.

अत्र पर्वते मुगा-वेषणेन परिश्रान्ता किराता भ्रमापनोदनाय गङ्गातरङ्ग
सीकरशीतल देवदारुग-चसुरभि मन्द च पवनमात्सेव्य मुलिनो जायन्ते ।

१६.

अन्यत्राप पातिमि सूर्यचिरौ कमलानि विकारयन्ते, हिमालयस्योच्च
शिखरेम्यस्तु सूर्यभ्रमणमार्गोऽप्यधस्तादेवेति तत्र स्थितेषु सरस्तु जातानि कमलान्यु
ध्वंमुखै सूर्यकिरणैरिकास्यन्ते । सप्तर्षयश्च प्रातः सन्ध्याकाले मुकुलितान्येव
तानि सूर्योर्ध्वदानाय प्रथम हरन्ति । उत्तरस्या दिशि उच्चस्वाभिमानाद्,
दक्षिणस्याश्चाधस्त्वमननाद्धिमालयादक्षिणस्यामेव भ्रमत सूर्यस्याध परिवर्तनम्
कश्चित् समर्भनीयम्, अत्युक्तिरूप वा तदिति ।

१७.

ब्रह्मणाऽस्य हिमालयस्य पर्वतस्य यज्ञे भाग क्लृप्त, सर्वेषा पर्वतानामधि
राज्ये न्याय स्थापित, यतोऽय हिमालयो यज्ञाङ्गानां सोमव्यादीनामुत्पत्ति
स्थानम्, पृथि वा धारणे (रुस्तम्भने) च अस्यैव प्राधान्येन शक्तिरिति ।

१८.

हिमालयेन (पर्वताभिमानिना इव) मेनाया विवाह कृत, यद्यपि
कामार्थमस्य धर्मरतस्य विवाहोरेक्षा, तथापि कुलकृतमर्यादारक्षणाय धर्मरूपेण
विवाह इति । इय मेना पितृणां मानसी कन्या, धर्ममन्त्रेण च मुनिभिरप्या
दरणीया । विवाहेऽन्यथाहास्यस्यापेक्षितत्वेन मेरोस्तत्र साहाय्यसूचनाय
मेरुसल इत्युक्तम् ।

१९

सप्ततर

भागीरथीनिर्झरसीकराणां बोटा मुहु कम्पितदेवदारु ।
यद्वायुरन्विष्टमृगै किरातैरात्सेव्यते भिन्नशिखण्डिवर्ह ॥ १५ ॥
सप्तर्षिहस्तावन्निजादशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमान ।
पद्मानि यस्याऽमसरोरुहाणि प्रबोधयत्युध्वंमुखैर्मयूखै ॥ १६ ॥
यज्ञाङ्गयोनिस्त्वमनेक्ष यस्य सार धरित्रीधरणक्षम च ।
प्रजापति कल्पितयज्ञमाग शैलाधिपत्य स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥
स मानसी मेरुसल पितृणा कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिञ्च ।
मेना मुनीनामपि माननीयामाशनाऽनूत्सवां विधिनोपयेमे ॥ १८ ॥
क्लात्क्रमेणाऽथ तयो प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरम यौवनमुद्रहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्या ॥ १९ ॥

२०.

हिमालयस्य मेनाया प्रथमं पुत्रो मैनाको नाम पर्वत (तत्पर्वताभिमानो देव) जने । तस्य चाग्रे यत्प्रथितं महत्कर्म, तद्भाविवृत्तारामिन् पद्ये निर्दिष्टम्, यद्-यदा पर्वतानां पञ्चच्छेदनायेद्द्र क्रोधेन प्रवृत्त, तदापि, मैनाको मित्राशक्तत्वेन सपक्ष एव गोपायितः । नास्य अत्र बनितावेदनाया कदाप्यनुभवोऽभूत् । समुद्रे निमग्नश्चायं पातालस्या नागकन्या रमयामासेति । यद्यपि कान्येऽस्मिन् मैनाकवर्णनस्य न कोऽप्युपयोगः, तथापि भ्रातृमरणा कन्याया विवाहे प्राद्यत्स्यद् वर्ष्यमानाया गौर्या भ्रातृमतीत्वं स्फुरीकर्तुं मैनाकजन्मोपन्यास इति शाल्यात्तर । उक्तं हि मनुना “यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न शिष्येत् वा पिता । नोपयच्छेत् तां प्राञ्च पुत्रिकापर्मशङ्कया” इति ।

२१

कुमारमातु पावत्यां प्रसङ्ग इत उपस्थापनीय इति तच्च जन्मोपन्यासाय तत्पूर्वजन्मकथा स्मार्यते । पूर्वं हि दक्षस्य प्रजापते पुत्री सती भगवन् शङ्करस्य भार्याऽभूत् । दक्षेण च केनचिद्धेतुना शिव प्रति कुपितेन स्वोपे यज्ञे भगवान् शिवो न निमन्त्रित इति तेन पर्युरवमानेन कुपिता देवी सती पितरि प्रतीकारमनुचितं मत्वा योगेन स्वशरीरं तत्याज । सैव शङ्करेण निरयसम्बन्धा त्रियोग्मकदमाना तादृशातिप्रकृष्टतपस्विनां मेनायां पुनर्जन्मग्रहणाद्यैः कामकरोत् । दस्तुत परा शक्तिः सा नित्यैव, देवानां कार्यलिङ्गयथं समये समये स्वातन्त्र्येण तस्या भाविर्भाव इति । एतच्च ‘प्रपेदे’ इति जन्मग्रहणे स्वातन्त्र्यमभिदधता सूचितं द्रष्टव्यम् ।

२२.

सा पूर्वोक्ता शिवपूर्वपत्नी सती हिमालयेन मेनायां जनिता । जन्ममत्र प्रादुर्भाव एव, निरयशक्तेस्तस्या मुखजन्मनोऽसम्भवात् । तत्रोपमा-यथा उक्ताह-गुणेन नीतो सम्पदुरयाद्यते-तथैवेति । सपत्तिद्वी यथा नीतेरुक्ताहस्य च कृतार्थता ज्ञायते, तथैवास्या भगवत्या प्रादुर्भावेन मेनाहिमालयो कृतार्थता गताविति व्यज्यते ।

भक्त सा नागवधूपभोग्य मैनाकजन्मोनिधिबद्धसख्यम् ।
 क्रुद्धेऽपि पक्ष्मिदि वृषद्यन्नाववेदनाश कुलिशसतानाम् ॥ २० ॥
 भयाऽवमानेन पितु प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या मन्पूर्वपत्नी ।
 सती सती योगदिसुश्रुदेहा तां जन्मने शैवधुं प्रपेदे ॥ २१ ॥
 सा भूधराणामधिपेन तस्या समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
 सम्पन्नयोगादपरिस्तायां नीताविबोक्ताहगुणेन सम्पत् ॥ २२ ॥

२३.

पार्वत्या प्रादुर्भावदिवसे दिश प्रसन्ना बभूवु, (तेन शरीरिणाम् नेत्रमुख) पांशुरक्षितो मन्दशीतल पवनो घवौ, (तेन त्वक्मुख), जनमन शङ्खध्वनिं हिमालयगृहे भुत्वा देवी देवै पुष्पवृष्टि कृता, यदा देवैरेव शङ्ख विनद्य पुष्पवृष्टि कृता, (तेन भोज प्राणयो सुखम्) सर्वे च स्यावरत्नमा प्राणधारिण सर्वेन्द्रियैर्निर्वृत्ता सुखमापु । सर्वेश्वर्या प्रादुर्भावे सर्वमिदमुपपन्नमेवेति ।

२४

प्रादुर्भूतायास्तस्या भगवत्या स्फुरन्ती प्रभा विलक्षणैवासीत्, तेन प्रभाजातेन जनन्या अपि शोभाऽभवत् । तत्रोपमा विदूराख्य एक पर्वत, पञ्च वैदूर्याख्या मणयो जायन्ते, वर्षारम्भे प्रथमेन मेघध्वनिना तत्र रत्नाङ्कुरा शलाकाकारा प्रादुर्गन्ति । तामी रत्नशलाकाभिर्यथा गिरिप्रान्तभूमे शोभा भवति, तथैव कन्ययानया मात्र शोभामूदिति ।

२५.

प्रादुर्भूता भगवती प्रत्यह वृद्धे । यथा चन्द्रकला प्रत्यह वर्धमाना ष्योस्नामयी कला प्रादुर्भावयति, तथेयमपि प्रत्यह लावण्यमयान्यङ्गानि प्रादुर्भकार ।

२६

सा पर्वताज्जाता, पर्वते जाता इति वा हेतोर्वन्धवास्तस्या देव्या पार्वतीत्यन्वर्थं नाम चक् । अग्रे च यदा सा तप कर्तुं प्रवृत्ता, जनन्या च तप क्लेशमतु माय खिन्नया 'उ मा' इत्येव निषिद्धा, तत प्रभृति "उमा" इत्यपि तस्या नाम जातम् । इदमाख्यानमग्रे स्फुट स्यात् ।

२७

यद्यपि पूर्वं पुत्रादिसन्ततौ सत्यां पुनरुपन्नायां कन्यायां न विशेषेण

प्रसन्नदिवसांमुर्विक्रवात् शङ्खस्वनाऽनन्तरपुष्पवृष्टि ।
 शरीरिणां स्यावरत्नमानां सुखाय तज्जनमदिनं बभूव ॥ २३ ॥
 तथा दुहित्रा सुतरा सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकारे ।
 विदूरमूर्धिनर्वमेघशब्दादुद्भिजया रत्नशलाकयेव ॥ २४ ॥
 दिने दिने सा परिवर्धमाना स्वोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
 पुषोष लावण्यमशान्विशेषाञ्ज्योस्नान्तराणीव कान्तराणि ॥ २५ ॥
 तां पार्वतीरयामिजनेन नाम्ना बन्धुप्रिया बन्धुजनो जुहाव ।
 उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चाट्मात्स्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥
 महीभूत पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तरिन्प्रपये न जगाम तस्मिन् ।
 अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमात्सा सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥

खोकानामनुरागो दृश्यते, तथापि हिमालयस्य पार्वत्यानधिकोऽनुराग आसीत् । स
तां पश्यन् तृप्तिमलभत, तत्र च तस्या एव भगवत्या अनन्यदुर्लभा गुणाः कारुण्यं,
यथा गुणातिशयादिव सत्स्वपि वसन्तजन्येषु बहुषु पुष्पेषु सहकारमज्जरीश्वैव भ्रमरा
नितान्तमुत्कृष्टिता भवन्तीति ।

२८.

उत्पन्नया भगवत्या पार्वत्या हिमालयः पूतभालंकृतश्च समूहः । तत्रोपमानानि
त्रयीणि स्थानानि । सर्वत्र विभूषितश्च शोभाधिक्यप्राप्तिरेव । पूतश्च तु दीपे तमसंसर्ग-
रहितता, रत्नमार्गो पुण्याधिक्यसम्बन्धः, मनीषिणि शुद्धशब्दप्रयोगास्तुभ्यप्राप्तिः,
हिमालये च भगवत्याः प्रसादान्निशुदान्त-करणतया मुक्तियोग्यता ।

२९.

सर्वलोकप्रकृतिमृताया भगवत्या यद्यपि न बाल्यं वास्तवम्, केवलदेवदायायै
शरीरप्रदणात्, तथापि सा साधारणरालम्बतया विक्रीड, यथा क्रीडार्थमेव तद्बाल्यं
सम्भाव्यते स्म ।

३०.

यथास्वरमभ्ययनाय निमुक्ता पार्वती भावाभ्यांणी प्रयासेन दिनेव सर्वा
भवि विद्या एहीतवती । तत्र हेतु पूर्वजन्मदृढाम्याससिद्धा सर्वा विद्याः स्वतः
एवास्या बुद्धौ प्रकाशमाप्नुः, उपदेशस्तु निमित्तनाशमिति । तत्रोत्पाद्यम्—यथा
शरदत्तु निमित्तोद्भव गङ्गायां हसमाला स्वतः एवायान्ति, यथा वा रात्रि निमित्तो-
द्भव ओषधीनां स्वतः एव भास प्रस्फुरन्ति इति सर्वविद्यास्वरूपाया भगवत्या
विद्यामहरो क प्रयास इति हृदयम् । अभ्यापनन्तु लोकमर्षादामात्रम् ।

३१.

क्रमेण पार्वत्या यौवनं प्राप्तम् । तत्र यौवन त्रिधा विरेषितं कविना-
एतद्धि यौवनं शरीरस्यालङ्काररूपम् (तेन शरीरे शोभाविशेषः, द्रष्टव्यमानन्दश्च
अभ्यते), परमलङ्कारान्तराणि यथा दाह्यै सुवर्णरत्नादिभिः सम्पाद्यन्ते, तथा नैदम्,

प्रमामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गं ।
सत्कारस्येव गिरा मनीषी, तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कटुकैः कृत्रिमपुत्रवैश्च ।
रेने मुहुर्मभ्यगता सखीनां क्रीडारतं निर्विद्यतीव बल्पे ॥ २९ ॥
सा हसमाला शरदोव गङ्गा मशौषधि नक्तमिवारमभास ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनचन्दविद्याः ॥ ३० ॥
असम्भूत मण्डनमङ्गलप्टेरनासवाप्य करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पन्यतिरिक्तमत्र बल्पात्तरं साऽथ क्षयः प्रदेदे ॥ ३१ ॥

अपि तु स्वाभाविकम् । किं चेदं यौवनं नेत्रविलासाद्यभिव्यङ्गपरस्य मदस्य जननम् (द्रष्टव्या वा संमोदेहेतुभूतमदजननम्) परं मदजनकद्रव्यं यथासक्यत्वेन अर्वाहृत्यते, तथा नेदम् । किं चेदं कामस्यास्त्रं परं न पुष्परूपम् इति (अनेनैव साधनेन कामो लोकान् जयति, यद्य यौवनं प्रादुर्भूतम्, तमेव वा जयति इति) ।

३२.

यौवनेन शरीरावयवेषु समुचितसंनिवेश-लावण्यादिष्वननात्तस्याः शरीरं सर्वतः शोभमानमासीत् । यथा तूलिन्या कूलरञ्जनं चित्रं शोभते, यथा वा स्यात्सुविका-सितं पद्मं शोभते, तथैवेति ।

३३.

भूम्यां चरगनिक्षेपकाले समुन्नतस्याङ्गुष्ठस्यारुणनलप्रमथैवं संभाष्यतेरम-यङ्गवत्तयाभ्ररगौ परिभ्रमादन्त इव रागमुद्रमतः । तेन च रागेण स्थलकमलशोभा तत्र प्रतीयते ।

३४.

पार्वत्या गतिर्हंसवदस्यो दृष्ट्वा, मञ्जीरशिञ्जितानि च हंसस्तेम्योऽप्युत्कृष्टानि समन्वभूयन्त । तत्रैवं क्वचित्प्रेक्षते हंसैः पार्वत्यै गतिशिक्षा दत्ता, विद्यादानं च शुभ्रादेतुक्त्वा, घनहेतुक्त्वा, किञ्चिन्निश्चित्वा किञ्चिन्निश्चयग्रहणं वा भवतीति प्रापुपकाररूपेण स्नेन मञ्जीरशिञ्जितानुकरणं तैः शिक्षितमिति ।

३५.

लावण्येनैत्रोपादानेन भगवत्या अङ्गानि निर्मातुं विधाता प्रवृत्तः, तच्च सर्वमपि लावण्यं (यावत्तत्सन्निधौ आसीत्) जहानिर्माण एव तेन व्ययीकृतम् । ततश्च शेषाणां पुरितनानामङ्गानां निर्माणाय लावण्यमपि विधात्रा पुनस्त्याज्यमासी-दिति तदर्थमपि तस्य प्रकृत्यो यतनो ज्ञात एव भवेदिति सम्भाव्यते ।

उन्मोक्षितं तूत्कृतेव चित्रं स्यात्सुभिर्निर्मिताऽरविन्दम् ।

वभूव तस्याश्चतुरस्रशोभिं क्षुब्धमिच्छं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥

अभ्युन्नताङ्गुठनवप्रभामिर्निक्षेपाद्रागमिश्रोद्धिस्तौ ।

आश्चर्यस्तच्चणौ पृथिव्या स्थलारविन्दभियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥

सा राजहंसैरिव सधनाङ्गी गन्धेषु लीलाञ्जितविक्रमेयु ।

व्यनोपत प्रत्युरदेशलुब्धैरादितुभिर्नूँपुरशिञ्जितानि ॥ ३४ ॥

इत्तानुपूर्वं च न चाऽतिदीर्घे बह्वे सुमे सुष्वतस्त्वनदीये ।

शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्राद्य इवास यतः ॥ ३५ ॥

३६.

स्त्रीणामूरु हस्तिगुण्डादण्डै कदलीभिर्वा कृत्रिमिहयमीयेते, पार्श्व्या ऊर्वोस्तु सादृश्यं सामान्येन तेषु नास्ति । नागेन्द्राणां गुण्डादण्डाः, नन्दनादिरिथताः काश्चित्कदलयश्च यद्यपि विशालेनाकारेण समा उपलभ्येरन्, परं गुण्डादण्डानां कर्कशात्, ऊर्वोस्तु कोमलात्, कदलीना सदा शैथिलेन शीतकाले उद्वेगवत्त्वात्, ऊर्वोस्तु मीथिले शैथिले शीतकाले चोष्णत्वेन सर्वत्रमुलाकरत्वादुपमानता न युज्यते एव ।

३७.

यो मगवतः शिवस्योत्सङ्गोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मनसापि कामयितुमशक्य, अत्यन्तदुरवापतया तत्रैच्छाया अप्यनुदयात् तत्रैव पार्श्व्या नितम्बः स्वयं मगवता शिवेनैवारोपितः—इत्यतोऽधिकं नितम्बस्य सौन्दर्यं गुणहरत्वं गौरव वा किमु वर्णनीयम् । अत्यन्त जगती विलक्षणमिति सर्वथा तेनैवानुमितिः सिद्धयतीति ।

३८.

यौवनारम्भे नाभिरङ्गपर्यन्तं प्रसूता पार्श्व्या रोमराजिः श्लक्ष्णकृष्णवर्णतया क्षोभते स्म, यथा मेखलामध्यगस्य नीलमण्ये. प्रमा नीवीमतिक्रम्य प्रसूता मरेदिति सम्भाव्यते स्म । उभयोर्वर्णसाम्यमुत्प्रेक्षाहेतुः ।

३९.

पार्श्व्या मध्ये वलित्रयं दृष्ट्वा तथा संभाव्यते, यथा पार्श्वतीतनौ प्राप्तं यौवनं स्वप्रभोः कामस्यागमनाय सर्वं सञ्जीकुर्वत् तस्य हृदयपर्यन्तमारोहणाय सोपान-परम्परां न्यस्यतीति । पाटान्तरं तु पूर्वमेव तनौ प्रविष्टः काम स्वमुद्दतो यौवन-स्यागमनं प्रतीक्षमाण, तस्य नवत्वाद् (बालत्वाद्) आरुह्य स्तनप्रदेशादावगमने क्लेशं विचार्य सोपानपरम्परां न्यस्तवानित्यनुसन्धेयम् । अत्र च कामनिर्मितत्वेन वलित्रयस्य सौन्दर्यतिशयो व्यज्यते—इति प्रकाशिका ।

नागेन्द्रहस्तासत्रचिकर्कशात्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषा ।
 लम्बाऽपि लोके परिणादि रूपं जातास्तदूर्वोऽपमानवद्व्या ॥ ३६ ॥
 एतावता नन्दनुमेयशोभि वाञ्छीगुणस्थानमनिन्दिताया ।
 आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीषमङ्गम् ॥ ३७ ॥
 तास्याः प्रविष्टा नतनाभिरङ्गं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
 नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणोरिवाऽर्चिः ॥ ३८ ॥
 मध्येन सा वेदिविलम्बमण्या वलित्रयं चारु वनार धाला ।
 आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥

४०.

स्तनद्वयं परस्परमप्यधकाशमददद् बाधमानं तथा वृद्धिं गतम्—यथा तदन्तरे मृगालसूत्रमपि नावकाशमासादयेत्, “पाण्डु” “श्याममुष्वम्” इति विशेषणद्वयं यौवनावस्थाव्यञ्जकमिति व्याख्यातारः । श्याममुखेति विशेष्येनावकाशदानाभावोऽपि समर्प्यते, नहि कृष्णमुखः (कुटिलः) कस्यप्यवकाशं कथमपि ददातीति ।

४१.

पुष्पाणि कामदेवस्याश्राणि, तानि च प्रसुज्जानोऽपि कामं शिवेन पराजितः, उमायास्तु बाहू अस्त्रत्वेन प्रदुष्य कामेन सफलता लब्धा, यत्ने बाहू तेन पाशरूपेण शिवकण्ठे समर्प्य शिवस्य बन्धनं कृतम् । तेन पुष्पेभ्यः प्रशस्तता बाहोः लिप्यति, प्रशस्तता च कामास्त्राणां सौकुमार्यादेवेति सर्वपुष्पसुकुमारात् शिरीषपुष्पादप्यधिकं सौकुमार्यं बाहोः विद्धमिति व्याख्यातारः । कामस्यास्त्रभूतानि सुकुमाराणि पुष्पाणि शिवेन न सोढानि, (पराजितत्वात्कामस्य विद्धमेतत्) उमाया बाहू तु पाश-मृतावपि तेन कण्ठे सोढी, तदेतत् सौकुमार्याधिक्ये लिङ्गमित्यपि युक्तं भाति ।

४२.

अन्यत्र मुक्तामूषण कण्ठालङ्कारणं भवति, कण्ठशोभाजनकत्वाद् इति सुप्रसिद्धम् । पार्वत्याः कण्ठस्य तु शोभा मुक्ताकलापेन जनितेत्येव न, अपि कण्ठेनापि मुक्ताकलापस्य शोभा जनिता । मुक्ताकलापोऽपि तत्र कण्ठे नितरां शुशुभे, तस्मादिहोमावप्यलङ्कार्यो, उमावपि चालङ्कारौ उभयोः शोभाजनकत्वे हेतुस्तनवन्धुररं निस्तलस्य चेति ।

४३.

रात्रौ विकृतिरस्य कमलस्य, दिशः कान्तिमतश्चन्द्रस्य चाभावो भवति । तेन सौन्दर्याभिमानिनी भीर्देवता यदा चन्द्रमाश्रयते, तदा कमलगुणाः सौरमणौकुमार्यादयस्तथा नानुभूयन्ते—इति न्यूनतैव, यदा च पद्माश्रयते तदा मृतनिष्वन्दिनी चन्द्रकान्तिस्तथा नानुभूयते । तत एवोभयत्रापि पूर्णप्रीतेरभासालक्षण्या लोलसं

अन्योन्यमुरगीदयदुस्त्रलास्याः स्तनद्वयं पाण्डुतथा प्रवृद्धम् ।

मप्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृगालसूत्रान्तरमप्यलम्ब्यम् ॥ ४० ॥

शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यो बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।

पराजितेनाऽपि कृतौ हरहर यो कण्ठयासौ मकरभ्रजेन ॥ ४१ ॥

कण्ठस्य तस्याः स्तनवन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।

अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भ्रूणमूष्यमरवः ॥ ४२ ॥

चन्द्रं गता पद्मगुणाश्च मुहुर्के पद्माभिता चान्द्रमणौमभिरुयाम् ।

उमासुषुप्तं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंभयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥

जातम् । कदाचित्तत्र गच्छति, कदाचित्तत्र गच्छतीति । यदा तु देव्या पार्वत्या
शौचं प्राप्नुवन्तम्, तदा तन्मुखे चन्द्रकान्ते पद्मधीरमधोऽङ्गुमार्यादीनां चैक
त्रैव सद्भावात्-मुखाभिता लक्ष्मी पूर्णा प्रीतिमवाप । तेन च लोलतां परिस्थभ्य
तत्रैव सुरिष्यतरामवदिति व्यङ्ग्यम् ।

४४.

कवय भोष्ट रक्तपङ्कजेन विद्रुमेण वा, रिमत च कुसुमेन मौक्तिकेन बोधमिमते ।
पर यथोपमेययोरोष्ठरिमतयो परस्परसम्बन्धात्सुषमा, न तथोपमानयोरुपलभ्यते ।
न हि प्रकृष्या कुसुमरक्तपल्लवयोराधाराधेयभाव मल्लत, नापि मौक्तिकद्रुमयो ।
(कृत्रिमस्तु संबन्धो न स्वाभाविकी सुषमा लभ्युं प्रभवति) यदि प्रकृतिस्तथा
विरचयेत्, तदास्य सादृश्य स्यात्, इदानीन्तु दुर्लभं जगति पार्वत्या भोष्टे
दृश्यमाणस्य रिमतस्य सादृश्यमिति ।

४५.

यदा पार्वती वक्त्रमुपक्रमते तदा भोतृणां कर्णयोरमृगनिव निविन्वते,
मुप्रसिद्धमधुरशब्दा कोकिलि च तदा सर्वे भोतृभि कर्णकटोरशब्दा प्रतीयते,
यथा विश्वर वाद्यमाना वीणा कर्णकटु प्रतीयेत, तथेति । वक्त्रमुपक्रान्तायामेव
यदेव दशा भवति, तदा निष्पन्नायां वाचि तु किं भवदिति “प्रलहिरता”
एक प्रशब्दो व्यञ्जने चमत्कारी । भोतृपात्रमपि कोकिलां विरसा तदमे मन्यते—
किं पुनर्विशेषण भोतार इति भोतृपद व्यनक्ति ।

४६.

मृगीणां प्रेक्षणे पार्वत्या प्रेक्षणे च नलन्नीलोत्पलावस्यासदृशे चञ्चले—तथा
सादृश्य प्रतीयते, यथैतदेकत्रान्यत आगतमिति स्फुरो निश्चय, पर कया
कस्या पृथीनमिति न निश्चेतुं शक्यते । अधिकृतो हि शिक्षक, अल्पवयसि शिक्षितो
मन्यते, इह तुमयत्रादि निर्विशेष सादृश्यमिति शिक्षक शिक्षितो वा न निश्चेतु
शक्य । मृगाङ्गनामिरिति मृगाङ्गनाम्प इति च बहुवचननिर्देशेन मृगाङ्गनानां सर्वांश
संभूय पार्वती शिक्षकत्वं सम्भूयते, पार्वत्यास्त्येकस्या एव सकलमृगाङ्गनाशिक्षकत्वं
समाभ्यत इति कोऽप्यतिशय पार्वतीप्रेक्षणस्य व्यञ्जित ।

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुरविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तश्च रिमतस्य ॥ ४४ ॥
स्वरेण तस्याममृतसूनेव प्रकलिततायामभिजातवान्नि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिवृत्तानदा भोतृर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ ४५ ॥
प्रवात - नीलोत्पल निर्विशेष मधीरविप्रेक्षितमायतादया ।
तथा पृथीत तु मृगाऽङ्गनाम्पस्ततो पृथीत तु मृगाङ्गनाभि ॥ ४६ ॥

४७.

पावत्या भ्रूवोस्तथा संनिवेशः, यथा तयोरङ्गनशलाकया निर्माणं संभाव्यते ।
(शलाकानिर्मितं हि यद्येच्छसंनिवेशकरणादधिकं सौंदर्यं भवतीति तयोपेक्ष्यते) ।
एतयोर्भ्रुवोभ्यामे कामधनुषि वृच्छम् । कामधनुषि हि परप्रेरणया व्यापारः,
भ्रूस्तु स्वयं लीलाचतुरेति महदेतयोरन्तरम् ।

४८.

चमरीबालेभ्योऽधिकं पार्वतीवेशपाशस्य सौन्दर्यमित्ययमर्थः प्रकारान्तरेण
कार्यसंभावनामुखेनोपन्यस्तः । चमर्यो हि बालेष्वत्यन्तं रिच्यन्तीति प्रसिद्धः,
तत्रकविराहस्नेहोऽयं सर्वाधिकगुणो वस्तुनि विरेषतयोदेति, ततोऽप्यधिकगुणं च,
वरतु यदि लभ्येत, तदा स्नेहे शैथिल्यं जायते, तथा स्नेहकशुभ्रमंसि लज्जा च
जायते । चमरीणा चायमेवाभिमानो यदरमाकं बालाः सर्वाधिकसौन्दर्यशालिनः,
तत एव तासां तत्र विशेषेण स्नेहः पर पार्वतीवेशपाशः ततोऽप्यधिकमुन्दरं
द्रष्टुं चमरीभिः स स्नेहः कुतो न शिथिलीकृत इति प्रश्ने इदमेव प्रतिभाति,
यत् तिर्यक्त्वात् तासां मनसि लज्जा नास्ति, यदि लज्जा स्यात्, तर्हि वेशपाशवि-
हितसौन्दर्येषु बालेषु न स्नेहो यथापूर्वं तिष्ठेदिति ।

४९.

मुखम्रीदकुचपादादीनां चन्द्रकञ्जुचक्रवाकपद्मादीन्युपमानानि कविसंप्रदाये
प्रसिद्धानि, अस्ति तेषूपमानवस्तुषु सौन्दर्यम् किन्तु भिन्नः भिन्नः शमाश्रं तत्र. तत्र
स्थितं तन्न द्रष्टुः पूर्णमानन्दमुत्पादयितुमलम् । तदस्य सर्वस्य सौंदर्यैकरिभन्नवय-
विनि रिषतस्य दर्शनेच्छा विघातुरुदभूत्, तत एव यथास्थानं तान्युपमानवरत्न्ये-
वावधानेनौचित्येन संनिवेश्य पार्वतीशरीरं तेनोत्पादितमिति संभाव्यते ।

५०.

यद्येच्छ विचरता हिमालयपट्ट आगतेन नारदेन कदाचित्पितुः समीपस्था

तस्याः शलाकङ्गननिर्मितेव कान्तिभ्रुवोरायतलेखयोर्था ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्ग स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥
लज्जा तिरश्चो यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुण्या ।
तं वेशपाशं प्रसमाक्ष्य कुर्षुर्बालप्रियरवं शिथिलं चमर्यं ॥ ४८ ॥
सर्वोपमाद्रभ्यसद्गुण्येन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता रिषसृजा प्रयत्नादेकस्यसौन्दर्यदिरस्यदेव ॥ ४९ ॥
तां नारदः कामचारः कदाचित्स्वन्या किल प्रेष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवर्षं भवित्री प्रेम्णा शरीरार्घहरां हरस्य ॥ ५० ॥

पार्वती दृष्ट्वा, तत्कृष्णान्यालोक्ष्य स 'महादेवस्येयमननया भार्या भविष्यति,
प्रेम्णा तच्छरीरार्थं चास्या स्थितिर्भविष्यति इति भावि बृत्त न्यरूपयत् ।

५१.

पूर्वं पार्वत्या विशादानुरूप दयो दृष्ट्वा हिमालयस्य वरान्धेयणे प्रवृत्तिरभूत्,
परं नारदोक्तौ निश्चयस्य तेन वरान्तरान्धेयणामिलाषस्यक्त । युक्तश्चैवप्रियाया
कन्याया एवविधेनैव वरेण सम्बन्ध । यद्यपि सन्त्यन्येऽपि देवाः, परं न ते
एतामुद्रोक्तु योग्याः । यथा तेजासि लोके बहुभिः, किन्तु हविर्माहणयोग्यताग्नेरेव
केवलमिति ।

५२

यद्यपि भगवते शिवाय अन्याप्रदानं हिमालयस्यात्यन्तमिष्टम्, तथाऽपि न
हि शिव स्वयं याचते, नचायाचिता कन्या देयेति शिष्टप्रदाय । स्वयं च
समर्प्यमाणा शिव स्वीकुर्यान्नवेति मद्गती प्रार्थनामङ्गघङ्गा, तेन स उदासीन एव
तरथी । एवमेव प्रार्थनामङ्गमीता शिष्टा कुर्वन्तीति ।

५३

ननु शिव एव स्वपरायणा पार्वतीं मुतो न याचितवान्, तत्र हेतुरन्यते,
दक्षसुतया कन्या यदा देहस्यक्त, तदा प्रभृत्येव शिवस्य निवेद उदभूत्, तेन
विवाहकथा दूरपास्ता सुदतीति विशेषण यौवनावस्थाबोधक भोगेष्वतृप्ततामा
वेदयन्निवेदयोग्यतां मनसि अतृप्तस्य प्रिय-स्तुनाशो निवेदाय भवतीति । परानां
पतिरित्यनेन सर्वजीवबन्धविमोक्षकारणस्य भगवत उक्तो रुक्मायागश्च केवलं
स्त्रीलामात्रमिति बोधनाय । स हि स्वकार्येण—'सति शोकेहेतौ न महात्मनि लिन्नै
र्भाष्यम्, अपि तु वैराग्य सेव्यम्, इत्युपदिदेश इत्यादिप्रकाशिकाविवरणयो ।

५४

तेन खलु त्यक्तपरिग्रहेण अशिनभिगदता शङ्करेण गन्धर्वं परिदधता
हिमालयस्यैवतमे शिवर एव तपधर्यायै निवास क्लृप्त । (विशेषणद्वयेन तपो-

गुरु प्रगल्भेऽपि वयस्वतोऽस्यास्तस्यौ निवृत्तान्यवराभिलाष ।

श्रुते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजास्यपराणि ह-वम् ॥ ५१ ॥

अयाचितारं न हि देवदेवमाद्रं श्रुता प्राहयितुं शक्याः ।

अभ्यर्थनामङ्गभयेन साधुर्माष्यस्यमिष्टेऽप्यकल्पवतेऽर्थे ॥ ५२ ॥

यदैव पूर्वं जने शरीरं का दक्षरोयास्तुदती संसर्ज ।

तदा प्रभृत्येव विमुक्तश्च पतिं परानामपरिमहोऽभूत् ॥ ५३ ॥

स वृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।

प्रस्य हिमाद्रेर्मृगनाभिगणिषि किञ्चिन्नवणरिद्धभरमण्युवास ॥ ५४ ॥

योग्यता वाङ्मयान्तरयो सूचिता) यस्य शिलरस्य गङ्गाया -प्रपातः, देवदारुवृक्ष-
बाहुल्यम् (एतेन प्रदेशस्य पवित्रजन्मजायादिसुपरया तपोयोग्यता सूचिता)
कस्तूरीमृगसचारेण सौरभप्राचुर्यम्, (एतेन पूतिगन्धराहित्यं द्योतितम्) किन्नर
गानध्वनिश्चेति । एतेन खरशब्दराहित्यम् देवयोनिनिवासेन पवित्रता च द्योतिता ।
कस्तूरीसौरभेन, किन्नरगानेन चेन्द्रियनिर्घण्टुपदुक्ता, तथा चोदरया वशिभो विषय-
सपदो न विम्यतीति सूचितमित्यङ्गाचलनाय ।

५५.

भगवति शिवे तत्र स्थिते तद्गंगा प्रमथा अपि तत्रैव स्थिता । तेषां च तत्र
सुरपुत्रागपुष्पैरलङ्कारसौख्यम्, कोमलैर्मूर्त्तैर्लल्लैर्वसनसौख्यम्, मन शिलाबाहुना
चाङ्गरागसौख्य सपद्यते स्म ।

५६.

भगवति शिवे तत्र कृतनिवासे तद्गाहनो वृषभोऽपि तत्रैव तस्थौ । स च शैले
सिद्धध्वनि भुक्त्वा 'कोऽय मदमे गर्जति' इति अमर्षमापन्नः क्रोधादिमण्डिलाः
खुराग्रैर्विदारयन् स्वयमपि गर्जति स्म । तं च तथाविध विशालाकृति गर्जन्तं दृष्ट्वा
भीता, स्वसदृशाकारेण स्वयुष्य मत्वा कथञ्चिद्विश्वस्ताश्च गवयाः कथञ्चिद्ददुर्गुरिति ।

५७

तत्र पूर्वोक्ते हिमवच्छिञ्चारे भगवता शिवेन तपश्चरणमारब्धम्, सर्वेषु वैदिकेषु
कर्मसु अपि अपेक्षितत्वात्तपश्चर्याऽग्निश्च प्रतिष्ठापित, समिदादिभिस्तत्परिचर्याऽपि
समारब्धा । यद्यपि लोकानां फलार्था प्रवृत्ति कर्मसु दृश्यते, भगवाश्चाप सर्वेश्वर
सर्वेषां स्वयं पत्न्यादाता पूर्णकाम इति नास्य पठ समाव्यते, नाप्यास्पाराधनीयो
देव, अग्न्यादीनामप्येतन्नूर्त्तिस्वात्, नाप्यन्तःकरणशुद्धिः फलम्, ईश्वरत्वेन
नित्यमुत्तरवत्, तथापि तपश्चरणमित्यलौकिको मार्गः सर्वलोकहितायैव । अन्येऽपि मां
दृष्ट्वा तपसि प्रवृत्ता भवन्तिवति । इममेव स्वार्थफलभाव एव नपितु 'केनापि कामेन'
इति क्विनोक्तम् । 'क'कामोऽस्य स्याद्' इति न चिन्तयितुं शक्यते इति ।

गणा ननेरुप्रसवावतसा मूर्त्तैश्च स्वर्शक्तीर्दधानाः ।

मन शिलाविन्दुरिता निपेदु शैलेयनदेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥

दुषारसहाताशिला खुराग्रैः समुद्भिन्नन्दपंकत् ककुषान् ।

इष्टं कथञ्चिद् गवदैर्विद्विभैरशोदसिद्धध्वनिस्वननाद ॥ ५६ ॥

तत्राऽग्निमाधाय समिरसमिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्ति ।

स्वयं निघाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चर ॥ ५७ ॥

५८.

सर्वलोकोत्पादनसमर्थं नृणां प्रादिभिरप्यन्यमान, वस्तुतस्तु स्वरूपेणावाङ्मनस-
गोचरतया केनापि पूजयितुमशक्यो भगवान् यदा स्वप्न एव प्रातः, तदा
परमात्म्य मत्वा हिमालयेन सोऽर्चित, नित्य तदचर्नाय च स्वपुत्री पार्वती सखी-
सहिता तेन आदिष्टा, यत सा प्रयत्नेत्येवविधानां पूजने समुचित्वा ।

५९

यद्यपि विशिष्टसुन्दरी पार्वती चेतोविकारहेतुत्वात्समाधे परिबन्धिता,
तथापि सेवमाना सा शिवेन न निषिद्धा यतस्तस्य चेतोविकारमयं
नास्त्येवेति ।

६०

सेवायां प्रवृत्ता पार्वती प्रतिदिन पूर्वं पूजायै पुण्याभ्यवचिनोति स्म, तदनु
तदभर्त्यास्थानं परिष्करोति स्म, अथ जलानि बर्षाणि चानयति स्म, इत्यादिना
प्रकारेण सेवानिरताभूत् । न च सुकुमार्या अपि तस्या सेवया स्थानिहृतभूत्, यतः
शङ्करस्य मस्तके स्थितस्य चन्द्रस्याङ्गादकरे किरणैस्तस्या स्नेहोऽपनीयते
स्म इति ।

[इति कुमारसम्भवे प्रथम सर्ग]

अनर्घ्यमध्येण तमद्भिनाय स्वर्गोऽसामन्वितमर्चयिष्या ।
आराधनायाऽस्य सखीसमेता समादिदेश प्रयतां तनूत्राम् ॥ ५८ ॥
प्रत्यर्धिमूतामपि तां समाधे शुभूयमानां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतो सति विक्रियन्ते देवा न चेतांसि त एव धीरा ॥ ५९ ॥

अवचितवलिपुष्पा बधिसमार्गदक्षा

नियमविधिबलानां बर्हिषां शोपनेश्री ।

गिरिशमुपचचार प्रत्यह सा शुकेशी

नियमितपरिखेदा तन्धिरभन्द्रपादै ॥ ६० ॥

कुमारसम्भवे पञ्चमः सर्गः

कथासम्बन्धः

तारकाख्येनाक्षुरेणाभिभूता इन्द्राद्या देवास्तदिनाशाय विद्यापयितुं ब्रह्मण समीपे गता, ब्रह्मणा च 'शङ्करस्य वीर्येण जातो युष्माकं सेनापतिर्भूत्वा तारकं शमयिष्यति, त-उङ्करस्य विवाहोपायमभिन्यताम्' इत्याश्रिता । तत इन्द्रेण सख्यं मानमाहूय कामं शिवस्य चेतुः पार्वत्यामनुरञ्जयितुमादिष्ट, स च वसन्तसहस्रं बैलासं गत्वा सेवायन्परिस्थिता पार्वतीमालम्बनीकृत्य भगवति शिवे समोदनास्त्रं प्रायुञ्क्त । किञ्चित्परिवृत्तधैर्योऽपि शिवः सयमितया द्रुतं चेतोविक्रियां नियम्य तृतीयनेत्राननेन कामं भस्मसादकरोत् । अथ बहु विलपन्ती मरुणे कृतनिश्चया कामपत्नी रति 'भूयोऽपि शिवस्य कृपया कामस्य जीवनलाभो भविष्यति' इत्या काशवाचा समाश्वासिता, तेन च बद्धाशा सा जीवनं दधारेति चतुर्थे गतम् । अथ पार्वतीवृत्तमारम्यते ।

१.

इत्थं महादेवेन कामदेवे भस्मसात् कृते पार्वती निराशा समञ्जलि । नारदो-
क्त्या यो मनोरयाङ्कुर उदभूत्, सेवानुमोदनेन यं पञ्चवित, समोदनाङ्गप्रयोग
काले सानुरागवीक्षणैः च यं फलितं, स कामं ददता महादेवोऽसमूलमुत्पारित ।
महादेवमन आरुष्टुमसमर्थमात्मनो रूपं तदा पार्वती गहते स्म । यत भक्तं
प्रेमैव रूपस्य फलम्, यस्मिन् रूपे भर्ता नानुरञ्जयति तद् रूपं निष्फलमेवेति ।
धीरया पार्वत्या यद्यपि कस्यचिदपुरं पुराणि रूपविकल्पना न कृता, तथापि चेतसि
तस्या रूपगर्वमाधीदिति चेतसैव निन्दापि कृता ।

२

इत्थमुपायात्तरमपश्यन्ती पार्वती तपस्यया महादेवं वशीकृत्य स्वसौन्दर्ये
स्वरितार्थयितुं निश्चिन्ता । महादेवसदृशं पतिर्धो मृत्युञ्जय इत्युच्यते, तादृशोऽतु
रागभ-यद्वशीभूतः स मृत्युञ्जयस्तस्यै स्वशरीरार्घमपि समर्पयेत्, एते तपस्या
मन्तरेण कथं भवितुमर्हत । सर्वं दुर्लभं वस्तु तपसैव साध्यं भवति इति ।

तथा समक्षं ददता मनोमव पिनाङ्किना भस्ममनोरया सती ।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चाकृता ॥ १ ॥

इदेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमारुधाय तपोभिरात्मनः ।

भवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेमं पतिभ्यः तादृशं ॥ २ ॥

३

भगवति मृष्टञ्जये निरतिशयमनुरक्ताया पार्वत्या अतिकठिनवपधर्मावतोग
भ्रुवा तस्या जननी मेनका ता (पार्वतीम्) वक्षसाङ्घिष्य तपश्चर्याध्यवसायं
स्यच्छुपदिदेद्य । गिरीशेऽनुरक्तया तस्या हर्षं , तपश्चमनुमाय तु विधाद इति ।

४

मेना वक्ति, २से । पार्वति । तव पितु प्रदेशा देवभूमय सति । अत्र विठ
माना इषा शर्यादिषीमायदेवता धाराधय । त्वदीयं कोमल शरीर कटिन
तपोनुष्ठानधर्म नास्ति । मृदुल शिरीषस्य क्षुद्रम लघीयसो भ्रमणशीलस्य भ्रमरस्य
भार सोढुं शक्नोति, न पुनर्महोद्यस पक्षिणोऽपि । भ्रमरो हि परिमाणे लघु,
भ्रमणशीलश्चाप्येकत्र न चिरमवतिष्ठते—इति तस्यद् कोमलेनापि पुष्पेण सोढु
शक्यते, पतन्ती तु गुह्यतास्यघातकरवाच्च न सोढु शक्य इति । यद्विपत
देवताराधाभ्रमरयो शिरीषपुष्पवपुषो, पतन्वितवसोश्च मिथो विम्बप्रतिबिम्ब
मानो बोध्य ।

५

मेनया पूर्वोक्तेन प्रकारेण बहुधा पार्वतीं छुपदिष्टा, पर न सा तपसो निश्च
यादिरताभूत् य फलसिद्धौ हृदनिश्चय आसीत् । यथा निम्नाभिमुख जल न
केनापि विकृष्टं प्रवाहयितुं शक्यते, तथा प्राप्तयेऽर्थे हृदमभिनिविष्ट चित्तं कश्चिदपि
विपरीत कर्तुं न शक्नोति ।

६.

हिमालयोऽपि स्वसुताया मनोरथ विवेद । अथ एकरिमन् दिने रज्ज्वरे तपसि
कृतनिश्चया गौरी फलसिद्धिपर्यन्त तपश्चरितु रसखीमुखेन पिठु सङ्गाद्
वनबासानुशां प्रार्थयते स्म । न ह्येनादृशानि त्पासि पदे संभवतीति ।

निशम्य चैनां तपत कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिप्रतात् ॥ ३ ॥
मनीषिता सति पदेषु देवतास्तप क्व वरसे क्व च तावक वपु ।
पद सहेत भ्रमरस्य पेल्व शिरीषपुष्प न पुन पतत्रिण ॥ ४ ॥
इति प्र वे-उमनुशासती सुतां शशाक मेना न निय तुमुद्यमात् ।
क्व ईषिकाधरथरनिश्चयं मन पयश्च निम्नाभिमुख प्रतीरयेत् ॥ ५ ॥
कदाचिदासखीमुखेन सा मनोरथश्च पितर मनस्विनी ।
अयाचताऽरथनिवासमात्मन फलोदयान्ताय तपसमाधये ॥ ६ ॥

७

हिमालय स्वसुताया योग्ये वस्तुनि अभिनिवेश विनाय सतुतोष । तपस्यो कर्तुं च तामनुजानाति स्म । गौर्यंति पितुरनुग्रामधिगम्य हिंस्रप्राणिविरहिते शान्ते पर्वतशिखरे तप कर्तुं प्रतस्थे, यच्च शिखर पश्चात्तन्नाम्नेव गौरीशिखरमितिप्रसिद्धम् ज्ञातम् । 'शिलण्डिमत्' इत्युक्त्या शान्तश्च समर्पितम् ।

८

दृढप्रतिज्ञा गौरी तपधर्यानुकूलं वेद्य परिधातुकामा स्तनान्तरे लम्बमान बहुमूल्य मौक्तिकहार परितस्थान् । शरीराच्छादनाय च बालातपपिङ्गल बल्लल धारयति स्म । तदपि च नवम् अप्रशान्तकषायम् । भायन्त दु स्पर्शम् । (एतद् बालारुणवधु विरेषणेन बोधितम्) यच्च स्तनयोर्दु स्नेन धृतमभूत् ।

९

गौरी शिरसि जटा बभार । तामिस्तदाननस्य शोभा न मनागपि पर्यहीयत । किन्तु यथा पूर्वम् अलङ्कृतै केशैस्तन्मूलमशोभत, तथैव जटिलैरपि । मधुरा ह्याकृतय सर्वथापि शोभन्त एव, यथा कमल केवलम् भ्रमरराजिभिरेव राजत इति न, अपि तु शैवलैरपि तच्छोभत एव ।

१०

अत्र कृत्प्रदेशे पार्वती क्षौमादिनिर्मितां काञ्चीं धारयति स्म, तप परायणा तत्र मुञ्जतुणनिर्मितां त्रिरावृत्तां प्रखरा मेलनां दधार, यथा अस्या प्रतिष्ण रोमाञ्चो जापते स्म । किञ्चेन पूर्वमधृतया अनया मौञ्ज्या अस्या कृत्प्रदेश सपर्वणेन रक्त कृत ।

११

पार्वत्या कर पूर्वे मुक्तोमलेऽधरे लाक्षारसादिरञ्जनम्, कन्दुकक्रीडां

अयाऽनुरूपाऽभिनिवेशतोषिणः कृताभ्यनुशा गुरुणा गरीयसा ।
प्रभासु पश्चात्पथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखर शिलण्डिमत् ॥ ७ ॥
विमुच्य सा हारमहायानधया विलोत्यष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
वदन् बालारुणवधु बल्लल पयोधरोत्सेधविशीर्गसदृति ॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुर शिरोरुहैर्जटाभिरभ्येवमभूत्तदाननम् ।
न घटपदभेगिभिरेव पङ्कज सशैवलासङ्गभरि प्रकाशते ॥ ९ ॥
प्रतिष्ण सा कृतरोमविक्रियो मताय मौञ्जी त्रिगुणा बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तथा सरागमस्या रसनागुनास्पदम् ॥ १० ॥
विस्मृतागादधराभिवर्तित स्तनाङ्गरागाङ्गिताश्च कन्दुकात् ।
बुधाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलि कृतोऽभ्युत्प्रणयो तथा कर ॥ ११ ॥

चेति सुकुमारतरान् व्यापारानन्वतिष्ठत् । तपःकाले तु स कर्कशतरमुशोत्पाद्ये
 भक्षमालायाः सततं चालने च विनियुक्तः । अयं सारः यत् तपःपरायणा पार्वती
 सर्वविधं शरीरालङ्करणं मुमोच । अघरोष्ठस्य लक्षारसेन रञ्जनं तस्याम् । चन्दना-
 चङ्गविलेपनाद् विरराम, मनोविनोदाय कन्दुकक्रीडां च परिजहार, किं च
 मुनिव्रताचरणाय कृष्किनः कुशान् लुलाव । येषां कण्ठके तस्याः कराङ्गुलयः
 परिधत्ता भ्रमन्, भनिश रुद्राक्षमालया जजाप चेति ।

१२.

या पर्वतराजपुत्री पूर्वं मृदुतरतुलिकादि विराजिते कोमलोपरहंसनाधिते बहुमूले
 शयने निद्रामुत्तमम्वमूत्, तत्रापि च पुष्पस्पर्शेनापि यदङ्गेषु आघात इवामूत्,
 पुष्पेभ्योऽपि कोमलतरखादङ्गानाम्, ईदृशी सुकुमारी सा इदानीं तप प्रसङ्गेन
 अनास्तृतमूमौ स्वधाहुमेवोपधानीकृत्य स्वपिति, तत्रैवोपविशति च । भूमिशयनस्य
 तपोऽङ्गस्यानुष्ठानमनेनोक्तं भवति ।

१३.

पर्वतशिलरे तपभ्ररन्यां पार्वत्यां स्त्रीस्वभावमुत्तमो विलास-चञ्चल इष्टिम्
 नावलोक्यते स्म, किन्तु सादृग विलासादिकं लतासु हरिणीषु च दृश्यते स्म, तत्र
 कविस्पर्शते यथा लोके कश्चित् कार्यान्तरप्रसङ्गेन स्वकीयं वस्तुकश्चित् कालम्
 अवधि कृत्वा अन्यस्य पार्श्वे न्यासरूपेण रक्षति अवधिसमाप्तौ च तद् वस्तु ततो
 गृह्णाति, तथैव पार्वत्यापि तप प्रतिबन्धकीभूतं विलासादिकं तप समाप्तिपर्यन्तं
 स्वप्रतिवेशिनीभ्यः लताभ्यो हरिणीभ्यश्च निक्षेपरूपेण अर्पितम्, तपः समाप्तौ
 सा निक्षिप्तं स्वकीयं ताम्भ्यो महोभ्यति इति ।

१४.

अनस्या पार्वती आलस्य दूरतस्तस्याम्, तत्रस्थान् स्वल्पस्वल्पान् पादपान्
 स्वयमानीतेः कल्पशब्दलैः विधेच, 'स्वयंदासास्तपस्विन' इति न्यायात् । स्वस्वर्धितेषु
 तेषु पादपेषु पार्वत्यास्तथाविधं दृढ पुनवारस्य सञ्जातम्, यदनुभूय कविस्पर्श-
 यति-यद् यदा पार्वत्याः कार्तिकेयो नाम भौरसः पुत्रः सञ्जनिष्यते, तद्दृष्ट्वापि
 तस्या पतेषु पादपेषु तत् पुनवारस्य न निवर्तिष्यते । यतः सा तान् ज्येष्ठपुत्र-
 स्त्वेन निरीक्षते ।

महाहंसव्यापरिवर्तनश्च्युते स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
 भशेत सा बाहुल्योपघायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥
 पुनर्ग्रहीतुं नियमस्यया तथा द्वयेऽपि निक्षेप इवाऽस्ति द्वयम् ।
 लतासु तन्वीषु विलासचेष्टित विलोलदृष्ट हरिणाऽङ्गनाम् च ॥ १३ ॥
 अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्धस्तनप्रसङ्गेभ्यंघयत् ।
 गुह्योऽपि येषां प्रथमाऽतज्जन्मना न पुत्रवारस्यमप्यकरिष्यति ॥ १४ ॥

१५

पार्वती नीवारश्यामाकादिभिर्मुनिषा यैर्हरिणान् पुपोप । नीवाराणामञ्जलि
तेभ्योऽदात्, न तु कृणमात्रम् । ते हरिणास्तस्या तथा विश्वास प्रापु, यथा ते
निर्मयं तस्या समीपमाजम्, सा च 'मम सहचरीणां नेत्रे विशाले, उतैतेषां
हरिणानाम्' इति जिह्वासमाना कौतुकात् तेषां नेत्रे स्वाहगुल्यादिना परिममे,
परन्तु परिमाणकरणसमये जायमानेव्यक्षिनिपीडने हरिणा न मनागपि क्षोभ प्रापु ।
अत्रैव तिरश्चा विश्वाशस्य परां काङ्क्षां प्रतिपादयता कविकुश्लुङ्गणा पार्वत्या महती
अर्हिसाप्रतिष्ठा व्यञ्जिता ।

१६

पार्वत्या प्रत्यहं त्रिषव्येन (वारतय स्नानेन) शरीरशुद्धि संपादिता,
तपोऽङ्गेन हवनेन उत्तरीयस्याप्यनुरागत्यागेनान्त करणशुद्धि, प्रत्यहमभ्ययनेन
चात्मशुद्धि । तेन च वैराग्यवृद्धत्वम् (स्वगुत्तरासङ्गवतीमिति विशेषणञ्चितम्)
ज्ञानवृद्धत्वम् (अधीतिनीम्) शीलवृद्धत्व चास्या प्रतिष्ठितमित्यस्या दर्शनार्थं
मुपदेशश्रवणार्थं च श्रुत्योऽप्यस्ता आभममागच्छन् । ननु वयसा कनिष्ठाया
पार्वत्या समीपे वयोवृद्धानामृषीणाम् (सेवार्थम्) आगमामनुचितमिव भाति,
नैतत्, सेव्यसेवकभावविचारे धर्मवृद्धस्यैव सेवतास्वीकारात्, अल्पवयस्काया
अपि धर्मेण वृद्धाया पार्वत्या समीपे श्रुषोणामागमनं नानुचितमिति ।

१७

तत्र गौरीशिलरे पार्वत्यास्तप प्रभावेण न केवल तदाभ्रमस्य, अपि तु
सर्वस्यापि तपोवनस्य परा पवित्रतासीत्, यदर्शनादप्ययेषा पवित्रता सम्भवति
स्म । अस्यास्तप प्रभावेणैव विरोधिभिर्जीवै-गो-व्याघ्रेण, सिंहहरिणैः सर्पमयूरेण
चेत्यादिभि स्वाभाविको विरोधस्त्यक्त, वृक्षा यथेष्टं फलानि पुष्पाणि चोत्पाद्या
तिथीन् परिचेह, अभिनवाक्ष बह्वस्तपरिवनो जाता, येन नवेदूजेषु अग्नय
आधीयन्ते स्म ।

अरण्यबीजाऽञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विश्वभसु ।

यथा तदीयैर्नयनै कुतूहलात् पुर सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥

कृताऽभिपेक्षां ह्रुतभातनेदस स्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।

दिदृश्वस्तामृषयोऽम्बुपागमत्र धर्मवृद्धेषु वय समीक्ष्यते ॥ १६ ॥

विरोधिसत्त्वोन्निस्तपूर्वमक्षर द्रुमैरमीष्टप्रसर्चिताऽतिथि ।

नवोटकाऽभ्य-तरसम्भृतानलं तपोवन तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥

१८.

यदा चिर तपसा पार्वत्या चिन्तितम्—यदीदृशेन लघुना तपसा ममेश्चिदिर्न
भविष्यति इति, तदा सा शरीरस्थितिमनपेक्ष्य घोरे तपसि प्रवृत्ताभूत् ।

१९

पार्वत्या कठिनतप प्रवृत्ति साक्षर्यमाह ऋषि—यत् अन्दुककीडामात्रेणापि
यस्या शरीरे भ्रान्तिरुदभूत्, तथा विशिष्टमुनिसपाद्य परम तप कर्तुंमारब्धम् ।
तत्रैवोत्प्रेक्षते—य नूनं तस्या शरीर काञ्चनपद्मेन निर्मितमस्ति—यत्पद्मधर्मैण
सुकुमारम्, सुवर्णधर्मैण कटोरमपि च वर्तते ।

२०

‘प्रीष्णे पञ्चाग्निमध्यस्थ’ इति शास्त्रमनुसृत्य पञ्चाग्निमस्तथा प्राख्यम् ।
अतस्तु दिक्षु चत्वारोऽग्नेय, पञ्चमस्तु सवितेति पञ्चाग्नेयस्तत्र प्रसिद्धा । तेनैव
धर्मेणाग्निचतुष्टयमभ्यगतयानया सवितरि निश्चला दृष्टि स्थापिता । यद्यपि
‘सुमप्यमा’ (कृशमप्यदेशा) इयमिति ईदृशेन तपसा परा ग्लानिरस्या
सम्भाविता, तथापि सा तथाविधेऽपि तपसि वर्तमाना ‘शुचिस्मिता’ तेन खेदाभावो
भवितः । न च नेत्रे व्यप्यस्या सूर्ये पश्यन्त्या प्रतिहृते—इत्यहो ।

२१

सूर्यमिमुखं सतत निरीक्षणेऽपि मुखे कापि विकृतिरस्या नामूत्, प्रत्युत यथा
सूर्याशुभि स्पृष्टं कमलं नितरां शोभते, तथा तन्मुखमप्यशोभत । कालिमा तु
तत्रावकाशमलभमानं सुकुमारतरयोर्नेत्रप्रान्तयो शनैः प्रावर्तत । तेन च नेत्र
प्रान्तयो शोभैव, न तु म्लानस्वमिति द्योतित भवति । तापकृता विषादकृता वा
श्यामिका मुखे नास्तीत्याकृतम् ।

यदा फल पूर्वतप समाधिना न सावता लभ्यममस्त काञ्चित्तम् ।
तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमादं व तपो महत्सा चरितु प्रचक्रमे ॥ १८ ॥
क्लम ययौ कन्दुकलीलयाऽपि या तथा मुनीना चरित व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपु काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च सकारमेव च ॥ १९ ॥
शुचौ चतुर्णां वृत्तां हविर्भुजा शुचिस्मिता मभ्यगता सुमप्यमा ।
विचिरय नेत्रप्रतिष्ठातिनी प्रभामनन्यदृष्टि सवितारमैष्ठत ॥ २० ॥
तथाऽतितप्त सवितुर्गमस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलभिर्यं दधौ ।
अपाङ्गयो केवलमस्य दीर्घयो शनैः शनैः श्यामिकया हृत पदम् ॥ २१ ॥

२२.

पार्वत्या वृक्षवृत्तितः प्रारब्धम् । यथा वृक्षाः केवलं नेपथलं चन्द्रवर्नीशोप-
युज्य जीवन्ति, न तु किमप्याक्षिरान्तरम्, तथैव पार्वत्यपि पूर्वोक्तं द्रवनेवोपजीवति
स्म । न तु फलपुष्पादिकं किमपि ।

२३.

यथा पृथिवी ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे बलहिष्ठा धूनाकार बाष्पम् 'माय'
इति मापायां प्रसिद्धं मुञ्चति, तच्च पृथिव्या ऊर्ध्वं गच्छति, तथैव पार्वत्यपि स्या-
त्वेन चतुर्भिर्वह्निभिश्च ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे बाष्पममुञ्चत् । तदुपरिभागेनि
धूनाकारं बाष्पं प्रतीयते स्म । अनेन पृथिवीसादस्यासर्वथा शरीरे निरदेशता
स्यज्यते ।

२४.

वर्षारम्भे अनावृते तिष्ठन्तः पार्वत्या उपरि वृद्धिञ्चन्द्रिन्दवः प्रथमं
सन्नेत्रलोमसु विभङ्ग्य, अधरे प्रपश्य, कुचयोर्निर्गतेन स्रग्द्वतां गताः । पुनः संधीभूय
निम्नोन्नतप्रदेरे भिव्व बन्धेषु स्वच्छन्तो नाभिं प्राप्य स्थिताः ।

२५.

वर्षातो यदा निरन्तरा धारासंपाता अभूवन्, तद्विती वृद्धोत्तन्ते स्म, मध्ये
वापुभ वाति स्म, तदामि पार्वती अनावृते प्रदेशे तपोऽर्थं स्थिता ष व । काले
च तथैव शिलातले शेने स्म । न कोऽप्यन्यस्तथाविधे काले तस्यास्तथाविधस्य
महातपसः साक्षी, तादृशोऽवधरे वह्निः स्यादुभयकृत्वात्, केवलं सङ्घाशित्वे
नियुक्ता रात्रिरेव तद्विद्रूपैर्बहुभिर्नैत्रैस्त्वा ददशति संभ व्यते ।

२६.

ग्रीष्मे वर्षासु च तथा तपत्वा हिमगर्भितवाते हिमर्तो रात्रौ बलनिवासतत्परा
पार्वती तपस्यति स्म । तत्रापि नान्यः कोऽपि तस्या दृष्टिनिषयोऽभूत्, केवलं

अयाचितोपरिमतमम्बु केवलं रसात्मकस्योद्भूतेश्च रश्मयः ।

बभूव तस्याः हिल परगाविधिर्न वृक्षवृत्तितिरिक्तसाधनः ॥ २१ ॥

निष्कामन्ता विविधेन वद्विना नमभरेदोन्धनकःमृतेन सा ।

तपत्पथे वारिभिश्चिन्ता नवैर्मुंबा सशोष्णागममुद्भूदंगम् ॥ २३ ॥

स्थिताः धनं पश्यन्सु ताडिताऽपरा पवोधरोस्तेपनिपातचूर्णिताः ।

बन्धेषु तस्याः स्वच्छिताः प्रपेदेरे निरेण नाभिं प्रथमोदचिन्दवः ॥ २४ ॥

शिलाधया तामनिर्बन्धाविनी निरुत्तगरन्तरवातशुम्भ्र ।

ब्यलोकयन्नुग्निपितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षराः ॥ २५ ॥

निनाय साऽत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सरस्वराश्रीबदवास्तपरा ।

परतराकन्दनि चक्रवाकमोः पुरो विपुक्ते सिधुने कृपावती ॥ २६ ॥

विषीगाग्निना दह्यमानं चक्रवाकपुगल तथाविधे शीते जलेऽवलोक्यते स्म । तस्य च तादृशशीतसङ्घने विषीगाग्निरेव हेतुः । चक्रवाकपुगलस्य रात्रौ परस्परान्तेकनामावादन्योन्यमाक्रन्द, तत्र च पार्वत्या कुपैवामूत्, न तु तस्य दशनैर्न विरहोद्दीपनम् । तेन तपसि वर्तमानायास्तस्या ब्रह्मचर्यनिष्ठापि व्यस्यते । चक्रवाकपुगले कृपा, न तु स्वतपस कापि गणननि व्यस्यमरुणाचक्रापि भाह ।

२७.

जलनिगमनाया पार्वत्या शिशिरनिशामु मुलमार्गं लक्ष्यते स्म, तत्र कमलसमसुरभि, शीतेन वेपमानोऽधरश्च तत्र किसलयसदृश प्रतीयते, तादृशो तपस्यपि च न म्लान तत् । तस्मादिदं सभाम्पते—शिशिरतो हिमिन नष्टेभ्यन्तेषु कमलेषु 'जलानि कमलशूयानि मा भूवन्' इति विचार्यैव पार्वती स्वदुःखकमलं तत्र निवेशितवती । तेन वसन्तपर्यन्त कमलपरस्परया भविष्येदो जातः, वसन्ते तु पुन कमलानि प्रादुर्भविष्यन्त्येवेति ।

२८

तपस उपवासीऽप्यङ्गम् । तत्र फल्गुश्रावणभ्यबहरणरूपा नाना भेदा, स्वयं निरतितवृक्षरत्नमात्रवृक्षणम् तत्र सर्वश्रेष्ठ तपऽव्यते । परं पार्वती क्रमेण पर्णमक्षणमपि त्यक्त्वा सर्वथा निरधाराऽमूत् । येन शीघ्रणेन पर्णत्यागरूपेण कर्मणा तस्या नाम 'भयर्णा' इति स्थातिं गतम् ।

२९.

क्रोमलेन शरीरेण पार्वती तया तपोऽकरोत्, यथा अतिकठिनशरीराणामपि तपस्विना तपस्तदपेक्षयाऽस्तन्तमधोभूतम् ।

३०:

पार्वत्या तथा प्रीष्टे तपसि निविष्टायामेकस्मिन् दिने कश्चिदविशातं पुष्पसस्तर्हिमस्तपोवनं आगत, स चाग्निनापादादिभिर्मिर्त्रैर्ब्राह्मणो ब्रह्मचागीति लक्षित । तस्य तेबोल्थगानि च तथाविधान्मासन्, यथा स साक्षाद् ब्रह्मचर्याभ्रम एव शरीर

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाऽधरपत्रशोभिना ।
 द्वपारवृष्टिस्तपत्रसम्पदा सरोजसन्धानमिवाकरोदयाम् ॥ २७ ॥
 स्वयंविशीर्णदुर्मवर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपस्तपसा पुन ।
 तदध्यशाङ्कीर्णमत प्रियवदां वदन्त्यपगैति च तां पुराविद ॥ २८ ॥
 मृगालिकापेल्वमेरमादिभिर्वितै स्वमङ्ग स्वयंसात्यदनिशम् ।
 तप शरीरै कठिनैरुपाजित तपस्विनां दूरमपभ्रकार सा ॥ २९ ॥
 अथाऽग्निनापादधर प्रगल्भशास्त्रवृत्तिव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
 विवेश कश्चिन्नरितस्तपोवन शरीरवद्द प्रयमाभमो यथा ॥ ३० ॥

धृत्वा भागत इति संभाव्यते स्म । सञ्ज्ञान्मगवान् दृष्ट्वा एव दयाजनितेनानुरागेण प्रेयमाणो गौर्याः प्रेमदाढ्यैररीक्षार्थं तथा विस्मग्गोष्ठीमुखार्थं च छद्मवेशेनागत इत्यन्ते स्फुटीमविष्यति ।

३१

अतिथिसत्कारचतुरा पार्वती तं ब्रह्मचारिणं सवहुमानं प्रत्युज्जगाम, भानचं च । एतदेव कविनोत्तरार्धेन समर्थितं, यत् सर्वत्र समदर्शिना रागद्वेषशून्यानामपि शरीरेण विज्ञाततेजसि क्वचिद् भङ्गे व्यक्तिविशेषे भादरो जायत एवेति । नायमादरो लिप्सया, अपि तु कर्तव्यबुद्धयैवेति । तपसा महान्तः सत्कार्या एवेति । भीमान् मङ्गिनायस्तु कथं समानेऽपि (ब्रह्मचर्यादिना स्वतुल्येऽपि) तस्मिन् तस्यास्लादृशी प्रतिपत्तिरित्यवतार्यं साम्ये सत्यपि निविष्टचेतसाम्—स्थिरचित्ताना वपुर्विशेषेषु अतिगौरवा क्रिया भवन्तीति व्याचक्षाणो 'न पार्वत्यास्तपोमिमानः, अपि तु अन्येषु तपस्विषु पूज्यत्वबुद्धिरेवेत्यभिप्रायं विशदयति । ये रागद्वेषाभ्यामदूषिताः, तेषामेव वस्तुतो महत्त्वशालिषु महत्त्वोचितो व्यवहारो जायते, रागादिमन्तस्तु परिचितेष्वेव स्निह्यन्तीति प्रकाशिकाविवरणकारावप्यर्थं विनैव पाठान्तरं व्याचक्षाते ।

३२.

उभया सङ्गतो ब्रह्मचारी लक्षणमध्वपरिक्षमापनयं नाटयति स्म, तदनन्तरं च ब्रह्मचर्योचितया शैल्या सरलेन चतुषा पार्वती विलोकमानः कथनं प्रारभते स्म ।

३३.

ब्रह्मचारो विशिष्टाचारानुकूल्येन प्रथमं पार्वती तपस्विजनोचितपदार्थसंपत्तिरूपं कुशलं पृच्छति ।

३४.

त्वया सततं वारिणा सिच्यमाना एता लताः क्वचिनिरन्तरं पल्लवान्युत्पादयन्ति ! एतेषु पल्लवेषु हि रक्ततया त्वदधरसादृश्यमालोक्यते । यद्यपि त्वया-

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।

भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥

विधिप्रयुक्तां परिदृष्ट्वा सत्क्रिया परिश्रम नाम विनीय च क्षणम् ।

उमा स पश्यन्बुद्धौ चतुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुष्णिक्रमम् ॥ ३२ ॥

अपि क्रियाऽर्थं मुल्लभं समिरकुर्वा ज्ञान्यपि स्नानविधिमागि ते ।

अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तते शरीरमाद्यं क्षुद्रं धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥

अपि स्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रदाल्मासामनुबन्धि वीक्षाम् ।

चिरोक्षिताऽलच्छङ्कपाटलेन ते तुला यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

घरेऽऽकम्प्यासश्चिरात्सुखं, तथापि स्वमावरत्त तदिति फल्लङ्गादृश्य विमल्यैव ।
चाटूक्तिरिय पार्वत्याभेतोविनोदनार्था । सौन्दर्ये हि स्तूयमाने स्वभावेन ज्ञाना
प्रसादो जायत इति ।

३५.

कश्चिद्व हारिणेषु प्रसन्ना तिष्ठति । यद्यपि हरिणा परिचयजनितेन प्रेम्णा तव
करस्थान् कर्मोपयुक्तानपि दर्भानपहरन्तस्तुभ्यमपराध्यन्ति, तथापि तपस्विनां न कोप
इति तव प्रसाद एव तत्र युक्त । एते च हरिणास्त्वत्र त्रिलोचनयो सादृश्यं
स्वनेत्रयोरलभमाना स्वनेत्रे चालयन्त सादृश्यमभिनयन्तीव, यथा हीनगुणा
महाजने सादृश्यं लब्धुं व्यापारवेषादिभिस्ताननुकुर्वन्ति, तद्वत् । तेन तव नेत्रयो
श्चाञ्चल्यं स्वामाविकम्, हरिणास्तु स्वव्यापारेण चाञ्चलयमाधातु यतन्त इति
सौन्दर्यस्तुतिरूमा चाटूक्तिरेव ।

३६.

‘यथाकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति’ “न मूर्खपा पापाचारा ” इत्यादि लोकैरुच्यते,
सामुद्रिकशास्त्रशास्त्रापि ‘रूप शीलानुसारि’ इति ब्रूवते, तदेतत् त्वां दृष्ट्वा सप्त
सत्यं प्रतीयते । यत एवविशिष्टरूपवश्यास्तवेदं शीलम्, यद् दृष्ट्वा उपदेश
शृङ्खन्त इवान्ये तपस्विन स्वीयानान्चारानपि परिशुद्धंते । इय पार्वतीस्तुतिस्तां
विनोद्य तस्या हृदयं प्रविश्य तदान्तरमाप्रकट्नाय प्रयुष्यते ।

३७.

अस्य हिमालयस्य पृष्ठे दलोकान्द्रज्जाप्रवाह पतति, गङ्गा च निसर्गैवानि
पवित्रतमा, सप्तर्षिदत्तवल्मीकां पुष्पादीनि च तत्र प्रवहन्तीति विशेषेण पवित्रता,
तथापि सा गङ्गा तथाविधां पवित्रतां हिमालये नार्पितवती, यथा स्वदीपानि हरितापि
सपुत्रपौत्रं हिमालय (स्वपिनृत्वात्, तच्छिवरे तपश्चरणाद्वा) पवित्रीकृतवन्ति ।
गङ्गाजलाद् अपि उत्कृष्टानि तव चरितानीति चार । तव हेतुगर्भं विशेषम्—
“अनादितै ” इति । गङ्गाजलं येषामु रोगक्षतनकाले वा आविलम् (अस्त्वन्तम्)
अरि मवति, स्वचरितानि तु न कदाप्याविलानि (पापगन्धीनि) इति ।

अपि प्रसन्न हरिणेषु ते मन करस्थदर्भप्रणयाऽपहारिणु ।

य उत्प्लासि । प्रचलैर्विनेचनेस्तनाऽशिसादृश्यमिव प्रयुज्जते ॥ ३५ ॥

यदुच्यते पार्वति । पापकृतये न रूपमित्यन्यमिचारि तद्वत् ।

तथा हि ते शीलमुदारदर्शने । तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥

विद्वानसप्तर्षिदत्तप्रहासिभिलया न गाङ्गे सलिलैर्दिवसन्त्युते ।

यथा स्वदीयेभस्वितैरनाविलैर्महीधर पावित एव छाऽन्वय ॥ ३७ ॥

३८.

धर्मार्थकामेषु लोका प्रायेणार्थकामयोरेव विशेषेण सक्ता इत्यन्ते, धर्ममपि तदर्थमेवाभ्यन्ति, तेनार्थकामयोरव प्राधान्य मनस्यायाति । परमद्य मया प्रतीतम्, यद् धर्म एव मुख्य पुरुषार्थ । यत त्वाद्दृशी बुद्धिमती अर्थकामौ सर्वथा उपेक्ष्य केवल धर्म भजते इति ।

३९.

अहमनागत, त्यया विशेषेण संकृत इत्येतान्तैवाह स्वदीयो जात । नेदानी पर इति मन्तव्योऽस्मि । यतो हि स्वजनाना मैत्रीरूप सम्बन्धो न कष्टसाध्य, स हि केवल परस्परालापे सप्तपदोच्चारणमात्रेण सप्तपदपरिमितेऽप्यनि सहचरणमात्रेण वा समुत्पद्यते । तस्मात्स्वदीयत्वात् स्वन्मनोऽभिलाष प्रष्टु ममाधिकारोऽस्तीति ।

४०.

अत्र तप सम्बन्धे अस्ति मे जिज्ञासा, स्वसम्बन्धी चाह जन इति प्रश्नेऽधिकार मन्ये । न च प्रश्नेन ते कोपसमावना, यतस्त्व तपोधना बहुधमा । स्वामाविक च प्रश्नकुतूहलरूपं चापल ब्राह्मणेषु इति प्रथम एव दर्शने प्रश्न एवविधे मे उपपत्ता प्रवृत्ति । न च मे निर्बन्ध, यदि गोप्य न स्यात् तर्हि कथय-इति । विनयप्रदर्शनमिदम् ।

४१

तपसो लौकिकानि फलानि यानि समाव्यन्ते, तानि (उत्तमकुलजन्म, सौन्दर्यम्, सपत्ति, यौवन इति) सर्वाण्यपि ते सन्ति । तथाविधानि च सन्ति, यत उत्कृष्टानि न सम्भवन्ति । नव च ते वय, तेन (श्रृंगत्रयमनपाकृत्य) मोक्षाभिलाषोऽपि न सम्भवति, तन्न समाव्यते तवास्य तपस •किमपि फलम् । न चाफला बुद्धिमता प्रवृत्ति, तत एव फलप्रश्ने कौतुकदृष्टरत्नमिति ।

अनेन धर्मं स्वविशेषमद्य मे त्रिवर्गकार प्रतिभाति भाविनि ।
 स्वया मनोनिर्विषयाऽर्थकामया यदेक एव प्रतिपद्य से•यते ॥ ३८ ॥
 प्रयुक्तसंस्कारविशेषमात्मना न मा पर सम्प्रतिपत्तमर्हसि ।
 यत सतां सन्नतगात्रि ! सङ्गत मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
 अतोऽत्र किञ्चिद्भवती बहुधमा द्विजातिभावाद्दुःखपन्नचापल ।
 अयं जन प्रष्टुमनास्तपोधने ! न चेद्रहस्य प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
 कुते प्रवृत्ति प्रथमस्य वेद्यसन्निलोकसौन्दर्यमित्रोदित वपु ।
 अमृग्यमैर्धर्यमुख नव वयस्तप फल स्यादिकमत पर वद ! ॥ ४१ ॥

४२.

इष्टप्राप्तिस्तपसा न समावितेति पूर्वस्मिन् पद्ये उक्तम् । ननु इष्टप्राप्तिवदनिष्ट-
परिहारोऽपि वाञ्छनीय, तदर्थमेव कदाचित्तप स्यादिति स्वयं समा०प, अम्बुरगम्य
च तस्याप्यभाव विवृणोति वर्गा, त्वयि अनिष्टसम्बधोऽपि न समाख्यत इति ।

४३.

अनिष्टसम्बधामात्र उक्त, स एव प्रयञ्ज्यते, तत्राहृतिरेव 'अनिष्टप्राप्तिपयोग्य
न प्रतीयते, न हि सौम्या, सर्वलक्षणगोपता वा आहृतयोऽनिष्ट भावो ह्येव ।
यद्वा शोकचिः तत्राहृती न हृदयते इति भावो व्याख्येय । किं च कम्पादनिष्ट
सम्भवेत् ! मर्तुंशुदे मर्तुरस्याचारात्स्वरत्नोक्त्याद्वाऽनिष्ट स्यात्, एव तु पितृशुद्धे
निवसति, विवा च त्वयि निवरा स्तिग्व इति कोऽनिष्ट कुर्वन् । अन्यस्तु कश्चन
कामो पुरुष पर्वतराजपुत्रीं त्वा मनसापि न धर्षिदुमलम्, न हि सर्वमणोरहरणाय
कश्चिदुद्युहते ।

४४

तप कारणानि परिहृतानि, निरभिषन्ध तप स्यादिति पक्षमाधिरिति । तद्धि
वृद्धानां शोभते, न तु यौवनप्रारम्भ एव । अधुना तव भूपगधारणशक्त्योऽस्ति, न तु
वलङ्कणधारणशक्त । यथा रात्रेरारम्भ एव चन्द्रतारका अस्त गच्छेयु, अरुणश्चो
दियाद् इत्यसंगता घटना, तथाऽग्निन्नेव वयसि भूपगधारणो वलङ्कणधारण च
तवासंगतमिति रात्रे भूपगस्थानीयाश्चन्द्रतारका, अरुणस्थानीयन्तु वलङ्कणम् ।

४५.

समावनान्तर निराक्रियते—यदि स्वर्गोच्छ्रया तप, तर्हि पर्यम् । स्वर्गे तु एव
स्थितैव, हिमालयप्रदेशा एव देवानां निवासा स्वर्गा इत्युच्यन्ते, एतदर्थमेव
तपस्यन्ति भूमिष्ठा लोका । यदि तु विवाहार्थं वर प्रायंयसे—तदप्यसमाख्यम् ।
इहश्च स्त्रीरसन स्वयवरा अभिलष्यन्ति, नरभिरप्यितदुर्लभस्ते वर स्यात् । 'यस्त

मत्तदनिष्टादपि नाम तुसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तरोदशी ।

विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न हृदयते तत्र हृद्योदरि ! त्वयि ॥ ४२ ॥

अलम्यशोकाऽग्निमन्त्रेयमाहृतिर्विमानना मुष्णु । कुत पितृशुद्धे ।

पराऽग्निमर्शो न तत्राऽस्ति क क्व प्रसारणैरत्रगरसनमूत्रये ॥ ४३ ॥ -

किंनिश्वपास्याऽऽभरणानि यौदने धृत त्वया वाघं शोमि वञ्चयम् ।

वद प्रदोये स्फुञ्चन्द्रतारका विमावरी यदरुणाय वलङ्कते ॥ ४४ ॥

दिव यदि प्रायंयसे वृथा भ्रम पितृ प्रदेशास्तव देवभूमय ।

अयोष्यन्तारमल समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृगयते हि तत् ॥ ४५ ॥

ईक्षितो वरः, सोऽहं स्वयं स्वामन्विव्यजायातः, अलमिदानीं तपसा' इति भगवता शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४६.

कर्णां वक्ति—यदा मया संभावितान् मनोरथान् निराकरणायोपक्षिपता वरप्रार्थना उपक्षिता, तदा तवान्तस्तापबोधकाः उष्णनिःश्वासाः प्रवृत्ताः, वरार्थित्वं तवानुमीयते । तथाप्युपपत्तिमालोचयतो मम विचारशीले मनसि तत्रानुमाने विश्वासो न जायते । यतो हि उत्कृष्टं वस्तु सर्वैः प्रार्थ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टा त्वमेव सर्वैः प्रार्थनीया, स्वदपेक्षया न दृश्यते कोऽप्युत्कृष्टो यत्तवया प्रार्थ्येत । पुनश्च प्रार्थ्यमानोऽपि स न सुलभ इति तदर्थं तपश्चरणमिति तु संभावनाया अपेक्षया एवेति ।

४७.

यदि स्वयं वरप्रार्थनयैव तत्र तपसः, तदेदं वक्तव्यं स्याद्, यत्त्वयेभ्यमाणः कोऽपि वरः पाषाणवदेव दृढ इति वृथा युवत्स्वामिमानी । (स्थिरशब्दः स्वयंगुणबोधकोऽप्यत्र वाक्यार्थवैशिष्ट्याद् दुर्गुणपर्यवसायी) स हि साध्यंमुपालम्ब्यते मया । यतस्त्वं तद्विदेहोदशीं दशां गतासि, यद्वन्धनाभावात् श्लथस्तव जटाः कपोले लम्बन्ते, न च योग्योऽपि कपोलदेशः कर्णोत्पल्लवान्या शोभते, तस्य तु मनसि नास्येतावतापि कोऽपि प्रभाव इति । कल्पाप्रपिङ्गला इति श्लथानामपि जटानां कपोलशोभादेस्तु त्वमुक्तम् 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकूनीनाम्' इति न्यायेन । 'तवेक्षितो यो वरः सः नित्यं युवैव, न कदापि बालो वृद्धो वा, चन्ममस्युसम्बन्धाभावात् । स्थिरः—सर्वथा विकारशून्यः कूटस्थः, भ्रहो इत्याश्रय्यरूपश्च' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४८.

विभूषणधारणोचितानि तवाङ्गानि सूर्यकिरणैर्दशन्त इव । प्रतेश्च त्वमतिमात्रं कर्षितासि, दिवा कम्बन्ता चन्द्रलेखेव दृश्यसे, स्वामेवमवस्थां दृष्ट्वा कः सद्दयश्चेन्नसि न खेदमनुभवति, तथापि तत्प्रार्थितो युवा न द्रवतीत्याश्चर्यमेव । 'सचेतसो मनो दूयेत, स्वप्रार्थितस्य तु मनः सम्बन्ध एव नास्ति, निरिन्द्रियस्तत्' इति गूढोऽभिप्रायः ।

निवेदितं निश्चितेन सोमणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।

न दृश्यते प्रार्थितस्य शब्दं ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥

भ्रहो ! स्थिरः कोऽपि तवेक्षितो युवा निराय कर्णोत्पल्लवशून्यतां गते ।

उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीजटाः कपोलदेशे कल्पाऽप्रपिङ्गलाः ॥ ४७ ॥

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षितां दिवाकराप्सुष्टविभूषणाहरदाम् ।

सद्योऽङ्गलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयेत ॥ ४८ ॥

४९.

मयानुमीयते—स्वया प्रियत्वेन सकल्पित कोऽपि पुरुष, सौभाग्येन गर्वित, 'मामेवैव सर्वधानुयास्यति, कठिनामस्या परीक्षां करोमि' इत्याद्यभिमानस्तस्य । तेनैव गर्वेण वञ्चित सोऽद्यावधि । ननु वञ्चित इति कथमुच्यते, तत्राह यदि स स्वामन्वसरिष्यत्, स्वदीयमिदं सौन्दर्यनिधानं नेन तन्मुखासक्तमभविष्यत् एतद्विषयतया स यथार्थसौभाग्यमाप्स्यत् । वृथा सौभाग्यमदेनैव तस्येदं मुख्यं सौभाग्यं प्रतिपद्यति स वञ्चित एव मया मन्यते । 'यस्तवेष्टितं प्रियं, स वस्तुतः सौभाग्यमदेन वञ्चिन—रहित एव, न तस्य प्राप्तकामस्य सौभाग्येच्छा, न वा तज्जनितो मद—अभिमानो ह्यसौ वास्ति । न च स नेत्रयोर्लक्ष्यं भवति' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

५०.

पावति ! चिरं तपः कुर्वती त्वं भ्रातासि, दया मे त्वम्युत्पन्ना । अहं स्वाङ्गितस्य तपसोऽर्द्धभागं ते दास्यामि, तेन तत्राभिलाषं पूरयिष्यते । परं तु त्वदीयितं वरं पूर्वं साधुमिच्छामि—योग्यं स न वेति । योग्यवरप्राप्त्यर्थमेव मया त्वदर्थं तपोव्ययं क्रियेत इति । इयं भगवतः शिवस्य वरप्रदानपरा गूढोक्तिरिति विवरणकारो व्याचष्टे तथा हि—तपःशब्दो लक्षणया तपसाधनभूतस्य शरीरस्य बोधकः, 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इत्युक्त्वात् । शरीरस्य दिव्यत्वप्रतीतिं लक्षणाप्रयोजनम् । तेन च ममापि—निर्गुणत्वेन, निरीहत्वेन, निराकारत्वेन च प्रसिद्धस्यापि पूर्वभ्रमवञ्चितम्—पूर्वम्, सर्गात्मकाले, अभ्रमेण—अनायासतः, मायामात्रेण संपादितम्, तपःशरीरम्, अस्ति, तदर्द्धभागेन काङ्क्षितम् लभस्व—तस्य समाश्रमद्वे लब्ध्वा पूर्णमनोरथा भव, शरीरार्द्धं ते ददामि परं वरं त्वदीयितम्, साधु—मया करिष्यमाणस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणपूर्वकं वेदितुमिच्छामि, अयि त्वद्भावदाढ्यं निशासे इति ।

५१.

प्रश्ना पूर्वं द्विश्रमा—ब्राह्मण इति, तदुत्तरं दातव्यमेव, वाचोयुक्त्या च हृदयं तेन वशीकृतम्, त्रेनाप्युत्तरदानमावश्यकम् । परं तथापि लक्ष्म्या पावति स्वयं

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुराऽश्लोकिनः ।

करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमराल्पक्षमणः ॥ ४९ ॥

क्रियच्चिरं भाग्यसि गौरि ! विद्यते ममाऽपि पूर्वाभ्रमवञ्चितं तपः ।

तदध्रमागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ ५० ॥

इति प्रविश्याऽभिहिता द्विश्रमना मनोगतं वा न शक्या कश्चित्तुम् !

अयो वयस्यां परिपारं वर्तिनी विवर्तितोऽनञ्जननेत्रमैक्षतः ॥ ५१ ॥

स्ववर कथयितुमशक्तामूत् । वक्तव्यावश्यकता तु विचार्य सखीमुख परयन्ती
 चामुत्तर दातु प्रेरयामासेव । नेत्रमभिमुखीकृत्य नेत्रस्यानञ्जनस्य सखी प्रति द्योतयन्ती
 'अनञ्जनस्यकारणीमूता यथा स्वया वेदयितव्या' इति शक्तिवती । सखी नित्य
 पार्श्वस्थितिशीनेति तस्या हृदय विजानाति, सा सर्वं वक्तु क्षमेति ताञ्गीत्यार्यो
 णिनिर्यनक्ति ।

५२.

पार्वत्या दृष्टिपातेन प्रेरिता सखी ब्रह्मचारिण प्रयुक्तवती । साधो ! स्वकीयार्ध-
 तप-प्रदानोद्यमेन परोपकृतिपरायणता तव प्रकटीकृता, पर नैवमस्मत्स्यया भभी
 षित साध्यमस्ति, अतिदुष्पाप तत् । यथापि स्वादृशस्य कौतूहलनिवृत्ति कर्तव्यैवति
 कथयामि । यस्मै प्रयोजनाय तपस्यन्तीयमस्मत्सखी मुकुमारस्तरमिदं शरीरमति
 कठिने शीतातपन्तुदादिसहनसाहसे तथा योचितवती, यथा कश्चित् कमन्मातपनिवा
 रणार्थं योचयेत्-तत्प्रयोजनं ते वन्मि ।

५३.

प्रयोजनमाह सखी 'वरार्थमेवास्यास्तपश्चरणम्' । वरास्तु इन्द्रादयो यद्यपि
 मुल्भा, उत्कृष्टा च तेषा दिगोशस्वधीरिति अयासां प्रार्थनीया अपि ते, तथा
 यभिमानवनीयमिन्द्राणीप्रभृतिभ्य उत्कर्षमिच्छन्ती न तानाद्रियते । य तु सर्वेभ्य
 उत्कृष्ट विनाकधारिणमिय पतिस्त्वेनाप्नुमिच्छति, स न सौ-दर्येण वशीकर्तुं शक्य —
 यतस्तेनास्या समञ्जमेव स्वय धनुर्धर कामो निपहीत । तस्मात्तपश्चरणमेव
 तत्प्राप्तुषाय इति निश्चितम् । विनाकपाणिमिति पद वीरतामावेदयदभिलाषयोग्यतां
 तत्र व्यनक्ति । मानिनीना वीरकामनाया स्वभावसिद्धत्वात् ।

५४

कामेन यदा बाण शिवं वशीकर्तुं विवृष्ट, तदा शिवेन कामो दग्ध, बाणश्च
 तस्य हुङ्कारेण निवर्तित । मृतस्यापि कामस्य स बाण शिवानुगतहृदयामिमो
 पार्वतीमन्त्रां मत्वातितरां हृदये पीडयति स्म ।

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो ! तव चेस्तुद्दहम् ।
 यदर्धमम्भोजमिवोष्णचारण कृत तप साधनमेतया षण् ॥ ५२ ॥
 इयं महेन्द्रप्रभृतीनाधिधियश्चतर्दिगोशानवमस्य मानिनी ।
 अरूपदार्थ्यं मदनस्य निप्रदात् पिनाकपाणि पतिमाप्नुमिच्छति ॥ ५३ ॥
 अस्मद्हुङ्कारनिवर्तित पुरा पुराऽरेमप्राप्तमुल्ल शिलीमुख ।
 इमा हृदि व्यापतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वन ॥ ५४ ॥

५५.

कामवाणेन यदा हृदि निद्रा, तत एवारम्य मदनकृतस्नापोऽस्या परा वृद्धि गत । येन हिमालये प हिमशिलास्वपि लुठन्त्या न तापघान्तिरभूत् । तापघान्तये च यच्च दनमिय सर्वस्मिन् ललाटे लिम्पति स्म, तत् क्षणादेव शुष्क ललाटाद्विरिष्य लुठरया अस्या विकीर्णोत्तलकान् धूसरयति स्म । 'पितुर्गृहे' इत्युक्तया हिमालयेऽपि एव ताप इति तापोरुद्धौ व्यञ्जितः, इति विवरणकार । 'पितुर्गृहे' विरहतापस्या त्यन्तगोपनाहंस्वपि ताप एव प्रकरोऽभूद्-इत्युक्तता व्यज्यत इति तु व्यम् ।

५६

इय हि शिवेऽनुरक्ता शिवकीर्तनभक्ताभ्यसनाद्धनान्ते गच्छति स्म । तत्र च यदा किन्नरकन्यका शिवचरित गातुमारभन्ते स्म, तदा तामि सह गातुमुपक्रम माणापीय शिवस्मरणोद्बोधितविरहजनितेन कश्चिद्भद्रदस्त्रेण स्पष्ट पदा युच्चारयित्वा मञ्जुवनी तथा वैकल्य प्राप्नोति स्म, यथास्या दद्या इष्टा सखीमूतास्ता किन्नर राजकन्यका अपि रुदन्ति स्म ।

५७

निशास्वनया निद्रा न लभ्यते स्म । रात्रेर्भागद्वय विनिद्रमेव गमयित्वा तृतीय-मागे कथञ्चिन्नेत्रनिमीलनमात्र निद्राभास प्राप्नोत् । तत्र चाल्पतमनिद्राया कथ चिञ्जागरणम्, कथचिच्च स्वप्न इति स्वप्नजागरयो रुद्ध दद्यायां स्वप्ने शिव इष्टा तमुपगूहमाना जागरप्रत्यक्षवद् बाहू प्रसारयन्ती, त च तत्रापि पलायमानं दृष्ट्वा "नीलकण्ठ (विप्रमधुरोनापि ऋद्ध-दु खहरोऽसि, विमिति मा दु लयसि) क भ्रमसि" इति ब्रुवती पलायनजनितात् प्राणाञ्जागर्ति स्म । जागरिता चापश्यत्, यन्मम वासपि निर्निषया, सर्वोष्यस्य शिवस्यासत्रिघानात् । बाहू चापि परिरम्भाय मुञ्चुक्ती कन्यनामात्रनिर्मित एव ऋठे सखी, न तु वास्तव इति ।

५८

स्वप्न चित्र-सादृश्यदर्शनानि विरहिणा विनोदस्यानानि, तत्र स्वप्नदर्शनेना

तदा प्रमृत्सुन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाच-दनधूसराऽऽका ।
 न चातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तृपारसङ्घातशिक्षातलेश्वपि ॥ ५५ ॥
 उपात्तवर्णं चरिते विनाकिन सनाथरङ्गस्वल्पितै पदैरियम् ।
 अनेकरा किन्नरराजकन्यका वनाऽऽतसज्जीतसखीगरोदयत् ॥ ५६ ॥
 त्रिमागशेषामु निशासु च क्षणं निमीलय नेत्रे सहसा म्बुद्भयन ।
 क नीलकण्ठ ! भ्रमसीत्यलक्ष्यजागरकन्याऽर्चितबाहुवचना ॥ ५७ ॥
 यदा पुत्रे सर्वगतस्त-मुच्यसे न वेसि भावस्यमिम कथ जनम् ।
 इति स्वहस्तोल्लिखितम् मुग्धया रइत्युपालम्पत चन्द्रशेखर ॥ ५८ ॥

तुतिरुक्ता । चित्रदर्शनमप्युच्यते—‘इयं पार्वती कथञ्चिद्विठवरूपं द्रष्टुमुत्कण्ठिता स्वहस्तेनैव शिर्षं चित्रे लिखति स्म । तद्दर्शानोद्बुद्धविरहविमुग्धा च ‘चित्रमिदम्’ इति विस्मरन्ती प्रत्यञ्जवत्तमुपालभते स्म—यत् ‘पण्डितैः सर्वान्तर्यामितया उपदिश्यमानोऽपि कथं भदनुरागं न वेत्ति । जानानोऽप्युपेक्षसे—इत्याहो ते निर्दयता !’ इति । अथ चास्या व्यापारो लज्जयैकान्ते प्रवृत्तोऽपि सखीभिः कथञ्चिद् दृष्ट इति ।

५९.

अति तीव्रविरहेण संतप्तया उपायं विवेचयन्त्याऽनया यदान्य उपायो न दृष्टस्तदा पितुराज्ञां गृहीत्वा तप कर्तुमियमत्रागता । स्त्रिया एकाकिन्या निवास-स्थानुचितत्वाद्वयमेतत्स्वरूप एतया सहैवात्रागता । जगत्पतिर्हि भगवान् शङ्कणे न तपोऽतिरिक्तोपायसाध्यः स्यात् ।

६०.

तपस्यन्त्या अस्माकं सख्या. पार्वत्या इयान् समयो व्यतीतः, यदनयाऽत्राग-तया स्वहस्तेन उत्तरीजाः सिक्काभ्र वृक्षा अपि फलवन्तो जाताः, किन्तु अस्या मनोरमबीजमद्यापि बीजावस्थमेव, न बीजाङ्गुरोत्पत्तिकालिन्धी उन्मूलनावस्थापि तत्र दृश्यते । सिद्धे किमपि लक्षणमद्यावधि न दृष्टमिति ।

६१.

सखी वक्ति—‘वर्णिन्’ ! यस्त्वयोक्तम्, कं प्रार्थितदुर्लभो भविष्यति’ इति स एष प्रार्थितदुर्लभः शिवः, तदर्थमेव तपस्यन्तीयमोदशीं दशां गता, यास्यस्यो वयमेतस्या दशा विचार्य निरन्तरमभूणि मुञ्चामः अभूणामन्तराले च कथञ्चिदेतस्या दशां प्रेक्षामहे । वृष्टिप्रतिबन्धेन यथा लज्जलक्षता भूमिः शोच्या भवेत्, तथेय-मस्माकं शोच्या, (स्वयं त्वयं न शोचति, वयमेवैतदर्थं विषण्णाः, कृषकाः भूम्यर्थमिव) यथेन्द्रस्तप्तायां भुवि कृपां कृत्वा वर्षति, तथा कदा भू देवः कृपां परिष्पतीति न ज्ञायते :

यदा च तस्याऽधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।

तदा सहाऽस्माभिरनुजया गुणोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥

दुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपसाशिशु दृष्टमेष्वपि ॥

न च प्ररोहादिमुन्मूलोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्या शशिनौलिसभयः ॥ ६० ॥

न वेद्यं स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरसौत्तरमीक्षितामिमाम् ।

तप कृशाम्मुषपरस्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहधताम् ॥ ६१ ॥

६२.

पार्वतीप्रेरितया हृदत भाव ज्ञाननया सख्या सर्वे यथार्थमावेदितम् । तच्च
 भक्त्वा भगवत शिष्यस्य हर्षं उत्पन्न, पर स्वरूप गोपयितुं न हर्षचिह्नानि रोमोद्ग
 मादीनि तेन प्रकृतानि । प्रत्युत विपरीत पार्वती प्रति एव पृष्ठम् 'अयि पार्वति ।
 स्वश्लो सत्य ब्रवीति, उत श्लीमावात्परिहास करोति" इति । स्वय पार्वतीमुखादा-
 कर्णयितुमग्रे विपक्षीभूय परीक्षितु सेय कपटरचना ।

६३.

आवश्यक वर्णिप्रश्नस्य तद्गौरवरक्षणायोत्तरणम्, लज्जा च निरुणद्धि,
 हस्यसामञ्जस्ये चिर रियत्वा पार्वती, अन्तत कथञ्चिदतिसन्नेपेणोत्तरदाने प्रवृत्ता ।
 सा जप कुर्वाणाधीत्, जपमध्ये चानुचित भाषणमिति जपविरामाय स्फटिकनिर्मिता
 जपमाला तया हस्ताग्रभागे निश्चलीकृत्य स्थापिता । जपकाले च मध्यमामध्यमागे
 घृताया मालाया अङ्गुष्ठेन चालनम्, तर्जनी च पृथग् विवृता स्थाप्यत इति
 अङ्गुलयो विवृता भवन्ति, जपविरामे सकीच्य ता मुकुलीकृता ।

६४.

वर्णिना यत् 'किं परिहासोऽयम्' इति पृष्ठम्—तत्र पार्वत्या एव बुद्धिबद्धमुद्
 यन्त्रिपरतीक्ष्य दुष्प्राप मत्वायमेवाहेति । तदनुसारेणैत्रोत्तरयति सा 'वेदविद्वर !
 त्वया श्लीमुखाच्छ्रुत यथार्थमेव, तादृशदुष्प्रापोन्नतस्यानप्राप्तौ मदमिलापो वर्तते
 एव । इदं चातितुच्छ तपोऽह तत्प्राप्तिसाधन वृथैव मन्ये इति वालिशता मे ।
 तथापि किं करवाणि, मनोरथा समीक्ष्य न प्रवर्तन्ते—इति मनोरथस्यैवाय
 दोषो न ममेति ।

६५

पार्वतीमुखात्कपटरदुना शिबेन स्वानुरागो यत्रपि भ्रुत, तथापि मूयोऽपि
 दादर्थपरीक्षार्थम् 'क्रुद्धसुप्तमत्ताना भावज्ञानम्' इति नीतिवचनात् क्रोधदशायां
 मुख्यमावपरीक्षाया सौलभ्य पश्यन् क्रोधदशाया जातिमधुरान् पार्वतीमुखविकारान्

अगूढघड्गावमितीङ्गतशया निवेदितो नैष्ठिकसु-दरस्तथा ।

अधीदमेव परिहास इष्टुमामपृच्छद्व्यञ्जितहर्षलक्षण ॥ ६२ ॥

अथाऽयहस्तेमुकुलीकृताऽङ्गुली समर्पयन्तीस्फटिकाऽक्षमालिकाम् ।

कथञ्चिदत्रेस्तनया मितालर चिरयन्स्थापितवागभाषत ॥ ६३ ॥

यथा भ्रुत वेदविदां वर ! त्वया जनोऽयमुच्चै पदलङ्घनोत्सुक ।

तप किलद तदवाप्तिसाधन मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥

अथाऽऽह वर्णा विदितो महेश्वरस्तदर्पिणी त्वं पुनरेव वर्तसे ।

अमङ्गलाग्रासरति विचिन्त्य त तवाऽनुवृत्तिं न च कर्तुंमुत्सहे ॥ ६५ ॥

द्रष्टुकामस्तां क्षोपयितुं एवं (शिवं) निन्दितुमुपचक्रमे । यद्यपि मया पूर्वम्
अर्द्धतप प्रदानं तुभ्यं प्रतिश्रुतम्, परमिममयोग्याभिनिवेशं ते विलोक्य वाङ्-
मात्रेणापि तवानुवर्तनमनुमतिरूपं न कर्तुं शक्नोमि, दूरे तु तप प्रदानम् ।
स्पृश्यन्त्यत् ।

६६.

पूर्वमुक्तममङ्गलाम्बासु प्रपञ्चयति—अग्रे निर्वाहस्तु दूरे आस्ताम्, विवाहकाल
एव पाणिप्रदणसमये यदा शिवस्तु धृतमङ्गलसूत्रं पाणिं स्वकरेण ग्रहीष्यति, तदा
तरकरे सर्पं भूषणत्वेन स्थितं दृष्ट्वा भीत्या एव करो निवर्तिष्यत इति पाणिप्रदणमेव न
सम्भवेत् । क्व एवं कृतविवाहमङ्गलवेधा सुकुमारतरा बाला, क्व च सर्पभूषणं शिव
इति वैषम्यमत्र प्रकथितम् । तत्प्रथमावल्ग्वनपदेन च विशेषेणासहस्यमुक्तम् । अग्रे
अम्बासातरस्तत्करस्पर्शं सहेतापि, प्रथममेव तु कथं सहेत इति ।

६७.

हे गौरि ! अन्यस्य कस्यचित्कथनमुपदेशो वा दूरे आस्ताम्, नास्ति तस्या-
वश्यकता, स्वमेव स्वयं विचारय । विवाहकाले ग्रन्थिवन्धो यदा स्वात् तदा स्वदा
धृतं तादृशं महाहं पट्टवल्लम्—यत्र गोरोचनया प्रान्तभागे हसद्वयं लिखितं स्यात्,
महादेवेन च धृतं नवं गजाजिनं यस्मान्नवतया शोणितविन्दवः क्षरन्तः स्युः, तयोः
परस्परं ग्रन्थिं क्रियेत् । किमिदं घटना समुचिता स्यात् ? किं तयोर्योगं शोभेत् ?
आस्तां तत्र शिवस्य च योगी औचित्यविचारं युवाभ्याम् परिहितयोर्वस्त्रयोरेव
योगो न तावद् घटते इति ।

६८.

अनन्तरं च यदा एवं भर्तृपदे गमिष्यसि, तदा शिवस्य इमं शानवाकित्वात्तवापि
मर्णा सह इमं शान एव स्थितिर्भविष्यति । ततश्च यथेस्तव पादयोः पितृपदे मङ्गल-
मयेषु पदेषु विकीर्णपुष्पेषु सञ्चारणम्, तस्यैव च तौ समुचितौ, तयोर्निस्ततः
प्रसिद्धशक्येशासु इमं शानभूषितुं सञ्चारो भविष्यति । तत्रैव च पादन्यस्तालककर-
सगर्भाणि पदचिह्नानि ते लक्ष्येरन् । तत्र शत्रुरपि (यो निन्दितोऽपि स्यात्,
सोऽपि) घटनाभिमा नानुशातुमर्हति, कथं तु माहसो बन्धुरनुजानीयात् ।

अस्तुनिर्वन्धपरे । कथं तु ते करोऽयमावुक्तविवाहकौतुकम् ।

करेण शम्भोर्वलयीकृताऽदिना सद्भिष्यते तत्प्रथमाऽवलम्बनम् ॥ ६६ ॥

स्वमेव तात्पर्यविचिन्त्य स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।

शूद्रकुलं कलहसलक्षणं गजाऽजिनं शोणितविन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥

चतुष्कपुष्पप्रकराऽवकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवाऽनुमन्यते ।

अलककाऽङ्गानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥

६९.

यदा समागमनकाले महादेवस्यामालिङ्गिष्यति, तदा तद्वक्षसि स्थितम् (तदेव तत्र मुलम नान्यस्किमपि चन्दनादिकम्) चिताभस्मरूपमनुलेपन तवाप्य-
स्मिन्त्रिलोकोत्तीन्दर्यनिधाने कुचद्वन्द्वलर्ग्नं स्यात् । यस्मिन् स्तनद्वन्द्वे चन्दनबुद्धु-
मादीनां त्रिनेपनमुचितम्, तत्र तादृशस्यामङ्गलस्य पदार्यस्य सस्पर्श इति, इत पर
किं कस्यनुचित सम्मान्यते ।

७०

भास्वी शि-पृङ्गमने सति पूर्वोक्त दमशानवासमस्मसर्गयो प्रसङ्ग, तत
पूर्वमेवैक वक्तु मया रिस्नुतम्, यन्त्रिवस्य ना-यानि बाहनानि सन्ति, विवाहोत्तरं
स स्वीय वृद्धं वृषभमारोप्य स्वां नेष्यति । या परममुन्दरी राजकुमारी स्वमुकुक
रिणीमारोडु योग्या, सा वृषभारूढेति व्यतिकर्म इष्टा लोकानामाभ्यर्चनवशा च
स्यात्, तेन ते हसिष्यन्ति, स्य तव विदम्बना प्रसज्येत । वारणराजेति राजपदम्,
वृद्धेऽसुधविशेषणं चात्यन्तवैलक्षण्यबोधनाय । वृद्धो वृषो द्राम्यामारूढो न जाने
कदा प्राणान् ब्रह्मात्, तदा पादचारस्यैव प्रसङ्ग स्याद् इति चाकृतम् ।

७१.

अतिप्रशस्तकान्ति मुकुमारतरा चन्द्रकलैव पूर्वं कपालधारिणो भूतेशस्य
शिरोगतस्त्वेन शोचनीयाऽभूत् । इदानीन्दु स्वमपि तस्मागमार्थिनीति अगति इयं
शोचनीयता प्रातम्, अपकृष्णभित् क्षुत्तम वस्तु शो-र्यं भवतीति ।

७२.

‘कन्या कामयते रूप माता वित्त पिता भुवम् । बान्धवा कुलमिच्छन्ति
मिष्टान्नमितरे जना’ इति नीत्युक्तदिशा रूप धन, विद्या, कुल चेति चतुष्टय
परीक्ष्य वरा विवाहार्थं नियन्ते । पार्वति ! त्वया वरीतुमिष्टे त्रिलोचने तु एष्वेकमपि
नास्ति, कुतश्चतुष्टय स्यात् । तस्य नामैव विरूपाक्ष -तेन शौ-र्यं दूरे निरस्तम् ।

अयुक्तरूपं किमत पर वद त्रिनेत्रवक्ष मुजर्म तवाऽपि यत् ।

स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पद चिताभस्मरत्र करिष्यति ॥ ६९ ॥

इय च तेऽया पुरतो विदम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।

त्रिलोचन वृद्धोक्षमधिष्ठित त्वया महाजन स्मेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥

इय गत सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया क्षपाञ्चि ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्वमस्य लोकर्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥

वपुर्विरूपाऽक्षमक्षयज-मता दिगम्बरस्त्वेन निवेदित वसु ।

वरेषु यद् बालमृगाऽक्षि । मृगयते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥

(एवं तु बाल्यमृगाक्षी, स च त्रिरुपाक्षः इति कुत्र द्वयोरनुरूपता) कुत्र कदा वरनाम्नातोऽपिमिति न केनापि निश्चयत । यस्य रिताप्यविदितः, तस्य कुन्सम्बन्धे किमु वक्ष्यम् । उत्पत्तिकालज्ञानाभावेनातिघृष्टत्वं सूचितं भवति, तदपि वर-
विद्धम् । उत्पत्तिदेशकुल्योरज्ञाने च विद्यापि कथं समवेत् । प्रशस्त्याभिज्ञानाः
प्रशस्तमुखा एव च विद्वांसो दृश्यन्ते । धनस्य तु इयमवस्था, यदाञ्जदनार्थं
वक्रमणि नास्ति, अत एव दिगम्बर इत्युच्यते । 'त्रिलोचने' इत्युक्त्या च लक्षण-
हीनत्वं सूचितम्, 'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः' इति शानुद्रिकोक्तेः । ततश्च
कृपणीदृशेन भवाद्दृश्याः सम्बन्धो योग्यः स्यात् ।

७३.

मम युक्तिदुक्तानि वाक्यानि विचार्य, अज्ञानात्परिणाममन्तरा योऽभिला-
षत्स्या कृतस्त परिश्रम । दृष्टान्तेनानौचित्यं प्रकाशयन्नाह—यया इमंज्ञाननिष्ठाते
व्यप्यष्टौ वैदिकसक्तियासम्बन्धो न धटते, तथा शिवेऽपि तव सम्बन्धो न धटत
एव । वैदिकी सक्तिया यया अगौदिकी, तथा स्वमप्यलौकिकीति तदप्रशंसायां
तात्पर्यम् ।

७४.

ब्राह्मणमुखादेवं शिवनिन्दां भूत्वा पार्वत्याः कोप उदभूत् । तेन तस्या अघरोष्ठः
कम्पमान आसीत्, नेत्रे च प्रान्तभागे रक्ततां गते । अथ सा तन्मुखाद् दृष्टिं
परान्तर्षं कुटिलं भ्रुवं कृत्वा पार्श्वभागे दृष्टिं निक्षेप । कोपावशयोर्लक्षणाभ्यामिहि-
तानि । 'द्विजाती' पदेन तस्य शापाद्ययोग्यता प्रतिपादिता । यद्यन्योऽभविष्यत्,
पार्वती तीव्रदृष्टिरेण तं मस्मसादकरिष्यत् । परं ब्राह्मणे न योग्यो निग्रह इति
दृष्टिं तिर्यक् क्षिप्त्वावशैव कृता ।

७५.

कोपचिदप्रकृतनानन्तरं पार्वती भुतायाः शिवनिन्दायाः, पान्तरिहाराय
परिहारोऽवश्यं वक्तव्यः इति विचिन्त्य ब्रह्मचारिणं प्रत्युत्तरं वक्तुमारमत । (तेन
च कपटवयोः रसिकशिरोमणेः शिस्तस्य न केनलं कोपाक्रान्ततन्मुखादर्शनेन
चक्षुषोरेव लामः, अपि तु स्वानुरागवचनभवनेन भोत्राप्यायनमपीति सनुच्चयेन

निन्तंयाऽस्नादसदीप्तितात्मनः क्व तद्विषसर्वं क्व च पुष्पलक्षणा ।

अदृश्यते साधुजनेन वैदिकी इमंज्ञानशून्यस्य न मूरसक्तिया ॥ ७३ ॥

इति द्विजाती प्रतिक्लृवादिनि प्रवेयमानाऽधरलक्ष्यकोपया ।

विदुक्षितभ्रूल्लमाहिते तथा त्रिलोचने त्रिगुणान्तलोहिते ॥ ७४ ॥

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेतिव नूनं मत एवनात्य माम् ।

अलोद्वामान्यमचिन्त्यहेदुक्कं द्विपन्ति मन्दाधरितं महारमनाम् ॥ ७५ ॥

स्वितम्) । तदुत्तरय क्रमेण सत्त्वेण परिहार पावश्या वक्तव्य । अत्र 'विदितो महेश्वर' इति तदुक्तिरेव प्रथम निराक्रियते, यत् एव 'महेश्वर न जानासि' इति तदुक्त्या नि-दयेकानुमीयते । अलौकिका हि महारत्नानो न लोकसाधारणमाचरति, तेषां च विलक्षणाचारे को हेतुरित्यपि सर्वेन शायते । तत्र एवाशाना मूढास्तश्चरितानि दूषयितुं प्रवर्तन्ते । तन्माहात्म्यविशारदु भविष्यति कश्चिदत्र हेतुरिति अनुष्यन्ति । १७ नि-दायां प्रवृत्त, तस्मात् जानासीत्येव स्पष्टमनुमीयत इति ।

७६

“अमङ्गलाम्यासरतिम्” इति विप्रोक्त दूषण परिहरति यदापन्निकारणाय तुमप्राप्तये वा लोकानां मङ्गले प्रवृत्तिर्भवति । यस्य तु नापरशम्भावना, न वा तुमाप्र-प्यमिलय (षगन्तरण्यश्चेति आपरशम्भवाभाव उक्त, निराक्षिप इत्याप्तकामरशादमिलयाभाव) तेन किमिति मङ्गल सेव्यम्, स मङ्गलमयस्यतु, अमङ्गल वा, कस्तस्य विशेष इति । एतेन पूर्वोक्तो लोकसामान्याभाव समर्थित । तथा च तादृशो निरापप्राप्तसर्वकामश्च युक्तो ममाभिलषणीयो वर इत्युक्तं भवति ।

७७

न केवल त्वमेव शिव न जानासि, अपि तु लोके केऽपि विद्वोष शिदस्य तत्त्वं शानु न प्रभवन्ति । अश्वेय हि तत्स्वरूपम् 'विशातार वा अरे केन विजा नीयात्' इत्याद्यामि भ्रुतिभिर्निरूपितम् । सर्वे च परस्परं विवद्वा अपि धर्मा निधर्मके तस्मिन् मायया समारोपिता, तदुक्तं भगवता श्वासेन 'सर्वधर्मोत्पत्तेश्च' (वे० सू०) इति । ततश्च विरुद्धधर्माभय क कथं शानु प्रमवेत् । तदेवाथ प्रपञ्चितम्—यस्वयं स भवतु नामाकिञ्चनो वज्रविभूषणोत्तमत्राहनादिरहित, तथापि सर्वां सपदस्तत एवेन्द्रादिभिः प्राप्यन्ते । 'सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भू प्रणिदिताम्, न हि स्वात्माराम विषयमृगतृष्णा भ्रमयति' इति भगवत पुण्यदन्त स्योक्तिरनेनानुगता वेदितव्या । तथैव भवतु नाम दमश्चानवासी, तथापि लोकत्रयस्य शास्ता, इमश्चानस्मियापि न लोकशासने किमपि हीयते । अस्तु नाम स भुज्जग भूषण इति भीमरूप, तथापि लोकास्त 'शिव' इत्येव व्यवहरन्ति । न हि तदनुगता भुज्जगा अपि भीषणतां भजन् इति । एतेन 'भवस्तुनिर्वाचपरे' 'दिगम्बरसेवेन निवेदित वतु' इत्यादि परिहृतम् । यद्वा वस्तुनोऽकिञ्चन—सर्वधर्मरहित, माया विधिस्तु सपदाम्—सर्वरूपाणां प्रभव, वस्तुतः पितृहन्नि—सर्वलोकान्तक्रे

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गल निषेव्यते भूतिषसुरासुकेन वा ।

जगन्तरण्यस्य निराक्षिप सतः किमेभिराशोयहतःऽऽस्तमवृत्तिभिः ॥ ७६ ॥

अकिञ्चन सन् प्रभव स सम्पदां लोकायाः पितृहन्निगोचर ।

स भीमरूप शिव इत्युदीर्यते न सति याथाऽर्थविद पितृहन्नि ॥ ७७ ॥

अप्याने, सर्वस्यापि हृद्यमानस्याभावे तुरीयावस्थायी विराजमान, मायया तु लोकेष्वयमुत्पाद्य तदीश्वरोऽपि, मायया सर्वं जगत्सृजद् मयप्रद इति भीम, वस्तुस्तु शिव एव, 'शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते' इति प्रतिपादित । एव माया विरहितस्य, मायाशबलस्य चेति रूपद्वयस्य कीर्तनेन सर्वप्रविरोधेनोपपादितम् । एवविध महेश्वरो यो ज्ञातुमपि लोकेर्न शक्यते, स यदि पतिभावेन तेदितुं लभ्यते, तदा किमु वच्छव्य, सौभाग्यमिति । पिनाकिन इत्युक्त्या पिनाकधारितया सर्वेऽपि तस्माद्भविष्यति, तस्मात् पृथु पि तस्वरूपं ज्ञातुं न शक्यत इति व्यञ्जितम् ।

७८.

वर्णिम् । ये तस्या सर्पगजाजिनादिधारणाङ्गवैरूप्यादयो दोषा भगवति शिवे प्रतिपादिता, ते अज्ञानहेतुका एव । निर्गुणस्य निराकारस्य भगवतो वास्तव आकार एव न भवतीति कथं कश्चित्तस्य मूर्तिमवधारयेत् । मायया तु स भगवान् विश्वमूर्ति, सर्वं जगत्स्यैव रूपम् । ततश्च जगद्रूपेण स्थितस्य कथमेकरूपेण परिच्छेद संभवेत् । यानि रूपाणि, यानि वा भूषणदीनि जगत्सुपलभ्यन्ते, सर्वाणि तानि तस्यैव । यदि अङ्गेषु सर्पवन्धनम्, गजाजिनपरिधानम्, कपालधारण वा तस्य लोकेऽप्यस्या निन्द्यन्ते, तर्हि विभूषणशोभितम्, दुकूलपरिधानम्, चन्द्रशेखरता चेति प्रशस्यतामपि । यदि स पिनदमोगी, तर्हि विभूषणोद्गाही कोऽप्य, तदपि रूप तस्यैवेति भाव । यद्वा एकेनैव रूपेणैश्वर्यशास्त्रविध स्वेच्छया स भवितुं मर्ति, न हि तस्य कारि परतन्त्रता, यतो विश्वमूर्ति स एवेति । 'पिनदमोगि' इति पिनदपद जगत्सुपद्रवकारिणा सर्पाणां स्वच्छेदवन्धन बोधयन्तीकृष्णापरता भगवती भयनञ्चि । ततश्च यस्तत्तद्रातूनां स्वीकारो दृश्यते, सोऽपि अगद्वितीयैव, न ह्यातकामस्य तस्य पदार्थापेक्षेति निगूढ बोधिनम् ।

७९.

यच्च 'अयुक्तरूप किमत परम्' इत्याद्युक्तम्—त्रोन्यते, अन्यत्र चित्तामरम अमङ्गमपवित्र च भवतु, शिवशरीरे धृत तु तदन्यस्यापि पवित्रतासनादक भवति । अत एव नृत्यकाले हस्तायङ्गन्यापारेण ये तस्य कणा भूमौ पतन्ति, तान् देवा स्तस्यां भूमौ पतिष्व शिरोभिर्घोरयन्ति । यदि तद्विगुहिकर न स्यात्, कुतो देवास्तद्धारणे प्रपतरन् ।

विभूषणोद्गाहि पिनदमोगि वा रजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।

कपालि वा स्यादयत्रेन्दुशेखर न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपु ॥ ७८ ॥

तदङ्गसर्गमवाप्य कल्पते भ्रुव चित्तामरमरजा विशुद्धये ।

तथाहि दृष्याऽभिनयक्रियाच्युत विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकशम् ॥ ७९ ॥

८०

वर्गिन् । शिवो वृषभमारुह्य गच्छतीति कल्पम्, किन्तु सर्वोत्तमनैराज्ञतमारुह्य गच्छन् (तव इष्ट्या परो महान्) इन्द्र, यदैव वृषमारुह्य त पश्यति, तदैव ऐरावतादवच्छ्रय, समीपमागम्य तस्य पादयो प्रामन्, स्वीयमुकुटस्थितानां मन्दार कुसुमानां रत्नोन्नितस्य पादाङ्गुली रञ्जयति । तथा च न तस्य वृषभरोहण वाहनान्तरामाप्या, अपि तु 'न हि स्वर्णमारुह्य विषयमृगवृष्ण भ्रमयति', इति शिक्षयित्तुमेव, वृषभारोहणेन च का तस्य क्षतिः, स वृषभारुहोऽपि अग्नीश्वर एव, इन्द्रादयश्च गच्छरुदा अपि तद्भूषा एव । तेन सह वृषभारोहण मदीय परं सीमागम्यम्, न तु 'इयं च तेषां पुरतो विद्यापना' इत्यादि स्वदुष्ट युक्तमिति ।

८१

वर्गिन् ! यद्यपि त्वं नष्टदुष्टित्वाद्भगवत शिष्यस्य दोषानेव वक्तुं प्रवृत्तः, तथापि तव हुद्देश्यित्वादेकं वाक्यं भगवतो महत्त्वप्रतिपादकं सम्पद्येव सन्तुष्या शिष्यत्वं, यत्त्वयोक्तम् 'अल्पान्मजा' इति, तत्तथैव, 'यो वै ज्ञास्य विदधाति पूर्वम्' इत्यादीनि भूतिवाक्यानि अगस्त्यारभारभ्युच्यन्ते ब्रह्माण्डोपर शङ्कर उवाच इत्येति निरूपयन्ति, तस्यैव अग्नीश्वरस्योक्तमिति को वा लक्ष्येत् । उत्पत्तिस्तस्य नित्यस्य नास्त्येव, लक्षिता क्व स्यादिति ।

८२.

वर्गिन् ! नाहं स्वयां विवादं कर्तुंमिच्छामि, अग्नीश्वरस्तु विवादे प्रेषावतान्, विशेषस्तर्कस्विनामप्रवृत्ते । त्वं तावदाग्रहपरो इत्यपते, अतो यथा तव शिष्यविषये शानम् तत् त्वं तस्यनेव मत्वा धारय । न त्वहं स्वद्वचनान्तिष्ठे विरुद्धा मविश्यामि, यतो मम मनो भगवति शिवे भक्त्या परमनुरक्तं सुरियरं वर्तते, दोषघटशनेऽपि न तन्व्यान्वितुं शक्यम् इति ।

८३

एवं वर्गिन प्रत्युक्त्वा पुनरोष्ठस्फुरणेन तस्य किमपि वक्तुंमिच्छामन्वयं

२६६मदस्तस्य वृषो गच्छत प्रमिन्नदिश्वारणवहनो वृषा ।
 कराति पादाङ्गुलस्य मौक्तिका विनिद्रमन्दाररजोऽङ्गाङ्गुली ॥ ८० ॥
 विच्छ्रया दोषनाप च्युत्पन्नता स्वैकमीश प्रति साधु भाषतम् ।
 दमामन्त्यात्मसुबोऽपि का म कथं स त्वयमभनो मविशति ॥ ८१ ॥
 अत्र विवादेन यथा भूतस्तथा तथाविशस्तान्दोषमस्तु स ।
 ममाऽत्र भावैरस्य मनं स्थितं न कामवृत्तवचनीयमीधते ॥ ८२ ॥
 निवार्यतामात्रि । किमप्ययं वदं पन्विच्छुं स्फुरितोत्तराऽधरं ।
 न क्वलं यो महतोऽभाषते भृगोर्नि तस्मादपि यं स पापमक् ॥ ८३ ॥

वादप्रतिवादावनिच्छती पर्वती सखी प्रथुवाच सखि ! अयं वट्ट पुन किमपि
वक्ष्यमिच्छतीत्यनुमीयते, सोऽयं वार्यनाम् । नाह भगवत शिवस्य निन्दां भुक्त्वा
पापपङ्कनिमग्ना भवितमिच्छामि इति ।

८४.

पार्वती पुनरुवाच 'चपलो वाचाल्श्राय वटुर्न विरस्यति, न वा निर्गमिष्यति,
तस्मादहमेवस्थानान्तरं गमिष्यामि ।

'शुरोयत्र परीत्रादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

वर्णा तत्र पिधातव्यौ गन्तव्य वा ततोऽन्यत ॥

इति स्मृत्या स्थानान्निर्गमस्य विहितत्वात् । इत्थं वदन्ती च सा उत्थाय
गन्तुमारेभे । वेगेनोत्तिष्ठन्त्यास्तस्या बलकलत्रस्तनप्रदेशात्प्रवृत्तममूत् । (तेन
शङ्करस्य स्तनदर्शनलालसापूर्तिरपि सूचिता) तमेव कोपेन निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा
शङ्करेण स्वयं रूपं प्रकणितम्, (वृषभश्चक्रत्वोक्त्या परिजनपरिच्छेदादिसान्निध्यमपि
सूचितमिति प्रकाशिकाकार आह) रिमतं च कृतम् (तेनोक्तस्य सर्वस्य परिहास
रूपता सूचिता) गच्छती च पार्वती वसने धृत्वा निवारिता ।

८५

अकरभात् प्रियतमस्य शिवस्य दर्शनेन सजाहर्षप्रेमजङ्घपरवशाया पार्वत्या
शरीरे वमं स्वेदं स्तम्भाया, सार्विकभावा प्रादुरभूवन् । स्तब्धा च सा वर्धनात्पूर्वं
गमनाय यथोद्धृतपदा आसीत्, तथैवावस्थिता न तररद तयामे निहितम्, न
च गमननिवृत्तिनिश्चयेन यथास्थानम् स्थापितम् । तत्रोपमाभिधीयते कविकुलगुणानु-
यया प्रवहन्त्या नद्या मार्गे कचिरनन्तं आपतेत्, सा च नदी पवतेन निबद्धाऽग्रे
गन्तुमशक्ता स्यात्, प्रवाहवशाच्च स्थातुमप्यशक्तेति तत्रैव भ्राम्येत्, तथैव पार्वत्या
स्थितिस्तदानीममुदिति ।

८६

स्तब्धा पार्वती त्रिलोक्य भगवता शङ्करेणोक्तम् 'सुन्दरि ! अद्यात्स्याह ते

इतो गमिष्याम्यथेति वादिनी चचाल बाला स्तनमिन्नवलकृता ।

स्वरूपनास्थाय च सा वृत्तिरिमं समालम्ब्ये वृषराजकतन ॥ ८४ ॥

त बोध्यं वेपथुमनी सरसाऽङ्गपङ्क्तिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्रहन्ती ।

मार्गाचलव्यतिकराऽऽङ्कुलिष्वेव विन्धु शैलाधिराजकतनया न ययौ न तस्यौ ॥ ८५ ॥

अथ प्रभृत्प्रवणताऽङ्गि । तथाऽरिम दास क्रीटस्तगोभिरिति वादिनि चन्द्रमौले ।

अहाय सा नियमञ्च वक्ष्यममुत्सर्जं नलेश फलेन हि पुनर्नवता विपक्षे ॥ ८६ ॥

दास इव संबृत्तोऽस्मि । यथा दासो द्रष्टेण क्रीयते तथाह स्वया तपसा क्रीतोऽस्मि,
इति । (मद्य प्रभृति-इति धारम्भावधिहृक्त, अवसानावधिरतु मोक्त इति
निरवधि दासत्व व्यञ्जितम्) एतदमीप्सित वचन श्रुत्वा पर हर्षं प्राप्ताया
पार्वत्या सर्वोऽपि तप क्लेशस्तदैव दूरीवभूव । यतो हि प्राप्ते फले उपाये षात
क्लेशो न द्रु लयति, प्रत्युत पूर्वदेव नवीनताम् (क्लेशप्राप्ते पूर्वमदरथाम्)
प्रापयतीति ।

इति कुमारसम्भवे पञ्चम सर्गं ।



किरातार्जुनीयस्य द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

महाभारतकथास्य महाकाव्यस्याधारः । किरातरूपधारिणा शिवेन सहास्रानस्य युद्धम्, तदनु ततोऽर्जुनस्य पराप्तिश्चात्र मुख्यं वर्गेनीयम् । किरातार्जुनावधि-
कुर्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयमिति काव्यनामश्रुत्भक्तिः । द्यूतनिबिन्नेन भ्रातृभिर्द्वौ-
पद्या च सर्ष वने निवसता ष्येष्टपाण्डवेन युधिष्ठिरेण दुर्योधनस्य राज्यशासननीति-
परिज्ञानाय गुप्तचररूपेण कश्चिद्दनेवरो राजधानीं प्रति प्रेषितः तेनागत्य दुर्योधनस्य
शासननीतिरतिप्रशंसा कृता । अथ युधिष्ठरेण तस्मिन् वृत्ते भ्रातृणा द्रौपद्याश्च
सविधे वसिते, द्रौपदी "क्रमेण प्रवलीभन्तः शत्रवः क्षीमन्वेव जेतव्याः, न
स्वेवमुपेक्षयाः" इति युधिष्ठिरमुत्तेजितवती । तदिदं प्रथम सर्गे गतम् । अनन्तरं
वृत्तमिदमुच्यते—

१.

भीमसेनो द्रौरुणा वचनं स्वमनोऽनुकूलं सारयुक्तं च ब्रुध्वा राशः प्रवृत्तये
रयमपि तत्समर्पनाय प्रवला युक्तीरालम्ब्य वक्तुमारंभे । बलप्रयोग एव विधेय
इत्येवार्थापि पथः । नृपमित्यनेन युधिष्ठिरो न कश्चिद्दीतरागः, अपि तु क्षत्रियवंशज
इति भवत्यस्य परामर्शस्य पात्रमिति द्योतितम् ।

२.

भीमो वक्ति, हे राजन् द्रौपद्याः क्षत्रियकुलाभिमानः प्रोज्ज्वलं जागर्ति,
अस्मात्तु च महास्तस्याः स्नेहः । ततश्च स्नेहपूर्वकं निदुर्गं स्वपक्ष परपक्षम्बन्धि
सर्वं विविन्न यत्तयोनवस्तम्, एतादृशं वचनं ब्रुहस्पतिरपि कदाचिदेव वक्तुं
शक्नुयात् । ततश्च क्लिपोक्तमपि शास्त्रानुसोधि, तत्रापि च द्वितानुबन्धि इदं वचनं
कं जनं न विस्मापयेत् । अस्याभ्यर्थरणमिदं वचनमिति वचनप्रशंसायां
तात्पर्यम् ।

विदितो भियया मनप्रियामप निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।

उपपत्तिमर्जुनाभयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।

अपि वागधिरस्य दुर्बलं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

३.

यथानिगम्भीरेऽपि नदीहृदादौ घटसाहाय्येन सर्वेऽपि प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, पर तत्रानुकूल्यङ्गनिर्माणं न सर्वे मुक्तरन् । तथैव नीतिशास्त्रमपि ग्रन्थानधीत्य सामान्येन व्याख्यातुं बोद्धुं च बहव शक्नुवन्ति, परन्तु प्राप्तेऽवसरे 'अत्रेदमित्य कार्यम्' इति कार्यमार्गनिदर्शने नीतिरहस्यज्ञोऽनुकूलं प्रवृत्ता मुक्तरां दुर्लभम् । इयं तु द्रौपदी कार्यमार्गं निपुणमुपन्यस्यति स्मेति यस्मत्त्वमस्ति विस्मयस्थानम् ।

४.

हे राजन् ! इदं द्रौपदीवाक्यं यद्यप्यल्पम्, युद्धोपोद्बलकृतया निरासाहाय्ये पुंसे भयङ्करं च, तथापि परिणामोऽस्य हृद्यं, सारवत्तार्यं च वाक्यमिदम् । अत एव प्रारम्भे रोगिणे दुःखदमपि उत्तरकाले नैरोग्यबलादिजनकम्, स्वल्पपरिमाणं मपि महाप्रभावशालिं रसायनाद्यौषधम् यथा सर्वैराद्रियते, तथा गुणशालिं गरीयो द्रौपदीवाक्यं ग्राह्यमेव ।

५.

हे राजन् ! इव गुणग्राही अस्मि, अत एव हृद्यमर्थं प्रतिपादयद् द्रौपदी वचनमिदं सर्वथा तत्रापि रुचिहरं भवितुं युक्तम्, समुच्चयार्थेनापिशब्देन 'अस्माकन्तु रुचिहरमस्त्येव, भवन्तोऽपि मत्वेत्' इति बोध्यते । भारतीयपदेन भरतवशात्सम्बन्धोऽपि व्यञ्जित इति चित्रमानु । गुणवदपीदं स्त्रियोक्तमिति नोपेक्षामर्हति । यतो गुणमात्रलोलुपा पण्डिता 'इदं केनोक्तमित्यादि' वक्तृविशेषज्ञानाय न यतन्ते । गुणमात्रं त्वाददते "बालादपि सुमायितम्" इति न्यायात् ।

६.

इदानीं भीम स्वयमुपालभते—हे राजन्, लोकसंस्थितहेतूनामान्वीक्षिकादीनां चतसृणामपि विद्यानां निपुणमध्ययनेनाधिगता या ते बुद्धिः सदसतो सम्पत्

विषमोऽपि विगाह्यते नयं कृततीर्थं पयसा मिवाशयम् ।
 स तु तत्र विशेषदुर्लभं समुपन्यस्यति कृत्यवत्तमं य ॥ ३ ॥
 परिणामसुखे गरीयसि व्ययकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
 भनिवीर्यवतीव मेरुजे बहुस्त्वपीयसि दृश्यते गुण ॥ ४ ॥
 इयमिष्टगुणाय रोचनां रुचिरार्थो भवतेऽपि मारती ।
 ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणशल्या वचने विपश्चित ॥ ५ ॥
 चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरुद्धिमगता ।
 कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावधीदति ॥ ६ ॥

विवेचन कर्तुमशक्त, अथ सा कुतो वैररीत्य प्राप्ता ! यथा पङ्के निमग्ना करिणी
आत्मानमुद्धर्तुमप्रभवन्ती निश्चेत् किंकर्तव्यनिमूदा च सती खियते, तथैव तव
बुद्धिरपि खिन्ना किंकर्तव्यनिमूदा तिष्ठति, कोऽत्र हेतु ! नैतादृशमपि युक्तमिति ।
नृपेतिर्बोधनेन मतिविरययो बोधित, एव नृरोऽसि, प्रजापालन तव धर्म, न तु
वने वासस्तरो वा, तद् विपर्ययेण एव धर्मं पश्यसीति । ततश्च पङ्कपतिता करिणी
यथा बलवत्तरेण करिणा शक्यत उद्धर्तुम्, तथा स्वमति बलमास्थाय समुदर,
बन्माभयेति तात्पर्यम् ।

७

हे राजन् ! राव्यवद्विष्टृतो निराभयस्त्वं दनाद्जनमग्नि । शत्रुभिरापादिता
मिषा गह्वणीया दशामनुभवसि, पर नासोद्धाराय मनाक् पौरुषमवलम्बसे । तेन
च सुरा अपि यत् पौरुष बह्वमन्यन्, तदेव महापुरुषेण स्वयोपेक्षमाण लोके
नष्टप्राय जातमित्यहो चरमा सीमा कस्य । 'यद्यदाचरति भष्टस्तत्तदेवेतरो जनः'
इति न्यायाद्बद्धदृष्टान्तेन सर्वेऽपि लोका पौरुषमुपेक्षयन्ते । तन पौरुषोपेक्षयो
लोके कष्टप्रवृत्तिश्च स्यादिति महाननर्थं यद्वा—शत्रुभिर्दुर्दशां गमितेऽपि स्वयि
अद्यपि देवा अपि पौरुषम् (उद्योगयोग्यताम्) सभावयन्ति, 'अस्ति राशि
पौरुषम्' तत्तु काले प्रकाशिष्यत' इति, पर सर्वयोदासीने स्वयि सा सभावनापीदानीं
नश्यति । ततश्च 'सभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते' इति न्यायेन तव
स्वदाभितानां च स्माक महत्कष्टस्थानम् ।

८.

दूरदर्शी नृपति शत्रोर्वृद्धमात्र दृष्ट्वा न तत्प्रतीकाराय यतते, नापि क्षीयमाण
इत्येवावलैव तमुपेक्षते । किन्तु शत्रोरभ्युदयो यद्यादौ महानपि दृष्ट, पर तदन्तो
यदि न शुभस्तर्हि समुपेक्षत एव, स्वयमेव सभाव्यमाने तद्विनाशे प्रयत्नस्य
व्यर्थत्वात्, किं च क्षीयमाणोऽपि शत्रुर्यदि परिमाणोऽभ्युदयोन्मुखस्तर्हि सभाव्यमानां
तदुन्नतिं प्रतिकर्तुं यतत एव, वृद्धिं प्राप्तस्य तु स्वदस्त्रापत्तेरिति । तथा च दुर्योधन
इत्येदानीमुदय, स च न दुरन्त, अपि तु दुरन्त एवानुमीयते, चरोरस्या तस्य
नीतिप्रवणताज्ञानात् । ततश्च न स उपेक्षामर्हति, अपि तु प्रतीकारमेवेति यतितव्य
मेवास्माभि प्रतीकाराय ।

विधुः किमत पर परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।

अवसीदति यस्मुरेति त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

द्विषतामुदय सुमेवसा शुद्धस्वन्तर सुमषण ।

न महानपि भूतिनिच्छता पल्लवमत् प्रवण परिक्षय ॥ ८ ॥

९.

नीतिकुशलो जनो यदा लक्षणैर्विचारयति—यत्रोर्हानि शीघ्रमाविनी महती च, स्वस्थ तु हानि कानिचिरेण सम्भाष्यते, साप्यल्पैव, तदा उदासीनो भवति, किमपि न विचेष्टते । दैवेनैव शत्रुपराम स्य सिद्धत्वात् । यदा तु विचारयति शत्रोर्हानिचिरेण कथञ्चिन्स्यात्, साप्यल्पैव, स्वस्थ तु हानि प्रत्युपस्थिता, प्रभूता च, तदा प्रतीकारे शक्तिं प्रवर्त्तते । अनया च नीत्या अस्माभिस्तदिति प्रतीकारे प्रवर्त्तितव्यमेव, यतोऽस्माक क्षय इमहानुपस्थितो वर्त्तते, शत्रोस्तु नेदानीं शीघ्र सम्भाष्यत इति ।

१०.

ये हि राजानो वृद्धिं गच्छन्तीमपि शत्रूणां शक्तिमुपेक्षत एव, न तत्र कमपि प्रतीकारमाचरन्ति, तेषां सपद शीघ्रमेव विनश्यन्ति । तत्र हेतुवत्प्रभते, एवविषयस्य पुरुषस्य समीपेऽवस्थित्या लोका स्त्रीणामिव सपदामपवादं करिष्यन्ति “इमा सपदोऽल्पे निवृष्टे पुरुषेऽनुरूपन्ते” इति । तदपवादमयादेव सपदोऽपवादप्रसारपूर्वमेवाशु ततोऽपसरन्ति ।

११.

यो नृप क्रोधदण्डादिभिः क्षीणोऽपि नैसर्गिकं शास्त्रं तेजो न जहाति, प्रतिबन्धकाश्च दूरीकृत्याभ्युदयाय सततं प्रयतते, तस्य लोका वशीभवन्ति । यथा शुक्लप्रतिपादं प्रादुर्भूतश्चन्द्रो यद्यपि क्षीणतमः, तथापि नैसर्गिकं प्रकाशस्तस्मिन् वर्त्तते एव, अर्द्धिभ्युश्च स, न हीदानीं क्षयस्तस्य सभावित, तस्मात्प्रजास्तं प्रणमन्त्येव, न तु क्षीणोऽयमिति तिरस्कुर्वन्ति । वयमपि यद्यपि क्षीणा, तथापि यदि तेज आश्रित्य यत्नपरा स्वाम्, तर्हि अवश्यं जना अस्मद्वशे भविष्यतीति ।

१२.

राजन् ! “प्रभुशक्तिहीना वयं किं करिष्यामः” इति मा भैषी, यतो हि प्रभुरस्य—क्रोधदण्डयोर्मूलं नीतिः, साप्युत्साहमपेक्षत इत्युत्साहमूलाः ।

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणथ्य चात्मन ।

क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुर्वते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अनुपालयतामुद्देश्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।

अपयान्त्यचिरान्महीभुजा जननिर्वादमयादव श्रिय ॥ १० ॥

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधत धाम शिवं समृद्धये ।

प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपन्नद्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

प्रभव सञ्जु क्रोधदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नय ।

स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुसृष्यते ॥ १२ ॥

नीतिशास्त्रेण हि मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि विविच्यन्ते । कार्यावसरे तु प्राप्ते विनोत्साहं
निरर्थिका नीतिः । यथा हि दैवप्राप्तिकूल्ये व्यर्था लोकस्य कृष्यादिक्रियेति ।
यद्यपि भोमो न दैववादी, तथापि दैववाद्गतो युधिष्ठिरस्य दमिमतेन पथैव बोधनीय
इति दैवं दृष्टान्ततया पृष्टीतम् । तत्तद्भोत्साहेन नयस्यापि मूलेन नयसाध्यौ
कोपदण्डानुत्पादयिष्येते ।

१३

ननु उत्साहे समाहितेऽपि नीतिपान्थनमन्तरेण विनिपातः संभाव्येत इति
युधिष्ठिरशङ्कामाह मीम । आरम्भाभिमानरक्षिणां घोराना स्वपुरुषार्थं एव
विनिपाताख्यमनर्थं निवर्तयति, न तु कस्यचिदन्यस्थापेक्षा । यथा कश्चिद्ब्रूतः
वृक्षपत्रं ताद्यारोहन् पदस्वलनञ्जनितपतनपरिहाराय किञ्चिञ्छालादिकमालम्बते,
तथोन्नतं स्थानमधिकतृप्तिमिच्छन् मनसो पौरुषमेवालम्बते—इति नीतिविदां
सिद्धान्तः ।

१४.

उत्साहपरकमवतः प्रशशा कृता, इदानीं तद्विहीनो निन्द्यते । यः परकमवान्
न भवति, त विविधानि व्यसनादिञ्छाणि परामवन्ति, शत्रवस्तं पीडयन्ति पाटञ्च-
रास्तद्राष्ट्रकोशादि विलुण्ठन्ति, सचिवास्तं वञ्चयन्तीत्यादि । विपद्रिराक्रान्तं च
राजानं दृष्ट्वा प्रकृतयोऽपि तस्मै करादिकं न प्रयच्छन्ति इति कोशहानिः, तत एव
च सैन्यहानिरपि । ततश्च न कोऽपि तमाद्रियते । सर्वैरनादृत्य कथं राजलक्ष्म्या
सेषेत । तस्माद्राजलक्ष्मीमिलिष्यता समाश्रयणीय एव विक्रमः ।

१५.

धना ह्याश्रीयमाणा उत्साहं तस्माभ्यमुद्योगं च मूल एव निहन्ति, ततश्च
तानाश्रितवन्नस्तमोरूपो निषाद एव वर्धते, हृदयेऽपि न तस्योन्नतेः संभावना,
राजलक्ष्मीश्च नियतं तनोऽपसरति । यथानुकूले नायकेऽनुरक्ता नायिका प्रसि-
कूलादुद्विजते, तथा संपदः पराक्रम एवानुरक्ता विषादादुद्विजन्त इति पराक्रमवि-
पादयो पुम्प्रेन समुद्रेः स्त्रीत्वेन च व्यञ्जत इति चित्रभानुराह ।

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुञ्चे पदमाहस्यनः ।
विनिरातनिवर्तनश्च मनमालम्बनमात्मरौषपम् ॥ १३ ॥
विपदोऽभियवन्नपविक्रमं रहस्यस्यापदुपेतमावतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगोयास्य पदं नृपभियः ॥ १४ ॥
तद्वलं प्रतिपद्यमुन्नतेरवलम्ब्य ध्यवसापदन्पताम् ।
निववन्ति पराक्रमाभया न विषादेन समं समुदयः ॥ १५ ॥

१६.

राजन् ! यदि तवायमभिप्रायो—यद् द्यूतनियतसमसादनन्तरं दुर्योधनो राव्यं दास्यत्येव, किं युद्धेन, तर्हि नैतत्सम्यक् पश्यसि । एतारती राज्यश्रिय स्वावत्ता कृत्वा शातास्वादो दुर्योधनो न विनो युद्धेन तां त्यक्ष्यति । तत्र हेतु चतुष्टयं विशेषैर्बनितम् । दुर्योधनो हि धृतराष्ट्रमुत, धृतराष्ट्रो जन्मान्योऽपि कथञ्चिद् भ्रातुराण्डित्य राज्यश्रियं बुभुज, न तस्याज, ततस्तासुतो दुर्योधनोऽविकलाङ्ग कथं त्यजेत् । किं च दुर्योधनेनारम्भादेव लाक्षाश्टदाह—विषाप्तभोजन—द्यूताया (जिह्वा.) कुत्सिता व्यापारा कृता, तेऽपि तथा कृता यथा ते प्रकटीमृता सर्वैर्ज्ञाता (तदर्थमेवाभिहित—पदोपादानम्) ततश्चैवविषं कुत्सितं कथं राज्यं त्यजेत् । किं च तेनोन्मुक्ता न धामान्या उपद, किन्तु नरेन्द्र उपद, ताश्च तेन निरम् आस्वादिता—सरसमुपमुक्ता । ततश्च स श्यनेदित्यसमाध्यमेत् ।

१७.

अथ यदि मन्येत—जनापवादभयाद्वा भीष्मादीनामनुरोधाद्वा दुर्योधनो राज्यं प्रत्यर्पयिष्यत्येवेति, तथापि नेतदुक्तं स्यात् । यतो राजन् त्वं नरनाथोऽसि, क्षत्रियवाङ्मनियैव प्रदृश तत्र शोभते, नरनाथत्वादन्येभ्यो ददत्स्त्वत्र शोभा, यदि त्वादृशाऽप परप्रसादेन स्वाधिकारं एहायात् तर्हि जगत्प्रसिद्धविष्णुमाणां तवानुचानामस्माकं वाङ्मूलस्य किं प्रयोजनं स्यात् । स्वस्थाधिकारोऽपि परनियोगेन, न काल परनियोगेन, अपितु शत्रुनियोगेन प्राप्यते, सोऽपि स्वया, राजसूयसंभवा, सोऽपि पुन अर्थात् पूर्वं लाक्षाश्टदाहकथञ्चित्पलाय्यापि धृतराष्ट्रादिप्रसादेनैव स्वाधिकारो लब्ध, तत एव अविश्वद्विस्तैरुत्तम स्वदत्तोऽधिकारोऽप्यदत्त, पुनरपि तत एव वाञ्छयते, अर्थं तस्मात्माकं पौरुषमिष्यत्र किमु वक्तव्यम् ।

१८.

राजन् ! यो हि स्वप्रावेण सर्वमपि जगदायेतुमिच्छति, स कदाचिदपि परैर्दत्तां समृद्धिं न कामयते, स्ववृत्तनैर्वाजितं भोक्तुमिच्छति, इदमेव च महत्कलङ्कणम्, परविण्डीयजीविनं कुतो महत्त्वं स्यात् । यथा हि वनराजं सिंहं स्वमहत्त्वं

अथ चेद्विषं प्रतीक्ष्यते कथमाभिहितं तस्मिन्नात्तना ।

धृतराष्ट्रमुतेन सुश्रवाभिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पद ॥ १६ ॥

द्विपता निहितं स्यात्पत्वा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।

जननाथ तवानुचमना कृतमाभिहितं वीर्यैर्भुजे ॥ १७ ॥

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिप करिभिर्नर्तयते स्वयं हतै ।

व्ययन्लज्जु तेनसा जगत् महानिच्छति मूर्तिमन्यत ॥ १८ ॥

रक्षति । स कदापि परालीढमामिध न भुङ्क्ते । स्वयमेव भोजनाय मासमुरादयति । तदपि न क्षुद्रान् पशून् अर्दयित्वा, अपि तु मदवर्षिणो गजेन्द्रान् स्वय इत्वा । तेनैव दृष्टान्तेन महद्भिर्वर्तितव्यम् ।

१९

राजन् । न च दुर्योधनालक्ष्मीमवाप्य कथमपि स्वया संतुष्टेन भवितव्यम्— यतो हि मनस्विना न लक्ष्मीप्राप्तिर्मुख्यमुद्देश्यम्, यशःप्राप्तिरेव तेषां प्रवृत्तेर्द्देश्य भवति । स्थिरतरस्य यशसश्चयनाय (समहाय) ते अस्थिरान् प्राणानपि सुख त्यजन्ति, किं पुनर्विशुद्धिलासचपलां राजलक्ष्मीम् । यशसपादनाय तेषां या प्रवृत्तिः, तस्यैव लक्ष्मीरपि विना यनांतर प्राप्यते इत्यन्यदेतत् तच्च यशो दुर्योधन प्रसादेन राज्यमवाप्य न लभ्यते, इत्यतो हीयेत । विजित्य राज्यप्राप्यैव क्षत्रियस्य यशो विद्योतत इति । ननु यशोऽरमाक जगति राजसूयादिभिर्विद्योतत एवति चेत्तत्रोक्तम् निचीषत इति । महति प्रासादे यथा इष्टकोपरि इष्टका भूयो भूयश्चीयन्ते, तथा मनस्विनो यशस उपरि यशश्चेतुमिच्छति, न तु यशसा परितुष्यतीति । द्विविधा लक्ष्मी—साम्राज्यलक्ष्मीर्नियतैका, तद्विकारभूता समये समये प्राप्यमाणा समृद्धिर्द्वितीया । न द्वितीयाया विशुद्धत्वासाम्यमशोक्तम्, साम्राज्यलक्ष्म्यास्तु विद्युत्साम्ये तेन गम्यम् ।

२०

गौके निस्तेजस परिभव प्रत्यक्ष दृश्यते, यत्प्रवृत्तन् पावको न केनापि स्पृश्यते तस्यैव परिणतिभूत भस्म तु पादेनाप्याक्रम्यते । तत एव परिभव साद्रुमशक्तनुदतो मनस्विनस्तेजोरक्षाप्रसङ्ग प्राणानपि त्यजन्ति, न तु तेज कदापि त्यजति । तस्मात्स्वयापि तेनोरथाथमेव यतितव्यम्, सा च पराक्रमसाध्येति पराक्रम एव मतिविधेया । भस्मनामि त बहुवचनेन यथा नि सारकिंशुकादिभस्म, तथा गुह्यतरलदिरादिभस्माप्याक्रम्यत एवति सारस्यापि निस्तेजस परिभवो द्योतितः, हिरण्यरेतसमिति तेजस्विन आराध्यमानस्य हिरण्यादिसमृद्धिदातृत्वमपि द्योतितमित्यादि ।

२१.

किं च राजन् । आस्तां प्रयोजनविचार महत्त स्वभावेनैव परस्योन्नतिं

अभिमानघनस्य रक्षरेःसुभि स्यास्तु यशश्चिचीषत ।

अचिराशुखिलासचञ्चला ननु लक्ष्मी पलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

उच्यते न हिरण्यरेतस चयमास्कन्दति भस्मना जन ।

अभिभूतिभयादसुतत सुखमुज्जन्ति न घाम मानिन ॥ २० ॥

किमपेक्ष्य फल पयोधरान् ध्वनत प्रार्थयते मृगाघन ।

प्रकृति खलु सा महीयस सहते नान्यसमुन्नति यथा ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा नोदाधीना भवन्ति, अपि तु ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतन्त एव । अन्यथा परस्याधिक्यो महीयस्त्वं तेषां सुतरां विद्वन्धेत् । नयमीर्ष्या, अपि तु स्वर्षा । परस्योन्नतिं दृष्ट्वा चेत्स्यमिष्वलन तस्य विनाशानुचिन्तनं च ईर्ष्या, ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतनं तु स्वर्षा । ईर्ष्या नीतिविन्निर्दोषपक्षे निक्षिप्यते, स्वर्षा तु गुणपक्षे । सोऽयमर्थो दृष्टान्तेन समर्प्यते—पनगर्जनं भ्रुत्वा शार्दूलं 'कोऽयं मदमे गच्छति' अभिभूय वशीकुर्यामेतन्म' इति शुद्धाया निष्क्रम्य साद्येव गच्छंस्तुतति चेति प्रसिद्धिः । तस्य खलु च प्रयोजनम्, किं तेन मेधादाच्छ्लेषम्, न हिमपि । प्रकृत्यैव स स्वस्य परोपेक्षथावन्ति न सहते । सोऽयमेव मनस्विना स्वभावे ।

२२.

पौरुषालम्बनं सत्यपि जयं स्वान्नादा न वति संशयस्तु त्वया न कार्यं, केदलं स्वया 'पौरुषम् करणीयम्' इति बुद्धिं कर्तव्या । तावन्मात्रेणैव शत्रवो हता इति निदिचत ज्ञेयम् । त्वानुस्थाहेनेव वयं प्रतिबद्धा एव, तत एव च शत्रवो जीवन्ति, सपद चानुभवन्तीति । त्वयावलम्बित उरसाहे अस्माभिः शत्रुक्षयं कृतं एवेति जानीहि ।

२३.

राजन् ! यथा सक्त्रोधमिमिषुलमागच्छन्तश्चरवारो दिग्गजा न केनापि सोढुं (निवारयितुम्) शक्या, यथा वा अभिमिषुलमातर्गतश्चरवारः समुद्रा न केनापि सोढुं शक्या, तथा सपामे पराक्राम्यन्तस्तव चरवारो लघुभ्रातर इन्द्रदुल्पविक्रमा वयं शत्रुषु न केनापि सोढुं शक्या । अस्माप्यद्यतेषु शत्रून् नष्टानेव विद्धि । यथा दिग्गजा समुद्राश्च चतसृषु दिक्षु विभ्रुता तथा त्वानुजा अपि । तवैवायं प्रभावः, यतस्तवानुजवादेव वयं प्रसिद्धा इति तवेति पश्यथा घोष्यते ।

२४.

राजन् ! एवं यद्यपि धीरतया न प्रकाशयति, तथापि तत्र मनस्वितया स्फुरन्मनुमीयते यच्छत्रुभिरनयं कृत्वा समुद्रादितः क्रोधाऽग्निःसदृशस्तव मनसि

शुक्रं तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय तम प्रमादजम् ।

भ्रुकनेतदनहिं विदिषां त्वदनुत्साहहता विपत्तय ॥ २२ ॥

द्विरदानिव दिग्भिर्भान्तिभ्रतुरस्तोयनिधीनिवायत ।

प्रसहेत रणे त्वानुजान् द्विपतो कः शतमनुनेष ॥ २३ ॥

व्वल्लतस्तव जातवेदस सततं वैरिभूतस्य चेतसि ।

विदधातु शम शिवेतरा रिपुनारीनयनाभ्युसतति ॥ २४ ॥

ज्वलत्येव । तस्य चास्याग्नेर्जलेनैव शान्तिर्माविष्यति, विलक्षणस्यास्याग्नेर्निर्वापणाय जलमपि विलक्षणमेवापेक्षितम्, त्वदाशया हतानां शत्रूणां स्त्रियो वैधव्यमप्य यदा रोदिष्यन्ति, तदा तेनामङ्गलेन जलेन अमङ्गलस्याग्ने शान्ति स्यात् । तथा च स्वीयमनोऽग्निशान्तये शत्रुध्यापादनमावश्यमेवेत ।

२५.

राष्ट्रा दृष्टम्—मत्तमतङ्गज इव भीमोऽय क्रोधाख्यदोषेणाक्रान्तस्तज्जनितान् विहारान् प्रकृत्यति, मस्तथाय सुत इति चापलमौढ्यं च विशेषेणार्हिमन् समावितम्, नाय निर्मत्स्यं शक्यो धशीकर्तुम्' न च त्याज्य, प्रियभ्रातृत्वाद्, बहुप्रयोजनसाधकश्चाच्च । तस्मात्साम्नानुनेतव्य—इति विचार्य सामप्रयोगेण भीममनुनेतु महाराज प्रवृत्त, दुष्टोऽपि राजो न त्यज्यते, अपि तु कश्चिद्विनीय वरो क्रियत एव ।

२६.

सुषिद्धिरो वक्ति भीम । यस्त्वया वाक्प्रपञ्च उदाहृत-तस्मिन् कापि प्रमाणानां बाध । शब्दाश्च सुन्दरा, भुतमात्रप्रदाय मन आकर्षति, अनुष्ठीयमान आस्थोपदेशो मङ्गल सशदयिष्यति, एवविध वाक्स्मिन् भुत्वा त्व बुद्धिमत्ता सुस्फुट प्रकाशते । न हि बुद्धिहीन कश्चिदेवमनिदभ्यादिति । यथा मत्प्रहिते शुद्धे दर्पणे सर्वं वस्तु स्फुट ईवते—तद्वत् तव बुद्धिरस्मिन् वाक्प्रपञ्चे दृश्यत इति स्तुति ।

२७

भीम ! तव वाचि पदानि न क्वरिलानि, अपि तु प्रसन्नानि स्फुटार्थानि, अयं वान्चो गुण, सति तु सरलत्वे प्रायेणाऽर्थगौरव नश्यति, पर एवाचि सरलैष्वपि पदेषु गाम्भीर्यम्—अर्थबहुत्वमस्ति । आविष्णो वक्ता प्रायेण पुनरुक्ति करोति, एवमेवार्थं भूयो भूयो वक्ति, पर तव वाचि मि नार्थता शब्दानाम्, न पुनरुक्ति, सत्यपि च मिन्नार्थत्वे परस्पराकाङ्क्षास्य सम्बन्धो वाक्यानामस्यैव, तेन न 'दश दाडिमानि, षड्पूपा,' इत्यादिवद् 'ज्वलन्व कम्बलपादुकाभ्याम्' इत्यादिवद्वा उ-मत्तप्रलपितसादृश्यम् । तामात्तव वाक्य सर्वथैव बुद्धिमदुचितम् । अत्र

इति दर्शितविक्रिय सुत मस्त कोपरीतमानसम् ।
 उनसा त्वयितु महोपतिर्द्विरद दुष्टमिदोपचक्रमे ॥ २५ ॥
 अपवर्जितविल्वे शुचौ हृदयमाहिनि मङ्गलास्यदे ।
 विदग्धा तव त्रितरे गिरा मतिरादशं इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥
 स्फुटता न पदैरपाहृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
 रचिता पृथगर्थता गिरा न च समर्प्यमपोहित हचित् ॥ २७ ॥

भीमवान् प्रशस्तव्याजेन क्विना स्वकीय प्रवचोऽप्यभिहितः, मारशिवान्
एवविधाया एव द्विष्टमाने खयातवादिति युधिष्य एवान् प्रमाणम् ।

२८

यद्यपि खलु प्रमाणपारायणमात्रं पट-तो युक्ति सर्वोपदेश-ते, सोयमपि दोषः,
युक्त्या विना प्रतिपाद्यार्थस्य मनस्सुपारोहासमञ्जसः । भीम ! खया तथा न
कृतम्, युक्तिरपि खया स्वकीये वाक्कर्मरक्षे सम्यगुक्ता । केचिच्च युक्तिमात्रगविताः
श एव लक्ष्यवति, तदप्यत्यन्तमनुचितम्, खया तदपि न कृतम् । शास्त्रमाश्रित्य
तत्समर्थनाय युक्तिरुक्ता । सर्वथा शास्त्रमन्तस्वन्धि तद्वचनम्, स्वन्निन्न एवविधिं
वाक्य वक्तुमारभेतेष्वपि दुर्लभम्, दूरे तु पूर्णतया वचनम् । इत्येकत्रयमिदं वचन
प्रशसापरम् । केचिन्निन्दापरतयापि योजयन्ति, युधिष्ठिरे वक्त्रि तत्सर्वधानुचित
मेवति महिष्याथ ।

२९.

ननु यदि सम्पर्क मदीय वचनम्, यदि तदनुसारमेव प्रवर्तितं य भवतेति
भीमस्यानुयोगमनुमाय वदति युधिष्ठिरः, भीम ! यद्यपि खया सम्यगेव पराक्रमशो
निर्णीतः, अथाप्यहं पुनरपि विनार वाञ्छामि, न हि मे चेत्स्यद्यापि निर्णयो
जायते । यद्यपि नीतिशास्त्रेण सन्धिविषयज्ञाया विषया सामान्येन निर्णयन्त एव,
तथापि देशकालप्राधिकारभेदाद्ये तत्र तत्रानन्ता अवा-तरभेदाः, न ते
नीतिशास्त्रेण क्षणिके निर्णये शक्यन्ते । तत्र निर्णयार्थं बुद्धिरेवापेक्ष्यते । न च
विशेषनिर्णयमन्तरेण कर्तव्ये प्रवृत्ति पठवती स्यात् । तस्माद्विशेषनिर्णयाय भूयो
भूयो विचार कर्तव्य एवेति ।

३०

कनेन पूर्ण विचार विना क्विपि क्विपि कार्य विधातुमनुचितमिति मुख्या
नीतिः । विना विचार कार्यकरणे महस्य आपत्तय आपतति । एतद्वैपरीत्येन
यो विचार्य कार्यं करोति, तस्य सविधे विनैव यत्न सपद आगच्छति । यथा
क्वचित् पतिवरा गुणलुब्धा गुणवन्तं पर वृष्टते, तथा गुणलुब्धा अनका सपदो
युग्पदेव विचार्य कार्यकर्तार वृष्टुन इति ।

उत्पत्तश्चाहं यत्नानुमानेन न चागम इति ।

इदमीदृगनीदृगाशय प्रथमं वक्तुमुपक्रमेत क ॥ २८ ॥

अविश्रुततया तथापि मे हृदय निर्णयमेव धारति ।

अ साययितुं क्षमा सुख न विषेद्यु विशेषणपद ॥ २९ ॥

एहसा विदधति न क्रियामन्त्रिके परमाण्वदी पदम् ।

वृष्टुर्वदि विदुषकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपद ॥ ३० ॥

३१.

यथा वृषीवन्तो जनः क्षेत्रे बीजवापं कृत्वा, तस्य प्रतिकूलप्रसङ्गाद्दर्शां कुर्वन्, फलोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणः, जलेन बीजं सिञ्चन् शरदौ तस्मिन्—तां सस्यसमृद्धिमाप्नोति, सस्यसमृद्धिश्चालिन्या शरदि तस्य नियतोऽधिकारः, तथैव यः कर्तव्यं लक्ष्यरूपेण मनसि निधाय प्रतिकूलप्रसङ्गाद्दर्शां कुर्वन्, फलप्राप्तेश्च समयं प्रतीक्षमाणो विवेकेन कर्तव्यं वोपयति, तस्य फलशालिन्यां क्रियाया नियतोऽधिकारः, स समये कर्म कृत्वा फलं प्राप्नोत्येवेति । साहसिकः कदाचित्फलं प्राप्नोति, कदाचिन्न, विमृश्यकारी एवमर्थं फलं प्राप्नोत्येव ।

३२.

संप्रदायाग्नेन शास्त्रज्ञानेन मनुष्यस्य शोभा भवति, तच्च शास्त्रज्ञानं क्षमया शोभते, शास्त्रं शास्त्रापि यदि क्रोधदशः स्वाद्, व्यर्थं तज्ज्ञानं स्यादिति । क्षमापि च अवसरे दृष्टपराक्रमस्यैव शोभते, अन्यथा सा क्षमा अशक्ततेति गण्यते । यः समये सामर्थ्यं परिदर्शयति क्षान्तः, स एव क्षान्तः । तेन पराक्रमः क्षमाया भूषणम् । (तेनेहं सिद्धम्—क्षमा सततं धार्या, पराक्रमस्तु तद्भूषणत्वेन सत्यवसर एव) पराक्रमश्च सिद्धौ सत्यामेव शोभते, इति सिद्धिः पराक्रमस्य भूषणम् । किन्तु सिद्धिरियं न केवलस्य पराक्रमस्यायत्ता, अपि तु नीतिसहकारेण कृतस्य पराक्रमस्य । नीतिसहकृतपराक्रमप्राप्तैव च सिद्धिभूषणरूपा, न तु साहसिकत्वेन विनैव नीतिं प्राप्ता, तस्याः काकतालीयन्यायागततया भूषणत्वाभाव एव । सिद्धिः सर्वस्यापि भूषणमेव, न तु तस्या भूषणान्तरमिति तस्याः स्तुतिर्गम्यते । क्षमामास्थाय शास्त्रानुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु श्रद्धिति पराक्रम आलम्बनीयः, साहसेन कदाचित्प्राप्तापि सिद्धिर्न शिष्टैः संमान्यत इति भावः ।

३३.

यथान्धकारेणाच्छन्ने गृहे सम्यक् प्रज्वलितेन दीपेन इष्टं वस्तु दर्शयते, तथा 'इदं कर्तव्यम्, न कर्तव्यम्' इत्यादिविप्रतिपत्त्या आच्छन्ने कर्तव्यत्वे सुविचारितं शास्त्रमेव मार्गनिर्णयं करोति । तेन शास्त्रं सुविचार्य तदनुसारेण प्रवर्तितम्, न तु कदापि सहसेति भावः ।

अभिर्धति योऽनुपात्त्यन्विधिबीजानि विवेकारिणा ।

स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदे लोक इवाधिष्ठति ॥ ३१ ॥

दुर्धि भूषयति भूत वपुः प्रशमस्तस्य भवत्पलक्रिया ।

प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने वृत्तविधौ विवेकिनाम् ।

सुहृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्यदर्शनम् ॥ ३३ ॥

३४.

ये हि पुरुषाः शिष्टानां मार्गमनुसरन्ति, शिष्टसम्प्रदायेन व्यवहरन्ति, शास्त्रानुरोधेन प्रवर्तन्ते, तेषां यदि दैवात्मनमपि कदाचिद् भवेत्, तथापि पतनमिति न गणनीयम्, अपि त्वत्तिसममेव तत् । यतो हि यथोक्तः पुरुषो लोके इच्छत्येते, तथैव ते जनैः सदाचारनिष्ठैश्चाङ्गुल्यन्त एव, न तु केनापि निन्द्यन्ते, पुरुषापराधाभावात् । तदुक्तं नीतिशास्त्राचार्येण कामन्दकेन—'यच्च सम्यगुपक्रान्ते कार्यमेति निरर्थकम् । पुरुषस्तनुमानम्यो दैवान्तरितपोरुपः' इति । किं च स्वापराधात्पतितः पुरुषो मलिनमतिवया उद्धाराय पुनरपि करोति, तेन च भूयो भूयः पतति, दैवारतितस्तु सन्नागनिष्ठानरपुनरपि पापं न करोति इति तस्य तत्पतनं सद्य एव निवर्तते, उन्नतिरिव क्षिराय लभ्यत इति विनिपातस्याप्युन्ननिहेतुतया उन्नतिमात्रं श्रेयम् । तेन दैवाप्राप्ताऽनर्था अपि वयं न शोभ्या एव, स्वापराधाभावादिति ।

३५.

तेषां विजयप्राप्तेरस्ति कामना, ते विवेकिनः क्रोधस्य वशाभूताः कदापि न प्रवर्तन्ते, सति क्रोधे विवेकासंभवात्, विवेकं विना च विजयकथाया अप्यभावात् । तस्मात् क्रोधं विवित्य, यदा विवेकेन कञ्चिद्विमर्शयमादिनीं मन्यन्ते, तदा सोरसाहानुरूपं सम्यगुपायमारचयन्ति । न च क्षुद्रफलायै तेषां प्रवृत्तिः, न वा परिणामेऽनर्थसंभवनायाम् । तदाह कामन्दकः—'निष्कलं कनेश्वरदुष्टं संदिग्धकलमेव च । न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च' इति ।

३६.

सुप्तो हि यदा पूर्वं स्वप्नानया राविज्जित तमो विनाशयति, तदैश्वर्यं (उदयान्वलम्) याति, तथैव य उदयम् (अम्युदयम्) इच्छति, तेन तमः पूर्वं विनाशमेव । अत्र तमो बुद्धिसंमोहः क्रोधजनितः । तद्विनाशश्च विवेकमुदया । क्रोधत्रयप्रसन्तरेण नैवाभ्युदयलाभ इत्याशयः ।

रघुदण्डायुष्मैर्माहात्मभिश्चरिते वार्मनि यच्छता मनः ।
 निश्चिहेतुरहेतुरागर्वा विनिपातोऽपि समः समुत्तेः ॥ ३४ ॥
 शिवमौरयिकं गरीयसी फलनिष्पत्तिमदूषितापतिम् ।
 विष्णुस्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया विगीयत्र ॥ ३५ ॥
 अपनेयमुदयमुदयं तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
 अविदिद्य निशाशुतं तमः प्रमया नांशुमताऽभ्युदीयते ॥ ३६ ॥

३ .

सर्वशक्तिमान्नासि येन क्रोधमन्वित तमो (मोहो) न निवार्यते, तस्य सर्वा अपि सद्रूपं शक्त्य विनश्यन्ति । यथा कृष्णपद्मरूपेण कानेन तमो (अन्धकार) न निवार्यत इति तस्य सद्रूपाश्चन्द्रकला विनश्यतीति स्पष्ट इत्यते । अन्यस्य बहुशक्तिमिदं क्रोधाघस्य गेहोत्तररूपे सामर्थ्यं व्यर्थमेवेति । पुरुषकृता-पराधादिह सपदां क्षय इति पुरुषस्यैव हन्तृत्वम् (विनाशकर्तृत्वम्) एव हृतम्, सपदा स्वयं न नश्यन्ति अथ तु स एव सपदां विनाशयतीति । उपमानेऽपि कास्य सर्वप्रणव्यादिदुष्कलाहन्तृत्व तत्रास्तेव । चन्द्रकलानां शोभनवस्तुत्वात्तत्र सद्रूपत्व एव हृतम्, शक्तौ तु सद्रूपताभ्युदयहेतुत्वात्तुल्यैव । अक्रमणेन सपदिनश्यतीत्यसि लोकासदमेव ।

३८

यो हि राजा न सर्वथा मृदुः स्यात्, न वैकान्ततस्तीक्ष्ण एव भवेत्, अपि तु काल मृदु काले न तीक्ष्ण स्यात् स सर्वमपि लोक स्वकृत्या आक्रम्य वशीकरोति यथा सूर्य समयभेदेन हेमन्नादिषु मृदु, ग्रीष्मादौ च तीक्ष्णो जायते अत एव सर्वोऽपि लोकास्तेनाक्रम्यते ।

३९

येन्द्रियाणि (इन्द्रियप्रेरका क्रोधाद्या दोषा) न जिनानि, य इन्द्रियाणां वशो तिष्ठति स विर लक्ष्मीं मोक्षं न शक्नोति । करगतारि लक्ष्मीस्तस्य विनश्यत्येव । परिग्रहपद, भार्यास्वीकार एव निरुद्धम्—तस्मात् प्रयोगेण धीषु भार्यास्वारोपो शोभ्यत इति चित्रमानु । धियामिति बहुवचनेन च नाना धाना सपदां परस्पर विरुद्धाना सपत्नीनामिव रक्षणे विरुद्धोपायौचित्यं व्यथते । तथा च य परवश, तस्मिन्नेकापि स्त्री न रज्यते, हि पुनर्बह्वप्य, परवशो हि कथं धियो वशीकुर्यात् । उत्तरार्धनेदमुक्तम्, धियोऽपि स्वभावेन च, पुरुषोऽपीन्द्रियपरतश्चक्ष इति । उमरोश्चन्योयोगे दुष्करमेव रथैर्यम् । यथा शरदभ्रानां वायुपरतत्राणाम् । प्राशुभ्रानां तु गुफतया कथञ्चिज्जायत एव रथैर्यामति । तद्भद्र मितेन्द्रियपुरुषाभिता धिय स्थिरा भवति । बहुदुष्कला इति बहून् यात्रान् जानन्ति, कथञ्चित्तवामिन

यत्नवानसि केषुचनस्तमसो नाभिमव रगदि य ।

क्षयश्च इवै दवी कण सङ्गा इन्ति स शक्तिभ्रमद ॥ ३७ ॥

समस्तैरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति विमत्तान् ।

अपि तिष्ठति लोकमोक्षसा स विवस्वानिव मादनीरति ॥ ३८ ॥

क विराय परिग्रह धिया क च दुष्टेन्द्रियवाञ्छिवश्यता ।

शरदभ्रचगामनेन्द्रियैरुत्तरासा हि बहुऽऽ धिय ॥ ३९ ॥

प्रतार्यं गच्छन्त्येव, एतेन च चनेन्द्रिये पुष्ये उन्नापिता मुद्गद्रिमाननाजनापगम
प्रकृतिदोषाद्याः सपदा निर्गमहेतवोऽत्र विरुद्धाः । विशेषगाम्याम म्या धिया
पुष्टयत्रयवदवासादप्य च चञ्चलनिरसलं स्थिररेण । तथा च दुर्योधनस्य
चलेन्द्रियतया तत्र वर्तमानानि लक्ष्मीश्वर न म्यास्यतीति प्रकृते सम्बन्धः ।
यदा स्थिरा लक्ष्मीममिताश्चन्द्रिरस्मात्तन्नेन्द्रियवरो रवेयम्, अत्र तु लक्ष्मिरेकाः
श्रीघाटा दोषा विच्छेद्या एवात ।

४०.

मीम ! त्वयि पूर्वमेतादृश धैर्यमासीद्, येन स्वयैव धीरतमोऽपि समुद्रो जितः,
(समुद्रे प्रकृतिस्थितिमाह्वय, न तु चञ्चलनिरहः, तरङ्गमालाकूलगत, स्वयि
त्वयम्, मर्यादास्थितिरपि मनसश्चलनाभागेऽपि तत्र समुद्रो जित इति चित्रभानुः,
समुद्रस्य बाले (प्रलये) धैर्यं (स्थिति) ग्राहः, तत्र तु न कदापीति तस्य
कथ इति वयम्, इदानीं तु त्व मनस्यकाल इव स्वस्या क्षोभमुद्गावयसि, तत्र
समुद्रस्वदपेक्षया उत्कृष्ट म्यात् । तस्य समये धैर्यत्याग, तत्र स्वसमय एतति
तस्योत्कर्षः । पराजितस्य पुनरुन्ने करणं सर्वथान्वितमेवति धैर्यं स्वया रक्षणीयमव ।
प्रसंठया समुद्राह मीमो वाचा नीत यदा क्षोभान्नवर्षत ।

४१.

शास्त्राधिगमो हि श्रीघादिदिकारविजयायैव मनसि, ये शास्त्रमधीश्वरानि
विकारा न िना, देवा न के ल शास्त्राधिगमो षर्थं, अत्र तु धियमपि रक्षितुं
ते न शक्नुवन्ति । तेभ्यः शीघ्र शीघ्रपयात्पेव । तन्वेदमायान न भिय स्वाभाविक-
कम्, अपि तु तेषां पुण्याणा दोषैरेव जन्तम् । तस्मात् भीमश्चेति लोक योऽयं
भिय शिरसि कण्डूः, सोऽयमन्वितेन्द्रियैः पुष्ट्यैरेव दत्त । शरीररुग्मन इत्युक्त्या
यैरतिसन्निकृष्टा अपि स्थितो णेनुमशक्त्या, ते दूरस्थान् रिपून् कथं णेननीरन-
मिप्रेतम् ।

४२.

मीम ! यथा सहनशक्तिर्नश्यति, सैवमक्षना नाम मनोविकार श्रीघादिक-

किमद्यामत्रिक दितन्वता मनस क्षोभमुद्गालरहसः ।

त्रिशते पतिश्चरैरनां मयता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥

भुवमप्यदित्थं ये रिपून् दिनयन्ते न शरीररुग्मनः ।

जनयन्त्वचिराय सम्पदायदशस्ते क्षुत्तु नापलाभयम् ॥ ४१ ॥

अतिपातिन्कालशापना र शरीरेन्द्रियवर्गोत्पिनी ।

जनयन् मयन्तमक्षना नयसिद्धैरपनेटमक्षति ॥ ४२ ॥

मुस्ताद्य अनुकूलमनसरं सह, यादिसंयति च प्रतीक्षितुं न ददाति स्वस्या भविवेकेन प्रवर्तयति । अनया च शङ्का कोऽप्यपकारो न क्रियते, अपि तु स्वस्यैव शरीर-मिन्द्रियाणि च तपन्ते (शरीरेन्द्रियेयुक्त्यापि स्वस्यैव शरीरादौ लब्धे स्वस्योपादानं स्वस्यैव शरीरादिकं तापयतीति द्योतयितुमुपासम्) तयानन्नाभिमूताः प्राकृताः पामरज्जा अद्विवेकेन प्रवर्तमाना नीतिभ्रष्टाः सिद्धेरपि भ्रश्यन्ति । भ्राष्टरास्तु विवेकी अस्या वशगो भवदिति न सर्वथा योग्यम् । मीमं प्रशस्य तस्मान्मनमेव रात्र उद्देश्यम् ।

४३.

क्षमा पुंशस्योत्तरकाल रक्षति, वर्तमाना उपद पाति, सत्यामेव क्षमाया कर्माणि नूतन फलदादयतीति सैः फलप्राप्तेर्मूलकारणम् । इयमेव शत्रुन् विनाशयन्परि स्वस्य स्वाश्रयस्य वा नानर्थे जनयति । एवंविधं सिद्धेः साधनं नान्यजगति वर्तते । अस्ति पराक्रमेणापि आयतेरूपकारः ; परं नास्त्यन्तिकः, क्षमा तु भृशमुपकारिका । पराक्रमः फल ददाति, परमल्पमेव, क्षमा तु भूरि ददाति । पराक्रमः शत्रुन्नाशयति, परं कदाचित्स्वस्याप्यपकरोति, क्षमा तु न तद्येत्युत्कृष्टा सा । कालप्रतीक्षया सहिष्णुनेह भ्रष्टियाणा क्षमा विवक्षिता, न तु मुद्रक्षुणामिव सर्वथा प्रवृत्तिरिवातिनीति चिन्तमानु ।

४४.

ननु क्षमाकाम्येने क्रमेण दुर्योधनपक्षवृद्धिः स्यात्, उदासीनेऽस्मामु सर्वे राजानो दुर्योधनेनैव मैत्रीं बन्धुयुरिति भीमस्याशङ्का मनसि विचार्य युधिष्ठिर उत्तरयति नैव स्यात् । प्रथम बलशालिनो यादवानेव पश्य, तेषा प्रधानस्य वृष्णस्य वय पितृस्वमु मुना, स्वाभाविकं च तैस्माकं प्रेम, तेषा चास्माभिः । मानयामश्च वयं तान् । दुर्योधनोऽभिमानो न तान् मानयति, असमानिता अपि केचन लुब्धा मानमस्मिगणय्य महान्तमनुवर्तन्, परं ते तु मानरक्षिण इति अस्मान् विहाय दुर्योधनेन तेषा प्रीतिर्न कदापि भवितुमर्हति । प्रयोजनापेक्षया क्वचित्कालं भवेदपि, सदा तु नैव ते दुर्योधनमनुसरेयुरिति तेषा भेदशङ्का नास्त्येव । ते दुर्योधन त्यक्ष्यन्देव, अस्मत्पक्ष एवागमिष्यन्तीति परमस्माकं बलम् ।

उपकारकनायतेभृशं प्रशदः कर्मफलस्य भूरिणः ।

अनपयि निवर्हणं द्विधा न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

प्रणतिप्रवगान्विहाय न सहृदनेहनिवद्धचेतसः ।

प्रणमन्ति सदा दुर्योधनं प्रथमे मानभृता न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

४५.

यथा यादवा, तथैव सत्येऽप्यस्माकं सहजा प्राकृता कृत्रिमाश्च
सुहृदः, यादवानामपि च सन्ति सदजायाः सुहृदः, तेषामपि च सुहृदो
सत्येव सुहृदः स्वमतानुकूला, स एते सर्वेऽपीदानीं यद्यपि दुर्योधनाजु
गताः त प्रति नीता इत्यन्ते, तथापि स एष एषा विनय कृत्रिम,
केवल प्रयोजनादेशी, एवाद् दुर्योधन इति तेन सह वैरमनुभित मन्वाना विनय
प्रदर्श्य स प्रतारयन्ति, स्वप्रयोजन साधयन्ति च, कार्यकाले तु तेऽस्मत्पक्षमेव
यादवै सहाभविष्यन्ति । धृतराष्ट्रात्ममिति पदम् 'अन्धुतो दुर्योधन स्वय
मप्यन्ध इव कृत्रिममपि नियमज्ञानम् मन्दत इति दुःशः प्रतारयितुम्' इति
द्योतयति ।

४६

भीम । यद्यपि मयोक्षा राजान सत्येवास्मत्पक्षपातिन, पर यदि दृष्टव्यया
प्रतिभ्रतस्य श्रयोदशान्दपरिमितस्त्रात्रधेर्मध्य एव स्वप्रस्थावन्नुत्तराग्माभिगङ्गा
क्रियेत, तर्हि दुर्योधनस्यादोषम्, अस्माकं स्वप्रतिज्ञातिक्रमरूप दोष च विमोक्ष्य
सर्व एतेऽस्मत्पक्षारूप्यग भविष्यन्ति । अस्मत्पक्षाभयरो कः पुनरात् न विष्यतीति
न्याये पथे वर्तमानास्ते कथं दुर्योधनेन युष्तेषु । तथा सूर्य उदयन्नेव कमल
दलानि भेदयति तथा स्वस्तुनाभियोगवृत्तान्त प्रसरन्नेऽ सर्वान् अस्मत्पक्षो
भेदयेदिति ब्राह्मणातारोऽभिप्रायमाहु । वदन्तु पश्याम — कृतावधेरिति विशेषणा
दवधिपरिमाताविति लभ्यते, तत्रावधौ पूर्णे स्वया कृत्स्नाक्रमस्य वृत्त निघम्य
य इदानीं पूर्वोक्तया कृत्रिमरीत्या तत्रावधौ भिन्न ते ततो विशेषणेभ्यस्ति,
अस्मत्पक्ष चाभविष्यन्तीति । एतदेव चोत्तररुकेन चतुर्वेदिमियत इति प्रकरणानु
कूलत्वम् । एतेन 'अथ चेददध' प्रतीक्ष्यते' इति भीमोक्तस्योत्तर दत्तम् ।

४७.

अस्माकं सहापरम्परया वा सुहृदः अस्मत्पक्ष भागविष्यन्त्येव, पर य उदा-
सीना, तेऽपि कालक्रमेण दुर्योधने विरक्ता भविष्यन्तीति अस्माभिर्भेदरूपमुपाय
माश्रित्य स्वपक्ष भावेणु शस्यन्ते । दुर्योधनो हि स्वभावेनोद्धत कृतार्थलो च

सुहृदः सहचारयेतरे मतमेषां न विद्वहन्ति ये ।

विनयादिव चापयन्ति ते धृतराष्ट्रान्जममन्दिदये ॥ ४५ ॥

अभियोग इमान्महीभुवो नवता तस्य इ- कृतावधे ।

प्रविष्टावपिहा स्मृत्पुत्रं हरिदश्वं कमलावरादिव ॥ ४६ ॥

उपपत्तयान्वित्वह्यन् स विधाता नृपती नदोद्धत ।

सहते न जनोऽप्यथक्रियां किमु लोकाधिकथान रा- वन् ॥ ४७ ॥

स्वीयानवगत्य ह्येषेण तथा मत्ता मविष्यति, यथा सर्वानवमानयिष्यति । अवमान-
नान्नु साधारणोऽपि जनो न सद्दत्, लोकाभिमानिनस्ते राजान, तेषामपि च
समूह, ह्यममानं सद्दत्, तस्वात्तेषा विरागस्तत्र स्वामाधिक, तेन चारमरस्य-
सहिदिरिति । विवाता-इति अनद्यतनार्थेन लुप्तप्रत्ययेन विरागोत्पत्तौ कश्चित्काल
समपेक्षत एवनि द्योतितम् ।

४८.

ननु दुर्घोषेण स वासाधारण विनय दर्शयतीति वनेचरेणावदितम्, ततश्च
त्प्राभिमानसमवे एव कुत इत्याशङ्क्य समाधत्ते सुधि ष्टर-दुर्घोषेणस्य विनयो न
दास्तत्र अप तु कृतिः, स्वप्नकालस्थावी । देवा शील एवानिमान, ये अभिमार्ग
गुण मन्यन्त, तथा मुत्पो विनया भोत्वद्यत एव । कञ्च मण्डल वशीकर्तुं कृतिर्म
विनय त दर्शयन्ति, स च विनयस्तादन्त कालमभिमानवेग तेषां षण्दि । न
स्वभिमान नाद्यति । यदा तु सपन्न कार्यम्, प्राप्ता समृद्धि, तदा सा समृद्धि-
रेवाभिमान पुनरुन्नत करोति, तेन च विनयो लीयते ।

वेगशब्दोऽत्र प्रसर लाक्षणिक, तेन यथा अदृढेनाल्पेन सेतुना निरुद्धवेगाऽपि
नदी प्राप्तप्रादन्त्या स्तु विनाश्य सर्वत प्रवहति, तथा विनयरूप सेतु विनाश्य
मदस्तथा प्रसरत्येवति अङ्कितम् । विप्रमानुस्तु असमापितकृत्यस्यवदामेव मद
विभूतय उत्तमन्यन्तीत योजयति, त हि कार्यमपि पूर्णतां नेतुं न शक्नुवन्ति,
किञ्चित्कर्मसिद्धौ-अन्यन्मू दृष्टम् एव विनयस्तेषा भ्रश्यतीति ।

४९.

'विभूतयो मदनुत्तमन्यन्ति'-इति उक्तम्, मदस्य परिणाममाह-यदा
कश्चिद्राजा मदनमानवोराधिपत्याद् वरद्वारे निवृत्तिम् (परावशम्) दर्शयति,
तदा क्रमेण व्यापिकावर्गसिद्धानामाश्रया मूढता तमाक्रामति, तथा च त गृह्णाति,
यथा कदापि न त्यजति । स मूढता न त्यजतीति नोक्तम्, तस्य सर्वथा निय-
न्त्रितस्य हवान्शरामात्रेण त्यागकर्तुं वासमवात्, मूढत्वेन स्वय तनयक्रम स्थिता,
सा च तादृशशान्त्वस्याभयस्वात्मानेन त न त्यजतीति । मूढता न पृथग् भवतीति
लक्ष्योऽर्थ, पुरुषस्यास्पन्त पारतन्त्र्य अङ्कयम् । मूढताक्रान्तश्च नीविमार्गोचितार्ता
बुद्धि षडानि, तन्मागोत्स्वय पृथक्क्रियते, (पृथग्भावे सौकर्योतिशयबोधनाय कर्म
कर्तारि प्रयोग) । यदा च बुद्धिनिवेकहीन, तदा सर्वस्यापि प्रतिकूलमाचरतीति

असमानितकृत्यसम्पदा हतवग विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिना मदनुत्तमन्यितुं विभूतय ॥ ४८ ॥
मदमानसमुदत रूप न विद्युङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयाश्रयहीनादपरण्यते अनः ॥ ४९ ॥

अनुसक्तोऽपि जनस्मिन् द्वेष गच्छति । भोपने अथाचाररे च राजनि प्रजा
वर्गं अमास्यादिवर्गश्च सर्वोऽपि द्वेष बध्नातीति ततोऽग्निमदलेकेन सम्बन्ध ।

१०.

दण्डकाकंदयादिभिर्हेतुभिर्देहेन राशि जना-नामप्री नर्जना, आशान्जन-
प्रतिकूलान्तरगादिना च प्रजा यस्य प्रभाव विध्नन्ति, तस्य आभ्यंतरप्रकृतिर
मास्यादिवर्गोऽपि प्रतिकूलान्तरगादिना निरक्तो भेदमापद्यते, परण स घत्ते च, तस्मिन्
काले शत्रुवृत्त्यानायातेनैव समूह विनाश कर्तुं शक्नुवन्ति, स समूहोऽपि स्याद्,
बलवानपि स्याद्, परमीदृशोऽन्तरे तद्विनाशे नैव शक्य भवति । यथा विशालोऽपि
तत्र प्रचलेन वायुना यदा भूयोभूय प्रकर्मितो भवति, तेन चान्तरपि यस्य शिखा-
सघात शीर्यते, चाल्यते च, तस्योत्पाग्न तस्मिन् काले बल ता दुष्करमिति ।
समन्तात्प्रकम्पकत्वेन वायोर्दलेगातिशय बोधयशमोरणरदमिह अन्तःकृतिं
पुष्पाति । समीरणेनेरिवस्य त्रोरारव च प्रजानामप्रीतिभावस्य राज पारं श्य
भीरितपदेन प्रतीयत । पूर्वं यो नृगादिशब्दैश्च, स एवैव जनानामप्रीतिम जन
मिति रिपुशब्देनाभिहित । यथा च वायुना क्षिपमाणमग्निं य पादप पूर्वं
क्षयोऽपि न जानाति, तथा मदबद्धभूनेन तेन राजा उग्रस्थितोऽपि स्वतिनाशो न
शयते-इति च वस्तु उपमया व्यज्यते । तदेतदथगौरवमस्य पदस्योत्कृष्ट चित्र
मानुना प्रकथितम् । तथा च तादृशीमवस्थां गतो दुर्योधनोऽम्भामि मुञ्चयो
मविध्यतीति ।

५१

बाह्यमृतस्य शत्रोराक्रम्य राजा तादृशभयप्रदं न भवति, यथ ह्यमृतानाम
मास्यादीना प्रजावर्गस्य चाप्रीति । यथा हि सर्ववशाह्यमृताना वृक्षाणां शाखा
स्वपरोपेन छातो वहि स्वलोऽपि क्रमेण वायुनोर्नचि च सर्वमपि सर्वं मन्मसात्
करोति, तथा अन्तरङ्गागा स्वलोऽपि सर्वम् / (विद्वेष) राज औदरानोर्नचितो
राजान विनाशयत्येव । प्रकृतिशब्देन कारणशक्तिना राज प्रकृतये एषां कारणस्य
द्योतिउम्, एभिस्त्वस्त्रे प्रजानात्सादिभिरेव राजा राजा क्रियत इति । ततश्च
स्वस्मिन् राजो राजत्वस्य कारणता मन्वमाना प्रकृतयो राज प्रतिकूलगामिचे न
सदृशगा भवन्ति राजा च स्वस्मिन् प्रमुञ्च मापमानां न प्रकृती प्रसादयतीति
क्रमेण वर्द्धत एव वैरमिति प्रमुप्रकृतिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम् । पूर्वं आनपदाना

अपरागसमीरणेवित कर्मशीर्गकुम्भलकन्तति ।
मुह सनचरसहिष्णुना रिपुसमूलनितु महानपि ॥ ५० ॥
अशुरपुपहन्ति विग्रह प्रभुमत इहृतिप्रकोपत्र ।
अखिल हि दिनस्ति भूधर तदशालाऽतनिर्घर्षोऽनल ॥ ५१ ॥

अनानामरराग, ततो वाह्यप्रकृतिप्रकोप, ततोऽपररङ्गप्रकृतिभेद इति क्रमो विग्रह-
शब्देन द्रोश्यते । उपराने प्रमुक्तैः तदुक्तैः वाच्यैः शब्दैरुपमेयेऽप्यप्रकृतिवर्गात्प्रतीतिः
क्रमेण प्रकोपोऽभिहितोऽप्येते ।

५२.

पूर्वोक्त कार्यकाव्यमात्रेण तादृशस्य शत्रोर्विजये बुद्धिमत्ता न भवति कार्यं,
येन कार्यकाले स्वीकृतोऽपि विग्रहस्तथा । यतो हि पूर्वोक्तावतरणमे तस्य पराभव
सुखमेव स्यात् । न च तादृशोऽसौ नयः स्वनीति अभिप्रेषणम्, कियन्तन्तरेण
सरादौ नैव निष्ठिते अनर्थमुत्साद्य नीयन् एतत्ति निष्पत्ति । भूयते हि नहुष
राजादौना विरदेव परगति, इत्यते च रकुञ्ज नहुष तथेते । 'अवमानितकृत्य
सरादाम्' इत्यस्याप्यन्यस्यश्च इत्यत्र होतव्यम् । 'अचिरेण परस्य भूयसीन्'
इत्यादिभीनोक्तस्य चेदमुत्तरम् ।

५३

यदा राज्ञो वृत्तं लुप्तमिव भवति, स प्रजापते मन्त्रिणां हितोपदेशादौ नीचा
शीन्यमान्यते अत्रानाशेष प्रजा पीडयति, मान्यमानस्ततोति, तदा तस्य मण्डल
मण्डलम्, अन्त्यन्तर मण्डलम् च सम्भवति ततो भेदमाप्नोति-विद्वेष मन्त्रिणां ।
पूर्वोक्त मण्डल एव भेदप्रसार, तदनु आन्त्यन्तर इति अहिरन्तश्चेति शब्द
विन्यासो सुकृतर, यद्वा व्याख्यानतरे वागादिवापारे प्रातोऽपि भेदो यदा
राजा न शान्ति नीयते, तदा मानसो द्वेष उत्पद्यते मन्त्रीषु योऽन्यम् । निदा
गतम् इति भिदोत्तर द्वितीयाभयपणेन भेदस्येत्थिततमस्त्वम्—इत्युक्त्या स्वीकृतव
गम्यते, अन्त्यन्तर मण्डले तस्य राजा यद्यपरं स्यात्, सोऽन्नायासेन विद्विष्ट
मण्डलं स्वायत्तं कर्तुं शक्नोति, यद्वा सान्निहितराष्ट्रादिस्तदा तस्य राज्यं स्वायत्त
करोति । तदित्यत्र दुर्बलतरं रव्यमप्युच्यते । यथा शिथिलवयव तट नदीवेगेनाप
ह्रियते, तद्वदेव । तदित्यमेव दुर्बलस्य दुर्बलस्य राज्यं प्राप्ते भेदावसरे मुनेना
स्मान्निरायत्तीकर्तुं शक्नते नृलोचनया अङ्गणानि विज्रभानुराह—यथा कृत्
द्विषन्त्य नदीबलन सान्निहितभूभागैः च तस्य सम्बन्ध, भूभागैः सम्बन्ध
शैथिल्ये कृतेन तदनुदिवय, तथा कुहराणां भेद दुर्बलघनेन वास्मान्निधु सम्बन्धाति,
दुर्बलघनेन सम्बन्धशैथिल्ये अस्मान्निधु इत्येत । यथा च व्याख्येव नदीकुलं
हर्तुं शक्नोति, तथा प्राप्ते समग्रं पदाम्भिसिद्धं ज्य हरणमिति । यथा च

मतिमान्निधुप्रमाणिन समुपेक्षत समुन्नति द्विष ।

सुख्य सगु तादृगतरे विदन्ता ह्यवनीतसमद ॥ ५२ ॥

लुप्तवृत्तितया भिदो गत अहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।

अभिभूय हस्त्यनन्तर शिथिलं कुञ्जमवगारय ॥ ५३ ॥

कूल कदापि नदी झलप्रदानेन लोकमुपकरोत्सेव, उरकारकत्वमेव तस्या मुष्णम्,
 कूलहरण औपाधिकम्, तथैव मन (युधिष्ठिरस्य) लोकोपकार एवोद्देश्यम्,
 दुर्योधनहानिस्तु विश्व-पोषणता औपाधिकमेवैवैषि ।

५४.

यदा प्रधानतो युधिष्ठिर पूर्वोक्तेन प्रकारेण विद्वन्धचेतसं भीममुद्दिश्य नीति
 रहस्यमुपदिशन्नासीत्, तदैव भगवन् द्वाराहस्तसत्रिधौ प्राप्त । यथा नीति त्रिदुष-
 पुरुषस्य समीपे तदभिवाञ्छनोऽर्थं स्वयमागच्छति, तथैवेद भगवन्तो व्यासस्या-
 गमनम्, भगवान् व्यासो मूर्तिमान् युधिष्ठिरस्य मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्ष्यते कविना ।
 तेन च मनोरथस्याभ्यन्तरितप्रपूर्ते, साधनोपदेशाय व्यासस्यागमनमिति व्योति-
 तम् । अनुशातितमिति वर्तमानकार्यार्थकप्रसयेन अनुशासनमप्य एवागमन बोधि-
 तम्, तेन चान्यानुपायान् सम्पग् व्याचक्षाणोऽपि युधिष्ठिरे भीमादिव्यविषये
 किं वदेदिति तस्याशक्तिं समीक्ष्य तद्गौरवरक्षणाय तदुपायं स्वयमुपदेश्युमागतो
 व्यास इति ध्वनित भवति । इह अर्जुनाग्रज इति भीमविशेषण परमनीतिहस्यार्जुन-
 स्य सन्धं बोधयदुपदेश्यता पोषयति, अर्जुनादीनामपमग्रज इत्यस्मिन्नुपदिश्य
 सान्त्विते सर्वे ते सान्त्विता भवेभ्यन्तीति वा ।

५५.

भगवन्त व्यास वर्णयति कवि — स हि भगवान् व्यास सर्वानुग्रहाय सर्वत्र
 शान्तिमयीमाहादकीं दृष्टिं प्रसारयति, तस्याश्च दृष्टेः स तादृश कोऽपि
 प्रभाव, यत्सम्बन्धेन अत्यन्तं तामसानि, त्रिवेदबुद्धिरहितानि च तिर्यग्योनिगतानि
 हिंसाश्रयि सिद्धादीनि भूतानि निरदीभ्य मनसि शान्तिं लभन्ते, अनुचतेभ्यो
 हिंसादिव्यापारेभ्य उपरमन्त । तिर्यञ्चि इति नपुसकञ्जिह्वपदोरन्यासेन तिर्यञ्चि अपि
 यान्यत्यन्ततामसानि नपुसकानि, ताम्भवि शम प्राप्नुवन्ति, त्रिभु वक्तव्यमभ्येतामिति
 व्योत्यत इति चित्रमानु । किं च भगवन्त व्यास परितस्तेजोमण्डलं विराजते,
 तच्च तेजोमण्डलम् अत्युज्ज्वलम्, व्याप्तम्, आलोकनेनैव दुरितदाहकम्, न च
 सूर्याग्निदिनाशवत्तीक्ष्णम्, किन्तु दर्शनयोग्यम् । तेजसो विशेषणत्रये एकैकेन क्रमेण
 सूर्याग्निचन्द्रतेज सादृश्यम्-अपराम्पां चैकैकपेक्षया व्यतिरेको व्यञ्जित इति
 चित्रमानु । पदुध्याप्तमिति सूर्यतेज साम्पम्, दहनमिति अग्नितेज साम्पम्,

अनुशासतमित्यनाकुल नयवर्णाकुलमर्जुनामकम् ।

स्वयमर्थं इवाभिवाञ्छितस्तमभीषाय पराशरात्मज. ॥ ५४ ॥

मयुरैरवशानि लम्पयन्नपि तिर्यञ्चि शम निरीक्षिते ।

परितः षट् विभ्रदेतसां दहन घाम विभोहनक्षयम् ॥ ५५ ॥

विलोकनश्चमिति चन्द्रतेज सम्पत्, तथैव विलोकनश्चमिति सूर्याग्निव्यतिरेकः,
दहनमिति चन्द्रव्यतिरेकः, पट्ट इत्यादिव्यतिरेक इति विवेच्यम् ।

५६.

पूर्वश्लोकेनैव सम्बन्धः—किं च-स भगवान् व्यास ईहशरतपस्वी धार्मिकः
यत्तपोहि-पुण्यानीत एवोत्पन्नानीति जनाना बुद्धिर्जायते । आपदा च दर्शनमात्रेण
निवर्तकः । राशौ तद्भागमनेनेत्यर्थं समाहितम्-यन्मदीय पुण्यराशिरेवाय शरीरं
भूत्वा आगत इति । एतादृशो व्यासोऽकस्मादेव युधिष्ठिरेण दृष्ट, न हि तस्मात्पुण्यं
पूर्वं समाहितमासीत् । तेन च दर्शनकाठ एव युधिष्ठिरस्य विरमय उदमूत् ।
अनेन श्लोकद्वयेन व्यासदर्शनात्पूर्वं युधिष्ठिरादीना मनास य आसीद् वितर्कः—
सोऽप्यभिव्यञ्जित इति चित्रमानु । तथा हि—नक्षुरैरज्यानीत्यादिना पूर्वमकस्मा
द्वन शान्तमृगपदेगण विलोक्य तेषा मनसि क्रिमेतदिति वितर्क उदमूद्-इति
व्यञ्जितम् । तदनु परित पट्ट इत्यादिना सूर्यशशाङ्कवद्विविक्लुण परित प्रसर्पत्
किमपि धाम पश्यतां हरिहरादिभिर्दोऽप्यनलं कियते इति सचन्द्रकारी हर्षः
सममूद्-इति चोदितम् । ततश्चाकस्मादेव प्रादुर्भूस्तत्रभवान् भगवान् व्यासो दृष्ट,
त दृष्ट्वा सविस्मयो हर्षातिरेकः समञ्जनीति ।

५७.

व्यास हृष्टैव युधिष्ठिर स्वस्थानादुत्थितः, स्वरावद्यात् तेन परिहितस्य रक्त-
वर्णस्य बलकलस्याग्र प्रकम्पमानम्-इत्यन्तः परित्स्वच्छ्द दृश्यते । तेन च सुमेरुशृङ्गा-
दुद्यतः सूर्यदेव तस्य शोभाऽभूत् । सूर्यकिरणजालेन बलकलाग्रसर, सुमेरुशृङ्गेण
च युधिष्ठिरासनस्य दिग्प्रतिविम्बभावः । इह बने निवसतः परिहितबलकलस्य
युधिष्ठिरस्य लौदत्रं सिंहासन न संभवतीति आस्तृतं कुशायासनमेवास्माभि-
र्व्यस्थिताम्, उन्नतत्वं तु तस्य युधिष्ठिरादरायै भ्रातृभिर्विहिताया मृदादिवेशा
स्थितानात् । (यद्वोजन काष्ठमज्जादीश्च विवदितमस्तु) परार्थत्वं च महापुरुषस्य
युधिष्ठिरस्य तत्रोपवेशनादेव चिन्ता लिखितम् । पातन-च-मते-न-नादिधर्मैरेव
सुमेरुशृङ्गादृश्यमपि तत्र निर्वह्यम् । यद्वा व्यासदर्शनेन स्वस्वाम्बुदयं
दरत्त्वात्पञ्चदशैर्भाय दृष्टा युधिष्ठिरो वनदासादिक दिस्यूत्य राजसिंहासनस्थन्वा
त्मानममन्थतेति तस्य ता बुद्धिमनुकुर्वता क्विनापि तदासनं सिंहासनत्वेनैव
निरूपितमिति चित्रमानु । शीतरश्मिरिति पाठ मत्वा चन्द्रसादृश्यं च तेन
युधिष्ठिरस्योक्तम् । यथा च सुमेरुशृङ्गाचन्द्रसूर्यादिकृद्गमो लोके प्रकाशाय, जगतः

सहसोपगतः सविस्मयं तपसा स्तितस्तिरापदाम् ।

दहरो जगतीमुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

अथोषधैरासनतः पराभ्यर्तुद्यन्स धृतास्वगल्कलाग्रः ।

राजः कीर्णाकनिशांशुबालः शृङ्गासुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

गुभास—तथा युधिष्ठिरस्यापि व्यासदर्शनसूक्तितोऽभ्युदयो अगत गुभायैवेत्युपमा-
व्यङ्ग्यमपि स एवाह ।

५८.

व्यासागमनजन्येन हर्षेण यश्चेतस उल्गासोऽभूत्, त निपहस्य चित्तमवहितं
कृत्वा, युधिष्ठिरो घौम्य पुरोहितमपत कृत्वा, तदुपदेरेण भगवतो व्यासस्य
श्रुतिबोध्यां सपर्यां सम्यग विदधौ । त ससमानमाशने समुवाचश्य च तदाउपस
पश्चात्स्वयमप्यासन उपविष्ट । युधिष्ठिरेणाप्याभिनस्यासनस्य तथा शोभा भासीद्,
यथा प्रशमेन शश्वजानस्य शोभा जायते । इह नरेन्द्रपद युधिष्ठिरस्य 'मुनि
प्रसादेन शीघ्रमेव नरेन्द्रस्य प्राप्सामीति' सुदृढ विश्वास एव नक्ति । उपमया च
युधिष्ठिराय प्रशमस्तद्व्यवहारेण व्यासेन सुप्तु लक्षित इति व्यञ्जत इति
चित्रभानुराह ।

५९

हर्षंजनितमस्मितेन दनमयूषाणां निर्गमाद् युधिष्ठिरस्येष्टी सुशोभिता-
वास्तान्, तेन तस्य मृग्य चन्द्रेण पूण साम्य गतम् । व्यासस्य तु मुखं
परितस्तेजोमण्डल किराज्जे एव स एव बृहस्पतिप्रदस्य प्रतीयते ।
तेन पूर्णमण्डलो बृहस्पते समुलभागे स्थितस्य चन्द्रस्य या कान्ति, सैव
तथा व्यासमुखे स्थिते युधिष्ठिरे दृश्यते स्म । शशाङ्कमूर्तेरिति मूर्तिपदो-
पादानेऽह व्यञ्जते—यथा चन्द्रस्य मूर्तिपदे दृश्ये मण्डल एव अयकलङ्कादि
दोष प्रतीयते, न तु तदधिष्ठातरि देवे चन्द्रे, तथा उपमेयभूतस्य
युधिष्ठिरस्यापि शरीर एव अनवासकृता, काश्याददोषा, न तु शुद्धे
तदात्मनी त । इदमगुजाल तन्वन्तमिति गुरुशिरोमथ पततुहिाद्यानराभाय बोधयन्
शरदस-तर्जुनालिवता चोत्थयति, स्तोत्रोत्थेवस्थितरथ च । समुले निष्ठमन्द्रो
गुरुणा दृष्टो भवतीति प्योत्किन्दा सप्रदाय, ततश्च स्तोत्रोत्थेप्रगतेन गुरुणा दृष्टमन्द्रो
यथा जगदभ्युदयहेतु, तथैवाय व्यासेनानुपृहीतो युधिष्ठिरोऽपीत्युपमया व्यञ्जत
इति चित्रभानु । व्यासस्य गुह्यसादृश्यरूपेण तेन करिष्यमाणो हितोपदेष्टोऽपि
सम्यग चोत्तितो भवति । युधिष्ठिरस्य सङ्कटद्रष्टादृश्यरूपेण च तस्यापि सकल-
ताम्-प्राप्ताराध्यताम्-द्योत्यदभ्युदयस्याभ्यभावितो एव नक्ति ।

इति किराताजुनीये द्वितीय सर्ग ।

अवहितदृश्यो विधाय सोऽर्हाम्पि-दृष्टिप्रसरे गुणपदिष्टाम् ।

तदगुमतमलञ्जदार पश्चात् प्रथम इव भूतशासन नरेन्द्र ॥ ५८ ॥

अयकोदितस्मितमयूषविमाशितोष्ठास्तभृन्मनरमिमुख स विकीर्णं धाम्न ।

तन्वन्तमिदममिती गुहमगुजाल तन्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्ते ॥ ५९ ॥

किरातार्जुनीयस्य तृतीयः सर्गः

अथ चतुःश्लोकात्मकेन कलापकेन व्यासवर्णनम्

१.

अतितेजस्वी व्यासस्तदानोमुपविशोऽप्यूर्ध्वगामिमि शरच्चन्द्रकिरणावदासै
स्वनेत्रोर्भिविशालकाय प्रतीयते स्म । अपि च स ईषत् कृष्णवर्णं पीतवर्णविशिष्ट
आसीदिति विश्वयुक्तमेघसदृशो बभौ । विश्वयुक्तयो पीतवर्णत्वात् साम्यम् । दिवापि
व्यासस्य तेजोशून्यामुखसर्पणोक्त्या सूर्यरश्मीनभिभूय तेषां व्यासिस्तपुक्तं भवति ।

२

भगति व्यासे मूर्तिमतीव पूर्णा प्रसादलक्ष्मीमिराजमानानीत्, तादृशी सौम्या
मधुरा च भगवतस्तस्याकृत्स्निकीद् या दृष्ट्वा य कश्चिद् 'व्यासोऽयम्' इति त
भगवन्तं न परिचिञ्चोत्, तस्यापि मनसि बलात्तद्विषये ऋद्धामय स्नेहं प्रादुर्भव
त्येव, व्यास एव स्वाकृत्स्ना वत्पत्तेशां मनसि भक्तिमुपादयतीति प्रतीयते ।
अवश्यं भक्त्युत्पत्तिसमिप्यञ्जयितुं व्यासस्य समासञ्जनकर्तृत्वमारोपितम् । व्यासो
मादमुत्पादयतीत्यपि नोक्तम्—नरसौ काण्डिलम्बप्रतीते, स तु स्वविधे स्थित
भावतमनस्सु दर्शनमात्रेण समासञ्जयति—इति ।

३

उदङ्गताया यत्र लेशोऽपि नास्ति, तथाभूता भगवतो व्यासस्याङ्गतिरेव तस्य
चेतस परा शान्तिमेवाग्रता च प्रकटयति स्म, अथवा शान्ता तदीयामाकृति
मात्रेक्यतामपि मानसी वृत्तं पवित्रा शान्तैकाम्रा च ज्ञायते स्म । तदानीं मधुरया
विधाहनुषा दशा पदयन् स तथा लक्ष्यते स्म यथासौ आलम्बन् दर्शकान्
समायति । आलापेन य आनन्दं स तद्दृष्ट्यैव ज्ञायते स्म । अथवा एव
प्रतीयतेरम—यथासौ विपद्ग्रस्तान् दृष्टिसंशयोपसान्त्वयति । व्यास दृष्ट्वा सर्व-
मन्तर्बहिश्च प्रशान्ता वृत्तिवदेतीत्युक्त्या क्रोधेनाविष्टस्य भीमस्यापि वृत्ति शान्ता

तत शरच्चन्द्रकिराभिरामैस्त्वर्णमिमि प्राशुमि । गृजाले ।

विभ्राणमानील्लक्ष्णं शङ्गीर्णगन्तडिन्तमिवाभ्रुवाहम् । १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधत समदां षु प्रकर्मणं जनातिगेन ।

प्रसह्य चेतसु समासञ्जतमस्तुतानामपि मात्रमाद्रंम् ॥ २ ॥

भनद्रताकारतया विनिष्ठा तव तमनकरणस्य वृत्तिम् ।

माधुर्यविस्मम्बविशेषभाजा कृतोपसम्भाषामवेक्षितेन ॥ ३ ॥

जातेति व्यञ्जितम् । दृष्ट्या कृतोपभ्रमापमिवेर्युक्त्या च तादृशस्य गभीरस्य मुनी
न्द्रस्याशयमविज्ञाय वक्तुमनीशोऽपि सुधिष्ठिरस्तद्दृष्टिपातेन तत्समापणमनुभूय
वचने प्रगल्भोऽभूदिति व्यञ्जित इति चित्रमाह । इह व्यासवर्णनपरशु इति केषु
तद्दर्शना यथानुभवो जायते—यथा क्रमोपि निर्दिष्ट इति व्याख्यानस्वापरोऽप्या
चित्रभानुना दर्शित । तथा हि दूराद्दर्शनार्थमागच्छन्तं पूर्वं दर्शनीयस्य चान्द्र-
स्यैव तेजसोऽपुञ्जाल पश्यन्त, तदनु भृश स्निग्धकृष्णा तदीया वचिन् । मूर्तेर्निर्गन्ध
वहि प्रसरन्स्वभावाऽवयवा अशुभरादिशब्दैश्चरन्ते, मूर्तपुस्त्युता प्रकाशसमधिश्च
धीनिष्क्यादिशब्दैरिति । तदस्त्वय जगत्स्तेषां दृग्गोचरोभवन्ति । अयं सतिदिनास्ते
भगवत प्रसादलक्ष्मीमनुभवन्ति, तथा तेषां मनसि काऽपि भक्तिविशेष प्रादुर्भवति ।
तदनु प्रशान्त आकारास्ते सम्पन्न लोक्यन्ते, तेन तेषामपि चेतसि शान्तिकेकाप्रता
चोदेति । ततो माधुर्यं सवन्त्या दृष्ट्या हितमनुकूलं चाल्पप्रिय सर्वविधां चानि
शमयन्निव भगवन्मै प्रतीयत इति । अग्रे श्रुतीनां प्रसूतिरित्युक्त्या ततस्तदुपदेश
लामस्तेषां जायत इत्यपि व्यञ्जित द्रष्टव्यम् ।

४.

अभ्युदयनि श्रेयसयो साधनमूनस्य धर्मस्य प्रतिपादिका पतनहेतोरधर्मस्य
च निषेधिका ऋग्यजु सामाख्या भूतयो व्यासेन चनेरादौ पृथक् पृथक् विभज्य
लोके परम्पराव्यसम्प्रदायप्रवर्तनेन प्रचार नीता । तं मुखेनावने उरविष्टं भगवन्त
व्यास प्रति तदानीं तदागमनकारणविज्ञासया सुधिष्ठिरो वक्तुमारभत ।

५.

भगवन् ब्राह्मण ! ये पुरा पृथक् पृथक् पुराशिरश्चितं त एव श्रेयोनिदानं च
सहस्रबन्धितदुस्तिदुःखादेश्च प्रसर निष्प्रधानमनभ्रवृष्टिसदृशानिदं भवद्दर्शनं प्राप्नु
शक्नुवान्त, नान्य अमृतपुण्या । किं च भवद्दर्शनं भविष्यति श्रेय सरादकम् ।
तेन काल्पयेऽपि दुरितत्रयपुण्यसपट्ट्या योग्यता भवद्दर्शनेन व्यञ्जते । अनात
पुण्योपचयैरिति भूतकाले पुण्यसपद् संज्ञिता निर्धूतरजा इति सप्रति । (रजो
निर्धूननस्य वर्तमानस्येऽपि मुक्ताश्वमविक्रमित्त्वं च व्यञ्जयितुं भूतकालिक
प्रत्यय—निर्धूत इति ।) फलस्य सवित्रीमितं भविष्यत्काले पुण्यसरसमृद्ध्यादि
व्यञ्जितम् । इत्थं निगूढमत्राक्त स्वार्थो माघेन 'हरस्य सप्रति' इत्यादिना कृष्ण
नारदसंवादे व्यञ्जीकृत । तेन चरमरि भवद्दर्शनं भाजं पूर्वं कृतपुण्या, इदानीं

धर्मरमको धर्मनिरन्धिनीनां प्रसूतिमेतं प्रणुदां श्रुतीनाम् ।

हेतु तदम्बामने परीष्णु सुखोपविष्टं मुनिमाधभाये ॥ ४ ॥

अनासपुण्योपचयेदुराया फलस्य निर्धूतरजा सवित्री ।

तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेया वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकाया ॥ ५ ॥

विनष्टपाया, भविष्यति श्रेयोमाङ्गानि चेति द्योतितम् । इह वीतबलाहकाया दिवो वृष्टि-अननवृष्टि, सा यथा अतर्कितमुपनयति, तथा भ-दर्शनमर्द्धितोपनतमिति मञ्जि नायेन व्याख्यातम् । परमनादापुण्योपचयैर्ह्येरापत्यादिविशेषणानि तस्या वृष्टौ कथ्य सगच्छन्ते, इत्यत्र तस्य सुरेर्मानमेव । केवल निर्धूतरजा-इति विशेषणमुभयपरत्या तेन योजितम् । विशेषणाना सर्वेषा तत्रानन्वये च कथमन्कार इति सहृदया एव साक्षिण । चित्रमानुस्तु दिवो वृष्टिरित्युक्त्या द्युसरित्-आकाशगङ्गाया-तत्सलिलस्य वृष्टिरित्युक्तं भवतीत्याह । वीतबलाहकाया इत्युक्त्या च मलिनतादिदोषसम्बद्धस्य वारित इति । बलाहकरहिता वृष्टिर्मुधाविशुद्धिसमृद्धिद्वय, पुण्यतमनभोगङ्गाप्रवाहोद्भूतेति पुराणेषु भूयते, इति च तेन स्वपक्ष समर्थ्यते । तेन विशेषणत्रययोगस्तत्र साधु समर्थित एव । निर्धूतरजा-इत्यनेन ग्रीष्मकालिकरजोनिर्धूननमुक्तम् तेन तापशान्तिश्च व्याज्जनेश्वरमनुकूलम् । परे तु वीतबलाहकाया दिवोवृष्टि शारदी वृष्टिरिह विवक्षितेत्याहु । शरदती बलाहकादपीवा निरन्तर स्थिता अपयान्ति, द्यौर्विमला भवतीति प्रसिद्धमेव, तदेव वीतबलाहकपदेनाभिप्रेतम् । 'कचित्पुण्यतने देशे वृष्टिर्भ-ति शारदी' इति प्रसिद्धे प्रथमविशेषणयोगस्तत्र सिद्ध । निर्धूतरजा इति रज-पदेन च वृष्ट्यदक-कर्ममादिकन्य-कालुष्यम्, एतौजालादेषु मिश्रित रजो वा विवक्षितम्, यस्मिन् निर्धूनन तस्या सुप्रसिद्धमेव सत्यादिफलसमृद्धौ यथा तस्या उपयोग, स तु आबालहालिकं ज्ञात इति । पञ्चणामेषां तारतम्यं विवेचयन्तु सुधिय ।

६.

भगवन् व्यास ! मयाद्य स्वानुष्ठितकर्तृनां फलमुपलब्ध, अद्यैव च विप्रैर्वितीर्णा नामाशिषां फलम् प्राप्तम्, (अद्य मे ससारे जन्म सफलं ज्ञातम्) यत् मदन्ति कमुपागतवता भवता जगत्पह परम गौख प्रापित । लोके गौरवमेव जनानामभिलषणीयं बल, तदभीष्टितं भवदागमनेन सम्पन्नम्, अतः कृतार्थोऽस्मि । कर्तृनाम्, भूमिदेवा-इति बहुवचनान्याम्-अनेकजन्माङ्कितयावत्कर्तृनाम् सर्वब्राह्मणा शिषां च फलभूतमतीरं दुर्लभं दर्शनमिति चोरयते । भूमिदेवा इति पदं देवन्निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं ब्राह्मणेषु व्यक्ति, तेन तदाशिषां महत्-चोष्यते ।

७

मन्वतो दर्शनं श्रीवृद्ध्यादिसर्वश्रेयोनिदानं यथा ब्रह्मण । ममान् हि ब्रह्मणा

अद्य क्रिया कामदुष्टा कर्तृना कृत्याशिषं सम्प्रति भूमिदेवा ।

आ कस्तुरेरिमि जगत्सु ज्ञातस्त्वयागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

शियं विप्रैर्यपहन्त्यवानि श्रेयं परिस्रौति तनोति कीर्तिम् ।

संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न घञ्चे ॥ ७ ॥

नृश, सोऽपि लोऽगुह, मवानपि लोऽगुहुरिते । न हि मन्वो द्युंनं कदापि
निःकृतं भवति । तेन मनारि धेयं प्रातिनिधैतैरेति व्यङ्ग्यम् ।

८.

भगवन् व्युत्पत्तेः । चतुर्विंशतिगुणं प्रभृति सुभासात्तु चन्द्रमसं दृष्ट्वापि
चतुर्विंशतीति नै चतुर्विंशतिगुणं तृप्ति लेभे, पर्यवेदानीं तपि दृष्टे चतुर्विंशति
निरासयया तृप्तिन घण्टत । किं च भवदागमनात् प्राग् चतुर्विंशतत्वं
वीक्ष्यमाणाश्च मम मानस एतत् तत्त्वविधाने कथयित्वा तां त्यजति,
शान्तमिव च भवति ।

९.

भगवान् व्यास । त्वा प्रदेस्यन्मादागमनस्य प्रयोजनं पृच्छानीति
चेत्तु कुतूहलं जायते । पुनश्च विवेकबुद्धिरिति अगमने कुतूहलनिदम्,
अकिञ्चना वन किं साधयि- शक्तुम्, चतुर्विंशति भगवाननागतो भवेत् । आशा-
पाशवद्धा केन भावि क्वनमिच्छयाप्यमदनगतिं कुर्युं, यैस्तु सकलविषय-
वास्यैव त्यक्त्वा ते भवदाशा तर्कधारि प्रयोजनशून्या अस्मानु किमुदिशेषु ।
तेषां बुद्धि कुतूहलं कथं । परं एतद्व्यासप्रश्नोत्तराणां व्याख्यानं यति,
एतानि—भगवान् सार्थं नि स्पृहं किन्तु लोकोहितं तु स्पृहा चागम्यैव भवदाशात् ।
तदात्मद्वैतमेव आगमनप्रयोजनं भवेत्, तदस्मानि धोत्वयमेव, अनेनैव च
व्यास एतद्वचनं कथं निपरत्यास्मान् पादयेत्तीति प्रश्ने प्रवृत्तिर्जायते एव ।

१०.

यद्यपि युधिष्ठिरस्य चेत्तु 'विज्ञानविद्वेषुपाय भगवन्तं व्यासं प्रति पृच्छ नि'
इत्यभिलाष आसीत्, तथाप्युदारप्रवृत्तितया तेन स्वयं आत्मतया न च प्रकटितं,
अपि तु 'नृशस्य सवित्री मन्वद्व्यंनसपत्' 'स्वद्व्यंनं भियं विकर्षति' 'कल्याणकरीं ते
गिरन्' इत्यादिना व्यङ्ग्येनैव प्रकटितं । तन्मन्त्रविधिं युधिष्ठिरस्य विनीत मनोहरं
भाषित्वानकर्म 'किनोरायेनास्य व्यतिदिभवेद्, इति मुनिपुण्येकाग्र्येण मनसा विचार्य
तदनुकल्पनेनैव व्यास तस्मै दक्ष्यमानमुपदेदेत् ।

इत्योत्तमधुस्वेत्नर हिमच्छौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चतुः ।

समुच्चितातिविशोऽगलेद स्वद्व्यंनपावुत्तवत्तीव चेतः ॥ ८ ॥

निरासदं प्रश्नबुत्तुत्तमस्मान्स्वधीर्न किमु नि स्पृहाणाम् ।

तथाऽपि कल्याणकरी गिरं ते मां धोतुमिच्छा सुवरीकरोति ॥ ९ ॥

इत्युत्तवत्तुत्तमस्मान्स्वधीर्न किमु नि स्पृहाणाम् ।

उदारचेना गिरिस्तुदारां द्वैपादनेनाम्बिधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

११.

ये जना इह लोके परलोके च आत्मन श्रेयो यद्यच्च कामयन्ते, तैर्वन्द्युष्व-
पक्षरातेन वर्तितव्यम्, एकत्र रागोऽपरत्र द्वेष इति न करणीयम्, सर्वैस्तुल्यमेव
व्यवहर्तव्यम् । मादृशैस्तपः परायणैस्त्वन विषये विशेषतोऽवघातव्यम्, निस्पृहाणा
तेषां विषमव्यवहारस्य सर्वथानुचितत्वात् । विप्रभानुष्टु बन्धुर्गौरव परस्परं वैरे
रुचि ये तदस्था उभयोरपि संपूर्द्धि स्वपक्षसे कामयन्ते, न तु क्वचिद्रागो द्वेषो
वा देशाम्, तेषां सम एव व्यवहार उचित इत्यभिप्रायेण योजितवान्, तथा च
परस्पर निरुद्धा अपि दुर्योधनाद्या यूय च मम दृशौ समाना एव यद्यपि, तथापी-
त्याद्यन्तरेण सम्बन्ध । जन्मव्रतामित्युक्त्या सत्त्वजन्मधारिणामय धर्मः, अनेनैव
जन्मसाफल्यमिति द्योतितम् । ततोघनानामित्युक्त्या तप एवैषां धनम्, न
स्वन्यद्वन तं वाञ्छन्ति, तदश्च कस्देवञ्छया वैषम्यं कुर्युरिति सूचितम् ।

१२.

युधिष्ठिर ! पूर्वोक्तप्रकारेण यद्यपि मम बन्धुषु द्वल्यवृत्तिरेवोचिता, तथापि
स्वदृग्गुणग्राह्य मम मनस्यपि विशेषादुरक्तम् । न चात्र मम कोऽपि दोष, न
वैतेन मम मुमुक्षुत्वमिति, न वा माध्यस्थ्यशक्तिः, यतो हि गुणवचनेषु मुमुक्षुगामपि
पक्षपातो भवत्येवेति प्रकृत्या सिद्धमिदम् । अस्मादृशैः पक्षपातो न क्रियते, अपि तु
गुणहेतुकं पक्षपातं स्वयमेव जायते—इति 'भवन्ति' पदेन व्यञ्जितम् । गुणानामेव
स्वभावः, यत्ते सर्वथामेव चेत् आकर्षयन्ति—इति ।

१३

राजन् ! धृतराष्ट्रेण यद्युयं शशुनचे निश्चिन्ताः, छलेन राजसादपसारिणाश्च,
तस्याहं कारणं न पश्यामि, परो हि दूरोक्रियते, यूयं तु तस्य कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः
पुत्रा—इति धृतराष्ट्रस्यापि पत्रा एव, बाल्यात् प्रभृति पितृविरहितानां युष्माक
पालनमारोऽपि धृतराष्ट्रश्चिरसीति ततोऽपि सिद्धं पुत्रत्वम् । पुत्रोपेक्षेण च सर्वथा-
नुचितम् । यूयमपोग्ना रथ—इत्यपि नोपेक्षाकारणं युष्यते इच्छुम्, दुर्योधनाद्य
पेक्षया युष्माकं गुणस्त्रातिशयस्य सर्वलोकाप्रसिद्धत्वात्, तथा च धृतराष्ट्रीं वृथैव
भवतस्त्वच्छत्रान्, अथवा किमत्र वक्तव्यम्, विषयलोलुपाः सर्वथा विवेकशून्या

चिन्विषता जन्मव्रतामलक्ष्मी यथाऽऽर्तं वामुपयत्नं भूतिम् ।

अभ्यदिता बन्धुषु द्वल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण ततोघनानाम् ॥ ११ ॥

अथाऽपि निर्धनं नृप तावन्नीने प्रहोतं मे हृदयं गुणोपैः ।

वीतरस्पृहाणामपि मुक्तिमात्रं भवन्ति भव्येषु हि पक्षराता ॥ १२ ॥

मुता न यूयं किमु तस्य राजं सुशोधनं वा न गुणैरहीता ।

यस्त्यक्तान्त्वं स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते त्रिययादित्यपि ॥ १३ ॥

एव भवन्ति । धृतराष्ट्रस्य विषयलोलुपत्वमेव भवतां त्यागे हेतु , नान्य कोऽपीति । औरसा पुत्रा अपि स्वभावेने प्रथमीतिहेतवो विषयपदेन विवक्षिता इति निष भानु । सुबोधनपद तस्य युद्धे पाटव बोधयद् गुणहीनता व्यनक्ति । तस्य राक्ष इत्युक्तिविषयलोलुप स नामग्रहणस्याप्ययोग्य इति व्यासस्य तद्विषये अमर्षं द्योतयति ।

१४.

राजन् युधिष्ठिर ! 'अन्धस्येका-धन्वनस्य निनिपात पदे पदे इत्यभियुक्तोक्त्या धृतराष्ट्रस्यार्थहानिलभय प्राप्त एव, यत् स विवादादरक्षविषयेषु कुम्भिभ्यस्तीना कर्णादीनामेव सम्मतिमाश्रियते, दुर्बले सह सम्पर्कमात्रमेव जयनिधानक विपत्कारण च भवति , तै सह घनिष्टतामापन्न तदुपरि निधास तु किमु वक्तव्यम् । तथा च कर्णशकुन्यादिपरामर्शास्यैव फल भवता त्याग न तु साधुवनमोक्षविदुराद्यनु म्गोऽय पन्था । आभ्या श्लोकाम्यो परस्परस्य दुष्स्वमुक्तम् , तत्र एव मम तेषु विरक्तिरिति व्यासाभिप्राय ।

१५.

युधिष्ठिर ! यद्यपि तत्र शत्रवो मध्येषम न्वोग्रहणवाहवादीनि दुष्टकर्माण कृता धर्ममार्गाद् भ्रष्टा जाता , तथापि एव धर्मात् पदमपि नाचल , सर्वे तेषामत्याचारं सोढवान् । तेऽस्या रक्ष प्रकटितम्—गुणेष्वेकोऽकृष्टस्ते प्रेमा, न करशादिभिति । स चाय गुणस्नेह एतावास्तव प्रबल , यत्तत्र विपत्तो करग्रामपि तस्य विपत्तिर्न भवति । 'पयस्सुतायाम्' इत्युक्त्या तत्र शत्रव सर्वेपि न केवल सकृद् धर्म त्यक्तवन्त , अपि तु धर्ममार्गादेव ते भ्रष्टा , तेषा पुनर्धर्मप्राप्तिराद्यापि नास्तीति द्योतितम् । तथा च 'घट प्रति घट कुर्याद्' इति नीतिमपि परित्यज्य धर्मपरेण त्याया गुणा एहीता—इति मम परुषात्स्वयं योग्य एवेति । स्वयत्येकवचनेन वदुभ्रातरो भीमाद्या अपि विचरिता , स्वमेक एवाविचलोऽसि इति सूचितमिति चित्रमानु ।

१६.

तत्र वृत्ति सदैव शान्तिपरा, एवमूतस्यापि तत्र यदिद शत्रुमिश्रणमाश्रित्या

जहातु नैन कथमर्थसिद्धिं सशय्य कृणादियु तिष्ठते य ।

असाधुयोगा हि जयान्तराया प्रमाथिनीना विपदां पदान ॥ १४ ॥

पयस्सुतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुर चिराय ।

एवा विपत्स्त्रयविपत्तिरभ्यनादिकृत प्रेम पर गुणेषु ॥ १५ ॥

विधाय विश्वसमनात्मनीन शर्मैकवृत्तेर्भवदश्छजन ।

प्रदाशितस्वन्मतिशीलसारा कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ १६ ॥

पठितम्, तदेतत् तेषां स्वयमेव स्वनादयो कुठारघात इव विनाशाय सम्भनम् । तव तु तेन लाभ एव जात । यथा भूयो भूयो निर्वर्षण सुरभिचन्दनकाष्ठस्य लोकोत्तर सौख्यमेव प्रकाशयति, तथैव शत्रुभिर्भूयः क्रियमानोऽपकारस्तव दुष्टे रुद्रवृत्तस्य च प्रवर्षमेव प्रख्यापयति स्म, इति मन्त्रे शत्रुकोऽपनवभारोऽपि तवोपकारायैव सूक्त । तैस्पर्कारदुष्टयैव स्वस्याचार इत, पर स्वदुग्गास्तेन ख्यातिं गता इति उपकाररूपेण त्वदि परि । गुणख्यातिरेव जाति घनाना परमे लाभ इति । तेषां च दुरात्मता एतां गतेन तेषां विनाशोऽयमेव ।

१७.

व्यातो वृद्धि राक्षन् । नीतिसवया साधु लब्धा, किन्तु भूमिरपि (राजनपि) लब्धयमेव, न च दुर्योधन इत्यपि स्वयं राक्ष्य दास्यति, ततश्च स्वया पराक्रमेणैव राज्यमधिगन्तुं शक्यम्, नेतरथा । किन्तु तव इत्युच्ये सन्नि बहवोऽतिवीरा, ब्यवसाय, अस्त्राणि, सैन्यानि च तत्रापि प्रचुराणि, अन्तर्वेद्या तथा यतनीयम्, यथा एव शौर्यादिषु शत्रोरपेक्षयाधिक्य एता, सप्राने हि अपरक्षणी प्रवर्षमेव वृष्टुते न दुर्बलम् । द्युतञ्च दिग्दुर्बलोऽपि जय कदाचलमेव, एते तु बलप्रकर्षेणैव जय इति रणशब्दोपादानम् । तथापि कदाचिद्देवेन दुर्बलता जय एतात्, परं जयभी — प्रशान्तो जयस्तु उत्कर्षायैव एवेति भीशब्दोपादानम् ।

१८.

पूर्वादिन् पद्ये उक्त शत्रुशस्त्राधिक्यमेव वर्णयति व्यास । यत्र गुणकेन भीष्मं तावत् प्रसूति—राक्षन् ! नीधस्वैव प्रभाव तावदान्तेष्वय । परशुराम लब्धेऽतिशक्ति वाराज्ज भुव शत्रियशक्त्या विदधे, स एव भीष्म शत्रुदेहमन्पाप यामास । परमविद्वानाम्भ्यां चत्वाया विवहप्रसङ्गे तस्मात्प्रभिय गुणमान स्वशिष्याद् भीष्मात् पराजय प्राप । एव स्वदत्ताया एकास्त्रविद्याया स्वशिष्ये भीष्मे रुद्रमादपि प्रकर्षे विद्याय अनुदन्वैव यत् गुणाना प्रकर्षे पात्राधीन । विशिष्टे पात्रे न्यस्या गुणा विरेश गच्छन्ति, यन्मद्विद्या, मच्छिक्षिता प्रयोगलाभ वादयश्च भीष्मे मदमेत्यापि प्रकर्षे गता इति । न केवलं राजाम्, किन्तु अस्त्रा विस्तृतस्य ममण्डलस्य पत्नीनाम्, न केवलं ज्ञाना, किन्तु ह्यता तदपि यद्व्यया नैश्वर्यम् अपि तु नि सतज्ज्वर इति परशुरामस्य परदुस्वर्षे यत्कीकुर्वन्ति पदानि-त्यादि चिन्मातु ।

रम्या घोरिणी तव विक्रमेण व्यापांश्च वीर्यान्वश्लैरिदम ।
 अत प्रकृषीय त्रिदिविधैर प्रकर्षेत्स्वरा हि एते जयभी ॥ १७ ॥
 त्रिःसहस्रतवो बन्धीनतीनां हन्ता गुण्यस्य स जामदग्न्यः ।
 वीर्यान्धूत स्म तदा विवेद प्रवर्षमप्यारदस्य गुणानाम् ॥ १८ ॥

१९

अधेशी मृष्युर्मामाधीन, पर इच्छ इमृष्युतया भीष्मस्य मृष्युस्तदधीनो नास्ति, अतस्तद्विषये यमोऽपि परामृत इति रक्ष्यापि लज्जा समाव्यते । तथा च यत्र यमपराक्रमोऽपि कुण्ठतो भवति, य मीष्मो रणभूमौ यदा धनुरारप्यत्यति, तदा कस्य चेतसि भयं न जायेत, सर्वेऽपि भीष्मस्य घरासनारोपणमात्रेण भीता भवन्ति । ततश्च तेन सह युद्धे न रक्ष्यापि सामर्थ्यम् । कथं च दुर्योधनपक्षगती भवन्निर्बोधित ।

२०

युधिष्ठिर ! युष्मानु क पलाट्या शरी यो रणभूमिमवतीर्णस्य अस्त्रप्रयोगै, धरुषैश्च शत्रूनाञ्जादयतो निगनिशयकुद्धस्य द्रोणाचार्यस्य समूलोत्थ स्यात्, स हि तदानीं त्रिभुवनं भस्मसात्कृतुमुद्यतो ष्वालारूपा स्वनिहा प्रसाध्यन् कालानल इव सर्वथा दुरभिमवो युष्माकम् ।

२१

य स्वलु क्रीपाद्योपमात्रेण महामदतो धीरानप्यधीरयति, यद्वा धीरोऽपि य कोपमाधिस्य समामे भैर्यं जहाति, मार्गं च परशुरामो य धनुर्वेदमपरापयति स्म, त वीर कर्णे कृपामे युष्मन्मन इष्टा सव्योऽकभगङ्करस्य मृ योरपि हृदि नूनम् अननुभूतपूर्वं भयमुररस्यत इति समाव्यते । आराधितेषुकेत्या देव-दारापतप्रस जेन परशुरामेण सर्वोऽप्यज्जग्रामस्तस्मै दत्त इति प्रतीयते । इह पूर्वं 'वीयान्त्ररलैर्विन्शो वरायानि' त्युप-यस्तम् तदनुसारिणैव ताद्वरप्येन भीष्मे वीर्यस्य, द्रोणे अन्त्याणाम्, कर्णे च बलश्रयातिशयो विवृत ।

२२ २६

रात्रन् ! युधिष्ठिर ! नाह मीष्मादिवर्णनेन र्वा मीषयितुमिच्छामि, न वा तव युद्धसाहसमपनेतुमत्रागतोऽस्मि, अकितु युद्धं प्रकषोऽपेक्ष्यते तल्लभाभार्थमह

परिमर्शनेभयकृत-यस्मिन् पामव प्रात इवा-तकोऽपि ।
 धु-व-घनु कस्य ररो १ कुर्वी मनो भयैकप्रवण य मीष्म ॥ १९ ॥
 सु-ज-तमाजाविपुसदी सहेत कोपज्जन्ति गुह क ।
 परिष्कु लोल शलाघप्रभ्रिहृ जगज्जिघृक्षतामवान्त डिम् ॥ २० ॥
 निरीक्ष्य सरम्भनिरस्वभैर्यं राधेयमाराधितभामदस्यम् ।
 भवस्तुतेषु प्रसम भयेषु जायेत मृष्योरपि पम्पात ॥ २१ ॥
 यथा समासादितसाधनेन सुदुष्करामाचरता तपस्याम् ।
 एते दुराप समवाप्य वीर्यमू-ञ्जितार कपिकेतनेन ॥ २२ ॥
 महत्स्वयोगाय महामग्निन्मामाराधनीं तां नृप ! देवतानाम् ।
 दानु प्रदानोचित ! भूरिषाम्नीमुपाप्य सिद्धिमिच्छामि विद्याम् ॥ २३ ॥

इन्द्रप्राप्तेऽजुंनोयोषासनापदतिसहित मन्त्र प्रदास्यामि, तेनास्य साधनशक्ति
प्रादुर्भविष्यति, तस्यैव पदस्या तेनैव च मन्त्रेणाय महाप्रभावा इन्द्राद्या देवता
आराधयिष्यति, तपश्चातिकठिनम्, शीतोष्णउर्ध्वलुत्पिपासादिसङ्घनरूपम् करिष्यति ।
ततश्च देवताप्रसादेन मनुष्यदुर्लभस्तादृश प्रभाव, तादृशानामस्त्राणां लाम्भास्य
भविष्यति, देवार्थं भीष्मादीनपि निहत्य भय प्राप्स्यतीति मत्प्रज्ञा विधेय साक्षात्
शिद्धिरेव स्या समावनीया । अस्यो न शिद्धिर्विदूरे इति ।

२४

पूर्वोक्त विद्यादान प्रतिज्ञाय व्यासो विरराम, तदनन्तर युधिष्ठिरस्त प्रसन्न
विद्याय 'दस विद्याग्रहणाय भगवत समीपं ब्रज, अभीक्षित साधय, इत्यजुंनमादि
शत् । युधिष्ठिराज्ञसोऽजुंनो विद्याग्रहणार्थं शिष्यवद् विनयेन व्यासस्य समीपं
गनवान् । यद्यपि विद्याग्रहणे शिष्यत्वमेव मुख्य प्राप्नोतीति 'इव' शब्दोपादन
व्यर्थमित्य, तथापि चिरमन्ते वसन् प्राक्तनशिष्य इवेति विवशणादक्षेपः ।

२५

यथा प्रातश्चत सूर्यस्य विम्बान्नि सूर्य रश्मयो विकसन्तु कमलेषु प्रविशन्ति,
तथैव सा विद्या व्यासस्य मुखानि स्याजुंनमुखे प्रविवेश । देवतासान्निध्येन मन्त्रस्य
बद्धिर्गुणाद्भ्रासुरस्यमुक्तम् ।

२६.

तत्त्वज्ञान विना न विशिष्टा मन्त्रशिद्धिः 'यदेव विद्यया करोति, तद्वीर्यवद्
भवति' इति श्रुत्यादिषु ज्ञानस्याङ्गतोपदेशात् । तत्त्वज्ञानन्तु योगेन (समाधिना
चित्तैकाग्रयेण) साध्यम् । योगो यद्यपि निरकाशाभ्याससाध्य, पर महर्षिभ्यां
सोऽजुंनयातिवठिन चिरकाम्प्राह्य योगमपि स्वतपोमहिम्ना सद्य एव प्राहितवान् ।
(विततार इत्युक्तम्, न शिशिष्ठ इति, तेन स्वात्मगतयोगातिशयोक्त एव सद्यो इत्
इति फलति) तेन च योगेन सद्योऽजुंनस्य तत्त्वशास्त्राकारोऽभूत् । चिरादन्यस्य
दृष्टिलामन्दस्याप्यखिलाज्ञानमञ्जन प्रकृत्यादितत्त्वशास्त्राकारकारक ज्ञानचक्षुःसमी
लितम् । करतगतामण्डवत् सर्वाणि तत्त्वान्यनेन साक्षात्कृतानीति ।

इत्युक्तवत् ब्रज साधयेति प्रमाणसंवाक्यमज्ञातशत्रो ।

प्रसेदिर्वाष तनुपाससाद वसन्निदान्ते दिनयेन निष्पु ॥ २४ ॥

निर्वाय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्विम्बादिवाकस्य मुखान्महर्षे ।

पार्थानन बद्धिर्गुणावदाता दीप्ति स्फुरत्सन्नामित्रानिपेदे ॥ २५ ॥

योग च त योष्यतमाय तस्मै तप प्रभावाद्विततार सद्य ।

वेनास्य तत्त्वेषु हृतेऽवभासे समुन्निमीत्तेव विराय चक्षु ॥ २६ ॥

२७.

प्राप्ते विद्यायोगोपदेशे अर्जुनस्य मनसि गहान् हर्षं उखाहश्च प्रादरभूत् । तदनुकूलेव तस्याकृतिस्तथा प्रतीयते स्म, यथानेन किमपि महदैश्वर्यं प्राप्तं भवेत्, तथाविधं तं दृष्ट्वा व्यासेन निश्चितम् प्रवचय तपसिद्धिं प्राप्स्यतीति । सतो व्यासस्तपसि प्रवृत्तये तं वक्ष्यमाणमुपदिदेश । अत्र अग्निहितस्थार्जुनस्य इदंशब्देन परामर्शो योग्यः, न तु परोक्षवाचनेन तच्छब्देन, ततश्च तच्छब्दोऽयं तपसि प्रवृत्तस्याप्यर्जुनस्य मुनेरपेक्षया दैव्यश्रवणमाह । अन्तःकरणेन नायं मुनेः अग्निहितः, तन्वासाय विजयेऽत्र रूपमेव, तेनैकादशसर्गकथा (वक्ष्यमाणा) द्योतितेति चित्रमानु ।

२८.

हे अर्जुन! अनेन मनुष्यदृष्टयोगेन ते तेजो वक्ष्यते, तेन तपसांमर्थं स्वयां प्राप्स्यम् । इदानीं तपस्यवया कार्यम्, तत्र सामान्या मुनीनामाचाराख्या पालनीया, निरन्तरं मनःनर्पं कुरु, उपवासं कुरु, त्रिभुज्ये स्नाहि, इत्यादि । विशेषेण च तवेदं द्वयं कृतम् यत्स्वया नियतात् स्थानान् चर्चितव्यम्, स्वस्थाने चान्यत्र प्रवेशो न देयः, (यद्वा-स्वविद्येयम् यस्मै न शिष्यीया) किं च तपस्यतापि सततं शब्दं धार्यमिति ।

२९.

हे अर्जुन! स्वयां पूर्वं सकलदेवराणाम् इन्द्रस्तपसा प्रसाद्य, स हि ऋतिने स्तपोभिः प्रसीदतीति दुग्धरं तपस्ते कर्तव्यम् । योग्ये च स्थाने तपसिद्धिरिति तपोऽर्थं हिमालयस्य शिलारक्षिणे इन्द्रकीलनाम्नि परंते रया गन्तव्यम् । तत्र मनोरमा शिलारूपाता, मनस्ते तत्र रक्ष्यते । दिव्यश्च स प्रदेशः, न मानुषास्तत्रानायासेन गन्तुं शक्नुवति, तस्मात्त्वां तत्र नेतुं गुह्यक एवो मया नियुक्तः, स चेदानीमागत एवेति जानीहि । (अगमिष्यतोऽपि शीघ्रागमबोधनाय एष इति निर्देशः) सोऽयं स्वसिद्धया क्षयेनैव स्वां तं परं तं प्रापयिष्यति । अत्र चित्रमानुष्यां चष्टे-गोत्र-भिद इतीन्द्रामिधानं शत्रुविधाताय तस्य प्रसादनीयतां व्यनक्ति, यथा गोत्रानधौ भिनक्ति, तथा शत्रूस्ते भेत्स्यतीति । तर्पायीति बहुवचनेन बहु

आकारमाशक्तभूरितार्मं दधानमत्तं करणानुरूपम् ।
 नियोजयिष्यन्विजयोदये स तपसांमर्थो मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥
 अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमपचञ्चन् ।
 समाचराचारदुपात्तशब्दो जपोपवासाभिष्वैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥
 करिष्यसे यत्र मुदुभराणि प्रवृत्तये गोत्रभिदस्तपसि ।
 शिलोच्चयं चारुशिलीक्ष्य तमेव क्षणान्नेष्यति गुह्यकरत्वात् ॥ २९ ॥

विधानि बहुकालव्याप्यानि च तपासि स्वया कर्तव्यानीति चोच्यते । करिष्यसे—
इत्यात्मनेपद कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, तेन स्वार्थे ते तत्र, पञ्चिद्विपर्यन्त च कार्यं
मिति व्यञ्जितम् । नैष्यतीति परस्मैपद द्व परगामिनि क्रियाफले, तेन गुह्यस्य
तव प्रापणे ऋडप स्वार्थो नास्तीति बोधितम् ।

३०.

अर्जुनाय पूर्वोक्तमुपदिश्य व्यासस्तिरोदधे । तेन भगवता सूचितागमनश्च यश्च
स्तच्छण एव तरिमन् स्थान प्राप्त । तद्धि स्थान भगवतो यास्य मूर्तिमती
आशेव- इत्युपेक्षितम् । आशाविषयत्वादाज्ञात् तत्र सभावितम् । यथा व्यासस्याशा
यज्ञेणास्य पाळनीया, तथा तत् स्थानमप्यवश्यमधिष्ठेयमिति तत्र सद्य एव
तस्यागमनम् ।

३१

स यक्ष अगस्पार्जुन प्रणनाम । अर्जुनोऽपि मधुरै शुभैर्वनैस्तेन सह संभलाप ।
तेन यश्च प्रियभाषिणि तरिमन् निरतिशयमनस्यति स्म, सुहृद्भव तत्क्षण एव
महान्त विश्वासमकरोत् । नैतन्निचित्रम्, यत् सञ्जनसमागम शीघ्रमेव विश्वास
मुत्पादयति ।

३२.

यदोदयमान स्यं सुमेधपर्वतस्य परदिग्गतान् कुञ्जान् विज्जहाति, तदानीं
स्यर्भावे सुवर्णरत्नमयत्वेन नैर्धर्गिकप्रकाशविशिष्टेष्वपि तेषु कुञ्जेषु यथान्वकार
कथंचिद्वस्थान लभत एव, तथैव यदार्जुन स्वाम्पुदयाय सभ्रातृन् विहाय
प्रस्थान्प्रवृत्त, तदानीं षड्विरहजन्य शोको विवेकत्रस्तु शत्रून् विजिगीषमाणेषु
च तेषु सुधिष्ठिरादिषु चतुर्षु भ्रातृषु कथंचित् पदमकरोत् । विवेकिनस्तेऽम्बु
दयनिमित्त आयमान भ्रातृविरह यद्यपि नाजीगणन्, तथापि कथंचिन्मन्दं
शोक मोह प्रसरतेषु जात । अर्जुनप्रेमातिशयस्तत्र निमित्तम् । उपमानस्य
स्यस्योष्णभा -शब्देनोक्त्या उपमेयेऽर्जुनेषु । तीव्रा परपरिमन्त्रास्त्रिव्यंभ्यते ।

इति ब्रुवाणेन महेश्वरसुत महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।
त राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितशो ॥ ३० ॥
कृतानतिर्घ्यादितसान्त्वनादे जातसृष्टि पुण्यवन स जिष्णो ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसाद् विश्वासयथाशु सना हि योग ॥ ३१ ॥
अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्द्युतीन्दुल्लङ्घितामलाम तम शनै पाण्डुसुतान्प्रपदे ॥ ३२ ॥

घायंगौर-मानो-य युधिष्ठिरादिभिर्भ्रातृविरह-य खदो दूरमपठार्यते स्म,
 प्रवृत्त भ्रातृप्रेम तु त खद पुनराहृष्य तपु भ्रातृषु तुल्यमानेन विभक्तम् ।
 समरूपम सङ्घु स्थानयति स्नेहि । तेन दुःखानुभवस्तेषां जात , परमत्र एवति ।
 तत्र हेतुसङ्घटन-समा मदानपि मारो यदि विभक्त बहुभिर्दृष्टेन, तर्हि चतुरेव
 प्रतीयते, तथा बहूनां (चतुर्णां भ्रातृणाम्) समान तुल्यनि मये विभागादिव
 तत्र लक्ष्य जातमिति । मनस क्षगिकवृत्तितया तत्र प्रादुर्भूताया शोकवृद्धेभविष्य
 वर्यप्राप्त्युत्साहेनोपमर्दात्पुत्रं मुक्तरम् , बुद्धस्तु स्थिरतया तत्र लापव दुष्करमिति
 मनस नृत्तौचस्य चित्रमानु समर्थयते । समानीय विमथ्यमान-इति वर्तमान
 त्वैक्या भूयो भूम कार्यात्साह शोकन-वारयति, भूयो भूयश्च भ्रातृप्रेम त एमान
 यतीति चान्तिम् । कार्यात्साहेन तुल्यं श्रुता प्रतीयत स्म । न तु बस्तुतो ल्युता
 जातेति 'मने' पदेन द्योतितमित्यादि चित्रमान । तल्यादिभागादिष्वेव च
 समविभागेनोक्तोक्त्य सङ्घे निवक्षितो मां यथा ल्यु प्रतीयत-इत्याया
 शयस्तेनोक्त ।

यद्यपि भ्रातृप्रेम्णा तद्वियोगशोक आविभाविता, तथापि तेषु च स्थितिं न
 लेभे । तत्र हेतवः—तथा स्वाभाविकी धीरता, न हि धीरा शोकवशमा भवति ।
 किं च व्यासवचने तेषां विश्वास , नानाशोकदिशार्तुन विद्विमेव प्र-प्रति, नाह
 किमपि कष्ट भविष्यति इत्यालोचनेन शोकपनोद । किं च शत्रुमिर्षाने तुल्यानि
 ब्रह्मनि, सायतुसमूह प्रतीकार-तथा तथा प्रवृत्ता, यथा तदग्रे न किमपि
 मावा-तर तिष्ठति, तथा शोक प्रणुत्त । किं च—भर्तृनस्य पराक्रमविवकादिक
 ते सम्यग्न चान-त, तेन चार्तुनस्य काणापत्त-मन सु न समा-यते, ततोऽपि
 शोकाम-व । एभिर्दुःखमिस्ते शोक-तण नामुदन् । एकन प्रेम्णा शोक स्थ-पत,
 अनेकेस-वकार्यते, तत्रश्चानेकविरोध एकर्याकिं तद्वशात्तस्मि शोकम्य स्थिति
 सम्प-दने-त-म् । पूर्ण हेतना तेषां धीरोदात्तत्वम्, द्वितीयेन धर्मिक-तन् ,
 तृतीयेन च तेरश्चिता व्य-यते ।

असंशयान्ति-त-कार्य-तु-च प्रम-न-नीय-मि-पमा ।
 दुःख-त-दि-भा-गा-दि-न-त-म-नो-मि-दु-व-वि-म-रो-ऽपि-तु-च-मने ॥ ३३ ॥
 धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेः स्त्रीबादगतिप्रमवाच मन्वो ।
 धैर्ये च विद्वत्सु मुते मनो न स तपु न स्वानमवाच शोक ॥ ३४ ॥

३५.

मुषिश्चिरादयश्चत्वारो भ्रातरः अजुंनविरहजन्यं खेदं मादयानि नानुबभूवुः,
यतस्तेतिविवेकशीलाः सहनशक्तिमन्तश्चेति, किन्तु स खेदं तान् सर्गान् परिपश्य
समूहभावमापन्न इव एकप्रवाहतामापद्येत् च द्रौपदीमाचक्राम । यथा दिनस्य
चतुर्दशभिः प्रहरेषु प्रकाशबाहुल्यादवकाशमल्पमानोऽन्धकारः प्रकाशशून्यां रात्रि-
माक्रामति, तथैवेति । यथा रात्रिरन्धकारमयी भवति, तथा द्रौपदी शोकवशात्प्र-
दिति तात्पर्यम् ।

३६.

एतस्यार्थं पर्वतप्रदेशे गन्तुमुद्यतमजुंनं साभिगच्छ द्रष्टुमिदेष द्रौपदी । सा
तस्या इच्छा तच्चेष्टया स्फुटं प्रतीयमानासीत् । परं तस्या नेत्रे प्रेमाभ्रपरिच्छिन्ने
अमन्त्रताम् । तेरभ्रमिस्तरस्या नेत्रे तथावृत्ते, यथा सा तं स्पष्टं द्रष्टुं न शक्नोति ।
यद्यपि नेत्रनिमोलेनेनाभ्रविन्दूनां बहिर्निपननात् स्पष्टदर्शनं सम्भावितमासीत्, तथापि
सा तथा नाकरोत्, यतस्तथा विनारिणम्—यद् विजयोनादप्राप्तये प्रस्थितस्य पर्युः
प्रस्थानसमयेऽमङ्गलसूचकमभ्रमोचनमलुचिनिमि । तेन अभ्रमि नयनवारेव कथं
चिद्गुरोष, नरन्भ्रातमकरोत् । अभ्रमिस्तरस्या नेत्रे तथा आभासताम्, यथा
हिमरेखाप्रपातेन तद्विशिष्टे कमले भासते इति ।

३७.

एतस्यार्थं गन्तुमुद्यतेऽजुंने द्रौपद्या सप्रेमं दृष्टिनात् कृतः, स हि दृष्टिपातस्तथा
स्निग्धमधुरो बभूव, तथा च द्रौपद्या अकृत्रिमं प्रेमं तस्मिन् व्यज्यमानमासीत्,
यथाजुंनस्य दृष्टिमेकान्ततस्तदाचकथं । स्वभाषयाऽपि प्रियं च दृष्टिगतमजुंनः
पापेनव-मन्यमानः सर्वेषु स्वीचकार । लोकेऽपि यात्रायै प्रतिष्ठमानः पुत्रघ्नो
मरुदेमार्गं भोजनाय स्वभार्यया प्रेम्णा समर्पितं मिणालादिकं पापेन सर्वेषु पृच्छति,
स्त्रियार्पितं पापेयं यपि क्षेमकरं भवतीत्यागमः । परमियमङ्गलिना पृच्छते, अस्य
दृष्टिपातस्य ग्रहणार्थं स्वजुंनेन प्ररुन्न मन एवाङ्गीकृतम् । मनसा दृष्टिपातस्य
ग्रहणं तु सर्वदृष्ट दृष्ट्वा मनसि तथा संस्काररूपेण निवेशनम्—यथा प्रकासे तत्

तान्मूरिधाम्भतुरोऽपि दूरं विज्ञाय यामानि च वासरस्य ।
एषौवभूत तदशर्मं कृष्णां विनाचरी ध्वान्तनिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥
दुषास्तेलाऽऽकुल्लेत्सामे पर्यभ्रमो मङ्गलमङ्गलीकः ।
अगूढभावाऽपि विगोचने सा न लोन्ने मीयितुं विदेहे ॥ ३६ ॥
अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनप्रसादाङ्गलिना निशामं जमाह पापेयनिवेन्द्रसनु ॥ ३७ ॥

सतत रिन्नयेत । मनसि पूर्वं तेन दृष्टिपातन प्रगदोदय, तदनु संस्काररूपेण तस्य स्थापनमिति द्योतयितुं मन प्रगदस्याङ्गित्त्वमुक्तम्, न तु मनसि ।

३८.

यथा ग्रीष्मर्तौ स्वल्पजल वादगभीरा नदी आरण्यकेन गजेन विरोध्यमाना निर्मलना च्छाति, तथैव शत्रुनिवारदु गिता द्वीपदी पर्युरास्य वियोगमण्डमाना धैर्यभ्रशेन अतितरा लुभितामन्त् । किं च पर्युरागमनसमयेऽगङ्गा माभूदिति तथा अभ्रुनिरोध कृत — इति पूर्वमुक्तम्, अभ्रुनिरोधे च वाक् स्पष्टं न प्रवर्तते, कण्ठश्च हल्लतीति स्फुटं लौकिकानाम् । अत एव कथञ्चिदतिकठिनतया गद्गदस्वरेण अर्जुनं प्रति क्षत्रियमुतोचितं वक्ष्यमाणमुवाच । यद्यपि पतिं प्रत्युपदेशदान पतिव्रतानामस्यन्तमनुचितम्, तथापि कृच्छ्रप्राप्ततया तथा कृतम्, अत एव कृच्छ्रादिनि हेतुपञ्चमीनिर्वाह ।

३९.

शत्रुभिः छलेन यथा भवतां सर्वां राज्यसम्पद् हता, तथैव भवतां सभावनापि हता । पूर्वं लोका “पाण्डवा ररा सन्तीति” भवत समभावयन्, आसीच्च भवस्तु तेषा बहुमान, पर सा सभावना च बहुमान, राज्यभिया सहैव द्विषन्तु इति लीन । यथा गवादि पक्षे निमज्जति, तथैव, पक्षमग्नत्वाद् दुर्बलर स । तस्य समुद्गारायैव भवान् तपसि प्रवर्तते, बहूनि तपसि स्वया कर्तव्यानि स्यु । अत एव तप विद्विष्यन्तमस्मात्तु उत्कण्ठितेन दुर्मनायमानेन न भवितव्यम् भवता, यत तप सिद्धयेव न आधयो निवर्तिष्यन्ते । दौर्मनस्य च तपोविघ्नकरमिति । यद्यपि भ्रात्रादिषु उत्कण्ठा दुःखया, तथापि तथा नोत्कण्ठितव्यम् यथा तपो विद्वन्येत्, पक्ष एवार्थो भ्रष्टपदेन सूचित । उन्मनीभू इति चित्रप्रत्ययेन तस्य स्वाभाविक धैर्यं द्योत्यते । समानोद्धार एव तपसां मुख्यं फलम्, सपदुद्धारस्तु आनुषङ्गिक इति च इवेन चिन्तम् ।

४०.

ये पुरुषा यशोलाभाय, सुखप्राप्तये, लोकोत्तरं कर्म विधाय दिव्यशक्तिगतये वा निष्कमुक्ता भूत्वा प्रयतन्ते, फलविद्विस्तेषां पार्श्वे स्वयमेवागच्छति । यथोत्कण्ठिता

धैर्यरसादेन हतप्रसादा च यद्विप्रेनेव निदाघसिन्धु ।
 निरुद्धवाग्दोदयस्य कण्ठमुवाच कृच्छ्रादिनि राजपुत्री ॥ ३८ ॥
 पक्षना द्दिसच्छास्त्रि पक्षपूते, सम्भावनां भूतिविशोद्धरिष्यन् ।
 आधिद्विषामा तस्या प्रसिद्धेस्मदिना मा भ्रष्टमुन्मनीभू ॥ ३९ ॥
 यशोऽधिगन्तुं सुखविषया वा मनुष्यसहस्रयामतिवर्तितुं वा ।
 निष्कमुक्तानामभियोगभानां समुत्सुकेवाङ्गमुपैति सिद्धि ॥ ४० ॥

प्रेयसी कान्तस्याङ्गमागच्छति तथेति । यदि कान्त स्वयमेवौस्तुक्य प्रकथ्येत्, तदा सा मान प्रदर्श्य त्रिलम्बते यदि तु कान्तो निरस्तुक इव स्यात्, तदा सा समुस्तुका अङ्गमागच्छति । तथैव ये सिद्धाचारपर्यमासक्तिं दर्शयन्ति, न तेषां सिद्धिं मुल्भा । ये तु केचन प्रयत्नरता अनुस्तुका, तेषां पाश्र्वे सिद्धिं स्वयं समेति, एतेन फलेऽप्यार्यर्षमौस्तुक्यं निषिद्धम् । यद्वा यथा दिव्यपदमोक्षलाभार्थिभिः स्वजनौस्तुक्यं परिहार्यम्, तथा लौकिककार्यिणामपि एकाग्रहासम्पत्तये यद्विषयकं प्रयत्नस्तदितरं विषयकमौस्तुक्यं निषिद्धमेव । अत एवार्जुनो द्रौपद्या भूयो भूय प्रवृत्तयेति, यत् तपः सिद्धिपरायणेन भवता अस्मासु औस्तुक्यं परिहृतं प्रमेवेति ।

४१

शत्रुभिर्योऽयमस्माकं केशाकर्षणादिरूपं परिभवः कृतः, तेन खलु अस्माकं तेजो हनम्, तेज एव च धर्मिण्यज्ञातेमुख्यं धनम्, यतो लोकरक्षार्यमियं जतिर्विधात्रा सुष्टा, लोकरक्षा च दुष्टविजयसाध्या, विजयश्च तेजोऽधीन इति । यद्वासर्वेषामेव क्षत्रियाणां तेजोऽनेन हृतम्-यतो हि क्षत्रियाणां पश्यतामेवैतदस्याहितं स्थानमल्पम् । यदि क्षत्रियाणां तेजोऽमविष्यत् तर्हि किमेतदस्याहितमप्रतीकारं स्थानमल्पस्यतेति लोका निचारायन्ति । किंचैतेन परिभवन्न स्वभुजाजितमात्रमुपभुञ्जानानां तेजस्विना प्राणवत् प्रियोमिमानोऽपि एण्डयन्ते, क्षत्रियाणां हि मानहानिं प्राणहानिसमा । तेषां हि विजयसाधनी तेजस्विता माने एव तिष्ठति, मानस्तस्यां प्राण इव, मानाभावे दहनस्थिते । अत्र विजयैकवृत्ते रथनेन विशेषणेन क्षत्रियस्य विजितं द्रव्यमेवासाधारणं स्वं भवति इत्युक्तम् । तथा च अहं स्वयां अनेकेषां क्षत्रियाणां मध्ये मत्स्यबंधं विधाय विजिता अतस्तरं मयि असाधारणं स्वत्वं भवति, इत्थं च रथादस्य तेजस्विनः क्षत्रियस्य स्ववस्तुनः परिभवः पश्यतः किमेषां प्राणहानिसदृशी मानहानिं सोढव्या इति निगूढोऽभिप्रायः । विजयं रथजुनस्यैकं नाम, तेन, विजये रथयेवैकस्मिन् तेजस्विता तिष्ठतीत्यपि शनितम् ।

४२.

यदैव सभामध्ये जातोऽस्माकं परिभवः देशान्तरीयेनृपतिभिः भुतः, तदा तैरपि सहसा न तत्र विश्वासः कृतः, यतस्तैः पूर्वं विचारितम् यद् नैवविषं परामव ईदृशानां वीराणां समवति, परन्तु भावयितारो विश्वसनीया आसन्-अतस्तैः कथंचिद् विश्वासः कृत एव तदा च अस्माभिरक्षवद्भानामपि तेषां राणां स्त्रीवेश-

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोज ।
 तेजस्विनाया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥
 प्रीडानतैरासन्नोपनीतं सद्यश्च कृच्छ्रेण दृष्टैः प्रपन्नम् ।
 वितानमूलं विततं पृथिव्यां यद्यं समूहस्त्रिंशद्विश्वकर्णम् ॥ ४२ ॥

कर्म-दिरूपस्य दुष्प्रवृत्तस्य भवद्-व्यवसाय-मुष्णान्धवन्तान्पालन् । अथवा
 रनाया विद्वाननैस्त्वै रात्रिरेषोऽपाचार एतदर्थमुनश्चै-यद् दुर्बोधन पाण्डव-
 नानानोप एव, आत्मीयकृते च मन्त्रस्यैवदाति-व्यनेवेति, इतरथा ते कदापि
 न वैकल्पन्त । किं च यथा माल्या प्राङ्गादिगतोऽवधरः समुत्पते-यथैवेतेन
 परिभवेन दिष्टु विज्ञानम् इतिवत् नरा यथो निरविशेष मनुष्यम् । लोक्य मुष्णान्
 पूर्वतनं प्रथमं व्यस्यन्तिति मान । इह 'पृथिव्या विज्ञानमून्' इत्युक्त्वा ह्यो
 यथा प्रसाये बोधित, तेनाहुंनहुं खण्डवदादे देवतरेभ्यः स्नायते, विवदन्-
 इत्युक्त्वा पृथिव्यां विस्तार, तेन पुषिष्ठितस्य प्रजापालनसौष्ठवं स्नायते, दिग्दि-
 कोर्गमित्त्वा नीनादिकृतो दिग्बिम्ब स्नायते ।

४३.

किंचैतेन शुकनासकारेण मन्त्रां दिक्ते, पुराहनेषु वीरकर्मणु तयाकर्मणां
 ह्यन्, यथा तेषां किंते इव जात । लोक्य न स्मरन्ति-न च भवते यदेतै-
 मध्येतन स्नानीतिस्कार रूपां सहमानै पाण्डवै कदाचिद्-निन्त मनेत् ।
 किं च अद्यैतेन निरकारेण नरा कीर्तितया लोप्या, यदेवं कदाचिज्जैव
 नेयन्तुभूते । अरि च-यथास्तमनं क्षा-तिवृत्तौ ह्यमनां सङ्कोचयति, तथैवा-
 यमकारो मन्त्रानुत्तरकालिको कर्तुमिति सङ्कोचिज्जान् । निरहृतानां दुःख-
 कर्तृदरिति ।

४४.

चतुर्वेदे-दुष्प्रवृत्तस्य केषाङ्गर्गादिभ्यस्य न परेभ्यस्य स्मरणमपि दुःकरम्,
 तस्य प्रयोगविषये चिरं तरङ्गनविषये वा किञ्च वक्तव्यम् । यद्यपि चिरात् एव
 परेभ्योऽस्मिन् मे हृदय काञ्चनो कदाचित् तरङ्गने घोरा प्रातन्, तथापीदानीं
 त्वद्विद्योगखेदाभावात् ए पुरातनं परित्यज्य पुनः स्मरणं नूतन इव पूर्वम् हृदयं
 खेदविपरति । यथा धनैः धनैः सुखं वै कस्मिन् पुराणप्रये यदि आभावात्तरं
 मनेत्, तर्हि स पुनराहंतां गता बोधयति, तथैव दुःखेभ्यः पुनरनन्त दुःखान्तरं
 पुनरपि पुराण दुःखदुःखदयती ।

४५.

हे पार्थ ! यथा कश्चन दन्ती दन्तधरो जाते स एवापमिति प्रपन्निहातुं न

वैशान्दानेषु कृतावमर्षान्तराभून्निव कर्मप्रतीतिम् ।

कुर्वन्प्रयामध्वरानपनीतमकंक्षामः इवा-रेष ॥ ४३ ॥

प्रहस्य योऽस्मन्नु परैः प्रमुक्तः स्मर्तुं न शक्तः किमुनाधिकर्तुम् ।

नरीकरीभ्यस्तुशुभ्रदाहं ए स्मृतिना मे हृदयं निवार ॥ ४४ ॥

प्रपन्नेऽनेन नव्यतनादतस्य दन्तीव दन्तदन्तद्विकारम् ।

द्विषद्भवात्तान्तरितोऽस्तेजाः शतदनाकीर्णं श्वदिरः ॥ ४५ ॥

शक्यते, तथैव त्वमप्यात्माभिमाननाशेन न शक्यसे प्रत्यभिज्ञातुम्, यदयं स एव
 धनञ्जय - य उत्तरकुक्षुम् विजिष्यासस्य धनमादितवान् । वर्धमानेन शत्रुप्रलापेन
 तव तेजस्तयाऽऽदितम् यथा तव शरद्वतुमेधैराऽऽन्नं प्रातः काल इव निःप्रभो न
 प्रत्यभिज्ञायते । तदानीं हि एकतः सूर्यप्रभा स्वयं मृद्री, अपि च मेधैराऽऽत्मा
 इतः हेतोः प्रातः काल एवायमिति प्रत्यभिज्ञा न प्रसरति, एव त्वमपि पूर्वतनतेजसो
 विनाशेन सर्वथा स एवायमिति न परिचीयसे । मध्याह्ने तु मेधावरणे सत्यपि
 प्रत्यभिज्ञायते एवति प्रत्युष्टस्यैवोपमानत्वमुक्तम् । यथा शरद्वना न प्रावृद्धधनवद्
 दुर्भेद्या तथा तवापीयमापद् न दुर्भेद्या, अपि तु कृतयस्नरस्य शीघ्रमिमा तरिष्य
 सीत शरस्पदव्यङ्गयम् ।

४६

हे पार्थ ! इदानीं तवास्त्राणि क्रियाशू यतया सलज्जानीव भान्ति, सलज्जो हि
 न विद्येष्टितु प्रगल्भते । तव निराकरणे तवास्त्राणामपि लज्जामूत्, तत एव तानि
 व्यापारे न प्रवर्तन्ते-इति सम्भाव्यते । लज्जितस्य च अपटुता-नि सत्त्वा एवा
 भाविकी, अतो नि सत्त्वैरिव तैरस्यैस्त्वं न शोभसे । 'अर्जुनोऽस्त्रैस्त्रिलोकीं चेतु
 समर्थं-इति पूर्वं तव शोभामूत्, इदानीं तु शस्त्राणि व्यापारशून्यानि, दृष्ट्वा न
 तथा सम्भावयन्ति लोका । तत्र पूर्वं सञ्चितं यशोऽपि क्षीणम्, तथा च यथा
 क्षीणज्वाल सद्द्र केवलं रिक्तगर्तं प्रतीयेत्, तथैव यद्य क्षयात् स्वमपि निःसार
 प्रतीयसे । किं बहुना, स्वयि सर्वे तथा परिवृत्तम् यथा त्वं पूर्वदिल्लक्षणो लक्ष्यसे,
 न प्रत्यभिज्ञायसे । अस्त्रैस्त्वं स्वमनवभासमान इत्युक्तम्, न तु अस्त्राण्यनवभास
 मानानीति, तेन अस्त्रेषु न प्रतीघातादिदोष, स्वयमेव तदव्यापारण दोष इति
 शोचितम् ।

४७

मथ्येसमं तव पश्यत इमे मम केशा दुःशासनेन आकृष्टा, तदानीमवा
 नाभूत् कश्चिद् रक्षकः, सत्त्वपि युष्मासु नाथेषु अनाथा इव इमे ज्ञाता तदानीं
 केवलं भाग्यमेवैतेषां शरणमभूत्, अन्यथैतेषां स्वरूपमपि लुप्येत, एव स्वशक्तीक
 शक्येर्षणं तूष्णीमुपेक्षमाणस्य ते शौर्ये बलं चोभयमपि गर्हणीयता गतम् । यत्तव
 वीर्यं देवैरपि दुरासदम्, तदचेतनैः केशैः कदर्यितम् । स एष दिल्लक्षण परिवर्त
 तव धनञ्जयसर्वं सदेहयति, तस्मात् पृच्छामि-किं एव स एव-प्रसिद्धकर्मजुनोऽसि,

सर्वीहमन्दैरिव निज्जित्वात्त्रास्यर्थं नक्षैरवभासमान ।
 यद्य क्षयात् क्षीणज्वालागंवाभस्त्रमयमाकाराप्रवामि च ॥ ४६ ॥
 दुःशासनामपरंजोविक्रीर्णैरेमिदिनाथैरिव भाग्यनाथे ।
 केशैः कदर्यकृतवीर्यसार कश्चि स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

इत्यभिप्रायमाह । पर तस्मिन्नर्थे 'तत्र अध्यानाम्' इत्युक्तिस्वास्त्य नास्ति ।
'अस्मद्विना मा भृशमुन्मनीम्' इति पूर्वोक्तमेव च तथा सति पुनश्च रथात् ।
स्वस्य दुःखनाशप्रार्थनापेक्षया प्रियस्य दुःखनाशप्रार्थनैव युक्तमिति च विवेचयन्तु
सुाभय । किं चाधाशीरर्थकेऽलकारे सत्यपि, स्वय तथा व्याख्यायापि च कर्तव्यो
पदेश मस्मिनाथो मनुते ।

५१.

पार्थ ! विजने प्रदेशे चिर तया स्येषम्, भृत्यादिविरहेण शैकाकिनैव तत्र
तत्र पर्यटनीयम् । अन्यो यदि सहायो मजत्, तर्हि स समये हित बोधयेत्,
पर तथाभूतस्याभावात् स्वयमेव स्वया सततमवहितेन स्यातव्यम् । विजन
शान्तश्चाय प्रदेश, किमत्रानिष्ट सम्भाव्यते, किं च नाहमत्र कस्यापि प्रियमप्रिय
वा करोमि, तत्कुतो मे कश्चिद्वैरी स्याद् इति विचार्य प्रमादसक्यता न कार्य । यतो
हि भवन्ति तादृशा रागद्वेषदूषिता जनास्तत्रापि, ये सत्पुरुषाणामप्यनिष्ट स्यादयितु
यत्न इति । मात्सर्यदूषिततया शत्रुसम्भावनीय-यस्ता, रागदूषितत्रोक्षया चाप्सर -
अभृतीना स्त्रीशामासक्तिसमा-ला प्रोक्ता । उभयत्रापि सत्सत्त्वानेन स्वया मा-व्यमिति
कर्तव्योपदेश ।

५४

पार्थ ! य मया निवृत्तम् तत्सर्वं विचार्य महर्षरादेशमनुसृत्य तपोऽनुतिष्ठन्
सर्वेषां स्वदुःखरतणा मम च कामान् पूरयस्व । अस्माक केवल ते मनोरथा एव,
त्व तु तत्पूरणोऽपि समर्थ । तेन तत्रापि अस्माभि सद् समृद्धिं लाभ, कीर्तिलाभश्च
स्वतन्त्र स्यादिति कुर्वन्स्वत्यात्मनेरदेन धोस्यते । यद्यपि प्रवासकाले गाढमालिङ्गन
कर्तुंमुचित, तथापि निकारसतप्ते मानसे न तत्प्रीतिदमिति, यदा स्व कृतार्थ
प्रत्यावर्तिष्यसे, तदैव सा गाढमालिङ्गिष्यामि । एवपदेन 'नास्मिन् समये' इति
वर्तमान परिरम्भण व्याख्ययते । ईदृशे अत्यावश्यकेऽपि कर्मण्यप्रवृत्ति परिभवन्नितस्य
सतापस्यातिशय व्यनक्ति । यद्वा कृतार्थमेव प्रत्यागतमिति योष्यम्, तेन च स्व
यत्नपरो कृतार्थ कथमपि स्या - इति फलप्राप्तौ निश्चयो धोस्यते ।

५५

पूर्वं प्रातोऽपि परिभरो व्यासद्वाद विवृत्त इव, स इदानीं श्रीपथा अभि

मा गाश्चिरायै-रुचर प्रमाद वसन्नसम्वाधशिषेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मना हि स्तत्रन्ति सादुःखवि मानमानि ॥ ५३ ॥
तदाशु कुर्वन्वचन महर्षेर्मनोरथान सङ्गीकुर्वन् ।
प्रत्यागत त्वाऽहो कृतार्थमेव स्तनोपपीड परिरन्तुकामा ॥ ५४ ॥
उदीरिता तामिति याससन्त्या नवीकृतोद्माहितविप्रकाराम् ।
आसन्त्य वाच स भृश दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरदिम् ॥ ५५ ॥

निवेशवान्ना पुनरुद्घाटय-पुनर्नवीकृत्यानुभावित, तेनाजुं स्य क्रोध प्रदीतोऽभूत् । यथा स्वभावदीप्ताऽपि सूर्यो दक्षिणा दिशमासाद्य कश्चिदल्पेजा उदीचीं प्राप्य पुनः प्रदीतो भवति, तथैव स्वभावेन तेभ्यो अप्यजुंनो जातिवत्सत्या रक्षत्रिस्तौभ्यतां गतो द्रौपदीवाचमाकर्ष्य पुनः प्रदीतोऽभूदिति ।

५६

द्रौपदीवाचमाकर्ष्य पारमवस्मरणेन अजुंनस्य तथा वृत्तिर्भूव यथा शत्रवस्त्वस्य समुल्ल एव तिष्ठन्ति यथा शत्रुन् पुरो दृष्ट्वा क्रोधो दीप्यते, तथैव तस्य क्रोधदीप्तिर भूत् । प्रस्थानकाले पुरोहितेन समन्वमन्त्राणि तच्छरीरे यथोचितं स्थापितानि । तेन रम्यानि तदाकृतिरिदानीं भयप्रदा प्रतीयते स्म । यथा स्वभावसौम्योऽपि मन्त्रो यदा मारणादिकर्मसु विनियुज्यते, तदा भयप्रदो भवति, तद्वदेव कार्यकाले अजुंनस्य भीषणत्वमिति ।

५७

पुरोहितेनाजुंनस्य शस्त्राण्यारोपितानीत्युक्तम्, कानि तानीति विवृणोति-सति यस्याकर्षणे कोऽपि शत्रुर्षोद्धु न शक्नोति, यद्वा-यस्याकर्षणमजुंनाहते कोऽप्यन्यो न कर्तुं शक्नोति यद्वा कस्याप्यन्यस्य धनुषो विकर्षणं यस्य विकर्षणं नातिशेते-तद् गाण्डिव धनुराजुंनेन धृतम् । अक्षय्याणनिधी तूणीरौ च निरदौ, ययोर्दर्शनं कदापि शत्रुभिर्न कृतम् । तूणीरौ हि पृथतो रभ्येते यदि समामे योद्वा पलायेत, तदा तूणीरौ शत्रुभिर्हस्येताम्, न अजुंनं कदापि समामाविवृत्तं तेनास्य तूणीरौ शत्रुभिर्न दृष्टौ । तूणीरुषार्धं एव खड्गोऽप्यजुंनेन बद्ध ।

५८

कवचमप्यजुंनेन धृतम् । तस्मिन् कवचे रत्नानि तत्र तत्र निवेशितान्यासन् । अतएव तत्कवचमजुंनस्य शरीरे स्थितान् तान् मृगान् तेजसा तिरोधत्ते स्म, ये खाण्डवदाहे इन्द्रेण सह युष्यमानस्य तस्येन्द्रासुधै कृता । तत्र सादृश्यमुच्यते-यथा इन्द्रेण सह कृतसङ्गरोऽयम्, तद्वज्रप्रहारानपि सोढ्वा खाण्डवदाहं चकारैव । अजुंनस्य प्रथितेन यशसा मृगा तिरोहिता-जनानां मनस्सु न गण्यते स्म, तथैव कवचेनापि ते तिरोहिता इति । किं च कवचमिदं रत्नैस्तथा प्रतीयते स्म

अथामिषश्यतिव विद्विष पुर पुरोधसाऽऽरोपिनहेतिसहति ।
यमारम्योऽपि वपुः स भीषणगत क्रिया मन्त्र इवामिचारिकीम् ॥ ५६ ॥
अविन्द्वच्च विकर्षणं परं प्रथितं पारवकर्मं कारुणिकम् ।
भगताऽरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिशयुजो महेषुधी ॥ ५७ ॥
यशसेव तिरोध-मुद्गुर्महसा गोप्रमिदासुधधनी ।
कवचं च सरसनमुद्रहंस्त्रलितक्योतिरिवान्तरं दिव ॥ ५८ ॥

यथा तारकाकलितो नभसो मध्यभागो भवेत् । लोहनिर्मितस्य कवनस्य कृष्णवर्णं
दक्षया प्रतीयमानेनाकाशैकदेशेन साम्यम् , रत्नानी च तारकामि । कवनस्यैक
देशसाम्योक्त्या अर्जुनस्य कृत्स्ननम चाभ्य प्रतीयते ।

५९

कुबेरस्य भृशो गुणकोऽर्जुनं प्रति मार्गं बोधयति स्म, तत्रैव मार्गेय पूर्वोक्त
वेधोऽर्जुनो हिमालयस्य इन्द्रकौलसशक शिवर प्रति प्रस्थित । अभिशेन गुणकेन
शिव पन्थास्तदर्थं निर्दिष्ट , दन ब्रह्मोऽस्य न कापि वाधा भवेत् । तदा तत्रया
सर्वेऽपि तरदिन तद्रतमनस्का समूह । तद्विवोगेन च तेषां बाष्पेद्रमोऽपरमूर् ,
पर तपरिवतया ह्येनैव बाष्पेद्रस्तमितः ।

६०

अथ प्रस्थितऽर्जुने तद्विजयनिर्भयप्रदृष्टा , मङ्गलनरञ्जयन्त्य देवा सर्वे
दुन्दुभीर्वाद्यामाहु , तस्य शब्दस्य प्रतिश्रुति सर्वासु दिक्षु भवते स्म । किं च
पुण्याण्यपि देवा वरुषु , तैर्नम शोभान्वितमभूत् । अघामिद्यागमसुरपशुमाणा
दुयोधनादीना विधातो देवभार्यमेवाऽर्जुनेन संशयमिति तेषां हर्ष । किं च मादि
महासमरसूचनाय मूमिश्चक्रे, समद्रथ प्रवृद्ध उत्तरङ्गमाल आसीत् । तत्र हवि
स्येभ्यः—प्रिय समुद्र स्वप्रिया पृथ्वीम् 'ना विभीदि, भारतस्ते शिप्रमग्नेभ्यते'
इति प्रिय सदेशमाख्यातु वीचिभिर्भुजसदृशैरालिङ्ग, सा च सारिपश्मावोदयेन
प्रकम्पिता, हर्षोन्ललिता चामुदिति । यथा कश्चित्कान्त प्रियं सदेशमाख्यातुं
कान्ता भुजाभ्यामालिङ्गति, सा हर्षोन्ललिना वेपमाना च भवति, तद्वदिति ।
समुद्रकूर्मुकमालिङ्गन पारत स्वर्गं एव । सर्गमाप्तिपथे लक्ष्मीवर्द्धं लक्ष यक्षुपहाकांश
शैलीसंरक्षणाय ।

इति किरातार्जुनीये तृतीय सर्गं ।

अस्त्राऽधिपभृशदक्षित शिन्नुर्वाहरवर्मं सप्रयान् ।
हृदयानि समाविवेद्य स क्षमसुदवाप्यदृष्ट्या तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथ दिव्य दुन्दुभिर्गाममाशा
शुरुमुमनिपौषोभिर्न लक्ष्मीर्वितेने ।
प्रियमित्त्र कथयिष्यत्रालिङ्गि स्फुरती
भुवमनिभ्रतवेलावोविदाहृ पयोधि ॥ ६० ॥

किरातार्जुनीयस्य एकादशः सर्गः

कथासम्बन्धः

इन्द्रकील नाम हिमालयस्यान्यतमं शिखरं गतोऽर्जुन इन्द्रप्रसादनाय दुश्चरतर्पस्तपे । वनरक्षकमुखेन भ्रतस्तद्वृत्तान्त इन्द्रः परोक्षार्थं तपोविघ्नायाप्यरोग्णमादिदेश । गन्धर्वे सहिता अप्सरोऽर्जुनाधिष्ठितपर्वतसमीपमेत्य विविधान् विहाराश्चक्रुः । अनुकूल्युसहायाश्च विविधामिक्षाष्टामिरर्जुनं प्रलोभयितुं प्रयेतिरे । किन्त्वर्जुनस्यासाधारणं स्वयममालोक्य विप्लप्रयासा स्व स्व धाम प्रतिजग्मुरिति दशमे सर्गे गतम् ।

तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१

प्रतिनिवृत्त्य ताभिरप्सरोभिस्तद्वृत्तमिन्द्राय निवेदितम् । इन्द्रश्चार्जुनस्य स्वामात्रिकीमागन्तुं चोभयविधामत्रि जितेन्द्रियतामाकलय्य प्रससाद, अर्जुनो हि स्वमानैत्रि जितेन्द्रिय आसीत्, इदानीं शत्रुनितामर्षेण विरोधतो जितेन्द्रियता सपादिता, नह्यमर्षवशीकृते मनसि विरु सञ्ज्ञा स्थानं लभते । ततश्चेन्द्र स्वयमेव तद्वाट्यपरीक्षार्थं छद्मरूपेण तदाश्रमं जगाम ।

२.

स्वाश्रमे समागतं मुनिवेशधारिणमिन्द्रमर्जुनं साक्षाच्छकार, तेन स वृद्धो मार्गभास्तद्वच मुनिरिति विज्ञातः । अर्जुनो हीन्द्रस्यैव सुतः, परं कमथयमादिना योभ्यश्चेति दर्शनयोभ्यतामाकलय्य इन्द्रेण तस्मै दर्शनं दत्तम् ।

३.

वृद्धमुनिवपेगार्जुनसमीरमुपागतस्ये द्रस्य शिरश्चेत्कशनिवद्धजगालमण्डितमासीत्, तेन शोभमान इन्द्रस्तदानीं चन्द्रकिरणसृष्ट्या सप्यया शोभितस्य दिनान्तरस्य सादृश्यमुवाह ।

अथामर्षात्रिसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तथा ।

आजगामाश्रमं जिष्णो प्रतीतं पावशासन ॥ १ ॥

मुनिरूपोऽनुरूपेण वृद्धो ददृशे पुर ।

प्राधीयसा वयोतीतं परक्वान्तं किटाश्वना ॥ २ ॥

जगतां कीर्त्या केशै सहित्या परितः प्लितै ।

पृष्ठयेन्दुकरोरहं पर्यन्तं इव सप्यया ॥ ३ ॥

परिणतरूपस्त्वमि द्विदिनात्तयो स हृदयम् । कल्प्यां तमसा न्यामारि चन्द्रकिरणै
श्वेता भवन्ति, तथैव देशा स्वभावेन इयामा अप अ न तुम्ह्यया इत्यै नीता इति
तयो साम्यम् ।

४

हृद्रस्य नेत्रे कमलसदृशो, वृद्धरात तस्य भ्रूवौ पालित्य प्राप्ते, लम्बमानाश्च
तयोर्बाहो नेत्रे आच्छादयन्ति स्म । मासस्य स्वप्नशास्त्रप्रामातभागावपि बलिबिंशि
द्यौ, किञ्चित्ती अत एव स तदानीं तस्य सरसं साम् प्राप यस्मिन् निरतरदुगार
पातेन कमलानां दलान् स्नानानि स्यु । तुयारसमा श्वेता भ्रूवाला, म्लानता च
वलितशक्ति ।

५

यद्यपि वृद्धस्य तस्य पाण्णपादाद्यवदवा अनिकृशा तथापि स निर्वलत्वात्
तान् बोद्धुं प्राभवत्, तेन ते भारशुक्ता इव प्रतीयंते स्म, निर्वलस्य स्वशरीरमपि
भारायते इति भाव । अत एव स प्रायः शरीरोपष्टम्भाय यद्विमलम्भते स्म । यथा
पतिव्रता स्त्री अनुयोग भोजनपर भर्तार स्वयं भोजनाद्यवल्ब दत्त्वा धरति तथैव
यत्रिरपि धरति स्म । अवलम्बे यथा कर्तुं प्रतिशब्दनेन वृद्धस्य स्वशक्त्यभावे
शोतित, न हि स यत्रिं धरति स्म, अपि तु यद्विस्त धरति स्मेति ।

६.

यद्यपि मुनिवेषेणैव स्वस्वरूपं गोपयामास, तथापि लोकातिशायि तस्य तेषो
बोधयति स्म यदस्वयं कथंन महापुरुष इति । यथा वर्षासु स्वल्पेन मेघमण्डलेना
चञ्चनेनापि किरणसहस्रेण दुरभिभवेन स्वतेजसा दीप्यत एव, तथैव सोऽपि दीप्यते
स्म । अश्रुमानिति लोकाभिभाविना इति च आच्छादनेऽपि प्रकाशनयोग्या
न्यनक्ति ।

७

यद्यपिन्द्र शरीरेण वृद्धो लम्बते स्म तथापि तस्य दिव्या मूर्तिराभमस्य शोभा
मतिशोते स्म, तदानीमतितेजसिस्तस्यागमने तरप्रभायणाश्रमो नीरवस्तच्छतया

विशदभ्रयुगञ्जलवलिनाप क्लोचन	।
प्रालेयावततिम्लानरलाशाब्ज	इव हृद ॥ ४ ॥
आसक्तभरनीकाशैरक्षै	परिकृशैरपि ।
आद्यन् सद्दृष्टिष्येय प्रायो यद्व्यावलम्बित	॥ ५ ॥
गुहोऽपि वपुधा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।	
अश्रुमानिव	तत्रभ्रयुगञ्जनिप्रद ॥ ६ ॥
अरतीमपि	विभ्राणस्तनुमप्राकृताइति ।
चकाराकान्तलक्ष्मीक	ससाधुसमिनाथमम् ॥ ७ ॥

समुत्पन्नभीतिरिव दशैः । तेन स्वदर्शनाद्विभय भवति, भयाच्च नीरवता जायते इति । अत एव कवेना सताध्वसमिवेतु प्रक्षिप्तम् । यद्वा इवशब्दोऽपूर्णनाथ । मय प्रतीयते स्म, परं तु शब्द नाम् । तस्मान्न वास्तव भयमिति ।

८

स्वाभ्रमे समागतमिन्द्र इष्ट्वा तद् विषयेऽजुनस्य मनसि महान् स्नेहोदयो जात । यत इन्द्रस्तस्य जनक आसीत् । यद्यजिन्द्रस्य कपटमुनिनयाजुनेन न ज्ञात यदेष मम जनक इति, तथापि प्रकृतिरयं यद् वाच्ये अज्ञातेऽपि तत्तन्नामात्रेण चैत स्वयमेव प्रसीदति । परितस्तरे इति पूर्णनया संशये लाक्षणिकम् । आख्यानतरे तु अतिप्रेम्णा अजुनस्तस्मा आसनादक ददाविति भाव ।

९

अजुनेनातिष्य कृतम् । इन्द्रेण तद् पृथोक्तम् । यद्यपि अस्तुनस्तस्य न कापि आतिरासोत् । तथापि अजुनस्यतया तेन अन्तेरपनयो नाटित । ततश्च अजुनस्ये ।

१०

इन्द्र स्वस्थापरिचिन्ता दर्शयन् अजुनं मुमुक्षु मत्वा वक्ति-स्वया युवास्याया मेव तव प्रारम्भ साधु कृतम्, यत् तव एव वैराग्यमुत्तरादयति, विषयवैराग्यमेव च जन्मन सापन्नम् । लोक बहुल दृश्यते महेशा सजातवलीपलिना शिखिले त्रिया अतिवृद्धा अपि विषयैराकृष्यन्ते, यूनं तु का जया । अतस्त्वादृश साधु कारी प्रशस्य एव ।

११

मद्र ! त्वं न केवलमाह्वया मनोहर, अपि तु स्वरूपानुरूपा गुणा अपि स्वया लब्धा, यतस्तु भयस्करे तपसि प्रवृत्त, एवमूतस्त्वमेव दशध्वोऽसि । लोके रमणीयतया बहुतो भवतु, गुणार्जनपरा पर कश्चिदेव, त्वयि तु रम्यता गुणार्जनं चेत्युभयमप्यस्तीति मुनिगीरमयोवोऽंग ।

अमितस्त पृथासु स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धो हि बलात्प्रहादते मन ॥ ८ ॥
आनिषेयीमथासाद्य मुनाइपचिति हरि ।
निश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारति भारतीम् ॥ ९ ॥
स्वया साधु सम रग्भि नव वपसि यत्तप ।
द्वियते विषये प्रायो वर्षोऽननरि मादृश ॥ १० ॥
भयसी तव सप्राप्ता गुणसपदमाकृति ।
मुलमा रम्यता लोक दुर्लभ दि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

१२.

यथा शरत्कालिकमेघाना छाया अस्थिरा भवति, तूर्णमेव नश्यति, तथैव यौवनशोभाशोभमस्थिरा, न हि यौवन कस्यापि स्थिर भवति, येनोन्माद्यन्ति लोका । श्रीरप्पस्थिरैति व्याख्यानतरे । तथा शब्दादयो विषया इमे उपभोगकाल एव रमणीया प्रतीयन्ते, परिणामे तु शरारेन्द्रियादिशैथिल्यहेतुतया दुःखदायिनो भवन्ति, अतो विषयान् विहाय तपसि मनो ददता स्वता साधु कृतम् ।

१३

किञ्च तपस्विन् ! सर्वथा जगदिदं रपाद्यमेव, दुःखं कान्तस्वत् । आदौ हि अग्निमनो गर्भवासादिदुःखमेव महत्, (इदं अग्निपदेन ध्वनितम्) ततो जातस्य जीवनमप्यनेकसकटाकीर्णम् । यदि सुखमपि क्वचित् कदाचिद्भवेत् तर्हि दुःखकान्तमेव तत् । (इदं सततापद इति विशेषणेन व्यञ्जितम्) तदपि च कालाधीनम्, न जाने कदासिदेत । तस्मात् पण्डितजन सशरमिमं त्यक्त्वा मुक्तिप्रामाण्यं यतते ।

१४.

श्रेयसकरे तपश्चरणे तव मति विलोक्य निश्चायते यत् तव चित्तं दिवेकशीलं भवति प्रतिप्रशस्तम् । केवलं तपस्विविपरीतं तव वैषम्यं दृष्ट्वा मे मनसि सदेहो जायते, यद् भवान् मुमुक्षुरसि न वा ।

१५.

यथा कश्चन युद्धार्थं कञ्च धारयति, तथा श्रेयापि धृतमस्ति, तत् कस्य हेतोः ? किं युयुत्सुरसि ? तपस्विनस्तु केवलं मृगवर्मं वृक्षञ्च च धारयन्ति । न तु वल्गाद्यनि, कश्चस्य तु का कथा ! अतस्तपस्विनस्ते कञ्चधारणं सर्वथा विररीतम् ।

शरदम्बुधरच्छायागर्भयो यौवनशिव ।
 आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन ॥ १२ ॥
 अनाक पर्यस्थाता अग्निन सततापद ।
 इति स्यात्वे मये मन्यो मुक्ताब्जसङ्घने च ॥ १३ ॥
 वित्तदानसि बह्याणी यः । मतिद्वयस्थिता ।
 विरह्य केवलं देषं सदेहयति मे मन ॥ १४ ॥
 युयुत्सुनेव क्वचर्चं किमाहुक्तमिदं स्वया ।
 तपस्विनो हि वसते केवलाग्निवस्वला ॥ १५ ॥

१६.

एवमयं घनु, महान्तौ तूणीरो च धृतानि सन्ति, तद्वारण च शरीररक्षार्थं मृगयार्थं बोपसुष्यते, न हि शरीरे तेऽनुराग, शरीरनिरपेक्षनयैव तपसि प्रवृत्तत्वात् । न वा तत्र प्राणिहिंसकं, सुमुञ्जत्वात्, अत एतद् घट्टरादिघारण किमर्थमिति न प्रतीयते ।

१७.

तप स्थितेनापि स्वयाधृता प्राणिमयङ्करीयमखिलता मृत्यो (प्रसिद्धमुजाति रिक्त) भुञ्ज इव दृश्यन्ते । अनयापि शायते तव चेतसि शमो नास्तीति । शान्तिमेतः समानुपयोगात् ।

१८.

शत्रुविजिगीषयैव एव तपधरतीति तर्कयामि, यदि त्वं मुक्तये तपोऽतपस्य, तर्हि शस्त्रनाधारविषय । इमानि शस्त्राणि तव चेतसि क्रोधमनुमापयन्ति, सुमुञ्जवस्तु शान्तिप्रधाना भवन्ति, यथा नैकत्र शान्तिक्रोधयो सम्भव, विरोधादेवेति । तस्माद् व्याघ्रघारिणस्ते तप इदं गौणमेव ।

तपोधना — इत्युक्त्या तप एव तेषां धनम्, न हि प्रयोजनान्तरसिद्धये तपस्तेषाम्, तव तु प्रयोजनान्तरार्थं तप इति न त्वं तपोधन इति द्योतितम् ।

१९.

ननु जयार्थमेव तपश्चेन् को दोष इत्येव शङ्कायामुच्यते यथा विनासानिवृत्ति हेतूनां महात्मानां स्वच्छानामया कर्दमकरणे विनियोगो विद्वद्भिर्गर्ह्यते, तथा मोक्षरूपमहाफलसाधनीभूतस्य तपस परहितारूपे दुष्क्रे फले विनियोगोऽपि गर्ह्य एव, तस्मात् परहितमात्रार्थं निर्जने तव तपस्युद्योगं सुतरामधिवेकपूर्ण एवेति ।

प्रविशो किं च ते मुक्तिं निस्पृहस्य क्लेश्वरे ।

महेश्वरी घनुर्भाम भूतानामनभिद्रुहः ॥ १६ ॥

भयकर प्राणभृता मृत्योर्भुञ्ज इवापर ।

अविस्त्वं तपस्यस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

जयमत्रमवान्नमरातिष्वभिलाषुक्त ।

क्रोधलक्ष्म क्षमावन्त कायुध क तपोधना ॥ १८ ॥

यं करोति बधोदर्कं निश्चेयसकरी क्रिया ।

ग्नानिदोषच्छिद स्वच्छा स मूढ पङ्कयस्यप ॥ १९ ॥

२०.

यद्यप्यर्थकामावपि पुष्पार्थमध्ये गणितादितदुच्यते तत्र सम्भवेनाम, तथापि
अर्थकामयोरत्यन्तमासक्तिर्निषिद्धैव । यतः, अर्थकामौ खलु हिंसावृत्तस्तयादीनां
प्रवृत्तानां दोषाणां मूलकारणं स्तः, तदुक्तमप्युक्ते — 'स्त्रीकामा घनकामाश्च किं न
कुर्वन्ति पातकम्' इति । किं च, तौ मोक्षसाधनस्य तत्त्वज्ञानस्यान्तरायभूतौ, न
ह्यर्थकामसक्तयोस्तत्त्वज्ञिषासाभ्युदेति । परिपन्थिवादर्थकामयोरसक्तिसयाभ्येवति ।

२१.

अर्थकामयोर्ह्येतदुक्तम् । तत्रार्थस्य विरूपेण दोषा उद्घाटयन्ते — न हि
अन्येषां प्राणिनां विद्रोहेण विना सपल्लवपत्रे — इति प्रसिद्धमेतत् । यैश्च सपदजने
विरोधं कृतं, ते प्राप्तेऽवसरे एतद्दोषधारमपि पातयिष्यन्ते इति सुलभा
भीपरस्यापदः । यथा समुद्रे निरवच्छिन्नप्रवाहा नद्यः पतति तथैव तरिमन् पुस्ये
निरन्तरं विपद् आपतति यः ऐश्वर्यात्तये प्राणिर्हिंसा विषत्तः । भूतानामिति श्रिय
इति च बहुवचनोपन्यासेन लोभाकान्तेन बहुविधसपदजने बहुभिर्भूतैरनेन विद्रोह
कृतं, ते सर्वेऽपि क्रमेण निर्यातनं कुर्युरिति आपदा सातत्यं व्यञ्जितम्, तदेव
सोदन्वावृत्तस्यैव हृदीकृतम् । न च सपदं गत्यर्थं — गमनशीला नैकत्र तिष्ठन्ति,
ता विनश्यन्ति, आपदाभागमिष्यन्तीत्यनर्थोदकंता हृदीकृता ।

२२

विचारे क्रियमाणे प्रतीयते — यत्सपदो विपदश्च तुलया एव । तथा हि यथा
विपदं प्रशस्तान् सहायान् विना सर्वथा अगम्या (अस्तिर्या) तथैव सपदो-
ऽपि तान् विना अगम्या (अप्राप्या) सति । सहायान्देषणे च क्लेशो जायत
एव, न हि सहाया सर्वदा सुलभा भवति, तदानुगत्ये च स्वात्मानं नानिरिष्यपर
वन्त्यः । किं च यथा विपदसु सतीषु खेदो जायते, तथा सपदसु चिन्तनादिक्लेशो
दुर्निवारः, यथा च विपदं स्वरूपतो भयहेतुः, तथैव सपदोऽपि चोरादिभ्यः
नित्यमेवावहति । अतो विपदो यथा लोके दुःखदा इति हेतुतया प्रसिद्धा, तथैव
सपदोऽपि मन्तव्या ।

मूल दोषस्य हिंसादेरर्थकामो एव मां पुषः ।

तौ हि तस्मावदोषस्य दुःखददादुपपन्नौ ॥ २० ॥

अविद्रोहेण भूतानामजंयन् गत्वरी श्रियः ।

उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

या गम्या ससहायानां यासु खेदो भयं यतः ।

तासौ किं यन्न दुःखाय विपदामिव सपदाम् ॥ २२ ॥

२३

पूर्वं तु धनं दुर्लभमेव, दैवाद् बहून् कनेशान् सोढ्वा लब्धमपीदं विश्वास-
धैर्ययोर्नाशकं भवति, यत्स्पर्द्धायां चेतश्चञ्चल भवति, अत्र वा रक्ष्यं तत्र वेति
निरन्तरं सङ्कल्पयति, न कापि स्थितिं लभते, धनिकस्य सर्वत्राविश्वासात् । अविश्व-
हस्य च शान्तिमुखं दूर एव । तथा च यथा सर्पस्य पणायां स्वयं स्थितेन पुरुषेण
मरणं प्राप्यत एव, तथा धनार्जनपरेणाध्याप्यतप्राप्यत एव, स्वरूपेणैव धनप्रापद्रूप-
मेवेति । दुरासदादिनिशेषण सर्पपक्षेऽपि योज्यम्, सर्पपणापि दुरासदा (दुर्मांडा)
भवति, पृथीतापि च दृष्टानमिवा स्वान्तमधीरं विधत्ते, न जाने कदावसर पृथीत्वा
दशोदित्यविश्वासश्च तत्र ।

२४.

इतोऽपि हेतोः सम्पदो हेयाः—तथा हि इमा विवेकशून्या योग्यायोग्यनिर्देशं
न परिचिन्वन्ति, योग्यं विहायायोग्याभ्ययणात्, अयोग्यवत् योग्यस्वापि त्यागद्
वा । नापि इमाः कुत्रचिदेकरिम्न वदानुरागा भवन्ति, य-पुरुषोऽद्य भीमिः
सेव्यते, स एव परेद्यस्तामिरेव तृगत्वाज त्यजते, तथा च पश्यपुरन्धीष्विवासु
श्रीयु मूढा एव पुरुषा आसज्जन्त, न बुद्धिमन्तः । य आसक्ताः, तेषां विपरीत-
स्वभावजन्यो दोषः ।

२५.

सनु दुष्टेभ्य एव पुरुषेभ्यः श्रियोऽपयान्ति, न तु शिष्टेभ्य इति चेद्, मैवं
कोचः । तथा सति श्रियां चाञ्जल्यापवादो टोके न स्यात् । दुर्दृष्टं पुरुषं त्यक्त्यः
श्रियः केन वा न प्रशस्यन्ते, अपात्रत्यागस्य सर्वैरपि प्रशंसनात् । किन्तु क्षुद्रा
विवेकशून्या इमाः श्रियं दुर्दृष्टमिव सद्दृष्टमपि दूरतत्यजन्ति, अत एव इमाः
निन्दन्ते, तस्मात्त्याग आसा स्वभावसिद्ध एवेति हेया एवेमाः । अनेन संदर्भेण
अर्थान् न पुरुषार्थं इति इटीकृतम् ।

२६.

यदि कथयसि-वैरनियौतनार्थं तपस्तपस्यसि इति तदपि नोचितम्, अप्रिय-

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।

भोगान्भोगानिवाहेयानघ्नास्यापन्न दुल्भा ॥ २३ ॥

मान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।

आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि अन्तवः ॥ २४ ॥

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।

साधुदुष्टानपि क्षुद्रा विस्मिन्त्येव संपदः ॥ २५ ॥

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च शिष्टं मनः ।

अप्रियैरिह संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

करणेन शत्रुणा पीडोत्पादनं विना वैरनिर्गतनाशिकेः, अप्रियं संपाद्य कश्चित् पीडोत्पादनं च सर्वथा स्वाध्यम्, यन् तत्र मनोऽपि अप्रियसयोगप्रिययोगाभ्यां पीडितममूत्, भविष्यति, वर्तमाने भवति च, तथा च 'अतो यदात्मनेऽपर्ध्यं परेषां न तदाचरेत्, इत्यभियुक्तोक्त्या आत्मदृष्टान्तेन स्वया पराप्रियकरणान्द विरमणीयमेव । यदा अर्थनिन्दा प्रपञ्चिता, कामनिन्दा प्रारम्भते । कामे जीवातुः प्रियसंयोगः, स एव निन्द्यते—विरहदुःखमीतेः सद्भावात् प्रियसंयोग एव नाभिरूपणीय इति ।

२७.

प्रियसमागमस्य सुखैकहेतुता लोकेर्मता—इति प्रपञ्च्यते—प्रियसमागम एव लोकैः सर्वस्व मन्यते, प्रियेण सह स्थितौ स्वया शून्यमपि स्थानं समृद्धं प्रतीयते, दुःखमपि प्रियेण सह भुज्यमानमुत्सव इव मन्यते, प्रियो यदि वञ्चनामपि कुर्यात्, तदापि लाभ एव मन्यते लोकैः ।

२८.

यथा प्रिययोगः सुखैकनिदानम्, तथा प्रियविरहो दुःखैकनिदानं लोकानां मत इत्याह, स्वधो भावार्थं ।

२९.

प्रियसयोगविप्रयोगयो सुखदुःखैकहेतुता लोकदृष्ट्या व्याख्याय तत्त्वतथा हेयतामाह—यदि जनः प्रियेण समुक्तो भवेत्, तदाकामवशतो हिताचरणे न प्रवर्तते—इत्यनर्थं, यदि तु वियुक्तो भवेत्, तदा वियोगदुःखेनाकर्मण्यतां याति । ततश्चोभयथाभ्यनर्थसद्भावादयमेव दुःखविघातक उपायो यस्केनचिरमङ्ग एव न कर्तव्यः । तेन न हितप्रमादो न वियोगदुःख च स्यात् ।

३०.

यथा लक्ष्मीरक्षिरा, तथेदं जीवनमन्वयिष्यमिति त्वं सम्यग वेत्सि, अतोऽरिध-
रवस्तद्वृत्ते स्वया परपोडनेन न्यायमार्गे न त्यक्त-य । साधव लज्जु न्यायमेव कर्म
विदधते, नान्यायम्, यदि त्वं परान् पीडयसि, तर्हि लोकेरसाधुरिति व्यपदेश्यसे ।

शून्यमाकीर्णतामेति दुर्लभं व्यसनमूलवैः ।

विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

तदा रम्याश्वरम्याणि प्रिया शल्य तदासव ।

तदैकाकी सवन्धुः सन्निधेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपत पतितप्यसे ।

यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्ज भवता जने ॥ २९ ॥

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वौल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।

मवा-मा स्म कधीन्याय न्यायाधारा हि साधव ॥ ३० ॥

३१

अतो हे तपस्विन् । त्व रणोत्साह स्वप्न, मोक्षसाधकस्य तपसो वैरनिर्यातन
रूपायाह्वयनस्य दुःखपयो मा कार्षी । मोक्षप्राप्तये शान्ति घस्व । तत एव ते
तपेघनत्वं सम्यक् समर्पित स्यात् ।

३२.

यदि सर्वथा शत्रुभिर्निर्गिषा त्यक्तुमसमर्थोऽसि, तर्हि देहे वर्तमानान् इमाश्च
क्षुरादीन् शत्रून् विजयस्व, इम लज्जु देहघारिश्चरणामपेक्षया दुर्जया सन्ति । देहे
इति पदेन तेषां नित्यसाक्षिणमुक्तम्, सदा सनिहितेभ्य एभ्यो यथा भय तथेतरश्च
त्रुम्भो नास्ति । ए या एषां स्वायत्तीकरणेन सर्वोऽपि लोक स्वायत्तीकृत स्यात्
जितेन्द्रियस्यार्थनि स्तृस्य दैरानुदयात् सर्व एव मित्राणि उदासीना वा भवती
स्येनावता तस्य सर्वविजयव्यपदेश ।

३३

य पुरुष इन्द्रियाणि विजित्य स्वयंशो न करोति, स्वयमिन्द्रियवशो भवति, स
इन्द्रियसराधीन पुरुषो यदा स्वामिलपित स्वय न प्राप्नु शक्नोति तदा परमुख
निरीक्षते, तत् प्राप्तये स कर्षणवद्भनादि नीचान्नीचमपि कर्म कर्तुं हन्नदो भवति,
तथा कुर्वतस्तस्य लज्जापि न जायते । केवल स्वद्रियतुष्ये स बलीवदं इवान्येषा
दासभाव प्राप्नोति ।

३४.

किं च हे तपस्विन् । योऽय मियवानन्दोऽद्यानुभूयते, परेऽहनि स न तिष्ठति,
तस्य स्मरणमात्र जायते, न तनुम , तस्य ह गिक्रमात्, ईदरशु का प्रीति । तथा
चेन्द्रयावपयान् स्नपनवन् क्षणिसुखान् म वा तस्या तत्रासाक्तनं कर्तव्या, न हि
स्नपे कश्चिद् बुद्धिमान् भक्तो म नीति ।

विजिहीह रणोत्साह मा तप साधु नीनश ।

उच्यते जमन कर्तुमेधि सा तस्तपोघन ॥ ३१ ॥

कीयन्तां दुर्नया देह मपवश्चक्षुरादय ।

मित्यु ननु त्रोक्ये तेषु कृत्स्नस्त्वया जित ॥ ३२ ॥

परवानर्थासिद्धौ नी-वृत्तिरपवप ।

अविधेयो द्रव पुषां गौरिवैति विधेयताम् ॥ ३३ ॥

श्वेतस्या सुखसक्ति स्मरणीयाऽधुनातनी ।

इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्वदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

३५.

अपि न हे तपरिचिन् । इमे प्रियया अतिकष्टदा वृक्षिता शत्रव सन्ति, तथा हि मुखदतया लोकेरेषु विश्वास क्रियते, परमिमे लोकान् वञ्चयन्ति, सर्वदानुपलम्भ एव तेषा वञ्चनम्, विद स्ताना वञ्चनमतीव कष्टप्रदम् । लोकस्तेषु प्रेम विदधते, पर ते सव्यमाना अनेकरोगशोकप्रदानेन निप्रियमान्तरति, वृद्धावस्थाया चराजीर्णतया स्वसेविर्न स्वयं परियजन्तोऽपि ल वैदुस्यजा भवन्ति, चेतसस्तथाशक्तेशात् । अत इमे परिहरणीया एव । प्रसिद्धा शत्रवस्तु भद्रेया प्रिया, दुस्यजा वा न भवन्तीति तदपेक्षया वैलक्षण्यमेषाम् ।

३६

देशकालसम्पत्क्रायशिद्धौ मुख्य कारण भवति । तत्र सौम ग्यादेशसम्पत्प्रयाति-भेष्टा प्राप्ता । एकान्ते सुरसिद्धवारिसेकादतिपवित्रितेऽस्मिन् पर्वते शान्ती मूल्या तप कुरु, तथा सति मुक्तिस्त्रयातिसुलभा शक्यस्यज । 'मुक्ति' इव्यत्वा प्राप्नोतीति कर्तृप्रथमया पुरेतिनिपातप्रयोगेण च मुक्तेरतिशौलभ्यं द्योतितम् ।

३७

इन्द्रोपदेश अस्वाञ्जनो विनयनिजुलित गमीरार्थं प्रत्युत्तर दातुमारभत ।

३८.

पूर्वमञ्जनस्त्वाक्य शालीनतया प्रघसति—इ मृने । भवद्वाक्य स्फुर्गार्थप्रतिपादकतया प्रवादगुणयुक्तम्, अत एव श्रोतुर्हृदयावजंक्तम्, यद्यपि पदार्थविशदीकरणे पुनरुक्तिर्भवति, अर्थगौरव च नश्यति, पर भवता साभिप्रायपदप्रयोगेण पुनरुक्तिरपि न कृता, अर्थगौरव च रक्षितम्, श्रोतुर्द्वेगकर शब्दविस्तारोऽपि परिहृत, असम्बद्धं किमपि नाभिहितम्, आश्चर्यकसर्वशब्दप्रयोगाद् अख्याहारोऽपि परिवर्जित, उपदेशस्य मितान्तरवेऽपि वक्तव्याशो न त्यक्त, अनेकार्थकशब्दाप्रयोगादर्थसदेहोऽपि निरस्त इत्यहो अभिनन्दनीया वचनचातुरी भवत ।

भद्रेया विप्रलम्भार प्रिया विप्रियकारिण ।
 मुदुस्यजास्यजन्तोऽपि कामा कष्टा हि शत्रव ॥ ५ ॥
 विविक्तेऽस्मिन्नगे भूय प्लाविते क्षुब्धयया ।
 प्रत्यासीदति मुक्तरा पुरा मा मूढदायुध ॥ ३६ ॥
 व्याहृत्य मरुतां पर्याप्तिति वाचमवस्थिते ।
 वच प्रशयम्भीरमथोशच कपिश्च ॥ ३७ ॥
 प्रसादरम्यमोत्रदिव गरीयो लघुशान्तिनम् ।
 साकाङ्क्षमनुपस्कार विश्वगति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

३९

हे मुने ! भवद्रचोषदवाक्यतुल्यम्, तथा । इ यथा वदवाक्च मोमाषाशास्त्रेण निर्धारिते स्वार्थे स्पृयादिप्रमाणान्तर नापेक्षते, स्वतः प्रमाणत्वात्, तथैव भवद्रचोऽपि युक्तिमि साधिते स्वार्थे उपोद्बलक शास्त्रान्तर नापेक्षते, युक्तानामतिदाढ्यात् । किं च यथा वेदायं प्रत्यक्षादिभिर्न वाच्यते, तथैव भवद्रप्रतिपादितोऽर्थोऽपि प्रतिवादिभिर्विद्वद्बुक्त्युपन्यासेन खण्डयितु न शक्यते । इदंशब्देन सम्मानायाम्, युक्तिदाढ्यादागमनिरपेक्ष समान्यते इति । वस्तुतस्तु आगमसिद्धार्थकथनमेवेदम् इति तेन दृश्यते ।

४०.

यथा समुत्पन्नोत्तालनरङ्गधारिधिरुज्जितो भवति, न केन प्युल्लङ्घितु शक्यते, तथैव भवद्रचोऽपि ऊज्जितमनुल्लङ्घनीय चास्ति, एव यथा त्यागशीलनणेमादि सिद्धिसम्भन च श्रुतेश्चित्त शान्त भवति, तथैवोक्तिवैचित्र्ययुक्त सदर्शप्रतिपादक (प्रयोजनवद् वा) च भवद्रचोऽपि शान्तमालक्ष्यते ।

४१

साम्प्रतमिन्द्रवाक्यप्रशसानुपसहरति, एतादृश प्रसादादिगुणयुक्त कालोनिन साधनबोधक युक्त्युपेत वा वाक्य भव त विहायान्य को वक्तुमर्हति । यद्यपि लोकवक्त्रो न दुर्लभा, तथापि भवत्सदृशो गभीराशयो न सुलभ इति ।

४२.

परन्तु हे माननीय मुने ! मह्य मोक्षप्राप्तिहेतु मुनिधर्ममुपदिशना भवना 'केन प्रेरित किमुद्दिश्य वाह तप करोमि' इति न विदितम्, यदि तद् भवान् अवलक्ष्यत् तर्हि नैवमनधिकारिण मा मोक्षधर्ममुपादेश्यत् ।

न्यायनिर्णोतसाररत्नान्निरपेक्षमिवागने ।
 अप्रक प्यतयाऽदेयामान्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥
 अलङ्घ्यत्वाच्चनैरन्यैः क्षुभितोद-वृजितम् ।
 औदार्यादर्थसपत्ते शान्त चित्तमृषे रव ॥ ४० ॥
 इदमीदृगुणोपेत लब्धावसरसाधनम् ।
 व्याकुलार्थक प्रिय वाक्य यो वक्ता नृदगाद्य ॥ ४१ ॥
 न शत तात यत्नस्य पौरुष्यममुष्य ते !
 शाकितु येन मा धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छति ॥ ४२ ॥

४३

प्राङ्गिह एव उग्रदेश सर्वैराद्रिपते, वावस्तरिदि यदि प्रसङ्गनविज्ञापितेरे
दिशेन् र्हि तस्य स प्रयातो जनेमर्हिनं स्यात् । यथा नी तत्रिहृदकारिणामुद्योगे
व्यर्थ एव भवति, तथा । तथा च महाविदुषोऽपि तव वाक्पनमाङ्गिहृदवत्
सपत् भविमहेति ।

४४.

यद्यपि मोक्षधर्मप्रतिपादकरवाद् भवद्वच प्रयस्ततरम्, तथापि मोक्षेच्छा
भावात्ताह तस्यावकारी । अह वैरिनिर्वातनार्थो, वृत्तो मे मोक्षाधिकारः । यथा
तारकित नमस्त्रिभित्नु, पर दिवस्तस्याधिकारी न भवति, तथेति । दित्तस्य
स्वोत्तमानवाक्यनास्तस्य तद्वत्प्रदीपता भवतिता ।

४५.

सांप्रत केन प्रेरित किमुद्दिश्य वा तव करोमिति स्वल्पदिदर्शनतुस्तत्र
मजुं कथयति—हे मुने । छत्रियकुले मम जन्म वातम्, (तेनामर्षयोग्यता सूचिता)
तत्रापि न साधारणे, पाण्डोरह पुत्र, अत एव महाकुलप्रसूतोऽस्मि, (तेन सा
हृदीकता, पाण्डुपुत्रेष्वप्यहं पार्यं—पृथापुत्रोऽस्मि, न तु माद्रीसुत (तेन सति
हृदना नीता) पृथापुत्रेष्वपि महावीरोऽजुंनोऽस्मि व उत्तरकुलान् विद्विष घना
हृत्वाद् घनञ्जय इति लोके प्रतिद । (एतेनमर्षयोग्यताति मूर्ति नीता) दाया
देदुर्वोधनादिभो राक्षसोनाद् मम बौद्धभावा मुचिष्ठिरो राक्षसिस्त, अपमान
प्रतीकारार्थिस्तस्याहनाह तपस्या करोमि, न तु मोक्षेच्छया, तदाज्ञानतुदरो
मानहानि, क्षीमात्रमङ्ग पूज्यपूजा—दतिक्षमध भवति, तथाचेवममर्षयस्य वैर
निर्वातनार्थिने—राक्षसेकदापितचेतसो मम न सर्वथा मोक्षेऽधिकारः । अत्र
घनञ्जय इत्युक्ते शरीरस्यो वायु सर्वविशेषो वा स्यात्तद्व्यतिरकार्यं पार्यं इति,
सन्धयोऽपि क्षत्रिन् पृथापुत्रोऽस्मि, तदर्थं पाण्डोस्तनय इति, नैतिवारण्ये पाण्डु
विष तत्प्रसूतो पृथा नानं कान्तिद् ब्राह्म । सत्पुत्रोऽपि सभाव्यते, तदर्थं क्षत्रिय
इति विशेषगतिनि मल्लिम्नाथ । एषा व्यङ्ग्यार्थस्तु दधित एव ।

अविज्ञातप्रसूतस्य वचो वावस्तरिदि ।

प्रसूतफलतामेव नादुह इवहितम् ॥ ४३ ॥

भ्रैयसोऽप्यस्य ते तान वचसो नास्मि माङ्गनम् ।

नमस्त स्फुटारस्य रावेरेव विपर्यय ॥ ४४ ॥

छत्रियस्तनय पाण्डोरह पार्यो घनञ्जय ।

रिपत प्रास्तस्य दयादैर्भ्रदुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

४६.

यच्चोक्तं 'विरुद्धः केवल देयः' इत्यादि, तदुत्तरयति—'समाचारमुपात्तशस्त्र.' इत्यादि भगवतो ध्यासस्योपदेशेन विरुद्धवेषधारणादितपोनियमो मया पाल्यते, न तु स्वैच्छया, विज्ञानेन तपसाहमिन्द्रमाराधयामि, क्षत्रियदैवतत्वेन तस्यैव सुलाराध्यत्वाद्, अथवा वैरशोधनार्थिना मया तपस्तप्यते इति पूर्वमुक्तम्, वैरशोधनं च बलवतैव कर्तुं शक्यते, बलप्राप्तिश्च देवताप्रसादाद् भवति, बलाधि-
ष्ठातृदेवता चेन्द्रः तदुक्तं निरुक्ते 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति ।
तथा च बलार्जनकामस्य ममेन्द्र एव सुष्ठुतयाराधयः ।

४७.

भवाद्दशे वीरभ्रातरि युधिष्ठिरस्य कथमेवं विनिपात इत्यत आह—यत् कुर्वता राजा युधिष्ठिरेण राव्यादि सर्वमपि पणीकृत्य हारितम्, नात्र राज्ञः कश्चिद् दोषः भवतिव्यतैवेदस्यासीत् ।

४८.

युधिष्ठिरादिषु यथा तवानुरागस्तथा तेषां स्वयि नास्तीत्यपि न शङ्कनीयम्, युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः, द्रौपदी च मद्रवियोगेऽतितरा खिद्यन्ते, यद्द्विरहार्तानां सेया कृते राजयोऽप्यतिदीर्घां दुर्यासणीयाश्च भवन्ति । वैरनिर्यातनस्यावश्यंभाव-
शोतनाय चतुर्भिरनिकारं वर्णयति ।

४९.

शत्रुघ्नो मध्येसर्भं बलाद् द्रौपद्या उत्तरीयं ह्रवास्मान् हेपितदन्तः, किं च तत्रैवास्नुदेः ऋद्धचसदशौर्वाक्यैरस्माकं हृदयं व्ययथामासुः ।

५०.

शत्रुणा हृदये भीष्मादिगुरुजनसन्निधौ साध्वी द्रौपदीमान्तेतुं योयमभिलाषः

कृष्णद्वैपायनादेशाद्बिभर्मि मत्तमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तं स्वाराध्यस्य महत्ततः ॥ ४६ ॥
दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमारमा वर्यं वधूः ।
नीतानि पत्नी नूनमीदृशी भक्तिव्यता ॥ ४७ ॥
तेहानुजसहायेन द्रौपद्या च मया दिना ।
भृशनायामिषामासु यानिनीष्वपितप्यते ॥ ४८ ॥
हृतोत्तरीयां प्रसभं समायामागतह्रियः ।
मर्मच्छिदा नो वक्षसा निरत्थन्नुरातयः ॥ ४९ ॥
उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुहसंनिधौ ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिद्वान्तकः ॥ ५० ॥

समुत्पन्न, स पापामिलाप एव तान् प्रति मृत्योस्तत्रशाय सत्यङ्क रक्षय्य आसीत् । अयमभिषिञ्चि चिकीर्षितस्य कार्यस्यापश्य क्रियास्वापनार्थं पदद्वये यद्दीयते स सत्यङ्कार उच्यते, मृत्युना स्वचिकीर्षितस्य धार्तराष्ट्रनाशस्यानन्वक्तव्यतासूचनार्थं तेषां हृदये सनामभ्ये द्रौपद्यानवनामिलाप उपादित, तद्विनाशाय तेषां विस्तीर्णा बुद्धिमत्प दित्वा न इति तत्त्वम् ।

५१.

तु शासनो द्रौपदी मध्येसममानेषु बन्धे वृद्धीत्वा आहर्षति स्म, आहर्षणकाले अग्नेऽग्ने दुशासन, पश्चाच्च पराङ्मुखीभूय स्थिता द्रौपद्यासीत् तदानीमग्रत स्थितत तु शासनेनाङ्घ्रिमाणा द्रौपदी तथा प्रतीयते स्म यथा सायंकालिकसूर्याभि मूर्त्त स्थितस्य कस्यचिन् महाशूरस्य पृथ्वर्तिनी छाया प्रतीयते, सूर्याभिमुख स्थितस्य छाया पृथ्वर्तिनी भवतीति निसर्ग । आङ्घ्रिमणाया द्रौपद्या आकृष्टार प्रति पराङ्मुखत्वाद् आवृत्तञ्जायौष्यम्, तथापि ता न मुञ्चतीति दुशासनस्य तदुत्साहम्, न तु विरम् पापदर्शनस्य लुप्तचित्तत्वात् । नापि दुशासनमना चाराद् निरन्तरितुं क्षिप्रिवदन्, किं तु माधुर्यमङ्गमिया सूर्यन्तु साद्रूपेण स्थिता इतिप्रलिप्ताय । सूर्यस्य सायमिनिविशेषण यथास्तमुपगच्छन् सूर्यो हतप्रभो भवति तथा स्वसम्भुले पतिव्रतापमान पश्यन्त सभ्या अत्रि हतप्रभा धम्वक्षिते द्योतनाय ।

५२.

इत्य स्वपतीना पश्यता परैः परिभूयमाना द्रौपदी स्वामशरणा विमोह्य करोद, रुदत्यास्तस्या तत्रे अश्रुमिरावृते अमनताम्, तत्र करिरङ्गभिर्नेत्राग्रयो हेतुमुत्प्रे क्षते, स्वपतीं परस्परमवाक्रान्तां बिलोकयारि पाणिपादमस्तदयित्वा सहमानानां पत्नीरक्षणरूप पतिधर्ममप लयतामेषामुपरि दृष्टिपातेन किं फलम् ? कातरया दृष्टया निरीक्षिता अपोमे क्लीबकलरा अप्रतीकारा स्तप्टेषु, अतो निरर्थकमेयां दर्शनमिति निवार्यैः वाष्पवारिभिर्नेत्रावरण कृतम् इति ।

५३.

ननु भवद्भिः किमर्थमेतत् सोढमितीन्द्राद्यङ्क यामपुनः समापत्ते—वस्तुत एमा

तामैक्षन्त दृग सभ्या दुशासनपुर सराम् ।

अभिसायावमावृत्ता छायामिव महातरो ॥ ५१ ॥

अपयार्थक्रियारम्भे पतिभिः किं तद्यदितैः ।

अदृष्टेतामितीवास्वा नयने वाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥

सोढवान्नो दशामर्यां ज्यायानेव गुणप्रिय ।

मुल्लो हि द्विषां भद्रो दुर्लभा सत्यवाच्यता ॥ ५३ ॥

नो निवृत्ता दगां ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर एव सहते स्म, न तु दयम्, अस्माभिरु
तदाज्ञाप्रसिद्धैः प्रतीकार कर्मपरिहितमत सोढमिव, स एव महामना कथ
सहते स्मरत्रोच्यते सुप्रथिर एतु धन सत्यभाषगादिगुणपञ्चमती गोकापवादाद्
विमेत, प्रतीकारचेष्टाया शत्रूगामघेष्टताया प्रतिज्ञाया उज्ज्वलनस्य दुर्निवारतया
तदुल्लङ्घने कदाचित् स रूपा अपवदेयुर्दं युधिष्ठिर सत्याद् भ्रष्ट इति, अस्मा
दवापवादाद् विम्वता बाधघटनापि सोढम्, शत्रूणा परिभवस्तु कालात्तरेऽपि
कर्तुं शक्यते, पर सता मध्येऽनि यता दुर्लभा, सृष्टदप्पुदिताया निन्दाया
दुष्प्रानसनाघेदत्तान् ।

५४

मनास्त्रुघुषणां मनासि समुद्राणा ज्ञानि च तुल्यधर्माणि भवति, तथाहि
उभयापि मर्यादातिक्रमाद् विम्वति, वृद्धौ हानौ वा जाय या न जातु मर्यादां
त्यक्त, किं च जातेऽपि सन्धोभे न कदापि कालुष्य प्राप्तु रिति, यद्यपि मनस्विनि
मर्यादाया अत्याग भक्तिस्मृतिनदान्चारातुमोदितपयानुसरणम्, समुद्रे च वलया
अनतिक्रमणम्, मनस्विन सन्धोभ परकृतापकारादि, अकालुष्य चाविकार,
एव समुद्र सन्धोभो वास्यादिना तरङ्गनालाकुल्लम्, अकालुष्य च अपङ्कितम्,
इत्युभयेषा धर्मभेदात् समानधर्मता, तथापि एकशब्दप्रतिविम्बभावाच्च समान
धर्मता बोध्या ।

५५

अस्माभिर्धर्ताराष्ट्रे सह सौहादेन वर्तितम्, पर तैस्तत्परिवर्तं अस्मासु द्वय
कृत, परमेतन्नातिविस्मयकरम्, कृत । नदीतटच्छायावद् असर्ता मैत्री अनर्थमेत
जनयति । नदीतट द्वि भूयो भूयो नदीजलाघातेन जजरं भवति, छायायै तत्
सेवमानस्याद्य श्वो वा नदीपाती दुर्निवार, एवमेवासता हृदयमपि दुर्भावनाभि
रुज्जुषित मवति, तै सह सम्पर्केऽनर्थोत्पत्तिर्नाश्वर्यकरी ।

५६

ननु तेषा वृत्तमधिज्ञाय कुतस्तै सह मैत्री कृतेषाह-ब्राह्मण इव दुराचारस्यापि
समीक्षित कार्यान्तरमेव विज्ञायते, न तु पूर्वम्, दुर्विषयत्वात्, किं च यथा

स्वित्तरत्तिक्रातिमीरूणि स्व-आयाकुलिता याप ।

सौवानि सौवराशीनां मनासि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

धर्ताराष्ट्रे सह प्रीतिर्वैरमस्माश्चक्षयत ।

असमैत्री द्वि दोषाय ब्रूलच्छायेव सेविता ॥ ५५ ॥

अपनादादमीतस्य समस्य गुणदोषयो ।

अद्वन्द्वत्तरहोवृत्त दुर्निभाव विधेरिव ॥ ५६ ॥

स्वस्ववर्मानुसारेण लोकान् शुभाशुभफलमुपभोजयतो ब्रह्मणः लोकापवादात् मयं नास्ति, तथा स्वदुर्वाकनानुरूपमाचरतो दुर्दृष्टस्यापि लोकापवादाद् मीतिर्न भवति, अपि च यथा विधिनिप्रदानुग्रहौ कृषन् तास्कात्स्मिन्गुणदोषौ नानुबन्धे तथैव दुराचारोऽपि एतेन माश्रोपकृतमपकृतं वा' इति गुणदोषौ न पश्यति, किं तु यद्येच्छं व्यवहरति ।

५७.

अहं शत्रुनैरप्रतीकारेच्छयैव जीवामि, यदि मम क्रोधः प्रतीकारेच्छा नोदपादयिष्यत्, तर्हि मम हृदयं तत्कालमेवाध्वंसिष्यत ।

५८.

ननु तथैव मनसि कुतोऽयमरमानामयं, नान्देषाम् इत्यत आह—शत्रुमेस्तिरङ्कृता वयं पञ्चाप्यद्य वनाद् वनमटन्तो हरिणवद् वनाहारैर्ज्ञेयितं निर्वहाम, इमा निरुद्धा दद्यां प्राप्तानामस्माकं परस्परस्मादपि लज्जोत्पद्यते, नैकस्यामे परस्त्रपामरनम्रां ग्रीवास्तन्नमयितुं शक्नोति । सहवासिना सदाशाल्लज्जोत्पत्तौ तु किमु वक्तव्यम्, तथा च वयं पञ्चापि तुल्याभिमानाः, इदं तु मदेकसाध्यं कर्म ते मुनिशासनान्मयैवानुष्ठीयते ।

५९.

य केवलमुत्साहादिशस्त्रेभावात् परेषामग्रे नम्रो भवति, अन्देषामपकृतं दुर्दृष्टं वा दूष्णीसहते, यस्य च दुर्दृष्टया परैरभ्युपगानादिना गौरवं न किरते प्रत्युत सति समये तिरस्कारो विधीयते, यथाऽभाभिमानशून्यः, स पुरुषशतृपेन दुर्न्यः, तृणसादृश्यं च दिक्षणानां अग्निविशेषगानां तृणेषु योऽग्नेन व्याख्याया दक्षितमेव । यथा तृणं सुलेनोच्छिद्यते तथा मानहीनोऽपि तास्वयंम् ।

६०.

पर्वतेषु शृङ्गाणि वृथा वा यदेवेन्नतमस्ति तत् सर्वमप्यलङ्घ्यं भवति, इति दृष्ट्या महात्मनां मानोन्नतिः केन प्राप्नु न्नेष्यते, सर्वैरपीष्यते । पर्वतदृष्टान्तेन

इत्सेत हृदयं सद्य परिभूतस्य मे परैः ;
यद्यमयं प्रतीकारं भुजात्म्यं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥
अधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिहीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥
शक्तिवैकल्यनम्रस्य नि सास्त्रालङ्घीयसः ।
अग्निमनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥
अलङ्घ्यं तत्तदुद्धीदय यद्यदुन्नेमंहीशूनाम् ।
प्रियता व्यायती मागात्मइतां केन दुर्ज्ञता ॥ ६० ॥

तस्या अप्यलङ्घयत्वात् । उन्नतेरलङ्घयत्वे हेतुतया तत्कामै सर्वैरप्युन्नतये यतः क्रियते इति तत्त्वम् ।

६१.

आत्माभिमानिन पुरुषस्यैव श्रियो यशासि च भवन्ति, किं च स एव पौरुषाद् हेतो पुरुषत्वेन गण्यते, अभिमानशून्यस्य तु श्रियो विनश्यन्ति, यशासि क्षीयन्ते, पौरुषाभावाल्लोकास्त क्लीयन्तावस्यते ।

६२.

उत्तमपुरुषगणनाप्रसङ्गे यस्य नाम्नि प्रथम समुत्थिताङ्गुलि द्वितीयामङ्गुलि न प्राप्नोति, द्वितीयस्थोत्तमपुरुषस्याभावाद् द्वितीयाङ्गुले स्थानाप्रसङ्गाद्, तस्यैव जन्म सफलम्, एतद् मानिन एव सम्भवति, नान्यस्य; अतो मानो न त्याज्य ।

६३.

आयुज्जतो गहनवनाकीर्णेषु गिरि कथञ्चित्लङ्घितु शक्यते, परमोक्षस्विनं मानोजत पुरुष न कोऽप्युल्लङ्घितु शक्नोति, स ह्यसु सर्वैरपि दुष्प्रभृष्यो भवति ।

६४

येषां यशो निष्कलङ्कतया च द्रमण्डलमपि लज्जयति, त एव पुरुषाः इक्ष्वाकुरध्वादिजत् स्वनाम्ना 'इक्ष्वाकुकुलोत्सन्नोऽयम्' इत्येव स्ववशवान् लोके प्रख्यापयन्ति, किं च वसु रत्नमुच्यते, तदरूपाणा तेषां पुरुषाणा धारणादेव पृथ्वी वसुधरति यथार्थनामवती अस्ति । इन्दुमण्डलमित्यत्र मण्डलस्य पूर्णचन्द्रोपस्थापनाय, तस्यैव सकलङ्कत्वेन हेतुगीयत्वात् । शुभ्राणीति विशेषण च समान्येवैत्यवधारणविधया यशसा सकलङ्कत्वं परिहाराय ।

तावदाभीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिर यश ।
 पुरुषस्तावदेवाशौ यावन्नानात्र हीयते ॥ ६१ ॥
 स पुमानर्धवज्रमा यस्य नाम्नि पुर स्थिते ।
 नस्यामङ्गुलिमस्येन सरयायामुद्यताङ्गुलि ॥ ६२ ॥
 दुरासदवनभ्यावान् गम्यस्त्वंज्ञोऽग्नि भूधर ।
 न जहानि महोत्सक मनप्राप्तमङ्गुल्यना ॥ ६३ ॥
 गुरुकुर्वन्ति ते वंशदानवर्था तैर्मुन्धरा ।
 देवा यशासि शुभ्राणि हेदयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

६५.

ये क्षीरा शुष्कवनसदृशेषु शत्रुषु तद्विनाशायानिसदृश स्वक्रोध पातयन्ति, त एव मनिवतामग्रगण्या, त एव च 'स्वमेव भूया' इत्याद्याशी प्रदानप्रसङ्गे आदर्शतामुपयन्ति, यथा 'एव रामवद् वीरकर्मा भूया' इत्यस्यामाशिवि राम उदाहरणम्, तथैव रामादिवत्सेऽपि उदाहरणं भवतीत्यमिसन्धि । यथा नीरसतया शुष्कवनवृक्षा अनस्रा भवन्ति, तथाहङ्कारितया शत्रवोऽप्यनस्रा — अविनीता — इत्यनस्रत्वमुभयेषां साधर्म्यम् । कथेशानिसाधर्म्यं च विनाशकरत्वरूपम्, शोष पातनकर्तृणामिन्द्रसादृश्यं च ज्ञेयम् ।

६६.

अहं सुख भिर्यं च न कामये, तयो समुदतरङ्गवदस्थिरत्वेन क्षयित्वात्,
नाप्यनयो क्षये अजरातवत् दुःख कायन इति भोजं सन् निर्भय निरोधमध्य
मुक्तिपदमभिलषिष्यामि, रागद्वेषकषायितचेतसो मम तथानधिकारात् ।

६७

ननु सांसारिकप्रारम्भिकमुत्थातिरिक्तं किं तव काम्यमित्यत्राह—शत्रुभि कल्पयुतं
विषाय यदिदमस्मात्स्वकीर्तिरूपं पङ्क जित्तं तत् प्रक्षालनमेवाहमिच्छामि, नान्यत्
किमपि सुखादिकम्, पङ्कप्रक्षालनं च जलेनैव भवितुमर्हति, तदपि जलं न
साधारणम् अपि तु पवित्रियोगेनतु खिताना शत्रुनागीणां नैवेम्यउद्वृतम्, तेनै
वच्छब्दाहृतस्याकीर्तिपङ्कस्य क्षालयेतु शक्यत्वात् ।

६८

शत्रुनिभिगीषया तपस्तपन्त मा ह्युया सन्त काम इत्यत्र, अत्र विषये मम
बुद्धिर्भ्रान्ता वा किं न भवेत्, परं नाह स्वोद्देश्यात् पदमपि जलेयम्, समीपहासान
बधानविषये भ्रमता चिन्ता न कार्या, इदं तु प्रार्थ्यते यदवात्रे मयि मोक्षोपदेशय
रन्स्य वैफल्येन भवता लज्जा न कर्तव्या । अर्जुनस्य वीरलुण्ठोक्तिरियम् ।

उदाहरणमाशीषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवापशो यैररातिषु पास्यते ॥ ६५ ॥
न मुज प्रार्थये नार्यमुद-बद्धीचिचञ्चम् ।
नानिरयताशनस्त्ररन् विरिक्तं ब्रह्मण पदम् ॥ ६६ ॥
प्रमाष्टुमपद्य पङ्कमिन्द्रेय लक्षणा कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिभितात्रेचनाश्रुभि ॥ ६७ ॥
अपहस्यैऽपवा सद्भि प्रमादो वास्तु मे धिय ।
अस्थानविरितायाव काम जिहेतु वा भगवान् ॥ ६८ ॥

६९

यादत् शत्रून् विनास्य जयभिय उद्धारो न कृत, तावदह मोक्षमपि जयभियो विघ्नरूप मन्ये, मोक्षस्य शमप्रधानतया विजिगीषाशामकरात् । अन्योरसवादीनां तु तथैव का ।

७०

पुरुषो वाग्द शनैः शत्रून् निवारय तैर्किलोपित स्वकीय यद्य पुनर्न प्राप्नोति तावत् स जातोऽपि अज्ञातप्राय, तस्य जन्मनो निष्कञ्चात्, जन्मजातस्य जन्मान्तर उपयोगः सम्भवति इति न निष्पन्त्वम्, इत्यत आह—गतासुरिति, जातोऽपि मृततुल्यः स, केशतस्स्यानुपयोगात्, मृतोऽपि पूर्वजन्ममुपयुज्यते स्मेत्यत आह—‘तृगमेव स इति’ यथा तृग निरतरम् पादाभ्यामुपहन्यमानमपि न प्रतीका राय समर्थम्, तथैव सोऽपि, इति तृगतुल्यः स ।

७१

हे तपस्विन् । विदितवेदितव्यस्त्वमेव कृपया ब्रूहि यद् यद्य श्रीघो द्विषतां जयमविधायैव शत्रून् नञ्जति, तस्मिन् पुरुष इतिशब्दः कथं सञ्जते, तत्प्रवृत्ति निमित्तस्य पौरुषस्य तत्राभावात् ।

७२

ननु पौरुषभावेऽपि पुरुषत्वज्ञातेस्तत्र सर्वे युक्तेः पुरुषशब्दप्रवृत्तिस्तत्रेत्यत आह—जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन न किञ्चित् साध्यते, अथवा य केवल जातिमात्रेण पुरुष इति व्यपदिश्यते, न तु तत्र पौरुष विद्यते, काष्ठमयहस्तिनेव तेन न किञ्चित् साध्यम्, लोके स एव श्लाघनीयः पुरुषो य स्वपौरुषेण गुणिनां विरम यद्गत्वादयनि, अत एव सति प्रसङ्गे तैः साभ्यर्थमुदाह्रियते ।

वशजहनीमनुदधुष्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।

निवागमपि मन्येऽहमन्तराय जयभिय ॥ ६९ ॥

अजन्मा पुरुषस्तावद् गतासुस्तृगमेव वा ।

यावन्नेषुनिरादत्ते लिखितनारनिर्घण ॥ ७० ॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्थं प्रचान्वति ।

पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।

योऽङ्गीकृतगुणैः स्याद्यः सदिस्मयमुदाहृत ॥ ७२ ॥

७३.

सभामु कथाप्रसङ्गेन सवहुमानमुच्चारित तन्नाम शनधोष्यतुमोदन्ते, किं च यन्नामभ्रवणसमनन्तर तत्पराक्रमाद्यतिशयस्मरणाच्छ्रोतारस्तथा निस्तेजस इव प्रतीयन्ते, यथा मन्ये तन्नाम्ना तेषां तेजो निर्गीर्णं भवेत्, स पुमान् वस्तुतः पुमान् पौरुषापरपर्यायपुरुषश्चिद्विधिश्चोऽस्ति, इतरे तु चातिमात्रवाहका काष्ठमयहस्त्यादि वदप्रयोजका एव ।

७४

ननु सस्तु भीमादिषु वैरनिर्यातने तवैवाय कोऽपिनिवेश इत्यत आह-प्रतिशा नुसारेण सप्रामे शत्रून् जिघासु युधिष्ठिरो नृपतिर्मामेव स्मरति, नान्यम्, यथा तृषा-र्तो जलाञ्जलि स्मरति, अत्रात्मनो जलाञ्जल्युपमया यथा जलाञ्जलिरेव तृषाया प्रतीकार, नान्यत् किमपि तथैव वैरनिर्यातनमपि मदेकसाध्यम्, तथा च यत्र यस्योपयोग, तत्र तस्यैव नियोग उचित इति राजाहमेव नियुक्त इति बोध्यते, किं च युधिष्ठिरस्य नृपतिपदेनाभिधान राजाज्ञयाऽहमायातोऽस्मि, राजाज्ञया च 'अहमेव किमपि नियुक्त ना-य' इति विज्ञापानवसर इति बोधनार्थम् ।

७५

स पुरुषश्चन्द्रमस्तुल्ये स्वच्छे स्ववशे कलङ्करूपोऽस्ति, यो निपस्तु मर्तुराज्ञा न पालयति । तथा च मया विपद्मस्तस्य मर्तुर्युधिष्ठिरस्वाज्ञावरयपालनीया । न पुन स्वार्थपरेण भवितव्यम् ।

७६

अहमिदानीं गार्हस्थ्यधर्ममाभितोऽस्मि, तमनिर्वाह्य पूर्वमेव कथं दानप्रस्थतां सन्यासाभम वा स्वीकरवाणि, गार्हस्थ्यमसमाध्याधमान्तरस्वीकारे धर्मविरोध स्यात् यतो धर्मशास्त्राचार्यैराभ्रमाणा क्रम प्रतिपादित, पूर्वं ब्रह्मचर्यम्, ततो गार्हस्थ्यम्, ततो दानप्रस्थता, तदन्ते सन्यास इति न तु व्युत्क्रम येनाह स्वीकृत गार्हस्थ्यमपरिपक्वेऽपि वैराग्ये परिशुभ्य दानप्रस्थ सन्यासी वा भवेयम् ।

प्रथमाननिर्वाहसि सदसा गौरवरितम् ।
नाम यस्यामिनन्दति द्विषोऽपि स पुमान्-पुमान् ॥ ७३ ॥
यथाप्रतिश्रुतिं द्विषतां युधि प्रतिचिन्तयन् ।
ममैवाध्वेति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जल ॥ ७४ ॥
स वशस्यावदातस्य शशाङ्कस्यैव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यथयन् यत्र भूयते मर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥
कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मोभिनी ।
आभ्रमानुक्रम पूर्वं स्मर्यते न व्यतिक्रम ॥ ७६ ॥

७७.

इतोऽप्यहं मन्त्रवनेनाधमान्तरं नैव स्वीकृतुं शक्नोमि, यदेष वैरनिर्यातन
मासो राज्ञा मध्येव निक्षिप्त इत्यवश्यकर्तव्यं, किं च स्ववनेष्वेतत् प्रसिद्धं यदजुनो
वैरनिर्यातनोद्देशेन रासस्तापु रात्रि, तथा च स्वोद्देश्यत्यागे, ममाकीर्तिः स्यात्, संभा-
विनस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिञ्चने, अत्रि चाह मातुराष्टा विना किमपि कार्यं न
करोमि, नचेदानीमहं तदाशा प्रहीतुं शक्नोमि, तस्या दूरस्थितत्वात्, किं चाहं
प्लेष्टभ्रातुराश्रया तपसि प्रवृत्तः तदाशोल्क्षणैः चाधर्मः स्यात् प्लेष्टस्यापि
दुर्वृत्तस्याशोल्क्षणैः प्रवृत्तः, न च मे प्लेष्टो दुर्वृत्तः, अस्मिन् प्रशस्ताचारः,
प्रशस्ताचारस्यापि स्वार्थहानिरचेदाराय शक्यमुल्लंघनम् । परं न पुत्रिष्ठरस्य, कुतः ।
तस्य नृसत्त्वाद्, धार्मिकवस्त्रं नृसत्त्विरोगोऽवश्यमनर्थमुत्पादयेत् इति परतन्त्रोऽहं
न भ्रान्तरस्वीकाराय प्रभवामि ।

७८.

मानिनः क्षमिष्यां सर्वथा स्वधर्ममनुवन्ते, कदाचिदपि तदुल्लङ्घनं न
प्रकुर्यते, अत्र एव ते शत्रुमिं कृत्वापकाराः समानात् पराङ्मुखा न भवन्ति, किन्तु
तान् संग्रामे पराङ्मुख्ये स्थापकारप्रतीकारेण स्वधर्मं पालयन्ति ।

७९.

किं च हे मुने ममाय ददो निश्चयः यद् यथा मेधा वाताघातेन विद्यीर्णा भूत्वा
त्रिव्यं प्राप्नुवन्ति, तथैवात्र पदंतेऽहमपि त्रिव्यं प्राप्स्यामि, अथवा भगवन्तन्निन्द्र-
माराधय तत्प्रसादनेन शत्रुभैरवनाकं हृदये निहतात्मकीर्तिशून्यमुदरिष्यामि,
एतदतिरिक्तं नाहं किमपि वाञ्छामि ।

८०.

एव शत्रुतस्याजुनस्य वचनेन परमो प्रीतिमाप्त इन्द्रः स्व दिव्य रूपं प्रकृत्य
सुभ्राम्या तमालिलिङ्ग । तदनु विभूतिमाप्तये सर्वदुःखविनाशिनं जगत्कारणस्य
भौशङ्करस्याराधनभरमा उवादिदेश ।

आसक्ता धूरियं रुदा धननी दूराणा च मे ।

तिरस्त्रोति स्वातन्त्र्यं व्यापार्याचारवान्मृषः ॥ ७७ ॥

स्वधर्ममनुवन्तं नातिक्रमनरातिभिः ।

पलायन्ते कृतश्चला नाहवन्मानशान्तिः ॥ ७८ ॥

त्रिभिः उल्लाभ्रविलय वा त्रिपदे नगनूर्धनि ।

भाराध्य वा सद्भ्राम्यमयशः शून्यमुदरे ॥ ७९ ॥

इतुक्तवन्त परिरम्य दोम्यां दनुजमाविष्टतदिव्यनूर्तिः ।

अधोऽधार्तं मयवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

८१.

हे अर्जुन ! तपसा प्रसादितो भगवान् शङ्करः, अहं लोकपालाश्च तुभ्यं तथा-
 विधा शक्तिं वितरिष्यामः, या त्रिलोक्यां कश्चिदप्यतिक्रमितुं न शक्नुयात् । तथैव
 च त्वं संग्रामे शत्रून् परात्रित्य शत्रूणां राजलक्ष्मीम् आत्मसात् करिष्यसि । इत्यु-
 क्त्वेन्द्रस्तिरोवभूव । अत्र 'समुत्सुक्यितासि' इति पदेन यथा परकीयाऽपि कान्चन
 नायिका गुणवति नायकान्तरे स्वयमेवानुरप्यति तमभिषर्तुं यतते च, तथैव तथा-
 विधं शक्तिमन्तं स्वामप्यत्रलोक्य परेषां राज्यलक्ष्मीकृत्कण्टिता भविष्यति, तदधिगतये
 स्वया न कश्चन यतः कर्त्तव्यो भविष्यति स्वयमेव सा स्वामुपैष्यति, यतः सम्प्रदो
 वीरभोग्या, वीरमेवाभयन्ते' इतिव्यञ्जितम् । किं च पिनाकीति पदम्—'तपोमात्रेण
 भगवतः शङ्करस्य सतोपो न स्यात्, स्वया तेन सह योद्धव्यमनि, पिनाकधारिणो
 वीरस्य वीरकर्मणैव संतोपोदयात्, इति किरातरूपस्य शिदस्यार्जुनेन भविष्यत्
 युद्धमभिव्यनक्ति ।

इति किरातार्जुनीये षष्ठादश सर्ग ।

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि त्रिहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।

लक्ष्मीं समुत्सुक्यितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन त्रिरोक्त्वै ॥८१॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः

कथासम्बन्धः

१

अस्मिन् महाकाव्ये शिशुपालस्य राज्ञः कृतो वधो वर्णनीय, अत एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारत् ' शिशुपालवधम् ' इति काव्यस्य नाम । तद् भूमिकारूपेण ' शिशुपालो हन्तव्य ' इतीन्द्रस्य सदेश निवेदयितुं भगवतो नारदस्य कृष्णमयीप आगमनं चर्यते । भूभारहरणाय पृथिव्या देवैश्च प्रार्थितो भगवान्नारायण स्वयं कृष्णरूपेण प्रादुर्बभूव स स्वकार्यं दुष्टानां दमनं शिष्टानां पालनं च क्रमेण कुर्वन् विनृत्येन स्वीकृतस्य दत्तपूर्ववरस्य कश्यपाभारस्य वसुदेवस्य एहं निवसति स्म । यद्यपि नारायणोऽयं विभु अस्मैव कुक्षीं सर्वाणि भुवनानि कल्पान्ते निवसन्ति, तथापि स्वैच्छया स्वीकृतत्रिग्रहस्य तस्य कस्मिंश्चिद् एहे निवास उपपन्न एव । तत्रैव क्विप्णीरूपेण प्रादुर्भूय लक्ष्मीरपि विराजते, भ्रिया पशु भियमन्तरेणावस्थानस्या योऽभ्यत्वार्, पतिप्रताशिगेमणोर्भंगस्या श्रिय पतिं विरहस्य स्थितेरसमवाच्च । यत्र साक्षाच्छीनिवसति, किमु वन्द्य तस्य भुरतस्य शोभाविषये । तेनानेन भगवता कृष्णेन सभाया तिष्ठता कदाचिद् दृष्टम् यत् सर्गाद्भगवान्नारदो देवर्षि राक्षसमार्गेणारुञ्जतीति ।

२.

तेन पुञ्जं नारदमाकाशादन्तरन्तं दृष्ट्वा तेजसाभिषदाद् दूरस्थतया चाकृते प्रत्यभिज्ञाभावाजनानां मनस्येव सशय उदभूत् यत् किमिदं तेन । किं सूर्य एकेन रूपेण दिवि तपन्नपि रूपांतर धूत्वा इहागच्छति, वा धूम परित्यज्य प्रचलन्नग्निं राधाति । ततस्तैर्निश्चितितम् सूर्यो हि तिर्यग्गच्छति, (अनुरुसारयेति पदेन तस्यामे व्यङ्ग्यप्रकाशोपि भवति, अत्र तु न तयेत्यपि शोभितम्) अग्निश्च ऊर्ध्वञ्चाल, (किं च स हविर्भुक् हवीपि इन्धनानि दिना न चरति, अत्र तु नेन्धनं किमपि) इदं तु तेन ऊर्ध्वदिशादध आभाति, सर्वतः प्रसरणशीलं च (प्रसरणशीलोकाया

भिय पतिं भीमतिं शासिभुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसन्निति ।

वसुन् ददर्शान्तरन्तमम्भराद्भिरणमर्भाङ्गभुव मुनि हरि ॥ १ ॥

गतं तत्रश्चीनमवृक्षारस्ये प्रविद्धमूर्ध्वपञ्चलनं हविर्भुज ।

पतायधो धाम विगारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीजित् जनै ॥ २ ॥

कदाचिदुल्का स्यादिति सद्योपि निरस्त) । तस्मान्न स्य , नापि अग्नि ,
ततश्च किमिदमिति विचिन्तयन्तो निर्धारणान्नास्ते हिमयस्मितमिता वमूत ।

३

भगवानपि पूर्वं दूरान्नारद दृष्ट्वा तेन पुञ्ज इत्येवाजानात् , तत ऋषेण सन्निहिते
तस्मिन् , अथयवसन्निवशे दृष्टिगते कश्चित् शरीरधारीनि धुष्यते स्म । ततोपि
अग्निघानं विशयेधावपवेषु पुष्टय इति ज्ञातम् । अतिसन्निधाने च नारद इति
स्पष्ट बुद्धम् । सर्वज्ञेऽपि भगति लोचदृष्ट्यायमुपन्यास दात मल्लिनाथ । यथा
विभुरप्येन ऋषेण ज्ञातु शब्दोऽमुदिनि नारदस्य तेजोऽनिशयनिवन्धन माहात्म्य
व्यञ्जीकृतम् ।

४

आकाशादन्तरन् नारदो यदा सञ्चलाना महता नीचर्णाना मेघानामध
प्रदेशे आजगाम , तदा तस्य तथा कान्तिरभवद् , यथा लाण्डवतृषसमये
गणेशचर्मणा मेघानां सादृश्यम् श्रीशिव श्वेतकर विभूत्या चाग्नि श्वेतो भवति,
नारदोऽपि स्वयमेव कर्पूरसदृश सन् उदयतर्ण इति । ननु इति सञ्चलत्वं मेघाना,
बृहत् इति निविष्टत्वं ।

५

नारदस्य शिरसि इत्यनेतवणा (कृष्णपीठा) जग विराजन्ते, सर्वे च
सन् उदयेतो नारद , तेन तस्य तादृशी कान्ति , सादृशी हिमप्राचुर्येण दरेतवर्णस्य
परिणात इत्यदीतवर्णा (हरितपीठा) एता उपरि विभ्राणस्य हिमवतो दृश्यते ।
जटामिलतानां सादृश्यम् पीतवर्णविश उभयत्र , कृष्णहरितयोश्चैक्यमेव कविसप्रदाये ।
शिर स्थानीय उपरिभागे च एताना स्थिति ।

६.

नारदेनाथ विहितस्य वस्त्रशोषर मौञ्जी मेवला निवद्धा, कृष्णमृगचर्म च
उत्तरीयरूपेण धृतम्, स्वयं च नारद दुभ्रर्ण , तेन च भगवत कृष्णस्य उद

चयसि श्वाभिरवधामित परा तत शरीरीति विभाविताकृतिम् ।

विभुर्भिक्ताव्यय पुमानिति ऋमादमु नारद इत्यथोचि च ॥ ३ ॥

नवानधोऽघो बृहत् पयोधरा-नमूटकर्पूरपरागपाण्डुरम् ।

क्षण क्षणोत्तिमगन्-द्रङ्गतिना स्फुरोपम मूनिस्मितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

दधानमम्भोऽहङ्कसरस्यतीर्ज्या शरच्चन्द्रमरीचिरोचिपम् ।

निपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहा धराधरेन्द्र व्रतलीततीरिव ॥ ५ ॥

पिण्डमौञ्जीसुजमर्तुन-उवि यथानमगाजिन-ञ्जनयति ।

सु-र्णसुषाकस्तिताधाराभवा विडम्बयन्त शितिवासस्तनुम् ॥ ६ ॥

भ्रातरं बलमद्रमनुकरोति स्म । बलमद्रोऽपि 'शुभ्रवर्ण' अथ पिहितस्य बलस्योपरि
 सुवर्णमेखला धारयति स्म, नीलं चोत्तरीय धत्ते स्म । तदथ सुवर्णमेखलायाः
 भौज्याश्च पोतवणेन सादृश्याद् विम्बप्रतिविम्बभावः । नीलाश्च—कृष्णमृगचर्म—
 णेश्चापि सादृश्यात्तथैवेति बलमद्रनारदयोः सादृश्यनुरन्तम् ।

७.

नारदेन पीत यज्ञोपवीत धृतम् तच्च कृतं पितृभ्रातृभ्यते, सुमेघधान्ते
 सुवर्णोपव्या देवमूर्त्तौ या कापस्थो लना उत्पद्यन्ते-ता देवि कारणगुणानुसरणात्सुवर्ण-
 मयः, तास्यन्तस्य कर्षावस्य तन्तवोऽपि तथैव सु-वर्णमयोः—इति, अग्निमित्तस्य
 यज्ञोपवीतस्य सुवर्णं एव पीततन्म् । गदडलोमान्ध्यायताश्च यज्ञोपवीततन्व ।
 केचिच्च दीर्घललावराभूतैर्ललातन्तुभिरेव शोभायामपरं यज्ञोपवीतं निर्माय नारदेन
 धृतमिति व्याचक्षत । ततश्च तेन यज्ञोपवीतेन शुभ्रस्य नारदस्य तथा वृद्धिर्दृश्यते
 स्म यथा शरकाले शुभ्रस्य मेघस्य विद्युद्गणैर्दृश्यते ।

८.

नारदेन स्वीये स्वच्छशुभ्रेऽङ्गे चमूरुमृगस्याजिनं धृतम्, तस्याजिनस्य लोमानि
 नानावर्णानि, रवेद्रानि, कौमलानि च, तेन तदजिन बहुमूल्यताञ्चोचितगजपृष्ठाया-
 स्तरणमिव शोभते स्म । तेन च परिहितनाजिनेन धृतमशार्हपृष्ठास्तरणस्य शुभ्रवर्ण-
 स्यैरात्रताखनगजेन्द्रस्येव नारदस्य शोभासीत् ।

९.

नारदो हि करे ज्यार्थे र्फटिकनिर्मिता माला धत्ते, न हि स काण्य मन्त्रान्
 जपति, अत्र तु मोक्षाय, मोक्षार्थिना च 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति स्फटिकमा-
 ला विहित्वा । वीग वादने च दृढतरस्तस्यान्यास इति वीणाधौष्ठवपरीक्षणाय
 अङ्गुष्ठनखेन मुहुर्वाणातन्त्रीं ताडयति । तादृशदृढतरतन्त्रीणा मुहु संदर्शनेनाङ्गुष्ठ-
 नखस्य भास्वरा रक्तता जायते । सा चारपन्त स्वच्छेषु स्फटिकेषु संक्राम्यतीति
 यस्मिन् भागेऽङ्गुष्ठनखाशुसम्बन्धेन रागसंक्रमसम्बन्धः, तस्मिन् भागे स्फटिका एव,
 तेन सा मालादंभागे प्रवालैः, अर्धभागे च स्फटिकैर्घटितैव विच्छित्ति दधाति ।
 तथादमुतया मालया नारदो विराजते स्म ।

विद्युद्गणैर्वाङ्गैरिवायतैर्दृश्यन्त्योर्दोषैश्चलितन्तुभिः ।
 कृतोपवीत दिनशुभ्रमुच्चैर्घनं घनान्ते तडिनाङ्गुणिव ॥ ७ ॥
 निसर्गचित्रोच्चैर्दृश्यन्त्योर्दोषैश्चलितान्ताङ्गुणिव ।
 चकासतं चारचमूर्चर्मणा बुधेन नागैन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥
 अबलमास्त्रालितवल्गुकीगुणक्षतोच्चैर्वाङ्गुष्ठनखाशुभ्रजया ।
 पुरः प्रवालैरिव पूरिताऽर्धया विमान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

१०

गान्धर्वशास्त्रविषयोऽन रदीयै पारिमापिकै शब्दैर्निवद । स च मल्लिना
 यगी या स्पृगीक्रियते । गायकस्य कण्ठनाल्वाद्यभिजातेन वीणादिवाद्येषु हस्ताकुल्या-
 दानियातेन वा य प्रथम शब्द उत्पद्यते, स अतिनीम, तस्या सनननाद्
 अक्षुरणनरूपधिर जायमानो मनोहरो ध्वनि स्वर इत्याख्यायते, अनेकाभि धृतिमि
 रेऽ स्वर उत्पद्यते, ता धृतय स्वरस्थावयवा भवन्ति । अनेका धृतय स्वरमवयविन
 मुस्तादयन्ति — तत्तत्र इव पटम् । तत्र नास्ति सख्यानियमोपि— क्रियतीमि धृतिमि
 क स्वर उत्पद्यत इति, त इमे स्वरा सप्त प्रथिदा — पञ्च, षष्ठ्यम, गान्धार,
 मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इति, एत एव सशेषेण स रि ग म प ध नी इत्य
 ग्यायन्ते । एषा विभिन्नया रीत्या भिन्ना भिन्ना सपाता ग्रामा इत्युच्य ते, ते च
 त्रय एडज ग्राम, मध्यम ग्राम गांधारग्राम इति । अन्येषु तज्जास्त्रय न वा
 वर्तन्तीमूतसुभद्राख्या । ग्रामेषु निविशमानाना स्वराणाम्—आरोऽवरोहक्रममेवा
 “मूर्च्छना” इत्यारयाय ते, ताश्च प्रतिग्राम रूपत्येव विंशतिर्भवन्ति । सर्वमेतत्पुरुष
 प्रयत्नेन गाने वाचा, वाद्ये तु हस्तादिभ्यापारेण सपाद्यते, पर नारदस्य वीणाया
 तादृशेन लोकातिशायिना शिल्पेन तन्त्रोयोजना कृता यदन्तरिक्ष गगनकाल
 वायोराधातेनैव सा विभिन्नेषु स्वरस्थानेषु ध्वनन्ती अक्षकीर्णान् स्वराण्, ग्रामान्
 मूर्च्छनाश्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव प्रकल्पति । तादृश च विच्छेदण स्वन भुत्वा
 ‘दिनेयमादिता’ इति सकीर्तुक नारदस्या विलोकते ।

११

अन्तरिक्षे नारदेन सह तद्गौरवाय बहवो देवा अनुचररूपेण मज्जन्ति स्म,
 मूलोकसन्निधाने सति नारदेन ते स्वर्गं प्रति प्रेषिता प्रणाम कृत्वा निवृत्ता ।
 ततश्च नारदो भगवन् कुण्डस्य सदनं प्राप्त । इन्द्रसदना नारद आगत, इदमपि
 सदनमिन्द्रसदनसदृशमेवेति तस्य पृथिव्या गमनेऽपि न कोऽपि विशेष इति महेन्द्रा
 ल्यचाक विशेषणेन द्योतितम् । सादितदैत्यसम्पद इति चक्रिविशेषणेन स्थाने
 समृद्धिवाहुल्य व्यञ्जितम्, दैत्यानां सम्पदो विनाश्य स्वीया समृद्धिर्वृद्धिं नीतेति ।
 चक्रिण इति दैत्यनाशनयोग्यता व्यनक्ति । अतीन्द्रियज्ञाननिधिरिति विशेषणेन
 नारदस्य देवदर्शनसत्कथादियोग्यता स्फुगीकृता ।

रणद्विराघट्टनवा नभस्वत पृथग्विमिश्रभ्रतिमण्डौ स्वरे ।
 स्फुगीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवशमाण महती मुहुमहु ॥ १० ॥
 निवर्त्य षोऽनुवजन कृतानतीनती द्वयज्ञाननिधिर्नम सद ।
 समासदासादितदैत्यसम्पद पद महेन्द्राल्यचाक चक्रिण ॥ ११ ॥

१२.

एशागत भेषान् पुरोऽप्युत्थानेन लङ्कृत्य इति शब्दमर्षादा । तदुक्तं
 मनुना—'ऊर्ध्वं प्राणं ह्याकामन्ति मून स्यविर आयति । प्राणुत्थानामिवादास्या
 पुनस्तान् प्रतिपद्यते' इति । कामेना मर्षादा एतन् भगवान् हृदि, यावन्नारदोऽ-
 भ्यसादकर्ष्य मूना स्थितोऽपि न, तावदेव विहासनादुत्थित । उन्नतविहासना-
 द्दृष्टिश्चो घनश्यामस्य हरे परंतादुत्तिष्ठत (ऊर्ध्वं नायत) मेघस्यैव कुशमाम् ।
 सूर्यस्य स्तामन पतनशब्देन ऋविभिर्यवदिवते, अग्निन् दान न (सन्नायाम्)
 मेघ उत्तिष्ठन्तीति तदुत्तिष्ठतिरिह प्रतीयते, परमस्त एतन् सूर्यस्य नारदोऽपि नान
 त्वानैवित्यत्, सन्ध्यामेषानां श्यामरत्नभावाच्च न सा हृदयङ्गना ।

१३

मगवति भोज्यं आसनं दृष्टित एव नारदोऽपि हस्तदुष्पना एव
 भूमिगोऽभवत् । तेन चरन्त्याते कृते तनौरवञ्जनेनैव प्रायात्, नूनि दध-
 रेशस्य पगा मुना नला दम्बु, तदस्त्राशाशागार्य बहुनि पत्तारथे सूर्यमूनि
 घृते पगा नूनेरथ स्थानिता, सर्वरि चाननन्द पगा कृषावदन्ति उच्यते
 कृता, तेन कथनरि मुमृशत् स्थिरमन्त् ।

१४.

पूजायोगं नारदभाग्न हृद्वा मर्षादारथार्यमन्तीं पुरा पुरोऽपि भावान्
 यदाविधि अर्ष्योदिभिरुत पूजितवान् । पुण्यस्य हृदयाना महातना दयनम्,
 पुण्यहृतामेव सदन ते गच्छन्ति, ये तु भेषान पूजयन्ति, न ते पुण्यहृता, न च
 तत्सदन महान्तो यान्ति । तरमापूज्या एव ते इति मगवतादि पूजतो देवपि
 नारद ।

१५.

आभिमुख्येन स्थितावली कृष्णनारदौ सम्भग् द्रष्टुमरि यावत् समस्यात्येना
 नासारयन्, तावदेवाशिशीप्रणयऽच्छादिकम् निरय कृष्णेन श्यादिभ्यनपेक्ष्य

पतस्तत्तन्निमित्तस्वपोनिधि पुरोऽस्य यावत् सुवि व्यीपत ।
 निरेस्तदितानिवा तावदुच्यतेऽत्रैवेन पीतुदतिष्ठद्वुत् ॥ १२ ॥
 अथ प्रयत्नोन्निजाननयैष्टीने कथञ्चिन्नां गरेषा ।
 न्यघादिघातामनिदेवकीमुत् सुतेन घातुक्षरौ मुज्जते ॥ १३ ॥
 तमर्षमनादेक्याऽऽदिपूरुषा सपयया शालु स पयूरुत् ।
 एशागतं प्रायादमीश्वरो मन्ति नपुण्यहृतां मनीषा ॥ १४ ॥
 न यावदेतावदपश्यदुत्थिी वनस्तुषाराऽञ्जनसंवातिव ।
 एतस्तदचे मुनितारने मुनिधिरन्तनस्वावशन्दिनीविश्व ॥ १५ ॥

स्वहस्तेनैव सिंहासनमग्रतः कृश्या तत्र नारद उपवेशित भयवा इदानीमयमागत ,
अयमुत्थास्यति, पूजविध्यति—इति समावनापि यावत्लोकस्य नामूत्, ता देव
भगवता पूजा समाप्य नारद उपवेशित । यद्वा—नारदकृष्णौ इवेतकृष्णवर्णतया
तुषाराञ्जनपर्वतसदृशौ, तयो सादृश्यमूलिका तुषाराञ्जनपर्वतस्यसमावना याव
स्लोचन न कृता तावदेवोपवेशतो नारद ।

१६

नीलमणिसर्वाणो घनश्याम कृष्ण सम्मुखे विष्टात स्म, तदभिमुख स्वच्छेत्र
कातिर्नारद उन्नये सिंहासन उपविष्ट, तन तस्य तादृशी श्यामा लक्ष्यते स्म, यादृशी
कृष्णवर्ण सायङ्कालमभिमुखीकृत्य स्थितस्य, उदय पर्वतमारुढस्य च द्रस्य लक्ष्यते ।
तेनेद भाति तथाविधस्य च द्रस्यैव शोभा नारदेन चोरिता । तुस्थास्वर्धेन स्तयेन
प्राप्तिर्लक्ष्यते, सैव शोभेति तद् द्रस्यम् । तस्कालोद्गततमोवाहुल्यात् सायङ्काल
कृष्णवर्ण कविभिर्वर्ण्यते । भित्तोदयाद्रेरिति विशेषेण उचित एव चन्द्रो नेदानीं
यावत्तम कृत्स्नं निरोद्धुमशक्यत्, सन्निधौ तमस्तेन विनाशितम्, प्रतीप्यान्तु
तद्वत एवति तमसोऽभिमुख स्थितश्च द्रस्योपपादिता ।

१७

पूर्वमर्धादिमि पूजितस्य प्रसन्नता गतस्योपविष्टस्य नारदस्य पुनरपि गन्धपु-
ष्पमधुपर्कादिमि पूजा भगवता कृष्णेन कृता । नात्र किमप्याश्चर्यम् स्वभाव एष
महानुभावानाम्, यत्ते श्रेष्ठान् पुन पुनस्तथा पूजयन्ति, यथा पूजया तथा सत्पुष्टा
एते श्रेष्ठा पूजकस्य वशागा एव भवन्ति । एषा च पूजा न केनचिदभिलाषेण
कस्यचित् प्रेरणया वा महानुभावै किमते, यतस्ते स्वय महानुभावा कस्तेर्षा
प्रेरक स्यात्, को वा तेषामभिलाष, पर प्रकृतिरेव तथा तथाविधा यस्मूष्यपूजा
कर्तुंशुश्रूयोऽभिलाषस्तेषा मनसि सतत जागर्ति । यजनां प्रिय इति कृष्णवाच
काम्या पदाम्भामिदमभिप्रेतम् यन्निन्याज यागादिकर्म कृतवता मनसि भगवति
कृष्णे परमा प्रीतिरुदेति, त एव भक्ता उच्यन्ते तेष्वग्रगण्योऽय नारद, अस्य
भगवान् कृष्ण परमप्रेमास्पदम् । एवविधाश्च भक्ता स्वय कृष्णेन समर्च्यन्ते इति
तस्य स्वभाव ।

महामहानीलशिलाश्च पुरो निषेदिवाक्कसकृप स विष्टरे ।

भित्तोदयाद्रेरभिषायमुच्चैरचूचुरश्च द्रमसोऽभिरामताम् - ॥ १६ ॥

निषाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुष प्रकाममप्रीयत यजनां प्रिय ।

महीतुभार्यापरिचर्याया मुहुर्मुहानुभावा हि नितान्तमर्यिन ॥ १७ ॥

१८

यथा जगदधिपतिनापि भगवता कृष्णेन लोकमर्यादा पालिता, तथा त
जगन्नाथ विद्वानपि नारदो लोकमर्यादां पालयामास । नारदस्य कर्मण्डौ सर्वथा
तीर्थानां जलमासीत्, तस्य सर्वत्र भ्रमणशीलत्वात् । तीर्थेभ्यश्च जलमहणनिर्वास्तिक
संप्रदायात् । तस्य जलत्यासो नारदेन कर्मण्डौ षट्पुत्रस्य स्वपाणौ स्थाप्य माङ्गल्या
भियेकाय भगवत कृष्णस्य शिरसि क्षिप्तं भगवतापि मूर्धानमवनमय्याभियेकजल
पहीनम् । इदं हि तीर्थोदकं सर्वपापहारि विशेषतश्च नारदहस्तात्प्राप्तमिति
संस्कारपूर्वकं तस्य ग्रहणं युक्तमेव ।

१९

अभियेकानन्तरं नारदेन कृष्णायोपवेशनानुपतिदस्ता अनुमतश्च भगवान्
कृष्ण स्वर्णमयसिंहासन उपविष्ट । स्वर्णमयस्य मुमुरो पर्वतस्य शृङ्गं यथोपरि
विनाशप्रयत्नेन शय्येन जम्बूवृक्षेण क्षोभने, सतोऽप्यभिरु- धरस्यामेन महावपुषा
भगवता कृष्णेनाधिष्ठित विशालं तस्वर्णमयं सिंहासनमशोभत । तेन तस्यापि
श्रीस्तेन जिहेति प्रतीयते स्म । स्वर्णमयस्थेनोत्तरेण च मुमेक्षुशृङ्गसिंहासनयो
साम्यम्, श्यामत्वेन जम्बूकृष्णयो बृक्षेण द्वारतयोरभेदानानुपपत्ति, जम्बूवृक्षस्य
श्यामताप्रधानत्वाच्च । समुरो शृङ्गविशेषे जम्बूवृक्ष, तस्य मूलाजम्बूनदी प्रवहति
तत्त्ववधादेव च जम्बूद्वीपमिदमिति पौराणिकवर्णनमस्या उपमाया मूलम् । मल्लि
नाथेन तु जम्बूपल कृष्णस्योपमानतया व्याख्यातम् । तत्रोपमानस्य परिमाण
कृतालपतादोषो दुर्निवार । न च जम्बूप- मुमेक्षुशृङ्गे तिष्ठतीति क्वचित्सिद्धि-
भिर्यास्ता तावत् ।

२०

भगवान् कृष्ण स्वयं श्यामर्ण, पूर्णे चन्द्रमसि प्रतीयमानस्य श्यामवर्णस्य
ज्वरङ्गस्येव तस्य कान्तिं तप्तस्वर्णसदृशं मारुतपीतं च वस्त्रं तेन धृतम् । ततस्तस्य
तथा शोभा प्रतीयते स्म यथा अमिता वाडवाग्निना सश्लिष्टस्य समुद्रस्य प्रतीयते ।
समुद्रोऽपि स्वयं श्याम, कोडवजातवद् शिखरं च पीता इति ।

अशेषतीर्थोन्मुहता कर्मण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिता ।

अशौचविधौ विधौ पनीपतीर्नतेन मूर्त्ना हरिप्रदीप ॥ १८ ॥

स कञ्चने यत्र मुनेरनुहया नवाभ्रुवदश्यामतनु र्यक्षित ।

जिगाय जम्बूजनितभिय श्रिय मुमेक्षुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥

स तप्तमार्तस्वरमारुतवन्दर कठोरतरागधपलाञ्छन-ह्राव ।

विदिद्युते व इवजातवेदस शिलाभिराश्लिष्ट इवाम्मसा निधि ॥ २० ॥

२१.

श्यामस्य मगदतः कृष्णस्य मूर्तिवतुस्यूनाया र्निग्धकृष्णप्रभाया उररि
अङ्गुष्ठिगतस्य नारदस्य शुभ्राः रमय पतिता, तयोः संमिधनेन तथा
चउविद्दश्यते स्म, यथा राधौ घनस्य वृक्षस्योपरि यदा चन्द्ररश्मयः पतन्ति, तदा
श्यामाना वृक्षत्राणा रुचे अंतराले दृश्यानां चान्द्ररश्मीनां च समिधनेन दृश्यते ।
उभयोर्भास्वरप्रभाक्चउरीरत्नमनेनोक्तं भवतीति ।

२२.

कृष्णनारदयो परस्परसम्मुखे स्थितत्वाद् भास्वरकान्तितया चैकैकस्य रश्मयोऽ-
न्यस्य शरीररुचौ सत्त्वा, तेन च यद्यपि कृष्णनारदौ श्यामशुभ्रतया अत्यन्तं
भिन्नवर्णौ, तथापि एकवर्णाविव प्रतीतौ । कृष्णेऽपि नारदशरीररश्मिसम्बन्धाच्छु-
भ्रसङ्कोर्णकृष्णवर्णं, नारदोऽपि कृष्णशरीररश्मिसम्बन्धाच्छुभ्रसङ्कोर्णशुभ्रवर्णं इत्येक-
वर्णता द्वयोः समाहिता । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम
इव सङ्घिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायं कश्चिदेवो वर्णं प्रादुर्बभूव” इति मङ्गिनाय ।
स्योर्भीपूर्णां चावत्राशयविभावाद्भेदनिर्देश इति मङ्गिनाय । दस्तुतस्तु
“मूर्तेर्वेदिनिर्गतस्य प्रसस्तस्तेजोऽवयवा अश्वत्थं मूर्त्यनुस्यूता तु कान्ति रोजि-
शुभ्रवर्णा” इति नेह विस्मर्तव्यम् । एकस्य चउरी परस्य रश्मिसम्बन्ध, तेन
चउवेरन्यथाभाव इति ।

२३

यदाय भगवान् कृष्ण एलीलया प्रल्पे स्वरूपमूर्तं जगदुरसंहरति, तदा
सर्वाणोमानि दृश्यानि जगन्ति अस्पृशेदरे (शरीरान्तं तिष्ठन्नि) न च तत्र
तिष्ठतामनन्तब्रह्माण्डानां कोऽपि सम्बाधो भवति सावकाशं सर्वाणि जगन्ति तत्र शेरते,
ततोऽपि बह्मतिरिच्यते तद्गुह्यम् । (एतेन तनोरतिविशालत्वम्-अनन्तत्व
ख्यायितम्) पर तस्यामेव तनौ नारदागमनजन्यो हर्षो न कथमपि समाविशोऽ-
भूत् । स तु तनौरतिरिच्य बहिरपि प्रवहति स्मेव । अनेन हर्षस्यानन्तब्रह्माण्डानि
रेककथनादनुल्लेख्युक्तं भवति ।

रथाङ्गाशेषे पल्पेन रोजिषामुषिरिच्यं सवल्लिना विरेजिरे ।
बल्लयलाशान्तरागोचरास्तरोस्तुपारमूर्तेरिव नक्तमशव ॥ २१ ॥
प्रफुल्लतापिचउनिभैरभीषुभि र्शुभैश्च सतचउद्वानुगण्डुभिः ।
पक्षरेण चुरिताऽमलच्छनी तदैकवर्णाविव तौ समूहवु ॥ २२ ॥
सुगान्तकालप्रतिषेद्धकारमनो जगन्ति यस्या सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न वैभद्विषस्तपोधनाम्यागमसम्भवा मुद ॥ २३ ॥

२४

भगवत् कृष्णस्य 'पुण्डरीकाक्ष' इति नाम प्रसिद्धम् तत्तस्मिन् काले अनुगतार्थमभूत् । कमलरुद्रे नेत्रे यस्येति तदर्थं, कृष्णनेत्रयोश्च कमलसादृश्यं तदा अतुभूतम् । कमल द्वि सूर्ये समुत्तमागते विकासं प्राप्य कामपि धियं घत्ते, कृष्णनेत्रे अपि सूर्यसदृशे तन्स्विनि नारदे समुत्तरस्थिते हर्षेण विकासं प्राप्य विशिष्टा शोभां गते इति ।

२५

अथ सुत्रोपविष्टे नारदे तदागमनकारणत्रिंशत्तया भगवान् कृष्णो वक्तुं मारमत । स्मितपूर्वाभिभाषी हि भगवानिति । शुचि स्मित रस्य तदा प्रादुर्भूतम्, तेन दन्तकिरणा नि सृता । अत्यौज्ज्वलयादेन समाच्यते स्म, भगवतो दन्ता इमे न दन्ता, अपि तु दन्तच्छेदेन चन्द्र एवायं स्थितः । ततश्चासुखैस्तत्किरणैः सपर्शित् स्वमांगुलमपि मुनिशरीरं भगवता कृष्णेनातितरां शुभ्रतां नीतमिति ।

२६.

भगवान् कृष्णो वक्ति । भगवन्नारद ! भवाहंसा दर्शने असाधारणं किमपि महत्त्वम् । अनेन हि भवदर्शनं दर्शनकाले द्रष्टुं पापानि नाशयन्ते, दुष्यं चोत्पाद्यते । अग्रेषु शुभयोगं सुच्यते । पूर्वं यैः पुण्यं कृतम्—तैरेव दर्शनं लभ्यते । तेन भूते वर्तमाने भविष्यति चेति त्रिष्वपि कालेषु पुण्ययोगो जापिनो भवति भवदर्शनेन ।

वर्तमाने भविष्यति च पुण्यजनकत्वम्, जापकत्वं च । भूते तु जापकत्वमेव दर्शनस्य । "अनाप्तपुण्योपचयैर्दुराणा" इत्याद्या भारवेरुक्तिरत्रोपजीवितेत्या लोच्यम् ।

२७

भगवन्नारद ! सूर्येण केवले बाह्यान्धकार एवापसार्यते आन्तरं मोहाख्यं मघकारमग्नेषु तु न सूर्यं शक्यं भवता तु आन्तरमपि तमो बलात्नाशितमिति

निदाघघामाननिवाधिदीधिति मुदा विकासं मुनिभ्युपसुधी ।

विनेचने विप्रदधिधितथिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुरोऽभवत् ॥ २४ ॥

सितं त्रिभिर्ना मुनरा मुनेवपुर्विसारिभिः सौधमिनाय लम्भयन् ।

द्विजाज्जिवाजनिशाकरांशुम शुचिस्मितं वाचमवोचदभुत् ॥ २५ ॥

हरस्यथ सम्प्रति हेतुरेष्यत शुभस्य पूर्वविरिते कृतं शुभैः ।

शरीरभाजा भवदीपदर्शनं यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

जगत्स्यपर्याप्तसदृशमानुना न यन्निवन्तु समभावि मानुना ।

प्रसह्य तजोमिरसङ्घयतां गतैरदसत्रया मुन्नमनुत्तमं तम ॥ २७ ॥

सूर्यापेक्षयाप्युत्कृष्टो भवान् । तत्र हेतुद्वयते—सूर्यस्य क्षिरणा यद्यपि बहव, तथापि ते सङ्ख्यमिति परिच्छिन्ना एव, अत एवानन्ते जगति सर्वत्र पर्याप्तु न शक्नुवन्ति । भवत्यस्तु तेजासि अत्रोपस्थातानीति भवान् सर्वमन्धकार निवर्तयितु शक्नु । मोहात्पतमोविनाशकत्वादिह ज्ञानस्यैव तेजस्त्वमुक्तं द्रष्टव्यम् । तस्य चास्त्वयात्तद्व्य-मनन्तश्चमेव । तथा चानन्तेन ज्ञानेन समूलो मोहस्त्वयापहारिण इति फलति ।

२८.

यदा कश्चिद्ब्रह्मवति पुरुषो भवेत्, स च स्वपुत्राणां क्षेममिच्छेत् स ह्यशक्त्या लाकन्तमर्थं राशिम् (निधिम्) अर्जयति, यस्य तस्युक्ते सततं दानभोगादिपूषयोगे क्रियमाणेऽपि न क्षयो भवेत् । त च निधिं स दृष्टे कृपादादौ निक्षिप्य सुस्थाने स्थापयित्वा निश्चिन्तो भवति, तथैव भगवता ब्रह्मणापि सर्वांषां स्वप्रजानां हितमिच्छता तदर्थं भुतिसमूहरूपा सपदजिता, (तपस्तपना परमेश्वरात्प्राप्ता) सेर्यं भुतिसपदनि तादृशी या सर्वाभिः प्रजामिहरयुष्मन्मानपि न क्षयं याति, यास्यति वा (विद्याया उन्नयोर्गे वर्धनशीलत्वात्) तस्या निधानार्थं भवानेव (नारद एव) पात्रत्वेन ब्रह्मणाङ्गोक्तं, स्वयं च ता सपद निधाय स निधिः तोऽमूत्, अयमेव सप्रदायप्रवर्तनेन भुतिसपदमिदं सम्यक् पात्यतीति । (निधिस्थाने निधिशब्दप्रयोग तादर्थ्यलक्षणा मूलकः । (यदा निधोयतेऽस्मिन्निति निधिरित्यधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः) । एव च भुतिसप्रदायप्रवर्तनेन धर्माधर्मव्यवस्थापको भवान् दुर्लभदर्शन एव लोकानामिति ।

२९.

भगवान् कृष्णो वक्ति—मुने । नारद । भवद्दर्शनैर्बाहू कृतार्थं, यतो दर्शनं मिदं सर्वाणि दुरितानि दूरीकरोति तथापि मम सतोषो नास्ति, यतोऽहं गौरवयुता भवद्वाचोऽपि श्रोतुमिच्छामि । नात्र मम दोषः । स्वभाव एवायं जनानाम्, यत्ते श्रेयःप्राप्तौ न तृष्यन्ति, अधिकमधिकं श्रेयो वाञ्छन्ति इति । तथा च यथा आगमनकृया भवता कृता तथा किमनुपदिश्य कृतार्थनीय इति ।

३०.

भगवन् नारद ! भवन्त प्रति यद्वयं पृच्छाम 'अत्रभवत आगमने किं

कृतं प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा मुपात्रनिक्षेपनिराकुलत्सना ।

सदोषयोगेऽपि गुरुत्रयमश्रयो निधय भूतीनां धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥

बिलोकनेनैव तवामुना मुने । कृतं कृतार्थोऽस्मिनिर्वर्हिताऽहंसा ।

तथापि सुश्रुपुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृष्यते ॥ २९ ॥

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्षुः व्यवधीयते यथा ।

तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

प्रयोजनम् । तन्निगद्यताम्' इति, कैषा अस्माकं धृष्टता । यतो भवान् वीतरागः । न किमपि जगते भवतः करणीयम् व्यतो न भवतः प्रयोजनं संभाव्यते । वीतरागं प्रति प्रयोजनप्रदानोऽप्य धृष्टतैव, परं क्षम्यताम्, सेयं धृष्टता स्वदागमनेनैवोत्पादिता, वीतरागाणां प्रयोजनशून्यानाम् क्वचिद्रमनमप्याश्रयंकरम् । ततश्च महस्वास्वदेन भवदागमनेन यदस्मासु गौरवं जनितम् बोधितं वा, तेन वयम् तथा प्रगल्भा छाताः यत्प्रयोजनम् प्रष्टुमप्यस्माकं ङिह्वा प्रसरति । ज्ञातेऽपि निःस्पृहत्वे न प्रयोजनशून्या प्रेषावत्प्रवृत्तिरिति आगमने किमपि प्रयोजनं स्यादेव इति विचारेण प्रदने प्रवृत्तिर्जायत एवेति मल्लिनाथः ।

३१.

भगवतः कृष्णस्य पूर्वोक्तं वचनजातमाकर्ष्य नारदेनोक्तम्—भगवन् ! भवत इयमुक्तिर्न योग्या । अन्ये मनुष्याः कथयन्तु तावदित्यम् भवास्तु पुरुषोत्तम—परः पुरुषः—साक्षात्पारायणः । वीतरागो महान्तो योगिनोऽपि त्वद्दर्शनमभिवाञ्छन्त्येव । स्वदर्शनार्थमन्यत्र स्पृहा निवर्तते, स्वदर्शने तु स्पृहा न कदापि कस्यापि निवर्तते इति । किं च दृष्टे स्वयि सर्वाः पुरुषार्थाः संप्राप्यते, न त्वं प्रयोजनान्तरमवशिष्यते यदर्थं प्रदनेः स्यात् । तस्मात्स्वदर्शनार्थमैवाहमप्यागतः । इति ब्रुवन्तं तमिति वर्णमानार्थं कथं प्रत्ययेन स्वप्रशंसा कृष्णमुलाच्छ्रोतुमनुस्त्वहमानो नारदो मथ्य एव तद्वाक्यमाशिष्य वक्त्रुमारभतेति चोत्थते ।

३२.

यथा कश्चित्कञ्चित्काञ्चित्कान्तारमार्गं गच्छेत्, स मार्गः पाटञ्चरैराक्रान्तः स्यात् जनानां गतागताभावेन दुर्गमश्च स्यात्, स तत्र संकटापन्नो विम्यत् कथंदिक्षं निरतीर्णः' स्व प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भयो भवति तथा मोक्षमार्गं य आश्रयन्ते, यत्र उद्विक्तो विषयाभिलाष एव प्रतिबन्धकरात् पाटञ्चरः, न च संसारिणां यत्र बाहुल्येन गमनम् तन्मार्गास्ते (योगिनः) स्वामेव प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भया भवन्ति, न च ततस्तेषां त्रियोगः, 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेः, तथा च फल्काले भवत्प्राप्तिरेव, उपायकालेऽपि तमेव विदिश्या अतिमृशुमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय, इति श्रुत्या स्वदर्शनोपासनाज्ञानान्येव मुख्यानीति तत्रैव योगिनो रमन्ते । पूर्वश्लोकोक्तं समर्थनम् ।

इति ब्रुवन्तं तमुवा च स व्रती न वाच्यमित्यं पुरुषोत्तम । स्वया ।

त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्त्वाकार्यं गुप्त योगिनामपि ॥ ३१ ॥

उदोर्गारागप्रतिरोधकं जनैरभीष्टामल्लुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।

उपेयुषो मोक्षवथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निस्पायसंश्रया ॥ ३२ ॥

३३

मगवन् कृष्ण ! कपिलाद्या, सांख्याचार्या सांख्ये त्रयोविंशतेर्विकारेभ्यः
मूलकारणाच्चतुर्विंशतिप्रकृतिपदबोध्यात् प्रधानाच्च पृथग्भूत पञ्चविंश निश्चानघ्नं
पुरुष य निरूपयन्ति, य च योगिनो बाह्यविषयेभ्यो मन आकृष्यात्मनि सयोऽप्य
चातिक्रेशेन जानन्ति, स सर्वात्मभूतो भवानेव । यद्यपि साख्या पुरुषबहुत्वमिच्छ
न्ति, तथापि न तु तेषां दर्शनं सम्पन्नम् । विभिन्नत्वेन भासमाना पुरुषा वह्निस्फु
ल्लिङ्गन्यायेन भवन एव निर्गता भवदशभूता इति भवानेव सर्वकारण सर्वेभ्य
प्राकृतन । तदेतत् 'पुरातनम्' इति पदेन चातितम् । यद्वा-उत्तरसांख्यशा
योगाचार्या पतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषेभ्योऽपि परं यद्ब्रह्मिण्य क्लेशकर्मविद्याकाशयैर
स्पृष्ट पुरुषविशेष पुरातन पुरुष निरूपयन्ति, स भवानिति योज्यम् । तस्माद्योगि
जनदर्शनीय एव भवानिति । स ह्यप्रकृतियुक्त मगवत्सङ्घर्षनिरूपणम् ।

३४.

य एव सांख्यादिभिर्निर्गुण पुरुष इति निरूपित, तमेव त्वां पौराणिका सुधि
कर्त्तारोमांनन्ति । अस्य दृश्यस्य लोकत्रयस्य तमेव शिन्वी । यथा शिल्ली पृष्ठ
निर्माय तदाञ्छादनयोपरि तृणादिनिर्मितमिच्छाप्रस्तरादिनिर्मितं वा ञ्छादनम्
छप्पर इति वा भाषाया प्रसिद्ध, स्तम्भाश्रेषु निघत्ते तथा भन्तापि ञ्छादनरूप
ममण्डलमिदं स्वयमेव वराहरूपेण अत्रादुद्धृत्य पातालस्य ञ्छादनीय शेषनाम
रूपस्य स्तम्भशिरसु निहितम् ।

३५

मगवन् ! यत्रिगुण साख्यादिभिः प्रतिपादित पूर्वमुक्तम्, यच्च सर्वनियामक
अगस्त्यपूर्वस्मिन् पद्ये निरूपितम्, तस्य तस्य च महत्त्वं को नवतुं शक्तु
मा समर्थं, न कोऽपि तज्ज्ञानाति, न च वस्तु शक्नोति ।
एकत्र गुणामात्रेण वाङ्मनस्योरप्रवृत्ते, अपरत्र च गुणानामानन्त्येन क्लृप्तनपरिच्छे
दासम्भवात् । आस्ता तद्रूपद्वयम्, परं मनुष्यरूपणावतीर्णस्यापि ते गुणा
सुरासुरातिशायिन, अपरिच्छेद्या एव । एतेषामेव च स्मरणेन गानेन च भक्ता
भवाञ्चि तरन्ति ।

उदासितार निःपृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृष्ट्या कथञ्चन ।

बहिर्विकार प्रकृते पृथग्विदुः पुरातनं त्वा पुरुषं पुराविद ॥ ३३ ॥

निवेशयाम सिध हेत्योद्धृतं पणभृत्यं छादनमेकमोक्ष ।

अगत्स्यैकरथपरितरेवमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरसु मूलम् ॥ ३४ ॥

अनन्यगुणोस्तत्र केन केन पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते ।

मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैर्मवान्मन्त्रेदकरं करोत्यथ ॥ ३५ ॥

३६

भगवन् ! भाराकाताया पृथिव्या भारापनयनेन लघूकरण तत्रावतार-
स्थोद्देश्यम् , परमह विपरीत पश्यामि, भवानिदानीं भुवि स्थितोऽसि, भवतश्च
कुक्षौ त्रिलोकी निष्ठति, तदा पृथिवीयं लोकत्रयाभयाभयभूता सती कथं लघुर्जाता,
प्रस्तुतातिशयेन भाराकाता जातेति सभास्यते । पक्षे गुह्यशब्दस्य पूर्व्येत्यर्थं , तेन
लोकत्रय दधानोऽपि भवान् पृथिव्या स्थित इति पृथिव्या पर पूर्व्याव त्रया
सपादितमिति मुरयोऽभिप्राय । तेनैव विरोधपरिहार ।

३७

भगवन् ! कृष्ण ! इव पृथिव्यामवतीर्णोऽसि, अत एव माहृथा अपि साधारणा
जना स्वचक्षुरा भन्ते द्रष्टु प्रभवो जाता स्वे महिम्नि स्थित तु त्वां वशीकृत
चित्ता योगिनोऽपि सम्पद्द्रष्टु न शक्नुवन्ति, किं पुनर्माहृथा । यद्यपि नारद
परमो योगी, तथापि त्रिनयप्रदर्शनार्थं स्वस्य साधारणत्वमुक्तवान् । न केवलं जगत
परिपथिर्ना नाश एव तवावनारस्थोद्देश्यम् , अपि तु भक्तान् दर्शनदानेनानुपेक्ष
स्वर्हिमस्तेषां चेतस आकर्षणमयीति ।

३८

यथा सूर्यस्यैव नैशतमोऽपठारणे सामर्थ्यम् , नायस्य, तथैव जगद्गुप्त्व
कारिणामुद्धतानां यन्त्राधिकारानां दुष्टानां शासने तेष्यो क्षमता स्थले च तथैव सामर्थ्यम्
नान्यस्य । तेषां मदोद्धततया इन्द्रादिभिः शाशितुमशक्यत्वात् । ननु तथापि
जगदीश्वरेण किमिति ते शासनीया , तस्य द्वेषामाव दिति, तत्रोक्तम्—विश्वम्भर
इति । विश्वरथा तव स्वभाव , ततो विश्व पीडयन्त शासनीया एव तथेति ।

३९

भगवन् लोक 'कसाद्यास्वया हता' इति १ । स्तौति, परमह तु न तन्मू
ष्यामि, यतो हि मत्तगजगण्डविदारणदक्ष कसरिण यदि कश्चिद् 'मृगइन्तायम्' इति

लघूकरिष्य नतिभारमङ्गुराममू किल त्व त्रिदिवातर ।
उद्दूलोकवितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्रीं किन्ततेतरा स्वया ॥ ३६ ॥
निजौजसोन्नासयितु जगद्द्रुहामुपाजिहीया न महोत्तलं यदि ।
समाहितैर्यनिरुत्तिस्तत पददश रथा कथमोशं माहृथान् ॥ ३७ ॥
उपप्लुत पातुमशो मदोद्धतैस्त्वनेन विश्वम्भर । विश्वमीशिपे ।
श्रुते रवे क्षालयितु क्षमेन क क्षमत्तमस्काण्डमनो नम ॥ ३८ ॥
करोति कवादिमहीभृतां वधाञ्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।
हरे ! हिरण्यगण्डपुर वरामुरद्विवद्विष प्रस्तुत सा तिरस्क्रिया ॥ ३९ ॥

स्तुवीत, तर्हि न सा सिद्धस्य स्तुतिः प्रत्युत अपमानरतस्य । तथैव येन स्वया
दिरण्याक्षप्रभृतयो दैत्या इताः, तस्य कंसादिक्रमेण सा स्तुतिः । (द्दिरण्याक्षप्रभृतयो
मत्तगजेन्द्रतुल्याः, तदग्रे कंसाद्या मृगतुल्या एव) प्रत्युत अपमानमेवेति ।

४०.

इदानीं नारदः स्वस्यागमनप्रयोजनं विवरोतुमारभते । नारदो हि शिशुपाल-
हमनाय इन्द्रस्य सदेशं वक्तुमागतः, तत्र वक्तव्ये भूमिकामारचयति-भगवन् ! यदा
त्वं विनेत्र कश्यपिप्रोणा स्वावतारप्रयोजनं पूरयितुं दुष्टानां हननं क्रमेण यथावसरं
कुर्वन्नेवासि, न हि तत्र ते अमोऽपि भवति, एवमिधाना कार्याणां तव लीलामात्र-
स्वात् ; ततश्च ध्ययं प्रायमेव त्वा प्रति दुष्टहननप्रार्थनम्-इति मम वाक् विशेष-
णमात्रं स्यात् । परमनेनैव व्याजेन क्रियन्तं कालं स्वया सहालापगोष्ठीप्रमोदः
स्यादिति तत्र लुब्धं मे मनो मा कथने प्रवर्तयत्येव । क्रमेणैस्तु कर्त्ता अवसरप्राप्त्यै-
वाद्यावधि शिशुपालो न इतः, न तूपेक्षयेति सूचितम् । वाचालनया युनक्तीत्युक्त्या
वाचालता मम न निषर्गसिद्धो धर्मः, अपि तु लोड्डपेन मनश्चेदानीं संपाद्यते इति
सूचितम् । तेनालापगोष्ठीमदृष्ट्व व्यञ्जितम् ।

४१.

भगवन् कृष्ण ! पूर्वोक्तात् स्वद्रोष्ठीविनोदरक्षित्वाद् हेतोरिदानीमहमिन्द्रसदेशं
ब्रवीमि । तत्र मे वाक्यं नेन्द्रस्यैव स्वार्थसाधकम्, अपि तु लोकहितकरम्, संक्षेपेणैव
च स्वल्पेन कालेन मया वक्ष्यते । भवतश्चेन्द्रोपरि तथाविधा कृपा, यया तत्कार्य-
साधनाय तत्कनिष्ठत्वमपि भवता कश्यपददित्या प्रादुर्भवता स्वीकृतम् । सतत च
तस्य सर्वाणि कार्याणि भवतैव निध्युं दानि । तस्मात्तत्सदेशवाक्यमधुनाप्यवधानेन
भोक्तव्यमेवेति ।

४२.

‘शिशुपालो हन्तव्य’ इति नारदस्य सदेशप्रियः । तदुपयोगितया शिशुपालस्य
प्रवर्तत्वव्यापनाय नैषर्गिकौदारपरयापनाय च तदीय पूर्वजन्मद्वयवृत्तमप्युपन्यस्यति
नारदः । तत्र प्रथमं जन्माह—पूर्वस्मिन् हि वृत्तयुगे कश्यपाद् दित्यां द्दिरण्यकशि-

प्रवृत्त एव स्वयमुच्छिनभ्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामति ।

तथापि वाचालतया युनक्ति मा मियस्तदा माषणलोड्डप मन ॥ ४० ॥

तदिन्द्रसिद्धयुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणे मया विश्वज्जीममुच्यते ।

सप्तशतकार्येषु गतेन धुर्यतामहिदिपस्तद्भवता निश्चम्यताम् ॥ ४१ ॥

अभूदभूमिः प्रतिपद्यन्मनां भिषा तन्वृत्तपनस्तुतिर्दिते ।

यमिन्द्रस्यन्दार्थनिपूदनं हरेर्दिरण्यपूर्वं कश्चिपु प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

पुरिति ख्यात एको दैत्योऽभवत् । सूर्यस्येव तस्य तेज आसीत् , शत्रुशत्रुद्वयं तस्य कदापि न ज्ञातम् । इन्द्रस्य हि परमैश्वर्यं यद्यपि नैसर्गिकम् , अत एव तदिन्द्र इत्यभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततां गतम् , 'इदि परश्वर्ये' इति धातुना इन्द्रशब्दस्य अनुत्पादनात् । मञ्चेन पूर्वं परमैश्वर्येणोन्द्र कदापि विरहितोऽभूत् । पर हिरण्यकशिपुना तरपरमैश्वर्यमपहृतमेव । तेनैव हिरण्यकशिपोरसाधारण प्राबल्य प्रकटीभूतम् ।

४३.

अनेनैव हिरण्यकशिपुना देवै सह द्वेष कुर्वता मत्सर पूर्वं प्रकटित , नेतः पूर्वं क्वचिदपि तस्मिन् युगे मत्सरोऽभूत्, रागद्वेषरूप्या एव प्रजा आदियुगे उत्पद्यन्ते इति । किं च असुर इति शब्दमात्रं यद्यपि सुष्टेरारम्भात् प्रवृत्तमासीत् , पर चिरकालपर्यन्तमय शब्दो रुढ एव गण्यते स्म, हिरण्यकशिपुस्तु सुरविरोधात्, सुराणामसनात् स्स्थानम्य क्षेपणं निष्कासनाद्वा असुरशब्दस्य मुख्यार्थताम गमत् । यद्वा—इत पूर्वमसुरशब्दस्य प्रवृत्तिरेव नासीत् , अयमेव सुरविरोधात् प्रथममेव असुर इति ख्यातिं गत , सोऽय सुरविरोधश्चिरकालपर्यन्तमनेन दैत्यकुले प्रचारित , तत प्रभृत सर्वेऽपि दैत्या देवविरोधम् चक्रुः । किं च देवाना मनस्सु कदापि तत पूर्वं कुतोऽपि भय नासीत् , अनेनैव प्रथमं देवान् पराक्षित्य तेषा मनस्सु प्रथममेव भय स्थापितम् ।

४४.

सपदस्तथा तस्मिन् हिरण्यकशिपौ समाश्रिता अनुभूयन्ते स्म, यथा लोकै 'अस्य सर्वांशशायि बल इष्ट्वा बलानुरागादेवैतदाभय भीमि स्वीकृत , ननु बलेनापहाराद्' इति प्रनीयते स्म । भोषु स्त्रीत्वमपारोप्यते, ज्विषश्च रागहृता एव सुरा निःसन्त, बलहनास्तु अस्थिरा भवतीति सपदा सुस्थिरतामालोक्य राग हृतस्त्रमुप्रेक्षितम् । यतश्च यत्र पूर्वं भियो न्यूषु , तान् चतुरो दिगोद्यान् परित्यज्य तदाभयस्तामिहररीकृत , तत एव लोके श्रिया चलत्प्रवाद प्रवृत्तोऽभूत् । स चाय प्रवाद भियामकीर्तये, स्त्रीणा परपुरुषाभयप्रयोजक चाञ्जल्य सूर्यथाप्यकीर्त्तिकर भवतीति । इत पूर्वमिन्द्रादिषु लोकपालेश्वेवासाधारण्येन भिया निवास आसीत् , हिरण्यकशिपुना तु सर्वेषा लोकपालानां धोरपहृता इति तात्पर्यम् ।

समन्तरेणाऽसुर इत्युपेक्षुषा चिराय नाम्न प्रथमाभिधेयताम् ।

भयस्य पूर्वान्तरस्तरतिवना मनस्सु येन सुसदां न्यधीयत ॥ ४३ ॥

दिशामधीर्शाश्वन्तो यत्र सुरानपास्य त रागहृता सिपेतिरे ।

अत्रापुनरभ्य तनश्चण इति प्रवादमुच्चैरयशस्कर भिय ॥ ४४ ॥

४५

हिरण्यकशिपो पूर्वं देवानां पुरैरायुधै सैन्यैर्लोहवर्मभिर्वा निमपि प्रयोज्य
नासीत् शत्रोरभावाद्रक्षार्थमप्रवृत्ते । तस्मात् केवलमैश्वर्यत्यापनाय, स्वरूप सौन्दर्य-
वर्धनाय, आधिपत्यादि स्वस्वाधिकृतपदप्रतीक्षणाय वा तैरेतानि कथंचिद् विप्रगते
स्म । हिरण्यकशिपुस्तु यदा तान् बाधितुं प्रवृत्त, तदा एषां स्वरूपशोभास्थाने
रक्षा मुख्य प्रयोजनं बभूव, इति तदनुकूलार्थं तानि तानि वस्तूनि तथैव तै
सञ्जीकृतानि । पुराणि दुर्गारूपा नीतानि (केचिन्वाहुः पुराणा स्वरूपशोभैक
फलकत्वं न सम्भवति, शत्रोरभावेऽप्यन्तस्तस्तेषां शीतोष्णादिनिवारणार्थं वात् ।
तस्मद् दुर्गाणि पुराणि चक्रिरे इति वैपरीत्येन व्याख्येयम् । दुर्गाणां पूर्वं प्रयोजन
नासीद्, इदानीन्तु मयात्ता-येव वसतिरूपाणि कृतानि, तत्रैव निवास देवाश्चक्रुरिति)
शस्त्राणि तीक्ष्णता नीतानि, सेनासु शूरा सनिवेशिता, लोह वर्माणि च दुर्गैर्यानि
परिधीयन्ते स्म इति । इत्थं तद्भयाभित्थसन्नदा देवा ज प्रतिस्म ।

४६

देवास्ततो दैत्यादेव भीता बभूवु यद्यत्र तस्य दर्शनम्, यस्मिन् स्थाने वा
तस्य स्थितिः, तत्र तद्गन्दनदिषये तु वस्तुव्यमेव हिम्, किन्तु सञ्चरणशीलतया स्वैर
वृत्त्याऽपि स यस्या दिशि लगाम, तस्यै दिशि अपि देवास्तिसृष सन्ध्यासु शिरसि
बद्धाञ्जलय भ्रमोमुरिति न, किन्तु तस्य वन्धात्प्रातःगौरवा ता दिशमपि प्रणमु । तदपि
नैकवारम्, किन्तु प्रत्यह तिसृषु सन्ध्यासु । सन्ध्यासु इत्युक्त्या सन्ध्यावन्दनकालेऽपि
दिङ्निगम त्यक्त्वा तदधिष्ठिता दिगेव प्रणम्यत स्म इति द्योतितम् । शूलशक्रेरित्यु
क्तयो प्रणामे सभ्रमो व्यञ्जित । मुकुटोपलशूलशक्रेरिति च मुकुटमणीनामपि विस्मयन
पतनादाववधानं नास्ति, मयाधिक्यादिति ध्वनितम् । यस्यां दिशि सूर्यो भवति,
तद्दिगभिमुखा देवमनुष्या सन्ध्यासु सूर्ये प्रणमन्ति, पलदाश्रिता तु दिगेव प्रणम्यते
स्म । किं च सूर्यस्य तत्तादृगवस्थानं नियतम्, अथ तु स्वैर-तां, यद्येव यस्यां कस्या
मपि दिशि निहरतीत्यादिना सूर्याद् व्यतिरेको व्यञ्जित ।

४७

भगवन् कृष्ण । तस्य हिरण्यकशिपोर्विनाशाय तस्यैव वृषिद्वरुष धृतम् । तद्वि

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुध बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुका ।
स्वरूपशोभैकनलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चाकरे ॥ ४५ ॥
स सञ्चरिष्णुभुवनं तरेषुया यद्वन्द्याऽदितिश्रियदाधय शिष्य ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलशूलशक्रेरिति सन्ध्या विदशैर्दिशे नम ॥ ४६ ॥
सञ्चरन्तमिन्नघनेन विभ्रता वृषिर्द्वि । सैहीमनसु तसु तया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गैरुचरोविदार प्रतिचक्रे नलै ॥ ४७ ॥

तव रूपमतिविशालं भयङ्करं चासीत् । यस्य सिंहरूपस्य स्कन्धस्थितानां केशराणां
सघर्षेण मेघा अपि निदीर्णा बभूवुः । तेनैव रूपेण नखैर्वंधो विदार्य स दैत्यस्त्वया
हत । अहो ! ये ते नखा विलासे दान्तानां कटारस्तनविमर्दनेऽपि भ्रुवन्ति
(अक्षी भवन्ति वा) तैरेव अङ्गारस्य तस्य दैत्यस्य बन्धो विदारितमिति विलक्षणस्ते
महिमा ।

४८

अथ तस्य द्वितीयं ल म प्रस्तूयते । यद्यपि द्विरण्यकृधिपुना देवैः सह बहव
सग्रामा कृत्वा, तथापि तस्य भुजयो रणकण्डूतिर्न शान्तिं गतेति मन्ये । नृसिंहनरै
रपि न कण्डूस्पनुन्नेत्याश्चर्यं द्योतयति कवि । गर्जति शयस्तत्र हेतुः । तत्र एव स
पुनर्देवैः सह योद्धुं रावणं नाम्ना पुनर्बन्धं गृहीतवान् । अस्मिन् जन्मन्यय पूर्वा
पेक्षयाऽप्यधिको भयङ्कर आसीत् । अनेन स्वर्गस्य रक्षेव विभता । देवसर्वस्वमप
हृतमिति याचते ।

४९.

सोऽयं रागे लोकप्रयाधिपतिरिवप्राप्तये भगवतः शिवमाराधयत् । तदारोघने
चैतान्कषाहस कृतवान् यत् स्वस्यैव शिरसि कर्तुं कर्तुं पुष्परूपेण शिवाय न्यवेदयत् ।
इदं चानिमहरकर्म न तेन फलप्राप्तिक्लिम्बनिर्वेदात् कृतम्, अरि तु भगवति शिवे
प्रेमातिशयात्, स्वस्य साहसैकरसत्वाच्च । नव शिरसि निवृत्त्य यदापितानि, दशम-
मपि च कर्तुमुद्यतोऽभूत्, तदा तुष्ट शिव इष्ट लोकप्रयोषपदाधिपस्य वरमस्मै
प्रायच्छत् । किन्तु तं प्रसादमप्ययं स्वसाहसे विघ्ननिवामन्यत । 'मया दशम शिर
श्छेत्तु न पारितम्, कुतो मध्य एव भगवता प्रसादं कुर्वता मनेच्छ या विघ्न
उत्पादित' इति ।

५०.

महादेवाद्गरं प्राप्य भुजबन्धनेन रावणेन कैलासरवत एव लङ्कां नेतुं समु
त्पादित । तत्र निगूडमुप्रेक्ष्यते—यद्रात्रणे दं कर्म शिरस्य प्रत्युपकारविकीर्षया

त्रिनोदमिच्छन्त्य दपंजमनो रणेन कण्डूशक्तिदशे सम पुन ।

स रावणो नाम निकामभाषणं बभूव रक्ष शतरक्षणं दिव ॥ ५८ ॥

प्रमुर्तुमुपुर्मुषनत्रयस्य य शिरोऽतेरागादशमं चिकर्तियु ।

अतर्कयद्विघ्ननिवेष्टसाहसं प्रसादमिच्छासदृशं विनाकिन ॥ ४९ ॥

सगुत्थियन् य पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिन ।

व्रसत्पाराश्रित्पुनाऽवभ्रमस्वयङ्महादशवसुचेन निष्कषन् ॥ ५० ॥

कृतम् । रावणो हि मनस्वी न याञ्जादैर्यं सद्भते, ततश्च शिवेन यदस्मै त्रैलोक्याधिपस्य दत्तम्, तस्य मूल्यमनेन दाञ्छ्यमेव । यदा चानैन वैलास उरगठित तदा अकरमादुशातशङ्कित्या पार्श्वेया मयमभूत्, भीतयया च तया स्त्रीस्वभावेन भगवान् शिव स्वयमाश्रित्य । तेन शिवस्य यस्तुल्यमभूत् तत् त्रैलोक्यराज्यमाश्रित्यधिकमिति तेन रावणस्य प्रतिदान सिद्धमिति ।

५१

भगवान् शिवादर प्राप्य स्वर्गं नेतु रावणेनेन्द्रोपयोक्रमण कृतम् । तदा चैक-हेलयेव तेनामरावती देवपुरी समाक्रम्य अस्ता, नन्दन देवतान् विभ्रम्, रत्नानि हृतानि, देवाङ्गनाश्च हृता । युगप स मन्द कुर्वाणेन रत्नं महातुण्डव प्रादुर्भावित ।

५२

रावणारराजित इन्द्र कदाचिदेरावत गज कदाचिदु-ने भवसमश्च च समाह्वय यदा समरात्पलायितोऽभूत्, रावणश्च त प्रहीतुं पृथगतोऽनुदुद्राव, तदा रावणमया दनिशीघ्र यातुमि द्रश्याभिलाष आसीत् । मन्दगमने रावणो पृथीत्या रोस्यतीति । ततश्च यद्यप्यैरावत उ-ने भवाश्च त्रिविधा विलासगतोर्जाति, परमि द्रस्य तदा तासु गतिश्चतुरागो नाभूत् । कञ्च तयो शीघ्रगमनमेव तस्येमासीत् । भयेनोद्दिग्न्स्वादिनि । यने द्रेण यथाद्या असुरा नाशिता, सोऽपि रावणादेव भीत इति रावणस्य प्रावल्यातिशयो क्तस्य शत्रुरित्यनेन व्यञ्जते ।

५३

इन्द्रस्य रावणात्तया भयमाधीद् यथा रावणस्य दशनमपि तस्योद्दिगकर यभूत् । तस्य दर्शनाय त-नेप्रयोर्धैर्यं नासीत् । तन नाह रावण पश्येयम् न वा रावणो मो पश्येदिति, स मशोर्गुहायान्त-तेनिवास कृतवान् । तत्रापि च भयेन ययमान एवासीत् । यथा उलूख सूर्यस्य दर्शनं कर्तुं न शक्नोति, (तस्य नेत्रयोस्तद्दर्शनं शक्तिर्नास्ति) इति दशनं परिहरन् दिवस पर्व-गुहास्य तस्तिष्ठति, तद्रदेवेति ।

पुरीमवस्क द लुनीदि न दन नुपाण रत्नानि हरामर ज्ञना ।

दिष्टश्च चक्रे नमुचिद्विपा दली य हस्यमस्य श्यमशर्दिब दिव ॥ ५१ ॥

सञ्जीव्याताान न भर्तुरभ्रमोर्न चिप्रदु-चै भवस पदकमम् ।

अनहुत सयति यन केवलं बलस्य शत्रु प्रशशश शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥

अशक्नुवन् स दुपधीरहाचन सहस्ररममेरिव यस्य दर्शनम् ।

प्रविश्य हेमाद्रिगुहाएहा-तरं निगाय विभ्यदिवसानि क्रीशिक ॥ ५३ ॥

५४

न केवलमिन्द्रस्यैव दुर्दशानेन रावणेन कृता अपि तु अन्येऽपि परामृता ।
 तथा हि यदानेन जगत्प्रभुत्वमधिकृत्य सुरैर्द्वेष आरब्ध तदा सुरपक्षपातिना
 विष्णुनाप्यनेन सह समाम कृत, तत्र च सुदर्शन चक्र तेनास्य शिर कर्तितु
 क्षिप्तम् । यद्यत्र कदाचिदपि क्वचिदपि मोक्ष न दृश्यम्, तदेवास्य ग्रीवा प्राप्य
 नैष्वल्पमलभत । शिखरं निष्ठुरा रावणस्य ग्रीवा, चक्रस्य सघर्षात् प्रस्तरादिव
 सतोऽग्निदग्ना निष्पेतु, न तु चक्र ता कर्तितु समर्थमभूदिति ।

५५

इदानीं कुबेरपरामर्शो वर्ण्यते—यथा कश्चिन्मत्तो हस्ती मानसाख्यमतिविशाल
 कुबेरस्य सर प्रविश्य भूयोभूयस्तद् विधोमयेत्, तथा रावणेन कुबेरस्य मानस
 (मन) भूयो भूयस्त्राशाकुलमक्रियत । हस्ती हि शिरसि शङ्खान् भिनत्ति, रावणेन
 च कुबेरस्य शङ्ख एव परमो निधिर्मन -नाशित । (कुबेरो हि देवानां निधेर
 थिप, निधेर्नामसु शङ्ख इति परमो निधिरुच्यते एकदशशतादिषु गणिताङ्केषु शङ्ख
 इति चरमा सटया संकृते, तत्परिमितो निधि शङ्ख । रावणेन कुबेरस्य निधिरप
 ह्न इति शङ्खो भिन्न इत्युक्त्या तथा कुबेर परामृतो यथा त मनसापि शङ्खात्सो
 निधिर्विस्मृत न तन्मनस्यपि शङ्खस्य पुन प्राप्तेराशाऽवशिष्टामूदिति द्योतितम् ।
 किं च हस्ती मदजनेन सर क्लृपता नयति, रावणेनापि कुबेरमानस मदेन
 क्लृपतां नीतम् । य एव कुबेरस्य मद इत पूर्वं चित्तमुन्नतेर्हेतुरभूत्, स एव
 परामर्शे सति चेत क्लृपीचकार, 'अहो ईदृशोऽदमप्यनेन परामृत' इति विशेषेण
 खेदोदयात् । हस्तिना चालोडथमानस्य सरसो गाम्भीर्यमपयाति, यदेव सरो जनैर
 गा गमिति मन्यते, तस्यैवाक्लितां दृष्ट्वा गाघता सर्वेऽपि जानन्ति । रावणेनापि
 कुबेरमानसो गाम्भीर्यं नामाविकारित्व दूरीकृतम् । कुबेरचेतस्यपि अधैर्यलक्षणा
 विकारता सर्वदृष्टा । किं च हस्ती सरस पुष्पाण्यपहरति, रावणेनापि कुबेरस्य
 पुष्पकमपहृतम् । (अत्रापि कुबेरमानसोऽपि पुष्पकमपहृतमिति व्यङ्ग्य पूर्ववदनु
 सधेयम्) । कुबेरो हि महामहिमशालीति तस्य भयाभावसमावृत्ता समुदयेत,
 तन्निरसनाय नरुदयम् । कदाचित् शङ्खो भिन्न कदाचित् पुष्पकमपहृतम्—इत्येव
 सादिरीत्या भूयो भूय प्रकल्पने सम्पङ्क् निबद्धम् ।

वृह - उलानिष्ठुरकण्ठघटनाद्विकीर्णश्लोकाग्निदग्ना सुरद्विष ।

जगत्प्रभोरप्रसङ्गिष्णु वैष्णव न चक्रमस्याक्रमताधिकारम् ॥ ५४ ॥

विभिन्नशङ्ख क्लृपीमन्नुद्गुमुदेन दत्तीव मनुष्यघर्मण ।

निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकल्पयामास न मानस न च ॥ ५५ ॥

५६.

वह्नोऽप्येवं पराभूतः । संग्रामे यदा वह्नयेन स्वीयो नागपाशो रावण वन्दु-
क्षिप्तः, तदा रावणेन सकोधं हुंशब्दं कृतं । तेन भीता नागा रावणस्य समीपं
गन्तुमशक्नुवन्तः परावृत्य वह्नस्यैव कण्ठे पतितास्तमेव वहन्धुः । अमोघानां तेषां
कचिरसाफल्यस्यावश्यभावात् । अग्नेन रावणस्यालौकिको महिमाविष्कृतः, दिग्शा-
न्यायुधान्यपि ततो भयमासादितवन्तीति ।

५७.

यमपराभवो दृश्यते—यदा स्ववाहनं महिषमाह्वय यमो रावणेन युयुधे, तदा
तं पराक्षित्य रावणेन विचारितम् 'एतन्महिषस्य शृङ्गयोर्धनुः श्रेष्ठं निर्मादेत, विष्णोः
शाङ्गं धनुः श्रूयते, ममापि तथास्तु' इति । इत्थं विचार्य तेन यमवाहनस्य महिषस्य
शृङ्गमण्डलमुत्पातितम् । यद्यप्येव शृङ्गभारपनयेन महिषस्य शिरः सुक्षिप्तं मुञ्चतम्
मवेदिति संभावितमासीत् परं लज्जारूपो भारस्तथा तन्विठरसि पतितः । येन तरुर्वा-
पेक्षयाप्यवनतमभूत् । कृच्छ्रेण च धारण महिषेणाकियत् । 'पराभूतस्य मे धिक्
शिरः प्रदर्शनम्' इति तन्मनसि निर्देशोदयात् ।

५८.

'तेन पराभूतो भीतः सूर्योऽपि तदनुगतिं चक्रे' इत्युच्यते । ग्रीष्मेऽपि काले
तदन्तःपुरे सूर्य उद्गृह्य न तपति स्म, रावणस्य वधूना तापानुभवो मा मूदिति ।
किन्तु स्वस्वभावोऽपि यथा न विरोधित स्याद्, रावणस्यापि च यथा प्रियं भवे-
दिति विचार्य भीतमीतः कथञ्चिद्विद्वेषस्तथा तद्गृह्णन् स्पृश्यति स्म-यथा स्वेदकण-
मौक्तिकवत्तन्त्ररीरभागान् मण्डयेयुः, तापानुभवश्च कथञ्चिदपि तासां न भवेदिति ।
अत्र च पथे राजावरोधे प्रसाधकस्य पुष्पशिशिरस्य वृत्तान्तोऽपि श्लिष्टैः विशेषणैः
प्रतीयते, स हि शुचौ समये पत्रिण् आचारे स्थितोऽपि भूषणार्थं मया स्पृश्यमानानि
वधूनामङ्गानि हृष्ट्वा प्रमोवं-धूनां वा अविश्वासो मा मूदिति भीत एव पूर्णं करस्पर्-
शमकृत्यैव चतुर्थेण मौक्तिकैर्धूनां मण्डनं करोतीति ।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहृङ्कारपराह्मुषोक्ताः ।
प्रहृतेरेवोरगराज्ररज्जवो ज्वेन कण्ठं समयां प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥
परेतमर्तुमहिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातवियाणमण्डलः ।
हनेऽपि भारे महत्स्त्रवामरादुवाद दुःखेन भूतानतं शिरः ॥ ५७ ॥
स्पृष्टान् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमप्रयातिभिः ।
अयमममोदकविन्दुमौक्तिकैरलङ्कारास्य दधूरहरकरः ॥ ५८ ॥

स्यु, पर रावणेन न तस्यापराधोऽपि घषपक्षे गणित इति देवेषु दण्डोऽपि न पातित, इयमेव देवेषु मरुतोऽनुकम्पाऽभूत्, यत्तेषां दण्डन नाम्दिति ।

६२.

अग्निपराभव आख्यायते । यद्यप्यग्निरतितेजस्वी, तथापि रावणस्य लोकाति-
शायिनस्तेजसोऽप्ये तस्य तेनोऽभिभूतमिति परामशयोकेनाग्निं कृद्यतां गत, शोक-
जनितैरभ्रभिश्च धूममण्डल तस्य प्रवृद्धम्, तथा च तदग्रेऽग्निर्न प्रचण्ड ज्वलति स्म,
धूमायमान एव दृश्यते स्म ।

६३

सर्पा अपि रावणमयात् स्वैय सर्पवेष्ट सर्पधर्म च विहाय मनुष्यवद्विग्रहं
विधाय विचेष्ट । द्विजिह्वता, कुटिला गति भुजगमन, कर्णाभावश्च तेषां शारीरा
धर्मा, ते तैस्त्वक्ता, मनुष्यवद्विग्रहो धृत । दर्शनेन परस्य मर्मणि विष सकमस्य
तन्मारण तेषां जातिधर्म, सोऽपि तै परित्यक्त, न कम्पि सर्पा दृशन्ति स्मेति ।
अत्र पक्षे सर्पधर्मपरं विशेषणसाम्यात् खलवृत्तमपि प्रतीयते । खला अपि स्वौयेन
विगुणतादायेग प्रमुक्तविधे तत्तदुच्यते च संस्य परस्य मर्मसु कुलाचारमतादियु
प्रहरन्ति तानि दूषयन्ति, कुटिल-व्यवहाराश्च भवन्ति, परलोषु प्रवृत्तिरूपं विग्वे च
तेषां स्वाभाविकम् । तानेतान् दोषान् रावणमयादिहाय वषेण व्यवहारेण च तेऽपि
शृजवो वम्भुः । रावणेन खलानामीदृशाना निपन्तार स्थायिता, तद्दृश्यास्ते न
कदाप्यन्यथाकर्तुं प्रवम्भुरिति ।

६४.

देरावतादीनां दिग्गजानां पराभव उपेक्षामुखेन वर्ण्यते । नन्वेते गजा सदा
दिग्गमन्तेष्वेव स्थिता भवन्ते, न कदाप्यत्रागच्छन्ति, न च कस्यचिद्दृष्टिपथमव-
तरन्तीति को हेतु । एवं सम्भाव्यते रावणस्य गजघ्नाभिरेते सर्पेषु कश्चित्ता ।
तत एव पराभवदु खेन एषां नदजलमपि शुष्कम् । भयाच्च पलायिता एते दिग्गजान्
भिता । तथा च भयं कर्मात्, यद्यद्यापि न निवर्तते । अत एव नामसाफल्य-

तिरसृष्टस्तरय जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयताम् ।

वमार वास्पैर्दिगुणीकृत तनुस्तूतपाद्मवितानमाधिजै ॥ ६२ ॥

परस्य मर्माविधमुच्छतां निज द्विजिह्वादीपमभिज्ञगामिभिः ।

तमिदमारुधरितु सकृन्कै कुलैर्न मेने कर्णनां भुजङ्गता ॥ ६३ ॥

तदीयमात्तङ्गगान्घटितै कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।

एतौतदिवकैरपुननिवर्तिभिधिराय यथाव्यमलमि दिग्गजै ॥ ६४ ॥

मेमिल्लंघम् । दिगाश्रिताः गजा-दिग्भजाः-इति दिगाश्रयणेन नाम्नोऽनु-
गतार्थता जाता ।

६५.

रावणः सततं गर्वोष्मणामिपरीतः, तस्य चोष्मशान्तिर्न चन्दन-जलाद्रंताल-
वृन्तपवनैर्बभूव, अरि तु वन्दीकृतानां सुरस्त्रीणामुष्णोष्णैर्निश्वासमाहृतैर्बभूव ।
निश्चसतीः शत्रूणां स्त्रियो दृष्ट्वा तस्य मनसि कापि शान्तिरुदियायेति । गर्विष्ठानां
स्वभावविद्विपदम् यत्ते पीडितान् दृष्ट्वा कम्प्यानन्दं विन्दन्तीति ।

६६.

पट्टतुषु त्रये कुसुमसम्पत्तिर्भवेति, त्रये च न, परमृतुभिरपि रावणस्यानुगतिः
कर्तव्यासीदिति कुसुमवता त्रयेण कुसुमाभावत्त्रयं स्वस्वरूपेऽनुप्रवेशितम् । वर्षीषु
कुसुमसमृद्धिः, ग्रीष्मे च नेति वर्षी ग्रीष्मेण संगताः, तथैव पुष्पसमृद्धिमती
शरद् हेमन्तेन, तथाभूतो वसन्तश्च शिशिरेण सङ्गतः, एव च रावणस्य पुरे सर्वेषु
श्रुतुषु पुष्पादिसमृद्धिरविकिञ्चिद्भासीत् । सततं च श्रुत्वा इमे नगरवासिन इव
पूर्णसमृद्धया लङ्काया न्यवारुः । इह पञ्चैकस्य श्रुतोर्नाम पुँल्लिङ्गमभिहितम्
तत्सङ्गतस्यापरस्य च स्त्रीलिङ्गम्, तदर्थमेव पुँलिङ्गस्यापि वसन्तशब्दस्य लक्ष्मी-
शब्दसामानाधिकरण्यां प्रकल्प्य स्त्रीत्वमुपकल्पितम्, तत्रापि च पुष्पादिसमृद्धिर्मा
सुकुमारगण स्त्रीत्वम्, कर्कशप्रापणाच्च पुँत्वं विन्यस्तम् । प्रसूनशब्दश्च पुत्रं
स्मारयति, तेन कृतविवाहा इमे पुत्रपौत्रादिकुटुम्बमुत्पादयन्तस्तत्र निवसन्ति स्मेति
सचमस्कारं स्थिरनिवासिता सिध्यति, सोऽयमर्थः-वासतया कुटुम्बिता ययुरित्यनेन
स्फुटार्ता नीत इति गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

६७.

भगवन् कृष्ण ! यदा भवान् अमानुषोऽपि अजन्मापि देवैरभ्यर्थितस्तस्य
रावणस्य वधाय मायामधिष्ठाय वैवस्वतस्य मनोर्वशे समवतीर्णस्तदा रावणो भव-
त्प्रियां जानकीं जहार । भवताभियुक्तश्च स सर्वैः प्रबोधितोऽपि तां न प्रयापयत् ।

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैर्पया ।

स चन्दनाम्भ कणकोमलैस्तथा सपुञ्जलाद्रापवनैर्न निर्वच्य ॥ ६५ ॥

तथैव वर्षीः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।

प्रसूनकलुतिं दधतः सदत्तैवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बिता ययुः ॥ ६६ ॥

अमानवं जातमज कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।

मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाऽनिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

यद्यपि भक्तो नारायणावतारसर्वं स्वस्यैव च वधायावतरण तस्य विदितमासीत्तथापि
 ह्यनस्य वस्तुन प्रत्यप्ये भीरुरप्रतीत्या-मानदानि स्यादिति मान एव तेन मुख्य
 तथा रक्षितो न तु तदप्रे प्राणा अपि गणिता, इदमपि तस्य परममहत्त्वं यन्मा
 नस्य प्राणाधिक्येन गणनमिति । अत्रोऽपि कथं जात इति विरोधपरिहाराय
 प्रभाविनमिति विशेषणमुक्तम्, महानुभावानां विरुद्धधर्माभयणेऽपि न काचि
 दनुपवृत्तिरिति ।

६८.

भगवन् कृष्ण ! जानकोनिमित्ते वैरे त्वयैवाप्तौ रावणोऽपि समुद्रे सेतुं दृष्ट्वा
 निहत इति मन्ये त्वया विस्मृत न स्यात् ।

६९.

यथा दक्षिण्य रङ्गशालायां पूर्वं रूप परिवर्त्य रूपान्तरं पृच्छति, तदा च
 स रूपदेवभाषादिभि-अन्य एव लोकानां प्रतिभाति, तथा रावणोऽपीदानीं
 रूपान्तरं स्वीकृत्य पुनर्मूर्त्यां जातः, स इदानीं शिशुपाल इति नाम्ना प्रसिद्धयति ।
 साधारणैर्लोकैश्च रावणादन्य एव प्रतीयते । परन्तु रहस्याभिज्ञास्तु जानन्ति यदयं
 रावण एवेति । एतन् शिशुपालस्य वधाहंता सूचिता ।

७०.

यदा शिशुपालो ह्यप लेभे, तदा तस्य अन्तरो भुजा, श्रीणि लोचनानि
 आसन् मुखं चाति गौरं पूर्णचन्द्रतुल्यमासीत् । अत एव स तदानीं हरिहरसदृश
 प्रतीयते स्म (इदं चतुर्भुजत्रिलोचनपदार्थां यञ्जितम्) परं पश्चात् तस्य भुजद्वय-
 मेकं नेत्रं चान्तर्हितम् । इदानीं च स द्विभुजद्विनेत्रोपि यौवनावस्थां प्राप्त
 स्वप्रतापेन सूर्यसदृशो लक्ष्यते, यथा सूर्यं स्वकरैः (क्रिणैः) सर्वाद् महीभृत्
 (पर्वतान्) ध्याप्नोति, तथैवैतेनापि करैः सर्वे महीभृत् राजान आक्रान्ता सर्वे
 राजनस्तदधीनता स्वीकृत्य तस्मै करं ददति ।

स्मरस्यदो दाशरथिर्भक्तमवानमु वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।

पयोधिमात्रद्वचलजलादिल विरुद्धय लङ्का निकषा हनिष्यति ॥ ६८ ॥

अथोपसति छान्दसरोऽपराणवाप्य शैल्य इवैव भूमिकाम् ।

निरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यस परैः ॥ ६९ ॥

स बाल आसीद्भुजा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णोऽनुनिमत्रिलोचन ।

मुखा करान्तमहीभृदुचरैरसंशय सम्प्रति तेजसा रवि ॥ ७० ॥

७१.

अयं शिशुपालः पराक्रमविषये रावणादीनप्युपहसति स्वापेक्षया तान्
निवृष्टान् मन्यते । ते हि सुचिरं तपस्तप्त्वा देवताप्रसादेन पराक्रमातिशयं
प्राप्तवन्तः, अयं तु स्वभावेनैव पराक्रमशाली यथा कामयते तथा देवान्
दानवान् यातुधानांश्च, अनुकम्पते, दण्डयति च । तथा च देवतायाचकैर्देवशास
कस्यास्य कथं तुल्यता ।

७२.

स्वबलदर्पाध्मातः स शिशुपालः सङ्कलोक-परामवेच्छया यथा पूर्वजन्मनि
हिरण्यकशिप्वादिरूपेण प्रजाः पीडयति स्म, तथैवेदानीमपि पीडयति, एष एवार्थं
उत्तरार्धेन समर्थ्यते, यथा पतिपरायणा स्त्री अन्यजन्मन्यपि तमेव पति प्राप्नोति,
सथैव सुस्थिरः स्वभाव. जन्मान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छत्येव । अतः शिशुपालस्य पूर्व-
जन्मवद् जगत्पीडनं नाति विस्मयकरम् ।

७३.

हे भगवन् ! अनेन शिशुपालेन विषेः शासनमुल्लङ्घितम्, यतोऽयं सुरासुराणां
स्वयमेव शासकः संवृत्तः, यथेच्छं व्यवहसति, प्रजाः पीडयति च, तदेनं जहि ।
नचैतत् प्राद्युगिकहस्तेन सर्पमारणम्, कुतः ! परपीडनपरा दुष्टा भवाद्दद्या लोक-
दीक्षितानां हन्तव्या एव भवन्ति । अतस्त्वयायं मारणीय एव । किञ्च तादृशदुष्ट-
विनाशे तव निमित्तमाश्रयं स्यात्. वस्तुतस्तु तेषां दुष्कर्मविपाक एव तद्वि-
नाशहेतुः ।

७४.

नारदः स्वामुक्तिमुपसंहरति—इत्थं शिशुपालोपद्रवैरिन्द्रस्य हृदयं सर्वदा चिन्ता-
तुरं चञ्चलं च वर्तते । चित्तविषैपान्न मनागपि राज्योपभोगेऽस्य प्रवृत्तिर्भवति ।
वयं स्वार्शंसामहे—यद् भवता शिशुपाले हते शत्रुविनाशाद् इन्द्रस्य हृदयं चिन्ता-
रागेन दृढतां प्राप्नोतु, पुनरपि चार्यं पूर्ववद् ऐश्वर्योपभोगे सामर्थ्यमासादयतु ।

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुप्रहावप्रहयोर्यद्वेच्छया ।

दद्यान्ननादीनमिराद्देवताविनीर्णवीर्योतिशयान्दस्यसौ ॥ ७१ ॥

बलावन्नेपादधुनाऽपि पूर्वाद्यप्रदाष्यते तेन जगत्त्रिजगीषुणा ।

सतीव योषित्प्रकृतिः मुनिश्रला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥

तदेनमुल्लङ्घितशासन विषेर्विधेहि क्षीनाशनिकेतनातिथिम् ।

शुभेनराचारविषित्रमापदो विपादनीया हि सतामसाचक्रः ॥ ७३ ॥

हृदयमरिबधोदयादुदूटद्रटिम दघातु पुनः पुरन्दरस्य ।

घनपुल्कपुलोमजाकुचामद्रुतपरिरम्भनिपीडनसमत्वम् ॥ ७४ ॥

नारद श्रीकृष्णाय इन्द्रसदेश भवयित्वा आकाशमार्गेण प्रतस्थे, प्रस्थिताय तस्मै कृष्णेनानि इन्द्रसदेशानुकूलं शिशुपालहननं प्रतिश्रुतम् । प्रतिनिवर्तितुमना नारदो यदाकाशमद्गतं तदानीं प्रकृत्या रक्ष्यं चन्द्रो मते स्म । चन्द्रशोभा दधनि नारदे व्योममार्गेण प्रस्थिते सति तदनुपदमेव चैद्यापकृतानि भूत्वा तदुपरि समुत्पन्नमोघस्य भगवतः कृष्णस्य मुखे भ्रुकुटिस्थिता । सा च तदानीं तथा प्रतीयते स्म यथाकाशे चन्द्रमसमनृत्यितं शत्रुनाशसूचकं केशवाख्यं उत्पातग्रहो भवेत् । तदुक्तं 'चन्द्रमस्युत्थितं केतुं क्षितीयानां विना शक्यत्' इति ।

इति शिशुपालवध महाकाव्ये प्रथम सर्गं ।

धोमिस्तुक्तवतोऽयं शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाच नमः

स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरं सुरश्रुताविदो श्रियं विभ्रति ।

शत्रूणामनिर्शं विनाशनिश्चिनं क्रुद्धस्य चैव प्रति

व्योमनीव भ्रुकुटिच्छलेन बद्धेन केतुधकाराक्षरदम् ॥ ७५ ॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

१.

भगवान् कृष्णो यादु इन्द्रसन्देशेन प्रजोपद्रवकारिण शिशुपालमभिप्रेयितु-
मिच्छति तावन् स राजस्येन यष्टुमिच्छता युधिष्ठिरेण यज्ञे सन्निघातुं निमन्त्रितः,
ततः स युगपदावश्यकरकार्यद्वयप्रसक्ततया शिशुपालो वा निहन्तव्यः, यज्ञे वा सन्नि-
घातव्यमित्येवं निर्धारयितुं नाशकत् । तन्मनः सन्देहदोलावितमभूत् ।

२.

तदनन्तरं कृष्ण उद्ववचलभद्राभ्या सह मन्त्रगार्थं समामन्दिरमविशत्, अप्रे
कृष्ण आसीत्, पद्माद्योद्ववचलभद्रावास्ताम् । तदानीं ताभ्यामनुगम्यमानः कृष्णः
आकाशे वृहस्पतिशुक्राभ्यामनुगम्यमानस्य चन्द्रस्य शोभासुवाह ।

३.

असुरोपद्रवपरिहारेण प्रजासु शान्तिप्रचाराय समवेता अतितेजस्विन इमे
रामकृष्णोद्वाः सभायामुपनिविष्टुः, सभाया तिष्ठता तेषा तथा शोभामूत्,
यथा यज्ञवेद्यामाहिताना प्रज्वलता त्रयाणा गार्हपत्याहवनीयप्रदक्षिणाग्नीनां
शोभा भवति ।

४.

तत्र सभाया रत्नजटिता मूयासः स्तम्भा आसन्, तेषु रत्नानामतिस्वच्छ-
तया तदाकृतयः प्रतिफलिताः, अत एव स्तम्भानां मध्ये स्थितास्ते केवलं
त्रयोऽपि स्वचतुर्दिक्षु प्रतिबिम्बबाहुल्यात् तथा प्रतीयन्ते स्म यथेमे पुरुषसमूहेन
आवृता भवेयुः ।

यियक्षमाद्येनाहूतः पार्थेनाथ मुरं दिषन् ।

अमिचैद्यं प्रतिष्ठासुरार्कार्कार्यद्वयाजुल ॥ १ ॥

सार्धमुद्ववशीरिम्यामथावावासरसदः ।

गुरुवाद्यन्तुगा, विभ्रव्यात्प्रीममित्तम्, क्रि.श. ५, २, ॥

जावज्वल्यमाना जगतः शान्पथे समुपेयुपी ।

व्यद्योतिष्ट समावेद्यामसौ नरशिल्पिनी ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु रुक्मान्तप्रतिमास्ते चकाशिरः ।

एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृत्ता इव ॥ ४ ॥

५

इमं रामकृष्णादयस्तत्र समाया सत्रिवे शतेषु स्वर्गसिंहासनेषूपनिशु ।
तद्विद्वितानां तेषां सिंहासनानां तदानीं तादृशी शोभाऽभवत्, यादृशी सिंहासि-
रुदानां त्रिकूटपर्वतसिंहलग्ना मवति । त्रिकूट इति तत्र तस्मात्पर्यसंज्ञा, यत्स्व-
श्रीणि कृष्णानि सिंहलग्ना सन्ति । सिंहासनानां त्रिकूटसिंहलोपमया तत्समुदायस्य
त्रिकूटसादृश्यं व्यङ्ग्यम्, एव रामादीनां सिंहासदृश्यमपि ।

६.

समायासुरवेशनानन्तरं वचनोपन्यासपदुर्मंगवान् कृष्णः प्रथमं वितृष्यत्पन-
येषु भ्रातृत्वेन च स्वसूत्रयोश्च वदन् ब्रह्मयोगे पूर्णोक्तयोर्महतो कार्ययोर्विरोधमुप-
स्यति स्म । उभयोर्युगपदसम्भव एव विरोधः, न चैकतरमप्युपेक्षितुं शक्यम् ।

७

मगवतः कृष्णस्य दन्ता बुन्दकुसुमकणिकावत् स्वच्छगुग्गुभा आसन्, किं च
स प्रकृत्या स्मितपूर्वमिमाषी आसीत् । स्मितमपि कविसम्प्रदाये स्वच्छगुग्गुमुच्यते,
अतो वचनसमये स्वच्छगुग्गुस्य स्मितैर्दन्तकान्त्या च समासध्यभागो निवर्त-
प्रकाशितः, किं च यद्यपि तद्वाणी यथास्थानप्रयत्नोच्चारणेन स्वभावतः शुद्धवर्णा
आसीत्, तथापि तत्र कविदग्धेभ्यो यत् स्मितप्रक्षालनेन तस्यां शुद्धवर्णं ज्ञातम् ।

८

कृष्णः कथयति यद् यथा नाट्यादौ क्रियमाणं पूर्वरङ्गं केवलमग्निनेष्यमाण-
वस्तुप्रसङ्गनाय भवति तथैवादौ प्रयुज्यमानं मद्रचनमपि भवद्वचनोपन्यास-
प्रसङ्गोत्थापनायैव न तु सिद्धान्तरूपम् । यतोऽहं कर्तव्यार्थे साशयिकं सिद्धान्त-
निर्णेतुमिच्छामि ।

अप्यासामासुररुक्महेमपीठानि यान्वमी ।

तेरुहे केशरिक्वातत्रिकूटसिंहलोपमा ॥ ५ ॥

गुह्ययाय गुणोक्तयोरथ कार्ययो ।

इतिविप्रप्रेषे तमान्वचने विच्छेदण ॥ ६ ॥

शोभितातस्यै बुन्दकुड्मलाप्रदत्त स्मिते ।

स्नपितेवामन्नस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

भवद्विरामवसरप्रदानाय वच्चासि न ।

पूर्वरङ्गं प्रसङ्गाय नाटकीयस्य ९स्तुन ॥ ८ ॥

९.

युधिष्ठिरस्य भीमादयो भ्रातरः स्वपराक्रमेण दिग्विजयिनः सन्ति, तत्साहाय्येन च सर्वान् राज्ञः स्वाधीनान्-करोत् । अत एव ते तस्मै करं ददति । तथा च सः अस्मत् साहाय्यं विनापि स्वभ्रातृणां साहाय्येनैव यज्ञं निर्विघ्नं सम्पादयितुं समर्थः । तदधीना राजानोऽपि तत्साहाय्याय यज्ञ उपतिष्ठेरन्नेव । अतो यज्ञेऽस्माकं सन्निधानं नात्यादश्यकम् ।

१०.

यज्ञगमनस्यावश्यकरं निरस्य शिशुपालाभिषेगं सामान्येनाह-हितमिच्छना पुण्येण वर्धमानः स्वशत्रुः कृदारि नोपेक्ष्यः । यथालीयसोऽपि वर्धमानस्य रोगस्य यदि समये चिकित्सा न क्रियते तर्हि स पश्चाद् वृद्धिं प्राप्तो रोगिणं हिनस्ति, तथैव प्रारम्भे स्तब्धलोऽपि शत्रुर्यदि न प्रतिक्रियते तदा स क्रमशो दृढबलो भूत्वा महान्तमनर्थपुरादयति । अत एव नीतिविदो वृद्धिशूलं शत्रुं रोमं च तुल्पावाहुः ।

११.

शिशुपालो मामभिद्रुहति—इत्यतो नाहं मनामपि लिखे । यतः स सात्त्विक मत्पितृशत्रुः पुत्रः अतो बन्धुरस्यतया स्वापकारविषये कथंचित् क्षन्तुं शक्यते । परं यत् स प्रजापीडनं करोति तदतिगर्हितम्, तेन च मम दुःखं जायते । बन्धुरपि यदि प्रजापीडकस्तर्हि स दण्डनीय एव ।

१२.

इदं पूर्ववत्पुरुषेण मम मतमस्ति, सिद्धान्तरूपेण युवयोरपि मतं मया भोत-
व्यमेव । अन्यथा मम संदेशो न निवर्तिष्यते । एकाकिनो विदुषोऽपि पुरुषस्य कर्तव्याथेषु संदेशो जायत एव, मादृशोऽविद्वान् संशेत इत्यत्र किमु वक्तव्यम् ।

करदोहतमूरालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।

विनाऽप्यस्मदलं मूष्णुगिरायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।

स्मौ हि शिष्टैराभ्यातो वरत्यन्ताश्रमवः स च ॥ १० ॥

न ह्ये सात्त्वतीस्तुर्यन्मक्षमपराध्यति ।

यत्तु दन्दहते लोकमदो दुःखाकरोति माम् ॥ ११ ॥

मम तादन्तमिदं भवतामङ्ग । वामपि ।

शातशरोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धेऽकार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

१३

पूर्वोक्तरीत्या परिमिताम्भरे स्वपञ्च स्यात्प्रित्वा हरिस्तृष्णी वमूत् । महतामेध
स्वभावो यत्ते यावदपेक्षित तावदेव भाषन्ते ।

१४.

कृष्णकथनानन्तर बलभद्र उवाच । कृष्णोक्तया शत्रुकृतापकारस्मरणेन बल-
भद्रहृदयमितितताप । (अथवा तस्य शत्रुविषये द्वेष उदमूत्) तेन च शोषोदयाद्
वचनसमये तस्यौष्ठ स्फुरति स्म ।

१५

कृष्णोक्तयनन्तर यावद् उद्धवो वक्तुमिच्छति, तत प्रागेव वचनन्यप्रतया
बलभद्रेण वक्तुमारब्धम् उद्धववचन च सिद्धान्तत्वेन स्वीकरणाय अवशेषितम् ।
उद्धवस्तु बलभद्रानुरोधत् तूष्णीमतिष्ठत् ।

१६.

कथनसमये रतिकान्तिरेवतीकृतचुम्बनेन तन्मुखसम्बन्धमच्छ्लेसादिना पवित्रे
बलभद्रस्य अलिङ्गी मदिरोपानमदेन रक्ते घृणमान चास्ताम् ।

१७

साहकारवदत्तस्योष्णैर्निश्वासात्तैस्त्वनमाला मान्दिवमवाप, या कृति
नाम्ना रेवतीकुचाम्बामानिङ्गनसमये नित्य पीड्यते स्म ।

१८.

माषणकाले शत्रुकोधेन बलभद्रमुख ताव्रवाणमभवत् । स्वेदविन्दवश्च तन

यावदर्थपदा वाचमेवमादाय माषव ।
विराम महीयाव. प्रकृत्या मितमापिण ॥ १३ ॥
तत सपत्नापायस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठविम्बचुम्बनचुम्बुना ॥ १४ ॥
विवक्षितार्थविदस्तल्पप्रतिष्ठनाम् ।
प्रापयन्वनव्याधेतिरमुत्तरपक्षाम् ॥ १५ ॥
घृणन्मदिरासादमदपात्तित्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुट हसौ ॥ १६ ॥
आश्चेषणोच्छ्रयधुस्तनकार्कषपक्षाक्षिणीम् ।
म्लाययन्नभिमानोष्णैर्देनमाला मुत्थानिलै ॥ १७ ॥
दघत्सन्ध्याऽऽवगच्छोमङ्कुरसाराशुङ्गारिणी ।
द्विषद्द्वेषोपरच्छ क्लृप्तक्षिणी स्वेदविप्रथ ॥ १८ ॥

प्रादुरभवन् । कोपोपरच्छे तन्मुखे ते स्वेदविन्दव तथा भान्नि स्म यथा सन्ध्या
कालिके स्वभादतो रच्छे ध्योमिन् तारा भान्ति ।

१९

बलभद्रेण कर्णयो पशारागमणिञ्जाते कुण्डले धृते आस्ताम्, वपुषि च नीलवर्ण
मुत्तरीयमाच्छादितमासीत् । तथ पशारागमणे रक्षया कान्तया रुक्मीर्णा नीलवर्णोत्त
रीयस्य कान्तिर्नूतनाम्रपल्लवकान्तिरदृश्यी धूम्रवर्णा जाता ।

२०.

तदानीं बलभद्रमुखाद् गन्धविशेषो निस्सरति स्म, यस्मिन्श्च रेवत्या मदिरा
गण्डूधगन्धोऽपि ससृग् आसीत् । रात्रकान्त प्रियागण्डूधपग्रहणस्य कामशास्त्रविधि
तस्वात् ।

२१

कथनसमये बलभद्रमुखात् शीरस निस्सरति स्म, तदाकृष्ण भ्रमरा मधुपानेच्छया
कमलदृश तन्मुख परित उञ्चेत् । हि च प्रकृत्या श्यामा अपि ते भ्रमरास्त
दानीमतिश्वेतैर्बहिर्नि सरद्भिर्बलभद्रस्य दन्तानुमि धावत्यमानुवत् ।

२२

शिशुपालाभिप्रेगनविषये 'उत्तिष्ठमानस्तु पर' इत्यादिना कृष्णेन यदुक्त
तदोक्तसि निदाष चास्ति, भ्रतो विचारान्तर नापेक्षते, तदेव सिद्धान्तत्वेनाभ्यु
पगम्य तदनुकूलमेव कथिति कार्यमारब्धव्यम् ।

२३

यद्यपि कृष्णवाक्यमतिशक्तिम्, तथापि (अर्थगौरवत्वात्) अपुष्पार्थे
शन्दैरतिविस्तृतापि वाणी नैतदपेक्षया अधिका भवितुमर्हति । यथा महान्त

प्रोत्सृष्टकुण्डलोत्पशाराग्दलविषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गश्च विदधन्नीतपल्लवीम् ॥ १९ ॥
क्कुञ्चिकन्यावक्त्रा तर्किल्लब्धाधिवासया ।
मुत्सामोद मदिरया कृतानुव्वाधमुद्रमन् ॥ २० ॥
वगाद वदनच्छपपञ्चपर्यन्तपातिन ।
नयन्मधुलिङ्ग श्वैर्यमुद्रमदशानुभि ॥ २१ ॥
यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचस्तस्य सपदे क्रिया केवलद्वृत्तरम् ॥ २२ ॥
नैतल्लक्ष्मण मूयस्या दन्वी वाचाऽविशय्यते ।
दन्धनीषण्ण्यग्निस्त्रिपा नास्तेति पूषणम् ॥ २३ ॥

काष्णराशिं दहन्नतिभूयानपि बहि स्वप्रमया सूर्यमनिशयितु न क्षम सूर्यस्यातिवेज-
स्वित्वात् ।

२४

ननु यथेव कृष्णवचन सर्वातिशायि तर्हि तदग्रे तद्वचनोद्योगोऽपि व्यर्थ एवेत्यत
आह कृष्णवाक्य मिताक्षरवाद् अर्थगौरवाच्च सूत्रकल्पमस्ति, अतस्तत् सविस्तर
व्याख्यानमपेक्षते । यथा व्याख्याया मूलोक्त एवार्थो ह्येति बुद्धयुपारोहाय
विशद प्रपञ्च्यते सुकरयान्तरै समर्थ्यते च, तथैव मद्रचसापि कृष्णोक्त एवार्थो
विस्तृत्य विवरिष्यते समर्थयिष्यते च । न तु तद्विबुद्धमक्षरमपि वक्ष्यते, अत
कृष्णवचसो व्याख्यानरूपा एव मद्रवाचो भवेयु ।

२५

चेदियात्राविषये उद्वेगविरोध मनसि निधाय बलमद्र आह—ये पुरुषा भाषणे-
अतिपाठव दधते तेऽपि यदि विद्वद्वचनप्रतिकूट किमपि वदेयुस्तर्हि लोकेऽज्ञा
उच्यन्ते । अथ जडा अपि यदि विद्वद्वचनपक्ष एव भाषन्ते तर्हि लोके 'प्रवक्तार
इमे, व्याख्याननिपुणा इमे' इत्येवं प्रसिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अत कृष्णवचनविरोधे
न किमपि वक्तव्यम् । स हि विद्वान्, विचक्षणस्य तस्य विरोधो न सुकर, प्रत्युत
अहतरवत्यापक, अतस्तदनुकूलमेव भाषित्वा वाग्विस्व किं न लभ्यताम् ? अनुकूल-
भाषण हि सुगमम् ।

२६.

ननु हितमिच्छता राजा दुराग्रह परिरथ्य सप्रतिकूलमपि नीतिशास्त्रविदो
वचन प्राक्षमेवेत्यत आह—मन्दबुद्धयोऽपि नीतिग्रन्थान् पठित्वा गुणशक्त्यादीनां
नामानि तत् सख्यां वा प्रतिपादयितुमीशते, पर न ते तावता नीतिशास्त्रपण्डिता
प्राक्षवचना वा भवितुमर्हन्ति । सन्धिविग्रहादीना यथार्थोपयोगे पटुरेव नीतिशास्त्र
पण्डित इतिव्यपदेशमर्हति, तदुपदेश एव च ग्राह्य । सन्ध्यादिसख्यामात्रपाठका
उद्वेगवाक्यसवशात्कुरत्वादुपेक्ष्यवचना एवेति बलभद्रस्य हृदयम् । प्रसङ्गंशात् सक्रिय
गुणादीनां स्वरूपं लिख्यतेसधिर्ना विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रय, पद गुणा
शक्त्यस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजा । क्षय स्थान च वृद्धिश्च त्रिवर्णो नीतिवेदि-

सक्षितस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।

सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभृता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।

जडानप्यनुत्तोमार्थान्प्रवाच कृतिनां गिर ॥ २५ ॥

पद्गुणा शक्त्यस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रय ।

ग्रन्थानधीत्य स्थार्क्यमिति दुर्मेघसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

नम् । तत्र अरिजिगीष्वेर्भ्रशरपाकर-भ्रम सन्धे, विरोधो विग्रहः, अरि प्रतिघातः यानम्, काञ्चतीक्ष्णता दूष्णीमस्त्वानम् आसनम्, वाचिकमात्म-सन्दर्श द्वेषोभावः, अरिणा पीडयमानस्य क्लेशदाभयस्य संभवः । क्लेशदम्भोऽयं तेषु प्रभावः, स्थेयान् प्रयत्न उल्लासः, वदन्तु-चिन्तन म यम् । शक्तिरिन्द्रियोक्तव-यापवधौ, वृद्धिप्रयत्नोभाव इयानम् ।

१७.

यो धातुः देवाम् आत्मनो लक्ष्यवेधनात्तुर्पे विकल्पते, लक्ष्यवेधान्तरे च दहन क्षापको लक्ष्यान्तरवत्, यथा तस्य विकल्पन निस्तार तथैव यो व्याख्यान-मापदच्छित्त कार्याकार्यावेकत्वानर्था यस्य भावपारि न विद्यते, कार्यकाले च पश्चात्तदो भवति, वाक्यनापररस्य तस्य वाक्यप्रसरोऽपि निस्तारः । तथा च शास्त्रशास्त्ररपि कार्यदृश्य वनो प्रकृत्य न पुनर्गुणा वददुःखस्य ।

२८.

रूपविज्ञानवेदनासहासकरा पञ्चखन्धा इति बौद्धाः, भूतव्यतिरिक्तानि अमूर्तानि तत्त्वानि रस्यद्यच्छेदोच्यन्ते, तत्र दक्षिणार्धेन्द्रियाणि रूपरसस्पर्श, आन्तरविज्ञानप्रवाहो विज्ञानरस्य, प्रागुच्छरस्यद्रवस्यस्यस्य द्रुतद्रुतत्वादि प्रत्ययप्रवाहो वेदनास्पर्श, गौरिवादिशब्दोन्लेपिसंवेत्प्रवाहः स्पर्शस्य, वेदन रस्यधनिस्पर्शना राग्नेषादय क्लेशा उद्भवेसाश्च मदनानादयो धर्माधर्मौ च संस्काररस्य । यथा बौद्धानां मते भौतिकेषु शरीरेषु प्रागुच्छरस्यद्रवस्यस्यतिरे-केण ज्ञानमुत्पाद्याभयोभूत कश्चिदात्मन्यदार्थो नास्ति, किन्तु तस्यन्तान एवात्मन्यदे-नोच्यते, तथैव राशामपि सन्धिविग्रहादेशु कर्तव्येषु सहायादिग्याह्यविनिर्णय एव मन्त्र, नान्यत् किमपि । यत्र सहायादिसम्पत्ता स्तो न वेत्येव मन्त्राणां राशधि-कर्त्तव्या । यदि सहायादयो विद्यन्ते तर्हि शत्रुर्गोत्रो भवति, इतरथा सहायादिषु यथावपर किमप्येकतम हीकर्त्तव्यमानवति । तथा च वननिदानो सहायादिसम्पत्ता-रम अतोऽयं सिधुसाल्याभिदेनस्य संसृजितः काव्यः ।

२९.

मन्त्रितार्थकेयादा विज्ञो न कर्त्तव्यः, मन्त्रो हि भोक्त्वोद्धेव भवति, यथा च

अनिर्लोडित्वास्व वाप्राप्त वाग्निगो वृषा ।

निमित्तादपराम्भेषुः शत्रुषु रदे । इति गतम् ॥ २७ ॥

सर्वं यं शरीरेषु मुक्ताऽङ्गस्य च यत्नम् ।

शौचानामिज्ञानाऽन्यो नास्ति मन्त्रो मदीश्वरम् ॥ २८ ॥

मन्त्रो योष इवाधीर सर्वाङ्गे सञ्चरति ।

चिरं न सृष्टे रथं तु परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

कदाचिच्छत्रुर्ममाङ्गानि च्छिन्वादितिमिया
 उग्रामे स्थितो न भवति, अपि तु तत्र पलायते, तथैव मन्त्रोऽपि उपायादिषु
 गोपितेष्वपि कदाचिच्छत्रुवा जानीषुरिति मीत्या चिरमक्रियात्मकं स्यात् नान्विति,
 मन्त्रज्ञानान्तरमव कार्यमारब्धव्यम्, किञ्चिद्दुःकार्यं मात् प्रागेव मानप्रकारो
 ज्ञानमि सावधानं तद्विच्छिन्नोपायात्प्राप्त्यानेन राज्ञा महती हानि सम्भाष्यते ।

३०.

इदमेव नीतिस्तत्र यत् स स्याम्युदयाय चेष्टनीयम्, तदन्तरायमूनस्य
 शत्रोश्च हानि कर्तव्येति । एतद्वै द्रव्यमन्त्रस्य नीतिविदं सन्धिप्रियादीन् विविधं
 व्याचक्षते । तथा चाभ्युदयार्थिभिरहामि स्वशत्रुं सिद्धुपात्स्वरितमुच्छेद्यम् ।

३१

ननु प्राप्ताभ्युदयानामस्माकं अर्थं एव शत्रुच्छेदप्रयत्नं शक्यत आह—
 प्राप्तमद्वैश्वर्या अपि महारमानं शैश्वर्ये अलवृद्धिं न कुर्वते एतावदेवैश्वर्यंममामि-
 शमिलायत नान्यदपश्यत इत्येवं न तुष्यन्त, 'असतुष्या द्विजा नृणां सन्तुष्याश्च
 महीभूत' इति राज्ञा सन्तोषोदयस्य निन्द्यते । किं तु यथा परिपूर्णाऽपि
 महार्णवं स्ववृद्धये चन्द्रोदयनपेक्षत एव, तथैव तं अग्नेऽपि स्याम्युदयाय यतमाना
 एव भवन्ति चन्द्रोदये समुद्रवृद्धिरिति निसर्गं ।

३२.

प्रश्रुत सन्तोष उज्ज्वले प्रातःकाले, यं पुरुष स्वल्पयापि सम्पत्त्या प्रधीदति,
 आत्मानं मुदशापन्नं मनुते, तस्य सा स्वल्पा सम्पद् वृद्धिं न प्राप्नोति देव हि
 सपदां वर्धयन्, तद्वि स्वल्पसपदारि सतुष्यं तद्वृद्धये पौष्पमकुर्वीणं नर निरीक्ष्य
 आत्मानं कृतकृत्यं मन्यत, अथमेतावन्तैव सतुष्यति किमस्य मुघा सपदार्धनेन,
 यद्यप्य सपदां वृद्धिमम्बलपिभ्यत्, तद्वि तदर्थमुदयोक्ष्यत, परं नाद्युच्छे इति नारद
 सपदं वर्धयति । देवमप्युद्योगिन एव साहायकम्, अनुद्योगिनस्तु तदपि जुगुप्सत
 इति तत्रम् ।

आत्मोदय परम्लानिद्वय नीतिरित्यती ।

तन्प्रीकृत्य कृतमिर्वाचस्यत् प्रतायत ॥ ३० ॥

वृत्तयोग परेणापि मद्दिम्ना न महीयसाम् ।

पूङ्गश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी हृष्टान्तोऽत्र महार्णव ॥ ३१ ॥

सपदा तु स्य मन्यो भवत स्वल्पयाऽपि य ।

कृतकृत्यो विधिर्नये न वषयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

३३.

शत्रून् निर्मूल्यैव मानिनोऽगुदय प्राप्नुवन्ति, शत्रवो हि तदुन्नतिपथे कण्का
यिता, तथा सन्कल्पेनानाकरणमत्यावश्यकम्, अन्यथा तेऽन्तरायमुत्पादयेयुः ।
सवितापि यदोदयते तदा स्वप्रसररोधकमन्वतमस विनाश्यैव, नान्यथा, अतोऽ
स्माभिरपि स्वशत्रु शिशुगालो हन्तव्य एव ।

३४

किं च लोकेऽनुच्छिन्नराशो स्थैर्यमेव दुर्घम्, उन्नतिस्तु दूरे । जीवन्त
शत्रवस्तन्मूलं कतिदु शुभा इव प्रयेतरन्, अतस्तदुच्छेद आवश्यक । जलमपि
आत्मानमलिनीकुर्वद् र० अथ करणेन पङ्कजा नीत्वैव तिष्ठति । जडमपि जल
यदि स्वाभिभावक न सद्गते, तर्हि चेतनैरस्माभिस्तु मुतरां न सोढव्यम् ।

३५

शिशुप उ एव स्माक शत्रु किमयमेकाको न करिष्यतीत्यपि न चिन्तनीयम्,
यन यावदेकोऽपि शत्रुर्जाति तावन् सुखमान्नेराशापि न कर्तव्या । यद्यपि देवै
स्वशत्रवोऽसुरा निहता, पर तथा मध्य एषो राहुरवशिष्ट, स एव पश्यता देवाना
चन्द्रमस (सूर्ये च) पशु शपते ।

अत 'अग्ने शेषमृगच्छेद्य शत्रो शेष न शेषटेत्' इत्यभिधुक्कोक्त्या एकोऽपि
शत्रुच्छेत्तव्य एव । चन्द्रोपरागस्य प्राचुर्यात् सोममक्षणम् ।

३६.

कृत्रिमसहजप्रकृतमेदेन मित्राणि शत्रवश्च त्रिधा मिथ्यन्ते, स्वरूपाणि चैषा
रूपानि । एतथा मध्ये कृत्रिमौ मित्रशत्रु महान्तावुच्येते । उपकारापकारजन्य
बौद्धान्तरभावस्य वाञ्छीवमनपायाद् एतयामित्रशत्रुभाव स्थायी, न ज्ञातु
विपर्येति, एतदेवानयोर्महत्-म् ।

सहस्र प्राहुः त्रु दुहृदावपि कदाचित्—स्वकार्यवशा-उन्मभावम्, एव शत्रु

समूहघातमघ्नन् परान्नाद्यन्ति मानिनः ।

प्रशंसिता-घतमसस्तत्रोदाहरण रवि ॥ ३३ ॥

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा सल्लु दुर्लभा ।

अनीत्या पङ्कजा धूलिमुदक नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

प्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्ता-रुत सुखम् ।

पुर विन्नाति सोम हि सैदेकयोऽगुदुदाम् ॥ ३५ ॥

न्वा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यत ।

स्याताममित्री मित्रे च सहस्रप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अपि स्वकार्यानुरीयेन मित्रभावं प्राप्नुत, कार्योपधिको हि तयोमित्रशत्रुभावः, अतो न निवत । कृत्रिमस्तु शत्रुश्चेत् शत्रुरेव, मुहुश्चेत् मुहुदेव । तथा च शिशुपालोऽस्माकं सहजमित्रमपीदानीं परस्वरापकारेण कृत्रिम शत्रुरिति नोपेक्षितम् ।

३७

ननु शिशुपालोऽस्माकं पैतृभ्यसेव इति सहजामित्रत्वात् सधा ध्य प्रवेशत आह—सहजं प्राकृतो वा शत्रुरिति यद्यात्मन उपकरोति तर्हि तेन सह संधिं कर्तुं मुचितं । स हि तदानीमस्थायिशत्रुभाव परिहृत्य स्थायिनीं कृत्रिममित्रतां प्राप्त । एव सहजं प्राकृतो वा मुहुश्चेत् यत्प्रकरोति तर्हि न स संधियोऽप्य, यत सोऽस्थायि मित्रस्य परित्यक्त्य स्थायिनं कृत्रिमशत्रुभावं प्राप्त । उपकारापकारावत्र मित्रा मित्रयोर्लक्षणमस्ति । तथा च शिशुपालः सहजमित्रमपि साम्प्रत परस्वरापकारेणास्माकं शत्रुरित्यभिधेयवितम् एव, न पुन सधातम् ।

३८.

चैत्रस्य कृत्रिमशत्रुत्वसमर्पनायाह—हे कृष्ण ! कृत्रिमणीहरणेन स्वया चैत्रस्य विप्रियमाचरितम्, अतएवं तस्य कृत्रिम शत्रुरिति । त्रियो हि रुटमूलस्य (एहीत मूलस्य) वैरपादपस्य प्रधान कारणम् । अत्र कृत्रिमणी शिशुपालस्य वाग्दत्तासीत्, तां कृष्णो राक्षसविवाहेन उपयेने इति पुरातनमनुसंधेयम् । न चेद् परस्वरापकरणं निवानुचितम्, 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्मो ह्यस्य तौ स्मृतौ' इति क्षत्रियस्य कृते राक्षसविवाहस्य धर्मदोषमरणात् ।

३९.

यथा सूत्रोपनिधाने सुमेरो सानुमन्धकार आकृणोति, तथैव स शिशुपालस्यैव निरकासुरविजयव्यापृते सत्यंहर लक्ष्मणेनां द्वारकापुरीं परितः स्वप्नयाकृणोत् । तथा च तस्य स्वमिव सोऽपि तत्र कृत्रिम शत्रु इति नोपेक्षणीय ।

उपकरोतिऽरिणा सन्धिर्न मित्रेण, उपकारिणा ।

उपकारापकारौ हि रुटस्य लक्षणमेतयो ॥ ३७ ॥

स्वया विप्रतृणश्चैद्यो कृत्रिमणा हरता हरे ।।

षट्मूलस्य मूलं हि महद्देवतरो जिय ॥ ३८ ॥

स्य भौम गते जट्टमरौऽसीत् पुरीमिमाम् ।

प्रोषितार्यमर्ण मेरोऽन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

४०.

अपकारान्तरमाह—शिशुपालो बभ्रोरर्मासिमद्वय परदारामिमर्शनं चकारेति
नेतद्विषये किमप्युच्यते, यत पापानां कथामात्रमप्यकल्याणजननाय पर्याप्त
भक्ति ।

४१.

एव शिशुपालो न सहजमित्रमपि परस्परपरधेन साम्प्रत कृत्रिमं शत्रुरिति
सर्वधानुपेक्षणीय एव ।

४२.

शुक्रं वृणुषुमूढे शुक्रम वने बोद्धगतश्चात्मनि प्रदिव्य पवनप्रवाहामिन्द्रां शयान
पुरुषो यथा पवनप्रेरितया बालया मग्नीभूय विनश्यति, तथैव य पुरुष एवापि
कारणान्तरत प्रागव क्रुद्धस्य शत्रोरपकारान्तरं निधायापश्चत—न—साध्यानमिच्छति,
सोप्याकस्मिन्न शत्रोराक्रमणनाहु विनश्यति । अत शिशुपालो नाप भाव ।

४३.

धमाशीलोऽपि पुरुष अल्पम्, सङ्घेन कृतं मूर्खासमपि चापराधं धन्दु
शक्नोति, परं पुन पुनर्नृशं न क्रियमाणमपराधं सद्दृष्टुमसद्दृष्टुर्ना काऽपि सोऽ
न शक्नोति, शिशुपालो ह्यस्मात् कल्पत् पुन पुत्रावापकरोतीति न स धन्दुश्चा
भक्तिमहति ।

४४.

ननु 'धमा पुंसो मूपगमि'ति सर्वदेव वक्ष्या, इत्यत्र आह—अपरिमर धमा
मूपगमुच्यते, न पुन सर्वदा । शत्रुकृतपरिम-प्राप्तौ तु तत्प्रतीकाराय पराक्रम
एव मूपगम् ।

आल्प्याल्पमिदं बभ्रोरर्षस्य दारानवाहरत् ।
कथाऽपि लज्जु पापानामभयमेवस यत ॥ ४० ॥
निराह एव मयता निराद्धा बहुधा न न ।
निरर्षतेऽपि क्रियया स भुतभवस सुत ॥ ४१ ॥
निधाय वैरं सामर्थे नरोऽपि य उदासत ।
प्रदिव्योदनिप कच्च शैल तैऽभिनासतम् ॥ ४२ ॥
मनागनभ्याऽप्या वा कामं शाम्यतु य क्षमी ।
क्रियासमनिद्वारण निराभ्यन्त क्षमेन ह ॥ ४३ ॥
अन्वदा मूपगं पुंस धमा एतैर योयिन ।
पराक्रम परिभये वैवाह्यं मुरतेधिव ॥ ४४ ॥

४५.

य पुरुष शत्रुतरस्कारटुम्बनत्ताऽपि क्षीयति, न तत्पतीकाराय किमपि चेष्टते । तस्य बीजनमतिगर्हितम्, स हि कश्चिद्मातृगर्भधारणप्रसवादिप्रदनाद्यु, अत्रयोजक तस्य जन्म, मातृजनननिवृत्तये तादृशस्यानुत्पत्तिरव प्राप्यते ।

४६.

य पुरुष शत्रुत्वोपमान निश्चितस्तुम्भी सहते, वृथापुष्टीऽथी (इदं देहिन इति निन्दार्यमन्वर्धयेन, प्रकृत्या च गम्भत्) तदपत्त्या तद् रज (जड, नपुंसक म य ७७) श्रेष्ठ यत् पुनि पादोद्भूतितमुद्भूतयतामव मस्तकमाकामति ।

४७.

यथा धगादयो जातिशब्दा शुक्रगादयो गुणशब्दा, पाचकादय क्रियाशब्दा स्वानिधेयपु यत्वादिर्वा कश्चन विशयमपि प्रतिपादयान्त, न तथा यद्व्यञ्जकशब्द, स हि धारादिव्यतिरक्कण घर्षिमानमव बोधयति, व्यवहार एव तस्य मुख्य प्रयोजनम्, तथैव य पुरुष स्वर्तिवासास्वादिजात्यनुरूपार्थयनादिना, इन्द्रादि क्रियान्शानेन वा, शीरोदार्यादिगुणैर्वा न कश्चन मुक्तकीर्त्यादिर्वा धर्माद्यन्यतम वा पुरुषार्थे भाषयति, तस्य जन्म कश्चिद्वासादिऽशाधारणार्थमेव । व्यवहार सिद्धय नाममात्रेण स वासादिदृश्यते । यथा अकारादिषु वैशाकरणाणां गुणपद प्रयोग पारिभाषिक, न स वस्तुतो गुण, तथैव तस्मिन्मि अक्षगादिपदप्रयोग, न स वस्तुतो वासादि ।

४८.

दुह्नवमगाधता च क्वचिद्वहनीयताया हेतु मन्त, तथ प्वते क्वचिद् दुह्नव मवास्ति, मन्त्रे च क्वचिद्गाधतेव, मन्त्रिनि तु पुरुष तटुमयमपि विद्यते—इति स पर्वतसमुद्रपक्षेयाप्यनिदुर्लभ्य ।

मा क्षीयन् य परावटाटु जदग्योऽपि क्षीयति ।
 तस्याज्जननिरवास्तु जननीकरशकारिण ॥ ४५ ॥
 पादाहत यटुथाय मूर्धानमधिरौइति ।
 स्वभादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रज ॥ ४६ ॥
 असमादयत कश्चिदर्थे क्षातिक्रियागुणे ।
 यद्व्यञ्जकशब्दस्तु सत्रायै जन्म क्वचिन्म ॥ ४७ ॥
 दुह्नवमिन्त्रा न शो नेद भिन्वानगाधता ।
 अद्वहनीयताहेतुमयं तन्मन्त्रिनि ॥ ४८ ॥

४९.

शत्रुषु मृत्युभवद्वार सर्वधानपरिनिर्वाह—यद्यपि स्वर्ग-राम-एतन् एव
प्राप्तव्यथापि राहुभक्त्येन चन्द्रमत्तमेव प्रसते, न पुनः क्षमन्, तत्र चरा सप्त-
मेव, चन्द्रमा खड्ग मृत्युवेजा, इति च सुतेन प्रवृत्त शक्यते, स्वर्गु प्रवृत्तान
इति न तत्र राहो सहसा प्रवृत्ति । तथा च शत्रुपक्षे लोभनेव व्यवहर्तव्यम् ।

५०.

तेऽस्विना गन्नाया प्रस्ताया यदि कश्चन तेऽस्वी द्रुस्येऽपि भवेत् तदापि
गगते, स हि दूरस्थितोपि स्वतेजसा लोकात् अनिभवेत् क्व । इत्यनेनार्थमर्थान्ते
स्वात्मनाह—यथास्मिन्मध्ये तस्मात् पुत्रस्य अस्मिन्वर्षे स्वर्गं पश्यन्मिदं-
नोरो मन्वते ।

५१.

दुःखारोहणैवादिषु सोऽनमनाऽद्यैव रोदु शक्यते, तथा च यदि भवन्ति
कामने यदस्माकं कीर्ति स्वर्गमप्यस्येत् तर्हि तदर्थमपि कश्चन सोऽनमनाऽद्यैव रो-
दि । शत्रुशिरास्येव तस्या उचित आशङ्को भवितुमर्हति, तत्रैव वा पादौ
क्षय न्यस्य स्वर्गमारोहसति, नान्यथा । शत्रुनाममह एव कीर्तिमन्तस्त एव
इति तस्मिन् ।

५२.

चन्द्रमसा कृपया स्वर्गमारोनिर्वाहो मृत्युस्य कृते काङ्क्षन्ते यमूव, तेनैव
मृते लोकाश्चन्द्रमस भृगाङ्गनाचकते । पर यं विद्मि मृतान् निर्देय पौडर्ये,
स मृगाव इत्युच्यते । अहं यक्षु नर्दव दुर्भट्टये पौडर्यं तु क्विपि
इति भाव ।

५३.

यथा आनन्दः प्रवेदनेनैव शान्तति, एतन्न तु किमनन् प्रवृत्त त स्मर-

दुःखेऽपराधे स्वमनुमतिमत्त निरो यत् ।
दिमाजुनासु भवते तच्छदिनं शुक्रं क्वम् ॥ ४८ ॥
स्वयं प्रान्तेऽप्यनेऽपि पत्वायञ्जनेभुवि ।
निदमननवासां स्तुर्वदुम् नर ॥ ५० ॥
तेजसि परने तेऽस्वी दवीपानपि गगते ।
पश्यन् पश्यतस्वपतो चान्वेदहम् ॥ ५१ ॥
अहंस्व हेमरा पश्यन्वैमूर्खं विदिपम् ।
कपङ्करमनलमसा कीर्तिमन्विरैविति ॥ ५२ ॥
अहं विरोनिन्मृश्रमना मृश्रमज्जन ।
केली निष्पुश्रितमृश्रये मृश्रविर ॥ ५३ ॥

यनि, तथैव क्रुद्ध शिशुपाल इदानीं दण्डेनैव (युद्धेन) वशीकर्तुं शक्यते, न सामादिना । शान्त एव सामादिप्रयोगः फलति, नाशान्ते, अनोऽभिप्रेगयितव्य एव स ।

५४.

यथा अतितप्त धृत जलप्रक्षेपेण शीत न भवति प्रत्युताधिक दीप्यते प्वालान्नतो निस्सरन्ति, तथैव प्रियोक्तय क्षोपकपायितचेनस शिशुपाल शान्त न करिष्यन्ति, किन्त्वधिक प्रकोपयिष्यन्ति, अतो दण्ड्य एव सः ।

५५.

ये सधिविग्रहादीनामुपयोग सभ्यग न विजानन्ति, सधियोभ्ये विग्रह विग्रहयोभ्ये वा सधिं विधाय राज्ञां हानिं कुर्वन्ति, ते मन्त्रिणो राजमिदूरतस्थाऽप्याः, न ते वस्तुतो मन्त्रिणः, अपि तु मन्त्रिलिङ्गधारिणो राजा शत्रव । उद्धवस्य युद्धपरिरोधो न मन्तव्य, युद्धकाल एवायम् इति बलस्य हृदयम् ।

५६

नीतिविद एवशक्त्युपचय शत्रुपक्षव्यसन च पृथक् यानकारणमाहु । तव तु देवादुभयमभ्यस्ति—इति स्वया योद्धव्यमेव ।

५७

स्वशक्त्युपचयमाह—यादवतैः न्यमतिमदत्, न तत् केनाभ्यतिक्रमितुं शक्यते, एव च तच्छत्रुपक्षक्षय कर्तुमिच्छति पर वेला समुद्रमिव भवत, क्षमैव तत् तथा करणाद् व्यावर्तयति, अन्यथेन प्रागेव शत्रून् सहरेत् ।

५८.

साध्यदर्शने बुद्धिरेव वस्तुत कर्त्री सुखदुःखयोरनुभवित्री च, पुरुषस्तु नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव वर्तमानदिधर्मशून्यो बुद्धे साक्षिमानम्, असङ्गो ह्ययं पुरुष

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपो शान्तवभक्त्रिया ।
 स्वेद्यमाम्बर प्राञ्च कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥
 सामवादा सद्योपस्य तस्य प्रत्युत दीपका ।
 प्रतप्तस्यैव सहसा सर्पिषस्तोयविन्दव ॥ ५५ ॥
 गुणानामायथातथ्पादर्थे विप्लावयति ये ।
 अमायः प्रज्जना राजा दूष्यास्ते शत्रुसजिता ॥ ५६ ॥
 एवशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
 यानमाहुस्तदासीन स्वामुस्थापयति ह्ययम् ॥ ५७ ॥
 लिङ्घघृषितो लोकानलरुघ्यानलधीयस ।
 यादवाग्मोनिधीन् रुन्धे वैश्वे भवत क्षमा ॥ ५८ ॥

इति धत्ते । परमेव सर्वथा तत्स्थयेऽपि पुंसे यथा सुखदुःखादयो बुद्धिधर्मा अह
सुखी दुःखीत्यादिना व्यपदिश्यन्ते, तथैव हे कृष्ण ! यादवसेना शिशुपाल विज
यते, पर स विजय तन्स्थस्याप तथैव व्यपदिश्यते भूयत्रयपराजययो स्तामि-
न्म्यत्वात्, तथा चकञ्चोनेव विजय गमावसरमत मा स्तोपेक्षता ।

५९

शत्रुव्यसनमाह—मगधेश्वरो जरासंध शिशुपालस्य मित्रमासीत्, स च भीमेन
युद्धे हत । अतोऽसौ मित्रव्यसनाक्रान्तादिदानीं सुखेन परामवित्तु शक्यते ।

६०

स्वशास्त्रमुपचये परस्य व्यसने वा अभिषेगन कर्तव्यमिति पूर्वश्रुत्तम्, तत्रोत्तर
पत्तेऽभ्युपेयवरदेनोक्त, अस्तुतस्तु प्रथममत्र एव मामिनामिष, यदा आपदाक्रान्त
शत्रुरभिषेगनीय इति नाय शूराणां पथा, प्रस्युत विपन्नाक्रमणे शूराणां लब्धा
स्यात्, तस्य मृतस्य मारणे किं शौर्यम् । सर्वशक्तिवम्ब एव शत्रु शूराणाममर्षं
विषयो भवति, न तु विपदाक्रान्तो निर्बल, यथा राहु पौर्णमास्या पूर्णमण्डलमेव
चन्द्रमस प्रसते, न तु तिष्यन्तरेषु क्षीणम् तद्वत् । तथा च साम्प्रत बलिनी वयम्,
दलवनामस्माक शिशुपालोऽभियातव्य एव ।

६१

प्रसह्य परपीडनधर्मं बल भिन्नमेव, तद्वता कृते 'इदानीं शत्रुयोतव्य,
इदानीं न' इति न कश्चन नियम । सर्वदैव ते शत्रुमभिषेगयितु शक्नुवन्ति ।
परव्यसनकाले प्रयोगयोग्य मन्त्राशुदाहन बल तु भिन्नम्, साधरणत्वेन तस्य
प्रबलशत्रुपीडनाधर्मत्वात् । प्रकाशतमसोरिव परस्परविषद्वयोरनयोरेकाभयत्व न
घटते । अय स्फुटो भावो बलवत् शशोरभियाने 'तदा यायाद् विश्लेष व्यसने
चोत्थिते रिपो' इति व्यसनमस्ते रिपावभियान प्रतिपादयद् मनुबन्धन विदधेतेत्यपि
न शङ्कनीयम्, कुत ! ये स्वय प्रशस्तबलहीना शत्रु परामवित्तुमक्षमास्तेषा कृते
मनुबन्धनमस्ति । ये तु प्रसह्य परपीडनक्षमा, तेषा कृते तु 'तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी
क्षमो द्विषन्तं मुदित प्रतीयात्' इति कामन्दकेन व्यसनानपेक्षयैवाभिषेगन प्रतिपा-
दितम् । तथा च यथा विभिन्नशाखाभ्येतुविषयत्वेन उदितानुदितहोमयो परस्पर

विजयस्तत्रयि स्नाया साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।

फलमानि समीक्ष्योक्ते बुद्धमोग इवारमनि ॥ ५९ ॥

हते हिदिम्बरिपुणा राशि द्वैमातुरे युधि ।

चिरस्य मित्रव्यसनी मुदमो दमयोधज ॥ ६० ॥

नीतरापदि यद्रम्य परस्तन्मानिनो द्विये ।

विधुर्विदुन्नुदस्येव पूणस्तस्योरववाय स ॥ ६१ ॥

विरोधो न बाधक । तथैव भिन्नविषयत्वेन व्यसनाव्यसनयोरभिषेगान् प्रतिपादय-
तो ननु कामन्दकवचसोर्विरोधोपि न बाधक ।

६२

युधिष्ठिरयज्ञे सन्निधानाय इन्द्रप्रस्थगात्रा न कर्तव्या, इदानीं तु अभिषेगय-
तामस्माकं हस्तिवनेन निषिद्धस्य चेदिराष्टस्य उद्यानादिविनारोःन प्वष एव
प्रातःकाल ।

६३.

यादवाना सेना माहिष्मती शत्रुराजधानीं परितस्तथा वृणोतु यथा शनप्रस्तत्रैव
निरुद्धास्तिष्ठन्तु । न च बहिरागतुं शक्नुयुः । किं च सर्वाणि प्रवेशद्वाराणि तथा-
रोद्धव्यानि यथा तत्र भोजनसामग्री, तत्साहाय्यार्थं सै यम्, पशूनां कृते घास
काष्ठादिकं चावश्यकं वस्तु किमपि कथमपि प्रवेशयितुं न शक्येन । यथा राश्री
दोहानन्तरं गावो गोष्ठे प्रवेश्य निरुध्यन्ते, न च तत्र तदानीं क्षीराद्याहरणार्थं
विद्वह्निकावाहकानां प्रवेशनिर्गमौ भवतः, तद्बद्धत् । तथा सनि कुमुभादिपीठित
शय्य सुख्य स्यात् ।

६४

जगति सर्वो लोक स्वार्थसिद्धये यतते, इन्द्रस्य स्वग्रन्थणम् सूर्यस्य तपनं च
स्वार्थयुक्तमेव, तथैव युधिष्ठिरस्य राजसूययागोऽपि स्वार्थमुद्दिश्यैव, नास्मदर्थः
परार्थो वा । तथा च यदि सर्वो लोक स्वार्थसाधनव्यग्रं तर्हि वयमपि कुतो न
स्वशत्रुन् निहत्य स्वार्थं साधयेम । इन्द्रदिशमानयोगक्षेमा न पार्थ इति भावः ।

६५.

अस्माकं सैनिका शत्रूणां शिरासि चिन्दन्तु, शत्रुशिराक्ताः सैनिकानाम
स्य सूर्यकिरणसम्पर्केण विद्योतमाना निशुत इव भान्तु ।

अन्यदुच्छ्रूल रुद्रमन्त्र-आम्ब्रनियन्त्रितम् ।

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयो कुत ॥ ६२ ॥

इन्द्रप्रस्थागमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदय ।

आस्माकदत्तिसानिष्याद् वामनीमृतमूहद ॥ ६३ ॥

निरुद्धबीवधासारप्रसारा गा एव व्रजम् ।

उपबन्धतु दाशार्हा पुगी माहिष्मती द्विय ॥ ६४ ॥

यजता पाण्डव स्वर्गमस्तिन्द्रस्तपस्विन ।

अय इनाम द्विषत सर्वं स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

६६.

पूर्वोक्तमुक्त्वा बलदेवस्तूष्णीं बभूव समाभित्तिभ्यस्तद्वाचां प्रतिष्वनिरुद्धभुव ।
तत्र कविस्मरेशने, नैष प्रतिष्वनिः किन्तु समाभित्तिषु चित्रितामिद्वैवतामिर्बलभद्रभ-
यात् तदुच्चार्यसमर्थनाय तद्वाचामनुवादः कृत इति ।

६७.

बलभद्रोक्तं श्रुत्वा हरिरुद्धं स्वमतं वक्तु नेत्रसंज्ञया प्रेरयत् ।

६८.

भावाथं सुगमं ।

६९.

उद्धव आह—यथा लेखद्वारामिप्रायवागतौ सत्यं वाचिकध्वग निष्प्रयोजनं
भवति । तथैव बलभद्रेण कर्तव्यार्थे निर्धारिते न मद्बचनस्य प्रयोजनं किम-
प्यवशिष्यते ।

७०.

यद्यपि बलभद्रेणोक्ते मद्बचनमनवसरग्रस्तम्, तथापि यत् त्वं वयसा विद्याया
वा ज्येष्ठोयमिति बुद्ध्वा बलभद्रस्यैव ममापि वचनं सादर श्रोतुमुक्कण्ठसे, तदेव
मा वक्तुं प्रेरयति, अतो वक्ष्यामि । नहि पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्याज्ञवत्
तूष्णीभावो युक्तः ।

७१.

ननु रामेणैव सप्रपञ्चमिहिते मद्दुक्तिरनवकाशोत्पाद्यक्याह—यद्यपि रराः
षड्भादिभेदेन सप्तैव, परं तदुपनिबद्धं गानं तेषां स्वराणां पौर्वापर्यनिपर्ययेण ताल-

प्राप्यता विद्यता सम्पत्सम्पर्कादकरोन्निषाम् ।

शकैर्द्विषन्तिरश्चेदप्रोच्यतेऽल्लोयितोदितैः ॥ ६६ ॥

इति संरम्भणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।

समाभित्तिप्रतिष्वानैर्भयादन्वयदद्विव ॥ ६७ ॥

निशाम्य तां शेषगवीरभिघातुमघोक्षजः ।

शिष्याय वृद्धतां पर्युः प्रस्तामविशद् दृशा ॥ ६८ ॥

भारतीमाहितभरामयानुद्धनमुद्धवः ।

तथ्यामुन्मथ्यानुजवजगादाधे गदाप्रज्ञम् ॥ ६९ ॥

सम्प्रत्यसाम्प्रत वक्तुमुक्ते मुसल्वाग्निना ।

निर्धारितेऽर्थे लेखेन लल्लुत्वा लल्लु वाचिकम् ॥ ७० ॥

तथापि ते यन्मथ्यति गुरुवित्यस्ति गौरवम् ।

तथ्ययोजककृतंमुपैति मम जल्पनः ॥ ७१ ॥

लयादिभेदेन च यथानन्तभेद भवति, तथैव परिमितैरकारादिभिर्वर्णैर्निमित्त वाङ्म-
मप्यनन्तम्, अनेके तत्रावान्तरविशेषा, न हि ते सर्वे एकेनैव विशातु शक्या,
काश्चिदेक काश्चिदपरो जानाति । अतो बलमद्रेण साधूक्तोपि विशेषान्तरामि
धिसंभवा न मदुक्तिरनवकाशा । तस्य दुःस्वरवाद् मयैव वक्तव्यमिति गूढामिसधि ।

७२

भावार्थ सुगम, रामेण सगतमेवोक्तमिति स्तुति, असन्नतमेवोक्तमिति निन्दा
च गम्यते ।

७३

यथा कुशलस्तन्तुवायो बहुमिस्तन्तुमि सुकोमलामपि सान्द्रा (सदिच्छद्वाम्)
चित्ररूपा मनोहा श्याटी वयते, तथैव वाग्मिजन सुकुमाराक्षरामप्यपरिहृतार्थगौरवां
श्नेपादिगुणयुक्ताम् उरमानुभासादिभिरलङ्कृता वार्णा ब्रूते, सा हि श्रोतृणां मनोहा
रिणी भवति । रामवागप्येवविधेतिस्तुति, नैवमिति निन्दा च गम्यते (अत्र कविना
मदीय काव्यमपीदमेवति सूचितम्)

७४

उद्धवो गर्वै परिहरन्नाह—हे कृष्ण । स्व स्वय नीतिशास्त्रस्य सर्वान् अवान्तर
विशेषान् सम्यग् विजानासि । अत एव यथा ज्ञानदाकार्याय अग्यासस्विकरीकरणाय
वाधीतस्य शास्त्रस्य पुन पुनरावृत्ति क्रियते, तथैव त्वदग्रे मम नीतिशास्त्रोपन्यास
प्रयासोऽपि ज्ञानस्यैर्याय आवृत्तिमानम् । न तु तस्य किमपि विशिष्टं प्रयोजनमस्ति ।

७५

सम्प्रति उद्धव स्वमतमाह—प्रमुद्यत्किमात्रेण राधा न केवलमुत्साहशक्त्य एव
यतोयनम्, अपि तु मन्त्रशक्त्येऽपि, यत मन्त्रोत्साही मिलितैव प्रमुद्यत्किमुत्सा-
दयत, न पुनर्ब्यस्तौ, तथा च बलमद्रेण केवलोत्साहवादो न समीचीन ।

वर्ण कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो ! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥
बह्वनि स्वेच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुस्तिनार्थसम्बन्ध प्रबन्धो दुःखदाहर ॥ ७३ ॥
अदीयसीमपि धराभनल्पगुणकल्पिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशलाब्जिना वाच पयोमिव ॥ ७४ ॥
विशेषविदुषुष शास्त्र यत्नोद्ग्राह्यते पुर ।
हेतु परिचयस्यैव वस्तुर्गुणनिर्दिन सा ॥ ७५ ॥

७५

यथा अश्वगमनादिपरिभ्रमन्त पुरुषः सोपवर्हां द्रवीयसीं शय्यामविशय्य
चित्रान्त भ्रान्तिं नानुभवति, तथैव ये पुरुषा सर्वव्यवहारेषु युक्तियुक्ता स्थिरां
प्रज्ञामाश्रयन्ते—अवांतरविशेषणयोर्भेदनया बुद्धिपूर्वकमेव कार्यं विदधते, न
केवलम् उरसाह एव निधीदन्ति, तेषामनेकविधकार्यसमाप्तेऽपि न जातु मनाह्
मानसिकं धम व्याकुलता वा जायते । सुखेन ते कार्यं निर्वहन्ति । अत
उरसाहद् घोरतायाश्रयणीयैव ।

७७.

यथा तीक्ष्णो वाण लक्ष्यस्य अल्पमेव प्रदेशं स्पृशति, किन्तु भित्त्वा तदन्तः
प्रविशति, तथैव तीव्रबुद्धयः परिभ्रम स्तल्पमेव कुर्वते, पर बहुकार्यं साधयन्ति ।
मन्दबुद्धयस्तु अल्पस्य कार्यस्य कृते बहु प्रयस्यन्ति, यथा प्रस्तरो यत्र प्रदेशो पास्यते
स तत्र पतितो यद्यपि भूयांस प्रदेशं व्याप्नोति पर तत्प्रदेशस्य पृष्ठ एव
तिष्ठति, नान्त प्रवेश्चुं शक्नोति, तद्वत् । मूषकमहणाय शिलरिखननं परिहासा-
स्पदं भवतीति भावः ।

७८.

पूर्वं तु मूढा लब्धेव कार्यमारभन्ते, पर तथापि ते अधीरा भवन्ति न च
सदारब्ध कार्यं यथायथ समाप्तिं नयन्ति । बुद्धिमन्तस्तु महत्स्यपुद्योगे सलग्ना न
मात्रपाप्यधैर्यं दधते, आरब्धं च कार्यं समाप्तिं नीत्सैव विरमन्ति ।

७९.

यथा मृगाणां यातायातमार्गं आत्मानं गोपयित्वा स्थितोऽपि श्याधो यदि
चतुष्कर्णो (सावधानो) न भवेत् तन्दाक्रान्त स्यात् । तर्हि न मृगान् इन्तुं
समर्थो भवति, तथैव साधनवानपि पुरुषो यदि प्रमादी भवति, तर्हि न जातु
कार्यसिद्धिं लभते ।

प्रशोशाहवतः स्वामी यतेताघातुमारमि ।
तौ हि मूलमुद्देश्यन्त्या जिगीषोरारमसम्पद ॥ ७६ ॥
सोपधाना धिय धीरा स्थेयसीं खन्धयन्ति ये ।
तत्रानिश्च निघण्णास्ते जानते जातु न भ्रमम् ॥ ७७ ॥
स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णा स्तोऽमन्तर्विशन्ति च ।
चतुस्पृशाऽपि स्थूनेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥
आरमन्तेऽल्पमेवाशाः काम व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भा कृतधियस्त्रिष्टन्नि च निराकुला ॥ ७९ ॥

८०

यथा द्वादशादित्याना मध्ये दिनकरौ चाष्टौ य आदित्य स एव उदेति नान्ये, तथैव भरिनिवादिद्वादशराजनण्डल स एवाम्बुदय प्राप्नोति यो निन्दिगीयवा निस्तरमुद्योग करोत, नान्ये । तथा चोद्योग एवाम्बुदयस्य मूलम् ।

८१

न खलु नरपति साधारण पुरुष तस्य हि बुद्धिरव प्रधान शक्यम् तस्या एवामोघपातित्वम् । अमात्यादिसत्तराज्याङ्गान्यव तस्यावयवा, तद्बुद्धौ राज्ये राजोपि वैकल्य स्यात्, मन्त्रगोपनमेव तस्य कर्तव्यम् । कर्तव्ये तु शरीरमेव नश्यति, मन्त्रभेदे तु राज्यनाशप्रसङ्गः । चारद्वारैव स्वरराष्ट्रवृत्तान्तवदनाचार्या एव तस्ये क्षणानि, तदभावे राज्ञः स्वरमण्डलवृत्तान्तज्ञानाद् अभ्यन्तस्याभ्यस्येव पदे पदे विनिपातः । दूतद्वारैव तस्य यावान् वाग्मन्त्रहारो जायते इति दूत एव तस्य वाग्, तदभावे मूकस्येव वाग्मन्त्रहारोऽपि सर्वकार्यप्राप्तान्य स्यात् । तथा च राज्ञो बुद्ध्यादिसम्पन्नेन मन्त्रितव्यम् ।

८२

यथा रत्निकं क्री रसानुष्ठेन ओजस्विनी मृकमाणा वा उभरीमपि रचना-
माभवति, शृङ्गारादिषु मृकमाराम्, रौद्रादिषु ओजस्विनीम् न तस्य रचनाविशेष
आमह तथैव समयस्य राजोऽपि तेजसि क्षम या वा नाग्रह किञ्च यथाकाल
पर्यति तथा करोति, अभिषेग्नोचिते काले अभिषेगति, क्षमाकारं च क्षमते ॥

८३

यथा रोगं अपथ्यसेवनेन तरकात् न कचन विचार बहि प्रकृत्यति, पर
कालक्रमेणान्तरस्थितेन तेन विकारेण शाश्वता प्राप्नोति, रोगिण शक्तिक्षयावसर
च प्रकृत्यति, अन्ततस्त निहन्ति च । तथैव चतुरो नृमरिचि परहृताकार काल-
प्रतीक्षया सहेते, नात्मनो मनोविकार बहि प्रकृत्यति, वैर्नियान्तरार्यमन्त्रितमेव

उपायमास्थितस्यापि नरनरयोः प्रमाद्यत ।

हन्ति नोपशयस्योऽपि शयालुर्नृणुन् ॥ ८० ॥

उदेतुमत्यबन्नीहा यान्तु द्वादशानरि ।

त्रिगीपुरेकी दिनद्वदादित्यपि च कन्वत ॥ ८१ ॥

बुद्धिशक्यं प्रकृत्यङ्गी यन्सर्वतिकञ्चुड ।

चारैक्ष्यो नूतमुक्त्वा पुरुष कोऽपि पदिन ॥ ८२ ॥

ते- क्षमा वा नैनात्त क रक्ष्य नरीन्त ।

नैकमेव प्रसादो वा हरन्नाविदं क्व ॥ ८३ ॥

शक्तिर्नयं कृतीति, एवं च अप्रतिपत्तौः सन्, क्षुब्धे क्षणमुत्ते धृतिं तं
विनाशयति । तदुक्तम्—'देदमिषं स्वप्नेन यावत्कालविपर्ययः, तमेव यावत्ते
काले भिन्नाद् धृतीमत्तस्मिन्' इति । तथा च शिशुपालवधेनाय कालः
प्रतीक्ष्यः ।

८४.

यथा दीपः कोमलया तुल्यवर्तिवधैव तीव्रमाह्वयं वरुति, तदभावे तु दूरं
शीलाकर्षणम्, स्वयमेव द्याम्यति, तथैव धान्तिपूर्वकमेव क्षाभतेजः पति, नाम्यथा
अतः पूर्वं क्षन्तव्यमेव ।

८५.

यथा काव्य निमिगाणः भेष्ट कविः द्वाभ्यामंगोरन्यतरं नोपेक्षते, किञ्च काव्यज्ञ-
रीरकानुभवमस्याभवति, तथैव विद्वान् पुरुषोऽपि, न वेदसं दैवमेवावलम्बते,
पुरुषकारं विना देवरात्रिस्त्रिकरत्वात्, न हि पाणिनयन्दमतः संसृष्टमपि
भोभनं स्वयं मुक्ते प्रदिशति । एवं न य वेदो पुरुषकारे विभक्तिः, देवप्रतिपत्तये
पुरुषकारस्यापि धैर्यदर्शनात्, तथा कोमलमपि मिलिषा कार्यसाधकं भवती-
त्युपमत्याभवति ।

८६.

यथा विभाषानुभाषसंनारिभाषाः संभूय आरम्भद्वयोप्यतावादनद्वारा स्वभावेः
स्थापिन एव उपसृजते, तत्कृत एव तेषां भाषारः । तथैव राजानोऽपि धान्त्य-
वसतं प्रतीभमानस्य, तथा वेदान्तं शिशुपालः क्षन्तव्य एव । अथवा यथा काव्ये
प्रसङ्गाद् धर्मिणा अन्ते रथा अङ्गिराद्योपकाराभैश्च, तथैव राजानोऽपि स्थापिनं
नायकमेवोपसृजति ।

८७.

यथा विषयैः द्वात्रोवपप्रयोगकीशलेन देवतास्मरणादिना च महतः सर्वा-

कृतापनारोऽपि परेरनातिभ्रूतविनिधयः ।
अगाधः मुहते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥
गुरुशरवहितं तेषां भोक्तृमर्षा-प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादधे यथाऽऽम्यन्तरस्यथा ॥ ८५ ॥
नाल्यवते दैष्टिकतां न निषीदति वीर्ये ।
शब्दार्थौ परविरिधे प्रथं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥
स्थापिनोऽपि प्रवर्तन्ते भाषाः समारिणो यथा ।
रथस्यैवम भूनापरतथा नेष्टमंद्बोधुनः ॥ ८७ ॥

नपि वशमानयति, तथैव यो नृपति स्वपराष्ट्रवृत्त सम्यगवतुष्यते, स्वपरराष्ट्रयो-
यथायथ सामाद्युपायप्रयोगेण स्वातङ्गमास्थापयति, स स्वराज्यनानायासेनैव निप्रहीतु
शक्नोति ।

८८.

उत्साहशक्ते मन्त्रशक्तिरेव प्रधान मूलम्, मन्त्रपुरस्कर एव उत्साहो विस्ता
रिणी समृद्धिशालिनी च प्रमुशक्तिप्रदायति । मन्त्रोपश्रवा तु निश्चिन्नमूले वृक्षइव
शुष्यति, अतो मन्त्रो नोपेक्षणीय ।

८९.

शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एव आकाशत् स्वमहिम्नैव कार्यदेश व्याप्नु-
वन् शब्दानिव परोत्पादितान् सर्वायानपि स्वकीयता नयति ।

९०.

अरिमित्रादयो द्वादश राजान् पूर्वमुक्त्वा, त एवात्र यातव्यपाणिप्रहादि-
शब्देन विवक्षिता, ते सर्वेष्वन्योन्यस्मात् स्वोत्कर्षमिच्छन्ति, इति स्वोत्कर्षविद्विस्ते-
षां तुल्य प्रयोजनम्, एव तुल्यार्थाभिलाषिण्या तस्या राक्षमालायामधिकृतेजस्वी
शक्तिसम्पन्नो जिगीषुरेव मणिमालाया मन्त्रमणिरिव शोभते ।

९१.

पूर्वं श्लोकप्रयेण शक्तिषपदमभिधायेदानीं पाठगुण्यप्रयोगप्रकारमाह—राशा
स्वपरयोर्मन्त्रोत्साहादिशक्त्यनुसारेणैव सधिनिग्रहादीनामुपयोगं कर्त्तव्यं । इत्य कृते
उत्सामात्यादिसप्तप्रकृतय स्थिरा दृढाश्च भवन्ति । शक्तिमुपश्य सन्ध्यादीनुपयु-
ञ्जानस्तु आपदाक्रान्ते क्षयमेति । यथा रोगी जराजीर्णा वा जन यदि स्वधत्तानु-
सारेण मात्रया रसायनमुपयुङ्क्ते, तर्हि स्वस्थो भवति, तस्य मात्राणि कार्यक्षमता-
मासाद्य कालान्तरेऽप्युपयोगमावहन्ति । अल्पादधिका मात्रा गृहानस्य तु तदेव रसा-
यनं विनाशहेतुर्भवति ।

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।

मुनिग्रहा नरन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रव ॥ ८८ ॥

करप्रचेयामुत्तुङ्ग प्रमुशक्तिं प्रथेयसीम् ।

प्रज्ञासलवृहन्मूलं फलस्युत्साहपादप ॥ ८९ ॥

अनेलपरस्वात्प्रधानस्वाद्दशस्यैवेतरं स्वरा ।

विन्धिगीपोर्नृपतय प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अप्यनारममाणस्य विधोदत्तादिता परे ।

द्वजन्ति गुणतामर्षा शब्दा इव विहायस ॥ ९१ ॥

१२.

यथा यः पुरुषः अशक्यकर्मणो निवर्तते, शक्ये च गमनादावपि यथाशक्ति प्रवर्तते, तस्य शरीरमुपचीयते, परिपुष्टं भवति, यश्च तद्विपरीतमाचरति, तस्य बन्धयःद् दिनाशो निश्चितः, तथैव यो नृपतिः क्षमाकाले क्षमां, व्यायामकाले च स्वशक्त्यनतिक्रमेण व्यायाममनुनिष्ठति, तस्य राज्यमुन्नतं भवति । अतथाहुर्वागस्य तु राज्ञश्चो दुर्निवारः । तथा चास्माकमस्मान्चैद्यावस्कन्दनमभेयस्करम् ।

१३.

यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तनेकमच वर्जयित्वा शेषं तस्यदमनुदात्ताच्च भवति इति वैयाकरणाः । तथा च यथैकस्मिन् पदे उदात्तस्वर इतरान् सर्वानपि स्वराननुदात्तान् करोति, तथैवातिशक्तिशाली चैद्यः स्वशत्रून् एकपदविन्यास एव (तत्क्षये वा) निहन्तुं समर्थः, अत इदानीं नाभियातव्यः ।

१४.

अराधन्मित्रस्य नाद्येन शिशुपाल इदानीनेकाकी वर्तते इति मुखेन जेष्यते इति मा स्म मनति कृयाः । संन्यन्त्येऽपि राज्ञानस्तत्तहायाः, ये चोदासीनास्तेरीदानीं तरिमन्नभियास्यमाने तत्वाहाभ्यं प्रतिपत्स्यन्ते । तथा च यथा रोगराजः क्षयः एकाकी न तिष्ठति अपि तु अन्धेऽपि रोगास्तेन सह वर्तन्ते वतितुं संभाव्यन्ते चेति हेतोः स रोगसमष्टिरुच्यते, तथैवायं शिशुपालोपीदानीं राजसमष्टिरूप इति नास्थारचारः कर्तव्यः ।

१५.

शिशुपालस्य राजसमष्टितानेव समर्थयते यथा शक्यतः वेगगतये योबिनकङ्कपत्रस्तीक्ष्ण शर आरूढप्रत्यञ्जेन धनुषा सयुज्यते, तथैव बाणासुरोऽपि शिशुपालेन

यातव्यपार्श्विग्राहादिमालायामधिकृष्टतिः ।
 एकार्थतन्नुप्रोठायां नायको नायकायते ॥ १२ ॥
 घाद्गुण्यमुत्सुञ्जोत शक्यपेक्षो रसायनम् ।
 भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्यान्नुनि बलवन्ति च ॥ १३ ॥
 स्थाने शमवता शक्यशा व्यादाने वृद्धिरङ्गिनाम् ।
 अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्बदः ॥ १४ ॥
 तदीशितारं चेदीनां भवास्तमवमस्त मा ।
 निहन्तरीनेकरदे य उदात्तः स्वशनिव ॥ १५ ॥

सघास्यति, अयमाभसधि—शिशुपालेन बाणासुरस्य बहूपट्टनमिति कृतञ्चतया बाणासुर शिशुपालेऽभिप्रेष्यमानेऽस्य तत्साहाय्य स्वीकुरिष्यति । न च बाणासुर एकाकी निरलो वेति तत्साहाय्येऽपि न काचन क्षतिरिति मनसि करणीयम्, स हि समुद्भवगं शिशुपालसाहाय्यायोपतिष्ठेत स्वयमपि च स न निराल, अपि तु शत्रुभेदनक्षम, अतोनाय चैद्यप्रत्यवस्कन्दनावसर ।

९६

इहेषानुप्राणितोपमा । विशेषणाना साभिप्रायस्वात् परिकरोऽपि ।

९७

किं च न केवल बाणासुर शिशुपाल सघास्यति, अपि तु यथा श्वान्त रजनी मुषमनुयाति, तथैव दुष्टस्वभावा कालयवनादयोपि तुल्यधर्मतया दुष्टस्वभावेन शिशुपालमेवानुयास्यन्ति ।

९८

रागादय अस्माभि कृतसद्यो भेदानो विराध्यन्ति इत्यपि न मन्तव्यम् । अन्तर्वैरा सहिता अपि काले विशिष्यन्ति । यद्यपि ते कारणान्तरेण भवता कृतसद्य सन्ति । तेषा हृदये तद्विषये वैराग्निरप्रकरूपेण विद्यत एव यदीदानीं शिशुपालोऽभिप्रेष्येत, तर्हि स स्वल्पेनाप्युत्तेजनेन अन्तर्वैरास्तान् त्वत्तो भेस्यति, यथा च वायु अग्निसहितानि काष्ठानि प्रज्वालयति, तथैव तत्कृतो भेदस्तान् पूर्ववैरनिर्यातनार्थं त्वद्विबुधान् विधास्यति ।

९९

जुद्रोप्यैवम्, तादृग् महावीरश्चैयस्तु किम् वक्तव्य इतरिश्चन्देन सूच्यते, इतरन् स्पष्टम् ।

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।

राज्यक्षमेव रोगाणां समूह स महीभृताम् ॥ ९६ ॥

सम्पादितफलस्तेन सपक्ष परभेदन ।

कामुक्तेष्वेव गुणिना बाण संघानमेष्यति ॥ ९७ ॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिन्द्रुमादय ।

सम स्वभावास्तेऽप्येन प्रदोषमनुयायिन ॥ ९८ ॥

उपनाप कृतस्तेन तानाक्षोपवतस्त्वधि ।

आशु दीपयिताऽरूपोऽपि साग्नीनेधानिवानल ॥ ९९ ॥

१००

किंचेदानी चैद्याभियेगने क्रियमाणे राजसु केचित् तत्पुत्र केचिच्च त्वस्पृश
भवलम्ब्य युद्धे व्यापियेरन् इत्य सकलस्यापि राजसमण्डलस्य युद्धव्याप्ततया युधिष्ठिर
यज्ञे न कोऽप्युपस्थातु शक्नुयात् । तथा चैवमनिच्छतापि तस्या मित्रविरोध
कृत स्यात् ।

१०१

तदेव सर्वमिन् राजसग रणभूमिप्रवर्तीर्णे युधिष्ठिरस्य यज्ञसमारोहो विहित
स्यात्, न तत्र कोऽप्युपतिष्ठेत्, एतस्य च मूलकारणं चैद्याभियेगनप्रसङ्गेन सकल
राजसमण्डल युद्धे व्यापारयन् त्वमेव भव, किं च मल्लविघ्नोत्पादनेन त्वमेवाजात-
शत्रो प्रथम शत्रुर्भस्यसे—इति सर्वथा युद्धाद् विरमणीयम् ।

१०२.

यथा कश्चिदेकाकी तस्क्-वे भार वोद्धुमसमर्थं दृढस्क्-ध सहायान्तरमपेक्षते,
तद् द् युधिष्ठिरोऽपि रामेव दृढ त्वसहाय मत्वा यज्ञमारिष्यते, न च तस्या स
कार्यान्तरस्यग्रनाशजेन उपेक्षणीय, यत स पैतृव्यमवावाद् तव बन्धु,
तदुपक्षणे बन्धुद्रोहो विश्वासघातश्च स्यात् । बन्धुरपि दुर्वृत्त शक्यत उपेक्षितुम्,
न स तादृश, किं तु धर्मराज, तथा च तस्या युद्धाद् विरम्य यज्ञ एव
सन्निघातव्यम् ।

१०३

ननु प्रतिज्ञायाकरणे दोष प्रागेव निषेधे तु को दोष इत्यत आह—
उदारहृदयै प्रार्थयमाना शत्रवोऽपि दत्तहस्तावल्गवा भवन्ति, युधिष्ठिरस्तु तव
बन्धुः तदप्रार्थना सुतरां नोपेक्षितव्या, इतरत् स्पष्टम् ।

बृहत्सहाय कार्यात् क्षोदीयानपि गच्छति ।

सम्भूयाम्भोधिमध्येति महानथा नगापगा ॥ १०० ॥

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये बोधये नृपा ।

अभियुक्त स्वयैव ते गतारस्त्वामत परे ॥ १०१ ॥

मल्लविघ्नाय सकलमित्थमुत्साप्य राजकुम् ।

इ-त । जातमजातारे प्रथमेन त्वयाऽरिणा ॥ १०२ ॥

सम्भाव्य त्वामतिमरक्षमस्क ध स वा धव ।

सहायमध्वरधुरा धर्मराजो विवशते ॥ १०३ ॥

१०४.

नवेदानीमुपेक्षितोपि पार्थ पश्चादनुनेष्यत इति मनसि करणीयम्—यत्त-
सहृदयियाचरणेन वैमनस्य प्राणिना मुह्यत पुन शतशस्तदनुरोधनाल्लेनानि
अनुकूलयितु न शक्यन्त । अतस्तद्विरोध सर्वथा परिहरणीय । किं च
चैद्यद्विषयाव का ते एता, क्वान् अथ शो वा शीत चित्तं वा यदा कदापि
शत्रुमभिप्रेषयेत्, तस्य निश्चिना विजय, तथा च यदि निश्चिद्रोहमनुसाराचारि
विजयस्ते निश्चितस्तर्हि, किमर्थं मुना निमुपेक्ष्य ।

१०५.

ननु सुहृत्कामपि ग्या मुरकार्ये दलीय इतीन्द्रसद्वैद्यमनुसूय्य शिशुपालहननेन
देवसतोष एव पूर्वं सपादनीय इति चेत्, सत्यम्, य द चैद्यग्नि-शनेन देव
प्रसादनमेव ते समुद्ध्य तर्हि तदपराय यज्ञेनैव दवाना प्रीति विद्वेषत साधयितु
शक्यते, हविर्मिया वै देवा यज्ञ एव हवीषि लभन्ते नाप्यत्र । (शत्रुवधस्तु
यज्ञानन्तरमपि मुकुर, तथा सति देवानामुभयया प्रीति, हविर्गमिन शत्रु-धनं
च) तथा च मित्रा-निशेधेनापि देवप्रीती सम्पन्नानानाया मित्रविरोधो न करंध्य ।
यज्ञे सन्निघातध्वजव ।

१०६

ननु अमृताग्निो देवा तेषां किमेमि सिष्पुतोवाद्यप्रक्षयप्रत्येगमनैरित्यत आह—
अग्नी निधिपूर्वकम् इत पुरोटाद्यादिद्रवमेवामृतमुच्यत, नान्यदस्त्यमृतान्तरम्
देवासुरैः समूय मन्दर मन्यदग्द प्रकल्प्य समुद्रो मयित ततश्चामृतं प्राटुमृतमिति
तु लोकविनोदाय कनिकल्पनाप्रसूनालङ्कारिकवर्णनाम् ।

१०७.

न केन निरद्वैह एव तवा समामात् प्रतिष्णद्धि अपि तु स्वन्प्रतिष्ठापि, तथा
हि त्वया शिशुपालजननीं प्रति प्रतिष्ठात—यदहं शिशुपालस्य शतननराघान् क्षमिष्ये,

महात्मानोऽनुष्टुभन्ति मच्चनानात् रिपून्प ।

सपत्नी प्राणवत्पञ्चि सिन्धवो नगनिम्नग ॥ १०४ ॥

चिरार्दपि बलात्कागे बभिन दिद्वेदेऽपिषु ।

हन्दानुवृत्तिदुःशाध्या मुह्यदो निमनीकृता ॥ १०५ ॥

मन्यन्तेऽरिष्व-भेवाऽप्रीत्य नाकिनामिति ।

पुरोहाद्यमुञ्जानिष्ठनिष्ठ कर्तनञ्ज्वरान् ॥ १०६ ॥

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्राि हेपु हुहति ।

शोभैव मन्दरहृ-धनुमिताम्भोदिवर्णा ॥ १०७ ॥

न चाद्यापि तदपराधाः शतसंख्यामिताः, ततः पूर्वमेव तद्वधे प्रतिष्ठाभङ्गो महान् दोषः प्राप्नोति, अतः प्रतिष्ठानुरोधेनापि त्वया चैवोऽधुना नाभियेगनीयः ॥

१०८.

सप्तपुरुषाणां बुद्धिर्यद्यपि निशिता तथापि सा न शस्त्रादिवत् परममौलि भिनत्ति, अहिसयैव कार्यं साधयति, तथैव तेषां कर्माणि परास्तत्प्रभावाक्रान्तान् विदधते, परं पीडोत्पादकानि न भवन्ति । एवमेव तेषां मनोऽभिमानव्यवहृतं भवति, न मात्रयाप्यपमानं सहते, तथापि अनुचितात् परसंतापनाद् विरमति । इत्यमेव सत्यसन्धोऽपि सत्यमेव वदति—न जातु तदुक्तं विपर्येति । तथा च सत्यसधस्य— तव प्रतिभृतार्थहानिरनर्हा ।

१०९.

अपराधशतशतमारूपवरदानेन त्वया शिशुपाल, स्वयमनुग्रहीतः, तथा च अपराधशतात् पूर्वं न त्वयापि स हन्तुं शक्यते, वृषेदानो तदभियेगनम्, अपराध-सत्यापूर्तये कालः प्रतीक्षणीयः । यथा सूर्यः स्वयमेव दिनं प्रकाश्य न मध्य एव तदन्तं विधातुं प्रभवति, अपित्वस्तमनकाल एव, तद्वत् ।

११०, १११.

तर्हि शिशुपालः सर्वभेदानामुपदेश एव, नेत्याह, न मे सर्वथा शिशुपालो-पेक्षणे सम्मतिः इदं तु वक्ति, यथा कस्मिंश्चिदज्ञातगाम्भीर्ये महति क्षलाशये कुशल-पुरुषद्वारा जलावतरणसाधनसोपानेषु पादन्यासेन तद्गाम्भीर्यं विज्ञाय तत्र प्रविश्यते तथा सति न तत्र निमग्ननादिभयं भवति, तथैवाभियेगानात् प्राक्—भवतो निपुणा-गुप्तचराः शत्रो राष्ट्रे गत्वा तन् मन्त्रिपुरोदितादिष्वन्तः प्रविश्य—‘क्रियत्यस्य शक्तिः’ कानि चास्य चिडद्राणि’ इत्यादि निपुण गवेधयन्तु, तथा सति शत्रुः सुपरिमवः स्यात् ।

- सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्षयै पितृवृक्षे प्रतिभृतम् ॥ १०८ ॥
- ॥ तीक्ष्णानारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोम्य वागेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥
- स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याहो भानुमानिव ।
समयावधिमप्राप्य नान्तायाल भवानपि ॥ ११० ॥
- ‘कृत्वा’ कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधय पदम् ।
विदाकुर्वन्तु महत्तत्त्वं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

११२

यथा व्याकरणशास्त्र सूत्रानुसारि-यासृष्टिमहाभाष्यग्रन्थैष्यवृद्धितमपि पश्य
शाहिक विना जुग्निमिव न शोभते, तदध्ययनमन्तरेण व्याकरणाध्ययनमसकल
मन्यते, तथैव चारप्रचार विना राजनितिरप्यसमयेव, काम तत्र सकलव्यवहारा
नीतिशास्त्राविरोधेनैव समारभ्येन्, मन्त्राद्यधिकारिण पुष्कलवृत्तय क्रियेरन्,
समये समये ते हिरण्यादिपारितोषिद्यादिनापि समाभ्येरन्, पर नेतावता चारोपे
क्षणं शक्य विघातुम्, चार विना राशोऽन्धप्रायस्वात् न तस्य परराष्ट्रनीति सफला
भवेत्तुमर्हति । अत्र प्रणिधिप्रचारो नितरानावश्यकः ।

११३.

न केवल चारमुखेन परमुखेन परवृत्तान्तज्ञानम्, अपितु शत्रुपक्षे चारद्वारा
उपजापश्च कर्तव्य । तथा हि एतादृशा निपुणा प्रणिधयः शत्रुराष्ट्रे प्रवेतव्या
ये तत्र गत्वा अमात्यादिषु प्रधानपुरुषेषु विस्त्रम्भोत्पादनद्वाराऽनुप्रविश्य
तत्कृपया तत्रैव वैतनिक किमपि राजकीयरदमभिष्टाय तथा निपुण प्रचरन्तु यथा
तद्वहस्य नोद्गाथेत स्वयं च ते शत्रुममं जानीयु । किं च प्रधानामात्यादीनां
कूटनेखान् (सैलिलिखान् स्वयं कल्पितान् वा) सृष्ट्वा सत्यवसरे राश सविधे
प्रकाश्य, 'इमे भन्तप्रधानपुरुषा उत्कोन्नादिना द्विपा दत्तइहदा भवदूराण्य-
मुन्मूलधितु यतन्ते' इत्येव ते महान्त दोषमारोप्य राशो भेदनीया ।

११४.

किं च ये तत्र सुदृढ चैयस्य अमुदृढश्च राजान सन्ति, ते उभयेऽपि स्वतु-
ल्यमेव चैतपरामव कामयन्ते, अतस्ते निपुणै स्वप्रणिधिमिस्तथा संदेष्टव्या
यथा ते अश्वरयात्राध्याजेन युद्धार्थं मुषज्जिता भूत्वा इन्द्रप्रस्थ उपतिष्ठेरन्,
तेषु तत्रागतेष्वनायासेनैव ते महत् कार्यं क्षेत्स्यति ।

११५.

ननु तत्राश्वरे बीदशो युद्धप्रसङ्ग यदर्थं सञ्चितो राजजगं आहूयेत-इत्यत-

अनुसूत्रपदन्यासा सद्बृत्ति सन्निधन्ना ।

शब्दविशेष नो भाति राजनीतिरपस्वशा ॥ ११२ ॥

अज्ञातदोषैर्दोषशैरुद्बुध्योप्रयवेतने ।

मेधा शत्रोरभिव्यक्तशासनै सामवायिका ॥ ११३ ॥

उपस्थिति कर्तार पुरीमाज्ञातशरबीम् ।

रात्र-यका-शुपायशैरेकार्यानि चरेस्तव ॥ ११४ ॥

सविशेष मुत्ते पाण्डोर्मर्कि भवति त-वति ।

वैरायितारस्तरला स्वयं मस्तरिण परे ॥ ११५ ॥

स्तत्र महस्कल्हवीजमुपन्यस्यति—युधिष्ठिरो यज्ञे सम्मिलितस्य तव महान्तं स्तकारं करिष्यति, तथाविधं च ते समुत्कर्षं चैद्य तन्मित्राणि अन्ये च त्यक्तप्रवो न सहिष्यन्ते, असहमानाश्च ते तत्रावश्यं कलहप्रत्वादेयेषु न च विचारयेयुर्न्यायं कृत्वावसर इति यतस्ते तरसा, विवेकज्ञानं दूरतोऽपि न स्पृशेत्—इत्यस्ति यज्ञे महती युद्धसंभावना ।

११६.

किं च शत्रुपक्ष्या सर्वेऽपि त्वां द्वेक्ष्यन्ति, इत्यपि न रमणीयम्, यतस्तेषु सन्ति भृशालो यादवाः ये यद्यपि बाल्याः प्रभृति शिशुपालेन सह मित्रत्वमुपगम्येदानीं तत्समानवैभवमुपभुञ्जते, परन्तु स्वया सह कृत्वावसरे न ते शिशुपालमवलम्बिष्यन्ते यतस्ते स्वान् यदुवशधरान् विज्ञाय स्वया सह विरोधेन स्वभंशविद्वेष न कामयेरन् अथवा परायत्ता अपि ते आत्माभिमानिनो न स्वजातिविरोधे प्रवर्तेरन् ते तदानीं तस्मात् पृथग्भूत्वा स्वामनुप्रविशेषु । यथा विकपोता काकशा-र्क्षे सह एकस्मिन्नेव नीडे काकैरेव सवर्ष्यमाना सति सामर्थ्यं काककुल परित्यज्य स्वकुल-मनुप्रविशन्ति तद्वत्, विकपो निभृतं काकनीड एव स्वाण्डानि प्रमुञ्चते, तानि च काक्यः स्वोयुद्धया रक्षन्तीति लोकवृत्तमज्ञानुसंधेयम् ।

११७

पतङ्गं खलु स्वभावतश्चञ्चलो नैकप्रावतिष्ठते, अनवरतव्यामृतौ तस्य पश्चादप्पतिदुर्बलौ न किञ्चिदप्पसह्यं शक्नुतः स यथा निजनेमिर्निकापलेन प्रो दुर्घर्षां बन्दिशिलामाक्रम्य तत्र सहसात्मानं जुहोति, तथैव तव शत्रवोऽपि निसर्ग-दुर्विनीततया उद्धता सन्ति । परं तेषां पथो दुर्बल । अतस्त्वया सह वैरायिष्य-माणाः तव दु सहतेजसि भस्मसाद् भविष्यन्तीः परमाभिराशास्यते ।

११८.

हरिरुद्धवस्य व्याख्यानं भ्रुत्वा नितर्गं प्रासीदत्, यतस्तथोद्धवः प्रतिविषय नीतिशान्त्रानुसारिणीं सम्यग् विवेचनामकरोत् नीतिरिद्ध बलमद्रोक्तमपि युक्त्या प्रतिचिन्नेव । भ्रन्ते च हरिः सर्वां विसृज्योदस्यात् न चैतस्मिन्स्थाने विहिता

य इहात्मविदो विपन्नमध्ये सहसृद्धियुक्तोऽपि मूञ्चतः स्यु ।

बलिपुष्टकुनादिवान्यपुष्टैः पृथग्भरमादविरेण भाविता तै ॥ ११६ ॥

सहस्रचापलशोषसमुद्धतश्चिन्तितुर्बन्धुगसिग्रहः ।

तत्र दुरासदवीर्यविभावशी शलभतां लभतामसुहृदृण ॥ ११७ ॥

इति विशकलिनार्थामौद्धवी वाचमेना

मनुगतनयमार्गामर्गला दुर्नयस्य ।

मन्त्रणा कस्याप्यन्यस्य भ्रुतिपधनवतीर्णा, यद्यपि हरिवक्षस्थलवासिनी भीरिया
 भ्रुतिगोचरमकरोत् तस्याश्च स्त्रीस्वभावात् कदाचिदस्या प्रकाशनं समाप्यते
 तथापि नात्र तथा सभावनावसर यत्र सा नित्यं हरिवक्षस्थलवासिनी न
 शगमपि हरे पृथग्भवति इति दुर्लभस्तत्प्रकाशनावसर ।

इति शिशुपालवध महाकाव्ये द्वितीय सर्ग ।



कवि-काव्यशब्दौ

गरीयान् खलु सस्कृतवाङ्मये कव काव्यस्य च महिमा । शब्दाविमौ कुत
प्रभृति कस्मिन् कस्मिन्नर्थे प्रवृत्तानिति विषयेऽस्मिन्नाद्युनिक्कीम-वेषणप्रक्रियामनुसृत्य
प्रवर्तोमहे चेत्, जगद्वाङ्मये सर्वप्राथम्येन पाश्चात्यैरभ्युत्थितकृतायामुद्देशिताया
मेव बहुश शब्दाविमौ शृणुम । तथैव यजुसादिसहितास्वपि । तत्र कियत्तिलि
दर्शनानि—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषद्वेषो देवानामभव शिव सखा ।

तव व्रते कवयो विद्वानापसोऽजायन्त मन्वो भ्राजदृष्टय ॥

[ऋ० म० १ सू० ३१]

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तम कविदेवानां परिभूयसि व्रजम् ।

[ऋ० १ । ३१ । २]

आय पुर नार्मिणीमदीदेदस्य कविर्न मन्यो नार्वा ।

[ऋ० १ । १४९ । ३]

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कवि

प्रास्तावोद्भद्र द्विपदे चतुष्पदे । [ऋ० ४ । २४ । २]

इत्यादिषु प्रचुरेषु म त्रेषु अग्निवासादित्यादिदेवविशेषणतया कविशब्द
भ्रूयते । 'कान्तदर्शन' 'मेधात्री' इत्येवपरतयैव च तत्रतत्र भाष्यकारैः श्रीमाधवा
चार्यादिभिर्न्याय्यते । अतीतानागतविप्रकृतविषय युगपज्ज्ञान यस्य स कान्त
दर्शन इति वदमाध्यकृदुवम् आह ।

'यो अश्वराय परिणीयते कवि' [ऋ० ३ । २ । ७]

अग्निहोता कविकतु [ऋ० १ । १ । ५]

इत्यादिषु कविकचित्तु 'कान्त-यात' 'कान्तकर्मा' इत्येवपरतया भाष्यकृता
-यात्यात ।

विधेम्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्तरि

एवह जनत्सास्र सास्र कवि [ऋ० २ । २३ । १७]

इति ब्रह्मगतरतिदेवताके मात्रे 'साम्न कविहृद्यारयिता' इत्येव व्याख्यात
श्रीसायणाचार्ये ।

धीरासो द्विष्टा कवयो विरश्चिन्तान् एना ब्रह्मगा वेदयामसि ।

[ऋ० ४ । ३६ । ७]

इत्यत्र ये मानुषेषु कर्मविशेषाननुष्ठाय देवत्वमाप्तास्त ऋषयः कविशब्देन
विशेष्यन्ते । अत्रापि 'मेधाविन' 'क्रान्तदर्शन' इत्येव व्याचक्षत व्याख्याकृत ।
कविर्मनीषो परिभू रजयम्पूर्वायातध्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतोम्य समाभ्य । [यजु अ० ४०]

इति याजुषे मन्त्रे तु साक्षादीश्वरविशेषगतयैव कविशब्दो भाष्यकृद्भिर्निर्याज्यात् ।
अत्रापि 'क्रान्तदर्शन' 'सर्वद्रष्टा' 'मेधावी' इत्यर्थ एव व्याख्याकृताममोष्ट ।
उज्वगदयस्तु उपासक मनुष्यविशेषगतयैवात्र कविशब्द नयन्ति— इत्यास्तां
तावत् । अथ—

'तत्त इन्द्रिय प्रथम पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् ।'

[ऋ० १ । १०३ । १]

'धीरास पद कवयो नयन्ति नानाहृदा रक्षमाणा अयुष्यम् ।'

[ऋ० १ । १४६ । ४]

'अज पुरो नीयते नाभिरस्थानुपश्चात् कवयो यन्ति रेमा ।'

[ऋ० १ । १६२ । १२]

वामे वक्ष्येऽधिसततन्तून् वितन्विरे कवय ओतवा उ ।

[ऋ० १ । १६४ । ५]

इत्यादिषु तु बहुलेषु मन्त्रेषु मनुष्या एव कविशब्देनारणयन्ते । 'स्तोतारः'
'ऋत्विज' 'विद्वांस' 'मेधाविन' इत्येव च तत्र तत्र भाष्यकृता व्याख्या ।

'अचिकित्वास्त्रिकितुपश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मन्तेन विद्वान्
वियस्तस्तम्म षडिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि सिद्धैकम् ।'

[ऋ० १ । १६४ । ६]

कतरा पूर्वा कतरा परायो कया जाते कवय को विवेद ।

[ऋ० १ । १८५ । १]

कवीर्यं पुन स इमा चिकेत । [ऋ० १ । १६४ । १६]

कवीयमान क इह प्रवोचत् । [ऋ० १ । १६४ । १८]

इत्यादिषु तु पण्डितभ्रमण्या कविशब्देन कर्णाश्यन्ते ।

अथ सोमस्तुतिपरे मन्त्रे—

ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनामृषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम् ।

[ऋ० १ । ९६ । ६]

इत्यत्र 'कवीना श्रान्तप्रशानाम् पदवी इल्लन्ति पदानि सप्तुत्वेन यो योज
यति स पदवी—राजा' तद्ब्रह्म इति माघवन्धारणामनुसरय कविशब्देन
विद्वत्सामान्यमभिधाय पदयोजकास्तद्ब्राह्मणेन तेषु मुख्यत्वेनाभिहिता इति
प्रतीयते ।

निरुक्तपरिशिष्टे तु (१४ अ० १३ ख०) 'एष हि पद वेत्ति कवीनाम्-
कवीयमानानामादात्परश्मीनाम्, इत्यादिदैवतम् । अयमपि पद वेत्ति कवीनाम्
कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्' इत्यादिभ्यः । वैज्ञानिकपारत्वेन व्याख्यातोय
मन्त्र । तत्र कविशब्दस्य स्वार्थमयो वा इन्द्रियाणि वा वाच्योर्थ इति अन्यदपि
तत्र तवानुसंधेयम् ।

काव्यशब्दोऽत्र द्वेषा श्रूयते मन्त्रेषु पुल्लिङ्गश्च नपुंसकलिङ्गश्च । तत्र पुल्लिङ्ग
प्रायेण उशनसो वाचको व्याख्याकृतामभीष्ट —

[ऋ० १।८३।५, १।१२१।१२ ऋ० १०]

'काव्ययोराजानेषु श्रुत्वा दभस्य दुराणे ।

विशादता सघस्य आ । [यजु० २३।७२]

इत्यादिषु तु क्वचित्निन्नाश्रुणादिदेवनान्तरपरतयापि श्रूयते । काव्ययोः
कविद्वितीयोरिति तत्र भाष्यकृता महीधरादीना व्याख्या ।

चरुो वा मधुमदचो शधीन् काव्य कवि । [ऋ० ८८ ११]

इत्यत्र च 'काव्य विद्वत्पुत्र' 'कवि-मघानी' इति श्रीमाधवाचार्यस्य
व्याख्या । अत्र कविसंबन्धी कविपुत्रो वा पुत्रि काव्यशब्दस्यार्थो दृष्ट, उशनसि
शब्दस्यास्य प्रवृत्तिरपि भृगो कवित्वमभिप्रेत्य तत्पुत्रत्वादेवेति प्रतीयते ।

नपुंसकलिङ्गस्तु काव्यशब्द —

'अस्मा इत्कास्य वच उक्थमिन्द्राय शस्यम् [ऋ० ५।३९।५]

प्र कायमुशनेव ब्रवाणो । [ऋ० ९।९।७]

इत्यादिषु कविकृतिभूतस्त्रीवादिवाचकतया श्रुत —

'आत्मा यशस्य रक्षा सुधाण पते सुत

प्रतन निपाति काव्यम्' [ऋ० ९।६।८]

'विधु दद्राण समने बहूना युवान सन्त पतितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्य मादस्वाद्यो ममार स ह्य समान ॥'

[१०।५५।५]

इत्यादिषु तु सामर्थ्यवाचकतया व्याख्यातो भाष्यकृद्भि ।

यशस्य भारमभूतः सुत सोम यजमानेषु कामान् प्रेरयन् वगैर पवते,
भारमन कश्चित् च निपाति रक्षति । इतः प्रयत्नस्य व्याख्या । तथा च सोमगत
सामर्थ्यमेव काव्यशब्देनोक्तम् । देवस्य कालात्मकस्येन्द्रस्य महत्त्वेनोपेत काव्य
सामर्थ्यं पश्यत जना, यो जरसा प्रातोऽद्य ममार, स ह्य परे ह्य समान सम्यक्
चेष्टते पुनर्मान्तरे प्रादुर्भवतीति-द्वितीयस्य व्याख्या । तत्र ह्य एव विचित्र-
सामर्थ्यबोधक काव्यशब्द । यजु संहिताया च—

'काव्य छन्द' (यजु १५।८)

३२ च० सं०

‘पुत्रमिव पितरावश्विनो मेन्द्राव्यु काव्यैर्हृषनामि’ (यजु १०।३४)

इत्यादिषु ‘अथी विद्या कान्य उन्द’ इति शतपथब्राह्मणमनुसृत्य ‘कवेः परस्परान्त इद काव्यं वदत्रयोरूप उन्द’ इति महाधरो व्याचल्यौ प्रथम, तथै वोच्यतेऽपि । द्वितीयैऽपि ‘का वै मनै हृषनामि कर्मभिश्च’ इति भाष्यकृता व्याख्या ।

ब्रह्मणोऽपि शब्दाविनो बहुधा अती । तथापि—

‘अथो वा भादित्य कव’ (शतपथे ६, ७, २, ४)

इत्यादौ बहुत्र देववाचक कविशब्द,

‘थे वै ते न श्रुष्य पूर्व प्रतास्ते वै कवय’ (ऐतरये ६।२०)

इत्यादौ पितृवाचक ।

ये वै विद्वांसस्ते कवय (शत० ७, १, ४४)

‘सीर च युञ्जति युगानि च वित-जते’ इति मन्वगतेन कविशब्देन सीरयोजन प्रकार सम्यग् जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थे” इति भाष्यमनुसृत्य कृतिकुशलविद्वद्वोधक ।

‘थे वा अनूचानास्ते कवय’ (ऐतरे ०२, २, ३८)

‘एते वै कवयो यदपय’ (शत० १।४४)

‘शुश्रुवासो वै कवय’ (तैत्ति०।१।२३)

‘तत्र प्रणीती तत्र शू’ शमनाविवासन्ति कवय सयशा’

(शत० ४।३।३।३३)

इत्यादिषु च कान्तदर्शनमेधाविद्विद्वाचक । काव्यशब्दश्च ‘काव्य उन्द’ (शत० ८।५।१।४) इत्यादौ ‘वेदप्रयोरूप उन्द’ इति महाधरादिव्याख्यामनुसृत्य कविकृतिशोधक इति मन्वगदेव व्य कृतिर्हृषणा ।

पुराणेष्वपि च—‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये’ (श्रीभागवतम्)

इत्यादिषु ब्रह्मणो वाचकम् ।

‘कश्माद्भजन्ति कव्यो घनदुर्मदा धान्’ (श्रीभाग०)

‘किं कर्म किमकर्मोति कव्योऽप्यत्र मोहिता’ (भगवद्गीता)

इत्यादिषु मेधावि-विद्वद्वाचक च कविशब्द कविकृतिवाचक च काव्यशब्द बहुत्र पश्याम एवेति किं बहुना विस्तरण ।

अथ कोष व्याकरणरीत्यापि शब्दयोरनयोर्विचनमावश्यकम् । तत्र निघण्टु पदाभेदे वदिक कोषे ‘कवि’ इति मेधाविनामसु पठित, च ३ (अ० ३) शयर्थकेषु घातुष्वपि च तत्र ‘क-ते’ इति हृष्यते (अ० २) तद्भाष्यकृद्भगवान् यावद्व्य निश्चिं ‘कवि कान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा (अ० २ ख० १३) इति काव्यशब्द व्याचरयौ । प्रथम यावयाथा ‘क्रमवि’ शब्दाकविशब्दनिष्प

त्तिरिति यास्कस्याशय उन्नेयत । अनयैव शैल्या तेन रुडशब्दानां व्युत्पादनं कृतम् । 'क्रान्तं शश्वत् दर्शनं ज्ञानं यद्येति व्युत्पत्तिश्चम्प्योऽर्थो निघण्टुप्रोक्तमेधाविवाचकत्वं न विप्रवदते इति तु स्पष्टमेव । व्याख्याकृद्देवराजयज्जा तु क्रमघातोरेव वर्णविचारणं कविशब्दनिष्पादयति, तथैव तत्प्राक्तनं शब्दस्वाम्यपि । तन्मते ज्ञानरूपोऽर्थोऽप्याहारस्य इत्यास्ता नाम । कवतेर्वा इति द्वितीयेषु पक्षे 'गरयथा ज्ञानार्थी' इति चिरप्रवृत्तामभियुक्तोक्तमाश्रित्य निघण्टुका मेधाविवाचकता समर्थनीयतामात्रमेवेति । 'कवते' इति 'कव' धातुरयं दन्त्यौष्ठघान्तो निर्दिष्ट इति केचित् । 'कुङ्' मत्तिशोषयो' इति उकारान्त एव शया निर्दिष्ट इति तु देवराजयज्जा । भगवन् पाणिनेर्वातुनाठे तु दन्त्यौष्ठघान्तं कवधातुनं दृश्यते । तत् एव—

‘विद्वान् विपश्चिदोपच सन् तुधी कोविदो बुध ।

धीरो मनीषी च प्राञ्ज सख्यावन् पण्डित ऋषि ॥’

(अमर० २ का ब्रह्मवर्ग)

इति पण्डितनामसु पठित कविशब्द 'कुङ् शब्दे' 'कुङ् शब्दे' इति पाणिनीयाभ्यां धातुभ्यामेव व्युत्पादयति व्याख्यासुधाकृदादयः । मुकुटादयः कश्चित्तु 'कवृ वर्णे' इति धातो कविशब्दं पुदपोपन्, तन्मते कवृधातुर्दन्त्यौष्ठघान्तं स्यत्, बवयोरभेदो वा तैर्विवक्षितं स्यादित्यन्यदेतत् । निघण्टुरीत्या ज्ञानार्थधातुना कृते व्युत्पादने अमरोक्ता विद्वद्वाचकता भिष्यति । शब्दार्थकाम्या धातुभ्यां व्युत्पादने तु शब्दयोचकत्वात् कविशब्दार्थे कोटीकृतं भवतीति विरोधो विवेचकैरनुलक्षणीयः । मुकुटादिरीत्या 'कवृ वर्णे' धातोश्च यदि कविशब्दो व्युत्पाद्येत तदा 'वर्णाचरणर' इति व्युत्पत्तिश्चम्प्योऽर्थो लक्षणादिना समवीयताम्, धातूनामनेकाश्रयता वा कामधेनुमाश्रित्य सर्वं समाधीयतामिति विद्वांस एव प्रमाणम् । कोषेषु मेदिनीकारस्तु—

‘कविर्बाल्मीकिश्चाव्ययो । स्रौ काव्यकुरे पुष्टिं स्यात् खलीने तु योषिति’ इति कविशब्दार्थान् सङ्ग्राहः ।

तदित्य कविशब्दोऽनेकार्थ एव मत्तव्य, अनुगत वा प्रवृत्तिनिमित्तं किञ्चिदाश्रित्य प्रवृत्त क्रमेण बहुत्र प्रवृत्तोभूदात् गवेषगाया सर्वं पूर्वोक्तमालोच्येदं न प्रतीयते—यत्तत्तत्कार्यं चरणरत्वापरपर्याय नैपुण्यमेव ज्ञानानिश्चयजन्ममादात्स्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तनासीत् । सर्वत्राव्याहता गतिरनेन नैपुण्येन भवतीति गत्यर्थेनैव धातुना पुत्रादनस्यामित्तं पूर्वोक्तार्थाणां निघण्टुसूत्रसूत्रीनाम् । उदाहरणपूर्वेषु मत्रेषु अग्निवासा दत्त्यादिविशेषगतया प्रवृत्त कविशब्दो नैपुण्यवतिरिक्तेऽर्थेन सामञ्जस्येनोपनादयितुं शक्यं केनापि । विशयत —

* काव्योऽत्र लक्षणा ।

विन्दारूपाणि प्रतिमुद्रवते कवि

प्रास्तावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे ।

इत्यादिषु नैपुण्यल्प पदार्थं स्फुन्तर प्रतीयत एव । नैपुण्यवान् निपुण-
कवि शब्देन तस्य तत्तत्कार्यकौशलपरपर्यायं नैपुण्यमेव च कविकर्म काव्यशब्दे
नाभिहित मन्त्रेषु यत्र तत्र । कविगत सामर्थ्यपरपर्यायं नैपुण्यम्, तेन नैपुण्येन
रुपाद्यमाना कविकृति, तादृशकृतिरन्यास्ते ते अर्था शब्दा वा कविकर्मतया
भवन्ति काव्यशब्दाभिधेया — 'देवस्य पश्य काव्य महिरशयो ममार स ह्य
समान' । इत्यादिषूदाहतेषु कौशलम्, नैपुण्यम्, सामर्थ्यं वा विहाय नावोऽर्थ-
सामञ्जस्येनोपपाद्यते । तदेतन्नैपुण्य मेधातिशयजन्यमेव लोके दृश्यत इति मेधावि-
नामस्तु क्वचिदपाठस्तादृश भाष्यकृतां तत्र तत्र व्याख्यानं च न मनागपि
अर्थान्तरतामास्कन्दति । तथैव क्रान्तकर्मतापि तत्र तत्र माधवाद्युक्ता नार्थांतरमे-
तस्मान्नैपुणात् । इमानेव घर्माज्जिम्बित्तीकृत्य सर्वनैपुण्यैकभाजने सर्वत्राभिव्याप्तकर्म-
णि सर्वज्ञानैकनिधाने भगवति जगदीश्वरे तद्विभूतिभूतैश्वर्यविवाद्यादित्यादिषु जगद्-
व्यापारपरिचालकेषु विशिष्टकौशलवत्तया ख्याते भृगूशन प्रभृतिव्यक्तिविशये विशि-
ष्टकृतिषु मेधाविषु मनुष्येषु च तल्पमेव शब्दीय व्यवहृत्स्वत्र तत्र । यस्य तु विना
विशिष्टप्रज्ञो विशिष्टकर्मा वा, स काव्यशब्देनारि व्यवहृत इति न्यदर्शय प्राक्-
एकत्रैव कवि—काव्यशब्दावपि न्यदर्शयमिति मन्ये नान सतीतिरवशिष्येन ।

शब्दोऽर्थश्चेत्युभयमपि प्रपञ्चान्तर्भूत जगदीश्वरकृतिरिति चिरन्तना भारती
यविचारा ।

शब्दजातमशेषं तु घत्ते शर्वस्य वल्गुभा ।

अर्थजातमशेषं तु घत्ते मुग्धेदुशेखर ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इत्याद्या शतशोऽभियुक्तोक्तयः शब्दस्य प्रपञ्चस्य पृथक् महिमातिशय
रुपापयति । किमन्यत्—प्रथमं शाब्द एव सर्वं शाब्दात्प्रपञ्चादनन्तरमर्थ इति
विद्वान्तोय भारतीयानां दार्शनिकमूर्द्धन्यानाम् । शतपथादिषु ब्राह्मणश्रुतिषु शतशो
'वाच एव लोकान्' 'अथ्या विद्याया' सृष्टिं भावते । 'वाग्वा इदं सर्वम्' इति
षण्णवोध धोषयति भगवती भ्रुति ।

'धदशब्देभ्य एवादी पृथक् तस्याश्च निर्गमे' (मनु)

'अनादिनिघन्तं ब्रह्म शब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।

चिन्तितेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥' (हरि)

इत्यादि च षडे पदे प्रादुरभियुक्ता । भारतामेवोऽप्राग्विकी दार्शनिक
कथाभिन्तर, इदमेवास्माकमत्र प्रतिपिनादयिषितम्—यदर्थयोजनानैपुण्य शब्दयोज

नानैपुण्य चेत्सुभयमपि निदर्शितेषु मन्त्रेषु कविकाव्यशब्दाभ्यां तत्र तत्र विवक्षित-
मासीत् । विशिष्टकृतिमस्तुविशिष्टप्रश्नेषु च तुल्यमय कविशब्द प्रायुष्यत, पर
कालक्रमेण विशिष्टकृतिषु तद्व्यवहारो विरलता गतो विलुप्तो वा, विशिष्टप्रश्नेषु तु
प्रवृत्त इति पुराणादिषु विशिष्टप्रतिद्वन्द्वोद्योगमेव कविशब्द पश्याम ।

ततोऽप्यनन्तरं तु विद्वत्सामान्येऽपि प्रवृत्तिर्निवृद्धा, विद्वद्विशेषेष्वेव तु शब्द
योजनानिपुणेषु प्रवृत्त प्रवाह । अर्थयोजनानैपुण्यात्प्रत्यावृत्तः प्रवाह शब्द
योजनानैपुण्य एव प्रसृत इति नैपुण्यविशेष एव सकोचमाप कविशब्द ।
नेदमाभ्यर्थस्थानम् । दृश्यते हि 'हूना' शब्दानां विशेषबोधकानां सामान्यार्थं
वाचकतापरिणति । यथा अनुकूल प्रतिकूलकुशल तैललाभ्यादिवशब्दानाम् ।
बहूनां सामान्यबोधकानां विशेष एव निरूढि । यथा—योगतप-संस्थित
शव लिङ्गादिशब्दानाम् । तथैव पूर्वं सामान्ये प्रवृत्त कविशब्द क्रमेण विशेष
परसामाससाद । ददानो ह विशेषादतिविशेषपरत्वेन परिणतिक्रमास्तय शब्दस्या
एव दुर्दशाऽवलोक्यते यज्जगन्नियन्तरी जगदीश्वरे प्रधानेषु देवतेषु प्रतिभामेघा-
कोपेषु महर्षिषु चासीद्यस्य प्रवृत्तिं सोयमद्यादरदरीपरिपूरणाय तत्तत्सामन्तस्तुत्ये
कपरेषु चाट्टुशतकुशलशब्देन यवलिष्ठते । राजपुत्रप्रान्ते हि चारुण भाटेतिप्रसिद्धानां
जातीनां पुरुषा एव कृतेचिदध्वरयोजकाः प्राक्तनयोजनापाठका वा 'कवित्री'
'कवत्री' इति संबोध्यन्ते । त एव च शब्देनानेन बुध्यन्त इत्यस्मान्मन्त्रुद
वृत्तम् ।

एते कृतिरेवोच्यन्ते काव्यमिति कविशब्दस्य यथा यथा विशेषपरता,
तथा तथैव काव्यशब्दस्यापि, इति नेद विशेषवक्तव्यमपेक्षते । ईश्वरदेवतादिसाम-
न्वयबोधक, ईश्वररचित्रशब्दार्थमयप्रबोधक, वेदमन्त्रबोधक, रामायणादिवोध-
कश्चायमपि शब्द क्रमेण तथा दुर्दशामापद्यत यथा—'कापालपात्रं वर्जयेत्'
इति निषेधदिपयताऽस्य शिरसि पतिता । 'काव्यमिदम्' इति वाक्यस्याभिप्राय
एवेदानीमयमेव प्रकृतोभवति यन् सयाद् दूरमपेत कल्पविद्विषयस्य व्यक्तिविशेषस्य
वा प्रशंसामात्रमिदमिति । भवतु यद् मृतम् । न विवेचकास्तव प्रभव । अस्मा-
मिस्तु शब्दशक्ते क्षम एवालोच्य ।

काव्यलक्षणानि

यत् प्रभृत्यन्कारशास्त्रस्य साहित्यान्तरपर्यायस्य प्राकृत्यम्, प्रन्वार उद्यतिर्वा,
तत् एव कालादपरोरि विशेषाऽत्र शब्दार्थे समिविष्ट, क्रमेण दाढर्थं गतश्च यत्
कवले योजिता शब्दा एव काव्यम्, अपि तु यच्छ्रवणादनुसधानाद्वा सम्पन्नमात्रस्य
एदि कानिचन कृतिद्वये, एच्चनकृतिजनकतापरपर्यायसौन्दर्यपूर्णं वर्णनं काव्यमिति ।

यद्यपि शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च वदमन्त्रेषु, स्मृतिसु पुराणेषु च सर्वत्रैव बाहुल्ये-
नोपलभ्यन्ते, लक्षणादिनिरूपणमपि च तेषामग्निपुराणादिषु दृश्यते तथापि क्रमवद-
त्तन्निरूपणं शास्त्रप्रतिष्ठापनस्यार्थोक्तनम् । यथा यथा च शास्त्रस्याप्युन्नतिरभूत्,
तथैव काव्यस्य दार्थशोधकं तल्लक्षणेऽपि विविधैः प्रकारैः सौन्दर्यस्य निवेश
आधिक्यमाप । वक्रोक्तिजीवितकारस्य मतमनुसृत्य यदि ब्रूम — तर्हि सरलतया
कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादनं न काव्यम् । अपितु वक्रोक्त्या *घूर्णनेन क्विकुलक्षुण्ण
पद्धत्या तत्तदर्थभिधानमव सौन्दर्यप्रयोजकम्, तदेव च काव्यमिति । नेदमिदानीं
कथयितुमावश्यकम्—यदियं पद्धतिरेव सहृदयेतरूपहरणमना काव्यशब्दायै
निश्चारात्मनि प्रावेशयत् । काव्यशब्दायै च यदादिम्यं समकोचयत् ।

इदं स्वन स्मरणीयं वर्तते—यद् विलुप्तप्रायाप्यर्थवाचकता काव्यशब्दस्या-
लंकारिकैरेते पुनरुज्जीविता । पूर्वं बिल कृतौ ज्ञाने वै शब्दप्रमाणो निपुणा कविश्च
वाच्यो अभूवन् । तदीयं कर्म चार्थं शब्दश्रेत्युभयमपि काव्यतया गण्यते स्मति प्राक
प्रत्यपीपदम् । यदोन्द्रवाक्स्वनिस्पर्शाद्या कवयः तर्हि तेषां कर्मभूता इमे जागता-
पदार्था कृतो न काव्यानि स्युः । क्रमेण तु ज्ञाने वैशिष्ट्यम्, शब्दविषया कृति
श्रेत्येव कविकाव्यशब्दयोगुणप्रधानभावेन वाच्यतयाऽवशिष्टे इति निरूपितं विस्त-
रेण । तेन शब्दप्रात्रभ्यैव काव्यपदव्यवहार्यताऽवशिष्यते स्म । परमालंकारिकैरेक द्वौ
वा विहाय सर्वैरेव काव्यलक्षणेऽर्थस्यापि निवेशं कृत्वार्थस्यापि काव्यपदवाच्यता
पुनरुज्जीविता ।

यद्यपि—

‘अपारे काव्यसंधारे कविरेव प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तत ॥’

इति चिरन्तनाभिषुक्तोक्तिदिशा कविप्रतिभाप्रकल्पिता एवार्था काव्यतया-
मिमता आलंकारिकाशाम् इति सरयम् । अन्ये हि प्राकृता अर्था तद्विलक्षणाभ्यान्व-
एव कविप्रतिभाप्रकल्पिता । प्रसिद्धादिमालयाद्विलक्षण एव कालिदासस्य
हिमालय, यत्र दीप्तिमन्सौषधानि विद्याधरकामिनोनामतैलपूरा सुरतप्रदीपा
भवन्ति । अन्य एव च कालिदासस्य समुद्रो यत्र फना नकाणां कर्णचामरता
भजन्ति । अन्य एव कवीनां चन्द्रो यो निष्ठाकामिन्या कर्णपूरायने, गगनसरसि
वा राजहंसयते । प्रसिद्धा हिमालयसमुद्रचन्द्राद्या क्वचित्कदाचिरकस्यन्तिदुद्वेजका
अपि स्युः परं कालिदासादीनां हिमालयाद्यास्तु सर्जदेवाडादजनका इत्यादि
निरूपितमालंकारिकैरेव विस्पष्टतया । तथापि ‘न ह्यनाधारा कल्पना विज्ञमते’ इति
मनोविज्ञाननियमनाश्रित्य कविप्रतिभाप्रकल्पितादीनामाधारभूतास्तु प्रसिद्धा

* ‘शुभाव देकर’ इति भाषायाम् ।

हिमा ल्याद्या एवेति तेषामपि परम्परया काव्यशब्दस्य कथंचित्प्रसङ्गत एव । सोय प्राक्तनानामालंकारिकणामर्थस्य काव्यवाच्यतानुप्रवेशप्रवाह साहित्यदर्पण-
कृता धीविश्वनाथकृतिना पुनर्निरूढ । स हि 'वाक्य रसारमक का य' मिति वदन्
शब्दस्यैव काव्यत्व व्यवसातिष्ठत् । चित्रानन्दम्—यच्छब्दमात्रस्यैव काव्यत्वमुप-
गच्छनापि तेन दृश्य श्रव्य चेत्युभयविध कव्य स्वीकृतम् । शब्दस्य दृश्यता कथं
भवदिति स एव महामति प्रष्टव्य स्यात् । युज्यता वा अष्टादशभाषावारत्रित्या-
सिनीभुजङ्गस्य तस्य चतुर्ध्वस्वाच्छब्दस्यापि चानुपयता दृश्यता, पर यदर्थ-
लक्षण रचित तेषा साधारणाना मनुष्याणां तु नैतद्यु देत ।

न चार्थद्वारक शब्दानां दृश्यत्वमिति शक्य समाधातुम् अन्वयावेषवति
प्रसङ्गे । 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज' इत्यादीनां
श्रव्यकव्यानामर्था किमु दृश्या न भवति । तस्माद्यत्र कविप्रतिभासत्रिवेशितास्ते
तेऽर्था अभिनीता प्रत्यक्षनामापद्यन्ते तदेव दृश्य का य मन्वयमिति अर्थानां
काव्यवाच्यतानुप्रवेशन तरेण नैतद्युज्येत वक्तुम् । तथैवान् क्लृप्ते रसारमकतायां
काव्यत्वप्रयोजकतायां तेन महाभागेनारथ्यमाग्रह कृत । अग्रे तु काव्यप्रकाशादी-
ननुकुर्वता च्छब्दकारादिप्राधान्याप्राधान्यादिकृता भ्रमिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिभेदा-
स्तथैव निरूपिता इत्यपि वैचिन्त्यम् । काव्ये प्रधान यस्तु, बलकारो वा आत्मा
तु तत्र रस एवेति कस्तावदनुमत्त एतदभ्युपगच्छतु ? दुर्दैवश्लाहास्यमनुभवद्रा-
जलक्ष्मिन् कविद्रोषि परायत्ततामापद्यते इत्यादिसमाधानानि तत्र तत्र
दृश्यन्ते, पर तथात्वे आत्मत्वमपि रसस्य कथं प्रत्यभिज्ञायेत ? न हि राजवल्लभं
तदात्वे स्वोचितकर्मप्रयोजक भवति । यद्यारमा, न पर प्रति गुणीभूत । यदि
तु गुणीभूतस्तर्हि नामैत उभयतः पारोक्ष्य रक्षतु । एवमेवापारमणीया बहवो
विचारा दर्पणे प्रतिभासन्ते । उपदुक्तमेव च दर्पणस्य भ्रान्तिप्रयोजकत्वमित्यास्ता-
मप्रकृतचर्चा ।

अशेषशेषुषीष्टम्पन्नेन पण्डितर जेत्यन्वयोराधिधारिणा धीजगन्नाथत्रिशूलिनापि
शब्दमात्रस्य काव्यत्वस्वीकारे विश्वनाथ एवानुकृत इति तु परमाश्रयम् । नास्त्य-
र्थेषु काव्यशब्दव्यवहार इत्येव पण्डितराजस्य प्रधानतमा सुक्ति । मन्वे कालदोषा-
च्छ्रौता व्यवहारा (येऽस्मानि पूर्वमुपदर्शिता) न तस्य दृष्टिपथमनुप्राप्ता ।
दृश्य काव्यम्' इति स्फुगेरि व्यवहारस्तेन गौण इत्युपेक्षितम् । लोक दृश्यमाना
नदीपर्यन्ताद्या काव्यशब्देन नाभिलष्यन्त इदानीमित् सत्यम्, पर कविप्रतिभाप्र-
कल्पितानामार्थानां काव्यस्यै को विवाद इति क्विमुद्दयेनापि तत्र नालोच्यत इत् ।
या तु काव्यप्रकाशे दूषयता तेन 'क न भूतमर्थान् न ज्ञत' इति व्यवहारानुप-
त्तिरुद्भाविता, सा स्वयच्छेऽपि समानेति व्यस्तस्यपण्डितेन्द्र । 'रमणीयार्थप्रतिवादकः
शब्द भूत, अर्थस्तु न ज्ञान' इति पठति । अपि समुच्चिनोय व्यवहार । शब्द

स्वार्थो न बुध्यते, तदीयमर्थप्रतिपादकत्वं तस्मिन्नेव रामणीयत्वं च बुध्यते—इत्यहो
वैदग्ध्यम् ॥ ततश्च काव्येन काव्यपदार्थप्रविष्टुषामिमं गीगा व्यवहारा इति न
तदन्तरणेन कस्यचित् काव्यलक्षणं दूषयितुमुचितम् ।

यदपि च 'एको न द्वौ' इत्यादिवत् काव्यस्य व्याख्येयवृत्तित्वे 'श्लोकवाक्य
न काव्यम्' इत्यप्यापद्यतेति न यन्वैयारिकपद्धतिमनुसरता तेनोद्वृत्तिनम्, तदपि
काव्यपदस्य लक्षणं शक्तिसुरगोत्रता 'कचिदर्थविशिष्टं शब्दं काव्यम्' इति च
शब्दविशिष्टोऽयं काव्यमिति' श्रीमम्मताचार्येणैव स्वग्रन्थेऽनेकधा समाहितम् ।

अहो प्रसक्तानुसवत्या उरु दूर धाविता स्म । अर्थस्य काव्यत्वमालङ्कारिका
रिकाण्येऽपि व्यवहारपथमागत पुनर्विलुप्त चेत्येव प्रकृतवक्तव्यमस्माकम् ।
इदानीं तु वाग्वैदग्ध्यप्रधाना शब्दविशेषा एव काव्यपदव्यवहारार्था इति निश्चयः ।

इदं तु पुनरपि निदर्शयितुमावश्यकम्—यदेवमौन्दर्यस्य वाग्वैदग्ध्यप्रधान्य-
स्य स्वस्वमकताया अस्ति वा काव्यशीलानुपपत्तेश्चि वदादीनां काव्येन पुनरप्यप्रति-
हतमेव । सर्वेषां वेदादिषु सम्यक् समन्वितत्वात् ।

अप्रातेव पुंस एति प्रतीचो गतीं गिव सनये धनानाम् ।

जायेव पत्य उद्यती सुवासा उषा इक्षेत् निर्णिगते अष्ठ ॥

(ऋ० १।१२४।७)

क्षत्राय त्वं भवसे च महोया इष्टये स्वमर्षमिव स्वमित्तै ।

विषदशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अभीगर्भुवनानि विश्वा ॥

(धावापृथिवी)

(ऋ० १।१०६।६)

उर्वो रुद्रनी बृहती श्रुतेन दुषे देवानामवसा क्षितिरी ।

दधाते ये अमृतं सुप्रतीकं चाना रक्षत पृथिवी नो अम्यात् ॥

(ऋ० १।१९५।४)

नरवारि शृङ्गा यथो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त इस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवोति महो देवी नर्वा आविशेद्य ॥

उत एव पश्यन्न ददश वाचमुत च पश्यन्न शृगोत्येनाम् ।

उतो स्वस्मै तन्व विरुक्षे जायेव पत्य उद्यती सुवासा ॥

इत्यादिषु पर सङ्क्षेपे मन्त्रेषु कन वा सङ्क्षेपेन नानुमूयते वाग्वैदग्ध्यप्रा-
धान्यम् । न केवलं विनोदावहा एवार्था अस्ति तु गृहविज्ञानगमिता अप्यर्था मन्त्रेषु
वाग्वैदग्ध्येन रोचकता नीयन्ते—

'कृष्ण निधान इत्य सुदर्शा अपो वसाना दिवमुश्नन्ति ।

त आववृन्न् सदनाद्वेद्यादिद् धृतन पृथिवी व्युद्यते ॥' [ऋ०]

शुष्कप्रायापि वृष्टिविद्याऽत्र कियद्रोचकर प्रपिता ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तरिम्रनातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।

तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिमार सनादेव न शौर्यते सनाभि ॥

[ऋ० १।१९४।१३]

अतिनीरस सक्तरविज्ञानविषयोऽत्र कियत्वारस्यमापादित इति सद्दया
एदात्र प्रमाणम् ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिवस्वजाते ।

तयोरन्य १९२३ स्वाद्वत्पनदनन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

सर्वस्मात्पर जीवेद्वारविज्ञानमपि कया पद्धत्या सरसता नीतम् ।

एकं सुपर्णं स समुद्रमाववेश्य स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।

त पाकन मनसा पश्य मन्तिवस्त माता रेदि स उ रेदि मातरम् ॥

इत्यादिषु च वैज्ञानिकमन्यनामप्यद्यामप्यगम्य वाकषाणविज्ञान नर्मभाषयेनो
एनिरदम् । वेदेषु प्रभुसमित उपदेश, पुराणादिषु सुदृशामन, काव्येषु च काता
समित इति विभजन्ति आलंकारिकमूर्द्धन्या । पर यदि सम्यगालोभ्येत, उपदेश
प्रक्रियापि वदेवतिसरसा प्रतीयते ।

अश्वैर्मा दीन्य कृषिमिष्टुपस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।

तत्र गावः कितवः तत्र वायास्तन्ने विचष्टे सविता यमयं ॥

किमित परापि क्वञ्जिजागर्ति सुदृशमितोपदेशप्रक्रिया ।

सद्दय सौमनस्यमविद्वेष कृणोमि व ।

अन्यो अन्यमिद्वर्यत तस्य जातमिवाधन्या ॥

[अथ० ३।३०।१]

यस्तिष्ठति चरति यश्च वज्रति यो निजाय चरति य प्रतङ्गम् ।

द्वौ सन्निपथ यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेदं वरुणस्तृतीय ॥

[अथ० ४।१६।२]

इत्यादौ कियन्महन्वास्वदमुपदेशपद्धतिरित्यालोचयन्तु सुधिय । अथावदपि
दृश्यताम्—लुधितायाजमन्श्य दात यम्, न स्वन्यापेक्षयोदासित-यमितीममभिप्राय
सुक्तमिदं प्रकटयति । तत्र कीदृशी तावदालंकारिकी भाषा समुत्पद्यते । अद्यत्वे
यद्यप्युक्ता स्यात् छायावादपदमेवास्यै भाषायै प्रदीयेत ।

न वा उ देवा लुधमिद् वय ददुहताशितमुपगन्तन्ति मृश्वव ।

उतो रवि पृगतो नो पदस्यत्युतापृणन् मर्दितार न विन्दते ॥

[ऋ० १०।११७]

नित्तु प्रथमं यतिरकमुखेनाज्ञदानं प्रदासति—देवा वै देवा लल्लु सर्वेषां
लुध न ददु न प्रायन्तु, किन्तु अधमित् वधमेव दत्तवन्त । एतादृशी वधरूपा

क्षुधम्, अन्नदानेन य शमयति स दाता खज्जु उ इति पूरण । य अदत्ता
 भुङ्क्ते, तम् आशित भुञ्जान पुरुषमपि मृत्युः मरणानि उपगच्छन्ति समीपे
 यान्ति । दुर्धार्ताना मोक्षणा च मरण समान किं दानेन धननाशरूपेण, अत
 आह उतो उतशब्दस्त्वप्यर्थे, पृणत प्रयच्छत पुरुषस्य रयि धन नो पदस्यपि
 न उपधीयते । दानप्रसंगेनादातार दूषयति—अपृणन् अप्रयच्छन् पुरुषस्तु मर्दि
 तारम्—आत्मन सुजयितार न विन्दते—न कुत्रानि लभते । इह स्वयं अदा-
 नेन न मुच्यन्ति, देवा अपि इवि प्रदानाभावात् इति सायणभाष्यम् ।

न स सत्वा यो न ददाति सख्ये स चाभुवे सचमानाय पि रः ।

अपाह्माभ्येयाज तदोकी अस्ति पूणन्तम यमरण चिदिच्छेत् ॥४॥

•यनिरेकेण निन्दामाह—स पुरुषः सत्वा न भवति, य पुरुष सत्त्वामुत्र
 सर्वदा सह भवनशीलाय सचमानाय सचमानाय उपसर्जनीमूताय सख्ये सखिन्न
 नाय पितृ —पितृन्त्रानि न ददाति, न प्रयच्छति स सुहृन्न भवतीत्यर्थं । अस्मा
 ददातु सत्यु स अपप्रेषात् अपगच्छेत्, यद्येन परित्यज्य गच्छेत्, तर्हि तदोक्तः
 निवास नास्ति न भवति, सदन हि वैश्वभिः परिगतम् । स गत पुरुष पृणन्त
 मन्नादिक प्रयच्छत अन्यमरण चित्, अर्थं स्वामिनमेव इच्छेत् कामयेत् । इति
 भाष्यम् ।

पृणीयादिकाधमानाय त्वयान् द्राघीयासमनुपश्येत पन्थाम् ।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त राय ॥ ५ ॥

धनव त पुरुष दाने प्रेरयति—त्वयान् तवीयान् धनैरतिशयात् प्रवृद्ध
 पुरुष नाधमानाय याचमानायातिथये पृणीयादित् धनानि दद्यादेव । यदि दद्यात्
 द्राघीयास दीर्घतम पन्थान सुष्ठुतमार्गमनुपश्येत अनुपश्येत्, यथयेनात्मनेपदम् ।
 तत्र कारणमाह—रायो धनानि ओ हिं आ उ आवर्तन्ते खज्जु, एकत्र न तिष्ठन्ती
 त्यर्थं । तत्र दृष्टान्त —रथ्येव यथा रथ्यानि रथसम्बन्धीनि चक्राणि उपर्यधोभा
 वेनावर्तन्ते तद्वत् । आवृत्तिमेव दर्शयति—अन्यमय पुरुष धना-मुपतिष्ठन्ते
 समप्रेतानि भवन्ति । तस्माद्धनानि देयानीति भावः । इति भाष्यम् ।

समो चिद्धस्तो न सम विविष्ट स मातरा चिन्न सम दुहाते ।

यमथोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चिरन्तो न सम पृणीत ॥

अतिधिशो धनमप्रयच्छन्पि मम भ्राता दास्यति इति चेतत्र हेतुमाह—
 समो चिद् हस्तो समावपि सम समान न विविष्ट अर्थे न वाप्नुव । तथा समा-
 तरा वरस्य मातरौ येनू समे अपि सम समान पयो न दुहाते । यमथोश्चित्
 सहजातयो पुत्रयोरपि समा समान वीर्याणि न सन्ति, तस्मत् ज्ञाती चित् एक-
 रिन्दु कुले सन्ती जातावपि सम न पृणीत न प्रयच्छत । यस्माद्यस्य धनमस्ति
 स एव दद्यादित्यर्थं इति भाष्यम् ।

भाषामेदाद्वयमत्र तथाविधमानन्द न विन्दाम इत्यन्यदेतत् । उपदेशप्रक्रिया
त्रित उक्तृष्टा न काव्युपलभ्यत ।

तथैव—

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीना मान्मापिनामभिना प्रोतमाया ।
आत्स्यं जनयन् द्यामुगस ता हीत्वा शत्रु न किन्ना विवित्मे ॥
अयो द्वे व दुर्मदं अहितुहे महावीर तुाववाधमूर्जीवम् ।
ना तारोदस्य सभ्रात बधाना स रुजाना पिपिप इन्द्रशत्रु ॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र मास्य वज्रमपिषानौ जगान ।
वृष्णो वप्री प्रतिमानु बुमूषन् पुरुषा वृत्रो अशयद् व्यस्त ॥
नद न भिन्नममुया शयान मनो रुहाणा अतियन्त्वाप ।
यात्रिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्ताशामहि पत्सुत शीर्षभूव ॥

इत्यादिषु (ऋ० १।२२) इन्द्रवृत्रयुद्धवर्णनशैली तत्र वीररसपरिपोषश्च
सहृदयाना मननार्हा । एव शीरेषु सूक्तेषु सूर्यवर्णनमाश्विनेव्यश्विवर्णनं पृथिवीवर्णनं
च पार्थिवेषु दर्शनार्हम् । न विस्तरभयादिहोदाह्रियते । सौपर्णकाख्यानप्रभृत
श्वारयानेषु ब्राह्मणानामपि वर्णनशैली नोपेक्षार्हा । अथ रसात्मक वाक्यमव काव्य
ब्रुवन्तोऽपि न मन्त्राणा काव्यत्व वारयितुमीशते—

इन्द्र आसा नेता वृश्वपतिर्दाशुणा यज्ञ पुर एतु सोम ।

देवसेनानामभिमञ्जनीना जयन्तीना मरुतो यन्त्रवप्रम् ॥

[यजु० १७ ४०]

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज आदित्याना मरुता शर्ष उग्रम् ।

महामनसां सुवन-एवाना घोषो देवाना जयतामुदस्थात् ॥ (४१)

उद्धर्षय मघज्जनायुधान्युसस्वता मरुताना मनाति ।

उद्धृष्टहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथाना जयता यन्तु घोषा ॥ (४२)

श्ये तिष्ठन्नयति वाजिन परो यत्र यत्र कामयत सुषारथि ।

अभीपूता महिमार्नं पनायत मन पश्चादनुय-उन्ति रश्मय ॥

[यजु० २९।४३]

मुपर्णे वस्ते मृगो अस्यादन्तो गोमि सज्जदा पतते प्रसूता ।

यथा नर स च विचद्रवति तत्रारमम्यमिषव शर्म य सन् ॥

[२९।४८]

उपस्वासथ पृथिवीमुत दां पुरुत्रा ते मनुता विशित वगत् ।

स दुन्दुमे सजुरे द्रेण देवैरूरादवीयो अपसेष सञ्जन् ॥

[ऋ० ४ ३५।४]

इत्यादिषु किं नास्ति रसरिरोप ? तस्माद्द्रष्टव्यैर काम वायंता वेदादिषु क-रत्वम्, नान्य प-था । भगवान् बाल्मीकिरेव जगत्पादिकविरिति प्रसिद्धिरपि वेदादीन् दृशतिरोधायैव स्वपादा मवेत्, वेदाना सर्वादिभूततायाः सर्वैरोत्सो-क्रियमाणत्वात् । 'अहो आम्नायादन्यत्र चन्द्रसामवतारः' [उ० रा० च०] इति श्रुत्यायेन महाकविना भवभूतिना लौकिक्यां भाषायां छन्दो बाल्मीक्युपपन्नमिति आदिकविरप्र वेदिः समाहिता, पर नेदमपि क्षोदक्षमम् । मन्वादिस्मृतिषु छन्दसा भगवतो बाल्मीकेः प्रागपि लौकिकभाषाया सुस्वरष्टमधीयमानत्वात् ।

'पुरा सूत्रनिश्चयान्वेषासन् धर्मशास्त्राणि, वर्तमान रूप तु मन्वादिस्मृतोनाम-र्वाकनमव' इत्याद्युक्तिरैतिहासिकानामुक्तिरपि नास्मदुक्तामनुपपत्ति समाधातुनी-शीत, बाल्मीकीये रामायणे एव मनुनाम्ना पयोद्धरणदर्शनात् । मनुस्मृतौ च तत्सद्योपलम्भात् । तथा हि बाल्मीकीये रामायणे किष्किन्धाकाण्डे अष्टादशे सर्गे बाल्मिनि प्रति भगवतः श्रीरामस्योक्तौ—

भयते मनुना गीतो इत्येकी चारिद्रवसली ।
 पृथ्वीतो धर्मकुशलेस्तथा त्वरित मया ॥ ३० ॥
 राक्षमिर्भृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा ।
 निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
 शाठनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
 राजा स्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति क्लिबषम् ॥

श्लोकाविनौ मनुस्मृतेरष्टमेऽध्याये (३१५, ३१६) किञ्चिन्नाटभेदेन दृश्ये-त्ते । तस्मादुपलभ्यमानैव मनुस्मृतिरादिकाव्याद्बाल्मीकीयाद्रामायणाध्याचीनेति विचयमुपगन्-व्य स्यात्प्रमाणपरतन्त्रे । अथ मनुस्मृतेर्वर्णनाशैल्यपि न नाम काव्य-र- न स्पृशति—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
 अप्रत्यक्षमविद्येयं प्रसुममिव सर्वतः ॥ [अ० १५]
 तदण्डमभवद्वैम षड्स्त्रागुसमप्रभम् ।
 तरिमञ्जशे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ [१९]
 आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूतवः ।
 ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ [११०]
 यथर्तुन्निज्ञान्यतव स्वयनेवर्तुपर्यये ।
 स्वानि हान्यभिरुदन्ते तथा कर्णानि देहिनः ॥ [११०]
 दस्यास्येन सदाहनन्ति ह-रानि त्रिदिवौकशः ।
 क-यानि चैव वितर- किं भूतमधिक तत ॥ [११५]

विद्ययैव सम काम मर्त्य ब्रह्मादिना ।
 आपद्यपि हि घोराया न त्वनामिरियो वदेत् ॥ [२।१२३]
 विद्या ब्राह्मणमेत्वाह शेषिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
 असूयकाय मा मा दास्यथा म्या वीर्यवत्तमा ॥ [१।११४]
 यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग ।
 यश्च त्रिशोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम भ्रति ॥ [२।१७७]
 कामयो यानि गेहानि शपत्यप्रतिपूजिता ।
 तानि कृत्याहतानीव विनश्यति समन्तत ॥ [३।५८]
 श्रुतमुच्छशिल जयममृत स्यादयाचितम् ।
 मृत तु याचित भेष प्रमृत कर्षण स्मृतम् ॥
 सत्यामृत तु वाणिज्य तेन चैवानि जीव्यते ।
 सेवा श्वशुराखयाता तस्मात्ता परिवर्जयेत् ॥ [४।५०६]
 यथा ज्वेमौषणेन निमज्जयुदके तरन् ।
 तथा निमज्जनोऽधस्तादशौ दातृप्रतीच्छ्रौ ॥ [४।१९४]
 नासुन हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत ।
 न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केचन ॥ [४।२३९]
 मृत शरीरमुत्खल्य काष्ठान्श्लथम शितौ ।
 विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ [४।२४१]

इत्यादिषु शतशु श्लोकेषु उक्तिवैविध्यापरपर्यायस्य सौन्दर्यस्य सहृदयतुष्टेश्च
 सुस्पष्टमनुभूयमानत्वात् । तस्मात् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेन यत्र
 सौन्दर्यात्मक वर्णनमिच्छयैव प्रत्यकृतं प्रवृत्ति, त एव ग्रन्था काव्यत्वेन प्रसिद्धि
 गता, तेषु चाद्य वाल्मीकीय राम यणमिति भगवान् वाल्मीकिरादिकविराज्जायते ।
 तदनन्तरं तु कालिदासाद्या सहस्रशु कवयोऽस्या पद्धते परिष्कारका प्रादुर
 भवन्निति विदन्त्येव विद्वांसः ।

सोय काव्यप्रवाह कालेन भारते तथाविध प्रसृत, येन शास्त्रान्तराणि
 कलातराणि च स्वान्तर्निमज्जितानि नाद्याप्युन्मज्जन्ति । 'छान्दसा श्लोकशत्रवः'
 इति वेदाध्ययन दूरीकृतम् । 'शाकरणदम्णतरुणि ये बहु पश्यन्ति ते भवन्त्यन्धा'
 इति व्याकरणबोधोऽधिष्ठित, 'अविदितसुप्तदु स निर्गुण वस्तु किञ्चिद् जडमतिरिह
 काश्चन्मोक्ष इत्यानच्छे' इति दार्शनिका गान्धीभि सङ्गता । सर्वथा काव्यमेवैक
 शास्त्रम्, कवय एव देशोद्धारका विद्वांसः, राजसभासु कवय एवोच्चैषपविशन्ति
 स्म । कवीद्राणामेवाङ्गभुव 'कन्दुभृङ्गासङ्गाकुलकस्मिदामोदमधुरा' भम् न् ।
 अन्ये तु विद्वांसः कवीनेषोपजीव्य निर्वहन्ति जीवनमिति महान्त काले भारतस्य
 वर्षस्य स्थितिरासीत् । य श्लोक रचयितु न जानाति स नास्येवाश्वरमुल्ल इति

राज ज्येष्ठशी सर्वैरेन्द्रपि देशे प्रवृत्ता । ये वराका नवंपथा 'अद्वितीयजभूत' संस्कार
 लेशशून्या, ते वर 'कुर्वेऽहन्तु यथामनि' 'गुडा गुग्गां करोम्यहम्' इत्याद्येव
 रचयन् परमन्ततो मङ्गल तु पद्येन कर्तव्यमेवेति न्यायालयस्येवाय प्रवृत्त सारं
 त्रको नियम । दर्शनम्, श्रौतिषम्, आयुर्वेद, कोश, व्याकरणमपि चेने
 सर्वं पद्यरूपमेवाहतमभूत् । पद्यैरलगाशरैरेव चदृशेव विषया पुर स्थारयितु
 शक्यन्ते इति सत्यम्, पर पद्यवद्वा शास्त्रीया विषया दुरुहा अभ्येष्टा कनेशप्रदा
 भवन्तीत्यपि नाऽहस्यम् । इत एव प्रव ह्या-ग्रन्थाधिगमे, संस्कृतभाषास एवाति
 काम्य प्रयुक्तमित्यास्तामग्रन्था कथा । काव्यान्वयि तावन्ति निर्मितानि भारते,
 दसप्रत्येक यन्त्रालयै, समितिभि, सभागि, मातृकै पत्रैश्च सहस्रश का यानि
 प्रकाशितानि, प्रकाश्यन्ते च, परमद्याय सहस्रश एव सन्ति प्रकाशनादेशीभि,
 नास्तेवैषामन्त । अहो भारतीयाना प्रतिभावै चम्यम् । अहो प्रवाहप्रसरणम् ।
 य प्रवाहोऽत्र प्रसृत, स एवमेवानन्तवागरापित । सत्यमिच सर्वाणि विद्याना
 बलाना च प्ररोहायानिश्चयितोर्वरा भूमि ।

अथ कालक्रमेण हासमुपेयुषि संस्कृतवाङ्मयभास्त्रे, समुदयमाप्नुवति च
 प्राकृताप्रभ्रद्यादिग्रन्थनिवृत्तशोचकरे, सोय कर्ताप्रवाह उदीयम नाभिपुत्र एव
 सुप्रसृतोऽभूत् । तत्रापि काव्यानामतिनमा बाहु-यननुभूयते ।

संस्कृते तु एही कलादनन्तर कविताप्रवाह प्रसृत इति तत् प्राक्तना गद्य
 ग्रन्था व्याप साहस्येनोपलभ्यन्ते, परमप्रभ्रद्यादिभाषाणान्तु समैव कविताप्रसर
 काल इति तत्र तु गद्यग्रन्थानामतीव विरलता दृश्यते । सर्वमपि विषयज्ञात तत्र
 पद्यनिवृत्तेव । त एवकाल काव्यमेव सकलकृतामौलिष्ठितमिति सुस्पष्टमप्रभ्रद्या-
 क्तित हिन्दीभाषादिवाङ्मयदर्शनेनानुमीयते । प्राकृतम्, अपभ्रंश, एजानता
 ब्रजभाषा हिन्दीभाषायाश्चेत्यादि सर्वमाय प्राचीन वाङ्मय संस्कृतविशीतितनव
 पन्थानमनुसाराएव तु नास्ति स्तोत्रोऽपि सशय । संस्कृतमेव तदाख्येऽध्ययनभाषा
 ऽभवत्, य कोऽपि किमप्यप्येतुमै-उत्, तस्य संस्कृतैव वागाशी-करणम् । प्राकृता
 पभ्रद्यब्रजभाषादिमहाकवयोऽपि संस्कृतेऽधीतित एव । तथा च संस्कृतमधीत्य संस्कृ
 तानुसरण तेषा प्रकृतिसिद्धमेवामूत् । आस्ता विषयच तकथा, संस्कृतशब्दा अपि तात्र
 लङ्किते स्म । तत् एव प्राकृतारभ्रद्यादिक्रमेण विहृतिमात्तान् शब्दानुपेक्ष्य संस्कृत-
 शब्दा एव ब्रजभाषाकविभिर्भूयो भूय परिष्कृता इति विस्तरण ददाभिर्पुक्तिभि
 प्रत्यशीर्षद् स्वीये हिन्दीभाषानिबन्धे (हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण) इति
 शीर्षके । तत्र च संस्कृता वाक् न केवल हिन्द्यादिभाषाणा मातामही, वितामही
 वा अ प तु साक्षात्तन-यर्पीत तत्रैव विद्वान्-ततमित्यास्तामप्रकृतम् ।

इदं तु विस्मयावहम्—यद् ब्रजभाषादिदेशीयभाषाकविनिबन्धन संस्कृतवाङ्-
 मय सर्वात्मनानुसरद्विरे छन्दोविषये स्वात यमेवाविष्कृतम् । यानि च्छ-दाख्येनि-

चपयुक्तानि (दोहा, चौपाई, सवैया, छन्दय, कुण्डलिया अमृतध्वनि, घनाक्षरी (कवित्वम्) प्रभृतीनि न तेषा प्राकृते संस्कृतवाङ्मये कापि समुन्मेष । संस्कृत निरुद्धेषु पिङ्गलादि-उ-द शास्त्रग्रन्थेष्वपि नैषा प्रायेण लक्षणानि दृश्यन्ते । 'दण्डक' पदेनैवैवविधानि छन्दसि व्यवहरन्ति स्म पूर्वाचार्या । प्राकृतपिङ्गले कषात्रिल्लक्षणाणि प्राप्यन्ते पर प्राकृतेऽपभ्रशोऽपि च दोहादीना केषात्रिन्मात्रा-उ-दसा व्यवहारेऽपि प्रलम्ब-उ-दसा व्यवहारो न दृष्ट एव । प्रलम्ब-उ-दसा बाहुल्येन प्रथम प्रयोक्ता तु देश यभाषाकवि 'पृथ्वीराजरासो' निर्माता चन्द्रवरदाइत्यभिधो भाट दृश्यते । तदाखेऽपभ्रशाहेशीया भाषा उदयमाना आसन् ।

'षड्भाषा पुराण च कुरान कथिन मया' इति हि तस्य प्रतिज्ञा । तदनन्तर तु ब्रजभाषाया प्रलम्ब-उ-दसामेव व्यवहारप्रवाह प्रसृत । घनाक्षरी तु तथा सर्वैरभ्यस्ता यथा तन्नामैव 'कवित्वम्' इति ज्ञातम् । तन्निर्माता च कवि, तदेव च तस्य कवित्वमिति ।

वस्तुतस्तु आचर्यकनामनुसृत्योपकरणानुपादीयन्ते, परिहीयन्ते चेति प्रकृति सिद्ध सिद्धान्त । ब्रजभाषादिकवित्वकारो हि 'रीतिकाल' इति परिभाष्यते । तदाखे हि अलङ्काराणाम्, तथापि विशेषेण शब्दालङ्काराणा बाहुल्यमेव जनमनो मोहकमासीत् । राजान एव कवीना प्रसादनीया अभवन् । ते च व्यङ्ग्यादिषोष शिथिला वाच्येनैवाथेनाधिक तुष्यन्ति स्म । अलङ्काररुचिरं तद्वीर्यवर्णनम्, यशोवर्णनम्, तद्विक्रमशृङ्गारपरिप्लावन वा कवीना कर्तव्यकोटौ प्रधानान्यभूवन् । एतदथ च कवित्वादीनि प्रलम्ब-उ-दसि बहुपकारकाणि । घनाक्षरी 'कवित्वम्' नानुप्रासमन्तरेण पदमपि प्रहरति । बन्ध एवास्य-उ-दसोऽनुप्रासाधीन । बहून्मवर्णमैत्रीभ्रवणसमकालमेव प्राकृताना चेतस्यानन्दपयोनिधिद्वेल्लेति । 'भूली सुध च्यट्टी री लोकलाज सटको री अक्की हिये में फहरानि पीतपट्टी ।'

इत्यादिभ्रवणसमकालमेव शिरो घूर्णयन्ति जना ।

किसरिया पाग पर चन्द्रिका सुहाग पर
 कल्लगी की लाग पर रतनारी दामरें
 नदन की भूम पर मोतिन की लूमपर
 अक्कन धूम पर भौहन की भांवरें ।
 जामा फुल्कारी पर बनमाला भारी पर
 भुषन उजारी पर बैन के बनावरें
 आखें धरविंद पर चारमुखचन्द पर
 राधिकागुविन्द पर नैनन निठावरें ॥'

मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलग्नामये !

मौनमभिनन्दयस्व सूक्तिमुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

समभिनन्दयती सशिरःकम्पं सावयधरूपकम् । एकत्रैव बह्वर्थप्रकाशनं प्रलम्बवृन्द-
सामसाधारणो गुण । दृश्यताम्—सर्वानि द्रौवदीकथा एकत्रैव समाहृता कुल्पति-
मिधेण स्वीये संग्रामसारे—(द्रोणपर्वानुवादरूपे)—

‘शकुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि भानि हठि वरत्र ऐचि लिय ।
किय पाण्डव अपमान बेधि बहु बाक वान उर
हुते सर्व परबोन किहुन धमिय सुधर्मधुर ।
जहुनाथ नाथ तुव सरन हो राखि राज कृष्णा कहिय ।
घटैन बसन जिमि कालगति मुनत अन्ध अति भय गहिय ॥’

यथा धा तत्रैव सास्यकिभूरिभवस्युंद्धवर्णने—

‘ललि सास्यकि बलहीन प्रबल कौरव अद्भुत किय ।
सारदूल जिमि एव काण्ड गहि भूमि पटकिय ।
अरु उरधे दै लात केस गहि लम्बा हाथ लिय
पथ । पथ । सैनेय मरत हरि हई सोर किय ।
भुजसहित मीव जुजधानहू फेरत कियउ अपुनव अति ।
निरखै न कष्ट भूरिसवा जिमि नर लखै न कालगति ॥’

साम्प्रदायिकान्दोलनदशादेवतस्तुतिरपि ब्रजभाषाकवितासु बहुला दृश्यते ।
तत्राप्येकैकादिकर भानरत्न च देवताध्यानसमावेशे प्रलम्बवृन्दसौ भूयानुपकारः ।
यथा मत्प्रदितामहानी श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुति —

चर्चित छिदूर तन अर्चिंर सुरेश पद
मण्डित मुकुटमोक्षि सुवमा अणार है
सुबबि गुपाल भाषणन्द की छटा है
मद हरा पदा है एकदन्त निरधार है ।

अत्र मालीनना—

'कुंभप्रदमङ्गल रघालमङ्गरी को नित्र
 उन को मुहाग बन्वेनिन को कन्त है
 कोकित्रा को मौनहर मौले को केलिकर
 मञ्जुमल्लैमावत को सन्त विलकन्त है ।
 मानिनीनमायक मनोब को सहायक
 सैकेगी कुवदायक विपोगी अन अन्त है
 चाँदनी को सोषक विरोषक मुनीन मन
 रोषक विदेव फूलपो बागन बसन्त है ॥'

'धनविचार लु मुह लोक लोहन को
 साधि सोधि रहना के सुबरन पपर
 कर विउही तै चतुराई चार लेचनि छै
 सबद भरथ रङ्ग भयङ्गचनि उबास धर
 सरसुति राधिहा कुंवरि मञ्जवन्दनू के
 रूप की धयनि बरधावै रसरङ्गर
 नेह के नगर जग जगर मगर देते
 सुपर सुपर बन्दी भारती के विपकर ॥'

[४०६।२]

अत्र सावदेवं रूपक च कश्य न मनो हरेत् ।

यथा वा पद्ये कश्चिदमदे—

'रूपककिरीट-परिगामननरावराधुवां
 काथन्निहकर्मिकाञ्च-चूडामन्त्रिकोरनाम् ।
 उद्वेशावतंस-तुल्ययोगितावन्निभूतां
 तद्गुणतरल-हेतुहारतो मनोरमान् ।
 बनेषकरकङ्कण-विरोषवत्पातुगुणान्
 परिहरकाञ्ची-धरतुपुरमुत्पन्नमान् ।

मानस । मुकुन्दचरणारविन्दलङ्गामये ।

मौनमभिन्दयस्व सूक्तिमुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

सममिन्दयतां सशिर कम्प सावयवरूपकम् । एकैव बहुर्धर्मकाशनं प्रलम्बवन्द
सामसाधारणो गुण । दृश्यताम्—सर्वानि द्रौवदीकथा एकैव समाहृता कुल्पति
मिश्रेण स्वीये समामसारे—(द्रोणपर्वातुवादरूपे)—

'शत्रुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि आनि इष्टि वरु ऐचि लिय ।
किय पाण्डव अपमान बेधि नहु बाक वान उर
हुते सर्व परवीन किहुन यमिय सुधर्मपुर ।
जहुनाय नाय तुव सन हो शलि लाज वृष्णा कहिय ।
घटैन बसन जिमि कालगति मुनत अन्ध अति भय गहिय ॥'

यथा वा तत्रैव सात्यकिभूरिध्वसोयुद्धवर्णने—

'लखि सात्यकि बलहीन प्रबल कौरव ध्वंसुत किय ।
सारदूल जिमि एव काण्ठ गहि भूमि पयक्रिय ।
अरु उरमें दै लात केश गहि खग्य इत्य लिय
परय । पत्य । सैनेय मरत हरि इहे सोर किय ।
सुधसहित भीम जुनघानहू फेरत कियउ अपुध्व अति ।
निरखै न कष्ट भूँसवा जिमि नर लखै न कालगति ॥'

साम्प्रदायिकान्दोलनवशादैवतस्तुतिरपि ब्रजभाषाकृमितासु बहुला दृश्यते ।
तत्राप्येकत्रैवाशिर आनलं च देवताध्यानसमावेशे प्रलम्बवन्दसा भूयानुपकार ।
यथा मत्प्रपितामहानां श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुति —

चर्चित सिद्धूर तन अर्चित सुरेश पद
मण्डित मुकुन्दमौलि सुधमा अपार है
मुकवि गुपाल मालवन्द की छटा है
मद सरत पग है एकदन्त निरधार है ।

उदर उदार भुज चार खवार मही
 गोद गिरिजा के मन मुदित विहार है
 आनन विगुण्डवारे आनंद अखण्डवारे
 सुण्डवारे सरस महेशके कुभार है ॥

इदं तु खलु संस्कृते भाषासम्बन्धे अनितरसाधारणं महत्त्वम्—यत्तत्र समास-
 प्रयोगेण तद्धितेन सति सप्तम्यादिभिः, अन्वेषामपि सुपा लिङ्गां च तत्तदर्थमिष्यञ्जक
 तया स्वल्पाक्षरैरेव महार्थं कोट्योक्तियते । प्राञ्जताद्यन्यभाषासु न तस्यंभवति ।
 तस्मादत्र तु प्रन्थानि ऋन्दास्येव धरणं बह्वर्थसंप्रहाय । एवमादिभिस्तत्कालोप
 युक्तैर्गुणैरेषां छन्दसा देशीयभाषाकवितासु प्राधान्येन परिग्रहो ननु न्यायसिद्ध
 एव । तथैव भावश्चिरपि लोकानां प्रवृद्धेति गेयच्छन्दसा पदापरस्यायाणामपि
 प्रवाहो ब्रजभाषाकवितासूरेण श्रीसूरदासेन प्रवर्तितः । परतस्तु यवनसंपर्कात्तत्रापि
 नवनवच्छन्दसा समावेशोऽतीव वृद्धिं गतः ।

संस्कृतकवित्वं संस्कृतस्य विरले प्रचारे सायन्तनप्रकाशापितमभूदिति न्यवेदयं
 प्राक् । पण्डितराज एव संस्कृतकविराज्यं चरमश्चक्रवर्ती । तत्र, परं न विद्वत्वर-
 प्रतिभः कविः कश्चन प्रादुरभूदिरपस्मद्गुरुचरणैः श्रीश्रीमीनाथशास्त्रिमहाभागैः स्वीये
 भारतेतिवृत्तवारे समुल्लिखितम् । तथापि तु 'न ह्यवीर्यं वसुन्धरा' । भारतभुवि
 कस्यापि आख्येयस्य वस्तुनो विलोपो न जायते । अभून्नेव तत्र तत्र देशविशेषे
 कालविशेषे च प्रतिमाप्रगल्भाः कवयः । महामहोपाध्यायश्रीगङ्गाधरशास्त्रिणा
 दुःखभङ्गनदेवीप्रसादप्रभृतीनां च कं खलु विशिष्टकवित्वं नाभिपन्थेत । बङ्गदेशे
 दक्षिणदेशेष्वपि च प्रादुरभवन् महवः ख्यातनामानो महाकवयः । जयपुर-
 नगरेऽपि भट्टश्रीकृष्णरामप्रभृतयः सुप्रसिद्धा कवयः प्रादुरभवन्, येषां
 सुप्रसिद्धानि काव्यानि प्राक्तनकविभ्यो नापकृष्टानि गणयितुं शक्यन्ते ।
 एष्वर्वाचीनेषु कविषु येषां ब्रजभाषाकाव्यपरिचयोऽभूत् ते कौतुकवशात्तः प्रसम्ब-
 च्छन्दसा व्यवहारं क्वचित्कथयितुं संस्कृतेऽपि चक्रुः । पूर्वनिर्दिष्टेन श्रीकृष्ण-
 रामकविना भाषाप्रसिद्धाः काश्चन गीतयः संस्कृते रचिताः । तस्मान्निवैरन्यैरपि
 कविभिः स्फुररूपेण तत्र पदं निहितम् ।

परं ब्रजभाषाप्रसिद्धानि चण्डदासि, नव्यशैलीनिबद्धा गीतयश्चानुप्रासबाहुल्य
मन्तरेण न शीघ्रव दघत इति तु प्राह्वन्यवेदयम् । देशीयभाषाकवीनां शब्दत्रोस्ने
मोटने च स्वातन्त्र्यात्तरनुप्रासा निरुह्यन्ते । सस्कृतभाषा तु व्याकरणसूत्रबद्धेति नात्र
शब्दस्वरूपपरिवर्तने मनागपि कवीनामधिकार । अन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र प्रयोगेऽपि
'निरहकुशा कवयः' इति वैयाकरणास्ताम् कटाक्षयन्ति । तस्मादत्र तादृशबन्ध
निर्वहणमतिकृष्टिमिति न सस्कृते तादृश-उ-दशा प्रवाहोऽद्यावधि समुच्छलितः ।
तदित्य कविकाव्यविषये दिङ्मात्र प्रकाशिता विचारा ।

इति चतुर्वेदिसस्कृतरचनावल्या महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्म-
चतुर्वेदाना भारतराष्ट्रपतिसम्मानिताना सस्कृत
निबन्धाना मञ्जूपायमाणायाम्
प्रथमो भागः समाप्तः ।

